राहुल
वाङ्मय

राहुल-वाङ्मय

परामर्श

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

डॉ. नामवर सिंह

डॉ. निर्मला जैन

सम्पादन

कमला सांकृत्यायन

सम्पादन सहयोग

[illegible]

[illegible]

संयोजन

[illegible]

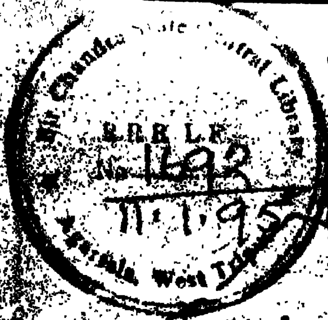
[illegible]



राधाकृष्ण

राहुल

वाङ्मय



प्रथम खण्ड

जीवन-यात्रा

राहुल-वाङ्मय

एक महत्वपूर्ण प्रकाशन योजना

मूर्धन्य और अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान, अप्रतिम विभूति महापंडित राहुल सांकृत्यायन के हिंदी एवं संस्कृत लेखन का विषयवार ग्यारह खंडों–लगभग पचास जिल्दों–में क्रमश: प्रकाशन

खण्ड एक–चार जिल्द	**मेरी जीवन-यात्रा (आत्मकथा)**–भाग 1 से 5 (सन 1893 से 9 अप्रैल 1956 तक) राहुलजी द्वारा स्वयं लिखित जीवन यात्रा और 10 अप्रैल '56 से 15 अप्रैल 1963 तक श्रीमती कमला सांकृत्यायन द्वारा प्रस्तुत तथ्यपरक संस्मरणात्मक जीवन-गाथा।
खण्ड दो–चार जि	**जीवनी और संस्मरण**–सरदार पृथ्वीसिंह, वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली, घुमक्कड़ स्वामी, सिंहल घुमक्कड़ जयवर्द्धन, कप्तान लाल, जिनका मैं कृतज्ञ, कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्तालिन, माओ चे तुंग की महत्वपूर्ण जीवनियाँ तथा नये भारत के नये नेता, मेरे असहयोग के साथी, अतीत से वर्तमान, बचपन की स्मृतियां, सिंहल के वीर और विभिन्न व्यक्तियों पर अप्रकाशित असंकलित लेख संस्मरण।
खण्ड तीन–पाँच जिल्द	**धर्म, संस्कृति एवं दर्शन**–महामानव बुद्ध, बुद्धचर्या, धम्मपद, पाँच बौद्ध दार्शनिक, बौद्ध संस्कृति, तिब्बत में बौद्ध धर्म, मज्झिमनिकाय विनयपिटक, दीघनिकाय, संयुत्तनिकाय, दर्शन-दिग्दर्शन, वैज्ञानिक भौतिकवाद, इस्लाम धर्म की रूपरेखा, और विविध प्रकाशित अप्रकाशित लेख इतिहास पुराण, शैव धर्म का इतिहास, पंजाब संस्कृति का संगम, भारतीय संस्कृति के दो रक्षा द्वीप, सन्यासी अखाड़ों की जनतन्त्रता आदि।
खण्ड चार–चार जिल्द	**यात्रा वृत्तांत, देश-विदेश दर्शन**–घुमक्कड़शास्त्र, यात्रा के पन्ने, किन्नर देश में, कुमाऊँ, गढ़वाल, जेतवन-श्रावस्ती, हिमाचल प्रदेश, जौनसार-देहरादून, लद्दाख-यात्रा, दार्जिलिंग परिचय, तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी तिब्बत यात्रा, मेरी यूरोप यात्रा, सोवियत भूमि, सोवियत मध्य एशिया, एशिया के दुर्गम खंडों में, चीन में क्या देखा, चीन में कम्यून, और विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित लेख–उत्तरी एवं पश्चिमी भारत के बौद्ध स्थल (मैं ल्हासा कैसे पहुँचा), ल्हासा में, त्रेनम की ओर, लौटते समय नेपाल में आदि लेख, नेपाल, लंका, जापान, ईरान आदि।
खण्ड पाँच–पाँच जिल्द	**ज्ञानकोश, शोध ग्रंथ**–शासन शब्दकोश, राष्ट्रभाषा कोश, विज्ञान शब्दावली-प्रत्यक्ष शरीर आदि, तिब्बती हिंदी कोश भाग-1 एवं भाग-2, तिब्बती संस्कृत कोश, सरहपाद दोहाकोश (हिंदी छायानुवाद सहित)
खण्ड छह–चार जिल्द	**विज्ञान, समाज एवं राजनीति**–विश्व की रूपरेखा, मानव समाज, भारत में अंग्रेजी राज्य के संस्थापक (अनुवाद), आज की समस्याएँ, क्या करें, तुम्हारी क्षय, राहुल जी का

अपराध, दिमागी गुलामी, मानव की कहानी (जया, जेता को पत्र), संविधान का मसौदा (अनुवाद), बाईसवीं सदी, साम्यवाद ही क्यों, कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, कम्युनिस्ट क्या चाहते हैं, सोवियत न्याय, आज की राजनीति, भागो नहीं (दुनिया को) बदलो, रामराज्य और मार्क्सवाद।

खण्ड सात–चार जिल्द : **इतिहास एवं पुरातत्व**–अकबर, मध्य एशिया का इतिहास भाग-1, मध्य एशिया का इतिहास भाग-2, ऋग्वैदिक आर्य, पुरातत्व निबंधावली के लेख, आजमगढ़ की पुराकथा, तथा अन्य लेख–वैशाली का प्रजातंत्र, हमारा पुराना भूगोल, भारत में मानव विकास, प्रागैतिहासिक युग में किन्नर, और गंगा पुरातत्वांक की भूमिका।

खण्ड आठ–सात जिल्द : **कथा साहित्य, नाटक एवं साहित्यालोचन**–जीने के लिए, सिंह सेनापति, जय यौधेय, राजस्थानी रनिवास, मधुर स्वप्न, सतमी के बच्चे, वोल्गा से गंगा, बहुरंगी मधुपुरी, कनैला की कथा, विस्मृत यात्री, दिवोदास (सप्त सिंधु), तीन नाटक (जपनियों के राछछ, देश रक्षक, जरमनवा की हार निश्चय), पाँच नाटक (ई हमार लड़ाई, दुनमुन नेता, नईकी दुनिया, जोंक, मेहरारून की दुरदसा), शैतान की आँख, विस्मृति के गर्भ में, जादू का मुल्क, सोने की ढाल, शादी, दागुदा, जो दास थे, अनाथ, अदीना, सूदखोर की मौत, पालि काव्य-धारा, पालि साहित्य का इतिहास, बौद्ध सिद्ध साहित्य, हिंदी काव्य धारा (अपभ्रंश), दक्खिनी हिंदी काव्य धारा, तुलसी रामायण, हिंदी (अपभ्रंश) के प्राचीनतम कवि और कविताएँ, हिंदी भाषा का [illegible], नये युग में हिंदी, एशिया में हिंदी, अवधी का बेटी हिंदी है, राष्ट्रभाषा की जननी [illegible], हिंदी परिभाषाओं का निर्माण, अंग्रेजी के हिमायती, अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम क्यों हो ? आदि-आदि लेख तथा आदि हिंदी की कहानियां और गीत, हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास भाग-16 में लेख एवं भूमिका।

खण्ड नौ–चार जिल्द : **संस्कृत, प्राकृत-अनुवाद एवं टीका**–संस्कृत पाठमाला (पांच भाग), संस्कृत काव्य धारा, अभिधर्म कोश : वसुबंधु-टीका : शांतरक्षित, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति, हेतुबिंदु (धर्मकीर्ति), सम्बन्ध परीक्षा (धर्मकीर्ति), निदान सूत्र, महापरिनिर्वाण सूत्र, सूत्रकृतांग।

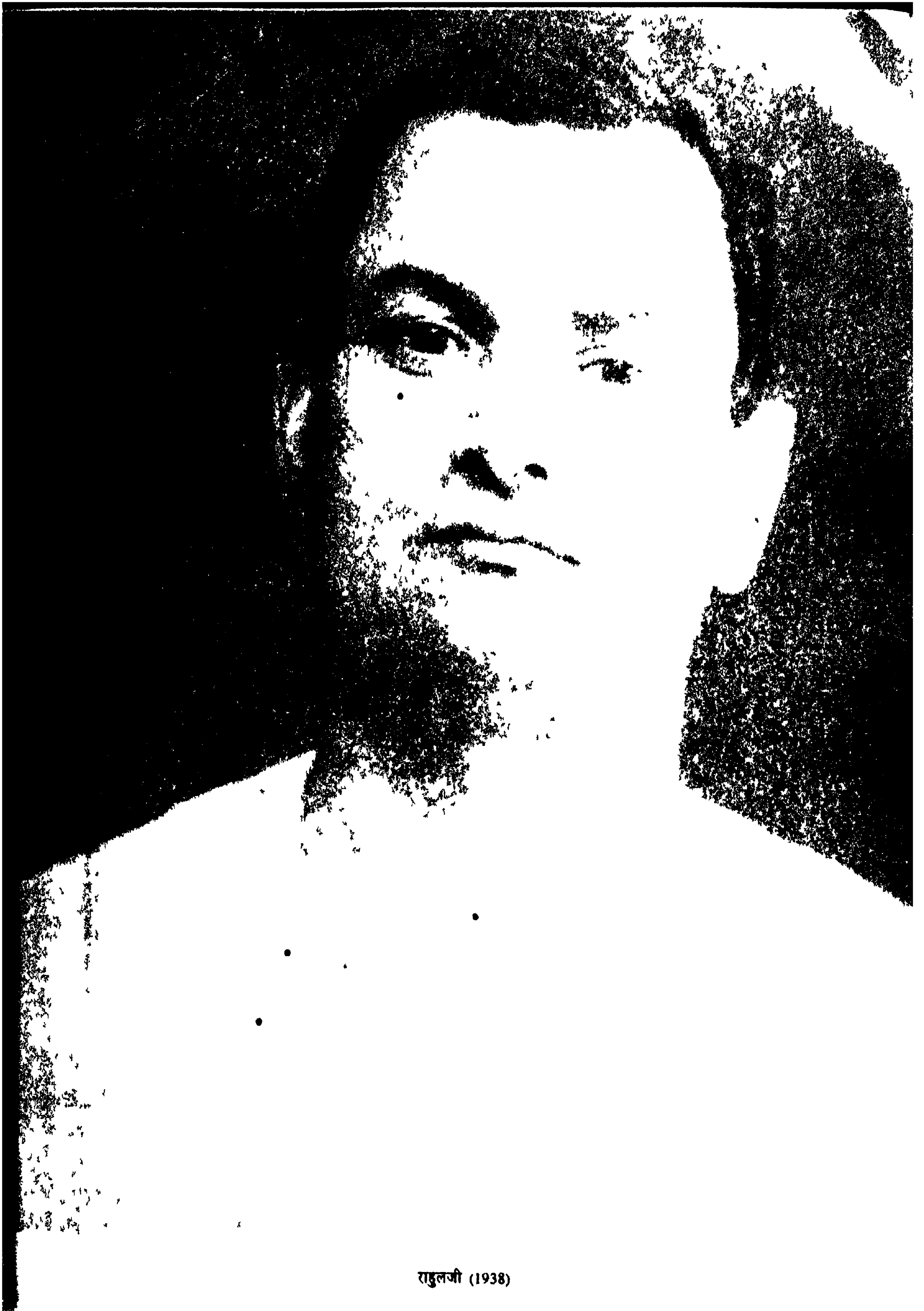
खण्ड दस–पाँच जिल्द : **संस्कृत तालपोथियाँ : सम्पादित**–वादन्याय (धर्मकीर्ति), प्रमाणवार्तिक (धर्मकीर्ति), अध्यर्द्ध शतक (मातृचेट), विग्रह व्यावर्तनी (नागार्जुन), प्रमाणवार्तिकभाष्य, प्रमाणवार्तिकवृत्तिः, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति : टीका, विनयसूत्र (गुणप्रभ)।

खण्ड ग्यारह : **प्रकीर्णक**–तिब्बती शिक्षा : भाषा-पाठावली, व्याकरण 'सलेक्टेड एसेज' के लेख, पत्र एवं डायरी तथा परिशिष्ट : राहुल जी का संक्षिप्त जीवन-क्रम, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रकाशित पुस्तकों की सूची–पुस्तक का नाम, प्रथम प्रकाशन का वर्ष, पृष्ठ संख्या, प्रकाशक, राहुल जी द्वारा संग्रहीत अमूल्य ग्रंथलिपियों, तालपत्रीय पोथियों की सूची–ग्रंथ का नाम, भाषा, मूल/टीका, लेखक, पाडुलिपि : मूल/फोटो/नकल, संग्रहालय का नाम, अन्य संग्रहित सामग्री–चित्र, मूर्तियाँ, आदि–विवरण एवं संग्रहालय के नाम सहित, तथा अनुक्रमणिका।

सभी खण्डों, सभी जिल्दों का आकार 10"X7-1/2"–डबल क्राउन : 20X30 आठ पेजी होगा।

प्रबुद्ध पाठकों और हिंदी-सेवियों से निवेदन है कि इस महत्वपूर्ण प्रकाशन-योजना के लिए अपने सुझाव और यदि उनके पास अथवा उनकी जानकारी में राहुलजी से सम्बन्धित कोई और सामग्री या सूचना हो तो उसे भेजने की कृपा करें।

–प्रकाशक



राहुलजी (1938)

प्रकाशकीय

मूर्धन्य और अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान, अप्रतिम विभूति महापंडित राहुल सांकृत्यायन के जीवन और लेखन—उनके विराट व्यक्तित्व एवं बहुआयामी कृतित्व को जानने-पहचानने का बुनियादी साधन है उनकी आत्मकथा—उनकी लिखी 'मेरी जीवन-यात्रा'।

राहुल सांकृत्यायन साधु थे, बौद्ध भिक्षु थे, यायावर थे, इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता थे, नाटककार और कथाकार थे और थे जुझारू स्वतंत्रता-सेनानी, किसान-नेता, जन-जन के प्रिय नेता। उनके अनन्य मित्र भदंत आनंद कौसल्यायन के शब्दों में, "उन्होंने जब जो कुछ सोचा, जब जो कुछ माना, वही लिखा, निर्भय होकर लिखा। चिंतन के स्तर पर राहुल जी कभी भी न किसी साम्प्रदायिक विचार-सरणी से बँधे रहे और न संगठन-सरणी से। वह 'साधु न चले जमात' जाति के साधु पुरुष थे।"

इस साधु पुरुष, विलक्षण लेखक के वाङ्मय के इस पहले खण्ड की पहली जिल्द में है 'मेरी जीवन-यात्रा' का पहला भाग : 9 अप्रैल 1893 से अप्रैल 1927 तक के जीवन का लेखा-जोखा। और है उनकी वैचारिक यात्रा के साथ ही भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक विकास-यात्रा को समझने का प्रयास!

राहुलजी के प्रारंभिक जीवन के चित्र नहीं मिलते। 'राहुल संग्रहालय' में उपलब्ध चित्रों में से कुछ चुने हुए चित्र विभिन्न खण्डों की विभिन्न जिल्दों में दिये गये हैं।

प्रकाशन में जहाँ जो भी त्रुटियाँ रह गयी हैं, उनके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

विषयानुक्रम

नव प्रकाश : 1915-22 ई.

राजनीति-प्रवेश : 1921-27 ई.

परिशिष्ट

केदार से राहुल

नामवर सिंह

मेरी जीवनयात्रा का सबसे बडा आकर्षण है कनेला के केदारनाथ पांडे का महापण्डित राहुल साकृत्यायन मे रूपान्तरण। जीवन की यह यात्रा अन्य यात्राओं से कितनी लम्बी है! कितनी दुर्गम! कितनी साहसिक! कितनी रोमाचक! और कितनी सार्थक!

लेकिन यह यात्रा कोरी 'यात्रा' नही है और न ही 'यायावरी' या 'घुमक्कडी'। राहुल जी बहुत बडे घुमक्कड़ थे, इसमे कोई सदेह नही। किन्तु कभी-कभी लगता है कि उन्होंने अपने चारों ओर कवच की तरह घुमक्कडी का एक मिथक गढ लिया था। केदारनाथ पॉडे घुमक्कडी के कारण महापण्डित राहुल साकृत्यायन नही बने। घुमक्कड होने से पहले केदारनाथ पांडे घर के भगोडे थे।

सिद्धार्थ की तरह केदारनाथ भी एक दिन घर से भाग निकले। कारण निश्चय ही और था, लेकिन वह नही जिसका उन्होने अत्यधिक प्रचार किया है : 'बचपन मे "मैंने नवाजिन्दा बाजिन्दा की कहानी (खुदराई का नतीजा) पढी। उसमे बाजिन्दा के मुँह से निकले 'सैर कर दुनिया की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ'–इस शेर ने मेरे मन और भविष्य के जीवन पर बहुत गहरा असर डाला, यद्यपि वह लेखक के अभिप्राय के बिल्कुल विरुद्ध था।" यह घटना 1903 की है। उस समय केदारनाथ की उम्र दस वर्ष की थी।

लेकिन **मेरी जीवनयात्रा** (1) मे इसके ठीक बाद अगले ही पृष्ठ पर एक और घटना का उल्लेख है, जो स्वय लेखक के शब्दो मे इस प्रकार है :

"1904 की गर्मी चल रही थी।··· बहसा-बहसी के बाद कई घटा रात चढ़े तिलक चढा। ब्याह भी हो गया। उस वक्त ग्यारह वर्ष की अवस्था मे मेरे लिए यह तमाशा था। जब मै सारे जीवन पर विचारता हूँ, तो मालूम होता है, **समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने में इसने ही पहला काम किया**। 1908 ई. में जब मैं 15 साल का था, तभी से मैं इसे शका की नजर से देखने लगा था, 1909 के बाद से तो मैं गृहत्याग का बाकायदा अभ्यास करने लगा, जिसमे भी इस 'तमाशे' का थोडा-बहुत हाथ जरूर था।·· 1909 के बाद घर शायद ही कभी जाता था, 1913 के बाद को तो वह भी खत्म-सा हो गया, और 1917 की प्रतिज्ञा के बाद तो आजमगढ जिले की भूमि पर पैर तक नही रखा (1943 से पहले)।"

इस वृत्तान्त मे स्पष्ट है कि गृहत्याग का भाव केदार मे ब्याह के कारण पैदा हुआ। "समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने मे इसने ही पहला काम किया।" 1904 के बाद से 1917 तक के घटनाक्रम का जो विवरण सिलसिलेवार दिया गया है, उसके समानान्तर इस अवधि की 'यात्राओ' को रखकर देखें तो यही नतीजा निकलता है। कलकत्ता तक 'पहली उडान' 1907 और 'दूसरी उड़ान' 1909 मे। 'वैराग्य का भूत' 1910 में और 'भूत' के प्रभाव मे अयोध्या, हरिद्वार, गगांत्री-जमुनोत्री, केदारनाथ-बदरीनाथ की यात्रा। 1911 में संस्कृत की पढाई के लिए काशी-प्रस्थान और काशी-प्रवास काल मे जानलेवा मत्र-साधना। 1912-13 में परसा मठ मे वैष्णव साधु होकर रामउदारदास नाम-ग्रहण। 1913 मे दक्षिणा पथ की यात्रा–मुख्यतः तिरुमिशी के उत्तरार्धी

मठ मे आवास—नया नाम दामोदराचारी। 1914 से आर्यसमाज की ओर आकर्षण और एक आर्यसमाजी प्रचारक के रूप मे आगरा, लाहौर आदि की यात्रा—1920 तक। कहने की आवश्यकता नही कि घुमक्कड़ी का यह चक्कर ब्याह के बाद ही शुरू हुआ और इसका एक ही अर्थ था—घर से दूर रहना।

इसी की चरम परिणति है 1916 की वह भीष्म प्रतिज्ञा : "अब से पचास वर्ष की उम्र खतम होने तक फिर आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर भी कदम न रखूँगा।"

मेरी जीवनयात्रा (1) में इस प्रसंग का विवरण अत्यंत मार्मिक है।

1916, अहरौरा रोड स्टेशन।

"जिसका डर था, आखिर वही बात हुई। अभी टिकट बँटने न पाया था कि पिताजी प्लेटफार्म पर पहुँच गए। वह हाँप रहे थे। उन्होंने 9-10 मील की यात्रा बिना साँस लिये दौड़ते या तेजी से चलते तै की थी।··· वह मुझे देखते ही फूट-फूटकर रोने तथा उलाहना देने लगे। प्लेटफार्म पर लोग जमा हो गए। वह चिल्ला रहे थे—क्यों मुझे मार रहे हो ? मुझे भी अपने साथ ले चलो, आदि। उनकी बातों मे पिछले साल की अर्ध-विक्षिप्तता का भी हल्का-सा असर था। मैंने एक बार हिम्मत बाँधकर कहा—आखिर, कब तक आप मुझे बाँधकर रखेंगे।

मैंने महेशपुरा की यात्रा स्थगित की, और दो टिकट लेकर बनारस की ओर रवाना हुआ। ट्रेन में और उससे भी ज्यादा बनारस स्टेशन पर मैंने ठडे दिल से उन्हे समझाना शुरू किया—मैं आपके भावों को, आपकी बेकरारी को समझता हूँ; किन्तु साथ ही मेरा जीवन भी किसी भविष्य की लालसा रखता है, जिसकी जो अस्फुट झाँकी मुझे मिल रही है, उसके कारण जबर्दस्त से जबर्दस्त खतरे, मृत्यु के साक्षात दर्शन तक भी अब मुझको अपने पथ से विचलित नहीं कर सकते। मैं कनैला के अयोग्य हूँ, मै आपके काम का नही रहा। यदि ऐसा करना था, तो मुझे गाय भैंस की चरवाही मे लगा दिये होते, मेरी दुनिया कनैला की सीमा स परिसीमित हो जाती। अब जोर देने का भयकर परिणाम होगा, आपको मेरे जीवन से हाथ धोना होगा।

इसका उनके दिल पर असर हुआ। अतिम उत्तर जिस तरह उनके मुख से यकायक निकला, उसकी आशा नहीं हो सकती थी। उन्होंने कहा—अब मै तुम्हारे रास्ते मे बाधक नही होऊँगा, किन्तु साथ ही मे भी कनैला न जाकर यहीं बनारस ही में अपने जीवन को बिता दूँगा।

अपने वचन के पूर्वार्द्ध को उन्होंने ठीक से पालन किया। यही उनका अतिम दर्शन था।

मैंने प्रतिज्ञा की—अब से पचास वर्ष की उम्र खतम होने तक फिर आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर भी कदम न रखूँगा।"

सवाल यह है कि पूरे आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर भी कदम न रखने की प्रतिज्ञा क्यों ? सिर्फ कनैला या पन्दहा ही क्यों नहीं ? राहुल जी को डर किस बात का था ? फिर पचास वर्ष की उम्र की पाबंदी क्यों ? आजीवन क्यो नहीं ? प्रतिज्ञा निश्चय ही भीषण है, लेकिन इसके पीछे हिसाब-किताब भी अच्छा-खासा है ! और कहना न होगा कि इस हिसाब-किताब का कुछ अर्थ है !

जो हो, पिता को पीड़ा पहुँचाने का अनुताप राहुल जी के मन में बना रहा। एक तरह से उन्होने अपने असमय विवाह के लिए पिता को दण्ड दिया था गृहत्याग के रूप मे। इसका प्रायश्चित्त राहुल जी ने अपनी अद्वितीय कृति 'बुद्धचर्या' (1930) के समर्पण द्वारा किया। यह समर्पण एक प्रकार से पिता का तर्पण भी है। समर्पण के शब्द ध्यातव्य हैं :

'मेरे गृहत्याग से जिनके अ-वार्धक्य जीवन के अतिम वर्ष दुःखमय बन गए;
उन्ही साकृत्य-सगोत्र, मलाँव-पांडेय, स्वर्गीय पिता
श्री गोवर्धन की स्मृति मे।'

वैसे, बुद्ध के समान राहुल भी अपने गाँव वापस लौटे थे—पचास वर्ष की उम्र खत्म होने पर 1943 ई. मे। यह वह समय है जब केदारनाथ पाँड़े महापण्डित राहुल सांकृत्यायन हो चुके थे। एकदम सम्यक् सम्बुद्ध !

मेरी जीवनयात्रा (2) में इस पुनरागमन का वर्णन विस्तृत है, किन्तु प्रसंगवश केवल ग्रामवासिनी उस प्रथम

पत्नी से सम्बद्ध अश ही यहाँ प्रस्तुत है :

"भोजन समाप्त हुआ। हम उठना ही चाहते थे कि कपडों में ढँकी एक मूर्ति ने मेरे पैरों पर गिरकर रोना आरम्भ करना चाहा। मैं तुरन्त चलने को उठ खड़ा हुआ। खैर, रोना वहीं रुक गया। रोनेवाली कौन थी, कह नहीं सकता, न मुझे बतलाया गया। मेरे नाम से शैशव में घरवालों ने जो ब्याह किया था, उसे तो घर के साथ ही तीन दशाब्दियों पहिले ही मैं छोड़ चुका था।"

1943 में राहुल जी "कपडों से ढँकी" जिस रोती हुई "मूर्ति" से एकदम अनजान बनकर चलने के लिए उठ खड़े हुए थे, उसी के अंतिम दर्शन करने 1957 में फिर कनैला पहुँचे। इस मार्मिक प्रसग का पूरा विवरण इस प्रकार है :

"कनैला छोड़ने से पहिले अपनी प्रथम परिणीता को देखने का निश्चय कर चुका था। अब वह चारपाई पकड़े थी। देखकर करुणा उभर आना स्वाभाविक था। आखिर मैं ही कारण था जो इस महिला का आधी शताब्दी का जीवन नीरस और दुर्भर हो गया। मैं प्रायश्चित्त करके भी उसको क्या लाभ पहुँचा सकता था ? एक बार देखा। वह अपने आँसुओं को नहीं रोक सकी। फिर मैं घर से बाहर चला आया।"

यह प्रसग 'मेरी जीवनयात्रा' के किसी भाग में नहीं है, क्योंकि 1956 के बाद की 'जीवनयात्रा' तो महापण्डित ने लिखी ही नहीं। यह मर्मस्पर्शी प्रसग जिस पुस्तक में वर्णित है उसका नाम है 'कनैला की कथा' और यही वह पुस्तक है जिसे अपनी 'प्रथम परिणीता' को समर्पित करके राहुल ने प्रायश्चित्त का प्रयास किया है। समर्पण के शब्द है :

'उस प्रथम परिणीता को जिसका सारा जीवन मेरी महत्त्वाकाक्षाओं का शिकार हुआ।'

अब तक जिस ब्याह का ब्याह न माना और जिस स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं किया, उसी को अब 'प्रथम परिणीता' का सम्मान दिया और साथ ही अपनी महत्त्वाकाक्षाओं की भर्त्सना भी की।

पचास की उम्र में जहाँ करुणा का नामोनिशान न था, चौंसठ की उम्र में करुणा स्वाभाविक हो उठी। रूपान्तरण की प्रक्रिया का एक चरण यह भी है।

तात्पर्य यह कि बाल-विवाह केदारनाथ पाँडे के जीवन की एक निर्णायक घटना है और गृहत्याग उसकी प्रथम प्रतिक्रिया, जिसे राहुल जी ने सामाजिक विद्रोह के प्रथम अकुर की सज्ञा दी है। सन्यास इस विद्रोह का ही एक रूप है जिसके तहत केदारनाथ पाँडे साधु रामउदारदास हुए। यदि वे इतने ही से सतुष्ट होकर रह जाते तो हजारों वैष्णव साधुओं के बीच एक और साधु बनकर खो जाते। किन्तु ज्ञान की प्यास ने उन्हें चैन न लेने दिया और 'कि करोमि क्व गच्छामि' की चिन्ता साधु रामउदारदास को आर्यसमाज के पास ले गई। उल्लेखनीय है कि 'मेरी जीवनयात्रा' में राहुल जी ने एक को 'वैराग्य का भूत' कहा है तो दूसरे को 'नव प्रकाश'। 'मेरी जीवनयात्रा' (1) में इस समय की मनःस्थिति पर प्रकाश डालते हुए राहुल जी ने लिखा है : "आचारियों के अति सकीर्ण तथा वैरागियों के अपेक्षाकृत उदार, तो भी सकीर्ण वायुमडल से निकलकर आर्यसमाज में आने पर मुझे मानसिक विचार-स्वातत्र्य का मूल्य मालूम होने लगा। मुसाफिर विद्यालय में 'करोड़ों वर्षों' से स्थापित आचार-धर्म-सम्बन्धी परम्परा पर भी हम खुली तौर से नुक्ताचीनी कर सकते थे। 'यस्तर्केणानुसधत्ते स धर्म वेद नेतर' के महामत्र को सुनकर मेरा रोओं-रोओं आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द के प्रति कृतज्ञ था।" यह बात 1916 की है। उन दिनों 'स्वदेश' और 'स्वधर्म' को रामउदार बाबा अभिन्न समझते थे और राष्ट्रीय स्वतत्रता के लिए इतनी बेकरारी थी कि सशस्त्र चेष्टा के लिए प्राण देनेवाले स्वेच्छा-सेवकों की जरूरत पड़ती तो वे उनमें पहिले नाम लिखाते।

आर्यसमाज का प्रभाव कब तक बना रहा, निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, किन्तु इतना निश्चित है कि 1921 मे रामउदारदास असहयोग-आन्दोलन मे कूद पड़े और इस प्रकार धर्म के साथ देश की राजनीति में प्रवेश कर गए। इस क्रम मे 1922 मे छै महीने बक्सर जेल में और फिर 1923 से 1925 तक लगभग दो साल हजारीबाग जेल मे कैद भुगतनी पड़ी। हजारीबाग जेल के दिनो की वैचारिक स्थिति के बारे में 'मेरी जीवन यात्रा' (1) सूचित करती है कि "आर्यसमाज के विचारों की कट्टरता कम होने लगी, और बौद्ध धर्म की

ओर झुकाव बढ़ा। वेद की निर्भ्रान्तता पर सन्देह होने लगा, किन्तु ईश्वर पर विश्वास अब भी था।"

यदि विचार-यात्रा जीवन-यात्रा का ही अंग है तो सबसे बड़ा मोड़ केदारनाथ के विचारों में 1927 में आया जब वे श्रीलंका के विद्यालंकार विहार विद्यापीठ पहुँचे और रामउदारदास से त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन हुए। **मेरी जीवनयात्रा** (2) में इस वैचारिक परिवर्तन का वर्णन करते हुए राहुल जी ने लिखा है :

"ढाई हजार वर्ष पहिले के समाज और समय में बुद्ध के युक्तिपूर्ण सरल और चुभनेवाले वाक्यों का मैं तन्मयता के साथ आस्वाद लेने लगा। त्रिपिटक में आए मोजिज़ें और चमत्कार अपनी असम्भवता के लिए मेरी घृणा के पात्र नहीं, बल्कि मनोरंजन की सामग्री थे। मैं समझता था, पच्चीस सौ वर्षों का प्रभाव उन ग्रंथों पर न हो, यह हो नहीं सकता। असम्भव बातों में कितनी बातें बुद्ध ने वस्तुतः कहीं, इसका निर्णय आज नहीं किया जा सकता, फिर राख में छिपे अंगारों या पत्थरों से ढँके रत्न की तरह बीच-बीच में आते बुद्ध के चमत्कारिक वाक्य मेरे मन को बलात् अपनी ओर खींच लेते थे। जब मैंने कालामों को दिये बुद्ध के उपदेश–किसी ग्रंथ, परम्परा, बुजुर्ग का ख्याल कर उसे मत मानो, हमेशा खुद निश्चय करके उस पर आरूढ़ हो–को सुना तो हठात् दिल ने कहा–यहाँ है एक आदमी जिसका सत्य पर अटल विश्वास है, जो मनुष्य की स्वतन्त्र बुद्धि के महत्त्व को समझता है। जब मैंने मज्झिम निकाय में पढ़ा–बेड़े की भाँति मैंने तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, वह पार उतरने के लिए है, शिर पर ढोए-ढोए फिरने के लिए नहीं; तो मालूम हुआ, जिस चीज को मैं इतने दिनों से ढूँढ़ता फिर रहा था, वह मिल गई।"

बुद्ध के सत्य की झलक मिल तो गई, लेकिन अभी तक ईश्वर से मुक्ति नहीं मिल पाई थी। यह अटक बाकी थी। इस कारण तीव्र अन्तर्द्वंद्व था। एक शाम टहलते समय सहसा यह दुविधा भी मिट गई। राहुल जी के शब्दों में, "ईश्वर और बुद्ध साथ नहीं रह सकते, यह साफ हो गया, और यह भी स्पष्ट मालूम होने लगा, कि ईश्वर सिर्फ काल्पनिक चीज है, बुद्ध यथार्थवक्ता हैं। तब कई हफ्तों तक हृदय में एक दूसरी बेचैनी पैदा हुई।–मालूम होता था, चिरकाल से चला आता एक भारी अवलम्ब लुप्त हो रहा है। किन्तु मैंने हमेशा बुद्धि को अपना पथ-प्रदर्शक बनाया था, और कुछ ही समय बाद उन काल्पनिक भ्रान्तियों और भीतियों का खयाल आने से अपने भोलेपन पर हँसी आने लगी।... अब मुझे डार्विन के विकासवाद की सच्चाई मालूम होने लगी, अब मार्क्सवाद की सच्चाई हृदय और मस्तिष्क में पैवस्त जान पड़ने लगी।"

इस प्रकार बुद्ध के विचारों के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि और मार्क्सवाद की सच्चाई से सन्नद्ध एक नये मनुष्य का जन्म हुआ, जिसे आज हम राहुल सांकृत्यायन के नाम से जानते हैं।

स्वयं राहुल जी ने अपनी 'जीवन यात्रा' के इस चरण को 'पर्येषण' की संज्ञा दी है, जिसका अर्थ है तर्क द्वारा गवेषणा या खोज। यहीं से तिब्बत की उन शोधयात्राओं का सिलसिला शुरू होता है जिनमें राहुल जी को धर्मकीर्ति, असंग, वसुबन्धु आदि बौद्ध दार्शनिकों के अप्राप्त अमूल्य ग्रंथों के उद्धार का श्रेय मिला। यही वह काल है जब महायात्री राहुल ने जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत भूमि और ईरान की यात्रा की। इसलिए 'मेरी जीवनयात्रा' (2) के इस खंड को 'पर्येषण' के साथ 'पर्यटन' कहना सर्वथा उचित ही है।

'पर्येषण, पर्यटन' का यह दौर 1927 से 1938 तक, लगभग बारह वर्षों तक चलता है। इसी दौर में बकौल राहुल "एक तरह 1927 ई. में ही मेरे साहित्यिक जीवन का आरम्भ होता है।... यहीं से लंका के सम्बन्ध में धारावाहिक रूप से मैंने कुछ लेख 'सरस्वती' के लिए लिखे।" इसके ठीक बाद 1944 तक लगातार सात वर्ष 'जीवनयात्रा' का वह दौर चलता है जिसे राहुल जी ने 'किसानों-मजदूरों के लिए' कहा है। एक 'प्रतिबद्ध बौद्धिक' के रूपान्तरण का यह चरम शिखर है।

'मेरी जीवनयात्रा' की प्रथम दो जिल्दों का लेखन-कार्य महापण्डित ने इसी शिखर पर पहुँचकर किया है, जो असंदिग्ध रूप से 'जीवन-यात्रा' की पाँचों जिल्दों में अन्यतम हैं। एक तरह से यह कालखंड राहुल जी की सर्जनात्मक प्रतिभा का विस्फोट है, क्योंकि इसी दौरान उन्होंने 'वोल्गा से गंगा', 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' जैसी अमर कथाकृतियों की रचना की; 'दर्शन-दिग्दर्शन' जैसा दार्शनिक विश्वकोश तैयार किया; और धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' का वृत्ति, भाष्य और टीका के साथ सम्पादन कर अनुसंधान का प्रतिमान स्थापित

किया। इस प्रकार महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के रूप में ज्ञान, इच्छा और क्रिया के त्रिरत्न का ऐसा समंजस विग्रह प्रकट हुआ जो बीसवीं शताब्दी के भारत की एक ऐतिहासिक घटना है !

2

परन्तु राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवनयात्रा' किसी महामानव की सफलता की गाथा नहीं है। इसी पुस्तक के प्रथम भाग में एक जगह राहुल जी ने व्यक्ति-पूजा के विरुद्ध उद्गार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "व्यक्ति-पूजा को तोड़ने के लिए मेरा दिल बाज वक्त वैसे ही चुलबुला उठता है, जैसे हाथ में पत्थर लिये छोटे लड़के को मिट्टी के बरतनो को देखकर खन-खन चर-चर करके टूटते बरतन अच्छे मालूम होते हैं। समाज के ढोंग मुझे क्रोधान्ध बना देते हैं। मेरा विश्वास है—या तो ढोंग ही रहेंगे या समाज का अस्तित्व ही। इसलिए समाज के ढोंगों के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व को भी चूर-चूर करने में मुझे प्रसन्नता होती। इसके लिए कितने ही लोग मेरे साथ अन्याय भी करते, किन्तु भविष्य के कद्रदानों के सामने यह नगण्य-से होते।"

फिर भी इस विषय में राहुल जी को 'अपनी कलम रोकनी' पड़ी, क्योंकि "उन्हें मित्रों और स्नेहियों के आग्रह का भी पालन करना" था। इस संदर्भ में उन्होंने सामान्य संकेतों की भाषा में सिर्फ इतना ही कहा है कि "यदि लोगों की दृष्टि में गिरने का मुझे डर न होता, यदि स्त्रियों के सामने बोलने-चालने में—विशेषकर प्रेमालाप की दिशा मे ले जानेवाले वार्तालाप में—संकोच न होता, तो सिर्फ आदर्श के लिए द्विपाद रहने की अनिवार्यता, या सिर्फ ज्ञान से मैं वच न सकता; क्योंकि काम-वेग खास-खास अवस्था में ज्ञान-विवेक को तिनके के तौर पर बहा ले जाता है। जीवन की दो-चार घटनाएँ हैं, जिनसे मैं इसलिए वच गया, कि काम की सांकेतिक भाषा के प्रयोग से अपरिचित और समझने में सन्देहयुक्त था। इस जीवनी में जीवन के इस अंश पर भी मैं और लिखता…"

इस आत्मस्वीकृति के बावजूद 'मेरी जीवन-यात्रा' में संयोग से ऐसे कुछ प्रसंग आ गए हैं। इन्हीं प्रसंगों में से एक है छोटी मामी का प्रसंग। यह चौदह वर्ष की अवस्था के पूर्व के अनुभव है। इस 'स्वच्छ', 'सुंदर', 'कोमल' और 'मधुर' मामी के बारे में राहुल जी ने लिखा है कि "सचमुच यदि उस लड़के (केदार) से पूछा जाता, कि तुम को सिर्फ एक आदमी दुनिया में मिलेगा, चुन लो और हमेशा के लिए निर्जन वन में चले जाओ; तो वह अपनी छोटी मामी को चुनता।" कहने की आवश्यकता नहीं कि "छोटी मामी से उसे असाधारण प्रेम था।" अब इस 'असाधारण प्रेम' का जो भी अर्थ हो।

दूसरा प्रसंग है श्रीलंका का। 1928 का वर्ष। राहुल भद्र उस समय पैंतीस वर्ष के थे। पूरा विवरण स्वयं लेखक के ही शब्दों में :

"विद्यालंकार विहार के बाहर सड़क की दूसरी तरफ एक गृहस्थ का घर था, उसमें एक तरुण कन्या रहती थी। एकाध वार हमारी आँखें चार हुई।… मेरा हृदय भी उधर आकर्षित हुआ था; क्योंकि वह गोरी और कुछ सुन्दर-सी थी। इसमें भी कोई शक नहीं, कुमारी होने से उसके साथ ब्याह करने में कोई बाधा नहीं हो सकती थी, किन्तु ब्याह का नाम आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते, मेरे पर कटकर गिरते-से दिखाई पड़ते। और कन्या-संसर्ग का यह छोड़ दूसरा परिणाम क्या होता ? मैंने दृढ़ता से काम लिया, लेकिन साथ ही दृढ़ता में मेरा स्वाभाविक संकोच और उस लड़की की लज्जाशीलता मुख्यतः सहायक हुई, नहीं तो, उसकी तरफ से मामला आगे बढ़ने पर मेरे लिए वचना मुश्किल होता।"

पूरे विवरण से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि ब्याह का डर ही सबसे बड़ी रोक थी। इसे राहुल जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है : "जब तक उड़ान की चाह है, जब तक अपने आदर्श के सहायक साधनों को आदमी जमा नहीं कर सका है, तब तक उसका दोपाया रहना सबसे जरूरी चीज है।" इस कथन से तो यही नतीजा निकलता है कि जब उड़ने की चाह से जी भर जाय और अपने आदर्श के सहायक साधन जमा हो जायँ तो आदमी को चौपाया हो जाना चाहिए। यह निष्कर्ष उतना चौंकानेवाला नहीं, जितना दिलचस्प है महापण्डित

का उस पर अमल !

घर से डर भी और घर की चाह भी : 'मेरी जीवनयात्रा' गोया इन्हीं दोनों छोरों को एक साथ बाहों में बाँध लेने की करुण कोशिश है।

क्या राहुल जी ने अपने मित्रों और स्नेहियों के आग्रह के बावजूद अपनी छवि पर दो-चार खरोंचें नहीं लगाईं ? कहना न होगा कि यदि खरोंच आई भी होगी तो 'छवि' पर ही, 'व्यक्तित्व' तो बहुत बड़ी चीज है ! व्यक्तित्व तो अंदर से चटखता है और उसके कारण भी बहुत आन्तरिक होते हैं ! उन आन्तरिक कारणों का पता लगाने के लिए 'मेरी जीवनयात्रा' को दूसरे ढंग से पढ़ना होगा, जो सम्प्रति सम्भव नहीं है।

कुल मिलाकर राहुल जी की 'मेरी जीवनयात्रा' अन्ततः एक आख्यायिका ही है। तिथियाँ और घटनाएँ वास्तविक होकर भी एक धारावाहिक आख्यान में नियोजित होने की प्रक्रिया में एक अन्य कल्प-सृष्टि का रूप ग्रहण कर लेती हैं। फलतः केदारनाथ पाँड़े का महापण्डित राहुल सांकृत्यायन में रूपान्तरण एक सरल रेखा के समान दिखाई पड़ता है, जबकि उसके जटिल होने की सम्भावना अधिक है !

'मेरी जीवनयात्रा' का आख्यान स्वयं महायात्री राहुल की तरह इतनी तीव्र गति से चलता है कि किसी स्थान पर एक निश्चित अवधि से अधिक टिकना ही नहीं चाहता। राहुल बुद्ध के समान ही 'चरत भिक्खवे' जैसे भिक्षु-धर्म का ही पालन करते दिखाई पड़ते हैं और 'मेरी जीवनयात्रा' उन चरणों का अनुसरण करने के लिए जैसे बाध्य है। इस संचरण में यदि कुछ चीजें छूट गईं तो आश्चर्य नहीं। उदाहरण के लिए प्रकृति ! यहाँ न कोई फूल खिलता है, न कोई चिड़िया बोलती है और न कहीं सूर्य की किरणें बादलों पर अपनी रंगीन कूँचियाँ फेरती हैं। राहुल जी की दिलचस्पी अगर किसी चीज में है तो सिर्फ मनुष्यों में ! प्रत्येक मनुष्य को इतनी बारीकी से देखते हैं कि 'मेरी जीवनयात्रा' हजारों व्यक्तियों के रेखांकन का एक जीता-जागता अलबम बन गई है। ग़ालिब ने तो सत्तर साल की उम्र में सत्तर हजार व्यक्तियों को अपनी नजर से गुजरने का दावा किया था, राहुल ने तो इससे ज्यादा लोगों के साथ रहकर जिन्दगी गुजारी होगी।

वैसे, आदमियों के अलावा पशुओं से भी राहुल जी का लगाव था जिसका सबसे मार्मिक उदाहरण है 'सेङ् टुकु' नामक तिब्बती कुतिया की मौत। उस नन्हीं-सी जान के मरने पर राहुल जी ने लिखा है : "मैंने इतनी मात्रा में और अचानक पीड़ा कभी नहीं अनुभव की थी।··· कितनी ही बार मेरी आँखों से आँसू निकल आए। माता और पिता के मरने पर, तथा मेरे लिए प्राण देनेवाले नाना-नानी के मरने पर भी जो आँखें नहीं पसीजीं, उनमें आज छल-छल आँसू उमड़ आ रहे थे।" यह घटना 1926 की है।

स्पष्ट है कि बुद्ध के अनुयायी त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन के अन्तस्तल में प्रचुर करुणा थी। जरूरी नहीं कि वह समय-समय पर आँसू बनकर छलके ही। तुलसीदास के जनक भी 'परम विरागी' कहे जाते थे; किन्तु एक विशेष क्षण में 'मिटी महा मरजाद ग्यान की।' और फिर "लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपण कर सोना।" किन्तु लगता है कि 'मेरी जीवनयात्रा' में महापण्डित ने मरजाद का ध्यान कुछ ज्यादा ही रखा है और कृपणता में तनिक भी ढील नहीं दी है ! कहीं-कहीं हृदय जरा खुल पड़ा होता तो कुछ हानि न होती। बल्कि कुछ और हृद्य ही होती।

'मेरी जीवनयात्रा' 'जीवनी' के रूप में भले ही न लिखी गई हो, जैसा कि 'प्राक्कथन' में लेखक ने ऐलान किया है, एकदम 'यात्रा' भी तो नहीं है; है तो आखिर 'जीवन-यात्रा' ही–राहुल जी का दिया हुआ एक नया पदबंध ! बहु अर्थगर्भ !

32, शिवालिक अपार्टमेंट्स,
अलकनंदा, नई दिल्ली-110019



महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

जन्मकुटी पन्दहा राहुलजी द्वारा 1957 में लिया गया चित्र



बौद्ध भिक्षु राहुलजी बीच में चीवर पहने हुए (कोरिया 1935)

राहुल जी की 'मेरी जीवन-यात्रा'

•

हिन्दी में आत्मकथा-साहित्य के क्षेत्र में राहुल जी की 'मेरी जीवन-यात्रा' एक अविस्मरणीय कृति है। इसमें लेखक ने अपने जीवन के महत्वपूर्ण क्षणों का विवरण बहुत ही कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। आत्मकथा या आत्मचरित जीवनी-साहित्य का विकासशील अंग है। यही एक ऐसा माध्यम है जिसमें लेखक अपने विषय में एवं अपने व्यक्तिगत अनुभवों के सम्बन्ध में कहता है। राहुल जी की 'जीवन-कथा' एक पर्यटक की कथा होने के कारण मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद, रामाचकारी तथा उत्साह भरी जीवन-यात्रा है।

राहुल जी ने अपनी जीवन-यात्रा (पाँच भागों) में, जन्म से लेकर तिरसठवाँ वर्ष पूरा करने तक का वर्णन किया है। उन्होंने आत्मचरित के लिए 'जीवन-यात्रा' शब्द का प्रयोग किया है। इस विषय में उनका कथन है-"मैंने अपनी जीवनी न लिखकर 'जीवन-यात्रा' लिखी है, यह क्यों? अपनी लेखनी द्वारा मैंने उस जगत की भिन्न-भिन्न गतियों और विचित्रताओं को अंकित करने की कोशिश की है, जिसका अनुमान हमारी तीसरी पीढ़ी मुश्किल से करेगी।" (मेरी जीवन-यात्रा-1 की भूमिका)

पंडित जी आगे कहते हैं-"जिस तरह मैंने दूसरे विषयों पर लिखने से पहिले कलम उठाने की कला को बाकायदा नहीं सीखा, उसी तरह जीवनी लिखने की कला में भी मैं अशिक्षित हूँ। बाकायदा शिक्षा का महत्व कम नहीं है, लेकिन मेरा दुर्भाग्य, जो मुझे उसका अवसर नहीं मिला।" (वही, भूमिका) इन पंक्तियों से जाहिर होता है कि राहुल जी कितने विनम्र थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा बाकायदा नहीं हुई, इससे उनको अफसोस होता है; किन्तु पूरी जीवन-कथा को पढ़ने से हम समझ सकते हैं, विश्वविद्यालय के डिग्रीधारी न होने पर भी वे कितने बड़े विद्वान थे, कितने बड़े रचनाकार थे। उनमें अहंकार, घमण्ड एवं दिखावा नाम की कोई चीज नहीं थी। राहुल जी की उपरिलिखित स्वोक्ति से स्पष्ट है कि 'मेरी जीवन-यात्रा' आत्मवृत्त मात्र नहीं है, वह उससे कुछ बढ़कर है। वे यायावर थे, और बीसवीं सदी के उन विरले यायावरों में थे जिन्होंने देश-विदेश का पर्यटन कर वहाँ के विषय में प्रामाणिक एवं विस्तृत जानकारी प्रदान की है। उनका यह आत्मचरित एक यायावर का आत्मचरित है और इसीलिए 'मेरी जीवन-यात्रा' जीवनी मात्र नहीं है, जीवन के साथ-साथ एक विराट अनुभव-यात्रा भी है। जीवनीकार केवल अपनी कथा प्रस्तुत करने तक ही सीमित नहीं हैं, वे बाहरी विश्व की विचित्रताओं, विभिन्नताओं को भी अंकित करते चलते हैं।

'मेरी जीवन-यात्रा' एक यायावर साहित्यकार की आत्मकथा है। यह उनके मधुर-कटु जीवन-अनुभवों की रोचक कथा तो है ही, उनके सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों के सहृदयतापूर्ण चित्र भी इसमें हैं। आत्मकथा का प्रमुख पात्र तो लेखक स्वयं होता है, पर साथ ही वह उन आदमियों के नाम भी अंकित करता जाता है जो उसके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं। जीवन-यात्रा में घनिष्ठ सम्पर्क में आये व्यक्ति जीवन को मधुर बना देते हैं। उनकी मधुर स्मृतियों को आत्मकथा का लेखक स्वयं अंकित करता है। इस विषय में राहुलजी का आत्मकथन है- "आदमी जीवन-यात्रा में कितने ही सहृदय नर-नारियों से मिलता है, उनसे कितनी ही सहायता और सहानुभूति पाता है··· मैं नहीं समझता, क्यों आदमी की प्रवृत्ति को इतना स्वार्थपूर्ण चित्रित किया जाता है। मैं यह जानता हूँ कि स्वार्थ के पीछे अंधे हो गये आदमी भी मिलते हैं, लेकिन यदि आदमी स्वार्थमय होता, तो किसी की जीवन-यात्रा

में जरा भी माधुर्य न रह जाता। मैं तो जब अपनी जीवन-यात्रा को याद करता हूँ तो हजारो स्नेहपूर्ण चेहरे आँखो के सामने घूमने लगते हैं।" (मेरी जीवन-यात्रा–2)

राहुल जी ने 'मेरी जीवन-यात्रा' में सैकड़ो ऐसे व्यक्तियों के चरित्र का उल्लेख किया है जिनकी स्मृतियां को वे आजीवन सँजोये रहे। ऐसे व्यक्तियों मे साहित्यकार, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, पुरातत्ववेत्ता, इतिहासकार, सन्त-साधु-सन्यासी, बौद्ध विद्वान, आर्यसमाज-प्रचारक, समाज-सुधारक, यायावर–सभी क्षेत्रों एव देश-विदेश के विख्यात व्यक्ति तो है ही, जनसाधारण की मधुर स्मृतियां को भी उन्होने चित्रित किया है। उनकी कहानी कृति 'सतमी के वच्चे' के सभी प्रमुख पात्रों का सम्बन्ध राहुल जी के जीवन के बाल्यकाल अथवा किशोरकाल से है। यदि राहुल जी की 'मेरी जीवन-यात्रा' भाग-1 को पढ़ने के बाद कोई इन कहानियों को पढ़ने बैठे, तो उसे ये कहानियाँ कहानी न लगेंगी, क्योंकि ये सभी पात्र प्रायः उसी भाषा मे जीवनी में भी वर्णित है। सतमी कौन थी, इसका सही परिचय उनकी जीवन-यात्रा भाग 1 से मिलता है।

राहुल जी ने 'मेरी जीवन-यात्रा' मे अपने जीवन का इतिहास स्मृतियो के रूप मे ही प्रस्तुत किया है। साथ ही उसके लिए समय-समय पर लिखे गये नोटो एव डायरियों का भी उपयोग किया है। 'मेरी जीवन-यात्रा' के पहले दो भाग प्रमुखतः स्मृति पर आधारित हैं। इस विषय में लेखक का कथन है–"इन दो महीनों में मैंने 1893 से 1934 ईसवी तक की यात्रा को अपनी स्मृति से कागज पर उतारा।" (भाग 1, प्राक्कथन)। डायरी ओर पत्रों का आत्मकथा मे स्थान होता है। डायरी के प्रयोग के साथ जहाँ राहुल जी अपनी ओर से व्याख्या करते हैं, वे अंश आत्मकथा के अधिक समीप है। 'मेरी जीवन-यात्रा' में सर्वत्र रोचकता है, यह रोचकता लेखक के व्यक्तित्व में है, उनकी यथार्थ ओर ईमानदारी में की गई अभिव्यक्ति मे है, कल्पित बातों में नहीं। यही ईमानदारी आत्मकथा की सत्यता की कसौटी है।

मेरी जीवन-यात्रा-1 : आत्मकथा का लेखक आत्म निरीक्षण एव आत्म परीक्षण के साथ अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह रखता है, साथ ही वह बाहरी विश्व के साथ अपने सम्बन्धों को प्रकट करता है। प्रस्तुत प्रथम भाग को लेखक ने अपने बुजुर्गों के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए समर्पित किया है। समर्पण वाक्य मे वे लिखते है–

"उन दौड़नेवालों की स्मृति मे, जो मुझे आगे बढ़ने का अवसर दे आप पीछे रह गये।"

'मेरी जीवन-यात्रा' (प्रथम भाग) के प्राक्कथन मे राहुल जी लिखते हैं–"मेरी जीवन यात्रा मैंने क्यों लिखी ? मैं बराबर इसे महसूस करता रहा कि ऐसे ही रास्ते से गुजरे हुए दूसरे मुसाफिर यदि अपनी जीवन यात्रा को लिख गये होते, तो मेरा बहुत लाभ हुआ होता–ज्ञान के ख्याल से ही नहीं–समय के परिमाण में भी। मे मानता हूँ कि दो जीवन-यात्राएँ बिलकुल एक-सी नहीं हो सकती, तो भी इसमें सदेह नहीं कि सभी जीवनों को उसी आन्तरिक और बाह्य विश्व की तरंगो में तरना पड़ता है।"

राहुल जी के मित्र उनके साहसमय यायावरीय जीवन की कथा को लिख डालने के लिए उन्हे पहले से ही प्रेरित कर रहे थे। इसे लिख डालने का अवसर उनको हजारीबाग जेल मे मिला, जब 14 मार्च 1940 मे सरकार ने उन्हे हजारीबाग जेल मे बद कर दिया और 29 महीने तक नजरबन्द रहना पड़ा। राहुल जी समय का मूल्य जानते थे। इस बन्दी जीवन के दीर्घ काल का सदुपयोग करने के लिए पुरानी स्मृतियों को कागज पर उतार डालने का उन्होने निश्चय किया। 16 अप्रैल से उन्होने लिखना आरम्भ किया और 14 जून तक लिखते गये। इन दो महीनों में उन्होंने जन्म (1893) से लेकर 1934 तक की यात्रा को अपनी स्मृति से कागज पर उतारा। इस प्रसग में वे कहते हैं–"मुमकिन है, मैं आगे बढ़ते-बढ़ते 1940 तक चला आता, लेकिन 1926 से आगे बढ़ते ही मेरी कलम रुकने लगी–जब साल-साल की डायरी मौजूद है तो सिर्फ स्मृति के सहारे लिखने को मैंने ठीक नहीं समझा–मुमकिन है, डायरियो को मिलाने पर बहुत बदलना पड़ता।" (प्राक्कथन)

इस प्रकार हजारीबाग जेल मे रहकर उन्होंने एकाग्रचित्तता से अपनी आत्मकथा के इस प्रथम भाग को लिख डाला। 'मेरी जीवन-यात्रा' के प्रथम भाग के कालखण्ड के विस्तृत वर्ण्य-विषय को लेखक ने चार उपखण्डों में विभाजित किया है, और पुस्तक के अन्त मे महत्वपूर्ण परिशिष्ट भी दिया है। जीवनी के विभाजित खंडों के अनुसार–प्रथम उपखण्ड : बाल्य (1893-1909), द्वितीय उपखण्ड : तारुण्य (1910-14 ई०), तृतीय उपखण्ड :

नव प्रकाश : (1915-21 ई०), चतुर्थ उपखण्ड : राजनीति-प्रवेश (1921-27 ई०) है। परिशिष्ट में 1922 की डायरी से कुछ पद्य-गद्य की पंक्तियाँ, सांकृत्यायन-वंशवृक्ष का वर्णन है, जिसमें (क) वैदिक काल, (ख) बौद्ध काल, (ग) मध्य काल, (घ) आधुनिक काल के अनुसार ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। विभाजित प्रथम उपखण्ड के बाल्यजीवन के अन्तर्गत अपने आरम्भिक जीवन, पारिवारिक सदस्यों एवं प्रारम्भिक शिक्षा के उल्लेख के अनन्तर लेखक बाल्यकाल में ही यायावरी जीवन के प्रति अपने आकर्षण को व्यक्त करते हैं। विभाजित द्वितीय उपखण्ड में उन्होंने अपने तारुण्य के समय का विस्तृत और रोचक वर्णन करते हुए अपनी यायावरी वृत्ति को आगे बढ़ाया है। इस उपखण्ड में लेखक के दक्षिण भारत के पर्यटन का वर्णन है। वे कभी साधु-सन्यासियों की शरण लेते हैं और कभी किसी मठ या आश्रम में निवास करते हैं। आर्यसमाज के सम्पर्क में आकर उन्हें जो नवप्रकाश प्राप्त होता है, उसका वर्णन विभाजित तृतीय उपखण्ड में लेखक ने किया है। चतुर्थ विभाजित उपखण्ड के अनुसार राहुल जी गाँधी जी के द्वारा चलाये हुए असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने राजनीति में प्रवेश करते हैं। यहाँ से अब उनका तूफानी जीवन आरम्भ होता है। राजनीति में रहते हुए भी वे समाजसेवी के रूप में बाढ़-पीड़ितों की सहायता करते हैं और उन्हें बक्सर जेल में छह मास के लिए बन्द कर दिया जाता है। फिर जिला कांग्रेस के मंत्री बनते हैं। पर उनकी यायावरी वृत्ति उन्हें प्रथम नेपाल-भ्रमण में भेज देती है। लौटने पर उनको सरकार की ओर से वारंट मिलता है और वे हजारीबाग जेल में भेज दिये जाते हैं। जेल से 2 वर्ष बाद मुक्त होकर जब बाहरी दुनिया में आते हैं, तब उन्हें राजनीति में शिथिलता दिखलाई पड़ती है और 1926 में हिमालय की सैर करने निकल पड़ते हैं। उसके बाद जिला कांग्रेस की कौंसिल में काम करने लगते हैं। तूफानी जीवन उनको आगे और आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है।

अपनी जीवन-यात्रा के प्रथम भाग से ही राहुल जी ने सर्वत्र अपनी ईमानदारी से अपने गुण-दोषों का उद्घाटन किया है। प्रथम विवाह के सम्बन्ध में उन्होंने अपने स्पष्ट विचार अंकित किये हैं। इस प्रसंग में एक ओर उनके निर्भीक, क्रांतिकारी व्यक्तित्व का संकेत मिलता है, तो दूसरी ओर प्रथम पत्नी के परित्याग का यथार्थ एवं सत्य वर्णन भी।

आर्यसमाज एवं भाई मौलवी महेशप्रसाद के सम्पर्क ने राहुल जी को तारुण्य में नवप्रकाश प्रदान किया। इस विषय में वे लिखते हैं—"यहाँ आगरा में भाई साहब के सम्पर्क में आने पर मालूम हुआ, जैसे आदमी अँधेरी कोठरी से निकलकर सूर्य की रोशनी में रख दिया जावे।" (प्रथम भाग)

इसी प्रकार हिमालय की अपनी प्रथम यात्रा के विषय में राहुल जी लिखते हैं—"हिमालय की इस यात्रा का वर्णन मानस-पटल पर अंकित सिर्फ उन प्रतिबिम्बों के आधार पर कर रहा हूँ जो आज से तीस वर्ष पहिले पड़े थे।" (प्रथम भाग) प्रस्तुत भाग में उन्होंने अपने पिता श्री गोवर्धन पाण्डे का भी बहुत अच्छा चरित्र-चित्रण किया है। घनिष्ठ मित्रों के चरित्रांकन में उन्होंने उदारता से काम लिया है।

भारत की राजनीति के ऐतिहासिक वातावरण का जायजा लेने के लिए भी यह प्रथम भाग पठनीय है। 1918-19 के चम्पारन-आन्दोलन, रौलट एक्ट तथा मार्शल लॉ के वर्णन द्वारा भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना का वे उल्लेख करते हैं।

जीवन-यात्रा के इस प्रथम भाग के अनुसार राहुल जी मुख्यतः भारत में ही रहे। बस, विदेश के नाम पर उन्होंने नेपाल की यात्रा की और वहाँ के कई प्रतिष्ठाशाली लोगों से मिले। इसी भाग में उन्होंने सनमी और उसके बच्चों की मार्मिक कथा सुनाई है। उनकी प्रथम उड़ान के सम्बन्ध में बहुत ही दिलचस्प बयान मिलता है। उस समय पहली बार किशोर आँखों से देखे हुए विशाल कलकत्ता नगर का रोचक वर्णन उन्होंने किया है।

कलकत्ता की दूसरी उड़ान में उन्होंने प्रसाद जी के प्रसिद्ध खानदान 'सुंघनी साहु' की दुकान में काम किया था। काम क्या था, किस तरह उसे करते थे, इसका विशद वर्णन उन्होंने किया है। इसके माध्यम से हमें जयशंकर प्रसाद के खानदान का इतिहास भी प्राप्त हो जाता है। इसी भाग में राहुल जी पर वैराग्य का भूत सवार हो जाता है। आर्यसमाज ने राहुल जी के जीवन की दिशा ही बदल दी थी।

मेरी जीवन-यात्रा-2 : इसमें राहुल जी ने अपने गतिशील जीवन के 1929 से 1944 तक के कालखण्ड का चित्रण किया है। इस द्वितीय भाग को लिखने के सम्बन्ध में राहुल जी कहते हैं—"मैं आशा नहीं करता था कि

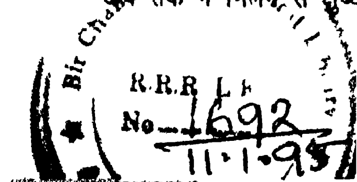
दूसरे भाग के लिखने के लिए समीप भविष्य में अपनी कलम को उठा सकूँगा। रूस की तीसरी यात्रा के लिए मैं तैयार बैठा हूँ, सिर्फ ईरान सरकार की आज्ञा आने की देर है। लड़ाई से पहिले ऐसी आज्ञा या 'वीसा' लेना सिर्फ एक घंटे की बात थी, लेकिन आज दरख्वास्त दिये पाँचवाँ महीना बीत रहा है, पर अभी पता नहीं, वह कब मिलेगा। मैंने इस प्रतीक्षा के समय को अगला भाग लिखने में लगाना पसन्द किया है।" (प्रथम भाग का प्राक्कथन) इसी प्रसंग में वे आगे कहते हैं—"मेरी जीवन-यात्रा—इसे 1940 में लिखना शुरू किया था, लेकिन डायरियों के न होने से आगे दिक्कत पड़ने लगी, और उसे वहीं छोड़ देना पड़ा। इस वक्त फिर समय मिला। 29 अगस्त (1944) क्या, आज (29 सितम्बर) भी ईरानी वीसे का कहीं पता नहीं है, इसलिए (प्रयाग में) सत्यनारायण जी ने फिर कलम पकड़ी और मैंने बोलना शुरू किया। जीवन-यात्रा का आज (28 सितम्बर 1944) तक का भाग भी अब आपके सामने है।" ('मेरी जीवन-यात्रा' भाग-2, 1944 का प्रसंग)

प्रस्तुत द्वितीय भाग में जो 19 वर्ष के कालखण्ड का विवरण दिया गया है, उसमें पर्यटक राहुल जी का जीवन मुखरित है। इसके अन्तर्गत उनकी लंका-यात्रा (1927), नेपाल में अज्ञातवास (1927-28), तिब्बत में सवा वर्ष की प्रथम यात्रा (1929-30), लंका में दूसरी बार (1930), लंका में तीसरी बार (1931-32), यूरोप-यात्रा (1932-33), द्वितीय लद्दाख-यात्रा (1933), द्वितीय तिब्बत-यात्रा (1934), जापान यात्रा (1935), कोरिया-मंचूरिया की यात्रा (1935), सोवियत भूमि की प्रथम झाँकी (1935), ईरान-यात्रा (1935), तिब्बत में तीसरी बार (1936), ईरान की दूसरी यात्रा (1937), सोवियत भूमि की दूसरी यात्रा (1937), अफगानिस्तान की यात्रा (1938), तिब्बत में चौथी बार (1938) और सोवियत भूमि की तीसरी यात्रा के लिए प्रस्थान (1944) तक का यात्रा-वर्णन है।

यात्राओं के अतिरिक्त प्रस्तुत भाग में यायावर लेखक के भारत में सत्याग्रह में भाग लेना, बड़ौदा के ऐतिहासिक सम्मेलन में भाग लेना, पटना और प्रयाग में रहकर काम करना, उनके गुरुतुल्य मित्र जायसवाल जी की मृत्यु की मार्मिक घटना का वर्णन भी हम पढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त राहुल जी के प्रभावशाली राजनीतिक स्वरूप की विकास-यात्रा से भी पाठकों का परिचय हो जाता है। 12 वर्ष अपनी यात्राओं तथा अध्ययन-चिन्तन मनन में व्यतीत करने के बाद वे भारतीय राजनीति को पूर्णतः समर्पित हो जाते हैं। इसके लिए वे परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं। किसान संघर्ष (1939), प्रसिद्ध अमवारी सत्याग्रह (जहाँ उनका सिर फूटा), जेल में नजरबन्द, जेल में ही पहली भूख हड़ताल, हाथ में हथकड़ी पहनना, जेल की सजा पाना, इसी बीच जेल से निकलकर छितौली किसान-सत्याग्रह में भाग लेना, फिर दूसरी बार हजारीबाग जेल में 19 दिन की भूख हड़ताल, जेल से छूटकर बम्बई आकर एक नये जीवन में प्रवेश, कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर बनना, किसान-सम्मेलन के सभापति के रूप में काम करना, फिर 29 महीने के लिए जेल की सजा पाना, पहले हजारीबाग जेल में तत्पश्चात देवली डिटेन्शन कैम्प में नजरबंद, कैदियों की स्थिति सुधारने हेतु जेल में भूख हड़ताल, फिर हजारीबाग जेल में जाना, उसके बाद बन्दीजीवन से मुक्त होना आदि—उनके राजनीतिक जीवन से सम्बद्ध सम्पूर्ण एवं क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत भाग में उपलब्ध होता है।

बन्दी जीवन से मुक्त होकर राहुल जी किसी एक स्थान में चुपचाप बैठे नहीं रहते। वे सारे भारत के राजनीतिक माहौल को देखते, अनुभव करते विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हैं। चौंतीस साल बाद (1944 में) अपने जन्मग्राम पन्दहा, कनैला (आजमगढ़) भी जाते हैं। यहाँ से वे उत्तराखंड की यात्रा पर जाते हैं। फिर कलम हाथ में लेकर कई एक ग्रन्थों की रचना करते हैं। उनका स्वदेश के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करना भी साथ-साथ चलता है। जब रूस के परिवार से सम्पर्क होना है तो वहाँ जाने के लिए उत्सुक हो जाते हैं, परन्तु पासपोर्ट और वीसा का चक्कर तुरन्त निकलने नहीं देता। प्रतीक्षा की घड़ियों में वे देश का भ्रमण-निरीक्षण करते हैं। आन्ध्र प्रदेश किसान सम्मेलन में किसानों के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेते हैं।

आन्ध्र प्रदेश के ऐतिहासिक स्थानों, मंदिरों, गाँवों को देखने जाते हैं, वहाँ के निवासियों-जनजातियों की सामाजिक-आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में गवेषणा करते हैं। उसके बाद राहुल जी दक्षिण के केरल तथा कर्नाटक प्रदेश में जाते हैं। वहाँ के मलाबारी गाँव में जाकर नम्बूतरी ब्राह्मण तथा अन्य जातियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का अध्ययन करते हैं। इन सारे स्थानों-गाँवों का भ्रमण करके जब बम्बई लौटते हैं, तब वीसा अब तक न मिलने से क्षुब्ध हो जाते हैं। फिर प्रयाग लौटकर अपनी महत्वपूर्ण कृतियाँ—जय यौधेय, भागो



नहीं : दुनिया को बदलो, मेरी जीवन-यात्रा-2 आदि को लिखकर समाप्त कर देते हैं। उसके बाद सितम्बर 1944 में सोवियत भूमि की तीसरी यात्रा के लिए प्रस्थान करते हैं।

इस विषय-विवरणी से ही हमें प्रतीत होता है कि 1937 से 1944 के बीच राहुल जी के तूफानी जीवन की यात्रा कितनी वेगपूर्ण, साहसिक तथा उपयोगी रही है। इसी कालखण्ड में हम राहुल जी के जीवन में वैचारिक परिवर्तन होते देखते हैं। आर्यसमाज के बाद वे बौद्धधर्म की ओर झुकते हैं, फिर साम्यवाद के कट्टर समर्थक तथा बाद में कम्युनिस्ट पार्टी के एक कर्मठ सदस्य के रूप में हमारे सामने आते हैं। यहाँ हमें उनके क्रान्तिकारी रूप के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत भाग में वे मार्क्सवाद के विषय में अपनी सोच का परिचय देते हुए लिखते हैं—"असहयोग के समय भी मैं जिस स्वराज्य की कल्पना करता था, वह काले सेठों और बाबुओं का राज नहीं था, वह राज था किसानों और मजदूरों का। मार्क्सवाद के अध्ययन ने मुझे बतला दिया कि क्रान्ति करनेवाले हाथ हैं वही मजदूर-किसान।" (मेरी जीवन-यात्रा-2)

कम्युनिस्ट पार्टी-प्रवेश के सम्बन्ध में राहुल जी बतलाते हैं—"...रूस में मजदूरों-किसानों की क्रान्ति इसीलिए सफल हुई कि यहाँ बोल्शेविक पार्टी—कम्युनिस्ट पार्टी—मजदूरों किसानों के संघर्ष का संचालन कर रही थी। मुझे मालूम हुआ था कि हिन्दुस्तान में भी साम्यवादी हैं, लेकिन अभी तक मुझे उनके सम्पर्क में आने का मौका नहीं मिला था। इस बात का निर्णय 21 साल पहिले ही हो गया था कि कौन सा पथ मेरा होगा।" (वही, भाग-2)

कालान्तर में बिहार में वे किसानों की समस्याओं को लेकर सक्रिय राजनीति में कूद पड़े। फलस्वरूप उन्हें लाठियाँ खानी पड़ी और जेल की यातनाएँ सहनी पड़ी। 1939 में बिहार प्रांतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्यों में राहुल जी भी थे।

धार्मिक मत-परिवर्तन करते हुए जब राहुल जी का बौद्ध धर्म की ओर झुकाव होने लगता है, तब वह आत्म-विश्लेषण करते हुए सोचने लगते हैं कि वे बुद्ध की ओर क्यों आकृष्ट हो रहे हैं। इस प्रसंग में वे कहते हैं—"(लंका में) मैं अकेला घूमना चाहता था और अक्सर अकेला रहता। उस वक्त मेरा अन्तर्द्वन्द्व इतना तीव्र होता कि बाज वक्त मुझे डर लगता, कहीं आगे-पीछे से आनेवाली ट्रेन को देखना न भूल जाऊँ। ... ईश्वर और बुद्ध साथ नहीं रह सकते, यह साफ हो गया और यह भी स्पष्ट मालूम होने लगा कि ईश्वर सिर्फ काल्पनिक चीज है, बुद्ध यथार्थ वक्ता। तब कई हफ्तों तक हृदय में एक दूसरी बेचैनी पैदा हुई। मालूम होता था—चिरकाल से चला आ रहा एक भारी अवलम्ब लुप्त हो रहा है।" (मेरी जीवन-यात्रा-2)

प्रस्तुत जीवनी खण्ड में राहुल जी ने यत्र-तत्र अपनी साहित्य-यात्रा का भी उल्लेख किया है। 1939 से 1944 तक उन्होंने कई महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। इनमें वोल्गा से गंगा, सिंह सेनापति, जय यौधेय, नये भारत के नये नेता, मेरी जीवन-यात्रा (भाग 1 एवं 2), दर्शन-दिग्दर्शन, मानव-समाज, वैज्ञानिक भौतिकवाद, बौद्धदर्शन आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं। 'वोल्गा से गंगा' और 'सिंह सेनापति' पुस्तक के प्रकाशित हो जाने पर भारत के धर्मान्ध-कट्टर प्रतिक्रियावादी लोगों ने खूब बावेला मचाया था। इन सब कटु आलोचकों के सम्बन्ध में राहुल जी ने बहुत कड़े शब्दों में लिखा है। यहाँ पर लेखक की प्रखरता एवं उग्रता दर्शनीय है। इस प्रकार राहुल जी ने सर्वत्र ईमानदारी से अपने जीवन-विषयक तथ्यों को व्यक्त किया है।

1940-43 के समय जब राहुल जी हजारी. ग और देवली डिटेंशन कैम्प में थे, अपने साथ के राजबन्दियों में राजनीतिक चेतना के अभाव के विषय में लिखते हैं—"अधिकांश शिक्षित लोगों का पाठ-पूजा और धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में समय लगाना यह बतलाता था कि हमारे साथी राजनीति को कितनी हल्की दृष्टि से देखते थे। वे शायद समझते थे कि स्वराज्य तो आ ही जायेगा, फिर इस लोक की चिन्ता समाप्त हो जायेगी, इसलिए हम परलोक के लिए भी कुछ सम्बल तैयार क्यों न कर लें।" (मेरी जीवन-यात्रा-2)

राहुल जी की जीवन-यात्रा में भारत के स्वाधीनता-संग्राम, द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका, किसानों की अवस्था आदि का जो ऐतिहासिक एवं यथार्थ चित्रण हुआ है, उससे नई पीढ़ी के जिज्ञासु पाठकों को अपने देश तथा विदेश के बारे में बहुत सारी जानकारी प्राप्त हो सकती है।

मेरी जीवन-यात्रा-3 : जीवन-यात्रा का यह कालखण्ड 'रूस में पच्चीस मास' के नाम से 1952 में बीकानेर

मे प्रकाशित हुआ था। बाद में इसे राहुल जी की जीवन-यात्रा के तृतीय भाग के रूप मे प्रकाशित किया गया। यद्यपि इस भाग का कालखण्ड 25 मास ही है, किन्तु विषय वस्तु एव प्रस्तुति मे व्यापकता तथा विस्तार होने के कारण इसको 'जीवन-यात्रा' का नाम देना ही उचित प्रतीत हुआ। इसमे मुख्य रूप से लेखक के सोवियत देश मे निवास का विवरण है।

राहुल जी 1944 के अक्तूबर महीने मे रूस के लिए भारत से प्रस्थान करते है। पहले वे काबुल होते हुए ईरान मे प्रवेश करते हैं। साथियों ने उनको मदद दी और खुद की कमाई, रायल्टी के पैसे, भी उनके पास थी। किन्तु ईरान मे उनको 7 महीने तक अटकना पड़ा, क्योंकि उन्हे सोवियत वीसा शीघ्र नहीं मिला। स्वभाव के अनुसार राहुल जी इस दीर्घ कालखण्ड को ईरानी इतिहास, सभ्यता, साहित्य तथा सस्कृति के अध्ययन मे लगा देते है। फारसी के भी ज्ञाता होने के कारण ईरानी इतिहास के लिए स्रोत-सामग्री का मूल रूप में सग्रह करने मे उनको कोई कठिनाई नही होती।

तेहरान मे रहकर वे सोचते हैं—"दस-पाँच दिन तेहरान मे रहना होगा, जिसके लिए 25 पोंड पर्याप्त होगे, फिर तो वीसा लेकर सोवियत-भूमि मे चल देना है, जहाँ लेनिनग्राद विश्वविद्यालय मे संस्कृत की प्रोफेसरी प्रतीक्षा कर रही है। किन्तु इस प्रतीक्षा का लाभ हिन्दी के पाठको को मिल रहा है।" लेखक ने ईरान के सम्बन्ध में जिस बारीकी से लिखा है, इतना और कौन लिख सकता था। तेहरान-निवास के दौरान वे एक-दो ईरानी परिवारो के साथ रहे। उनके रीति-रिवाज, खान पान, व्यवहार, स्त्रियो के आचरण आदि का उन्होने सूक्ष्म निरीक्षण किया। यद्यपि परदेश मे इतने लम्बे समय तक बिना पैसे के खाली हाथ रहने मे उनको काफी कठिनाई होती है, पर ईरानी परिवार के सौहार्द्र और मित्रता के कारण उनको यह कठिनाई मामूली लगती है। तेहरान मे लेखक 1944 के जाड़ो मे पहुँचे थे और नवम्बर 1944 से 2 जून 1945 तक वहाँ रहते है। राहुल जी के शब्दो मे—"सोवियत वीसा तभी मिला, जब यूरोप मे युद्ध समाप्त हो गया, और जर्मनी ने हथियार डाल दिये, लेकिन इस सात महीने की प्रतीक्षा को बिल्कुल बेकार भी नहीं कहा जा सकता।" प्रतीक्षा की इन घड़ियों मे उनको तेहरान के भूगोल, राजवंश के इतिहास आदि को जानने का अवसर मिलता है। साथ ही यहाँ के सामाजिक अनुष्ठान—शादी-ब्याह को भी वे नजदीक से जिज्ञासु दृष्टि से देखते है। कई विचित्र किन्तु अच्छे व्यक्तियो के सम्पर्क मे भी आते हैं। विशेषकर ईरानी स्त्रियो को नजदीक से देखते हैं; उनके स्वभाव तथा घरेलू एव सामाजिक रूप को देखते है। इसी बीच लेखक बीमार भी पड़ते है, किन्तु ईरानी परिवार की सेवा से वे स्वस्थ हो जाते है। यहाँ लोगो के सौहार्द्र का वे आत्मीय वर्णन प्रस्तुत करते है। पुस्तक मे उन्होने ईरानी ब्याह और गीतो का भी रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है।

वीसा मिल जाने के बाद राहुल जी सोवियत भूमि मे प्रवेश करते है और लेनिनग्राद पहुँच जाते हैं। परिवार से मिलते है और लेनिनग्राद विश्वविद्यालय मे प्रोफेसरी का काम आरम्भ करते है। उसके बाद का विवरण सोवियत समाज, सभ्यता, व्यवहार, राजनीति आदि मुख्य विषयो पर प्रकाश डालता है। लेखक के इस वर्णन से तत्कालीन सोवियत जनजीवन के विभिन्न पक्ष सामने आते है। यात्रा मे लेनिनग्राद से गुजरते हुए उन्होने वहाँ के असंख्य नागरिकों के त्याग, बलिदान, शूर वीरता और साहस की भरपूर प्रशसा की है। द्वितीय महायुद्ध में हिटलर की सेना ने इस प्रदेश के कुछ अंश को ध्वस्त कर दिया था। सोवियत लालसेना और अन्य स्त्री पुरुषो ने अपनी जान की बाजी लगाकर अपने देश की रक्षा की।

द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से गुजरने के बाद सोवियत समाज कई अभावो को सहते हुए संघर्ष कर रहा था। कुछ लोग अन्य पश्चिमी देशों की तुलना मे रूस को बहुत पिछड़ा कहकर उसका मजाक उड़ाते थे। इस सम्बन्ध मे राहुल जी लिखते हैं—"मुझे तो सोवियत (देश) सादगी का प्रतीक लगा।"

मास्को और लेनिनग्राद मे रहते राहुल जी इन स्थानो का सूक्ष्म अध्ययन करते है। उनका ध्यान इस बात की ओर अधिक जाता है कि क्रान्ति से पहले के अनेक विशाल राजप्रासाद, सुन्दर उद्यान, कला-केन्द्र आदि जो केवल रईसो और राजपरिवार के सदस्यो के उपयोग के लिए थे, वही अब जनसाधारण के लिए खुल गये थे।

लेनिनग्राद मे लेखक पूरे दो साल रहते हैं। इस कालखण्ड में उन्होंने वहाँ के प्राचीन और आधुनिक इतिहास का अध्ययन किया। लेनिन के नेतृत्व मे हुए सोवियत की काया-पलट पर उनका विशेष ध्यान जाता है। इस

परिवर्तन में उस देश की खूबियां और खामियों का जो स्वरूप था, उसका यथार्थ वर्णन राहुल जी करते हैं। मजदूरों का मान उस समय वहाँ बहुत बढ़ गया था। लेखक ने अनुभव किया कि "पुराने रईस परिवारों के लोग अब भी काम से जी चुराते हैं। उनके लिए सोवियत सरकार ने एक प्रलोभन दिया–सस्ते राशन द्वारा आवश्यक वस्तुओं की सप्लाई। जो भी किसी क्षेत्र मे श्रमिक था, उसी को राशन से सस्ती वस्तुएँ दी जाने लगी। परिणामस्वरूप अभिजात वर्ग मे पली स्त्रियाँ भी काम करने को राजी होने लगी।"

इस प्रकार राहुल जी सोचने लगते हैं कि "सोवियत संघ में कोई बेकार नही है, लेकिन कुछ कामचोर भी हैं जो महज निठल्ले बैठकर खाने के लिए भीख माँगने में भी शर्म नहीं करते।" ऐसे एक-दो ही भिखारी उन्हें दिखाई दिये। मास्को में लेनिन की समाधि और उनके पार्थिव शरीर को देखकर तथा उनके दर्शन के लिए आते उन असंख्य नर-नारियों की श्रद्धा भरी आँखों में झाकते हुए वे लिखते है–"लेनिन का व्यक्तित्व शोषित वर्ग के उत्थान और मानवता की प्रगति के लिए कितना महत्व रखता है, इसे कहने की आवश्यकता नही।"

सोवियत देश में जाकर लेखक स्वयं भी नून तेल लकड़ी की अनिवार्यता का अनुभव करते है। खाद्य पदार्थ भारत की तुलना में बहुत महँगे थे। प्रोफेसरी करते हुए सोवियत शिक्षा-प्रणाली का भी वे अध्ययन करते है। अपने परिवार में रहकर सोवियत परिवारों का अध्ययन करने का उन्हे अवसर मिला। लोगों की कमजोर मनोवृत्तियों पर भी लेखक का ध्यान गया है। व्यक्ति के नाम या परिवेश को बदलकर वे कुछ आलोचनाएं करने में भी पीछे नही हटते। राहुल जी के साम्यवादी भारतीय मित्र चाहते थे कि उनकी इस पुस्तक में सोवियत लोगों की तारीफ ही तारीफ हो, पर राहुल जी अपनी यथार्थ दृष्टि से जो कुछ भी देखते थे, उनको यथार्थ रूप में ही चित्रित करना पसन्द करते थे। भले ही अपने निकट के लोग क्यों न हो।

उनके अपने आन्तरिक जीवन में रूस में रहते जो उतार-चढ़ाव आये, मानव-मानव के आपसी व्यवहार में उन्हें जो कड़वे अनुभव हुए, उनका भी यथार्थ चित्रण लेखक ने प्रस्तुत किया है। पारिवारिक पृष्ठभूमि में वे आत्मिक शांति एवं प्रसन्नता की कामना लेकर गये थे, किन्तु वहाँ वह नहीं मिल रही थी। साथ ही वे स्वतंत्र रहकर अपना लेखन-कार्य करना चाहते थे, जिसकी सम्भावना वहाँ नही थी। पराधीन भारत को स्वाधीन बनाने मे उन्होंने भी अपना योगदान किया था, आज वह भारत–अपना देश–स्वाधीन हो गया है। स्वाधीन देश की मिट्टी की सोंधी गंध को सूंघने तथा यथार्थ की ठोस जमीन पर पाँव रखने के लिए उतावले राहुल जी मन मे बहुत सारे सुखद स्वप्न लेकर स्वदेश लौटते है।

मेरी जीवन-यात्रा–4 : इस भाग मे भी राहुल जी के जीवन-वृत्त के साथ उनके समसामयिक जीवन और जगत की भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि तथा घटनाएं अंकित हैं। तब तक वे स्वाधीन भारत की ठोस भूमि में रहकर देश के लिए ही काम करने का निश्चय कर चुके थे। स्वाधीन भारत के नागरिकों में जो उत्साह देखा गया, वह उत्साह राहुल जी में भी दिखाई देता है। इस देश की मिट्टी की सोंधी गंध उन्हें कितनी आकर्षक लगती है, यहाँ के ग्रामीण निवासी उन्हें कितने अच्छे लगते है, इस सबका वे सूक्ष्म वर्णन करते जाते है। विदेश में (लेनिनग्राद मे) दो वर्ष रहकर उनका यथार्थ अनुभव हुआ कि उनकी कर्मभूमि तो भारत ही है। इसलिए वे स्वदेश लौट आये और एक भारतीय के लिए अपने देश की सामाजिक राजनीतिक-आर्थिक स्थिति पर दृष्टि रखना, उसमें घुलमिल जाना स्वाभाविक है। ऐसा करना उसका जन्मसिद्ध अधिकार भी है। बहुत-से लोगों ने चाहा कि राहुल जी सदा के लिए रूस में ही बस जाय, आज भी उनके जीवनीकार यही लिखते है कि उन्हें विदेश में ही रहना चाहिए था। किंतु राहुल जी विशुद्ध भारतीय है, उन्हे भारतीय संस्कृति से प्रेम जीवन-भर रहा, जो कुछ किया–भारतीय संस्कृति के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए किया। विदेश में रहकर जब वह देश के लिए कुछ नही कर पा रहे हैं–ऐसा अनुभव करने लगते हैं–तब उन्हे देश में लौटने की व्याकुलता होती है, तभी तो वे आये। आज के महाविद्वान आचार्य लोग जब राहुल जी की प्रवृत्ति का विश्लेषण करते है, तब शायद वह इस तथ्य को भूल जाते है कि राहुल जी 'फिर रूस कभी न लौटने का निश्चय करके' आये थे। उनके इस निर्णय की साक्षी उनकी रूस की डायरी है, जो शीघ्र ही प्रकाश में आयेगी। कुछ तथाकथित विचारक राहुल जी को रूस से ही जुड़े देखना चाहते रहे हैं, किंतु वे अपने विचारों पर ही चलनेवाले मनुष्य थे, किसी के डिक्टेशन पर नही।

'मेरी जीवन यात्रा' के चौथे और पाँचवे भाग को वस्तुतः एक साथ ही प्रकाशित करवाने की दृष्टि से राहुल

जी ने लिखा था, किंतु पुस्तक के विशाल आकार को देखते हुए इसे दो भागों में विभाजित करना अनिवार्य हो गया। प्रस्तुत भाग-4 में रूस से लौटने के बाद मसूरी के प्रथम निवास तक का विवरण लेखक ने दिया है।

भारत स्वाधीन तो हो गया, किंतु उसके सद्यः परिणामस्वरूप यहाँ जिस तरह से रक्त की नदियाँ बहीं, मार-काट का भीषण जघन्य कांड हुआ, उसका प्रत्यक्ष आँखों देखा वर्णन पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायों में मिलता है। सबसे पहले लेखक देश का चक्कर लगाते हैं, उसको यथार्थ दृष्टि से देखना चाहते है। बम्बई में अपने मित्र धर्मानंद महास्थविर के निधन पर वे अपना दुःख प्रकट करते हैं। वे विदेश से लौटते हैं, तो लोग उनको सुनना चाहते हैं। इसलिए रोज ही व्याख्यान देना होता है। बम्बई की एक सभा में उनके प्रिय विषय 'बुद्ध और मार्क्स' पर उन्हें बोलना पड़ता है। इसी संदर्भ में अपने विचारों में परिवर्तन पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं, "आर्यसमाज के स्वतत्र विचारों के बाद मैं बुद्ध के पास पहुँचा, और उनके अनीश्वरवाद, विचार-स्वातंत्र्यवाद, आर्थिक समतावाद से बहुत प्रभावित हुआ। उसके बाद मार्क्स के विचारों को अपनाना मुझे बिल्कुल स्वाभाविक-सा मालूम हुआ।" वे आगे कहते हैं–"बुद्ध और मार्क्स ईश्वर को नहीं मानते थे, इसलिए वह भगवान् के संदेशवाहक नहीं हो सकते थे। पर उन्होंने दुनिया को महान् संदेश दिया, इससे कौन इन्कार कर सकता है।" इस प्रकार स्वच्छन्द विचारों को धारण करना लेखक की अपनी विशेषता है।

दिसम्बर 1947 में ही बम्बई में हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन सम्पन्न हुआ, जिसमें राहुल जी सम्मेलन के सभापति चुने जाते हैं। हिंदी के पक्ष को लेकर उनकी पार्टी के लोग असतुष्ट हो जाते है। परतु वे अपने विचार को बदलना नहीं चाहते। पार्टी से वे अलग हो जाते हैं। कुछ महाविद्वान राहुल जी के जीवन के इस प्रसंग के सम्बन्ध में कहते हैं, कि उन्होंने मुस्लिमों का भारतीयकरण करना चाहा था, इसलिए पार्टी के मुस्लिम सदस्य नाराज हो गये, अतः उनको पार्टी से निकाल दिया गया। किंतु हाथ कंगन को आरसी क्या, 'राहुल संग्रहालय' में पार्टी के तत्कालीन सेक्रेटरी का तद्विषयक जो पत्र है, उससे साफ मालूम होता है कि हिंदी भाषा को लेकर ही उनसे मतभेद हुआ था।

सन् 1948 के आरम्भ में राहुल जी साहित्यिक यात्रा पर निकलते हैं। इसके साथ ही हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति की हैसियत से 'शब्दकोश-निर्माण' के कार्य को भी अपने हाथ में लेते हैं। परिभाषा-निर्माण के काम में वह अपने सहयोगियों के साथ व्यस्त हो जाते हैं। प्रयाग की गर्मी उनको सहन नहीं होती, इसलिए अपने प्रिय हिमालय-अचल कन्नोर में चार मास व्यतीत करते हैं। इसी यात्रा की देन 'किन्नर देश में' पुस्तक है। लेखन-कार्य के साथ-साथ उनकी यात्राएँ भी जारी रहती हैं। 'गाँधी जी को वीरगति' प्राप्त होने की घटना से उनको बहुत दुःख होता है। गाँधी जी के अवसान के बाद भारत की राजनीतिक पृष्ठभूमि में जो प्रतिक्रियाएँ हुई, उनका भी वे सूक्ष्म अवलोकन करते हैं। भारतीय संविधान की अनुवाद-समिति के सदस्य के नाते राहुल जी को बार-बार दिल्ली जाना पड़ता है। किंतु उनका स्वतंत्र लेखन भी साथ-साथ चलता है। 'बौद्ध-संस्कृति' पुस्तक-लेखन के बीच वे शांतिनिकेतन जाते हैं और बंगाल की संस्कृति का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं, विद्वानों से मिलते हैं।

मधुमेह ने अब उनको विवश कर दिया कि वे एक स्थान पर रहें और स्वास्थ्य की ओर ध्यान दें। इसीलिए अब उन्होंने नीड़ की खोज की। घुमक्कड़ी-धर्म का 'स्वास्थ्य के कारण' अब पालन नहीं कर सकते थे। यद्यपि कुछ तथाकथित महाचार्य यही चाहते रहे हैं कि राहुल जी को नीड़ की आवश्यकता नहीं थी। उनको जीवन-भर घुमक्कड़ बना रहना चाहिए था; भले ही उनका स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता जाये। उनको हिंदी-संसार की सेवा के लिए निरंतर काम करना चाहिए, यानी राहुल जी अपने ढंग से जीवन जीने के अधिकारी नहीं हैं।

प्रस्तुत भाग में लेखक ने स्वयं ही अपने जीवन में आये उतार-चढ़ावों का ईमानदारी के साथ यथार्थ चित्रण किया है। अपनी आत्मकथा में वे स्वयं को दूर रखकर एक दर्शक बन जाते हैं और अपने सम्पर्क में आये व्यक्तियों, हितैषियों, मित्रों आदि का चरित्र-चित्रण भी करते जाते हैं। विद्वानों के गुण-ग्राहक वे जीवन-भर रहे। लोगों के प्रति सम्मान की भावना उनमें है, दिखावा और अहंकार उनकी प्रवृत्ति में नहीं है। किसी पर कड़वी टिप्पणी करनी हो तो वे वहाँ पात्र का नाम-परिवर्तन कर देते हैं।

मेरी जीवन-यात्रा-5 : राहुल जी की आत्मकथा के पाँचवें भाग में 1951 से लेकर 1956 के 9 अप्रैल तक का विवरण आया है। 9 अप्रैल 1956 के दिन लेखक ने अपने जीवन के 63 वर्ष पूरे किये थे। ये कुछ वर्ष

लेखक के साहित्यिक कर्मठ जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्ष रहे। इस कालखण्ड में अपनी यात्राओं को जारी रखते हुए भी उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। मसूरी-निवास के दिनों में वे निश्चित होकर साहित्यिक कृतियों की रचना करते रहे। इन कृतियों में प्रमुख हैं–यात्रा के पन्ने, एसिया के दुर्गम भूखंडों में, विस्मृत यात्री, घुमक्कड़ स्वामी, ऋग्वेदिक आर्य, दिवोदास, बहुरंगी मधुपुरी आदि। यात्राओं तथा देश-परिचयमाला से सम्बन्धित पुस्तकें भी उन्होंने लिखीं, जिनमें हिमालय परिचय, गढ़वाल, जौनसार बावर, नेपाल, हिमाचल प्रदेश आदि प्रमुख हैं। संस्कृत-काव्यधारा पुस्तक भी इसी कालखण्ड की देन है। विश्व के महान् राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ भी उन्होंने इसी समय लिखीं। कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्तालिन और माओ-चे-तुंग इसी काल विशेष की देन हैं। पुरातात्विक यात्राएँ भी उन्होंने कीं, जिनके फलस्वरूप कनैला की कथा, आजमगढ़ की पुरातात्विक यात्रा जैसी पुस्तकों की रचना की। यह तो थोड़े ही नाम हैं, और भी कई रचनाएँ, प्रबंध, निबंध इत्यादि उन्होंने लिखे। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति 'मध्य एसिया का इतिहास' की रचना भी इसी कालखण्ड में हुई। दोहाकोश, दक्खिनी हिंदी-काव्यधारा, जिनका मैं कृतज्ञ, बचपन की स्मृतियाँ, मेरे असहयोग के साथी आदि पुस्तकें भी 1951 से 1956 के बीच लिखी गयीं। इनके अलावा राहुल जी ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के लिए 'हिंदी का लोक-साहित्य' का सम्पादन भी किया।

अपनी पुस्तकों के सिलसिले में राहुल जी 'फील्ड वर्क' के लिए भी यात्राएँ करते थे। उनके समय में विज्ञान की आधुनिक सुविधाएँ नही थी। यदि रही भी हो तो उन्होंने इनकी परवाह नही की। मार्क्सवाद के सिद्धातों के सम्बन्ध में उन्होंने बगल में टेलिफोन रखे एअरकंडीशंड रूम में बैठकर नही लिखा। जीवनियाँ उन्होंने कई लिखीं, पर अन्य लेखकों की पुस्तकों का इस्तेमाल करके–खुद की ओर से कुछ विचार व्यक्त न करते हुए–लेखन नहीं किया। वे भारी परिश्रम करते थे और रात-दिन, भूख-प्यास की चिंता किये बिना लेखन में संलग्न रहते थे। इतना सब-कुछ करते हुए भी उन्होंने 'मैं बहुत बड़ा विद्वान हूँ' ऐसा कोई दिखावा नही किया, न किसी को अपने ऊपर विशेषज्ञ बनने का अधिकार सौंप गये।

राहुल जी का मसूरी निवास-काल में सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में भी स्वागत हुआ। वहाँ के गढ़वाली मजदूर संघ के वे कई सालों तक मंत्री रहे, गढ़वाली मजदूरों की दशा को सुधारने की ओर भी प्रयत्न किये। मसूरी में विभिन्न स्थानों से लोग आकर उनसे मिलते थे, जिनमें विद्वान, राजनीतिज्ञ, कलाकार, चित्रकार, लोक, गायक, छात्र-नेता, घुमक्कड युवक आदि हुआ करते थे। इन सबके साथ राहुल जी मित्रवत् व्यवहार करते थे। इस कालखण्ड में वे प्रायः भारत के भीतर ही घूमते रहे, विदेश के नाम पर केवल नेपाल की यात्रा पर अवश्य गये, वह भी अपनी पुस्तक के लिए सामग्री एकत्र करने। स्वास्थ्य के कारण ही वे पहले की तरह घुमक्कडी नहीं कर सकते थे। फिर ग्रंथ-प्रणयन के लिए उनको एक स्थान पर रहना भी अनिवार्य महसूस होता था।

लेखकों को अपनी पुस्तकों को प्रकाशित कराने की सुविधा आज मिल जाती है; परंतु राहुल जैसे प्रतिष्ठित लेखक को भी अपनी कृतियों को प्रकाशित कराने के लिए प्रकाशकों के दरवाजे खटखटाने पड़ते थे। सरहपाद की 'दोहाकोश' नामक पुस्तक तैयार करने के बाद रचनाकार को इसे प्रकाशित करवाने के लिए भटकना पड़ा था। राहुल जी ने किसी की फरमाइश पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा, न ही अपनी पुस्तकें छपवाने के लिए किसी प्रकाशक की चापलूसी की। देर-सवेर उनके ग्रंथ छप ही जाते थे।

उनके जमाने में किसी समारोह में अपनी पुस्तक के विमोचन कराने की कोई परम्परा नही थी, न ही अपनी पुस्तक को पुरस्कृत करवाने की ललक थी। राहुल जी को उनकी कृतियों के लिए केवल दो पुरस्कार मिले। प्रथम बार पुस्तक के पुरस्कृत होने के सप्ताह-भर बाद एक राज्य सरकार ने उसे 'बैन' कर दिया। दूसरी पुस्तक पर पुरस्कार के सम्बन्ध में कहा गया कि राहुल जी कम्युनिस्ट हैं, उनको यह पुरस्कार नही मिलना चाहिए। इस तरह की लेन-देनवाली माथा-पच्ची से राहुल जी बहुत घबराते थे। राहुल जी मानते थे कि पुस्तक का पुरस्कृत होना रचनाकार की विद्वता की कसौटी नहीं है। पाठक ही रचना के वास्तविक पारखी होते है।

प्रस्तुत भाग को पढ़ने से पाठकगण राहुल जी के निजी जीवन, पारिवारिक जीवन, साहित्यिक जीवन तथा उनके यात्री-रूप से परिचित हो जाते हैं। इसके द्वारा लेखक का हिमालय के प्रति अनन्य प्रेम भी प्रदर्शित होता है। जहाँ-जहाँ भी हिमालय तथा हिमालय के प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक सौंदर्य का वे वर्णन करते हैं, वहाँ उनका

कविहृदय तथा प्रकृतिप्रेमी रूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। किसी भी स्थान को देखकर उनकी दृष्टि इतिहास की गहराई तक जाती है। ऐसे समय राहुल जी की इतिहास-दृष्टि के महत्त्व को पाठक समझ सकते हैं।

प्रस्तुत भाग मे पाठकों को राहुल जी का भाषाशास्त्री का रूप भी परिलक्षित होगा। वे कही पर कौरवी का विवेचन करते हैं, तो कही नेपाली-मारवाड़ी भाषा की समानता पर प्रकाश डालते है। कहीं कुमाऊँनी और गढ़वाली भाषा के विकास पर अपना दृष्टिकोण बतलाते हैं, तो कही हिंदी की लोक भाषाओं का विश्लेषण करते है।

राहुल जी एक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से मानव-मन का विश्लेषण भी करते है। इस प्रसग मे वे लिखते हैं–"पहाड़ी लोग पंजाबियों से क्यों न नाराज हो, जब वे देखते है कि सारे अर्थागम के साधनों को वह अपने हथियाये हुए हैं। सड़कों की बड़ी-बड़ी ठेकेदारियाँ पजाबी करते है, बड़े-बड़े अफसर पजाबी है, दुकान और व्यवसाय भी उन्ही के हाथ में है, मोटरे भी वही चलाते हैं। फिर तो पहाड़ी केवल कुलीगिरी के लिए बनाये गये हैं।" (मेरी जीवन-यात्रा-5)

कभी-कभी किन्ही विद्वान मित्रो के व्यवहार से भी उनको खट्टा मीठा अनुभव करना पड़ा। ऐसे ही एक मित्र ने लिखकर प्रचारित किया कि "सरकार राहुल जी और डॉ. रघुवीर को लाखों रुपये देकर परिभाषाएँ बनवा रही है।" राहुल जी लिखते हैं–"इस सफेद झूठ का भी कोई अत है ? ऐसा आदमी कैसे क्रांति का भक्त भी हो सकता है ? मुझे एक प्रतिभाशाली आदमी के इस पतन पर बहुत अफसोस हुआ। परिभाषा के काम को अगर सरकार मन से करवाती तो मैं उसमें सहयोग देने के लिए तैयार था। संविधान की परिभाषाओं के निर्माण में मैंने वैसा किया भी। पर जब देखा कि शिक्षा मन्त्रालय इसमें रोड़ा अटकाना चाहता है, तो मै उससे अलग हो गया। डॉ. रघुवीर और हमारी परिभाषा-निर्माण सम्बन्धी नीति में जमीन आसमान का अन्तर है।"

कही-कही राहुल जी तत्कालीन राजनेताओं के प्रति कटु हो जाते दिखायी पड़ते है। 'आराम हराम है' के संदर्भ में वे अपना विचार व्यक्त करते हुए कहते है–"निहित स्वार्थवालों और उनके पक्षपातियों के नारे खोखले होते है। उनका काम जनता के ध्यान को बँटाना है। दो पैसे भर अक्लवाला आदमी भी जान सकता है कि भारत में शिक्षित हो या अशिक्षित, गाँव के हो या शहर के, सभी 'काम चाहिए काम चाहिए' चिल्ला रहे है। भोर से उठते और आधी रात तक उनकी यही रटन रहती है।" "सरकार के कर्णधारों के ढोंग और वचना क्या एक दो हैं कि उसे गिनाया जाये ?" वन-महोत्सव की आधुनिक परम्परा पर भी उन्होंने कटाक्ष किया है।

अपने पालतू अलसेशियन 'भूतनाथ' का चित्रण करना भी वे नहीं भूलते।

अपनी षष्टिपूर्ति का उल्लेख वे बड़ी विनम्रता के साथ करते हैं। प्रस्तुत भाग मे लेखक अपने विभिन्न ग्रथो के उद्देश्य एव आवश्यकता के सम्बन्ध मे सूचनाएँ भी देते हैं। पहाड़ी जनजातियों की संस्कृति पर भी उनकी दृष्टि जाती है। हम यह कह सकते हैं कि उनके जीवन का यह कालखण्ड निरर्थक नही गया। उन्होंने हिंदी के सामान्य पाठकों की जिज्ञासा को ध्यान मे रखकर ही अपनी जीवन-यात्रा लिखी है, विद्वानों को सतुष्ट करने के लिए नही।

जीवन-यात्रा–6 : यह भाग राहुल जी के जीवन के अंतिम सात वर्षो–10 अप्रैल 1956 से मृत्यु तक–का विवरण उनकी डायरी और पत्रों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास है। यह उनके जीवन और बहुआयामी व्यक्तित्व के चद सालों के काल-प्रवाह का चित्रण है, जिसमे तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों की झलकियाँ भी आ गयी है।

पडित जी के बनते-सँवरते जीवन और उनके क्षत होते शरीर तथा मन को बहुत निकट से–अभिन्न रहते हुए–देखने का जो अवसर मुझे मिला, जो मैंने देखा-समझा, उसे तटस्थ रहते हुए मैं सबके सामने रख रही हूँ।

इस कालखण्ड का विवरण लिखकर–उनकी अपूर्ण जीवन-यात्रा को पूरा कर मैंने अपने उस दायित्व को ही निभाया है, जो पंडित जी मुझे सौंप गये थे। इसे प्रस्तुत करने मे पंडित जी की स्मृति मेरा सम्बल और उनके वाक्य मेरे प्रेरणा-स्रोत रहे है। जाने-अनजाने कुछ अन्य लोगों ने भी मुझे समय-समय पर इसके लिए प्रेरित किया, उन सबके प्रति मैं आभारी हूँ।

राहुल-निवास
21, कचहरी रोड, दार्जिलिंग

–कमला सांकृत्यायन

मेरी जीवन यात्रा
1

'बेडे की तरह पार उतरने के लिए मैंने विचारों को स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाये-उठाये फिरने के लिए।'

समर्पण

उन दौड़नेवालों की स्मृति में
जो मुझे आगे बढ़ने का अवसर दे, आप पीछे रह गये

प्राक्कथन

'मेरी जीवन-यात्रा' मैंने क्यों लिखी ? मैं बराबर इसे महसूस करता रहा, कि ऐसे ही रास्ते से गुजरे हुए, दूसरे मुसाफिर यदि अपनी जीवन यात्रा को लिख गए होते, तो मेरा बहुत लाभ हुआ होता—ज्ञान के ख्याल से ही नहीं, समय के परिमाण में भी। मैं मानता हूँ, कि कोई भी दो जीवन-यात्राएँ, बिल्कुल एक-सी नहीं हो सकती, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि सभी जीवनों को उसी आंतरिक और बाह्य विश्व की तरंगों में तैरना पड़ता है।

मैंने अपनी जीवनी न लिखकर जीवन-यात्रा लिखी है, यह क्यों ? पाठक इसका उत्तर पुस्तक को पढ़कर ही पा सकते हैं। अपनी जीवनी द्वारा मैंने उस जगत् की भिन्न-भिन्न गतियों और विचित्रताओं को अंकित करने की कोशिश की है, जिसका अनुमान हमारी तीसरी पीढ़ी बहुत मुश्किल से करेगी। जिस तरह मैंने दूसरे विषयों पर लिखने से पहिले कलम उठाने की कला को बाकायदा नहीं सीखा उसी तरह जीवनी लिखने की कला में भी मैं अशिक्षित हूँ। बाकायदा शिक्षा का महत्त्व कम नहीं है, लेकिन मेरा दुर्भाग्य, जो मुझे उसका अवसर नहीं मिला।

पहिले भी मेरे कई दोस्तों ने जीवनी लिखने के लिए कहा था, लेकिन मैं समझता था कि अभी इसका समय नहीं है। 14 मार्च 1940 को सरकार ने पकड़कर मुझे हजारीबाग जेल में नजरबंद कर लिया। 29 महीने बाद मैं जेल से निकलूँगा, यह जानने के लिए मेरे पास कोई दिव्य दृष्टि तो नहीं थी, लेकिन इतना जरूर जानता था, कि मैं कई वर्षों के लिए इन चहारदीवारियों के भीतर आ गया हूँ। उस वक्त मेरे पास बहुत समय था। हजारीबाग में हम दो ही जने नजरबंद थे। पुस्तकें भी हमारे पास नहीं थीं और दिमाग में किसी दूसरी पुस्तक का लिखने का मेरे ख्याल भी नहीं था। मैंने दिन काटने के लिए सोचा, चलो पुरानी स्मृतियाँ ही अंकित कर डालो। 16 अप्रैल 1940 से मैंने लिखना आरम्भ किया और 14 जून तक लिखता गया। इन दो महीनों में मैंने 1893 से 1934 तक की यात्रा को अपनी स्मृति से कागज पर उतारा। मुमकिन है, मैं आगे बढ़ते-बढ़ते 1940 तक चला आता, लेकिन 1926 से आगे बढ़ते ही मेरी कलम रुकने लगी—जब साल-साल की डायरी मौजूद है, तो सिर्फ स्मृति के सहारे लिखने को मैंने ठीक नहीं समझा—मुमकिन है डायरियों के मिलाने पर बहुत बदलना पड़ता। 23 जुलाई 1942 को जेल से छूटकर जब मैं बाहर आया, तो कुछ दोस्तों ने जीवन-यात्रा को छपवा देने के लिए जोर दिया। लेकिन मैं समझता था, जेल में लिखी दूसरी छः पुस्तकों का पहिले छपना ज्यादा जरूरी है। और अब 'विश्व की रूपरेखा', 'मानवसमाज', 'दर्शन-दिग्दर्शन', 'वैज्ञानिक भौतिकवाद', 'सिंह सेनापति' और 'वोल्गा से गंगा' छप जाने के बाद ही 'मेरी जीवन-यात्रा' पाठकों के हाथ में जा रही है।

मैं आशा नही करता था, कि दूसरे भाग के लिखने के लिए समीप-भविष्य में अपनी कलम को उठा सकूँगा। रूस की तीसरी यात्रा के लिए मैं तैयार बैठा हूँ, सिर्फ ईरान सरकार से आज्ञा आने की देर है। लडाई से पहिले ऐसी आज्ञा या 'वीसा' लेना सिर्फ एक घटे की बात थी, लेकिन आज दरख्वास्त दिये पाँचवाँ महीना बीत रहा है, पर अभी तक भी पता नही वह कब आयेगा। मैंने इस प्रतीक्षा के समय को अगला भाग लिखने मे लगाना पसद किया है।

प्रयाग
2-9-1944

राहुल सांकृत्यायन

बाल्य : 1893-1909 ई.

1

माता-पिता

मेरी माँ कुलवन्ती अपने माँ बाप की एकमात्र सन्तान थी और वह भी नाना के 10, 12 वर्ष की पल्टन की नोकरी से नाम कटाकर चले आने के बाद की। ब्याह हो जाने पर भी माँ अक्सर अपने मायके पन्दहा ही रहती थी, और वहीं मेरा जन्म (रविवार 9 अप्रैल 1893 ई.)[1] हुआ।

नाना रामशरण पाठक[2] के पास तीन साढ़े तीन एकड़ बलुआ खेत था, जो आठ या दस जगहों मे बिखरा हुआ था। वे दो बैलों के अतिरिक्त एक भैंस जरूर रखा करते थे। नाना जब पन्दहा से भागकर हैदराबाद पल्टन मे गये थे, उस वक्त उनका काम भैंसो की चरवाही करना, दूध पीना और कसरत करना था। नाना की सबसे पहिली मूर्ति जो मुझे याद आती है वह उनकी 55 के करीब की थी। उनके सभी बाल सफेद, कद लम्बा छै फुट, सीना चौड़ा, बाजू मोटे, नाक लम्बी और नुकीली, रंग गेहुँआ था। वे काम बहुत कम किया करते थे। सबेरे घास काट लाते, चारा काट देते और फिर किसी कल्हाड़, खलियान, या बगीचे मे अँगोछे से घुटने और कमर को बाँधे अपने शिकार और सफर की गप्पे उड़ाया करते थे। खाना पकाने आदि के अतिरिक्त ढोरों के सानी-पानी का काम भी नानी को ही करना पड़ता था।

नानी मझोले डील की साधारण स्वस्थ स्त्री थी। उनके बाल बहुत से सफेद थे, किन्तु दाँत आखिर तक नही टूटे। होश सँभालते ही माँ को 'माँ' कहते सुन मै भी उन्हे बराबर माँ कहता। नानी की नाना पर धाक थी, यह तो नही कहा जा सकता, किन्तु दोनो मे कभी झगड़ा होते मैने नही देखा। उनकी बात को नाना बहुत मानते थे, और घर के कारबार मे नानी का एकछत्र राज्य था। वह गप शप मे बहुत कम रहा करती। घर के छोटे-बड़े काम के सिवा, गाने बजाने या मेला तमाशा देखने मे उनकी रुचि न थी। दो घंटे रात ही वह जग उठती, और अपने दो तीन पेटेंट भजनो को बिना सुर तान के भक्तिभावना से गाती। इन भजनो मे एक था 'गुरु मोके दे गइले ग्यान-गुदरिया।' मैं बराबर नानी के पास सोया करता था। दूध छोड़ने के बाद ही मै माँ से मै अलग कर लिया गया था, और वस्तुत: नानी से मेरा जितना स्नेह था, उतना माँ से नही। माँ के उपकारो को, आखिर, मैने देखा ही क्या था? पौ फटते ही नानी घर मे काम काज मे जो लगती, तो रात के दस-ग्यारह बजे उन्हे सोने की फुरसत होती। गप-शप न करने का मतलब यह नही था, कि नानी रूखी थी। उनका दिल अत्यन्त कोमल था। पशु और

1 बैसाख कृष्ण अष्टमी रविवार संवत् 1950 विक्रमी

2 नाना के बारे मे पढ़े परिशिष्ट 4

पक्षी तक उनके वात्सल्य से वंचित न थे। नाना को पैतृक तीन घर का आँगन मिला था, जिसे उन्होंने बढ़ाकर पौने तीन आँगन के नौ घरों में परिणत कर दिया था। सबसे बाहर का आँगन या 'द्वार' बहुत बड़ा था। यहाँ बीच में नाना का लाया एक पत्थर का कोल्हू गड़ा था। उत्तर तरफ उनके बड़े भाई का घर था। पूर्व में नाना के खुदवाए पक्के कुएँ के अतिरिक्त एक घर भी था। दक्षिण तरफ के दो घरों में से एक बैठक का काम देता था, और ईंट की दीवारों का बना था। नानी का सगे सम्बन्धियों की मेहमानदारी ही में उत्साह न था, बल्कि अक्सर राह चलते पथिक और भिखमंगे भी उनके आतिथ्य के अधिकारी होते थे।

जीवन के आरम्भिक पाँच वर्षों में नानी ने मेरा पोषण ही नहीं, निर्माण भी किया।

पिता गोबर्धन पांडे[1] को दस-बारह वर्ष की आयु में जाकर मुझे जानने का मौका मिला। साल में सप्ताह डेढ़ सप्ताह के लिए पन्दहा से कनैला जाने पर, मैं उन्हें दूर से देख भर लेता था। उनका रंग काले तक पहुँच गया गहरा साँवला था, कद छः फुट से कम नहीं था। शरीर दुबला-पतला किन्तु स्वस्थ। वे बहुत कम बीमार पड़ते थे। दुबला-पतला होने का कारण भी अधिकतर खाने की अव्यवस्था और पूजा पाठ का कड़ा नियम था। बिना स्नान-पूजा के वे जल तक नहीं पीते थे। फिर पीछे कचहरी के मुकदमों के समय तो कितनी ही बार चार पाँच बजे शाम को उन्हें नाश्ता करने की नौबत आती। नाक वह जरूर दबाया करते थे, किन्तु सन्ध्या उन्हें आती थी, इसमें सन्देह है। सन्ध्या को हमारे गाँवों में संस्कृत के पंडितों की चीज समझा जाता था, और हमारे पिता संस्कृत के पंडित न थे। उनके पाठ में हनुमानबाहुक और रामायण शामिल थे। नहाने के बाद बेलपत्र के साथ जल शंकर की पिंडी-कनैला में इसकी जगह किसी पहाड़ी नदी से निकाल लाये चार छै चिकने पत्थर एक पुराने पीपल की जड़ में रखे हुए थे-पर चढ़ाते। फिर गुड़-घी और देवदार की लकड़ी की बनी धूप की अगियारी देकर वे अपना पाठ शुरू करते। पूजा के कड़े नियमों के कारण गाँववाले उन्हें 'पुजारी' कहते थे। आगे चलकर उन्होंने हजामत गंगातट पर बनवाने का भी नियम कर लिया था, जिसके कारण कभी-कभी तीन-तीन चार चार मास तक उनके बाल बढ़े रहते। वे बड़े प्रतिभाशाली थे। उन्हें सिर्फ एक महीने किसी भूले भटके मुंशी से क-ख सीखने का मौका मिला था, किन्तु न जाने कैसे उन्होंने रामायण ही नहीं, भिन्न, गुणा भाग सूद और पैमाइश के हिसाब को भी सीख डाला था। पक्के आस्तिक होते हुए भी 'बाबा वाक्य प्रमाण' की अवहेलना करने में भी वे समर्थ थे। ब्राह्मणों के नियम के विरुद्ध वे अपने हरवाहे निस्सन्तान चिनगी चमार की मरने पर गंगातीर जलाने के लिए ले गये। पुरानी प्रथा के विरुद्ध नये कुएँ को बनवाने के लिए विचित्र लम्बाई-चौड़ाई की ईंटें उन्होंने खास तौर से तैयार करवाई, और प्रचलित प्रथा के विरुद्ध कुएँ को नीचे चौड़ा, ऊपर संकीर्ण करते हुए बनवाया। साधु सन्तों में श्रद्धा रखते हुए भी गंजेड़िया-भंगेड़िया से वे वीतश्रद्ध थे।

माँ शरीर के आकार-प्राकार में अपने पिता से सादृश्य रखती थीं। वैसा ही लम्बा कद, वैसा ही हृष्ट पुष्ट शरीर, रंग गोरा, दो बार के प्रसूत ज्वर की बीमारियों—जिनमें आखिरी के कारण ही उनकी मृत्यु हुई—को छोड़कर उनका शरीर स्वस्थ रहता था। उनके स्वभाव के बारे में जानकारी प्राप्त करने का मुझे साक्षात अवसर नहीं था। अपनी माँ की तरह वह झगड़-झंझट से दूर रहती थीं, यह तो इसी से सिद्ध है कि सारे गाँव में सबसे अधिक रूखी और कड़े मिजाज की सास रखने पर भी उनके साथ झगड़ा होते नहीं देखा गया। गीत और भजन उन्हें याद थे या नहीं यह तो नहीं कह सकता, किन्तु इतना अवश्य मालूम है, कि जिस साल वह गोधन और उसके बाद के दिनों में पन्दहा रहती, तो गोबर की 'पिंडियाँ' हमारे ही घर में लगतीं, और माँ की सखी-सहेलियाँ वहीं 'पिंडिया-अगोरने' आतीं। दीवाली के दूसरे दिन गोधन मनाया जाता। मुझे उस दिन अफसोस रहता;—माँ के रहते का तो स्मरण नहीं, सिर्फ नानी के रहने पर हमारा घर गोधन में शामिल नहीं होता था, जिसके कारण गोधन में चढ़नेवाली चीनी की कुल्हिया, और मिठाइयों से मैं वंचित रह जाता था। हाँ, एकाध बार माँ के रहते समय 'पिंडियाँ-अगोरने' की मधुर स्मृति मुझे अब भी है। 'अगोरने' वाली सभी तरुण स्त्रियाँ होतीं। उनके साथ उनके छोटे बच्चे भी रहते। कोदों का पुआल जमीन पर बिछा रहता, जिस पर कोई लम्बा-चौड़ा बिछौना होता। सिरहाने

1. देखें, परिशिष्ट 5।

सिंदूर से टीकी छोटी-छोटी गोबर की पिंडियाँ दीवार पर चिपकी रहतीं। एक छोटा-सा तेल का दिया जलता। आधी-आधी रात तक माँ और उनकी सखियाँ गीत गातीं। हम लड़कों को उनके गीतों से कोई खास प्रेम न था, हाँ गुड़ के मीठे 'ठकुये' (मीठी पूड़ियाँ) हमें बहुत प्रिय थे, जिन्हें खाते-खाते हम सो जाते। उन गीतों में से किन्हीं का आरम्भ माँ की ओर से होता था, इसका भी मुझे पता नहीं। हाँ, सबेरे के वक्त एक या अनेक पद्यमय कहानियों–जिन्हें पिंडियाँ-अगोरनेवाली स्त्रियों को धर्म के भय से सुनना पड़ता है–के सुनाने का काम मैंने माँ को करते देखा। मेरी चचेरी मौसी जब पानी-बर्तन के कामों में बहुत व्यस्त रहती, तो वह अपनी मुँदरी रख जातीं। माँ औरों के साथ उसे भी कहानी सुनातीं–उपस्थित सखियाँ कान से उसे सुनतीं, और मौसी की अनुपस्थिति में उनकी मुँदरी सारी कहानी सुन लेती; जिसे मौसी अँगुली में पहनकर सुनने की भागिनी बन जातीं। इन कहानियों में 'चेरिया' 'चेरिया' (क्रीतदासी) का शब्द बहुत आता था, जो बतलाता था कि वह दासत्वप्रथा के युग की कोई पुरानी कहानियाँ रही होंगी।

मेरे नाना-नानी दीर्घजीवी, स्वस्थ और पैतृक रोगशून्य व्यक्ति थे। मेरे पिता-माता स्वस्थ और पैतृक रोगशून्य होते भी दीर्घजीवी व्यक्ति न थे। माँ की मृत्यु 28-29 की आयु में और पिता की 45-46 में हुई। मेरी दादी ('आजी') दीर्घजीविनी रहीं, किन्तु दादा 40 साल से पहिले मर गये। मेरे पिता का वंश कई पीढ़ियों से मजबूत, लम्बे कद्दावर जवानों को पैदा करने के लिए मशहूर रहा। नाना के वंश के बारे में कोई वैसी बात तो नहीं सुनी, किन्तु जहाँ तक नाना, उनके पिता और भाइयों का सम्बन्ध है वे भी मजबूत और लम्बे-चौड़े लोग थे।

2
प्रथम स्मृति (1896-97 ई.)

सबसे पुरानी स्मृति मुझे सन् 4 (1304 फसली या 1897 ई.) के अकाल से पहिले ले जाती है। पन्दहा में इस अकाल का क्या असर पड़ा, यह मुझे याद नहीं। कनैला (पिता के गाँव) के लोगों पर क्या-क्या बीती, इसका भी साक्षात् स्मरण तो नहीं है, हाँ, अकाल के पहिले जीता भर के टोले में 50, 60 व्यक्तियों के 6, 7 घर थे। उन सजीव घरों को मैंने देखा था, उनके छोटे छोटे लड़कों को घर के सूअर के बच्चों के पीछे दौड़ने की भी याद ताजी है। सन् 4 के भीषण अकाल में ये सभी लोग घर छोड़कर आसाम और दूसरी जगहों में भाग गये। वर्षों तक इन झोपड़ों की दीवारें खड़ी थीं। उनके नीम, महुआ और ताड़ के वृक्षों पर उनके जमींदारों ने कब्जा कर लिया।–जीता के पुत्र टिभोलू वर्षों बाद गाँव लौट आये। टोले के उजाड़ होने के थोड़े ही दिनों बाद उन्हीं खँडहरों के पास से खोदकर मेरे लिए मेरे चचेरे चचा बिरज खड़िया (सड़े ककड़ी) खोदकर लाते थे।

उसी अकाल या उसके बाद के साल की बात है, हमारे अँधेरे घर के एक कोने में काँसे की दो नई थालियाँ पड़ी थीं। मैंने उसे छू दिया। माँ या बुआ गुस्सा हुई और मेरा हाथ धुलवाया। मालूम हुआ, अकाल में अपनी थालियों को किसी चमार ने कुछ सेर अनाज के लिए गिरवी रखा था।

उन्हीं पुरानी स्मृतियों में है–एक दिन मैं माँ के साथ ननिहाल से कनैला आ रहा था। चलते वक्त आसमान ठीक था, किन्तु रास्ते में पानी बरसने लगा। मैं किसी की गोद में था। मेरे हाथ में गुड़ में गुँधे सत्तू की पिंडी थी। पानी से पिंडी भीग गयी थी, किन्तु उस पिंडी को बड़े यत्न से मैंने हाथ में दबा रखा था। हमारे परिवार जैसी स्थिति की बहुएँ एक या दो बार ही पालकी पर पीहर–नैहर जाती-आती हैं, बाद में वह लाल चादर ओढ़े घूँघट किये पैदल ही आती-जाती है। मेरी माँ वैसी ही लाल चादर ओढ़े 10 मील का रास्ता तय कर रही थीं। वर्षा शायद सारे रास्ते भर नहीं रही।

अकाल के वक्त पन्दहा या कनैला के लोग भूख से कैसे मर रहे थे ? पशुओं का चारे बिना क्या हाल था ? सारी पृथिवी और वनस्पति कैसी झुलसी हुई थी ? इन बातों का मुझे बिल्कुल स्मरण नहीं, यद्यपि उस वक्त

मै चार वर्ष से ऊपर हो रहा था, किन्तु अकाल के बाद (1898 ई.) वाली बरसात का आरम्भ मुझे अच्छी तरह याद है। मैं उसी समय कनैला से पन्दहा लाया गया था। जहाँ कनैला की बस्ती के आसपास वृक्ष-वनस्पतिशून्य विस्तृत ऊसर था, वहाँ पन्दहा चारों ओर वृक्षो और बाँस की झाडियो से ढँका था। किन्तु उस दिन तो मालूम होता था, उस असाधारण हरियाली ने अपनी छाया मे अन्धकार को छिपा रखा है।

अकाल का प्रभाव हमारे नाना और पिता दोनो के घरो पर नही पड़ा। पिता के पास दस बारह एकड़ खेत थे, और नाना से भी उनकी अवस्था अच्छी थी। दोनों ही घरों में आमदनी से खर्च बढ़ा हुआ नही था। बल्कि यदि मै गलती नहीं करता, तो इसी अकाल के समय अनाज के महँगे भाव मे लाभ उठाकर पिता ने पहिली पूँजी जमा की, जो बढ़ते-बढ़ते चार-पाँच हजार तक पहुँच गयी।

3

अक्षरारम्भ (1898 ई.)

होश सँभालने से पहिले चाहे माँ के साथ अक्सर कनैला रहने का मौका मिलता रहा हो, किन्तु, बाद मे तो नाना के यहाँ ही मेरा स्थायी वास रहा। ननिहाल के मेरे जैसे नाती शोख हो जाते है, लेकिन मेरी शोखी की भी किसी को शिकायत नही हुई। पन्दहा के मै अच्छे लड़को मे समझा जाता था। नानी का स्नेह तो मेरे लिए अद्वितीय था ही, नाना का प्यार भी कम न था, किन्तु साथ ही नाना—पल्टनिहा सिपाही—कड़े अनुशासन को पसन्द करते थे। सिवाय एक बार—सो भी बहुत कुछ दिखलाऊ—कभी उन्होने एक थप्पड़ भी मुझे नही मारा, किन्तु, नाना की डपट मेरे लिए पचास लाठी के चोट से कम की न थी। नाना खेल-कूद के भी खिलाफ थे। दरख्त पर चढ़ना उन्ही के कारण जिन्दगी-भर मुझे नही आया। उनकी चलती तो मुझे तैरना भी नही आता, किन्तु ननिहाल की पोखरी मे एक बार डूबने से बचकर कनैला मे मैने उसे सीख लिया। नाना ने अपनी जान भर मेरे लिए जिन्दगी को जेलखाना बना दिया था।

लड़कपन के साथियो मे दो ही का मुझे स्मरण है, जो दोनो ही मेरे समवयस्क थे—एक नाना के छोटे भाई के लड़के नरसिंह, और दूसरा गरीब सलमी का[1] लड़का मद्धू। कद मे लम्बा होते भी लड़कपन मे मै बहुत दुबला पतला और अपेक्षाकृत कमजोर भी था। कमजोरी का कारण तो शायद नाना की अत्यधिक सावधानी थी, जिसके मारे मुझे शारीरिक परिश्रमवाले किसी खेल का मौका नही मिलता था। बरसात का आदि या अन्त था, गड्ढो मे पानी भरा हुआ था। स्मरण नही कौन लड़का खेलते समय मेरे धक्के या अपनी असावधानी से एक छोटे गड्ढे मे गिर गया। पास के किसी आदमी ने दौड़कर उसे निकाला।

मै बेकसूर था, किन्तु नाना ने समझा, मैंने जान-बूझकर शरारत की। उसी वक्त नानी से सलाह ठहरी—बच्चे को पाठशाला मे बैठा दिया जाये। पन्दहा से रानी की सराय का मदरसा एक ही मील है, इसलिए नानी को दूरी की शिकायत नही हो सकती थी। अकेले के लिए नाना ने मद्धू को साथी देने की बात कही। दोपहर को भूख लगने की बात कहने पर उन्होंने अध्यापक मुशी महावीर सिंह से (?) अपने चौके मे खाना खिला देने की बात तै कर ली। उमर थोड़ी है, क्या पढ़ैगा—कहने पर, नाना का जवाब था—बैठना तो सीखैगा। नानी को भी पाठशाला भेजने की बात माननी पड़ी।

शुभ मुहूर्त देखकर (शायद 1898 ई. नवम्बर को) एक दिन रामदीन मामा[2] के साथ मुझे रानी की सराय भेज दिया गया। नाना की धारणा थी कि हिन्दी से उर्दू की कदर अधिक है। उनके एक फुफेरे भाई मुसिफ होकर जवानी ही मे मर गये थे। मेरे लिए भी नाना की नजर में वैसी ही कोई सरकारी नौकरी थी। उर्दू पढ़ाकर आजमगढ़

1 देखो, 'सलमी के बच्चे।'

2 नाना के बड़े भाई शिवनन्दन पाठक के कनिष्ठ पुत्र। देखो, परिशिष्ट 4।

के मिशन-स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाने का उनका इरादा था। खैर वह अपने इरादे में कम असफल रहे यह आगे का

था—गेंदे के फूल खिले हुए थे। वहीं धूप में खाट पर मैं बैठा रहता था। मदधू भी मेरे पास बैठा होता। नहीं याद, हम कैसे अपना दिन काटते थे। नाना की बात दुस्मन थी मैं वहाँ बैठना ही सीख रहा था।

शायद बहुत दिनों तक मैं रानी की सराय नहीं जा सका। बा. महावीर (या भगवान) सिंह अपने घर के किसी मारपीट में शामिल हुए। उनको सजा हो गयी। मदरसा बन्द हो गया।

उसके बाद मैं कहाँ रहा, क्या करता रहा,—इस पर स्मृति प्रकाश नहीं डालती। हाँ 1899 ई. के अन्त में फिर रानी की सराय के मदरसे में दाखिल होने से पहिले एक बार कनैला से बछौरा भेजा गया था। गाँव के 8 [illegible] वहाँ पढ़ने जाते थे मैं शायद सबसे छोटा था। मेरी आयु से कुछ ही बड़े चचा बिरजू का मुझसे बहुत प्रेम था। बछौरा में उर्दू नहीं मुझे हिन्दी का क ख शुरू कराया गया। बिरजू रास्ते में ही ग्याहा बनाकर मुझे सिखलाते। गाँव के जयकरण अहीर की एक टुँड़ी गाय से गाबू के मारे बच्चे बहुत डरते थे। वह दौड़कर हमला करती थी। सबेरे दिन चढ़े हमारा झुंड बछौरा जा रहा था। उत्तर तरफ के ऊसर की गायों में टुँड़ी गाय भी है—इसे हममें से कइयों को पता न था। टुँड़ी दौड़ी, हम लोग जिधर तिधर भाग निकले। मेरे भय और आश्चर्य का ठिकाना न था जब कि मैंने टुँड़ी से चार कदम पर ही भागने की जगह बिरजू को अपनी नयी धोती खोलकर सिर पर लेके बैठ जाते देखा। टुँड़ी बिरजू की ओर ध्यान न दे हम भागों की ओर दौड़ी लेकिन हम लोग उसकी पहुँच से बाहर हो चुके थे। बिरजू मुस्कराते हुए हमसे आ मिले। पूछने पर कहा—बैठे हुए आदमी को गाय बैल नहीं मारते। प्रत्यक्ष के बारे में सन्देह की गुंजाइश कहाँ? तो भी इसकी तजरबा करने के लिए मुझे तो फिर कभी टुँड़ी के सामने जाने की कभी हिम्मत न हुई।

बछौरा में शायद एकाध ही मास मैं पढ़ पाया। वहाँ के अध्यापक थे उनकी सूरत-शकल भी मुझे स्मरण नहीं। इतना याद है कि वर्ण परिचय की जो पुस्तक हमारे साथियों के हाथ में थी वह गोविन्दराम प्रेस की छपी रानी सरस्वती की तसवीरवाली थी। बछौरा और वर्णमाला के छिनने का मुझे उतना ख्याल नहीं [illegible]। बिरजू हमारे पिता के चचेरे चचा के पुत्र थे—यह कहने से तो दूर का सम्बन्ध मालूम होगा किन्तु उस वक्त यह बात न थी। मेरे पितामह जानकी पांडे के तीन चचेरे भाई—जिनमें बिरजू के पिता महाराज सबसे छोटे और जानकी पांडे के बहुत प्रेमपात्र थे—सगे भाई से थे। सारा परिवार [illegible] सम्मिलित परिवार के दिनों ही में मेरा और बिरजू का जन्म हुआ था। यदि पितामह जल्दी न मरे होते या पितामही का स्वभाव इतना कर्कश न होता तो अब भी हमारा परिवार साथ रहता।—पितामही [illegible] बचपन से ही मुझे अप्रिय मालूम होती थी। [illegible] और बिरजू मेरे लिए [illegible] (—खाँचा) खोद [illegible] अक्षर सिखानेवाला बिरजू मेरी श्रद्धा और प्रेम दोनों का भाजन था। सन 1900 ई. [illegible] में कनैला में जोर का हैजा आया। मैं भी उस वक्त वहीं था। हमारे घर भर के स्त्री पुरुष बीमार पड़े। हम बच्चों को पानी पीने को मिलता था। भगवती की मिन्नत पर मिन्नत मानी जा रही थी। मालूम, नहीं घर भर में कोई बीमारी से छूटा भी रहा या नहीं। हमारे घर में कोई नहीं मरा, किन्तु बिरजू का परिचय [illegible] उसके बाद फिर न देख पाने का मुझे बहुत अफसोस रहा।

हैजे से उठने के बाद पुराने चावल का भात और इमली की चटनी का पथ्य मुझे बहुत मधुर मालूम होता था।

1899 ई. के अन्त के जाड़ों में मैं फिर पन्दहा में था, और अब मदधू नहीं नये सहपाठी दलसिंगार के साथ रानी की सराय की पाठशाला में भरती हुआ। नये अध्यापक बा. हरिप्रसाद सिंह नाटे और गठीले बदन के तरुण थे। वह हमारी कापियों पर अपना हस्ताक्षर अँगरेजी में किया करते थे। अँगरेजी एकाध किताब पढ़े हुए थे यह तो मुझे नहीं मालूम, किन्तु वह नार्मल पास थे। गोरखपुर-शहर-में रहने का उन पर काफी असर था। वह बातचीत

और पोशाक में काफी नागरिक मालूम होते थे। उनके कपड़े कोट, कमीज और धोती हमेशा साफ उजले रहा करते थे। कसरत करते थे या नहीं, यह तो स्मरण नहीं; किन्तु शाम को पाखाने के लिए लोटा लिये वह दूर तक टहलने जाते थे। उस वक्त 'छड़ी बिना विद्या नहीं आती' यह सर्वमान्य शिक्षा-सिद्धान्त था, किन्तु मुझे जहाँ तक स्मरण है, द्वारिकासिंह बहुत ज्यादा मारते-पीटते नहीं थे; तो भी हम विद्यार्थियों पर उनका काफी रोब था। पान खाते और सीटी बजाते हुए चलने का उन्हें बड़ा शौक था। उन्होंने किसी से एक विलायती कुत्ती को लेकर पाला। न जाने कैसे उसकी कमर टूट गयी, और महीनों हमारे अध्यापक मेहतर लगा सूअर के तेल से उसकी मालिश कराते रहे।

उस वक्त रानी की सराय बहुत छोटी-सी बस्ती थी। अभी रेल नहीं पहुँची थी, और न मारवाड़ियों तथा दूसरे व्यापारियों की दूकानें आ पाई थीं। आजमगढ़ से जौनपुर और बनारस की ओर जानेवाली पक्की सड़क तथा घोडेगाड़ी (=सिकड़म्) पर चलनेवाली डाक के रास्ते पर होने के कारण यह स्थान कुछ महत्व तो जरूर रखता था, और शायद कुछ दिन पहिले चीनी के कारखाने भी यहाँ चल रहे थे; किन्तु मेरे आरम्भिक दिनों में वहाँ हलवाइयों की पाँच-सात दूकानें थीं, जिनमें दो को छोडकर बाकी जगह गट्टा और गुड़ के लड्डुआ ही मिलते थे। पाँच-सात दूकानों में लवंग-हल्दी-रंग के साथ कपड़े भी बिका करते थे। उस वक्त तक अभी सिलाई की कल वहाँ नहीं पहुँच पाई थी। नाना मेरा कुरता अपने खानदानी दर्जी बसई के बूढ़े सलीम से सिलवाया करते थे, किन्तु एक दिन देखा, मुझे वे कपडा नपवाने के लिए सराय में ले जा रहे हैं। वहाँ एक दुबले-पतले सफेदपोश मियाँ रहते थे, जो हड्डी की खरीद के मुंशी थे। घर में सख्त परदा था। दरवाजे पर बोरिये का पल्ला लटक रहा था। गरीबी के कारण बीबी सिलाई का भी काम कर लिया करती थी। हाँ, यह सराय मेहनगर के राजा की रानी ने बनवाया था, जिसके ही कारण बस्ती का नाम रानी की सराय पड़ा था। हमारा मदरसा उन्हीं रानी के बनवाये पोखर रानी सागर के कोने पर बना हुआ था। मेंहनगर के राजा गौतम राजपूत पहिले हिन्दू थे, पीछे वे मुसल्मान हो गये, और उसी समय या उसके बाद वे मेहनगर छोड़ आजमगढ़ में चले आये।

सराय का बडा दरवाजा और कितनी ही कोठरियाँ उस समय भी मौजूद थीं, यद्यपि बेमरम्मती का असर उन पर दिखलाई पड रहा था। फाटक की अगल-बगल के कोठेवाली कोठरियों में कबूतरों ने डेरा डाला था, जहाँ और लड़कों के साथ मैं भी कभी-कभी कबूतर पकडने गया था। सराय में एक पगली भटियारिन रहती थी, जो हमको देखकर बडबड़ाया करती। डाक की घोडागाडी के अतिरिक्त रानी की सराय की सडक पर भाड़ की ऊँटगाडियाँ भी चला करती थी। बाजार में पुराने किस्म के कुछ इक्के भी थे।—यह सब रेल आने से पहिले की बात है।

दलसिंगार रिश्ते में मेरे नाना लगते थे, किन्तु समवयस्कों में सिर्फ भाई का ही रिश्ता चल सकता है। हम दोनों में बहुत प्रेम था, शायद इसका कारण दोनों का झगडाऊ स्वभाव का न होना रहा होगा। सबेरे बासी खाना खाकर घंटा दिन चढ़ने से पहिले ही हम मदरसा पहुँच जाते थे। दोपहर के खाने के लिए भुना दाना या गुड़-मिला सत्तू हमारे अँगोछे में बँधा रहता, जिसे रानी की सराय के बन्दरों की भारी पल्टन से बचाना आसान काम न था; रानी सागर की मेड़ पर अक्सर वे पड़ रहते, और हमारा रास्ता भी उधर से ही था। रानी सागर के एक तरफ ईंट का पक्का घाट था, जो अब बहुत जगह टूट-फूट रहा था, पास ही में महावीरजी का मन्दिर था। बन्दरों को महावीरजी की सेना सुनते-सुनते हम समझते थे, कि इसी मन्दिर के कारण बन्दर यहाँ रहा करते हैं। लाल मुँहवाले बन्दर बडे शरारती होते हैं, खासकर लड़कों के साथ। एक दिन हम दोनों तालाब के दक्खिनवाले किनारे से जा रहे थे—शायद उत्तरवाले किनारे पर महावीर की सेना से जान बचाने के लिए। किसी नटखट लड़के ने भिंडे के रीढ पर—हमारी आँखों से ओझल—बैठे बन्दरों पर ढेला चलाया। हमने उस लड़के को देखा भी नहीं, और बात की बात में दर्जनों बन्दर खौंव-खौंव करते हमारे ऊपर चढ़ दौड़े। दलसिंगार किसी तरफ भागे। मैं भागता धूप लेती एक बुढ़िया के पीछे जा छिपा। बुढ़िया न होती तो बन्दरों ने मेरी गत बना दी होती।

हिन्दीवाले लडकों को वर्णमाला धरती पर मिट्टी में लिखकर सीखना होता था, किन्तु हम उर्दूवाले लडकों को शुरू ही से सफेद पट्टी पर गेहूँ या चावल के शीरे की स्याही से लिखना पड़ता। पहाड़ा सबके साथ ही जोर-जोर

से चिल्लाकर दुहराना पड़ता। दोपहर को खाने के लिए छुट्टी होती—जाड़ो में एक ही घंटे के लिए, किन्तु गर्मियों में वह तीन घंटे या ज्यादा की होती, और हम खाना खाने घर चले आया करते। जाड़ों में रानी सागर के घाट या महावीरजी के मन्दिर के पास हम अपना सत्तू भूजा खाने जाते। बन्दरों का खतरा था, किन्तु इस वक्त हम भी एक-डेढ़ दर्जन लड़के एक साथ रहते।

1899 ई. के अन्त में मै गया ही था, इसलिए उस साल 'जुज ब' (प्रारम्भिक श्रेणी) पास करने की बात ही क्या होती; हाँ, अगले साल मै और दलसिंगार दोनों 'बे' पास हुए। उस वक्त प्राइमरी स्कूलों की वार्षिक परीक्षाएँ दिसम्बर के महीने में हुआ करती, और नये सन के साथ हमें नयी किताब मिला करती।

4

दो साथी (1901-2 ई.)

आयु में दलसिंगार मुझसे जरा सा बड़े थे किन्तु कद में मै उनसे बड़ा था। नाना के लाड़ प्यार तथा खेल कूद से वंचित रखने ने मुझे जहाँ निर्बल बना दिया था, वहाँ दलसिंगार उस आठ नौ वर्ष की उम्र में भी शिर पर टोकरी ढोने तथा दूसरे छोटे मोटे कामों के कारण मुझसे अधिक मजबूत थे। सबेरे जो पहिले नाश्ता कर चुकता वह दूसरे के घर लिवाने पहुँचता। दलसिंगार के घर यदि मुझे जाना पड़ता तो हम दोनों पास से गुजरती निजामाबादवाली कच्ची सड़क से जाते। दलसिंगार को जब मेरे घर आना पड़ता, तो हम पगडंडी का सीधा रास्ता पकड़ते। सबेरे के वक्त तो कोई बात न थी, किन्तु शाम को घर लौटते अक्सर देर हो जाती। पाठशाला से छुट्टी में उतनी देर न होती, किन्तु रास्ते में हम लोग गिल्ली-डंडा या दूसरे खेल खेलने लगते, जिसमें देर हो जाती। लौटते थे अक्सर हम सड़क के रास्ते, क्योंकि वह दलसिंगार के लिए सीधा था, दूसरे पगडंडीवाला रास्ता जंगल के भुतहे पोखरे के पास से गुजरता था। इस निर्जन तालाब पर दिन-दोपहर को भूत नाचा करते और अकेले-दुकेले सयाने भी उधर से गुजरने की हिम्मत न करते थे। सबेरे के वक्त उधर गायों और चरवाहों के रहने के कारण हम भी हिम्मत रखते, किन्तु शाम को किसे विरते पर उधर से गुजरते? जब मै नानी के साथ उधर से जाता तो, पास पहुँचने पर वह बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ 'जै टेढ़ा भइयाँ के बाबा साहेब! रहाँ रहे बाल गोपाल को नीके बनाये रखो' कहकर प्रार्थना करती। हम भी 'बाबा साहब' को मना लिया करते, लेकिन दिल को पूरा भरोसा न होता। वैसे सड़क के रास्ते पर भी 'ठूँठे' पीपर के 'बाबा साहब' थे, किन्तु एक तो सड़क थी, दूसरे 'बाबा' अकेले थे और हम दो। हम लोगों ने यह भी सोच रखा था, कि यदि 'बाबा' प्रकट हुए तो झट मामा कह बैठेंगे, फिर 'बाबा' भांजे पर हाथ छोड़ने का साहस थोड़े ही करेंगे?

सावन में गाँव में कई जगह वृक्षों पर झूले पड़ते थे, जिन पर रात को गाँव की बहुएँ तथा दूसरी तरुण कन्याएँ झूला झूलती, कजरी गाती। हम लड़कों के झूले दिन भर चलते रहते। उस वक्त मेरे साथी और साथिनें सुनी-सुनी कजरी के एकाध पद गाते। 'रुन-झुन खोलना हो केंवड़िया, हम विदेसवा जइबे ना'। यह पद मुझे बहुत प्रिय था, किन्तु इसके पिछले भाग का ही मुझे अर्थ मालूम था।

बरसात में कबड्डी और जाड़े में दूसरे खेल गाँव के लड़के भी खेला करते, लेकिन नाना के डर के मारे मैं अपना खेल पहिले ही खतम कर आता। खाते पीते घर का लड़का प्रकट करने के लिए एक दिन नाना ने मेरे हाथों-पैरो में चाँदी के मोटे मोटे कड़े और कानों में सोने की बालियाँ डलवा दी—जेवर के पीछे लड़कों की मौत की बहुत-सी कहानियाँ उन्हें भी मालूम थीं, किन्तु रवाज को कौन तोड़ता? एक दिन—शायद उस दिन नाना गाँव पर नहीं थे—हम दोनों ने गाँव की कबड्डी में भाग लिया। संयोग से हम दोनों दो पक्ष में बँट गये। कबड्डी पढ़ाते वक्त दलसिंगार ने मुझे पकड़ना चाहा। उसी समय दलसिंगार के सामने के एक दाँत से मेरे हाथ का कड़ा इतने जोर से लगा, कि दाँत का एक नोक टूटकर गिर गया। खैरियत यह हुई, कि उनका ओंठ खुला रहने से बच

गया। दलसिंगार को जरा भी गुस्सा नहीं आया। मैं सहम गया। दलसिंगार का वह टूटा दाँत स्थायी चिह्न-सा बन गया था।

पन्दहा की ओर से जानेवाले लड़कों की संख्या कुछ बढ़ी भी, यद्यपि पन्दहा खास से मैं और दलसिंगार दो ही जाते थे। गाँव के दक्षिण तरफ पोखरियों और गड़हियों का एक संघ था, जो बसई और दूसरे गाँवों तक फैला हुआ था। पन्दहा की चार गड़हियाँ इस संघ की सदस्या थीं, जिनमें महामाई की पोखरी गाँववालों के नहाने का भी काम देती थी। बसई इसी पोखरी-संघ के पश्चिम तट पर बसा हुआ मुसल्मानों का गाँव था। वहाँ के कब्रिस्तान की कितनी ही पक्की कब्रें, बतला रही थीं, कि किसी वक्त वहाँ के सैयद-परिवारों के दिन अच्छे थे, मेरा उस समय बसई से किसी इतिहास-गवेषक का-सा सम्बन्ध न था। बसई में सैयदों के चार और कोइरी का लड़का हीरा हमारे मदरसे के साथी थे, हीरा तो मेरे दर्जे मे पढ़ता था, सैयद और कोइरी के अतिरिक्त बसई में मुसल्मान दरजी, धुनिया और जुलाहों के और बहुत से घर थे। आसपास के कई गाँवों में बसई का ताजिया मशहूर था। ताजिया देखने के अलावा भी हम कितनी ही बार वहाँ पहुँच जाते, बसई के पुराने खँडहरों पर उगे शरीफे के फल खाते। हमारे साथी सैयद-जादों में दो मुझसे अधिक उम्र के थे, और दो बराबर के, उनमे दो अनवरहुसेन के लड़के और दो चचे-भतीजे उनके पड़ोसी के घर के थे। इन सैयदों की जमीन प्रायः सभी बिक-बिका चुकी थी, आश्चर्य होता था, कि इतने पर भी वे साफ कुरता-पाजामा पहनते कहाँ से थे ? अनवर मियाँ तो घर पर ही रहते थे, किन्तु उनके पड़ोसी के घर का एक आदमी सिंहापुर पिलाड–हाँ पिलाड (पिनाड) ही लोग उच्चारण करते थे–में कोई नौकरी करता था। सैयदों के खड़े घरों से खँडहरों की संख्या अधिक थी, और उनकी ईंटों की जुड़ाई, दरवाजों तथा खिड़कियों से रहनेवालों के अच्छे दिनों का पता लगता था। दूसरी जाति के मुसल्मान तो सदा से बसई के बाशिन्दे हो सकते थे, किन्तु सैयद बाहर से आये थे, इसमे तो सन्देह ही नही–ये सैयद शिया थे। मुसल्मानी जमाने में, विशेषकर जौनपुर की शर्की बादशाहत के समय उनके पूर्वज बसई में आकर बस गये हो तो कोई तअज्जुब नही। उनके घरों में कड़ा परदा था, किन्तु हम छोटे-छोटे बच्चे बिना रोक टोक अपने साथियों के साथ उनके घर के भीतर चले जाते थे।

मेरे नाना की आसपास के कुछ शिया सैयदों से घनिष्टता थी। अनवर मियाँ के बारे में तो नहीं कहता; किन्तु दूसरे जब हमारे घर आते तो वे अपने ही हाथ से पानी निकालकर पीते थे। हिन्दू के हाथ की–चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो–छुई कोई चीज वे खाते-पीते न थे। गाँववाले इस कट्टरता की बड़ी प्रशंसा करते थे। मिर्जा सलीम वकील के कारिन्दे एक बार मेरे लिए मखमल की फुलदार टोपी लाये थे। बचपन का संस्कार बहुत स्थायी होता है, शायद यह उस समय के कुछ शिया व्यक्तियों का सम्पर्क ही था, जिसने मेरे दिल में शिया-समाज के लिए एक खास स्थायी स्नेह और सम्मान का भाव पैदा कर दिया।

नाना के यहाँ के लाड प्यार ने खाने के बारे में भी मेरी विशेष रुचि पैदा कर दी। दाल से मुझे नफरत थी, क्योंकि बचपन ही से दूध-दही, खाँड-शीरा या मछली तरकारी से रोटी खाने का मैं आदी था। शायद होश सँभालने से पहिले मैंने अपनी इस रुचि को लोगों से मनवा लिया था, इसलिए दाल खिलाने का कोई आग्रह न करता था। पन्दहा में धान के खेत न थे, हाँ 'साठी' धान होता था, किन्तु मुझे भात से बहुत चिढ़ थी। मेरे जन्म से पहिले ही नाना-नानी वैष्णव-दीक्षा, और तुलसी की कंठी ले चुके थे, साथ ही गया-ठाकुरद्वारा भी हो आये थे। अब मछली-मांस से उन्हें कोई वास्ता न था; किन्तु मेरे लिए मछली-मांस का इन्तजाम करने में उन्हें कोई सकोच न था। मेरा दुबला-पतला शरीर नाना को और भी इसके लिए मजबूर करता था। गाँव में मांस तो छठे-छमासे ही मिलता जबकि गाँव के कुछ शौकीन लोग बकरा खरीद बाँटी डालते; किन्तु मछली का मौका अक्सर मिलता था। सिंही, गरई जैसी मछलियाँ जब जीती मिलतीं, तो दो-दो, चार-चार से लेकर बैल की सानीवाली नाद मे पाल ली जाती। नाद में पानी और मिट्टी के सिवा और कोई चीज डालते मैंने नहीं देखा। मैं तो समझता था, मछलियाँ मिट्टी खाती हैं और पानी पीती हैं--बस उनको और कुछ नहीं चाहिए। बहुत छुटपन में कैसे बनतीं, यह तो मुझे याद नहीं, किन्तु होश सँभालने

पर मैं ही आँगन या गोसार में मछली पकाता। नानी मसाला पीसकर दे देती, और पकाने का तरीका बतलाती। आम का मौसिम होने पर उसे मछली में जरूर डाला जाता—आकाश के आम और पाताल की मछली के समागम को एक पुण्य की चीज समझा जाता था। जितने दिन जखीरा तैयार रहता मैं दूध तरकारी की बात भूल जाता। आमतौर से सबेरे दही रोटी, दोपहर को दूध रोटी, शाम को दूध या तरकारी के साथ रोटी खाने को मिलती। दही के साथ खाँड़ या चीनी से अन्तिम बार का निकाला शीरा ('टापारी') जरूर था। 'टापारी' शीरा मुझे बहुत पसन्द था। गुड़ को दोबारा ताव पर चढ़ाने के कारण उसमें एक प्रकार का सोंधापन होता, और साथ ही निथरकर कुछ चीनी का अंश भी उसमें मौजूद रहता। नाना ने किसी कारखानेवाले को सौ दो सौ रुपये कर्ज दे रखे थे और शीरा उसी के सूद में आया करता था।

पहिनने की मेरी आवश्यकताएँ बहुत मुख्तसर थीं। मामूली दो पतली धोतियाँ एक अँगोछा—जो पहिले पहिल लाल—('किरौंजी') मिट्टी में रँगे मिलते थे। और दिनों में सूती कुरता, किन्तु जाड़ों में ऊनी या अर्ध ऊनी कपड़े का बटनदार अँगरखा होता। टोपी भुला देने में मैं बहुत उस्ताद था। कितनी ही बार तो गरदन पर कुरता में उसे टाँक दिया जाता था। नंगे शिर मदरसा जाना कायदे के खिलाफ था, नहीं तो टोपी गुम होने से जितने अधिक मैं और घरवाले परेशान थे, उससे नंगे शिर रहना ही पसन्द आता। एक बार नाना ने किसी रेशमी कपड़े की दुपलिया टोपी मेरे लिए सिलवाई। दो चार दिन मैं उसे ठीक नहीं रख सका। शाम को मदरसे से घर चलते वक्त देखा—टोपी नदारद। नाना डाँटेंगे इस डर के मारे पन्दहा जाने का नाम कौन ले। इधर उधर करते अँधेरा हो आया। मदरसे के पास नाना का परिचित एक बढ़ई था जो बैलगाड़ी के पहिये और दूसरा सामान बनाकर बेचा करता था। कोई बहाना करके मैंने रात को वहीं रहना चाहा। जाड़े के दिन और मेरे पास बदन के कपड़े के सिवा कोई कपड़ा न था। बढ़ई भी गरीब था। उसने एक बोरा दिया। शिर बाहर रख मैं उसी में घुसकर लेट रहा। दो घड़ी जाते जाते ढूँढ़ने में परेशान नाना वहाँ पहुँचे। पूछने पर बढ़ई ने कहा—वहाँ तो सो रहा है। बोरे में पड़े मुझे देखकर नाना का गुस्सा न जाने कहाँ रफू चक्कर हो गया। उनके दिल की क्या अवस्था थी इसे तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु जरा सा ठहरकर बड़े मीठे स्वर में उन्होंने कहा—टोपी भूल गई तो डरने की क्या बात, चलो तेरी नानी तेरे खाने के इन्तजार में रो रही है।

हम घर पहुँचे। शायद उसी वक्त रात में टोपी के टाँक देने की तजवीज पास हुई और कुछ दिन तक उस पर अमल भी किया गया।

गाँव के और लड़कों की भाँति मेरे लिए भी जूता अनावश्यक समझा जाता था। पहिले पहिल योगेश के ब्याह (1904 या 5 ई.) में मेरे लिए जूता खरीदा गया था। जूता मेरे पैर के लिए बहुत छोटा था, किन्तु मोची ने लकड़ी के टुकड़े ठोक ठोककर उसे बड़ा किया। उसके पास और कोई जूता न था, इसलिए नाना उसी को लेने पर मजबूर थे। बारात के बाद ही मेरा एक जूता कहीं गुम हो गया या रखा न गया, और दूसरे को फेंककर मुझे मुफ्त में कई दिनों तक कटे पैरों की हिफाजत करनी पड़ी। बरसात के दिनों में बद्धीदार खड़ाऊँ गाँवों के लिए जरूरी चीज थी। वह कीचड़ ही से नहीं बल्कि पशुओं के गोबर और पेशाब से मिश्रित सड़े कीचड़ में अधिक रहने पर पैर की अँगुलियों में हो जानेवाले घावों से भी बचाती थी।

बरसात में भी मदरसा तो जाना ही पड़ता था। किताबें शायद स्कूल में रख आते थे, क्योंकि मेरे पास कपड़े का छाता कभी नहीं रहा। बाँस के छाते काफी मजबूत और सस्ते मिलते थे लेकिन बहुत कम ही मैं उन्हें इस्तेमाल करता था। कितनी ही बार पानी की मार से भीगते हो मुझे घर आना पड़ता, किन्तु लड़कपन में पानी बूँदी में भीगना कोई तकलीफ की चीज न थी। हाँ, बिजली की गड़गड़ाहट और चमक से दिल जरूर दहल जाता था। ऐसे समय घर पर रहने पर तो नानी 'हे भगवान, तुम्हारी शरण' कहती, किन्तु रास्ते में शायद मैं तो सहम ही कर रह जाता। टौंस नदी पन्दहा से दो मील उत्तर तरफ है, किन्तु बाढ़ आने पर उसका पानी गाँव के सिवान तक चला आता था। उस वक्त गाँव के नर नारी घर आयी गंगा समझकर नहाने जाते। मेरी धारणा थी, शायद गंगा का पानी बाढ़ में यहाँ चला आता है। मैं यह सोचने की तकलीफ गवारा करने को तैयार न था, कि यह पानी तो अब यहाँ से नीचे जाकर गंगा में मिलेगा।

सन् 1901 ई. के जाड़ो में मैं आठ वर्ष का हो रहा था। मौलवी इस्माईल की 'अलिफ' में पढाई जानेवाली किताब 'पाना-जाना-खाना' (आरंभ) से लेकर अन्त तक मुझे याद थी। दरअसल पढ़ाए जानेवाले विषय तो मेरे लिए तीन-चार महीने के काम थे, बाकी तो दिन-कट्टी कराई जाती थी। कितना समय का अपव्यय था, लेकिन उस वक्त इसका खयाल थोड़े ही आता था। इसे तो हम सनातन नियम समझते थे। उसी साल जाड़ों में पन्दहा में पैमाइश के अमीन आये। हमारे ही दरवाजे पर उन्होने डेरा डाला। मुझे कहानी सुनने का बड़ा शौक था। नानी की कहानियाँ तो न जाने कब की खतम हो चुकी थीं। एक बार सुनी कहानी को दूसरी बार मैं पसन्द न करता था। सतमी और उसकी लड़की सुखिया ने भी अपनी कहानियों के कोश को खाली कर डाला था। जब कोई नया व्यक्ति—खासकर स्त्री—रात को हमारे घर ठहरने आती, तो मुझे सबसे ज्यादा खुशी होती; मै उससे जरूर एकाध कहानी सुनता। मुश्किल यह थी, जहाँ और लड़के कहानी सुनते-सुनते सो जाते, वहाँ मेरे लिए वह नीद हराम कर देती। अमीन लोगों की—हाँ—, वह एक से अधिक थे—पैमाइश से न मुझे वास्ता था, और न नानी की भाँति मुझे इसकी फिक्र थी, कि पैमाइश के कागजो मे कुछ अपने अनुकूल बाते दर्ज करा ली जावे। नाना ने अपने नाम के साथ मेरा नाम कागज पर लिखवा लिया था, जिसके लिए उनके पट्टीदारों ने उज्र किया और डिप्टी बन्दोबस्त—जो मेरे ही नामराशि कोई पडित केदारनाथ थे—ने मेरी पीठ ठोकते हुए नाना से कहा—नाम दर्ज कराकर क्या करोगे, खूब पढ़ाओ बच्चे को। मुझे खयाल आता था, क्या मैं भी डिप्टी होकर इन्ही की तरह कुर्सी पर बैठ मुकदमे का फैसला कर सकूँगा। हाँ, तो अमीन लोगों से मेरा रब्त-जब्त बहुत बढ़ गया, क्योंकि वे मुझे कहानियाँ सुनाया करते थे, जो ज्यादातर किताबो की हुआ करती। इन्ही कहानियों मे काठ के उड़न्तू घोड़े की भी एक कहानी थी।

दिसम्बर मे सालाना इम्तिहान हो जाने पर एक या दो सप्ताह की छुट्टी होती, और मै कनैला चला जाता। पन्दहा मे जितना ही मैं पिंजड़े मे बन्द रहता, कनैला मे मैं उतना ही आजाद। सबेरे से पहर भर रात तक मैं खेल में मशगूल रहता, घर सिर्फ खाने के लिए आता, और कभी-कभी किसी 'आजी' (आर्या—पितामही) के यहाँ ही वह हो जाता। साल मे एक बार आने के कारण अपने नजदीक के आठ घरों के लिए मै बहुत प्यारा लड़का था। शायद झगड़े-झंटे का स्वभाव न होना भी उसमे सहायक था। यही वक्त था जब कि कनैला के धान कटते थे—कनैला मे धान और रब्बी के खेत बराबर-बराबर थे। लम्बा-चौडा ऊसर 'हापड' (दिहाती हाकी) खेलने का सुन्दर क्षेत्र था और अज्ञातकाल मे सैकड़ों पीढ़ियाँ जैसे वहाँ इन दिनो हापड खेलतीं, वैसे ही अब भी लोग खेला करते। लड़के तो खेलते ही थे, किन्तु खिचड़ी (मकर सक्रान्ति) के आसपास तो ज्वान और प्रौढ भी हापड खेलते थे। मै हापड गिल्ली-डंडा सबमे शामिल रहता, किन्तु जिस वर्ग के मत्थे मैं पडता, उसे घाटे ही मे रहना पड़ता। पन्दहा का साल-भर का अकुश दौड़-धूप के अयोग्य किये रहता, फिर यहाँ कौन सा पौरुष दिखलाता। बिरजू अब नही थे, किन्तु दूसरे चचा कृष्णा—जिन्हे मै 'किन्ना' कहकर पुकारता था—खेल के साथी थे। हम दोनों की आयु बराबर थी। उनकी तीर-कमान देख मै भी तीर-कमान बनाता, गोंद के साथ काँटे को तीर पर चिपकाना, और दोनो चलते चिड़ियो का 'शिकार' करने। किसी चिड़िया का शिकार किन्ना ने भी कभी किया—यह मुझे याद नही, शायद वे तीर-कमान शिकार के लिए थे भी नही; किन्तु मेरा तो एक निशाना भी कभी नही लगता था। गाँव के पोखरे या पोखरी—जिनकी सख्या काफी थी—मे हम दोनो कभी-कभी मछली मारने जाते। वहाँ भी, जहाँ किन्ना जिधर हाथ डालते उधर से ही गरई या टेंगरा, सौंरा या सिंही निकाल लेते, वहाँ मेरे हाथ मे सिधरी (पोठिया) या झिंगा भी नहीं आता। हाँ, सिंही या टेंगनो से हाथ कटाने का मौका मुझे कितनी ही बार मिला। मछली कोई मारे, किन्तु जब पत्ती की आग मे उसे भूना जाता, तो हम दोनो मिलकर खाते।

कनैला में मास मिलने का अक्सर मौका मिलता। वहाँ मुसलमान चूडीवालो के कितने ही घर थे; वे रेह, सज्जी और मसाले मे खुद चूड़ी बनाया करते थे, और अभी दिहात मे काँच की फैन्सी चूड़ियाँ न चली थी, इसलिए उनकी बहुत माँग थी। सभी मजदूर-पेशा जातियो की भाँति हमारे चूड़िहार 'खाये-खर्चे' को ही स्वारथ समझते थे। हर महीने ही उनके यहाँ एकाध बकरा काटा जाता, और मैं भी उसी मे से लाता। वह लोग हमारे घर से कर्ज लेते थे, इसलिए भी मुझ पर विशेष खयाल रखते थे। घर में अधिकतर भक्त लोग थे, इसलिए बाहर की गोसार

मे मुझे ही पकाना पड़ता।

उर्दूवालो को पट्टी पर स्याही मे लिखना पड़ता, किन्तु हिन्दीवाले अपनी पट्टी को कजली पोतकर सुखाते, फिर शीशे से रगड़कर चमचम करके उस पर खड़िया की सफेद स्याही से लिखते। कनैला से मैं कितने ही मोटे चुल्ले या बर्तनी बनवाकर लाता, और अपने हिन्दीवाले साथियों की सोगात के तौर पर पेश करता। चूड़ीहार, जिनमे अधिकांश नाते मे मेरे चचा या दादा ही लगते थे (इस नाते को गाँवो मे बड़ी कड़ाई के साथ माना जाता था) मेरी फर्माइश को अस्वीकार नही करते थे।

किन्ना और दूसरे साथियों के साथ मे कभी-कभी कौडी खेलने भी जाता, किन्तु उसमे भी मेरे लिए सदा हार ही रहती।

कनैला की यह आजादी पन्दहा के जीवन के सामने मेरे लिए बहुत आकर्षक थी। मैं साल-भर इम्तिहान की छुट्टियो की बाट जोहता रहता। पन्दहा मे गर्मियो मे नाना पुरानी बखरी के अँधेरे घर मे—जहाँ मक्खी और गर्मी कम थी—सो जाते, उस वक्त नानी से कोई बहाना कर मैं बाहर निकल जाता। बाग मे धूप और लू की जरा भी परवाह न करते कितने ही खिलाड़ी डटे होते। अधिकतर चिब्भी डाँडी, चीका या ओल्हापाती का खेल होता। ओल्हापाती मेरे वश से बाहर की बात थी, क्योंकि मैं दरख्त पर चढ़ना न जानता था। हाँ, चिब्भी-डाँडी या चीका मे मैं शामिल हो जाता। दो-दो की पार्टी होने पर तो कोई बात नही, किन्तु जब पाँच पाँच, छै-छै चिब्भियाँ पाँती से खड़ी की जाती, तो अपनी जोड़ी तक निशाने को परिमित रखना मेरे वश की बात न थी, और फिर दूसरे जोड़े की चिब्भी मे लग जाने पर, सभी जीते दाव जल जाते थे। मुझे यह भी ख्याल रखना पड़ता था, कि नाना के उठने से पहिले घर पहुँच जाना है। नाना को गरम लू की बहुत चिन्ता थी, और नानी को लू से भी अधिक भय था, दोपहर को छोटे बड़े बवडर की शकल मे घूमनेवाले भूतों और चुड़ैलों का। उनको यही सन्तोष था, कि उस वक्त बाग मे और भी बहुत से लड़के खेलते रहते है।

दर्जा 1 मे (1902 ई.) पहुँचते पहुँचते बाबू द्वारिकाप्रसाद सिंह बदल गये, और उनके स्थान पर बाबू पत्तरसिंह रानी की सराय मे अध्यापक होकर आये। नये अध्यापक की उम्र 50 के आसपास थी। उनके दो भाग मे बाँटकर सँवारे हुए शिर के (पटे के) कितने ही बाल सफेद हो चुके थे, मूँछें सीधी ऊपर की ओर सँवारी होतीं। उनके एक पैर मे फीलपाँव था, और शायद इसीलिए धोती का एक फाँड जहा पैर के पजा तक पहुँचता, वहाँ दूसरा घुटनो ही पर रुक जाता। जहाँ बाबू द्वारिकासिंह को पूजा-पाठ करते हमने नही देखा था—'राजपूत' (!) पत्र वह जरूर मँगाया करते थे—, वहाँ बाबू पत्तरसिंह रोज पूजा करते थे। आते ही उन्होंने चहारदीवारी के किनारे फाटक के पास तुलसी का चौरा बाँध दिया। गेदा, बेला और दूसरे फूलो के लगाने की ओर भी उनका काफी ध्यान था। तुलसीचौरा के पास ही चौलाई और करेली की क्यारियाँ बनी थी। लेकिन हमारे लिए जो खास बात जानने की थी, वह था उनका गुस्सा, निर्दयतापूर्वक लड़कों को पीटना, और इसीलिए उनकी पूजा पाठ हमारी नजरो मे कोई वकअत न रखती थी। मैं सबसे तेज होने के कारण स्कूल मे सबसे कम मार खाने की सम्भावना रखनेवाला लड़का था, किन्तु बाबू पत्तरसिंह के आये दो सप्ताह भी न हुए थे, कि एक दिन तड़के जब मै अपना सबक सुना रहा था, उस समय न जाने क्या गलती हुई, कि उन्होने चारपाई के नीचे से खड़ाऊँ उठाकर मारा, वह मेरे पैर में घुटने से नीचे हड्डी में आकर लगा और खून बह निकला। जब तेज लड़के की यह बात थी, तो मन्द और साधारण लड़कों की बात ही क्या ? लड़के डर के मारे उनसे काँपते थे। हम धीरे धीरे उनकी मुद्राओ से परिचित हो गये थे। वे अक्सर कुर्सी की जगह चारपाई पर बैठकर पढ़ाते थे, और पढ़ाते पढ़ाते सो जाते थे। सोने के बाद उनके पटे के जुल्फ अस्तव्यस्त हो जाते, और हम जानते थे कि इसी वक्त उनके गुस्से का पारा सबसे ऊपर चढ़ा होता है। उसकी दवा भी हमे मालूम हो गयी थी। देखते ही बिना एक दूसरे की प्रतीक्षा किये खुद बखुद (क्योकि जब उनका हाथ छूटता तो वहाँ कसूर-बेकसूर का सवाल नही होता) दो लड़के दौड़ जाते, एक नारियल मे नया पानी बदलता और दूसरा बोरसी के अगार से चिलम तैयार करके लाता। बाबू पत्तरसिंह मुस्कुराते हुए पटे के बालों

को एक हाथ से पीछे की ओर सँवारते दूसरे हाथ मे नारियल का हुक्का थामते।

कहावते उन्हे सैकडो याद थी, और बिलकुल मौके की। हाथ मे जहाँ छडी बरसती, वहाँ उनके मुँह से कहावतो की झड लग जाती। हमारे दर्जे के एक लडके दूधनाथराय पढने-लिखने मे बहुत कमजोर थे और इसीलिए मदरसा आने मे उनको बहुत उज्र था। बेचारो को पिटने की आदत थी, और उसके लिए उनके शरीर पर काफी मास भी था। एक दिन कई दिन की गैरहाजिरी के बाद पकडकर मदरसा पहुँचा घरवाले लौट गये। दूधनाथ के कान मे सोने की बडी-बडी नयी बालिया पडी थी। बाबू पत्तरसिंह एक ओर बाँस की हरी छडियो को उनके बदन पर तोडते जाते थे, दूसरी ओर कहते जाते थे–'एक तो रहा बानर नोना, दूसरे पड़ा कान मे सोना।' मै तो समझता था, अभी तुरन्त दूधनाथ के लिए ही उन्होने यह कहावत गढी। उनकी कितनी ही कहावते हँसानेवाली थी किन्तु मार खाते वक्त कही जानेवाली कहानिया पर हँसने की किसकी शामत आती ? हँसते देखा नहीं कि बोल उठे–'हँसते हो, यहाँ आओ तो क्या यहाँ रंडी नाच रही है, अच्छा हँसो।' और फिर छडी बरसने लगती।

जब प्रसन्नचित्त होते, तो चारपाई पर लेट जाते। लडके उनका बदन दबाते–ब्राह्मण लडको से पैर नहीं छुवाया जाता था। और फिर कहानियाँ शुरू होती। जब वह चंदवक के पास जिले के दक्षिण छोर पर किसी स्कूल मे पढाते थे, तो हर रविवार को गंगास्नान करने जाते। एक दिन की बात कह रहे थे–"स्नान करके लौट रहा था अँधेरा हो चला था, मै पैर बढाए पक्की सडक से जा रहा था। नजर जो जरा फिरी तो देखा सडक से नीचे नीचे कोई चुपचाप चल रहा है। मील भर चला गया और अब भी वह व्यक्ति साथ ही चल रहा था। मैने पूछा, तो जवाब मिला, "ओओ, ईधर से न चलो।' नाक से निकलती आवाज सुनकर मेरा तो माथा ठनका। मै सडक से नीचे क्यो उतरने लगा ? जानते हो, पक्की सडक सरकार बहादुर की सडक है। सरकार का अकबाल है, उस पर आकर किसी भूत-प्रेत को घात करने की हिम्मत नहीं हो सकती। वह बराबर नीचे बुलाता रहा, किन्तु मै सडक के बीच से चलता रहा। मील आध मील और पीछा करके वह यह कहता हुआ चला गया– 'बच्चा जो बच के निकल गया।' "

बाबू पत्तरसिंह की बात याद कर मेरे दिल मे होता था, काश ! हमारी पन्दहावाली सडक कच्ची न हो पक्की होती, फिर तो 'टूँठ पीपल के बाबा' का अँगूठा दिखलाना आसान होता।

आषाढ (जून या जुलाई 1902 ई.) का महीना था। अभी वर्षा शुरू न हुई थी। आज मदरसा मे दिन भर घास की सफाई, गोबर से शाला की लिपाई तथा हाते मे गेंदे का पौदा के रोपने का काम हो रहा था। दलसिंगार भी काम कर रहे थे। दोपहर को दलसिंगार काम छोड बैठ, कह रहे थे–बदन मे दर्द है। दोपहर बाद उन्हे एक दो कै हुई। आज समय से पहिले ही छुट्टी हो गयी, क्योकि पढाई बन्द करके सभी लडके सफाई मे लगाये गये थे। मैंने देखा दलसिंगार की आँखे लाल थी। उनका शरीर गरम था, कह रहे थे–बदन फट रहा है। हम दोनो घर की ओर रवाना हुए। किसी तरह रानी सागर के भिडे को पार हुए। अब दलसिंगार का एक कदम भी चलना मुश्किल था। लाचार मैंने उन्हे अपनी पीठ पर चढाया, और घोडैयाँ ले चला। मैं भी शरीर से कमजोर था, और ऊपर से मेहनत करने और बोझ ढोने की आदत न थी; एक बार दस पन्द्रह कदम से ज्यादा चलना मेरे वश की बात न थी। बैठ जाने पर दलसिंगार पर-दर्द से रोते। मै पैर दबाता, और रोता। रात के डर के मारे फिर हिम्मत करके उठाता, और फिर वही पुनरावृत्ति। शाम तक न जाने कितने सौ बार की उठक-बैठक से हम पन्दहा पहुँचे।

सबेरे नानी कह रही थी–'हम लोग तो आग मे हैं ही, बच्चे को कनैला भेज देना चाहिए। हैजा जोर पकड रहा है।'

नाना ने भी स्वीकृति दे दी। और आदमी के साथ मुझे कनैला भेज दिया गया।

5
रानी की सराय की पढ़ाई (1)

कनैला के हैजे में हमारे घर का कोई नहीं मरा था, यह कह आये हैं। बीमारी के वक्त शायद 'आजी' ने शतचंडी (सौ बार चंडी) का पाठ माना था। आजकल वही पाठ चल रहा था। पाठ बाँचनेवाले थे हमारे फूफा पंडित महादेव पांडे और उनके मौसेरे भाई महावीर तिवारी। महावीर तिवारी एक एक अक्षर टटोल-टटोलकर पढ़ रहे थे, किन्तु फूफा फरफर पढ़ते जाते थे। उनके पास नसदानी रखी हुई थी, बीच बीच में वे नस लेते जा रहे थे। शाम को नस से भरी रूमाल साफ की जाती थी। सवेरे पाठ समाप्त कर गरम दूध में भिगोया घर के खुशबूदार धान का चूरा नाश्ते के लिए तैयार रहता। शायद उसके बाद फिर पाठ चलता। पाठ संस्कृत में होता,—चंडी पाठ का भाषा में अर्थ नहीं किया जाता। दोपहर को भोजन, फिर विश्राम। शाम को 3-4 बजे फूफा साहेब घर में बुलाये जाते। फर्श पर एक ओर वह बैठते, और सामने बैठती मेरी माँ, शायद चाची भी (उन्हें मैं काकी कहा करता), मेरी कोई बुआ, कुटुम्ब की भी शायद दो तीन चाची बुआ। दामाद के स्वागत में ऐसी गोष्ठी रचने की प्रथा है, इससे उसका मनोरंजन होता है। वार्तालाप का विषय घरबार का हालचाल और कुछ हँसी मजाक। फूफा से मैं बहुत जल्द हिल मिल गया और एकाध बार उनकी इस गोष्ठी में मैं भी शामिल हुआ। सावन का पानी बरस चुका था, और कनैला के ताल तलैयों, तथा खबरों (पल्वलों) में पानी भरकर बह रहा था। शाम को फूफा साहेब दूर पूरब तरफ चले जाते, और वहाँ शौच स्नान करके लौटते।

फूफा महादेव पंडित के बारे में मैंने कितनी ही बातें सुनी थीं। वह बहुत भारी पंडित हैं—इतने भारी, जितने कि आसपास दस बीस कोस में कोई नहीं। बहुत विद्या पढ़ जाने के कारण ही वह एक बार साल-भर पागल रहे। उस वक्त तो मुझे विश्वास होता था, जैसे बहुत खाने से भोजन का अजीर्ण होता है, उसी तरह बहुत पढ़ जाने से विद्या का अजीर्ण होता है, किन्तु यह संस्कृत पढ़नेवालों को ही। शतचंडी पाठ समाप्त होने में शायद एक मास लगा। उसके बाद जब फूफा अपने गाँव बछवल जाने लगे, तो मुझे भी लेते गये। शायद घरवालों से उन्होंने संस्कृत पढ़ाने की स्वीकृति भी ले ली थी। कनैला से बछवल 3 मील से अधिक दूर नहीं है। मैं फूफा के साथ उनकी घोड़ी पर चढ़ा। रास्ते में मंगई नदी में काफी पानी था। मुझे कन्धे पर चढ़ाकर पार किया गया।

बछवल मैं पहिले पहिल गया था। बुआ को मैंने अभी तक देखा न था, वह कई वर्षों से कनैला आयी ही न थी। वहाँ चार पाँच स्त्रियाँ थीं, जिनमें दो कपड़े जेवर में विशेषता रखती थीं। मैं यह तो समझ गया कि इन्हीं दोनों में एक मेरी बुआ है, किन्तु अपनी बुआ की जेठानी सुत योगेश की माँ को ही मैंने अपनी बुआ समझा। बछवल में मेरी आयु के काफी लड़के लड़कियाँ थीं, जिनमें समान आयु के होने के कारण योगेश से ज्यादा घनिष्टता हो गयी, और पाले के मामले में तो मेरी अपनी बुआ के लड़के नहीं, बल्कि उनके चचेरे भाई योगेश मेरे घनिष्ठ मित्र और साथी बने।

5, 7 दिनों में मेरा और लोगों का भी कौतूहल शान्त हो गया। फूफा महादेव पंडित संस्कृत व्याकरण के प्रौढ़ विद्वान् थे। उन्होंने महाभाष्यान्त व्याकरण पढ़ा था, और पढ़े ग्रंथ बहुत कंठस्थ थे। उनके पास काफी खेत और अन्न-धन था, अतएव उनके लिए अपनी विद्या का और कोई उपयोग आवश्यक न था। वे वहीं अपने द्वार पर विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाया करते। ज्यादातर विद्यार्थी सारस्वत, चंद्रिका, मुहूर्तचिन्तामणि के होते थे, किन्तु कितने ही सिद्धान्तकौमुदी भी पढ़ते थे। फूफाजी आसपास के गाँवों से विद्यार्थियों को 'मुठिया' अन्न मिलने का प्रबन्ध भी करा देते थे, किन्तु जहाँ आधी चौथाई सिद्धान्तकौमुदी समाप्त हुई, कि विद्यार्थी बनारस दौड़ जाते। बनारस का नजदीक रहना महादेव पंडित की पाठशाला की उन्नति में भारी बाधा थी।

सप्ताह बीतते-बीतते फूफा ने मुझे भी सारस्वत पढ़ाना शुरू कर दिया "नत्वा सरस्वती देवी" और आगे का पन्ना भी मैंने कंठस्थ कर डाला। स्मरणशक्ति मेरी बहुत तीव्र थी, फूफा चाहते थे कि मैं संस्कृत पढ़ूँ। मैं सोचता हूँ—काश ! मैं फूफा के यहाँ पढ़ने को छोड़ दिया जाता। संस्कृत खूब पढ़ता। ग्रंथ सारे कंठस्थ होते, क्योंकि अभी

यह धारणा मुझे नहीं हुई थी, कि रटना बुरी चीज है। तो क्या सिर्फ संस्कृत पढ़ने के कारण मैं विचार स्वातन्त्र्य से वंचित न हो जाता ? नहीं कह सकता। बनारस तो जाता ही, शायद वहाँ किसी चौरस्ते पर पड़ जाता। बछवल मे खेल-कूद की आजादी थी। फूफा के घर से पूरब एक कुआँ था, जिसका पानी दो पुर नाधने पर भी नहीं कम होता था। मेरे बाल-साथी बडी गम्भीरतापूर्वक मुझे समझाते थे–'इस कूएँ का जब खाँखर काटा गया, तो इतना पानी भीतर से चला कि खोदनेवाले आदमियों को जब तक रस्से मे खींचकर बाहर निकाला जाय, तब तक पानी बढकर कूएँ के मुँह पर पहुँच गया।' मैं साँस रोककर बोल उठा–'कूएँ के मुँह तक !' साथियो ने बतलाया–'फिर पूजा की गई। सोते के मुँह को रजाई और चक्की के पाट से बन्द किया गया, जब जाकर पानी रुका।' मे समझता था, यदि यह सब इन्तिजाम न किया गया होता, तो पानी मुँह से निकल खेतों को डुबाता, और फिर बाढ़ बनकर सारे गाँव का सत्यानाश कर देता।

महीना बीतते-बीतते पन्दहा का सन्देश अकेला होकर बछवल पहुँचा–नाना का आदमी इन्तजार कर रहा है, पन्दहा जाना है। नये मित्रो के बिछुडने का अफसोस जरूर हो रहा था, किन्तु पन्दहा में भी नानी की शीतल गोद और मधुर स्नेह प्रतीक्षा कर रहा था, वहाँ भी दलसिंगार जैसा बालसखाती मौजूद था।

पन्दहा पहुँचने पर मालूम हुआ, पिछले हैजे मे गाँव के दस-बारह आदमी मरे। दलसिंगार बच गये। देवी एक स्त्री के शिर पर आकर बोली–"मैं तो रास्ते-रास्ते जा रही थी, यही दोनो लडके मुझे यहाँ लाये। रोर ! इन्हें छोड़ दूँगी, किन्तु गाँव मे बिना कुछ लिये नही जाऊँगी।" शायद उसी बीमारी में दलसिंगार के चचा ने भगवती के मन्दिर की स्थापना की मिन्नत मानी।

दलसिंगार से मैं मिल आया। वह अभी भी कमजोर था। दो चार दिनों बाद मुझे मदरसा जाना पड़ा, लेकिन इस जाने मे वह उत्साह न था, क्योंकि दलसिंगार की माँ ने यह कहकर उससे पढ़ना छुड़वा दिया–'मेरे दो जेठ इसी घर में से एक खाट पर उठकर गये। उनकी पढ़ी पोथियो का ढेर अब भी इस घर में रखा है। जाने दो बच्चे, हमारे घर पढ़ना नहीं सहता, तुम जीते रहो यही बहुत है।'

दलसिंगार को जबर्दस्ती रोका गया था। मै उसकी क्या सहायता कर सकता ? बीच बीच में हम मिल लिया करते, लेकिन अब वह साथ पढ़ने खेलने और चलने का आनन्द नहीं था।

मदरसे के मेरे एक सहपाठी शोभितलाल थे। और उर्दू पढ़नेवाला दूसरा लड़का हमारे दर्जे में न था। दलसिंगार के स्कूल छोड़ने के बाद राजदेव पाठक और गाँव के पटवारी के पुत्र बसन्तलाल कुछ समय तक स्कूल के साथी मिले, किन्तु दोनो ही पढ़ने में कमजोर थे, ऊपर से बाबू पत्तरसिंह की छड़ी का खयाल आते ही सबकी रूह काँपने लगती। एक बार राजदेव ने अपने साथ मुझे भी हफ्ता भर गैरहाजिर रखा। पहिले दिन खेलने में देर करके राजदेव ने–जो आयु में मुझसे काफी बड़े थे–कहा, अब जाने से मुंशीजी मारेंगे। बात ठीक थी, हम नहीं गये। दूसरे दिन तो अब दुहरी मार निश्चित थी। इस प्रकार हम लोग रोज घर से रानी की सराय पढ़ने जाते, और शाम को ठीक समय पर घर लौट आते। नाना कई दिनों के बाद रिश्तदारी से लौट रहे थे। उन्होंने सोचा, बच्चे को साथ ही लेते चलें। मदरसे में मुंशीजी से पूछा, तो मालूम हुआ, वह तो हफ्ते भर से आता ही नहीं। घर आकर नानी से पूछा, तो जवाब मिला–वह तो रोज नियम से पढ़ने जाता है। नाना पता लगाने निकले; इधर साथ खेलनेवाले लड़कों से मुझे भनक मिल गयी। मैं नानी की गोद में जाकर छिप गया। नाना बाँस की हरी पतली छड़ी लिये पहुँचे। उनके चिल्लाने ही से मेरी घिग्घी बँध गयी, ऊपर से उन्होंने चार पाँच छड़ी दीवार पर पटकी भी। दूसरे दिन बाबू पत्तरसिंह के दरबार मे पहुँचाया गया। नाना के लौट आने पर उनकी पाँच-सात छड़ियाँ ठीक शरीर पर बरसी।

बाद में गाँव के पटवारी के लड़के बसन्तलाल शायद साथी मिले। मत्र उनका भी वही था। पहिले दिन देर की और फिर घर में पढ़ने के लिए जाकर, रानी सागर से थोड़ी दूर पर एक उजड़े नील के गोदाम के हौज में हम छिपे रहते। पता लगा, मार पड़ी। लेकिन अब ऐसे साथियो की सलाह से मैं चौकन्ना रहने लगा।

अकेले स्कूल जाने के दिनों की एक घटना है। कुत्ते से मैं बहुत डरा करता था। हमारे सड़क के रास्ते पर कुछ दूर हटकर एक चमारटोली थी। वहाँ एक जबर्दस्त कुत्ता था, जिससे मैं बहुत भय खाता था। और दिन तो

किसी और यात्री के साथ निकल जाता, एक दिन संयोग से मैं अकेला एक ओर से आया। और दूसरी ओर से वही कुत्ता। सड़क के मुड़ाव और ऊख के खेतों के कारण हमने एक दूसरे को नहीं देखा। मुझे देखकर कुत्ता भूँका—इसका मुझे स्मरण नहीं। मैं तो अपने को साक्षात यमराज के मुँह में समझ रहा था, इसीलिए जी पर खेलकर कुत्ते पर हमला कर बैठा। वस्तुतः हमला करने के लिए भी मेरे पास न डंडा था न ढेला। मैं उसके ऊपर चढ़ बैठा। शायद कुत्ते का मुँह मेरे हाथ में था। खैर, एक-दो पटखनी मैंने खुद खाई और उसे भी दी। मालूम होता है, कुत्ता मुझसे भी अधिक भयभीत हो गया था, और हाथ ढीला होते ही वह निकल भागा। कुत्ते को पछाड़ने का मुझे अभिमान कहाँ होता, मेरा तो कलेजा अब भी धक-धक कर रहा था। खैरियत हुई, कुत्ते ने कहा काटा नहीं।

आज तक रानी की सराय का स्कूल लोअर-प्राइमरी चला आया था। बाबू पत्तरसिंह के समय लड़के बढ़े, जिसका सारा श्रेय लोग उन्हीं को देते थे। वस्तुतः इस समय गाँवों में शिक्षा बढ़ने लगी थी। रानी की सराय में बालगोविन्द पंडित एक सज्जन रहते थे। उनका मकान ठीक सड़क पर पड़ता था। पहिले से लाग-डाँट होने के कारण, उन्होंने एक अपना अलग स्कूल खोल दिया, या स्कूल खोलने के कारण बाबू पत्तरसिंह से उनकी लाग-डाँट बढ़ी। बालमुकुन्द पंडित के स्कूल में 25, 30 लड़के पढ़ते थे, इससे मालूम होता है, शिक्षा की ओर बढ़ती रुचि ही विद्यार्थियों के बढ़ने में कारण हुई। हमारा स्कूल डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड का था, और सरकार का उस पर वरदहस्त था, जब कि बालमुकुन्द का स्कूल उनके बलबूते पर चल रहा था। बालमुकुन्द पंडित कुछ अँगरेजी भी जानते थे, इसलिए भी उनको विद्यार्थी मिलने में सुभीता हुई। शायद वह स्कूल बाबू पत्तरसिंह के मृत्यु तक जारी रहा।

खैर, बाबू पत्तरसिंह के आने से एक फायदा तो हुआ, कि रानी की सराय का मदरसा अपर प्राइमरी हो गया। एक दूसरे अध्यापक मुंशी अब्दुल्कदीर नायब मुदर्रिस बनकर आये।

6
पहिली यात्रा

पढ़ने का काम मेरे लिए बिलकुल मुश्किल न था। वस्तुतः 4 मास की पढ़ाई के लिए मेरे बारह मास यों ही बरबाद किये जा रहे थे। नाना को गप-शप की बहुत आदत थी, यह कह ही आया हूँ। घर में भी रहने वक्त, विशेषकर फुरसत के वक्त—और वह उनके पास काफी था, उन्हें देखना था, सिर्फ श्रोता को क्योंकि उसके बिना बात की नहीं जा सकती—नाना की पुरानी आप-बीतियाँ शुरू होतीं। जैसे निद्रित या मूर्छित अवस्था से बात का ताँता शुरू हो, और आदमी को मालूम न हो कि बात कब शुरू हुई, उसी तरह मेरे भी होश सँभालने से पहिले से वह कथाएँ होती चली आ रही थीं, और कब से मैंने नाना की कथाएँ सुननी शुरू कीं, इसका मुझे पता नहीं। जाड़े के दिनों में रात के वक्त खाना खा लेने के बाद आग के सामने ही बड़ी रात तक कथाएँ होतीं। सोने के समय भी उनका समय था। दोनों ही वक्त या तो नाना की बगल में या उनकी गोद में, मैं बैठा रहता। कहानियों के सुनने में जितना रस आता, उससे कम नाना की शिकार और यात्रा की बातों में न था। भारत के भूगोल को पढ़ने का मुझे पीछे मौका मिला, किन्तु कामठी-अकोला-बुल्डाना-औरंगाबाद-बम्बई शिमला ही नहीं, कोचीनबन्दर और कौन-कौन पचासों नाम मैं सुन चुका था। सब मुझे याद थे। वस्तुतः भूगोल पढ़ने में नाना की ये ही कथाएँ दिलचस्पी पैदा करने का कारण हुईं। इन कथाओं में जहाँ व्यक्तियों, भिन्न-भिन्न प्रान्तों और उनकी भाषाओं का जिक्र आता, वहाँ भूमि के प्राकृतिक स्वरूप का भी जिक्र होता। बाघ के शिकार में अर्दली होकर नाना बराबर अपने कर्नेल के साथ जाते थे। कैसे जंगलों और पहाड़ों में बाघ रहता है ? कैसे स्वच्छन्द बाघ-परिवार किलोलें करता

है ? बाघ के शिकार मे कितना तरद्दुद और जोखिम उठाना पडता है ?–इन बातो के जानने का उनकी बातो में काफी मसाला होता था।

नाना की पल्टन हैदराबाद की जालना छावनी मे थी। नाना कई बार अजन्ता, एलोरा, और औरंगाबाद की गुफाओ का दूसरे नामो से वर्णन करते। एलौरा और अजन्ता की गुहामूर्त्तियो के बारे मे उनका कहना था–रामजी वनवास को जायेंगे यह खयाल कर विश्वकर्मा ने पहाड काटकर ये महल बनाये, कि इनमें देवता लोग वास करेंगे, और रामजी को वनवास मे कष्ट न होगा; किन्तु महल बनाकर जब तक विश्वकर्मा ब्रह्मा को खबर देने गये, तब तक राक्षसो ने आकर उन महलो में डेरा डाल दिया। लौटकर विश्वकर्मा ने देखा, उन्हे बहुत क्रोध आया; और शाप दिया–जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। नाना की परम्परा के अनुसार अजन्ता एलौरा की गुहामूर्त्तियाँ वही पथराये राक्षस हैं। वे बडी गम्भीरता से भौहो को तानकर नानी से कहते–"जो राक्षस जहाँ जैसे रहा, वह वैसा ही वहाँ पत्थर हो गया। शराब पीनेवाले की बोतल वैसी ही हाथ और मुँह में लगी रही। नाचनेवाले वैसे ही नाचते रहे। सोने-बैठनेवाले वैसे ही सोये-बैठे रहे। आज भी देखने मे मालूम होता है, अभी उठकर बोल देंगे।' नानी प्रोत्साहन दे कहती–"क्या जाने शाप छूट जायें, तो वे फिर जिन्दा हो जावें।"

पन्दहा में एक और व्यक्ति थे, जिनकी बातें सुनने में मुझे बड़ा मजा आता था। वह थे जैसिरी (जयश्री पाठक)। थे तो वह काने, और ऐसे आदमी को जरा-सी बात में भी काना कहकर ताना मारना लोगों को आसान मालूम होता है, किन्तु जैसिरी[1] के बारे में वैसा कहते मैंने किसी को नहीं सुना। घुटने तक की साफ धोती, ऊपर या शिर में बँधा एक वैसा ही साफ अँगोछा, पैर में बाँधा खड़ाऊँ, हाथ में बाँस की झोली या डंडा लिये उनकी पतली, किन्तु स्वस्थ सबल मूर्ति अब भी मेरे सामने है। जिस समय की बात मैं कह रहा हूँ, उस समय वह 40 से ऊपर के हो चुके थे, किन्तु बचपन से अब तक वह बराबर चरवाही करते चले आये थे और आगे भी करते रहे। इसीलिए मैंने जब भी उनको देखा चरवाहे लड़कों की ही मंडली में। कहानियाँ उन्हें बहुत याद थीं और मुँह से जिस तरह के श्रोताओं को वह सुनाई जा रही थीं, उससे मजेदार और मनोरंजक बन गई थीं। नाना तो मुझे सदर-आला या डिप्टी-कलेक्टर बनाना चाहते थे, इसलिए [illegible] चराने का मौका क्या देते? तो भी किसी न किसी बहाने मुझे दो-चार बार जैसिरी की मंडली में शामिल होने का मौका मिला। चरवाही से छुट्टी रहने पर जैसिरी को कभी-कभी रामायण का अर्थ करते भी मैंने सुना था। [illegible] हुए भी उनकी बातें मैंने सुनी थीं। उस समय इस असाधारण प्रतिभा के धनी किन्तु अवसर से वंचित व्यक्ति को, एक मनोरंजक आदमी के तौर पर जानता था, किन्तु अवसर मिलने पर वह क्या बनते, इसका खयाल और अफसोस तो दुनिया देख लेने पर होने लगा।

शायद 1902 के ही अप्रैल में मेरा जनेऊ हुआ। आमतौर से हमारे परिवार में धूमधाम से जनेऊ हुआ करता था। मंडप बनाया जाता, कलशा सजाया जाता, आम के नये पीढ़े और पट्टी–लिखने की–तैयार की जाती, पंडित आते, देर तक देवताओं की पूजा और मन्त्रोच्चारण होता, लड़के को धोती लँगोटी पहना, कन्धे पर मृगचर्म बाँध हाथ में पलाश का दंड दे "काशी पढ़ने के लिए भेजा जाता", हाँ, और चन्द ही मिनटों बाद उसी मंडप के एक कोने में यह कहकर लौटा लिया जाता–चलो लौट चलो, तुम्हारा ब्याह कर देंगे।

मुझे बहुत असन्तोष हुआ, जब सुना कि मेरा जनेऊ गाने बजाने, धूम धाम के साथ घर पर नहीं बल्कि विन्ध्याचल में होगा। माँ ने या किसी ने दीर्घायु होने के खयाल से वैसी मिन्नत मानी थी, दुर्भाग्य, दूसरा करके विन्ध्याचल की जागता देवी के कोप का भाजन कौन बनता ? लाचार, एक दिन मेरे चचा प्रताप पाँडे–वह मेरे पिता से छोटे थे–मुझे पन्दहा लिवाने आये। अप्रैल का महीना था, गर्मी थोड़ी-थोड़ी शुरू हुई थी। पहिले हम लोग कनैला गये, वहाँ से 14 मील चलकर सादात स्टेशन। कह नहीं सकता, उस वक्त तक रानी की सराय रेल पहुँच गई थी। सम्भवतः रेल के लिए जमीन नप गई थी। मैने रेल की सवारी अभी तक नहीं की थी। सादात हम दो ही तीन बजे दिन को पहुँच गये थे, और रेल सूर्यास्त के बाद आनेवाली थी। चचा के पास एक गठरी, कम्बल, लोटा डोर

1. देखो मेरी कहानी, 'जैसिरी' ('सतमी के बच्चे')।

के अतिरिक्त हाथ में सेर-डेढ़ सेर गाय का घी मिट्टी के बर्तन मे था। गाय के घी ही में पूड़ी पकाकर विन्ध्याचल में ब्रह्मभोज कराना था। शाम को सादात के पोखरे पर—स्टेशन के पास ही—चचा ने दाल-बाटी बनाई, शायद आलू का भर्ता भी था। भोजन हुआ। गाडी आने पर सवार हुए। भीड थी या नहीं इसका मुझे स्मरण नहीं, यह भी याद नहीं कि रेल के 'चलते हुए घरों में' बैठकर मुझे क्या-क्या खयाल आ रहा था।

रात थी जब हम अलईपुर (बनारस शहर) स्टेशन पर उतरे। शहर में घुसने से पहिले चुंगीवाले ने घेरा। और भी बहुत-से दिहाती मुसाफिर थे। कुछ देर इन्तिजार करने के बाद हमारी बारी आई। पोटरी खोलकर देखी गई, शायद घी पर कुछ चुंगी लगी। पिता के मामा ईसरगंगी पर एक छोटे-से वैरागी महन्थ थे, वहीं हम लोग ठहरे।

बनारस से विन्ध्याचल तक की सभी बातें क्रमशः याद नहीं है। ईसरगंगी मठ मे आते-जाते दोनों बार हम ठहरे थे। अब तक रानी की सराय ही मेरे लिए शहर था। वहाँ के लड़कों को एक खूँट एड़ी, और दूसरा फाड घुटने तक रखकर धोती, नाखूनी किनारे की बूटेदार टोपी पहिने देख, मैं उन्हें नागरिकता का चरम नमूना समझता था। हम दिहातवाले जिसे 'धरना' कहते थे, उसे रानी की सराय के हमारे साथी 'पकडना' कहते, और इसे हम पूर्ण नागरिक भाषा की बानगी समझते थे। फिर अब छोटे-मोटे शहरों से न गुजरकर सीधा बनारस जैसे महान् नगर में पहुँच जाना—मेरे लिए बड़े कौतूहल की बात थी। मीलों चली गई उसकी सड़कें, गलियाँ और उनके किनारे के आलीशान मकान—जिनकी ऊपरी छत को देखने में बाबू पत्तरसिंह के कथनानुसार शिर की पगडी गिर जाती थी—मेरे लिए बिल्कुल दूसरी दुनिया की चीज थी। सबेरे चचा मुझे ले पचगंगा घाट नहाने गये। गंगा जैसी बडी नदी पहिले-पहिल देखी, और फिर उस पर के पत्थर के घाट, जिनकी सीढ़ियाँ उतरने में खतम ही नहीं मालूम होती थी। शायद हमारे साथ मठ का कोई साधु भी था, क्योंकि चचा जैसे अपढ दिहाती के साथ घाटियों की छीना झपटी का मुझे स्मरण नहीं है। चचा ने हाथ पकडे हुए मुझसे गंगा में डुबकी लगवाई। विश्वनाथ और अन्नपूर्णा का दर्शन हुआ। फिर चौक के रास्ते जब लौट रहे थे, तो वहाँ मैंने किसी बिसाती की चद्दर पर शीशा, कंघी और क्या-क्या चीजों के साथ लिथो में छपी कुछ उर्दू की पुस्तकें देखी। शायद चचा भी वहाँ से कुछ खरीद रहे थे। मैंने देखा कि उन किताबों में कुछ किस्से और कुछ उर्दू हरफ़ में छपे तुलसीकृत रामायण के भिन्न-भिन्न काड थे। चचा ने दो या चार पैसे में एक दो किताब मेरे लिए खरीद दी, लेकिन मेरी इच्छा उतने में पूरी होनेवाली नहीं थी।

दूसरे दिन सबेरे, चचा मुँह धोने या किसी से बात करने में लगे थे, मैं चुपके से निकला। मठ के दरवाजे से बाहर वह पत्थर का शेर था, जिसके लिए पिछले सालों हिन्दू मुसल्मानों का झगड़ा होने लगा था; और अब वह कठघरे के अन्दर चबूतरे पर रखा है। उस वक्त उस शेर को कोई नहीं पूछता था, रास्ते की बगल में आधा धरती में दबा और आधा ऊपर पड़ा हुआ था। वहाँ से होते सड़क पर आया, और फिर सीधे चौक। रास्ते में कई जगह मुडना था, किन्तु मालूम होता है, वह सारे मुड़ाव मेरे दिमाग पर नक्श थे। मैंने न खिलौने लिये, न मिठाई, सीधे जा बिसाती से दो-दो पैसे में पाँच या सात किताबें खरीदीं, और फिर लौट पडा। दो तिहाई रास्ता पार करके जब मैं आ रहा था, तो चचा हैरान परेशान मिले। लोग बहुत शंकित हो उठे थे। बनारस जैसे 'रॉड-साँड-सीढ़ी-सन्यासीवाले' शहर मे एक दिहाती भटकते लड़के के लिए और दूसरी आशा ही क्या हो सकती ? मार नहीं पडी, सिर्फ डाँटें ही भर गयें, चचा के लिए खोये लड़के का मिल जाना ही भारी प्रसन्नता की बात थी।

एक तरह मेरी साहसपूर्ण यात्राओं का क-ख यहीं से शुरू हुआ।

राजघाट के पुल-पार का मुझे स्मरण नहीं। मुगलसराय मे गाड़ी बदलने का कुछ खयाल जरूर है। विन्ध्याचल में स्टेशन से उतरकर हम अपने पंडे के पास गये। बस्ती के बारे मे मुझे इतना ही याद है, कि वहाँ की कितनी ही दीवारें मिट्टी की जगह पत्थर की ईंटो की थी। विन्ध्याचल की भगवती दिन में तीन रूप धारण करती है—सबेरे बालिका, दोपहर को तरुणी, शाम को वृद्धा। मालूम नहीं मुझे भगवती के किस रूप का दर्शन मिला। मन्दिर में उत्कीर्ण अक्षरवाले कितने ही बड़े-बडे घंटे टँगे थे। पास के आँगन मे बलि दिये बकरों के खून की पाँक-सी पडी

हुई थी।

भगवती के नाबदान में नया जनेऊ डुबोया गया, और मेरे गले में डाल दिया गया। बस जनेऊ की विधि समाप्त।

लौटकर हम बनारस में फिर ईसरगंगी मठ में ठहरे। मठ में एक गुफा है। लोग बतला रहे थे, यह पतालपुरी गुफा है, इस रास्ते आदमी पतालपुरी पहुँच जाता है; किन्तु आजकल सरकार ने भीतर से रास्ते को बन्द कर दिया है, सिर्फ बाहर से दर्शन होता है। बाहर से दर्शन मैंने भी किया। मठ की एक कोठरी मे 14-15 वर्ष की उम्र का एक संस्कृत का विद्यार्थी रहता था। उसने वहाँ की बातों का परिचय देने में मेरी बड़ी सहायता की। मठ में तो पानी का नलका नहीं था, किन्तु सड़क पर शेर के मुँहवाले नलकों को मैंने देखा था। मेरा साथी बतला रहा था, है तो गंगाजल ही, किन्तु उसके पानी से धर्म चला जाता है, क्योंकि उसके भीतर चमड़ा लगा हुआ है। उसने 'ओले' का शर्बत पिलाया, सचमुच ही वह बहुत मीठा और ठंडा मालूम हुआ। मठ के हाते में पीछे की ओर इमली के वृक्षों के नीचे कुछ स्त्री-पुरुष रेशम का ताना-बाना करते थे। उन्होंने कुछ टूटे धागे मुझे दिये थे, और उन रंगीन चमकते धागों को मैं अपने साथ घर ले आया था। मठ की बगल में जगेसरनाथ का मन्दिर था। उनकी विशाल-पिंडी का दर्शन करते वक्त मुझे बतलाया गया, कि बाबा हर साल जौ-भर मोटे हो जाते हैं।

बनारस से हम दिन की गाड़ी में लौटे थे, इसलिए सारनाथ पार होते लोगों के इशारा करते वक्त मैंने भी 'लोरिक की धमाक' (धमाक स्तूप) को देखा। लोरिक अहीर का नाम शायद मैं सुन चुका था। लोग बतला रहे थे, लोरिक दोनों हाथों में दो घड़ा भैंस का दूध दुहकर एक धमाक (चौखंडी) से दूसरे पर कूद जाता था।

लौटकर मैंने अपने स्कूल में अपने से अगले दर्जे के लड़के राजाराम—जो रानी की सराय के डाक-मुंशी का बेटा था, और अँगरेजी अक्षर लिख लेता था—से पूछा, कि ईसरगंगी के विद्यार्थी मित्र को मैं कैसे पत्र भेज सकता हूँ। उसने बड़ी संजीदगी के साथ पूछा—पता बनारस छावनी है या शहर ? मुझे नहीं याद मैंने उसका क्या जवाब दिया। उसके बताये अनुसार एक पोस्टकोर्ड—जिसका दाम उस वक्त एक पैसा था—मैंने भेजा जरूर, किन्तु उसका जवाब कभी नही आया, शायद वह पहुँचा भी नही।

7
रानी की सराय की पढ़ाई (2)

1903 ई. में शायद रेल रानी की सराय आ गयी थी। मेरे सहपाठी सेटवल के शोभितलाल का बहुत-सा खेत रेल में चला गया। नील का उजड़ा गोदाम, छोटी पोखरी, उसके किनारे के आम के वृक्ष और कितने ही खेत अब भी उनके पास थे। शोभित के दादा आम के दिनों मे उनकी रखवारी किया करते थे। मदरसा छोड़ने पर वहाँ तक अक्सर मेरा और शोभित का साथ रहता। जाड़े के दिन बड़े सुहावने लगते थे। ऊख, साग, छीमी खेतों में मौजूद थीं। रानी सागर के भींटे से लगे रेल की सड़क के पास रानी की सरायवालों के मटर के खेत थे। फलियाँ खाने लायक हो गयी थीं। दो लड़कियाँ हमारी ही उम्र की खेत की रखवाली करती थीं। हम भींटे की आड़ से पहिले झाँकते, फिर गफलत में देखकर खेत पर टूट पड़ते और खेत में सरपट भागते, छीमी तोड़ते कई फेरा कर डालते। लड़कियाँ हमारे पीछे-पीछे दौड़तीं, और हमें न पकड़ पातीं, वह बनावटी क्रोध दिखलातीं। फ़सल कट जाने पर लड़कियाँ खेत पर न आतीं, लेकिन द्वार से गुजरते वक्त वे पहचानतीं और खुश होतीं। सलाम, बन्दगी, हाथ उठाने या टोपी उठाने की कोई प्रथा तो थी नहीं, देखकर मुख पर हँसी की रेखा ला देना, बस यही अभिवादन-प्रत्याभिवादन होता।

क्वार-कातिक के महीने मलेरिया के महीने थे। लड़कपन में प्रायः हर साल मुझे जूड़ी आती। क्विनैन को लोग बुरा समझते, इसलिए नानी भटवास की जड़ को पीसकर गरम जल के साथ देती थीं। ज्वर के कारण वैसे

ही मुँह का स्वाद खराब रहता, ऊपर से अरहर के दाल का 'जूस' (रस) पीने को दिया जाता। दाल तो मुझे स्वस्थ रहते वक्त भी विष मालूम होती, फिर बीमारी में कैसे पसन्द आती ? मैंने भी एक तरीका निकाल लिया था। पेट दर्द का बहाना करके छटपटाने लगता, नानी घबराकर उपचार करने आतीं। उनसे सिर्के का लहसुन माँगता। नानी भूल जातीं, कि पेट के दर्द के लिए सिर्के का लहसुन अच्छा होते भी जाड़ा-बुखार में हानिकारक है। फल होता, ज्वर छूटने के साथ तिल्ली का बढ़ना। ज्वर छूटते ही फिर स्कूल। अब दोपहर के खाने को भुना हुआ चना या दूसरा दाना नहीं दिया जाता, बल्कि घर की बनी पूड़ी मिलती, जो अक्सर मीठी होती थी। नानी को इतना ही मालूम था, कि घी की पूड़ी में ताकत होती है, और ताकत आने पर तिल्ली दब जाती है। तिल्ली पन्दहा में कम खतरनाक बीमारी न थी। सतमी का लड़का मुद्धू और हमारे कुछ दिनों के स्कूल के साथी सम्पत् तिल्ली से ही मरे थे।

नाना ने मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाकर रखा था, इसलिए उनके भतीजों, विशेषकर बड़े भाई के लड़कों को बुरा लगना स्वाभाविक था। कभी-कभी दोनों घरों में कहा-सुनी भी हो जाती। मुझे ये बातें कुछ विचित्र-सी मालूम होतीं, और दुःख इसलिए होता कि जेठे नाना के घर मेरा जाना कुछ दिनों के लिए रुक जाता। वहाँ मेरी पाँच मामियाँ थीं, जिनमें सबसे छोटी–रामदीन मामा की प्रथम स्त्री–मुझे बहुत मानती थी, और मैं अक्सर इन मामी साहिबा के दरबार में हाजिर हुआ करता। उस वक्त मुझे यह भी मालूम नहीं था, कि भाजे को मामी से मजाक करने का हक है। यह बात तो पीछे छोटी नानी से मालूम हुई, जब फागुन के दिनों में मैं उनके आँगन में सूरजबली मामा की स्त्री के पास चुपचाप बैठा था। छोटी नानी ने कहा–'आधी मामी आधी जोय। पद लागे तो सवरो होय।'

8

रानी की सराय की पढ़ाई (3)

1903 ई. में मैं दर्जा 2 पास हो गया। दर्जा 3 की नयी पुस्तकें पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि वे पहिले से सख्या में अधिक और मोटी थीं।

इसी साल की पाठ्य पुस्तक (मौ. इस्माईल की उर्दू की चौथी किताब) में मैंने नवाजिन्दा बाजिन्दा की कहानी (खुदराई का नतीजा) पढ़ी। उसमें बाजिन्दा के मुँह से निकले, "सैर कर दुनिया की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ। ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ"–इस शेर ने मेरे मन और भविष्य के जीवन पर बहुत गहरा असर डाला, यद्यपि वह लेखक के अभिप्राय के बिलकुल विरुद्ध था।

1904 की जनवरी से फिर मैं उसी तरह रानी की सराय पढ़ने जाता। शायद इसी साल, दो साल की प्रतीक्षा के बाद दलसिंगार को फिर पढ़ने की इजाजत मिली। दलसिंगार अब मुझसे दो दर्जा नीचे थे, और हम टाट पर दो जगह बैठते थे। तो भी रास्ते में आते-जाते तथा घर पर हमें अधिक साथ रहने का मौका मिलता था, हम दोनों को इसके लिए बड़ी प्रसन्नता थी। किन्तु यह प्रसन्नता देर तक नहीं रही। कुछ ही महीने बाद शायद बरसात के अन्त में दलसिंगार सख्त बीमार पड़ा। मैं हर रोज देखने जाता। कौन बीमारी थी, यह मुझे मालूम नहीं। आखिरी दिनों में मैंने देखा, उसका मुँह बहुत सूज गया है, और आँखें सूजन में ढँक गयी हैं। जब दरवाजे पर पहुँचता, तो दलसिंगार की माँ मुझे दौड़कर भीतर ले जातीं। शायद उन्हें मालूम था कि बीमारी बहुत सख्त है। शायद उनको विश्वास था कि उनके घर में विद्या नहीं 'सहती' और जो गति उनके दो पढ़े-लिखे देवरों की हुई, वही दलसिंगार की भी होनेवाली है। वह जानती थीं, कि जब मैं दलसिंगार के पास रहता हूँ, तो वह अपने दर्द को भूल जाता है।

दलसिंगार आखिर चल बसा। इसी वक्त सर्वप्रथम मुझे मृत्यु के चोट का अनुभव हुआ। मैं रोता नहीं था, बल्कि मेरे हृदय में एक तरह की असह्य एकान्तता का अनुभव होता था। मेरे दिमाग में मौत के बारे में

तरह-तरह के खयाल पैदा होते थे।–मरकर टलसिगार गया कहाँ ? अगर कही गया है, तो क्या मैं उससे मिल नही सकता ?

रेल और प्लेग का चोली-दामन का सम्बन्ध है, यह धारणा गाँव के लोगो में आम पायी जाती थी, और उसी की पुष्टि हुई, जबकि 1904 के अक्तूबर-नवम्बर मे रानी की सराय मे चूहे गिरने लगे। चूहों को फूँक देना, घर को छोड देना–आदि-आदि बातो की हिदायत सरकार की ओर से छपकर पुलिन्दे के पुलिन्दे हमारे स्कूल में बॉट देने के लिए आते थे। बाबू पत्तरसिह ने स्कूल को हटाकर दो मील उत्तर रेल की सड़क पर के गॉव मैनी मे ले जाना तै किया। इतने लडको के बैठने लायक वहॉ मकान कहॉ से मिले। जाडों का दिन था, पढ़ाई खुले आसमान के नीचे होती थी। उसी समय रमजान पडा, और हमारे नायब-मुदर्रिस मुशी अब्दुलकदीर सूर्यास्त के समय दातुवन करते देखे जाते। पन्दहा में भी प्लेग आ गया था, इसलिए मुझे मैनी ही में रहना पड़ता। यही पहिल-पहिल अपने हाथ से खाना बनाने और दाल खाने की नौबत आयी। मेरी दाल कभी भी गलती न थी, लेकिन न जाने वह क्यो बहुत मीठी मालूम होती थी।

ब्याह मे जेठे भाई की जरूरत होती है, क्योंकि ब्याह की विधि में ज्येष्ठ द्वारा दुलहिन के गले मे एक लाल-सूत (ताग पाट) डालना आवश्यक है। यागेश कुछ महीने मुझसे छोटे थे, इसलिए उनके ब्याह मे यह रसम मुझे अदा करनी थी। बारात देखी तो मैंने जरूर थी, किन्तु बाराती बनकर जाने का यह मेरे लिए पहिला अवसर था। जिस समय मै मैनी मे पढ रहा था, उसी वक्त बछवल में यागेश का 'तिलक' चढ़ा। ससुरालवाले वैभव दिखलाने के लिए अपने साथ दो हाथी लाये। अब इसका जवाब देना बारात ले जानेवालों के लिए जरूरी हो गया। महादेव पडित ने अपने भतीजे की बारात में जितने हाथी हो सके, उतने ले आने के लिए अपने सम्बन्धियों के पास सन्देश भेजा। कनैला से जब सन्देश पन्दहा पहुँचा, तो नाना ने दो हाथी ठीक किये। मेरी परीक्षा समाप्त हो चुकी थी, उन्हीं के साथ मैं पहिले कनैला, फिर जखनियाँ के पास बारात के गाव पडरी गया। 21, 22 हाथी जमा हुए थे। बारात बडे धूम की रही। लडकीवालों ने भी खूब हौसला दिखलाया, और बारातियो को खाने पीने की शिकायत नही हुई। मेरे लिए हाथियों का जमावड़ा, दर्जनों घोड़ों की घुड़दौड़, धूमधाम से द्वारपूजा, दो रात नाच गानों डरान सुनने का मजा रहा। हॉ, जिन्दगी में पहिले पहिल इसी वक्त मुझे जूता पहिनने को मिला था। ठोक पीटकर उसे अपने से इयोढ़े पैर के लिए बनाया गया था, और उसने दस ही मिनट चलने पर आधे दर्जन जगहों मे काट खाया। बारात में नगे पैर घूमना इज्जत के खिलाफ था, इसलिए काटने में जो और भी कसर बाकी थी, वह भी पूरी हो गयी। यह सब हो जाने के बाद तीसरे दिन जब बारात विदा होनेवाली थी, तो एक जूता ही गायब। यागेश के चचेरे भाई और मेरी बुआ के बड़े लडके रामेश बारात में सहबाला (शाहबाला) बनकर गये थे। रडी के नाच गाने और खासकर 'मिलन' के दिन की उसकी बीभत्स गालियो को तो मैंने भी सुना था, किन्तु रामेश उनमें एकाध कडी को कठस्थ कर चुके थे, और बडी तत्परता से घर की स्त्रियों के सामने उन्हे राग से अलाप रहे थे। मै तो शर्म के मारे गडा जाता था।

बारात से लौटकर आने पर मालूम हुआ, बाबू पत्तरसिह का प्लेग मे देहान्त हो गया। शायद नायब मुदर्रिस भी बदल गये थे, अब हमारे स्कूल मे दो नये जवान अध्यापक आये थे, बडे अध्यापक बाबू लालबहादुरसिह नगरा (बलिया) के रहनेवाले थे, और उनकी बलियावाली 'रउआँ' वाली बोली हमे दूसरे द्वीप की भाषा मालूम होती थी। बाबू पत्तरसिंह जितने ही क्रोधी थे, बाबू लालबहादुरसिह उतने ही शीतल थे, उनके मुँह पर सदा हँसी बनी रहती थी। हमे अफसोस यही था, कि वे स्थायी अध्यापक होकर नही आये है, क्योंकि वे नार्मल पास नही है। दूसरे अध्यापक का नाम याद नही, वह करहा के रहनेवाले योगी (मुसलमान) थे, उनका ननिहाल निजामाबाद के पास पडता था, और पन्दहा के रास्ते मे पड़ने से वे अक्सर नाना के घर आते रहते थे। वह भी मार-पीट बहुत कम करते थे। यह कहने की आवश्यकता नही कि लडके इस युगल जोडी को सदा बने रहने की प्रार्थना किया करते थे।

1904 की गर्मी चल रही थी। स्कूल की छुट्टी हुई, प्लेग अब भी चल रहा था। मुझे फिर कनैला जाना पड़ा, शायद एकाध मास के लिए। उस वक्त बछवल की बुआ भी कनैला आयी थी, और रामेश तथा मै धरवारा–तीन

मील से अधिक दूर–रोज पढ़ने जाया करते थे। यह सिलसिला ज्यादा दिन नहीं चला। मुझे फिर पन्दहा लौट जाना पड़ा। लेकिन वहाँ एक और मुसीबत पड़ी। मेरा ब्याह करने के लिए नाना की ससुराल के एक सज्जन एक बार आ चुके थे। नाना या नानी की शायद उन्हें अर्धस्वीकृति भी मिल चुकी थी, तभी तो हिम्मत करके अचानक–कम से कम मेरे लिए तो अवश्य–वे तिलक चढ़ाने के लिए आ पहुँचे। नाना शायद स्वयं असहमत थे, अथवा पिताजी की असहमति का उन्हें डर था, उन्होंने चुपके से मुझे कनैला भेज दिया। तिलक चढ़ानेवाले दूसरे दिन वहाँ जा धमके, और बहसा-बहसी के बाद कई घंटा रात चढ़े तिलक चढ़ा। उसी गर्मी में एक छोटी-सी बारात गई, और ब्याह भी हो गया। उस वक्त ग्यारह वर्ष की अवस्था में मेरे लिए यह तमाशा था। जब मैं सारे जीवन पर विचारता हूँ, तो मालूम होता है, समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने में इसने ही पहिला काम किया। 1908 ई. में जब मैं 15 साल का था, तभी से मैं उसे शंका की नजर से देखने लगा था, 1909 ई. के बाद से तो मैं गृहत्याग का बाकायदा अभ्यास करने लगा, जिसमें भी इस 'तमाशे' का थोड़ा-बहुत हाथ जरूर था। 1910-11 ई. से निश्चित तौर से मैं इसे अपना ब्याह नहीं कहता था।–ग्यारह वर्ष की अबोध-अवस्था में मेरी जिन्दगी को बेचने का घरवालों का अधिकार नहीं, यह उत्तर उस वक्त भी मैं अपने बुजुर्गों को दिया करता, जो कि ब्याह के प्रति अपना कर्तव्य मुझे समझाते। मेरा उस वक्त का ज्ञान बहुत परिमित था, तो भी मैं इसे घर और समाजवालों का अन्याय समझता था, और उसे बर्दाश्त करने के लिए तैयार न था। 1909 के बाद घर शायद ही कभी जाता था, 1913 के बाद का तो वह भी खत्म सा हो गया, और 1917 की प्रतिज्ञा के बाद तो आजमगढ़ जिले की भूमि पर पैर तक नहीं रखा (1943 से पहिले)। किसी बाकायदा तिलाक से मेरा यह तिलाक–जो वस्तुतः अस्वीकृत अबोध विवाह के लिए जरूरी भी न था–कहीं बढ़कर था, और मैंने उसी रूप में लिया था, इसलिए मैं समझता हूँ, उक्त घटना–ब्याह–के लिए समाज की जगह मुझे जिम्मेवार ठहराना गलत होगा। मैंने उसे कभी न ब्याह समझा, न उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर मानी।

जून जुलाई तक रानी की सराय के मदरसे की पढ़ाई अस्थिर सी ही रही क्योंकि प्रधानाध्यापक लालबहादुर सिंह अस्थायी थे, और उन्हें शायद छुट्टी भी जाना पड़ा। बरसात के शुरू में नये प्रधानाध्यापक मुंशी जगन्नाथराम आये। ये रानी की सराय के ही रहनेवाले थे। यद्यपि पहिले पट्टादार बाला, ऊपर की ओर सवारी मूँछों के साथ धोती का एक फन्दा अँगूठे तक पहुँचते देख हम वो पत्तरसिंह याद आने लगे, किन्तु पीछे वे बहुत मुलायम स्वभाव के निकले।

रानी की सराय के मदरसे का आसपास के इलाके में खास स्थान था, खासकर रेल के स्टेशन हो जाने पर तो स्थान का महत्त्व और बढ़ गया। ऊँचागाँव, आँवक के लोअर प्राइमरी मदरसे इसके हल्के में थे, और वहाँ के मुदर्रिस अपने यहाँ की रिपोर्टों को रानी की सराय के प्रधानाध्यापक के द्वारा ऊपर भेजते थे। उस वक्त का तो याद नहीं है, किन्तु बाबू द्वारिकासिंह के समय आँवक के इमदादी मदरसे के अध्यापक एक काफी उम्र के मौलवी थे। बगले के पर जैसा सफेद और हाथी के पैर समाने लायक उनका पायजामा, उसी तरह का साफ अचकन, बूटेदार सफेद दुपलिया लखनऊ की टोपी, दिल्लीवाला नोकदार लाल जूता, यह सब खर्चीली चीजें तो थी ही, साथ ही छोर पर तीन बल खाये तीन-चौथाई मन जैसे बालों वा सवारा पट्टा और आखों में पतला सुरमा हम गँवार लड़को के दिल में भी कुतूहल पैदा किये बिना नहीं रहता था। आँवक में कार्तिक शुक्ल षष्ठी (?) को मेला लगता था, शायद सूर्य का। एक बड़े ताल में लोग स्नान करते थे। मन्दिर और पूजा का मुझे याद नहीं, शायद मन्दिर नहीं था। गाँव में कितने ही मुसलमान सम्भ्रान्त परिवार थे, जिनमें से एक के घर उक्त मौलवी साहब रहते और लड़को को पढ़ाते थे।

अपर प्राइमरी खुल जाने पर आसपास के कई स्कूलों के लड़के रानी की सराय पहुँचने लगे थे। दर्जा चार में लड़को की संख्या तेरह-चौदह थी, जिसमें उर्दू का विद्यार्थी अकेला मैं ही था। शोभित शायद पिछड़ गये थे। सभी दर्जों में उर्दू पढ़नेवालों की संख्या बहुत कम ही होती थी। मुझे बाबू द्वारिकासिंह हो या पत्तरसिंह, लालबहादुर या जगन्नाथ सबके पास हिन्दीवाले लड़कों के साथ पाठ पढ़ते वक्त बैठा रहना पड़ता और उनके पाठ को सुनने का मौका मिलता था। लिखने का तो अवसर नहीं मिलता था, लेकिन सुनते-सुनते हिन्दी की पुस्तकों को भी मैं

वैसे ही समझ लेता जैसे अपनी उर्दू की; बल्कि हिन्दी की पुस्तकों को और अच्छी तरह समझता था; क्योंकि हमारे साथी प्रायः सभी अधिक हिन्दी-पठित और उर्दू से अल्पपरिचित थे।

सालाना इम्तिहान होता, तो रानी की सराय से उत्तर कुछ दूर पर पक्की सडक के पूर्व के बाग में स्कूल के डिप्टी-इन्स्पेक्टर का शामियाना पडता। कभी-कभी कोई असिस्टेंट-इन्स्पेक्टर भी पहुँच जाते, नहीं तो डिप्टी-इन्स्पेक्टर ही इम्तिहान लेते। आसपास के कई स्कूलों के दूसरे और चौथे दर्जे के विद्यार्थी परीक्षा देने आते। कपड़े तो उनके ऐच्छिक होते, किन्तु कश्तीनुमा टोपी का खास रग होता, और उसमें लडके का नम्बर उर्दू या हिन्दी अको मे सफेद पन्नी से काटकर चिपकाया रहता। जिस साल मैने चौथे दर्जे (अपर प्राइमरी) का इम्तिहान दिया, उस साल शामियाना नही पडा था। शायद रेल के सुभीते ने यह परिवर्तन उपस्थित किया हो। जिले के डिप्टी इन्स्पेक्टर और दो-तीन सब-इन्स्पेक्टर पहिले ही दिन शाम का पहुँच गये थे। असिस्टेंट इन्स्पेक्टर बाबू व्रजवासी लाल आनेवाले थे। दस बजे की गाडी चली गयी, तो डिप्टी लोगों ने समझा अब वह नही आवेंगे, और उन्होने हम लोगों का इम्तिहान लेना शुरू कर दिया। दो फेल बाकी सभी लडके पास हुए, और ज्यादा लड़के तो 'कलई' (पूर्ण) पास।

व्रजवासीलाल, वस्तुतः, गाडी मे सो गये थे। दो स्टेशन आगे जाने पर उनकी नीद खुली तो उतर पड़े, और दूसरी गाडी से 3 बजे के आसपास हमारे स्कूल मे पहुँचे। व्रजवासीलाल अपनी कड़ाई के लिए काफी बदनाम थे, लेकिन किसी को यह आशा न थी, कि वह दुबारा परीक्षा लेने का आग्रह करेगे। आते ही उन्होंने पहिले के परीक्षा फल को रद्द कर दिया और फिर से परीक्षा लेना शुरू किया। परिणाम बिलकुल उल्टा निकला। सारे दर्जे मे सिर्फ दो लड़के पास हुए—मैं और गिरिधारीलाल, जिसमे गिरिधारीलाल भी शर्तिया या रियायती पास हुए थे। लड़कों मे कुहराम मच गया, इसके कहने की आवश्यकता नही। हिन्दी-शिक्षावली (चौथा भाग) शायद उस समय हमारे दर्जे की पाठ्य पुस्तक थी। व्रजवासीलाल के प्रश्न शब्दो के रटे हुए अर्थ के बारे में उतने न होते थे, जितने कि विद्यार्थी की चतुराई देखने के लिए। जिन प्रश्नो के उत्तर देने में मेरे दर्जे के लड़के चुप रह रहे थे, उनका उत्तर देने को मैं व्याकुल हो रहा था, यद्यपि मैं हिन्दी का विद्यार्थी न था। इसमें शक नही यदि मुझे हिन्दी में भी परीक्षा देने का मौका मिलता, तो मैं उसमें कलई पास हुआ होता।

खैर, परीक्षा समाप्त हुई। मैं अच्छे नम्बरों से पास हो गया, इसे सुनकर नाना-नानी को बहुत प्रसन्नता हुई। महावीरजी को अगले मगल सवा सेर लड्डू चढ़ाया गया, वही महावीरजी जो रानी सागर के उत्तरी घाट पर रहते थे, और जहाँ पर दूर-दूर के साधु-सन्तो और मृदंग मे रेल की आवाज निकालनेवाले उस्ताद मदनमोहन के दर्शनों का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सारे जिला के अपर प्राइमरी पास लडकों की छात्रवृत्ति की प्रतियोगिता की अभी एक और परीक्षा मुझे देनी थी, इसलिए इम्तिहान की छुट्टियों मे कनैला जाने का अवसर न था। माँ छै-सात महीने से बीमार थी। पहिले मेरे सबसे छोटे भाई श्रीनाथ के जन्म के समय प्रसूत ज्वर हुआ, और वही आगे बढ़ते-बढ़ते पाण्डुरोग में परिणत हो गया। बीमारी मे एक बार मैं जरूर देखने गया था, किन्तु तब अवस्था उतनी अबतर नही हुई थी। मेरे पिता का स्वभाव था—जब जिसकी आवश्यकता पड़ी, तब उसी ज्ञान की प्राप्ति मे जुट पड़े,—अब वह रसराज महोदधि पर पिले हुए थे, और शायद उन्होंने माँ को अपनी बनायी एकाध दवा खिलायी हो, तो भी तअज्जुब नहीं।

जनवरी (1906 ई.) का महीना था। प्लेग के कारण अबकी बार स्कूल रायपुर गया हुआ था, और मैं वहाँ से पढ़कर घर लौट रहा था। कुल्हाडवाले घर मे हमारे घर का द्वार छिपा हुआ था, लेकिन कूएँ पर मैंने माँ की सखी दिलासी को पानी भरते देखा। मुझे देखते ही वह घडे को मन पर रखकर जरा-सा ठमक गयी, और फिर आँखों से झरझर आँसू बहाते अपने पर काबू न रखते बोल उठी—'अब बच्चे को बहिनी का मुँह देखने को नही मिलेगा।'

एक ही दिन पहिले खास सन्देशा आया था, और नाना जल्दी-जल्दी कनैला गये थे। दिलासी के शब्दों से मुझे मालूम हो गया, कि माँ का देहान्त हो चुका। दिलासी अहिरिन मेरी माँ की सखी थी। बचपन मे लडकियों

मिठाई या दूसरी चीज–एक दूसरे के दाँत की कटी हुई–को खाकर सखी बनती हैं। एक सखी दूसरी सखी का नाम नहीं ले सकती। वे आपस में झगड़ा नहीं कर सकती। ब्याह के बाद तो अपनी-अपनी ससुराल चली जाती हैं, इसलिए यह सखित्व अचल स्थायी बन जाता है, क्योंकि उनमें पारस्परिक वैमनस्य की गुंजाइश नहीं रह जाती। दिलासी मेरी माँ की वैसी ही सखी थी। उसका ब्याह हुआ था, किन्तु मै उसे हमेशा अपने भाइयों के घर में ही देखता था। शायद पति-पत्नी में झगड़ा रहता हो। दिलासी मुझको लड़के की तरह मानती थी। वह गरीब थी, इसलिए उसका प्रेम उसके भावों में ही प्रकट हो सकता था। दिलासी ने, मै शायद घबरा जाऊँ–इसी डर से अपने ऊपर पूरा नियंत्रण कर अपना वह उद्‌गार प्रकट किया था।

घर में जाने पर देखा–नानी विह्वल हो रो रही हैं। नाना अलग आँसू बहा रहे हैं। मेरे कलेजे में भी ठंडी हवा के झोंके धक्का देते थे, चित्त में एक अजीब तरह का अवसाद मालूम होता था, तो भी न मैं चिल्ला रहा था, न आँखों में आँसू का नाम था। मै एक घोर चिन्ता में पड़ गया था। रह-रहकर माँ का चेहरा मेरे मानस नेत्रों के सम्मुख आता। मर जाने की बात से चित्त विकल होने लगता, फिर खयाल आता, नहीं माँ से भेंट जरूर होगी, शायद वह फिर जी जायेगी–मुर्दे जी जाते भी सुने गये हैं; शायद वह यमराज के यहाँ से लौट आवे. मरे हुए आदमी चिता पर जी जाते देखे गये हैं। लेकिन यदि कहीं माँ को जला दिया गया हो–नाना ने कहा था, कि उसे गंगाजी जलाने को ले गये, तो फिर ? तो भी मैं निराश नहीं होता था, मुझे विश्वास ही नहीं पड़ता था, कि माँ फिर नहीं आयेगी। ग्यारह वर्ष की अवस्था में भी लड़के विस्तृत ज्ञान रखनेवाले देखे जाते है, लेकिन मेरी परिस्थिति उन लड़कों की-सी नहीं थी। मै एक गाँव में पैदा हुआ था, और ऐसे नाना के घर में, जिन्होंने अँगूठा लगाने के डर से सिर्फ अपना हस्ताक्षर-भर करना सीखा था। मुझसे अधिक पढ़ा न नाना के गाँव में कोई था और न कनैला में। बहुश्रुत, बहुवित्, बहुदर्शी पुरुषों का दर्शन और संग भी मुझे अप्राप्य था। धार्मिक कथाओं के सुनने का भी अवसर नहीं मिलता था। इस प्रकार मेरे आँसू न 'ब्रह्मज्ञान' के कारण रुके हुए थे, और न किसी और तत्त्व-साक्षात् के कारण। मेरी सान्त्वना और धैर्य का कारण एक भोले-भाले ग्रामीण लड़के का सीधा-सादा विश्वास था। श्राद्ध के वक्त कनैला जाने पर यद्यपि माँ के लौटने का विश्वास कम हो गया था, तो भी कातरता नहीं आने पायी थी। शायद, इसमें बँटा हुआ स्नेह भी कारण हो सकता है। आखिर, साल में साढ़े ग्यारह महीने के लिए तो नानी मेरी माँ थी–और मैं उन्हें माँ के ही नाम से पुकारता भी था।

9

एक कदम आगे

रानी की सराय की पढ़ाई समाप्त हो गयी। पन्दहा से नजदीक 3-4 मील पर निजामाबाद का मिडल स्कूल पड़ता था, नाना ने मुझे वहीं भेजने का निश्चय किया। यद्यपि मार्च (?) के महीने में अभी छात्रवृत्ति-प्रतियोगिता की परीक्षा में शामिल होना था, किन्तु फरवरी (190 ई.) मे ही नाना निजामाबाद में पहुँचा आये। उस वक्त वहाँ भी प्लेग था, और स्कूल टौंस नदी के उस पार एक नील के गोदाम में चला गया था। यद्यपि उस वक्त तक, नील की खेती बन्द हो जाने के कारण आम तौर से पुराने नील-कारखाने गिर-पड़ गये थे, किन्तु इस कारखाने के सभी मकान अभी साबित थे। मकानों के भीतर नील की बटियों के रखने या सुखाने के लिए तह पर तह जमाये बाँस के चौंचरों के तख्ते भी मौजूद थे। इन्हीं चौंचरों पर रात को हम लोग सोते थे। अभी तक अपने दर्जे में मैं उर्दू के अकेले-दुकेले लड़कों में था, किन्तु यहाँ हिन्दीवालों का बहुमत होते भी उर्दूवाले भी काफी संख्या में थे। यहाँ का वायुमंडल गाँव से अलग-सा मालूम होता था। मेरे दर्जे में जनकसिंह, द्वारिकाप्रसाद और दो-तीन और निजामाबाद कसबे के रहनेवाले लड़के थे, सभी उर्दू पढ़ते थे, इसलिए हम सबका उठना-बैठना एक साथ होता था। कस्बाती लड़के अपनी नागरिकता के घमंड में, हम सबको दिहाती कहकर चिढ़ाते

थे, और हम लोग भी उन्हें कोई न कोई पदवी दिये बिना नहीं रहते थे। यह कस्बाती और दिहाती संस्कृति का झगड़ा बहुत दिन तक नहीं चलता था। कुछ ही महीनों में अधिकांश दिहाती लड़के भी कस्बाती संस्कृति में दीक्षित हो जाते थे। हाँ, हमारे निजामाबाद के गौड़-कायस्थ 'आइन'-'गइन'वाली जो अवधी बोलते थे, उसे हम नहीं सीख पाते थे।

अभी बाकायदा पढाई नहीं हो रही थी। बाहर से आनेवाले नये लड़के भी बहुत कम आ पाये थे। मिडल-वर्नाक्यूलर का इम्तिहान मार्च या अप्रैल में होता था, इसलिए नये दर्जे की पढ़ाई उसके बाद से ही होती थी। मेरे कस्बाती सहपाठी भी छात्रवृत्ति-प्रतियोगिता की तैयारी कर रहे थे, मैं भी उनके साथ शामिल हो गया। मैं गणित का अच्छा विद्यार्थी था, और दूसरे विषय भी मेरे अच्छे थे। हमारे रानी की सराय के अध्यापक का कहना था, कि मैं जरूर छात्रवृत्ति पाऊँगा; किन्तु जब मैंने यहाँ अपने साथियों को घड़ी तथा दूसरे हिसाब को लगाते देखा, और पूछने पर मालूम हुआ कि यह भी दर्जा 4 के पाठ्य मे है, तो मुझे निराशा-सी हो गई। रानी की सराय के पाठ्य-विषय में अज्ञता या आलस्य के कारण कितनी ही बाते नहीं पढ़ाई गई थीं। शुरू ही से मेरे उर्दू पढ़ानेवाले अध्यापक—द्वारिकासिंह, पत्तरसिंह, लालवहादुर सिंह या जगन्नाथराय—सभी जबर्दस्ती उर्दू पढाते थे, और इसीलिए निजामाबाद के साथियों के मुकाबिले मे मुझे अपनी उर्दू कमजोर जँचती थी। अब प्रतियोगिता के लिए समय भी कम रह गया था, इसलिए कमी के पूरा करने की सम्भावना नहीं थी, और इसी बीच रानी की सराय के अध्यापक का सन्देश पर सन्देश आने लगा—प्रतियोगिता की सफलता का श्रेय उन्हें मिलनेवाला था, इसलिए वह विशेष तैयारी कराने के लिए उकता रहे थे। रानी की सराय पहुँचने पर जब मैंने घड़ी के तथा दूसरे हिसाबों को निजामाबाद में लगाये जाने की बात कही, तो उन्होंने यह कहकर टाल दिया—वे लोग अगले साल का हिसाब लगा रहे हैं। आजमगढ़ से उत्तर मँदुरी में पोखरे के पास के बड़े बगीचे में सारे आजमगढ़ जिले के दर्जा 4 मे 'कतई' पास लड़के परीक्षा देने आये। आधे हिसाब वे ही आये, जिन्हें हमारे अध्यापक दर्जा 5 का पाठ्य समझते थे। परिणाम के लिए कम से कम मुझे प्रतीक्षा करने की आवश्यकता न थी।

मार्च या अप्रेल मे, जब मैं निजामाबाद में हमारी बाकायदा पढ़ाई शुरू हुई, तब तक प्लेग चला गया था, और स्कूल अपने मकान में चला आया था। मिडल स्कूल का मकान भी शकल-सूरत मे रानी की सराय के मकान ही जैसा था। वैसा ही बीच में बडा हाल, चारो तरफ बराडा, खपड़ैल की छाजनी—हाँ, जहाँ रानी की सराय में बराडे में कोनों पर सिर्फ दो कोठरियाँ थी, वहाँ यहाँ चारो कोनो पर चार कोठरियाँ थी, और हाल बहुत बड़ा था। हाल में दक्षिण तरफ प्रधानाध्यापक मौलवी गुलाम गौसखाँ, बीच में द्वितीयाध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय, और उत्तरी छोर पर तृतीयाध्यापक बा. जगन्नाथराय की कुर्सियाँ, और तीन तरफ तीन बेंचों से घिरी तीन मेजें थीं—तृतीयाध्यापक की जगह पहिले एक मौलवी थे। उत्तर और दक्षिणवाले अध्यापक क्रमशः दक्षिण और उत्तर मुँह बैठते थे, और श्रोत्रिय जी पूरब मुँह। अध्यापकों की कुर्सी के पीछे थोड़ा-सा बाएँ हटकर तख्ता-स्याह (ब्लेक-बोर्ड) रहा करता था। लड़के पाठ लेते वक्त अध्यापक के सामने बेंचों पर बैठते थे, नहीं तो पूरबवाली दीवार की जड़ में उनके बैठने के लिए जमीन पर दो फुट चौड़े टाट की पट्टी बिछी हुई थी। हाल के पश्चिमवाले बराडे में ब्रांच-स्कूल था, जिसमें लोअर और अपर प्राइमरी के लड़के पढ़ते थे। पडित गगा पांडे उसके प्रधानाध्यापक, हमारे दूर के रिश्ते मे पड़ते थे, इसलिए कितने ही समय तक मेरी रसोई उनके साथ बनती थी। इस बराडे के पीछे कुछ खाली जमीन थी, जिसमें हारीजेंटलबार, पेरेललबार और कूदने के लिए एक अखाड़ा था। बार का इस्तेमाल होना शायद ही मैंने कभी देखा था, किन्तु अखाड़े में कूदने का कभी-कभी मुझे मौका मिला था, और लम्बी तथा ऊँची कुदान मैं भी काफी कूद लेता था; यद्यपि सबमें प्रथम होनेवाले हमारे सहपाठी सरयूसिंह थे। अखाड़ा कोनेवाली कोठरी के करीब था, और उसके बाद ही हरफ़ा-रेवड़ी का एक दरख्त था; जिसके छोटे-छोटे खट्टे फलों को हम बड़े चाव से खाते थे। स्कूल के पूरबवाले बराडे के बाहर एक लम्बा-सा पक्का प्लेटफार्म था, जो प्लेटफार्म के खयाल से उतना नहीं बना था, जितना कि चार-पाँच फुट नीचे से जानेवाली सड़क में गिरमैयाले पानी की धार से स्कूल की इमारत की हिफ़ाजत के खयाल से। शाम के वक्त कभी-कभी हमारा पाठ इस प्लेटफार्म पर भी होता था।

सड़क की दूसरी तरफ दो जगह बोर्डिंग की कोठरियों की कतारें थी, जो स्थानीय एक बड़े जमीदार सरदार नान्हकसिंह (?) की सम्पत्ति थी। कोठरियों के बराडों ही में रसोई बनाने के चूल्हे थे।

नाना ने मेरे रहने का इन्तिजाम बाजार में एक ठाकुरबाड़ी में किया था। ठाकुरबाड़ी कस्बे के एक व्यापारी, शायद महँगी साहु की बनवाई हुई थी। पुजारी बूढ़े, नाटे, किन्तु काम-काज में बड़े फुर्तीले एक आचारी साधु थे, जो बात-बात मे साहु को दस सुना देना अपना कर्तव्य समझते थे। पता ही नहीं लगता था, कि ठाकुरबाड़ी के मालिक पुजारीजी हैं या साहु। यद्यपि पुजारी के कथनानुसार, ठाकुरबाड़ी में क्या लगा था,—मुर्दों के कब्रों को खोदकर लाई लाखौरी ईंटे और कुछ चूना सुर्खी, किन्तु वस्तुतः वह एकदम इतनी खराब न थी। ठाकुरजी (शायद राम-लक्ष्मण-सीता) की कोठरी के तीन तरफ परिक्रमा की गली, फिर दो कोठरियाँ, सामने सभामडप—झाड़-फानूस से मुसज्जित, जिसके उत्तर-दक्खिन में कोठेदार बारहदरियाँ, सामने छोटा-सा पक्का आँगन, जिसके एक कोने में मीठे पानी की पक्की कुइयाँ, आँगन के उत्तर दक्खिन दो कोठरियाँ। बाहर का दरवाजा बाजार की सड़क पर खुलता था।

यद्यपि मैनी में एकाध महीने कच्ची-पक्की रसोई मैं बना चुका था, किन्तु वह मेरे और नाना-नानी के विचार मे सन्तोषजनक न था; इसलिए और लड़के को अनुशासन में रखने के खयाल से भी मुझे इस ठाकुरद्वार में रखना पसन्द किया गया। पुजारीजी पक्के आचारी थे, इसलिए रसोई के भीतर मुझे जाने की इजाजत ही कहाँ से हो सकती थी ? पानी बासन का काम भी उनके एक शिष्य किया करते थे। पुजारी को गुस्सा बहुत जल्द आ जाया करता था, तो भी उनका बर्ताव मेरे प्रति बहुत अच्छा था। पढ़ाई रानी की सराय की तरह सारे दिन-भर नहीं चला करती थी, वह शुरू होती थी दस बजे से खेल-कूद लेकर शाम को स्कूल से छुट्टी मिलती थी। स्कूल ठाकुरद्वारे से कुछ दूर था। पुजारी एक क्षण भी चुपचाप बैठ नहीं सकते थे। स्नान, पूजा, झाड़ू बहारू, रसोई-अर्मनिया, दिया-बत्ती, पोथी-पाठ—कुछ न कुछ काम उनका हर वक्त लगा रहता था। कहने को मैं अब धर्मस्थान में था, किन्तु मै वैसा का वैसा ही कोरा रहा, और मुझ पर भक्तिभाव की एक छींट भी पड़ने न पायी। पुजारीजी सिखाने-पढ़ाने की कभी कोशिश नहीं करते थे। कुछ दिनों बाद हमारे दर्जे का एक राजपूत लड़का भी ठाकुरद्वारे में रहने के लिए आ गया, उसके बाद से तो हमारी दुनिया ही अलग हो गयी।

तीन चार मास रहते रहते मेरा मन ठाकुरबाड़ी से उदास हो गया। कारण, शायद पुजारी का चिड़चिड़ा मिजाज था। नाना ने बोर्डिंग में रहने की इजाजत दे दी। उत्तर के बोर्डिंग में दक्खिन के छोरवाली कोठरी में हम दो या तीन लड़के रहते थे। रसोई अध्यापक गंगा पांडे के साथ थी। दाल, चावल, तरकारी तो मैं बना लेता था, किन्तु रोटी पांडेजी को सेकनी पड़ती थी उस मुझ पर छोड़ते पर तो उन्हें शायद राज लवणभास्कर की जरूरत पड़ती।

निजामाबाद पुराना कस्बा है। कहते हैं, औरंगजेब के एक लड़के आजमशाह के नाम से आजमगढ़ बसा, दूसरे निजामशाह के नाम से निजामाबाद। यह मैं उस समय की सुनी-सुनाई बातों को कह रहा हूँ। हो सकता है, निजामाबाद और पहिले से चला आया हो, और बस्ती तो मुसल्मानी समय से पहिले की भी हो सकती है, वहाँ के कुछ स्थानो को रजभड़ों के राज्य से सम्बद्ध किया जाता था। किसी समय निजामाबाद की बस्ती और दूर तक फैली हुई थी, यह उसके पुराने आबादी के चिह्न बतला रहे थे, जिनमें से कितने की दीवारें अब भी खड़ी थीं। छोटी-पतली लाखौरी ईंटो की इमारतें, मेहराब और कब्रें तो जगह जगह खड़ी और गिर-पड़ रही थी ! कितने ही तहखानों, जमीन के भीतर बने अलद्दीन के महल जैसे महलों, तालाबों की कथाएँ मशहूर थीं। पुजारीजी के कहने मे कुछ सच्चाई भी थी, उनका ठाकुरद्वारा ही नहीं कितने ही और भी मकान निजामाबाद मे इन्ही पुरानी इमारतों की ईंटो से बने थे।

कस्बे के मुसलमानो की सख्या काफी थी। पश्चिम तरफ के काजी साहेब की जमीदारी यद्यपि बहुत कुछ बिक चुकी थी, तो भी उनकी प्रतिष्ठा बहुत थी। ये लोग गया थे, और निजामाबाद का अलम (झंडा) गाड़ी पर रखे बड़े-बड़े तबल के साथ बहुत धूमधाम से निकलता था। काजी-परिवार में कोई प्रसिद्ध व्यक्ति उस वक्त नहीं था। उनके महल और पक्की चहारदीवारी के भीतर लगे तरह-तरह के फल के बगीचे मेरी नजर में उस समय

दुनिया की अद्भुत माया-सी जान पड़ते थे। काजी-परिवार की सम्पत्ति कैसे नष्ट हुई, इसके बारे में बहुत-से कथानक प्रसिद्ध थे। कोई कहता, उनके पाखाने की दीवारो में अतर पोता जाता, कोई कहता झुड की झुंड रडियाँ उनके यहाँ इन्द्रसभा रचाती थी। मेरे सामने उनके घर जौनपुर से एक बारात आयी। खूब कागज की फुलवारी, बाजा-गाजा, गैस की रोशनी का जलूस निकला। नामी-नामी तवायफ नाचने आयी थी। शादी के बाद भी दामाद साहेब शायद एकाध महीने तक ससुराल मे रहे। काजी-परियार बादशाही जमाने मे शहर के काजी (न्यायाधीश) रहे होगे, इसके कहने की आवश्यकता नही। हो सकता है, ये लोग जौनपुर की बादशाहत के जमाने मे यहाँ आये हो, और निजामाबाद भी उसी समय उन्नति के शिखर पर पहुँचा हो। निजामाबाद टौस नदी के किनारे होने से व्यापार के लिए अनुकूल स्थिति मे था। हो सकता है, पहिले यह व्यापार का भी एक अच्छा केन्द्र रहा हो। यद्यपि रेल के आने के बाद रानी की सराय का सितारा ओज पर था, उसकी दूकाने मेरे देखते देखते सख्या और धन दानो मे बढ गई थी। नये आये मारवाडी व्यापारियो ने तो कपडे की थोक-बिक्री का कारबार शुरू करके रानी की सराय को आसपास के इलाके का व्यापार केन्द्र बना दिया था। निजामाबाद रेल के-स्टेशनो-रानी की सराय और फरिह से 4, 5 मील दूर था, इसलिए वहाँ व्यापारिक उन्नति की बहुत सम्भावना न थी, तो भी वहाँ की पैठ बडी थी। निजामाबाद अपने बेल-बूटा किये काले मिट्टी के बरतनो के लिए जिले ही मे नही प्रान्त म भी काफी विख्यात था। निजामाबाद के कुम्हारो मे अधिकाश मेरे नाना के चचा क यजमान थे। कथा पूजा हान पर भोज म मेरा बुलावा जरूर होता था, और परनाना की साली-जिन्हे गॉव-भर मौसी कहा करता था-के हाथ की बनी परवल की तरकारी मझे खास तौर से पसन्द आती थी।

निजामाबाद के पूरब छोर पर एक और प्रतिष्ठित मुस्लिम-परिवार रहता था। इनके पास अभी काफी जमींदारी थी। उनका एक गॉव रानी की सराय से पूरब पडता था, और घर के एक तरुण का भोटिया (नेपाली ?) टॉगन पर कदम उडाते अक्सर मैं पन्दहा और रानी की सराय के बीच देख चुका था। उसके ही घोडे की सवारी को देखकर, बल्कि रानी की सरायवाले काल मे कितनी ही बार मेरी इच्छा होती-एक तेज घोडा रहता, और एक विलायती कुत्ता (यह भाव शायद बाबू द्वारिकासिह की कुत्ती मे मिला था), घोडे का दौडाते हुए मैं चलता, और कुत्ता पीछे-पीछे भागता आता।

कस्बे के तीसरे बडे रईस सरदार नान्हकसिह (?) थे। पुराने बादशाही जमाने मे ही निजामाबाद मे गौड-कायस्थ और उनके पुरोहित सनाढ्य ब्राह्मण बस गये थे। ये लोग जिले की साधारण आबादी मे द्वीप की भाँति थे। इन परिवारो को अपनी शादी-ब्याह के लिए दूर-दूर जिलो की खाक छाननी पडती थी। इनमे यद्यपि केशधारी सिख कम थे, किन्तु थे सभी सिख। कस्बे के भीतर एक सगत (गुरुद्वारा) थी, और बाहर नदी के घाट पर भी एक मन्दिर-सा था। सगत के महन्त बाबा सुमेर सिह थे। सगत मे कभी कभी कडा-प्रसाद (हलवा) बँटता, जिसे लेने के लिए हम स्कूल के लडके बराबर पहुँच जाया करते थे। हमारे दर्जे म पॉच गौड लडके थे, जिनमे जनकसिह, तथा एक और बाल रखे हुए थे, और बाकी तीन बिना बाल के। पहिले मै सिखो को अलग जाति समझता था, किन्तु जब मालूम हुआ कि मेरे एक केशरहित साथी का ननिहाल सरदार नान्हकसिह के यहाँ है, दो साथियो मे एक सिख का मामा बिना केश का है; तो बडा कौतूहल हुआ। पडित अयोध्यासिह उपाध्याय का जन्मस्थान होने के कारण निजामाबाद एक साहित्यिक स्थान है, किन्तु उस वक्त मुझे इसका कोई पता न था। मुझे इतना ही मालूम था, कि पडित अयोध्यासिह कानूनगो पहिले निजामाबाद मे प्रधानाध्यापक थे, हमारे गणित के अध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय उनके विद्यार्थी और सजातीय हैं। पडित अयोध्यासिह कवि हैं, उनका उपनाम 'हरिऔध' है, इससे मैं बिलकुल अपरिचित था। हाँ, जब अपने एक साथी को अपने पिता की बनाई कवित्तो को पढ़ते देखकर मैंने भी कुछ कवित्त-सवैया गढ डाली, तो दूसरे साथियो ने बतलाया-कविता करना बड़े जोखिम का काम है, छन्द में एक मात्रा के भी टूट जाने पर बड़ा पाप होता है। उन्होने उदाहरण के तौर पर बतलाया-पहिले पडित सीतारामजी कविता किया करते थे, किन्तु इसी गलती के कारण उनके लड़के मर जाते थे। अब उन्होने कविता छोड़ दी है, तभी यह 2, 3 वर्ष का लडका जीवित है। खैर, कविता करने की मुझमें अन्तःप्रेरणा तो थी नहीं, जो भय से उसे छोड़ बैठता, वह तो देखा-देखी थी, और वहीं खतम हो गयी।

निजामाबाद में मनोरंजन की सामग्री काफ़ी थी। शीतला और नदी पार कोई दूसरा मेला लगता था। शीतला का मेला तो सावन में हर सोमवार को लगा करता था, जिसमें दूर-दूर की स्त्रियाँ शीतला देवी को 'कढ़ाई' (पूड़ी-हलवा) चढ़ाने आया करती थीं। पढ़ने के लिए आने से पहिले भी मैं एक बार नानी के साथ वहाँ आ चुका था। मन्दिर का स्मरण नहीं, एक बाग था, जिसमें कढ़ाइयाँ चढ़ती थी। शायद लड़कों के बाल काटे तथा सूअर के छौनों की बलि भी चढ़ाई जाती थी। नाचनेवाले लड़के रहते थे, मानता माननेवाली माँएँ उन्हें जमीन पर बिछे अपने आँचल के कोने पर नचाती थीं। निजामाबाद मे रामलीला भी होती थी, और उसका भरतमिलाप तो हमारे बोर्डिंग के पीछेवाले ठाकुरद्वारे के हाते में होता था। कस्बे के लाला लोग नाच-गाने के भी शौकीन थे, स्वय नाचते नहीं, बल्कि बाहर से आनेवाली रंडियां का मुजरा अक्सर कराया करते थे। हम विद्यार्थियों के लिए इन नाचों में जाना आसान काम न था। अगर पता लग गया, तो दूसरे दिन पंडित सीताराम की छड़ी बरसे बिना नही रहती। कस्बाती लड़कों से खबर-भर मिल जाया करती थी, मैं शायद एक-दो बार ही किसी हाते की दीवार फाँदकर भीतर पहुँचा था, और खड़ी हुई भीड़ के पीछे छिपकर देखता रहा। रानी की सराय मे रहते एक-दो बार डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के ड्रिलमास्टर हमारे स्कूल में भी आये थे, और उन्होंने कुछ दंड-कसरत सिखलाया था, लेकिन उनके जाते ही कहाँ का दंड और कहाँ की कसरत ? निजामाबाद में तो वैसे किसी चलते-फिरते ड्रिलमास्टर के भी दर्शन नहीं हुए। जिला-भर के स्कूलों का रस्साकशी, ड्रिल, कूद और दौड़ का टूर्नामेंट हर साल आजमगढ़ में हुआ करता था। उस साल हमारे यहाँ के भी 14-15 लडके शामिल हुए थे। इसके लिए उन्हें काले गल्ता (आधा रेशमी आधा सूती कपड़ा) के कोट बनवाने पड़े थे। दर्जी हमारे स्कूल के ही कोई भूतपूर्व विद्यार्थी थे, जो जाति से दर्जी नही बल्कि अशरफ़ खानदान से तअल्लुक रखते थे। वे बाहर घूमे हुए थे, और वहीं मशीन चलाने और दर्जी के काम को उन्होंने सीखा था। दावा तो उनका पूरे उस्ताद होने का था, किन्तु कोटों के सिलकर आने पर सभी पछता रहे थे। उनके लम्बे-लम्बे अँगरेजी बाल, तड़क भड़कवाली पोशाक मे छोटी एड़ीवाला लेडी-शू भी शामिल था, जो मेरी नजर में, उस समय अनुचित नही था, शायद टूर्नामेन्ट में हमारे स्कूल को कोई इनाम नही मिला, और मिलता क्या, सिर्फ गल्ता का कोट सिला लेने के लिए !

आरम्भ में अपने कस्बाती लडको के सामने मै अपने को हकीर समझता था। उनकी सरौते की तरह सरासर चलती जबान—सो भी 'आइन रहा' 'गइन रहा' जैसी किसी विदेशी भाषा मे—मेरे जैसे गँवारू लड़के पर रोब जमाये बिना कैसे बाकी रह सकती ? मैं जनक, द्वारिकाप्रसाद और दूसरे भी कितने कस्बाती लड़कों को बहुत तेज विद्यार्थी समझता था, किन्तु वह धाक ज्यादा दिन तक कायम न रही। तीन-चार महीना बीतते-बीतते मैं सारे दर्जे में अव्वल हो गया। गणित में जहाँ दूसरे लड़कों की रूह काँपती थी, वह मेरे लिए बायें हाथ का खेल था। इतिहास में सन् को छोड़कर और बातों को तो मैं पाठ समाप्त होने के साथ दुहरा दिया करता। भूगोल के अध्यापक बा. जगन्नाथराय तो कितनी ही बार पाठ सुनने का काम मेरे ऊपर छोड़ दिया करते। बा. जगन्नाथराय के पहिले एक कम-उमर के मौलवी कुछ दिनों तक अध्यापक रहे। सुना जाता था वे अरबी-फारसी भी जानते हैं, किन्तु हमें तो बहारिस्तान और उर्दू व्याकरण-भर पढ़ने से मतलब था। उनके चल जाने पर भाषा पढ़ाने का काम बूढ़े मौलवी गुलामगौस खाँ करते थे।

मौ. गुलामगौस ठिगने-पतले कद के 60 वर्ष के बूढ़े आदमी थे। उनके पट्टे और दाढ़ी के सभी बाल सफेद थे। एक बार किसी ने खबर उड़ा दी '56 साला से सभी अध्यापक हटाए जानेवाले हैं', तो कितने ही महीनों तक हर हफ्ते उनके बालों में खिजाब लगता रहा। बेचारो को बीस रुपया मासिक मिलता था, और उसी के सहारे तीन लड़कों और घर के दूसरे व्यक्तियों का पालन-पोषण करना था। उनका मझला लड़का इब्राहीम हमारा सहपाठी था। वह और उसका छोटा भाई पिता के साथ रहते थे। बड़ा लड़का यासीन (?) मेट्रिक में फेल होने लगा, तो मौलवी साहेब ने उसे गोरखपुर ड्राफ्टमैन का काम सीखने को भेज दिया। 15) महीना तो उन्हें बड़े लड़के को भेज देना पड़ता था, बाकी पाँच रुपये में वे कैसे अपना गुजारा करते थे, यह समझना मेरे लिए एक पहेली थी। मौलवी साहेब को गुस्सा बहुत कम आता था, जब आता तो लडकों पर तड़ातड़ छड़ियाँ टूटतीं। हमारी किताब में जहाँ-तहाँ पुराने पैगम्बरों, मूसा, दाऊद आदि का भी जिक्र आता, फिर तो मौलवी साहेब 'कसस्सुले-अंबिया'

लेकर बैठ जाते, और पाठ पढ़ने का सारा समय उसी मे बीत जाता।

पडित सीताराम श्रोत्रिय बड़े गुरु-गम्भोर तबियत के आदमी थ। विद्यार्थी उनका रोब सबसे ज्यादा मानते थे। गणित और हिन्दी का अध्यापन उनके हाथ मे था। उर्दू के विद्यार्थी होने से मुझे गणित के लिए ही उनके पास जाना पड़ता। गणित मे मैं तेज था, इसलिए मार खाने की नौबत नही आती थी। हॉ, एक बार की जाडो की बात है। इम्तिहान करीब आने पर विद्यार्थियो से दूनी मेहनत ली जाती थी। दिन की पढाई तो होती ही थी, रात को खाने के बाद लालटेन के किनारे बैठकर हम पाठ याद किया करते। सबकी तरह मै भी पढने जाता, लेकिन सौ-सौ मन की नीद मेरे पलको पर बैठी रहती। पडितजी और तृतीय अध्यापक पास म चारपाई बिछाकर बैठते, कि कोई सोने न पावे। जैसे ही वे लोग वहॉ से हटे, कि बन्दा वहाँ से रफूचक्कर। बोर्डिंग मे ढूँढकर पकड के आने पर–'पानी पीने गया था' का बहाना करता था। अक्सर दोनो हथलियो पर गाल रखकर जमीन के पास झुककर मैं ऐसे पढता था, जिसमे सो रहा हूँ या पढ़ रहा हूँ, इसका पता न मालूम हो सके। अध्यापको का हुक्म था, कि सोनेवाले लडके की नाक देखनेवाला लड़का मल दे। मेरी नाक मलने की किसी को हिम्मत न होती थी, इसलिए नही कि मैं शरीर से बलिष्ठ था, और पीछे खबर लेता; बल्कि मै दर्जे का सबसे तेज लड़का था। किसी काम मे व्यस्त रहने पर पाठ सुनने और सवाल करने का काम कितनी ही बार मुझको मिल जाता था, और इतिहास, भूगोल, दूसरी भाषा आदि विषय–, जो कि बा. जगन्नाथराय के पास थ–तो प्राय. हर रोज ही मेरे हाथ म आते थे। नाक पकड़नेवाले पर दनादन दो-तीन कडे-कडे सवाल कर देता। एक का न जवाब देन पर बेंच के ऊपर खडा होना, दूसरे के जवाब न देने पर यदि बच गये, तो तीसरे तक तो जरूर अध्यापक का दृढ हो जाता कि लडका पाठ नही याद करता, और बा जगन्नाथराय जैसे शान्त स्वभाव के आदमी को भी छडी उठानी पडती। यही कारण था, जो कि सहपाठी मुझे छेडना नही चाहते थे। प सीताराम और दूसरे अध्यापको को मालूम हो गया था, कि मै रात को नही पढता। लेकिन करते क्या, इतिहास, भूगोल जैसी रटनेवाली चीज तो मुझे पढाते के साथ याद हो जाती थी, फिर जवाब देने म चूक हो तब न छडी खीची जावे। एक दिन पडितजी ने गणित का ऐसा प्रश्न दे दिया, जिसे दो-तीन मास पहिले पढकर हम छोडे हुए थे। आवृत्ति करते थ किन्तु सारे कायदो की रोज-रोज आवृत्ति थोड ही हो सकती थी। सवाल मे गलती हुई। और सब लडके तो बच गये, पडितजी ने 'बडे तेजूखाँ बने हैं' कहकर मेरे ऊपर ताबड़-तोबड दो-तीन छडी जमाई। पढने के लिए छडी खाने का शायद यही एक मौका मुझे निजामाबाद मे मिला।

मौ. गुलामगौस खॉ को गुस्सा कभी कभी आता था, किन्तु वह रहता था बहुत कम देर तक। प सीताराम का गुस्सा बहुत देर तक रहता था, और विद्यार्थियो मे खुश होकर बात करते तो उन्हे देखा ही नही जाता था। बा जगन्नाथराय बिलकुल साधुपुरुष थे। व थे भी वैष्णव। उनके गले मे पतली तुलसी की कठी थी। रोज स्नान पूजा करते साधु-सन्तो के सत्सग मे रहते। उस वक्त टौंस के घाट पर छोटी सी शिवलिया के सामने एक भभूत जटाधारी साधु आये थे। बाबू साहेब शाम-सबेरे रोज वहाँ पहुँचते, और महात्मा के सत्सग और गाँजा मदलो म शामिल होते थे। उनको गुस्सा नही के बराबर था। यदि कभी किसी लडके को मारना भी पडता, तो बमन से और हल्के हाथो। वे बडे विचारसहिष्णु थे, जो कि षट्कर्मी भक्त लोगो मे बहुत कम पाया जाता है। रविवार को बाबू साहेब अलोना व्रत रखते थे, उस दिन वे एक बार पूरी हलवा या रोटी हलवा खाते थे। मेरा उस दिन का नियम था गोश्त पकाकर खाने का, सो भी बाबू साहेब के चौके म 3 हाथ दूरवाले तीसरे चौके मे। वह कभी-कभी सहृदयता के साथ बोलते भी–'अरे केदारनाथ, रविवार को तो मास न खाया करो।' मैं कहता–'क्या करूँ बाबू साहेब, दूसरे दिन मास खरीदकर लाने, मसाला पीसने और पकाने के लिए छुट्टी कहाँ मिलती है।' बात भी कुछ सच ही थी, तब वे और कुछ नही बोलते थे। और विषयो के साथ मेरी द्वितीय भाषा हिन्दी और भूगोल की नकशाकशी भी बा जगन्नाथराय के पास ही थे। उर्दू की अपेक्षा मेरे हिन्दी के अक्षर–बनाकर लिखने पर बडे सुन्दर होते थ, अतएव उसके लिए तारीफ हो तो कोई खास बात नही थी, किन्तु नकशा बनाने मे जो भी शाबाशी मुझे मिलती थी, उसे तो मैं भी अनुचित समझता था। जल-स्थलो, प्रान्त-रियासतो पर रग-बिरगी पेसले खीचकर मैं सिर्फ आँख मे धूल-भर झोक देता था, नहीं तो मेरी सीमा-रेखाएँ बिलकुल ही गलत होती थी। यह बारीकी शायद मुझको ही मालूम होती थी। वस्तुतः

नाना की कितनी ही कथाओं को सुनने के बाद जब मुझे उनके बतलाये शहर और स्थान नकशे में मिलने लगे तो मुझे उसमें एक अजब तरह की दिलचस्पी पैदा हो गयी। नकशे में कौन जगह कहाँ है, इसे सचमुच ही मैं कभी-कभी आँख मूँदकर बतला सकता था। हो सकता है, इन्हीं कारणों से अपना खींचा नकशा मुझे सरासर दोषपूर्ण मालूम होता था, जब कि अध्यापक और दूसरे सहपाठी उसकी तारीफ करते थे।

साल के अन्त मे जब हम पहुँच रहे थे, तो कितनी ही बार पडित सीताराममजी दर्जा 6 (यही उस वक्त मिडल का अन्तिम दर्जा था) और दर्जा 5 के विद्यार्थियों को इकट्ठा गणित के सवाल दे दिया करते थे। नरसिहराय दर्जा 6 के सबसे तेज लड़के थे, और पीछे मिडल परीक्षा मे उन्हे सरकारी छात्रवृत्ति मिली, लेकिन एक दर्जा नीचे रहते भी मैं कितनी ही बार उनके बराबर नम्बर लाता था। निजामाबाद मे अब अधिक विस्तृत क्षेत्र में (कुछ विशेष चुने हुए विद्यार्थी-मण्डली मे) मेरी प्रतिभा का प्रतियोगिता का मोका मिला, आर उससे जरूर अधिक फायदा हुआ, किन्तु वह यथेष्ट न था। अखबारों को हम जानते न थे। पाठ्यपुस्तको के अतिरिक्त यदि कभी 'हातिमताई' या 'आराइश-महफिल' किसी के हाथ लग गयी, तो बहुत समझिए। हाँ, शिक्षा विभाग की ओर से मनाही होने पर भी पाठ्य पुस्तको की 'कुजियाँ' हमारे पास जरूर पहुँच जाती थी।

बरसात के बाद स्कूल की खपड़ैल का फिर से छाने और शायद नई कड़ी बदलन की भी जरूरत पडी, इसलिए स्कूल हटाकर एक बडी हवेली मे ले जाया गया। निजामाबाद के कायस्थ किसी वक्त बड़ी अच्छी हालत मे थे। अब बहुतो की जमींदारी बिक-बिका चुकी थी। हाँ उनमे से कुछ साधारण क्लर्क या पटवारी जैसी नोकरियो पर थे। पडित अयोध्यासिह के छोटे भाई प गुरुसेवकसिंह उपाध्याय डिप्टी कलेक्टर थे. लेकिन पुराने पक्के मकानों और उनके भीतर के सामान से ही मालूम हो जाता था, कि पहिले से अब जमाना पस्ती का है। जिस घर मे हम गये थे, वह किसी हकीम साहब का था। आजकल वह हकीमी करते थे, और रोजी कमाने के लिए नही, मुफ्त सेवा के खयाल से। हवेली एक विशाल इमारत थी, जिसमे कितने ही आँगन, दालान और कमरे-कोठे थे। हमारी पढ़ाई कोठे पर के कमरों मे हुआ करती थी।

मार्च (1907 ई) के आसपास हमारी वार्षिक परीक्षा समाप्त हुई। छुट्टी मे मै ननिहाल आया। वहाँ उस वक्त प्लेग था। नानी ने दूसरे ही दिन मुझे कनैला के लिए रवाना किया। अब मेरा भी सस्कृति का तल कुछ ऊँचा हो चुका था। कनैला मेरे लिए निरा उजड्ड गाव मालूम होता था। जब से वह गाव बसा था, तब से अब तक शायद मुझसे ज्यादा पढ़ा-लिखा आदमी उस गाव मे नही पैदा हुआ। मेरे तीन छोटे भाई श्यामलाल, रामधारी और श्रीनाथ पढ़ रहे थे, किन्तु अभी निचले दर्जों मे। गॉव मे दो एक ही और आदमी थे, जिन्होंने किसी मदरसे मे शिक्षा पाई हो। इस प्रकार शिक्षित के मनोरजन का वहाँ कोई साधन न था। कनैला मे अब भी कसरत और अखाड़े का रवाज था, यद्यपि वह अधिकतर बरसात ही मे होता था, जबकि कोई नट आकर अखाड़ा बाँधता; किन्तु मेरी रुचि को उधर जाने का कभी मोका ही नही मिला। आम के दिनों मे यदि पहुँच गया, तो भरोसा पाडे से बगीचे ताल पोखरा और ऊसर के अकेले पीपर के भूतो की कथाएँ सुनता। आश्विन के नवरात्र मे जो पहुचा, तो किसी के बाबू के देवपुर (देवस्थान) पर भूत खेलनेवाली ओरतो से 'छोड़ दे' 'क्यों पकडा', 'तुम्हे क्या पूजा चाहिए' आदि पूछता, बहुत रात तक मनोरजन करता। ओर अब ये मनोरजन कुछ फीके भी पडने लगे थे।

कनैला मे एक दो दिन ठहरकर मै बछवल च[illegible] गया। बछवल मेरी आँखों को कुछ अधिक सभ्य जँचता था, और यही कारण था कि पीछे मेरे रहने के समय मे कनैला ओर बछवल आधे आधे के साझीदार थे। फूफा महादेव पंडित की विद्वत्ता से लाभ उठाने के अभिप्राय से न मै वहा जाता था, ओर न उसके लिए अवसर ही था। मेरा अधिक समय यागेश और दूसरे समवयस्क विद्यार्थियो के साथ खेलने कूदने, गपशप मे कटता था। इन खेल-कूदों में ताल मे चरनेवाले घोडे घोडियो को पकडकर चढ़ना भी था। एक दिन मै और यागेश ताल से घोडे पकड़कर लाने गये। लगाम की जगह शायद रस्सी हम लोगो के पास थी। यागेश पहिले चढ़े, और मैं अपनी घोड़ी पर पीछे। यागेश के घोडे को दौड़ते देख मेरी घोड़ी भी दौड पड़ी। रोकने से वहाँ रुके कौन ? एक जगह मेंड की छलाँग मारते वक्त मैं नीचे आ पड़ा। घोडी की एक टाप खोपडी के पीछे जरा-सा छूती चली गई। घाव सख्त

नहीं लगा, किन्तु खून बहने लगा। दूसरे दिन जब बुआ ने पूछा तो कह दिया, दालान की कड़ी लग गई है।

बछवल में ही रहते पता लगा, कि नानी का प्लेग से देहान्त हो गया। मिडल के परीक्षा-परिणाम के निकल जाने पर निजामाबाद जाना पड़ा, लेकिन वहाँ ज्यादा दिन नहीं रहा। नाना की शिकार की कथाओं और नवाजिन्दा-बाजिन्दा के सैर-सपाटों ने रंग लाना शुरू किया। खाने-पीने के लिए उस समय मेरे पास आटा-चावल था, उसे बाजार में बेंच डाला। कुल मिलाकर डेढ़-दो रुपये हो गये। मैं सीधे फरिहा स्टेशन पहुँचा। मन और जीभ पर था बाजिन्दा का सुनहला वाक्य–

"सैर कर दुनिया की गाफ़िल ज़िन्दगानी फिर कहाँ ?
ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?"

फरिहा स्टेशन से टिकट लेते वक्त बनारस ही सामने था, क्योंकि उसी को मैंने देखा था। टिकट ले गाड़ी पर बैठा। दिन में ही किसी वक्त बनारस पहुँचा। पिता के मामा का मठ तो मालूम था, किन्तु अकेला जाने पर वहाँ प्रश्नों की झड़ी लग जाती, इसलिए वहाँ जाना उचित नहीं जँचा। सोच-समझकर उसी मठ के बगल में जगेसरनाथ के मन्दिर में गया। वहाँ कितने ही सस्कृत के विद्यार्थी रहते थे। पूछने पर उन्हे बतला दिया, मैं सस्कृत पढ़ने के लिए आया हूँ। हमारी जाति के ब्राह्मणों–सरयूपारियों–में नातेदारी से बाहर कच्चा रसोई खाने का रवाज नहीं; इसलिए अपने हाथ से रोटी बनायी। स्टेशन से उतरने से लेकर बराबर मन मे खिचडी-सी पक रही थी। नवाजिन्दा-बाजिन्दा दुनिया की सैर के लिए यहाँ तक भगा ला सकते थे, लेकिन आगे के लिए पर कटे मालूम होते थे। पास के पैसे खतम होना चाहते थे। जल्दी निर्णय करना था, नही तो लौटने-भर का किराया भी समाप्त होनेवाला था। सब सोच-साचकर शाम तक मन ने और आगे की उड़ान को अनुचित बतलाया, और कहा–बस, रानी की सराय का टिकट कटाओ और लौट चलो।

रात की गाड़ी पकड़कर, और शायद मऊ में ट्रेन को बदलकर जब मैं आगे चला, तो नीद ने जोर पकड़ा, और रानी की सराय पार कर गाड़ी फरिहा पहुँची तो आँख खुली। उतरे, लेकिन टिकट से एक स्टेशन फाजिल चले आये थे। पास में पैसा था भी नही। शायद स्टेशनमास्टर ने तंग नहीं किया।

रात बिताई, सबेरे पन्दहा जाने में नाना के सवालों का डर मालूम होने लगा और मैंने कनैला का रास्ता पकड़ा।

10
प्रथम उड़ान

•

पहिला प्रयास विफल रहा, उसमें मैं असफल रहा; दिल ने गवाही दी–तुम नवाजिन्दा-बाजिन्दा बनने लायक नहीं हो। लेकिन आगे कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिन्होने फिर मुझे साहस करने के लिए मजबूर किया।

नानी के मरने पर अब पन्दहा में नाना अकेले रह गये थे। आमों के पकने का मौसिम था, मई का मध्य या अन्त, जब मैं अपनी बहिन रामप्यारी के साथ पन्दहा पहुँचा। हमीं दोनों बहिन-भाई खाना बनाते और घर का इन्तिजाम करते, नाना के पैसा-कौड़ी का भी मैं ही खजानची था। एक दिन मक्खन को पिघलाकर घी बनाया, पिघले हुए घी को बिल्ली के डर से एक उल्टी नाँद के नीचे दबाना पड़ता था। घी को दबाते वक्त, अँधेरे घर में मुझे मालूम नहीं हुआ कि मटकी कहाँ है, नाँद का किनारा मटकी के ऊपर पड़ा। मैं तो नाँद दबाकर निश्चिन्त था, किन्तु दूसरे दिन देखा, तो सारा घी–करीब दो सेर–गिरकर जमीन में फैला हुआ है। नाना गुस्सा होंगे, इस डर ने मुझ पर आतंक जमाया, और फिर बैल की बिक्री के आये बाईस रुपयो को लेकर मैं रानी की सराय स्टेशन

की ओर चल पड़ा। रास्ते में शोभित का बाग पड़ता था। लाल-पीले आम दरख्तों पर पके हुए थे। शायद शोभित ही का आग्रह हुआ—दो-चार आम खाकर जाओ। लग्गी ली और आम तोड़-तोड़कर खाने लगे। रेल का समय नजदीक जानकर मैं स्टेशन गया। मुझे खयाल था, नाना को इतनी जल्दी खबर नहीं मिलेगी, क्योंकि मैंने बहिन से भी अपना इरादा जाहिर नहीं किया था। मामूली कपड़े, जो बदन पर थे, उन्हीं के साथ निकल पडा था। स्टेशन पर पहुँच गया। ट्रेन का लाइन क्लियर हो गया था, इसी समय देखा, नाना की विशाल मूर्ति बड़ी तेजी से लपकती हुई स्टेशन की ओर आ रही है। शायद शोभित से उन्हें मालूम हो गया था कि मैं स्टेशन की ओर गया हूँ। मैंने सीधे बाजार जानेवाली स्टेशन की सड़क पकडी, फिर पक्की सड़क पकड़कर बाजार-भर तो धीरे-धीरे, किन्तु उसके बाद तेज चलते-दौड़ते दूसरे स्टेशन आजमगढ़ का रास्ता लिया। स्टेशन पर मुझे न पा नाना ने न जाने क्या खयाल किया। शायद उन्होंने सोचा हो, शोभित ने उन्हें चकमा दे दिया। चाहे यह निर्णय न कर पाये हों कि अगले स्टेशन पर पूरब की ओर गया या पच्छिम की ओर। खैर, यदि उसी ट्रेन से वे स्टेशन चले आये होते, तो मेरे पकड़े जाने की पूरी सम्भावना थी, लेकिन उन्होंने वैसा किया नहीं।

आजमगढ़ स्टेशन शहर से बहुत दूर है, और आसपास के लोग उसे आजमगढ़ न कहकर पास के गाँव के नाम से पल्हनी कहते हैं। रानी की सराय से वह चार मील से कम ही है—लोगों के कथनानुसार। सिग्नल गिर चुका था, जब मैं रेलवे-क्रासिंग पर पहुँचा। स्टेशन पर पहुँच जाने पर जान में जान आई। सूर्य अस्त हो चुके थे, जब कि मैं ट्रेन में सवार हुआ। टिकट बनारस का लिया, क्योंकि वही रास्ता जाना हुआ था। बनारस में एकाध दिन ठहरा या आगे रवाना हुआ, इसका कोई स्मरण नहीं। वहाँ से मुगलसराय और फिर विन्ध्याचल जरूर गया। ये सब पहिले के देखे स्थान थे। विन्ध्याचल में शायद पुराने परिचित पंडा के यहाँ गया था। बनारस-मुगलसराय-विन्ध्याचल-मुगलसराय के बीच ही में मैंने सोलह-सत्रह रुपये खर्च कर डाले थे; जरूर इस आवा-जाही में मैंने कई दिन खर्च किये होंगे; क्योंकि गुलबकावली (हिन्दी) की किताब, लोटा-डोरी और एक गमछा छोड़ मैंने सारे पैसे खाने ही पर खर्च किये थे। मन जल्दी किसी निर्णय पर नहीं पहुँच रहा था। हिचकिचाहट जरूर थी, किन्तु घर लौटना असम्भव था. वहाँ दो सेर घी बरबाद करने का ही कसूर न था, बल्कि बाईस रुपये लेकर रफूचक्कर होने, और उन्हे खर्च कर डालने का भी संगीन जुर्म सर पर था। अन्त में हार-पछताकर मन को निर्णय करना ही पड़ा—चलो कलकत्ता।

ट्रेन मुसाफिरों से खचाखच भरी थी, मैं किसी तरह उसमें सवार हुआ। किस तरह की ट्रेन थी यह तो मुझे याद नहीं, किन्तु इतना जरूर स्मरण है, शाम से रात-भर चलकर सबेरे वह हवड़ा पहुँची। लिलुआ में हमारे टिकट ले लिये गये थे। कलकत्ते मे कहाँ जावेंगे, शायद रास्ते में यह खयाल तंग नहीं कर रहा था, क्योंकि समझा था वह भी बनारस ही ऐसा शहर होगा। लेकिन, जब हवड़ा के विशाल स्टेशन पर उतरा, तो वहाँ की अपार भीड़ को देखकर मुझे वह एक शहर या बड़ा मेला जान पड़ने लगा। उस वक्त हवडा स्टेशन में तीसरे दर्जे के मुसाफिर जहाँ बैठ ट्रेन का इन्तजार करते थे, वह मुसाफिरखाना दूसरी तरह का था। फर्श इतना साफ सीमेंट का न था। सिग्नल जैसे अनेक जोड़वाले लोहे के ऊँचे खम्भों पर शायद टीन की छत थी। उस मेले मे मेरी अक्ल गुम हो गयी। कहाँ चलना है, इस पर पहिले विचार नहीं किया था, यहाँ आने पर तरह-तरह की बोलियाँ, विचित्र वेश-भूषा दिखलाई पड़ रही थीं। सड़क पर जाकर देखे गंगा के पक्के घाट, पुल पर चलती अपार जनराशि, फिर नदी के आर-पार शहर की अट्टालिकाएँ दिखलाई पड़ीं; उन्हें देखकर मन पर एक आतंक छा गया। कहाँ जावें, किसके पास जावें ? बच्चा मामा या जवाहिर मामा के पास जावेंगे—यह किसी से पूछना अपने ही को भारी हिमाकत जँचती थी। लाचार, लौटकर मुसाफिरखाने के एक खम्भे के पास सटकर बैठ गया !

शायद इस तरह चुपचाप बैठे, और अपने किये पर पछताते मुझे एक युग बीत गये। मैं अथाह समुद्र में गोते लगा रहा था। समस्या के सुलझने का कोई रास्ता नहीं दीख पड़ता था। शायद मैं अब भी संघर्ष में डटा हुआ था, या मैदान छोड़कर "कश्ती खुदा पै छोड़ दे लंगर को तोड़ दे" कह रहा था। उसी समय एक गोरा पतला-सा लड़का—मेरी उम्र से कुछ ज्यादा का—मेरी ओर आया। उसके बदन पर धोती-कुर्ते के अतिरिक्त शिर पर शायद टोपी भी थी। वह भुक्तभोगी था, इसलिए बिना किसी हिचकिचाहट के मेरे पास चला आया। बात कैसे शुरू की,

इसकी कुछ याद नहीं। उसने जरूर पूछा होगा—कहाँ से आये हो ? हम मदरसा जानेवाले लड़के कुर्ते की आस्तीन से सोख्ते का काम लेते थे, शायद उससे उसे अनुमान हुआ हो, कि मैं स्कूल का विद्यार्थी हूँ। अथवा दिहाती चरवाहे और दिहाती विद्यार्थी में भी अन्तर तो हुआ ही करता है। हमारी बातचीत के बाद यह पता लगा, कि हमारे सहयोगी बा. महादेवप्रसाद मेरी ही तरह हँडिया तहसीली स्कूल के छठे दर्जे के उर्दू के विद्यार्थी थे, और अब के ही साल पाँचवें से छठवें दर्जे में आये थे। याद नहीं नवाजिन्दा-बाजिन्दा की प्रेरणा की मार उनके ऊपर भी पड़ी थी, उनके तुरन्त भागकर आने का क्या कारण हुआ था, यह भी स्मरण नहीं। यह मालूम हुआ, कि वह मुझसे कई दिन पहिले कलकत्ता पहुँचे। मैं तो दो-चार आने में खरीदकर एक गुलबकावली का मालिक बना था, और हमारे महादेवप्रसाद अपना सारा बस्ता ही लेते आये थे। मेरी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता को देखकर उन्होंने हिम्मत बढ़ाते हुए कहा—मेरे ऊपर भी वैसे ही बीती थी। लेकिन अब आठ आने महीने पर हमने वासा किराया ले रखा है। हमारी ही तरह भागकर एक और तरुण साथ ही रहते हैं। महादेवप्रसाद मेरे लिए घोर अन्धकार में बिजली के चिराग बनकर मिले। नवाजिन्दा-बाजिन्दा की लगाई आग बुझी नहीं थी, वह राख के बड़े बोझ से दब गयी थी। उनकी बातों को सुनकर मेरी हिम्मत फिर ताजी हो गयी।

हम लोग वहाँ से उठकर हवड़ा पुल पार हुए। गंगा तटवाली सडक को पकड़कर जगन्नाथ घाट की ओर मुड़े—दिशा तो तब से आज तक कलकत्ता में मुझे मालूम ही नहीं होती। टकसाल के पास गुजरते वक्त महादेवप्रसादजी ने बतलाया—यहीं रुपये-पैसे ढाले जाते हैं। इससे भी उधर मेरा चित्त इसलिए आकर्षित हुआ, कि हम लोग रोजी का कोई सिलसिला ढूँढ़ रहे थे, और मालूम हुआ था, कि वहाँ काम मिलने की सम्भावना है। टकसाल से आगे जोड़ा साखू की किसी गली में पहुँचे। वहाँ आस-पास अधिकतर 'खोलाबाड़ी' (बाँस के चँचरे की दीवार और खपड़ैल की छत के मकान) थीं। कलकत्ता में आठ आने महीने का वासा सुनकर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि अब तक किराये-भाड़े से मुझे वास्ता ही कब पड़ा था ? आश्चर्य होता भी तो अब वासा देखकर उसके लिए गुंजाइश नहीं रह जाती। वासा नहीं, वह खुला हुआ बड़ा-सा मचान था। शाखू-खम्भे गड़े थे, उन पर कड़ियों पर बाँस के फट्ठे बिछाए हुए थे। नीचे बड़ी सीड़ थी, किन्तु नीचे हमें रहना न था, वहाँ तो बाँस और शाखू के बल्ले रखे हुए थे। ऊपर भी शायद एक ओर कुछ बाँस के फट्ठे रखे हुए थे। बाँस की सीढ़ी से ऊपर जाने का रास्ता था। सिर्फ एक या डेढ़ तरफ चाँचर की दीवार थी, नहीं तो चारों ओर से 'कोठा' खुला हुआ था। फर्श पर मिट्टी भी नहीं थी, सिर्फ रसोई की जगह थोड़ी-सी मिट्टी डाली हुई थी, जिसमें चूल्हे की आग से वह जल न जावे। वस्तुतः बाड़ीवाले को तो हमसे आठ आना भी नहीं लेना चाहिए था, उतने का तो हम उसकी चीजों की रखवाली कर दिया करते थे। वहाँ पहुँचने पर बीस-बाईस बरस के एक साँवले-पतले-लम्बे जवान मिले। महादेवप्रसाद ने हमारा परिचय कराया। हम सबमें वही सबसे बुजुर्ग थे, उम्र के खयाल से, नहीं तो उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर था। वे बस्ती जिले के ब्राह्मण-पुत्र थे। घर में बहुत-सी गाय-भैंसें थीं। हमारे दोस्त शायद अपने भाइयों में सबसे छोटे थे, और उनका काम चरवाही करना था। गर्मियों या जाड़ों में वे अपने पशुओं को लेकर नेपाल-तराई के जंगलों में चले जाते थे। वहाँ के दृश्यों को वह बड़े उत्साह के साथ वर्णित करते थे। शेर या हाथी से साबिका पड़ने की बात तो उन्होंने नहीं की, किन्तु झाड़ियों में उलझ जाने पर भैंसों की सींग को उन्हें 'दाव' से काट देना पड़ता था। उनको रह-रहकर अपनी तरुण स्त्री याद आती थी, जो दिन-भर के थके-माँदे गोसार में सोये अपने पतिदेव के पैरों में तेल की मालिश करती थी।

रसोई कौन बनावे—यह प्रश्न उठने पर महादेवप्रसादजी के कायस्थ होने से उनकी बात ही नहीं उठ सकती थी। रहे बाकी दो आदमी, उसमें रसोई बनाने में मैं कच्चा भी था, साथ ही बस्तीवाले देवता किसी दूसरे के हाथ का पका खाना खाने को तैयार न थे। स्कूल की आबो-हवा ने मुझमें कुछ हेरफेर जरूर किया था, जिससे कि मैंने आसानी से एक अज्ञात ब्राह्मण के हाथ का भोजन स्वीकार किया।

हमारे पैसे खर्च होते जा रहे थे, इसलिए सबसे ज्यादा फिक्र हमें काम ढूँढ़ने की थी। 14, 15 वर्ष के हम दोनों जैसे लड़कों को नौकरी मिलना आसान काम नहीं था, तो भी हमारा अधिक समय उसी की तलाश में बीतता था। मेरा परिचित तो कोई वहाँ मालूम नहीं हुआ, किन्तु महादेवप्रसाद अपने परिचितों—रेल में पैटमैन या कुली

का काम करनेवालों—के पास ले गये। कभी हम जगन्नाथ घाट पर जा बैठते थे। उस वक्त वहाँ एक अधेड़ साधु आया हुआ था, जो अँगरेजी सरकार और अंग्रेजों के खिलाफ़ कड़े-कड़े शब्द निकालता रहता था। हमारे जैसे कितने निठल्ले लोग उसके गिर्द जमा होकर सुनते रहते थे। उस समय बंगभंग के विरुद्ध सशस्त्र आन्दोलन शुरू हो गया था, किन्तु मेरे जैसे को उस दुनिया का पता ही कहाँ था ? सुननेवालों में से किसी-किसी को कहते सुना—जरूर यह कोई जासूस है। हाँ, जासूस या पागल छोड़ वह तीसरा आदमी हो भी नहीं सकता था। दिन में एक बार हम हवड़ा स्टेशन पर जरूर पहुँच जाते थे, और दो-चार ही दिन के भीतर अपने जैसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ दो और व्यक्तियों को अपनी चौकड़ी में भरती करने में सफल हुए, इनमें एक आरा के 30 वर्ष की उम्र के थे, और दूसरे हम दोनों के ही समवयस्क तथा थोड़ा-बहुत पढ़े हुए जौनपुर जिले के एक क्षत्रिय-पुत्र। शायद कोई छठों भी आदमी रहा हो।

हमने अपना एक कम्यून (साम्यवादी समाज) कायम कर लिया था। मैं, और मेरा का खयाल भूल गये थे। जिसके पास जो पैसा था, वह सार्वजनिक खर्च के लिए हाजिर था। तै किया गया कि जिसको भी नौकरी मिले, कमाई सबके खर्च में लाई जायेगी। सबेरे हम मूरी-भूँजा पर गुजारा कर लेते। दिन में एक बार शाम को दिन रहते ही रोटी बनाकर खा लिया करते थे। दिन में दो-दो की जोड़ी बनाकर नौकरी की तलाश में घूमा करते। कभी खिदिरपुर डक में जहाज से बस्ता उठाने के काम की तलाश में जाते, कभी कोयला-डिपो में कोयला-कुली के काम के लिए; हमारे लिखे-पढ़े का भी वहाँ कोई उपयोग हो सकता है, इससे हम निराश थे; इसलिए जाँगर की रोजी पर ही हमारी आशा थी। खैर, जहाज कोयला-माल गोदाम के कुली का तो कोई काम मिला नहीं; और मिलने पर क्या महादेव और मेरे ऐसे दुधमुँहे छोकरे—जिन्होंने पढ़ने के सिवा हाथ से कभी काम नहीं किया—उस काम को कर भी पाते ? अधिकतर मैं और महादेव साथ रहते, हम दोनों में बहुत अधिक समानता थी। शायद कभी कभी अकेले भी घूमने चला जाता। एक बार हवड़ा में बर्न कम्पनी के कारखाने में काम का पता लगा। कुलियों की भरती ठीकेदारों द्वारा होती थी, उसने मुझे काम दे दिया। काम था मालगाड़ी के धुरे के दोनों सिरों—जहाँ पर गद्दी रखी जाती है—को तेल और लत्ते से रगड़कर चमचम करना। वहाँ टीन के छत के नीचे सैकड़ों लोहार-मजदूर काम कर रहे थे। जगह-जगह नलकों से हवा निकल रही थी, जिनके सहारे पत्थर के कोयले की अँगीठिया जल रही थीं। हथौड़े और घन की आवाज से सारी टीन की छत गूँज रही थी। मुझे याद नहीं, महादेवप्रसाद भी उस समय मेरे साथ थे या नहीं। धुरा रगड़ने में थोड़ी ही देर बाद हाथ दुखने लगता। इधर-उधर निरीक्षक को न देखकर, कुछ सुस्ताते और फिर रगड़, जब उससे भी काम न बनता, तो पाँच-सात बार पेशाब करने चले जाते। मालूम नहीं, दो दिन काम किया या चार दिन। रहने का इन्तिजाम एक मिस्त्री के साथ था। मिस्त्री की स्त्री मेरे खाने-पीने की ओर बड़ा ध्यान रखती थीं, रसोई मैं खुद बना लेता था। मेहनत कुछ भी रही हो, किन्तु उससे डरकर नहीं बल्कि वहाँ से जोड़ासाखू में, साथियों से मिलने आया इसी खयाल से, 'गुलबकावली' और लोटाडोर को भी वहीं मिस्त्री के यहाँ छोड़ आया था।

इधर आने पर लौटना भूल गया। साथियों को छोड़कर जाना पड़ता, शायद यह भी उसमें कारण हुआ। फिर नौकरी की तलाश में—और बहुत कुछ निरुद्देश्य चक्कर काटना आरम्भ हुआ। कभी चितपुर, तो कभी धर्मतल्ला, कभी खिदिरपुर तो कभी नीमतल्ला। दिन में दस घंटे से कम कम घूमते रहे होंगे। दीवारों पर चिपके बंगला इश्तिहारों को देखते-देखते न जाने कब बँगला वर्णमाला मुझे याद हो गई। हमारे बासे के बगलवाले घरों में बंगाली गृहस्थ रहते थे। उनके घरों की स्त्रियाँ कभी-कभी कुछ बात भी करती थीं, किन्तु मैं बहुत डरता था। मैंने सुन रखा था, बंगाल में बड़ा जादू है, वहाँ की औरतें जादू मारकर मेंढ़ा बना लेती हैं। मुझको उस वक्त इन बातों पर पूरा विश्वास था, और मैं मेंढ़ा बनने के लिए तैयार न था।

एक दिन मैं अकेला धर्मतल्ला से कहीं आगे जा रहा था। एक डाकिया भी उधर ही जा रहा था। पूछा-पेख हुई। नौकरी की तलाश कहने पर कहा—"नौकरी की क्या कमी है। बस्ता (बोरा) ढो सकते हो ?" "क्यों नहीं, और मेरे और भी साथी हैं ?" "अच्छा तो शाम को मेरे बासा में कुलीबाजार में आओ।" "मैं अपने और साथियों को लेकर आज आऊँगा। हम सब एक ही जगह काम करेंगे, एक ही जगह रहेंगे।" 'अच्छा' कहकर पोस्टमैन

चला गया। मैं लौटकर अपने बासे में आया। वहाँ जौनपुरी साथी मौजूद थे, बाकी लोग तलाश-रोजगार में गायब थे। शाम होनेवाली थी, और पोस्टमैन से मिलना जरूरी था, इसलिए मैं और ज्यादा इन्तजार नहीं कर सकता था। जौनपुरी को साथ लिये मै चल पड़ा। खिदिरपुर काफी दूर है। वहाँ जाकर कुलीबाजार के ढूँढ़ने मे भी दिक्कत नहीं हुई। शायद तब तक सूर्य डूब चुके थे। हम लोगो ने पोस्टमैन का पता लगाना शुरू किया। मुहल्ले में ज्यादातर देशवाली आदमी थे। वहाँ देशवाली पोस्टमैन का पता लगना मुश्किल न था, किन्तु यदि वह वहाँ हों तब न पता लगे। हम इधर से उधर पूछताछ मे लगे ही हुए थे, कि बारिश शुरू हो गयी मूसलाधार। हमारे सारे कपड़े भींग गये, ऊपर से दो घड़ी रात बीत चुकी थी। इस समय जोड़ासाखू लौटकर जाना दूर की बात थी। अन्त मे हमने आसपास के घरवालो से रात को रहने की प्रार्थना की। दो-चार जगह 'अज्ञात कुलशील' को बास देना अस्वीकृत हुआ; किन्तु आखिर एक घरवालों को वर्षा, रात और हमारी उम्र देखकर दया आ ही गयी। उन्होंने भीतर बुला लिया। शायद वहाँ चार-पाँच आदमी रहते थे, सभी पूरबी युक्तप्रान्त के। काम—शायद कुली का करते रहे होंगे। पूछने पर पहिले तो पोस्टमैन के न्योते की बात कही। घर-द्वार के पूछने पर जौनपुरी साथी ने दोनो का घर एक गाँव मे बतला दिया। फिर तो हमे पुरोहित-यजमान का लड़का भी कहना पड़ा। भागकर आना—हमारी उम्र के लड़को के लिए कलकत्ता पहुँचने का सर्वप्रसिद्ध कारण था। दूसरे दिन घरवालो ने रात का उपदेश जारी रखते हुए कहा—"परदेश मे कलेश होगा, तुम्हारी उम्र के लड़को को काम नही मिल सकता, घर चले जाओ। घर चिट्ठी लिख दो, रुपया आ जायेगा न ?"

हम दोनो बोल उठे—"जरूर।"

"तो यहीं रहो। खाने-पीने की चिन्ता मत करो। चिट्ठी लिख दो, रुपया आ जाने पर घर चले जाना।

शील-सकोच के मारे हम 'नहा' करके वहाँ से चल देने की हिम्मत नही रखते थे, साथ ही एक बार के मुँह से निकल आये झूठ—हम दोनो एक गाँव के हैं—को वापस लेने के लिए तैयार न थे। रहने को रह तो गये, और जौनपुरी भाई के घर चिट्ठी भी लिखकर डाल दी गयी, किन्तु मुझे बड़ा तरद्दुद मालूम होने लगा। यदि कहीं इन लोगो को असली बात मालूम हो गयी, तो क्या कहेंगे। चिट्ठी के जवाब आने का समय जितना ही नजदीक आता जाता था, उतना ही मैं साथी से चल देने का आग्रह करने लगा, किन्तु वह चलने को तैयार नही था। लाचार एक दिन मैं यह कहकर वहाँ से अकेला चल पड़ा—"मै तो जाता हूँ, तुमको तरद्दुद मे पड़ना हो तो रहो।" उसके बाद फिर उनसे मुलाकात नही हुई, इसलिए नही कह सकता—उन्होंने क्या किया।

मै लौटकर हैरिसन रोड से गुजर रहा था। उस वक्त आने-जाने की कोई खास जल्दी थी नही। कहीं देखने की कोई चीज हुई, तो उसे ही थोड़ी देर ठहरकर देखने लगता था। उसी जगह साफ़ धोती, कोट, गोल-फेल्ट टोपी लगाये हाथ मे छाता लिये एक बूढ़े आदमी मिले। उन्होंने घर-बार के बारे मे पूछा, और फिर बेसरोसामानी का पता लगने पर कहा—चलो, मै तुम्हे अपना घर दिखला देता हूँ, जरूरत हो तो आना, यदि मै तुम्हारे लिए कुछ कर सकता हूँ, तो करूँगा। उनकी कोठरी राजा बर्दवान के कटरे के तीसरे तल्ले पर थी। पाठकजी—बिन्दाप्रसाद पाठक, यही उनका नाम था—की बात पर मुझे विश्वास हो गया, और साथ ही कलकत्ता मे मुझे एक अवलम्ब सा दिखलाई पड़ा। किन्तु पहिले मुझे अपने साथियो की खबर लेनी थी। जोड़ासाखू की खुली खोलाबाड़ी में किसी का पता नही था। जौनपुरी शायद कुलीबाजार से टले न थे। महादेवप्रसाद और दूसरे साथी रोजगार की तलाश मे गये हुए थे। शाम तक किसी को आया न देख मै पाठकजी के घर पर गया।

तीसरे तल्ले पर सीढ़ी के पास शायद 64 नम्बर की कोठरी थी। कोठरी 6 हाथ लम्बी, चार हाथ चौड़ी रही होगी। बगल मे सीढ़ी के ऊपर एक थोड़ा-सा और स्थान था, जो नीचे की कोठरी से दो हाथ ऊँचे पर पड़ता था, और उसमे कभी कोई सामान रख दिया जाता था। दरवाजे के पास दो हाथ चौड़ी जमीन पानी गिराने और जूता रखने के लिए थी, फिर हाथ भर ऊँचा बाकी कोठरी का फर्श था। कोठरी के दूसरे सिरे पर खिड़की थी, और कलकत्ता की गर्मी मे उसकी हवा बड़ी शीतल और सुखद मालूम होती थी। पाठकजी रसोई मारवाड़ी बासे मे खाया करते, इसलिए कोठरी मे कोयले या धुआँ-धक्कड़ की जरूरत न थी। उनको हुक्का पीने की बड़ी आदत थी, और उसके लिए टिकियो से काम चल जाता था। हुक्का की जगह मुरादाबादी कली थी। मेरा काम था, कोठरी

को साफ रखना, नीचे नलके से पानी भर लाना—जो कि सारे दिन के लिए एक घड़ा काफी था, और जब पाठकजी घर पर हों तो दो-चार या दस चिलम भरकर देना। चिलम की बात पहिले मुझे नागवार मालूम होती थी, क्योंकि हमारे सरवरिया ब्राह्मणों में इसे घोर पाप समझा जाता था। मुझे तो इसके कारण पाठकजी के ब्राह्मण होने मे सन्देह भी होता था, किन्तु एक बार रानी की सराय मे किसी असिस्टेंट इन्स्पेक्टर ब्राह्मण को फर्शी गुड़गुड़ाते देखकर इस शका का समाधान हो चुका था। धीरे धीरे पाठकजी को मेरे कुल-शील, पढ़ने-लिखने आदि के बारे मे और भी बातें मालूम हुई। पाठकजी का बर्ताव मेरे साथ नोकर का-सा नही, लड़के जैसा होने लगा। उन्होंने पढ़ने का शौक देखकर मुझे अग्रेजी पढ़ानी शुरू की।

पडित विन्दाप्रसाद पाठक—डाइरेक्टरी और चिट्ठी पत्री मे एम बी पाठक लिखे हुए थे—मुरादाबाद की मियाँसाहेब की गली के रहनेवाले सारस्वत ब्राह्मण थे। 1907 मे उनकी आयु 55 से ऊपर थी। हिन्दी-उर्दू के अतिरिक्त वह अग्रेजी भी जानते थे। फौजी कमसरियट मे वह कन्ट्राक्टर का काम कर चुके थे, और इसी सिलसिले मे वे पेशावर और आसाम मे रह आये थे। पीछे कलकत्ता मे उन्होंने दलाली का काम शुरू किया, और कुछ वर्षों तक उनको बडी सफलता मिली। बँगला, बग्घी, नौकर चाकर सब हो गये थे। लाखों का कारबार करते थे। किन्तु, इसी वक्त—उनके कथनानुसार नक्षत्र ने पलटा खाया—उनका कारबार पट पड़ा। थोड़े ही दिनों मे बग्घी-बँगले, नोकर चाकर सब विलीन हो गये, और वह अकेले रह गये। आज कई वर्षों से उनका नक्षत्र पल्टा खाये हुए था। पुराने कारबार के, नगर के जान पहिचानी मारवाड़ी सेठ या किसी अग्रेजी कम्पनी का कोई साहेब कभी कोई हल्का-सा काम दे देते थे, जिससे तीस चालीस रुपये महीने का हिसाब लग जाता था। उसमें से 5 रुपया महीना वह मकान का किराया दे देते थे, बाकी मे अपना खाना खर्चा चलाते थे। उनके एकमात्र लड़के अपने शहर मुरादाबाद मे ही रेलवे मे क्लर्क थे। घर का खर्च किसी तरह चला लेते थे और पिता के ऊपर घर चले आने के लिए बहुत जोर देते थे, किन्तु पाठकजी कहते थे—यहाँ समुद्र के किनारे पड़ा हूँ न जाने किस वक्त लक्ष्मी की लहर चली आवे: मुरादाबाद जाने पर तो भविष्य से इस्तीफा दे देना पड़ेगा।

बस्तीवाले ब्राह्मण के सम्पर्क मे आकर रिश्तेदारी मे ही कच्ची रसोई खानी चाहिए—इस पारिवारिक नियम को मैने तिलाजलि दी। पाठकजी का छुआ, तथा उनके गौड़ ब्राह्मणों के बागे का भोजन भी थोड़े से मानसिक सकट के साथ मैंने स्वीकार कर लिया, किन्तु मुझे यह सबसे बड़ा धक्का सा लगा, जबकि मालूम हुआ कि महीने भर से जिसे मै रबड़ी समझकर बड़े चाव से खा रहा हूँ, वह दूध मे भिगोई पावरोटी है। पावरोटी को मै पूरा क्रिस्तानी खाना समझता था। पाठकजी ने हवड़ा पुल के पास ले जाकर पावरोटी की उन दूकानो को दिखलाया, जिनमे शख से सफेद मोटे मोटे जनेऊ पहिने बगाली ब्राह्मण पावरोटी बेचा करते थे। मैं पहिले बगाली को ब्राह्मण ही मानने के लिए तैयार न था। मेंने समझ लिया धरम तो चला ही गया लेकिन सन्तोष करता था—अच्छा यहाँ कलकत्ता मे घर खान्दान का कौन है जो इसे जानता है। इसके बाद तो कितनी ही बार पाठकजी के साथ और अकेले भी मै हवड़ा मे स्टेशन के पास की एक सकरी सड़क पर सिक्खो की तन्दूरी दूकानो पर चला जाता, और गर्मागर्म तन्दूरी रोटियाँ 'महाप्रसाद' के साथ छक आता। पाठकजी के साथ एक बार एक साहेब के बँगले पर जाना पड़ा, बेहरा ने लेमनेड की दो बोतल लाकर सामने रखी, तो मैंने उससे इन्कार नही किया। बंगाली हिन्दू भोजनालयो मे तो अक्सर जाकर खाना खा आता था। किसी मुसल्मान क्रिस्तान होटल मे खाना खाने तो नहीं गया, लेकिन पाठकजी ने उसके लिए भी मुझे तैयार कर दिया था, न खाना सयोग की बात थी।

पाठकजी दिन मे दोपहर को थोड़ा समय छोड़कर बाहर ही घूमते रहते थे, उधर अग्रेजी पढ़ने की मेरी रुचि कुछ बढ़ चली थी, इसलिए एक दिन वह मुझे ले जाकर विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय मे दाखिल करा आये। फर्स्ट बुक पढ़ने को मिली। मेरे दर्जे मे अधिकतर मारवाड़ी लड़के थे, एक सहपाठी को सरवरिया ब्राह्मण कहते सुनकर मुझे यह पता लगा, कि सरवरिया मारवाड़ मे भी होते हैं। हमारे अध्यापक बलिया जिला के रहनेवाले एक दुबले-पतले सज्जन थे।

धीरे-धीरे कलकत्ता की नवीनता जाती रही। राजा चौक के नीचे की दूकानों की मसाला, हल्दी, प्याज की

गन्ध की विचित्रता भी लुप्त हो गयी। दोतल्ले के बगाली बासे की 'झी' (नौकरानी) चिरदृष्ट होने से मेरी ओर जब लौंग बिंधा हरे पान का बीड़ा, अपनी बडी-बड़ी आँखो मे हँसी भरकर बढाती; तो जादू के डर से मैं उसे अब छोड न देता। घर से चिट्ठी-पत्री भी होने लगी। नाना का बार-बार लौट आने का तकाजा था। इस तरह मेरा मन घर आने के लिए उतावला हो पड़ा। नाना ने चिट्ठी लिखी, रुपया भेज दिया। पाठकजी ले जाकर एक दिन हवडा गाडी मे चढा आये।

11

अन्यमनस्कता

रानी की सराय मे रात को उतरा था, इसलिए रात को स्टेशन ही पर रह गया। सबेरे रानी की सराय के कुछ सहपाठियो से भेंट की। मेरी नजर में वे बिलकुल भिन्न-से मालूम होते थे। एक दिन पहिले-पहिल जब मै पन्दहा मे वहाँ पढने गया था, तो वहाँ के लडको की थोडी-सी विभिन्नता उनकी नागरिकता की परिचायक मालूम होती थी; और आज चार महीने बाद कलकत्ते से लौटने पर वे मुझे नितान्त असस्कृत अनागरिक मालूम होते थे। मै अब सफेद धोती, सफेद कुर्ता, फेल्ट टोपी और बूट जूता पहिने हुए था। धूप से बचने तथा साबुन तेल से नहा धोकर साफ-सुथरा रहने का मेरे रग और चेहरे पर भी जरूर असर हुआ होगा। तो भी मै अपने कुछ पुराने साथियो से मिलकर बडा प्रसन्न हुआ। मदरसा देखने गया नही, किन्तु रानी सागर पर महावीरजीवाली कुटिया की अब उतनी रौनक न थी। रेल के आने से पहिले वहाँ वही छोटा-सा मन्दिर और बगल मे एक घर था। वही अब भी वहाँ थे किन्तु बीच मे वह कुटिया बहुत गुलजार हो गयी थी। बराबर पाँच सात साधु रहा करते थे। बाजारवाले रसद पानी देने मे बडी तत्परता दिखलाते थे। वह तत्परता तो शायद अब भी कम न थी लेकिन मालूम होता है यह परिवर्तन किसी योग्य साधु के न रह जाने के कारण हुआ। वहाँ अब एक अनपढ लगडा साधु रह गया था। बन्दरो की भरमार अब भी वैसी ही थी।

नाना के सामने जाने मे अब सकोच न था, क्योंकि बीच के चार महीनो और उनके भीतर हुई घटनाओ ने उनके दिल से दो सेर घी गिराने और 22। रुपये पर हाथ फेरनेवाली बात को भुलवा दिया—इसका मुझे पूरा विश्वास था। नाना मुझको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। मुझे पढाने की उनकी बहुत चाह थी किन्तु अब मेरी इच्छा के विरुद्ध जोर देना नही चाहते थे। यद्यपि मै सितम्बर के महीने मे लौटा था, तो भी यदि तुरन्त पढने मे लग जाता तो मिडल की अगली परीक्षा मे बैठ सकता था, यदि उपस्थिति का खयाल न किया जाता; किन्तु, न नाना ने कहा और न मैने ही पढने का नाम लिया। मेरा समय अधिकतर पन्दहा मे बीतता, कनैला और बछवल भी एकाध बार हो आया था। इसी समय उमरपुर के परमहस के दर्शन का मौका मिला। दिसम्बर या जनवरी (1908 ई.) मे एक बार निजामाबाद गया। उस वक्त मेरे साथी परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। मेरे कलेजे में टीस-सी लगी, किन्तु अब क्या किया जा सकता था?

नाना ने सर्वे मे गाँव के सरकारी कागज मे अपने नाम के साथ मेरा नाम दर्ज करा दिया था, जिस पर उज्र हुआ था, और बन्दोबस्त के डिप्टी ने समझाकर हटवा दिया, यह मै पहिले लिख चुका हूँ। नानी ने अपने अन्त समय मे बहुत जोर दिया, कि नातियो के नाम लिखा-पढी हो जानी चाहिए, जिन्दगी का क्या ठिकाना है। उनके जीते-जी हम चारो भाइयो के नाम नाना ने अपनी सारी स्थावर सम्पत्ति हिब्बा लिख दी। ऐसा करके उन्होने अपने भतीजो, विशेषकर बड़े भाई के लडको को युद्ध का अल्टीमेटम् दे दिया। इस वक्त अभी काना-फूँसी ही हो रही थी, खुला सघर्ष नही हो रहा था, तो भी भविष्य सकटापन्न दीख पडता था। वैसे नाना के छोटे भाई के दो लडको—सूरजबली और नरसिंह का भी नाना की सम्पत्ति पर उतना ही दावा था, जितना बड़े भाई के लडको का, तो भी वे अपने को जन-धन मे निर्बल समझते थे, इसीलिए उनसे खटपट नही थी। नरसिंह मामा तो मेरे

समवयस्क थे, और अब मृत छोटी नानी के संकेत के अनुसार उनकी भावज तथा अपनी मामी के साथ हँसी-मजाक मेरे मनोरंजन का एक खास साधन बन गया था।

धीरे-धीरे जाड़ा बीत गया। गर्मी के महीने और उनके साथ आमों की फसल खतम हो गयी। बेकार रहते मन उकताने लगा, तब जाकर मैंने फिर पढ़ाई शुरू करना ते किया। निजामाबाद में नाम लिखाने के बाद देखा, मेरे पुराने साथी अधिकांश पास होकर चले गये हैं। नये साथियों मे अधिकांश बाहर के स्कूलों से आनेवाले अपरिचित चेहरे थे, कुछ अब के साल के फेल तथा स्थानीय स्कूल के चौथे दर्जे के पास लड़के परिचित भी थे। अध्यापकों में परिवर्तन नही हुआ था। मेरे हृदय मे एक प्रकार की उदासी बनी रहती थी। मैं अपने एक साल के खोये जाने को जिस रूप में देखता था, मुझे मालूम होता है, जैसे दौड़ में मेरी घोर पराजय हुई! दर्जे में जाते ही पुराने परिचित लड़को ने मेरी योग्यता को काफी बढ़ा चढ़ाकर कह दिया था, किन्तु उसको पूरा दिखाने में मुझे कुछ देर लगानी पड़ी। यही नही कि पिछले सवा वर्ष के पुस्तक-त्याग से मैं बहुत सी बातें भूल गया था, बल्कि अब के साल की कई पाठ्य-पुस्तकें बदल गई थी। क्षेत्रविज्ञान की जगह एक दूसरी ही किताब आई थी। उक्लेदिस (रेखागणित) की जगह ज्यामेट्री आई थी। इतिहास में भी शायद कुछ परिवर्तन हुआ था। और इन पुस्तकों के कितने पाठ हो चुके थे, जब मैं फिर से दाखिल हुआ। रात का न पढ़ने की 'कसम' अब के भी मेरी जारी रही, तो भी दो-तीन महीने के बाद फिर मैं दर्जे और स्कूल का सबसे तेज लड़का हो गया।

इधर दो-तीन बरसों से मै मलेरिया से बचा हुआ था। एक दिन पुराने पुजारी के यहाँ गया तो उन्होंने बताशा डाला हुआ तरबूजा खाने को दिया। बोर्डिंग में उसी दिन राब (पतला गुड़) में डालकर मक्का का लावा खाया। खाने में दोनों ही अच्छे लगे थे, किन्तु शाम को के हुई, उसके बाद जड़ैया के साथ ज्वर। मालूम हुआ ज्वर या कमजोरी अभी कुछ दिन रहेगी, इसलिए मैं पन्दहा मे बिना ठहर कनैला चला आया। मुझे यह सुनकर बड़ा अफसोस हुआ कि मेरी बहिन मर गई। मरने के बाद जो रंज हुआ, उससे मालूम हुआ कि मै उसे कितना प्यार करता था। माँ की मृत्यु नानी की उपस्थिति के कारण सह्य हुई थी, और नानी के बूढ़ापन ने उनकी मृत्यु की अवश्यभाविता कहकर सह्य बना दिया होगा, लेकिन बहिन के बारे में वैसे कोई कारण न थे, इसलिए उसकी मृत्यु को मैंने ज्यादा अनुभव किया। उसका चेहरा मोहरा माँ से कुछ मिलता था हाँ उसके ... कान नही कुछ भूरे से थे। वह किसी से झगड़ा करना नही जानती थी, और सकोचशीला थी। एक बार नानी के मरने के बाद हम दोनो पन्दहा मे थे। किसी बात में मैंने उसे डाँट दिया--आखिर बड़ा भाई ही क्या जो छोटे पर कुछ हुकूमत न जताये। रामप्यारी चुपके उठी और कनैला चली गई। मुझे उसका बड़ा अफसोस हुआ, और नाना को पता लगाने 10 मील दौड़े दौड़े कनैला गये। आजी बतला रही थी–कोई बड़ी बीमारी नही थी। जरा जरा जड़ैया आ रही थी, वह भी छूटती-सी मालूम होती थी। मुझसे कहा, 'बड़की मैया! जरा दालान में बाहर जाती हूँ।' लौटकर तुरन्त ही आई। पुआल के बिछौने पर बैठने के साथ ही गिर पड़ी। मै दौड़ी, देखा दो तीन हिचकी आई, जरा सा खून मिला कफ गिरा, और उसका बदन ठंडा हो गया है।

रामप्यारी को मरे अभी हफ्ता नही बीता था। आमतौर से अविवाहित छोटे बच्चे का श्राद्ध नही होता, किन्तु पिताजी इसे माननेवाले न थे। वह अपनी रामप्या... के प्रति प्रेम और श्रद्धा को किसी रूप में दिखलाना चाहते थे।

दो-तीन सप्ताह मे अच्छा होकर मै फिर निजामाबाद चला आया। उस साल वर्षा के शुरू होते ही से नाना और उनके भतीजों में हिस्सा के लिए झगड़ा हो रहा था। उन्होने एक मुकदमा दीवानी मे दायर किया था। लेकिन उन्हे वकीलो ने बतला दिया था, कि कानून नाती के हक को मानता है। वे यह भी नही साबित कर सकते थे; कि नाना और उनका सम्मिलित परिवार है; क्योकि इसके खिलाफ छोटे नाना का नाना के नाम लिखा बैनामा मौजूद था। दीवानी में पक्ष कमजोर देखकर उन्होंने फौजदारी शुरू किया। जबर्दस्ती खेत काट लिया। नाना अकेले और बूढ़े थे, बेचारे कहाँ तक ज़ोर लगाते। पिताजी को भी उनकी मदद मे आना पड़ा, जिससे उनके घर का काम

हर्ज होने लगा। मैं इन खबरों को सुनता था, किन्तु अन्यमनस्क-सा रहता था।

परीक्षा के तीन-चार मास रह जाने पर सारे जिले के तहसीली स्कूल अपने यहाँ के छठे दर्जे (मिडल के अन्तिम दर्जे) के विद्यार्थियों का मासिक सम्मिलित इम्तिहान लेते थे। आजमगढ़ के किसी प्रेस मे छपकर हर विषय के प्रश्नपत्र हमारे पास आते थे। इस परीक्षा से यह भी पता लगता था, कि कौन स्कूल और उसका कौन विद्यार्थी कितना तेज है ? सारे जिले के विद्यार्थियों मे मेरा और मकबूल (?) का मुकाबिला रहा करता था, और सो भी जबान (भाषा) को लेकर; क्योकि जहाँ उर्दू की नौंव मेरी शुरू से नहीं बन पाई थी, वहाँ मकबूल को उसकी योग्यता बढ़ाने के अच्छे साधन प्राप्त थे। तो भी अधिक बार मैं ही प्रथम रहता रहा। मकबूल का मकान तो नही मालूम, किन्तु वह आजमगढ के तहसीली (मिडल) स्कूल मे पढ़ता था।

जनवरी (1909 ई.) तक ही शायद हर तरह से तग आकर पिताजी को मेरे चचेरे मामा लोगों मे सुलह करनी पडी थी। उन्होने देख लिया कि 5 कोस दूर दूसरे गॉव मे जाकर वह लाठी तो लाठी, कानून की लडाई भी ठीक से नही कर सकते। उन्होने यह भी देखा कि हजार-डेढ़ हजार की जायदाद के लिए पॉच छै सौ रुपये अभी उनके खर्च हो गये है। मामा लोगो ने भी ऊँच-नीच सोचा और अन्त मे मेरे फूफा पच बनाये गये। उन्होंने फैसला दिया कि जायदाद के लिए मामा लोग भाजो को ग्यारह सौ (?) रुपये दे। नाना की भावना का खयाल करके उन्हे अपने साथ पत्थर के कोल्हू को भी कनैला ले जाने का अधिकार दिया गया। भतीजो मे बच्चा पाठक और जवाहर तो बराबर कलकत्ता ही अपनी नौकरी पर रहते थे। रामदीहल की भाइयो मे पटती कम थी, सीताराम सबसे बड़े भाई मुँहजोर बहुत थे, किन्तु असली दिमाग था सबसे छोटे रामदीन मामा का। झगडे मे रामदीन मामा का ही सबसे बडा हाथ था, किन्तु उनके प्रति मेरा भाव सदा सम्मान और प्रेम का था। उसका कारण भी था। उन्होंने रानी की सराय ले जाकर मेरा अक्षरारम्भ कराया था। वह लाअरप्राइमरी पास कर कुछ महीने निजामाबाद दर्जा 3 मे पढ़ने गये थे—उस वक्त रानी की सराय मे अपरप्राइमरी के दर्जे नही थे, लेकिन उन्होने वहीं से उर्दू सीख ली थी। किताब आदि की सहायता से वह रोमन मे भी लिख लेते थे—और रोमन लिखना उस वक्त मेरे जैसो की नजर मे अग्रेजी-साहित्य मे पारगति प्राप्त करना था। दूसरे-तीसरे दर्जे मे पढ़ते वक्त जब मैं घर लौटता, रामदीन मामा घसीट उर्दू लिखकर मेरे पढने की परीक्षा करते, और मेरे पढ़ लेने पर शाबाशी देते हुए नाना से कहते—चाचा ! अब केदारनाथ के पढ़ने मे कोई हर्ज नही है। यह सुनकर मुझे बडी खुशी होती। सच पूछो तो रामदीन मामा बचपन के मेरे प्रथम आदर्श थे, और शायद उसीलिए बीच के कड़वाहट के जमाने मे भी मेरे भाव ज्यो के त्यो रहे। यह भी हो सकता है, कि पन्दहा की जायदाद के प्रति मेरा कोई आकर्षण नही था।

शायद जनवरी का ही महीना था, जबकि मैं पन्दहा मे किसी छुट्टी मे आया था। दोनो घरो मे सुलह हो गई थी। नाना से उनके भतीजों, और खासकर भतीज-बहुओ का आग्रह था, कि वह वहीं रहे। रामदीन मामा की स्त्री (पहिली नही, जो मेरे बाल्यस्नेह और श्रद्धा की आराध्य देवी थी) से नाना भी बहुत खुश थे, किन्तु उनको डर था, कि किसी दिन कोई ताना न मार दे—जमीन बेच-खोचकर तो नानियो को दे दिया, अब यहाँ पडे है टुकड़ा तोडने के लिए। नाना कनैला जाने के लिए तैयार बैठे थे, लेकिन अभी गये नही थे। एक तरह नाना का घर उनके भतीजों के सुपुर्द हो गया था, और नाना उन्ही के घर खाना खाते थे। अबकी मैं भी वहीं ठहरा। ऊख का मौसिम था, यद्यपि पत्थर के कोल्हू की जगह लोहे के कोल्हू का प्रचार हो जाने से ऊख के शर्बत मे न वह मिठास थी, और न वह सामूहिक कार्य करने का दिलबहलाव। हाँ, इस समय मुझे एक काम करना पड़ा, जो मेरी स्मृति को उस दिन की ओर ले गया, जब कि रामदीन मामा ने ले जाकर रानी की सराय मे मेरा अक्षरारम्भ करवाया था। बडे नाना ने अपने पौत्र, रामदीन मामा के पुत्र दीपचन्द को मुझे ही ले जाकर अक्षरारम्भ करवा आने का आदेश दिया, और मुझे इस आदेश को पालन करने मे बडी खुशी हुई। मालूम होता था, मैं उसके द्वारा एक बडे ऋण से उऋण हो रहा हूँ।

लडकपन से ही सम्मिलित बडा परिवार मुझे बहुत प्रिय लगता था। जब मैं अभी सात ही आठ साल का था, तभी मझगॉवां के एक राजपूत परिवार के रामफल, बाँके आदि 5, 6 लड़के रानी की सराय पढ़ने आते थे।

मझगाँवाँ पन्दहा से भी मील-डेढ़ मील और आगे है, इसलिए उन्हें रोज छै मील आना जाना पडता था। मुझे देखकर रश्क आता था, जबकि वे पाँचों-छओं लड़के एक अँगोछे से भूँजा या सना हुआ सत्तू खाते थे। मझगाँवाँ में मैं सिर्फ एक बार गया था, और उनके घर को शायद नजदीक से देखने का मौका नही मिला। तो भी मुझे यह सुनकर बड़ी खुशी होती थी, कि उनके घर में चालीस पचास व्यक्ति हैं, मन भर चावल एक दिन में खर्च हो जाता है। वह परिवार मुझे आदर्श-सा मालूम होता था। मेरे सामने उस परिवार में अलगा-विलगी नही हुई थी। इसी तरह का एक राजपूत परिवार कनैला के पास के एक गाँव··· में था। कनैला में हमारे यहाँ यजमानी नही होती थी, और यजमान के नाते था इन्हीं का एक परिवार। मै बहुत छोटा था, जबकि उस परिवार के अन्तिम प्रधान का देहान्त हुआ था, और बाकी बचे लोगों में सबके विश्वास का पात्र कोई व्यक्ति न रह गया। मेरे चचेरे आजा (दादा) महादेव पांडे–जिनको मेरे आजा जानकी पांडे बहुत मानते थे–बड़े भाई के मरने के बाद मुखिया होकर सारे परिवार को इकट्ठा रखकर चलाने मे समर्थ तो नहीं हुए–और शायद इसका बहुत कुछ दोष मेरी आजी की नीम-सी कड़वी जबान और क्षुद्र-हृदयता थी, किन्तु वे गाँव के प्रधान और आसपास के इलाके के भी एक माननीय पंच माने जाते थे। उक्त राजपूत परिवार के लोग उस वक्त परिवार के बँटवार के लिए दौड धूप कर रहे थे। महादेव बाबा उन्हें बहुत समझा रहे थे इकट्ठा रहने के लिए, लेकिन वे उसमें सफल न रहे। मै समझता हूँ, सम्मिलित परिवार की मौखिक बरकतों को यदि सुनने का मुझे कभी मौका मिला होगा, तो इसी समय। सम्मिलित और बड़ा परिवार, मालूम होता है, मुझे स्वभावतः प्रिय था, यह मैं आज साम्यवादी मनोभाव के कारण नही कह रहा हूँ। दाल मुझे बहुत नापसन्द थी, चावल को भी मैं खा नही सकता था, किन्तु, मुझे तअज्जुब होता था, कि कनैला के बिरादरी के भोजो में मटर की भी दाल मुझे इतनी स्वादिष्ट क्यो मालूम होती है ? साठी का बिलकुल मोटा झांटा भात बार-बार मैं माँगकर क्यो खाता जा रहा हूँ ? हो सकता है सम्मिलित बड़े परिवार और सम्मिलित बड़े भोज मुझे इसलिए ज्यादा आकर्षक मालूम होते हो, कि मेरे नाना के घर मे दो बूढ़े व्यक्ति और मै अकेला लड़का था, उस पर से खेल-कूद मे भी मुझ पर कड़े निर्बन्ध थे, और इसीलिए एक ही परिवार मे बहुत-से बच्चों को देखने के लिए मैं तरसा करता था।

कुछ भी हो, नाना के यहाँ के झगड़े की शान्ति से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। बरसों से मुझे देखते ही रामदीन मामा के घर की कितनी ही त्योरियाँ जो चढ़ जाया करती थी, अब उनमें एक तरह का स्नेह दिखलाई पड़ता था। कह नहीं सकता, उस बार रामदीन मामा से मुलाकात हो पाई। वे पल्टन छोड़ने के बाद कुछ समय तक घर पर रहे, फिर पोस्टमैन हो गये, रहते जिले ही में थे, किन्तु घर से दूर। पहले जब मै रानी की सराय मे पढ़ा करता, तो अतवार की छुट्टियो में उनसे भेट हुआ करती, किन्तु निजामाबाद चले जाने के बाद उसका बहुत कम मौका मिलता था।

निजामाबाद की पढ़ाई के दिन समाप्ति पर पहुँच रहे थे। नौ महीने पहिले सहपाठियों में जो अधिकाश अपरिचित चेहरे देखे थे, अब वे सुपरिचित हो गये थे। आज (21-4-40) 31 वर्ष बाद, सो भी 23 साल में जब कि जिले तक को देखने का मौका मिला, यदि सभी नाम याद नही पड़ रहे हो, तो स्मृति को बहुत दोष नही दिया जा सकता। उनमे से बहुत-से चेहरे अब भी स्मृति-पट पर साफ दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि वे 31 वर्ष के पहले के उनके लड़कपन के चेहरे हैं, और उनके बल पर आज अपने उन सहपाठियो को पहचानना मेरे लिए सम्भव नही होगा। 'नई' गाव को बहुत बचपन से ही पन्दहा से कनैला आते-जाते मै रास्ते से कुछ हटकर देखा करता था। वहाँ के तीन लड़के मेरे साथ पढ़ते थे। तीनों चचेरे भाई किन्तु एक परिवार के थे। पतले-दुबले तो सभी थे, किन्तु बड़े श्यामनारायण पांडे सबसे ज्यादा दुबले थे, शायद इस अन्दाज मे उनकी लम्बाई भी कारण रही हो। वह और सबसे छोटे भाई पढ़ने में अच्छे थे, मझले पढ़ने में कमजोर; किन्तु वे अक्सर हमारे रविवार के 'व्रत' (मासभोजन) मे शामिल हो जाया करते थे। मुझे याद नहीं, कभी इन तीनो भाइयो की मुझसे अनबन हुई हो, किन्तु बाकी दो भाई ताना दे देते थे–केदारनाथ तो हमारे भाई को फोड़ लेते है। मेहनगर के दो चचा-भतीजे महाब्राह्मण लड़के पढ़ते थे, उनमे

भतीजा मेरी उम्र का था, दर्जे में मेरे बाद तेजी में उसी का नम्बर था। उसका स्वास्थ्य भी अच्छा था, कद और आयु मे मेरे बराबर होने पर भी वह बहुत मजबूत था, मिडल पास करने के बाद एक बार बनारस में उनसे भेट हुई थी, वह वहाँ कोतवाली में कान्स्टेबल थे।

सारे जिले के मिडल के लड़कों का इम्तिहान आजमगढ के मिशन स्कूल में हुआ करता था। यह वही मिशन स्कूल था, जिसके बारे मे रानी की सराय के आरम्भिक दिनों मे नाना कहा करते थे—उर्दू पढ़ जावे, फिर तो जहाँ मैंने एक बार पादरी साहेब (मिशन स्कूल के हेड मास्टर) को फ़ौजी सलाम दिया, कि उसे भरती करवाकर छोड़ूँगा। उनके फुफेरे भाई इसी स्कूल में पढे थे, जो कि पीछे सब-जज बनकर जवानी ही में मरे थे। स्कूल के पास ही एक वर किराये पर लिया गया था, जिसमे हम निजामाबादी परीक्षार्थी ठहरे हुए थे। याद नही हम लोगों के साथ कौन अध्यापक गया था। दस बजे परीक्षाशाला में हम पहुँचते थे। सारे युक्तप्रान्त के लिए एक ही तरह के प्रश्नपत्र छपकर आते थे। हम उर्दूवालो के पर्चे नस्तालीक में नहीं, बल्कि काँटेवाले टाइप मे छपे होते थे। देखने मे तो खैर वे भद्दे होते ही हैं, साथ ही उनके पढने मे विद्यार्थियो को दिक्कत भी होती है। हम लोगो की प्रायः सारी ही पुस्तकें नस्तालीक में छपी थीं, इसलिए हमारे वास्ते और भी दिक्कत थी। और मुझे तो इन कँटीले टाइपो का गुन और भी नहीं भूल सकता, क्योंकि मेरे जीवन-प्रवाह को एक दूसरी धारा मे बहाने मे उनका भी खास हाथ होता था। मेरे फेल होने की तो कोई सम्भावना थी नही; हाँ, सवा साल पढ़ाई छोडकर पहिने के पढे को भुलवा देने तथा पाठ्य-पुस्तको के परिवर्तन के बाद भी लोगो की राय थी, कि मुझे सरकारी छात्रवृत्ति मिलेगी। लेकिन जब इन कँटीले टाइपो मे छपे अनुवाद के पर्चे में 'इलाहाबाद' या 'अल्लाह अल्लाह' मे से एक की जगह दूसरा पढकर मैंने सारे अनुवाद ही को उल्टा कर डाला, तो मुझे तो पूरा सन्देह हो गया।

परीक्षा देकर मैं कनैला चला आया। अब की एक से अधिक बार उमरपुर के परमहस बाबा की कुटी पर गया। परमहस बाबा के बारे मे चारो ओर ख्याति थी, कि वे 120 वर्ष के हैं। आसपास के कितने ही बूढे आदमी गगा-तुलसी उठाने के लिए तैयार थे, कि पिछले पचास सालों से वे उन्हे उसी सूरत मे देख रहे है। परमहंस बाबा अपने जन्मस्थान पोखरा (नेपाल) से काशी विद्या पढने आये थे। वही वैराग्य हुआ, और सन्यासी हो गये। बनारस मे जब रेल आयी, तो वे राजघाट की एक गुफा मे योगाभ्यास करते थे। किसी अपने भक्त से उन्होंने रेल से दूर ले चलने के लिए कहा, जिस पर वह उन्हे कटहन से दक्खिन के अपने गाँव मे ले आया। एकाध जगह कुटी बदलने के बाद आसपास के गाँवो मे मील-मील पौन-पौन मील दूर मॅगई नदी के दाहिने तट को अपने लिए पसन्द किया। जल्दी ही वहाँ उनके लिए कुटी बन गई। एक-दो कोठरी और बराडेवाली खपडैल से छाई मूल कुटी थी। इसके चारो ओर खपड़ैल से छाई कच्ची चहारदीवारी। इस चहारदीवारी के बाहर एक और बड़ा हाता—मिट्टी के ऊँचे 'खाँवें' (परिखा) से घिरा था, जिसके भीतर दो पोखरियाँ, एक झोपडी और बहुत-सी खाली जगह थी। उत्तरवाली पोखरी में पक्की सीढ़ियाँ थी; और इसमें परमहंस बाबा को छोडकर कोई दूसरा, नहाने-धोने की तो बात ही क्या आचमन भी नहीं कर सकता था। पूरबवाली पोखरी सार्वजनिक सम्पत्ति थी। भीतरी चहारदीवारी के दरवाजे के बाहर पूरब मुँह की एक फूस की झोपड़ी थी, जिसमे सभ्य भक्त लोग बैठा करते थे। हाँ, सभ्य भक्त इसलिए कहता हूँ, कि परमहस बाबा भक्तो को भी असह्य समझते थे। कुटी के बाहरी हाते के भीतर घुसने पर भी कितनो पर मार पडती थी। चरवाहे डर के मारे अपने पशुओ को दूर रखते थे। यह डर मार का उतना नहीं था, जितना परमहस बाबा के सिद्धबल का। आसपास के साधारण लोग ही नही, फूफा महादेव पाड़े जैसे संस्कृत के धुरन्धर पडित और कितने ही अग्रेजी पढे-लिखे अफसर तक उन्हे अगाध पडित, जीवन्मुक्त योगी और सिद्ध मानते थे। लोग जब दुःख-सुख मे उनसे वरदान माँगने जाते, और उनके इनकार करने तथा चले जाने के लिए कहने पर भी नही हटते थे, तो कभी-कभी वह डंडा भी चला देते थे, किन्तु जिस पर डंडा पड़ता था, वह समझता था, हमारा मनोरथ सुफल हो गया।

परमहस बाबा में दिखलावा नहीं था। वह एकान्तप्रिय थे, और अपनी भीतरी चहारदीवारी से बाहर शायद ही कभी निकलते थे। भीतरी चहारदीवारी के भीतर इमली के कितने ही दरख्त तैयार हो गये थे, जिन पर चिड़ियों ने कब्जा जमा लिया था। शायद यह उन्हें नापसन्द न था, क्योंकि कभी-कभी चिडियों को चहचहाते देख, वह

भी उस तरह नकल करके कहते थे–'चूँ चूँ करता है।' एक बार हजारों चिड़ियां ने अपना शहर बसाकर बाकायदा बहस-मुबाहसा शुरू कर दिया। परमहंस बाबा ने इमली की सारी डालियों को कटवा दिया, और चिड़ियों को डंडा-कुंडा लेकर भागने के लिए मजबूर किया।

परमहंस बाबा की सेवा में दो व्यक्ति बहुत तत्पर थे, एक हरिकरणदास–हाँ, यह संन्यासी का नाम नहीं है। हरिकरणसिंह पास के गाँव के एक जवान राजपूत थे। परमहंस बाबा की सेवा के लिए वे घर का कारोबार छोड़ वहीं–किन्तु कुटिया से दूर हटकर, परमहंस बाबा अनन्य सेवक को भी पास रहने नहीं देते थे–रहने लगे। बाबा तो किसी को चेला बनाते न थे, इसलिए हरिकरणसिंह ने स्वय गेरुआ रंग लिया, चुटिया-जनेऊ तोड़ फेंके, और हरिकरणदास बनकर कुटिया से तीन-चार सौ गज दूर दक्षिण तरफ एक खपड़ैल की कुटिया में रहना शुरू किया। परमहंसजी के भोजन तथा भीतरी कुटिया की सफाई आदि का भार उनके ऊपर था। उनके अतिरिक्त बालदत्तसिंह एक दूसरे भक्त थे। इन्होंने बूढ़ी माँ, स्त्री, तथा घरबार छोड वैराग्य और सन्त-सेवा के लिए परमहंस बाबा की कुटिया पर धुनी रमाई थी। बालदत्तसिंह ने कपडा नही रँगा था। घर में रहते वक्त भी वह धार्मिक प्रवृत्ति के आदमी थे, और मेरे पिता से उनकी बहुत पटती थी–दोनों में पुरोहित-यजमान का भी नाता था। परमहंस बाबा पहिले ब्राह्मण-क्षत्रिय के घर के बने भोजन को खा लिया करते थे, एक बार किसी स्वच्छन्दवृत्ति स्त्री ने परमहंसजी को खिलाकर पडोसियों को ताना मारा–"तू क्या कहेगी, मेरे हाथ की रसोई तो परमहंस बाबा ने स्वीकार की।" इसी के बाद किसी के घर की रसोई खाना उन्होंने छोड दिया। यह नये स्थान पर आने से बहुत पहिले की बात है। मामूली फल-फूल छोड़कर, बाकी भोजन वह सिर्फ एक व्यक्ति का स्वीकार किये हुए थे। खजुरी के एक राजपूत जमींदार को इसका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी ओर से एक दूध देनेवाली भैंस बराबर आया करती थी। बालदत्त भैंस की सेवा द्वारा परमहंसजी की सेवा करते थे। गोभी-आलू की गाढ़ी तरकारी, रोटी से नहीं, खाली खाने के लिए, और दूध में भिगोया धान का चूरा परमहंस बाबा का प्रधान भोजन था। ऊख का रस भी उन्हें पसन्द था, इसके लिए लकड़ी के बेलन का कोल्हू बाहरी हाते की मँड़ैया के सामने गड़ा हुआ था।

मेरे पिता धार्मिक आदमी थे, किन्तु अन्ध श्रद्धा उनमे बहुत कम थी। सिसवा के पौहारी बाबा की कनैला और आसपास के गाँवों मे बड़ी पूजा होती थी; किन्तु पिताजी साधारण शिष्टाचार-भर का उनसे सम्बन्ध रखते थे। इसी तरह आजमगढ के पास के एक कबीरपंथी साधु भी दो-तीन अनुयायियों के साथ हर साल गाँव में अनाज जमा करने आते थे। गाँव के बीच में एक पुराना पीपल का वृक्ष था, जिसे गाँव की स्थापना के समय ही रोपा गया बतलाया जाता था। गाँव के पास का पोखरा भी तभी खोदा गया था, किन्तु पानी नहीं निकल रहा था। कहते हैं; उसी समय गोविन्द साहेब एक सिद्ध फकीर कनैला पहुँचे। उन्हीं के वरदान से पोखरे में पानी निकल आया, और उन्हीं ने अपने हाथ से यह पीपल लगाया था। इस पीपल को भी 'गोविन्द साहेब' कहा जाता था। उस विशाल वृक्ष की घनी छाया गर्मियों में बहुत शीतल मालूम होती थी, गाँव-भर के कितने ही आदमी उसके नीचे या पास के सुखदेव पाडे की बैठक मे बैठे रहते थे। रामायण और फाग-मण्डली के जुटने का यही स्थान था। कबीरपंथी महात्मा भी आकर यहीं ठहरते थे। परमहंस बाबा की बात दूसरी थी। दूसरे सन्त-महात्माओं से गाँव के लोग तभी खुश रहते थे, जब वे प्रसाद बाँटने मे उदार देखे जाते। पौहारी बाबा तिन्नी के चावल के भात में घी-साग-तरकारी आदि मिलाकर चूँ चूँ का मुरब्बा बाँटते थे, कबीरपंथी महात्मा नारियल-गिरी के टुकड़े। पिता का अनुराग इन महात्माओं में न था, किन्तु परमहंसजी के वे बड़े भक्त थे। बालदत्त और पिताजी के कारण मै भी वहाँ आने-जाने लगा। शायद हरिकरणदास से एकाध बार बात करने का भी मौका लगा था, और मुझे साधु-जीवन की ओर हल्का-सा आकर्षण भी हुआ, किन्तु भविष्य के गर्भ में जो था, उसका अभी कोई आभास न दिखलाई पड़ता था।

परीक्षा देकर आने के बाद दो सप्ताह से ज्यादा घर पर नहीं रह सका। तबियत लग नहीं रही थी।

12
दूसरी उड़ान

'सैर कर दुनिया की गाफिल' का मत्र चैन नही लेने दे रहा था। पहिली उड़ान के लिए घी का गिरना और नाना की डॉट का डर भी कारण था, किन्तु अब की बार के लिए उसकी आवश्यकता न थी। रास्ते के लिए पैसे की जरूरत होती है, यह तो मैं शैशव से जानता था, जबकि सुना था कि नाना अपने पिता के रखे सौ रुपयो को लेकर सुदूर दक्षिण-हैदराबाद की ओर चपत हुए थे। मुझे अब की बार एक या दो रुपये तथा रुपयों की मालावाला जेवर हाथ लगा। माला को तो प्रश्नोत्तर के डर से मैं नही बेच सका, और आठ महीने बाद उसे वैसा ही लौटा लाया, लेकिन रुपयो ने कलकत्ता पहुँचने मे मदद दी। रेल का टिकट शायद मुगलसराय ही तक खरीदा जा सका, बाकी सफर टिकट के बिना ही तै हुआ। शायद रास्ते में कोई टिकट-चेकर नही मिला। लिलुआ मे कैसे जान बची, इसका भी स्मरण नही। दो साल पहिले के कलकत्ता आने और अब के आने मे बहुत अन्तर था। अब मै वह पुराना सीधा-सादा चौदह वर्ष का गँवार लडका न था, जिसकी अकल हवडा के मुसाफिरखाने ही को देखकर खब्त हो जाती। मुझे पुरानी यात्रा के तजरबे के अतिरिक्त यह भी मालूम था, कि मेरे मेहरबान पाठकजी कलकत्ता में मौजूद हैं।

पाठकजी अब भी अपनी उसी कोठरी मे रहते थे। अभी भी उनके लिए लक्ष्मी की लहर का कही पता न था। हाँ, अपना खर्च किसी-न-किसी तरह चल जाता था। आजमगढ मे अभी कैरियो देखकर आया था, किन्तु यहाँ कलकत्ता मे पके आम बिक रहे थे। उस वक्त पाठकजी ग्रेट ईस्टर्न होटल को चटनी-मुरब्बे के लिए आम देने का टीका लिये हुए थे। मुझे आने के साथ ही काम मिल गया। बाजार मे आमो को गिनवाने तथा होटल मे उन्हे सँभलवाने मे मैं भी उनकी सहायता करता था। आमो का काम खतम हो जाने पर हवडा मे रेलवे का कोई उच्च कर्मचारी पेंशन लेकर विलायत जा रहा था। पाठकजी ने उसकी कोठी की चीजे नीलाम ली थी। पाठकजी के पास, वस्तुत: उनके खरीदने के लिए भी रुपया कहाँ था, रुपया किसी मारवाडी सेठ का था, नफे मे कमीशन पाठकजी को भी कुछ मिलनेवाला था। कोठी से सामान लाने मे मुझे भी सहायता करनी पडी। उसी वक्त मुझे मालूम हुआ, अग्रेजो की तरह रहने मे कितने सामान की आवश्यकता होती। दर्जनो तो छुरियाँ थी। काँटे, छोटे-बडे-चम्मच, प्याले, चायदानियाँ, प्लेटे, तश्तरियाँ और खाना परोसने तथा खाने के न जाने कितने बरतन थे। सूती-ऊनी कपडो के बीसियों सूट थे। कुर्सी मेज आदि के साथ एक मलाई का बर्फ जमाने की मशीन भी थी। सामान लदवाकर लाया गया। कुछ चीजे तो थोक ही बेच दी गयी, किन्तु कपडो मे से कितनो को पाठकजी ने मेरे वास्ते फेरी के लिए छोड रखा। चन्द दिनो मैंने उन कपडो की फेरी भी की। कालेज स्क्वायर के जैसे लोहे के कठघरो पर उन कोटो, कमीजो और पतलूनो को टाँग देना था, और फिर गाहको के आने की बाट जोहता था। गाहक मेरे पास शायद ही कभी आये। मै समझता था, बिक्री मे भी हाथ हाथ की बात होती है, किन्तु कोई मछली और आम मारने मे अधिक सफलता प्राप्त करते देख ऐसा ही मै समझा करता था। मुझे उस वक्त खयाल नही आता था कि जिन लोगो के सामने मे इन सूटो—अधिकांश जीन के—को फैलाये हुए हूँ, उनमे से एक भी तो, इनाम देने पर भी उन्हे पहिनकर बाजार मे चार कदम चलने के लिए तैयार नही हो सकता। हार मानकर फेरी का काम बन्द करना पडा।

मारवाडी सेठो के काम के लिए पाठकजी को साहेब लोगो के पास अक्सर आना-जाना पडता था। हवडा स्टेशन के मालगोदाम के सुपरिन्टेंडेन्ट या असिस्टेंट सुपरिन्टेंडेन्ट से उनका परिचय था। वह एंग्लो-इंडियन था। पाठकजी के कहने पर उसने मार्कामैन का काम मुझे दे दिया। मुझे अभी काम सीखने को मिला था, और मुफ्त भी वहा कितने ही बगाली तरुण काम करते या करने के लिए लालायित थे। उम्मीदवारो को भी रोज कुछ-न-कुछ आमदनी हो जाती थी, और नौकरी मिल जाने पर तो वह खासी आमदनी की नौकरी समझी जाती थी। काम था बिल्टी देखकर सफेद या काली स्याही से माल पर भेजने और पानेवाले स्टेशनो के सकेताक्षर तथा बिल्टी के

नम्बर को अंग्रेजी में लिख देना। इसके लिए बहुत ज्यादा अंग्रेजी जानने की जरूरत न थी। माल बहुत पड़ा रहता था, जब तक मार्का न पड़ जावे तब तक माल रवाना नहीं हो सकता था, इसीलिए हर एक माल भेजनेवाला मार्का बाबू की भेंट-पूजा के लिए तैयार रहता था। मुझे छोड़ सभी मार्का बाबू बंगाली थे। वह पुराने और उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे। पैसा मिलनेवाला मार्का कभी मेरे पास नहीं आया। मुझे उस आमदनी की उतनी चिन्ता भी न थी, क्योंकि भोजन के लिए मैं निश्चिन्त था। पाँच-सात दिन बाद मालूम हुआ, मेरे नजदीकी चचा जयमंगल भी उसी गोदाम में कुली का काम करते हैं। वह कभी कभी चीनी का शरबत पिलाते थे। जब लाखों मन चीनी को वहाँ से गुजरना था, तो शरबत का कौन दुःख ! एकाध फट बोरे निकल आने से लखपती व्यापारियों का दीवाला थोड़े ही निकलनेवाला था।

दो तीन सप्ताह बीतते बीतते मेरा मन वहाँ से ऊब गया। काम में अच्छी तरह करने लगा था, किन्तु वहाँ दिल बहलाव के लिए कोई साथी न था। दूसरे बाबुओं से भाषा-भेद के कारण भी शायद घनिष्टता न पैदा हो सकती थी, लेकिन उससे भी अधिक कारण था उनका मेरे रहने का भीतर ही भीतर नहीं पसन्द करना। साहेब की ओर से भेजे जाने के कारण वह मेरा कुछ कर नहीं सकते थे, किन्तु उनके अलग-थलगपन ने खुद मेरे ऊपर असर डालना शुरू किया। यदि जीविका और रुपये कमाने की फिक्र होती, तो उस एकान्तता को सह्य भी कर लेता, और कुछ महीने रहने के बाद शायद कुछ दोस्त भी बन जाते, इस प्रकार हबड़ा मालगोदाम की मार्कामैनी अचल हो जाती; लेकिन क्या करूँ, स्वभाव से मजबूर था। काम छोड़कर मैं चला आया, उसके बाद भी साहेब ने पाठकजी से मुझे भेजने के लिए कहा, किन्तु मैं नहीं गया।

पाठकजी मुरादाबाद के रहनेवाले थे, यह कह चुका हूँ। उनकी और उनके शहर के कुछ दूसरे साथियो की बोली सुनकर मुझे पता लगा, कि किताबों से पढ़ी और माँ के दूध के साथ बोली जानेवाली हिन्दी में कितना अन्तर है। कह नहीं सकता, पहिले के चार और अब की के आठ मास के सहवास में मैं भी पाठकजी की-सी हिन्दी (या उर्दू कहिए) बोलने लगा था, किन्तु दोनों के उच्चारण और मुहावरे की बारीकियों को तो जरूर समझता था। पाठकजी के हाथ में था ही क्या, किन्तु पैसा होने पर वह बहुत उदार हो जाते थे, साथियों की मदद करने में। मैं तो उनका पोष्य पुत्र-सा हो गया था, उनके शहर के एक व्यक्ति—जिनका नाम तो कुछ दूसरा था, किन्तु एक आँख के धनी होने के कारण सब लोग उन्हें 'नवाब' 'नवाब' कहा करते थे—को कितनी ही बार वह सहारा देते थे। 'नवाब' साहेब दस बारह वर्ष से कलकत्ता में रहते थे। कचालू मुर्ग कलाम का बनाते थे। सवा रुपये की घुइयाँ, आलू, केला, अमरूद, नीबू, मसाला आदि चीज लगती थी। सवेरे से दोपहर तक चीजों को तैयार करने में लगता था। बारह बजे बाद नवाब साहेब अपना खोंचा लेकर निकल जाते तो शाम तक तीन-साढ़े तीन रुपये तो धरे हुए थे। डेढ़-दो रुपये रोज कमा लेना 'नवाब' के लिए बायें हाथ का खेल था, लेकिन नवाब पूरे नवाब-मिजाज थे। रुपये हाथ में आते ही उन्हें काटने लगते थे। सट्टे के पीछे वे मरते थे। अफीम, चाँदी ही नहीं, पानी का भी जुआ कलकत्ता में होता था। तुलापट्टी में किसी मारवाड़ी सेठ के छत का पनाला वह निकलता और पानी के खेला में पैसा लगानेवालो के पो-बारह हो जाते। रुपया पास हो और नवाब सट्टे के बाड़े में न जावे, यह असम्भव बात थी। और फिर सट्टा करते उनको इसका भी ध्यान नहीं रहता था, कि खोंचे के लिए माल खरीदने भर का पैसा तो बचा रखें। दस-पाँच दिन खोंचा लगाते, कुछ पैसे जमा होते, फिर मूलसहित सट्टेबाजी में हार आते। दो दिन चार-दिन भूखे पड़े हैं, मारे मारे फिर रहे हैं, किसी मार्फत ने सवा रुपये का इन्तजाम कर दिया, और फिर खोंचा उन्होंने उठाया। दो-तीन हफ्ते बाद फिर वही रफ्तार बेढंगी। पाठकजी नवाब की बराबर फिक्र रखा करते थे। पैसा देकर मदद करने से स्थायी फायदा न होते देख, एकाध बार तो वह नवाब को अपने यहाँ लिवा लाये। नवाब कोयले के चूल्हे पर ऊपरवाली आले जैसी कोठरिया में कचालू का सामान तैयार करते। जीरा, धनियाँ और क्या-क्या मसाले भूनते और पीसते, जिनकी सुगन्ध बड़ी सोंधी लगती। मुफ्त का और सो भी मात्रा से अधिक खाने को मिल जाने के कारण मुझे उस कचालू का वह मजा न आता था, जो कि पैसा गिन-गिनकर दोना-दोना लेकर खानेवालों को। नवाब के एक और दोस्त थे, शायद मथुरिया चौबे। मछुआ बाजार में उनकी मिठाई की दूकान थी। मिठाई अच्छी बनाते थे, लेकिन जब सट्टे की सनक चढ़ती, तो जोड़-जाड़कर सारी पूँजी तक स्वाहा कर आते।

खैरियत यही थी, कि उन्होंने एक रखेलिन रखी थी, और वह किसी तरह दूकान को बिलकुल उजड जाने से बचा लेती थी।

नवाब के दोस्तों मे मुरादाबाद का ही एक ब्राह्मण नौजवान था। दोनो साथ ही कलकत्ता पहुँचे थे। वह देखने-बोलने मे बगाली मालूम होता था। बगाल का किसी भी जिले का कोई मेला उससे छूटता नही था। कोई भी छोटी-मोटी चीज बेचकर उसी के सहारे वह अपने राह-खर्च निकाल लेता था। और वह चीज भी बाज वक्त उसका अपना आविष्कार होती। उस समय वह चार-चार पैसो मे मोहिनी हार बेच रहा था। ताँबे का चमकता पतला तार बाजार से लेकर चरखे के तकुये पर लपेटकर बाहर को खिसकाता जाता, फिर अपेक्षित लम्बाई का हो जाने पर तोडकर तागा पिरो बाँध देता, बस यही मोहिनी हार था। कुछ देर के लिए, और पसीना न लगे तो जाडो मे पाँच-सात दिन के लिए उसका रग, सचमुच गिन्नी के सोने जैसा होता। उसके बनाने मे धेले से भी कम खर्च आता, फिर चार पैसे मे बेचने मे उसको नफा ही था। वह जब घूमकर आता, तो पाठकजी के यहाँ जरूर आता, और उस वक्त अपनी ताजी यात्राओ का विवरण सुनाता।

मार्कामैनी छोडने के बाद दो-तीन सप्ताह से ज्यादा मैं बेकार नही रहा। इसके बाद बनारस के सुघनी साहु की कलकत्तावाली दूकान मे नोकरी मिल गई। 'प्रसाद'जी का खान्दान अपनी मशहूर बनारसी सुघनी के लिए कितने ही सालो से 'सुघनी साहु' के नाम से मशहूर है। उन्ही के चचा गिरिजाशकर साहु ने अपनी एक शाखा तुलापट्टी मे चितपुर रोड के नुक्कड के पास खोली थी, दूकान का नाम उनके दो लडको के नाम पर भोलानाथ अमरनाथ था। जिस वक्त मैं नौकर रखा गया, उस वक्त मालिको में से कोई वहा नही था। मुझे काम मिला था चिट्ठीपत्री लिखना, तथा हफ्तावार जमाखर्च को उतारकर बनारस भेजना। वहीखाता लिखनेवाले एक अधेड मुशीजी थे। दूकान पर एक रुपये मे अस्सी रुपये सेर की जहाँ सुघनी बिकती थी, वहाँ कई तरह का जर्दा, किमाम और गुर्ती गोलियाँ भी थीं। इनके अलावा खमीरे की खुशबूदार तम्बाकू वहाँ की खास चीज थी। दूकान मे बचने के लिए तीन या चार और नौकर रहते थे। हिन्दी-उर्दू चिट्ठियो के अलावा पाठकजी ने एक अग्रेजी चिट्ठी का मजमून लिख दिया था जिसे यत्रवत् कापी करके मैं रोज 25, 30 की तादाद मे पुरानी डाइरेक्टरी से पता देखकर भारत के भिन्न भिन्न राजा-रईसो के पास भेजा करता था। उस वक्त मेरा ध्यान तो जाता ही क्या, दूसरो का भी ख्याल इधर नही गया, कि किसी नामिखिया से चिट्ठी लिखवाने की जगह पत्र ज्यादा प्रतिष्ठित और आकर्षक होता, यदि उसे अच्छे लेटर पेपर पर छपवाकर भेजा जाता। तो भी सभी तीर खाली नही जाते थे। कुछ आर्डर आ ही जाते थे। कहीं कहीं शिकायत आती थी, कि सुरती गोली और काला जर्दा पहिले कुछ दिनो तक स्वाद मे अच्छा रहता है फिर स्वाद फीका पड जाता है। हम लोग जानते थे, कि जब तक असर की तरावट रहेगी तब तक स्वाद बना रहेगा। पीछे हम मोटे काँच की शीशियो मे ठडी जगह रखने की हिदायत के साथ भेजा करते थे।

कुछ ही दिनों बाद बूढ़े साहु गिरिजाशकरजी भी आ गये। उनका रग गेहुआँ, कद ठिगना और कुछ मोटा था। उमर 55 के आस-पास होगी। उनके लिलार में आँवले के बराबर की मसविद (मासवृद्धि) थी, जिस पर किसी चिकित्सक गुनी के परामर्शानुसार वह टिन्चर लगाया करते थे। घुटने तक की धोती, शिर पर सफेद दुपलिया टोपी बदन पर सफेद चादर के अतिरिक्त एक लाल चारखाने की अँगोछी भी कन्धे से लटका करती थी। दोपहर के बाद साहुजी दूकान पर आते, सन्ध्या होते ही टहलने निकलते, और उस वक्त अक्सर मैं साथ रहता। टहलने की जगह भी उनकी बहुत सीमित थी। बहुत दूर गये तो बडे डाकखाने तक। उनको दमे का रोग था। मुझे किसी तरह मालूम हो गया था, कि दमे का एक सिगरेट होता है। मैंने साहुजी को परामर्श दिया, और बी के पाल के यहाँ से एक डिब्बा खरीदवा भी दिया। पीने के साथ उससे आराम होता था। साहुजी की दृष्टि मे मैं बडा होशियार और स्वामिभक्त नौकर जँचने लगा। टहलने के बाद अक्सर वे अपने एक सम्बन्धी—जिनकी अफीम चौरस्ते पर हलवाई की दूकान थी—के घर चले जाया करते थे। वही शौच होते, कुछ बैठक और मुगदर भाँजते, फिर दूकान पर आते। फिर दूकान के बगल के चबूतरे पर आसन लगाकर बैठ जाते, और बाजार से खरीदकर उनके लिए भोजन आता। शाम के भोजन पर बीस-चौबीस गडे लगते—उसमे रबडी, दूध, मिठाइयाँ, पूडी, और फल शामिल होते थे। हाँ एक बात भूल गया, गिरिजाशकर साहु के लिए अठन्नी-भर अफीम हर शाम जरूरी थी।

नित्य नियम से छुटकारा ले रात को नौ या दस बजे जब वह अपने वासस्थान पर जाते, तो मैं उनके साथ रहता। वासस्थान पर चितपुर रोड से बहुत आगे जाकर छोटी बडी सड़कों से होकर जाना पडता था। दूकान और बासा दोनों मकान किराये के थे, किन्तु साहु ने सारे मकान को मालिक-मकान से किराये पर ले लिया था, और अपनी तरफ से किराये पर लगा रखा था; इस तरह किराये का बोझ उनके ऊपर बहुत हल्का पड़ता था। उनके किरायेदारों में एक रंडी भी थी, जो दूकान के कोठे पर रहा करती थी।

चितपुर रोड का वह हिस्सा, जो हमारे सामने गुजरता था, रंडियो के कोठों से भरा था। अपने गुंडों के लिए भी यह मुहल्ला बहुत मशहूर था। एक बार अंधेरा होते ही गुंडो के दो दलों मे मार हो गई। मार के वक्त पुलिस के सिपाही का पता नहीं था। छूरे और लाठियाँ चल रही थीं। हम लोग अपनी दूकान से देख रहे थे। मरा तो कोई नहीं, हाँ घायल कई हुए। लड़ाई समाप्त होने के बाद एक गुंडा हमारे साथियो में से एक–जो उसी के हमजिन्स मालूम होते थे–से कह रहा था, "गुरु, क्या कहते हो, आदमी हो तब न लड़े। साले ने जाने कहाँ से देव मँगाये थे।" दोनो दलों में एक का सरदार मुसल्मान था, और दूसरे का एक अहीर। था मुसल्मान सरदार–लेकिन उसके दल मे हिन्दू भी शामिल थे, उसने कई बार अहीर के दल को पीट भगाया था, इसीलिए अब की बार उसने मिर्जापुर-अकोढ़ी के लड़ाके बुला मँगवाये थे।

एक दिन टहलते वक्त साहु की नजर माजून की बर्फियों पर पड़ी। उन्होंने खरीदकर खुद खाया, और एक टुकड़ा मुझे भी दिया। मुझे वह कलाकन्द सी खुशबूदार बर्फी बहुत मीठी लगी, और जरा-से टुकड़े पर कनाअत करने के लिए मन तैयार नहीं हुआ। साहु जब थोड़ी दूर पर किसी परिचित से बात कर रहे थे, मैंने जा एक या दो पूरी बर्फी खरीदकर खा ली। भाँग का नशा जोर करने लगा। खैर किसी तरह मैंने साहुजी को उनके बासे पर पहुँचाया। लौटते वक्त मेरा तालू सूखा जा रहा था। उसी वक्त कोई कुल्फी का बर्फ बेचनेवाला आ गया। मैने एक कुल्फी खाई, दो खाई, लेकिन तालू का सूखना अब भी बन्द न हुआ। आखिर उसकी हँडिया में जितनी कुल्फियाँ थी, उनको खाकर मैं अपने वासस्थान की ओर चला।

इसके बाद मुझे एक बार की जरा सी क्षीण स्मृति है, कुछ आदमी मुझे उठाकर सीढ़ी के रास्ते उतार रहे है। एकाध युग के बाद मालूम हुआ मै किसी स्वप्न जगत् मे आ गया हूँ। कोई अच्छा साफ हवादार कमरा है, जिसमे छत से लटकते सुन्दर बिजली के लैम्प जल रहे है। छत मे लटके अनेक पंखे मद्धिम चाल से चल रहे है। दरवाजे मे शीशे जड़े है, दीवारें कपूर जैसी सफेद है। मुझसे दूर कमरे के बीच मे किन्तु एक सिरे के पास एक मेज है, जिसके पास दो-तीन कुर्सियाँ है, उनमे से एक पर एक स्वर्णकेशी महाश्वेता अप्सरा शिर से सफेद-सी कोई रूमाल या क्या लपेटे चुपचाप बैठी है। मुझे वह स्वप्न अच्छा लगा, लेकिन होशपन का भाव होते ही जिज्ञासाएं तरंगित होने लगीं। उसके बाद फिर मानो स्वप्न गम्भीर निद्रा मे परिणत हो गया।

दूसरे दिन वह चीजे स्वप्न की नहीं, होश जगत की दिखलाई पड़ी और मुझे मालूम हुआ, कि मैं मेडिकल कॉलेज अस्पताल मे हूँ। मेरी पंक्ति और सामने की पंक्ति मे कई और चारपाइयाँ है, जिनमे मरीज लेटे हैं। कुछ दिन चढ़े मेरी चारपाई के गिर्द कनात घेरी गई। एक एंग्लो-इंडियन नर्स ने अस्फंज और साबुन से शरीर के कुछ भाग को धोया, पाउडर लगाया। मेरी आँखे खुली और मुझे होश मे देखकर वह मुस्कराकर बोली–"बाबू, अच्छा हो जावेगा।"

शाम को पाठकजी के आने पर मालूम हुआ, मै उस रात घर पर पहुँचते पहुँचते बेसुध हो गया, और उसके बाद दस्त पर दस्त होने लगे। सबेरे बेहोशी की हालत मे ही मेडिकल कॉलेज अस्पताल मे पहुँचाया गया। मुझे याद नहीं, कितने दिन बाद मुझे होश आया। मेरे बचने की आशा लोग छोड़ चुके थे। कुछ देर बाद साहु गिरिजाशंकर भी आये। उसके बाद से पाठकजी तो रोज, और साहुजी हर दूसरे-तीसरे दिन देखने आते थे।

नर्सें वहाँ सभी एंग्लो-इंडियन थी। बेहोशी मे जो दवा-दारू पीते रहे वह तो था ही, अब होश-चेत मे भी वह दूध, और पीछे दूध और पावरोटी खिलाने लगी। पाठकजी ने रास्ता पहिले दिखला दिया था, इसलिए वहाँ उज्र का कोई सवाल ही नहीं था। नर्सों मे एक से मेरी धीरे-धीरे अधिक घनिष्टता हो गई थी; जिससे अस्पताल छोड़ते वक्त जरा-सा अफसोस भी मालूम हुआ।

मेरी बगल में एक चीनी बीमार था। उसको तश्तरी मे छुरी-काँटे से अग्रेजी खाने खाते देख मेरी भी जीभ लुटपुटाने लगी, लेकिन डाक्टर ने अभी भारी खाना मना कर दिया था। खाने लायक होने पर छुरी काँटा खयाल से उतर गया, और उसकी जगह अस्पताल के ब्राह्मण रसोइया मछली-भात दे जाया करते। दो हफ्ता या अधिक अस्पताल मे रहने के बाद मैं वहाँ से चला आया।

शरीर मे जरा बल आने पर घर याद आने लगा, और अक्तूबर या नवम्बर के महीने मे कनैला चला आया। चले आने के लिए सुघनी साहु की कई चिट्ठियाँ आई, लेकिन अब तो मैं दूसरे रास्ते पर लुढक रहा था।

तारुण्य : 1910-14 ई.

1
वैराग्य का भूत

कनैला पहुँचने पर नाना भी यहाँ मिले। वह पन्दहा से पत्थर का कोल्हू लेकर चले आये थे। उन्हें मेरी बहुत चिन्ता थी। किन्तु वह कहा करते थे—"छ महीने का कुत्ता बारह बरस का पुत्ता। हुआ सो हुआ गया सो गया।" और मैं तो सत्रहवें बरस में था। मुझे यह देखकर अफसोस होता था, कि नाना को कनैला का रहना उतना अनुकूल नहीं मालूम होता। खाने-पीने में उनकी वह स्वच्छन्दता नहीं रही; साथ ही वह अनुभव करते थे कि उन्हें लड़की की ससुराल में जिन्दगी का अन्तिम भाग बिताना पड़ रहा है—जिसके ग्राम की सीमा में धर्मभीरु पिता पानी तक नहीं पीता।

कलकत्ता के लिए रवाना होने से पहिले परमहंसजी के दर्शनों ने मन में कुछ भाव पैदा किये थे, जो अब तक सुप्त थे, लेकिन अब वे जागृत होने लगे। मैं फिर परमहंस बाबा की कुटी पर जाने लगा। वह तो मुझे क्या किसी को उपदेश दिया नहीं करते थे, महादेव पंडित जैसे विद्वान् भी जाते तो शायद उपनिषद् का कोई वाक्य उनके मुँह से निकल आया तो निकल आया, नहीं तो जो ही बात ज़बान पर आई, बच्चों की तरह दुहराते गये। हाँ, हरिकरणदास ने ज्ञान फूँकना शुरू किया। वह संस्कृत नहीं जानते थे, हिन्दी भी तेरह बाईस ही, किन्तु बराबर लगे रहने से विचार सागर, विचारचन्द्रोदय, अष्टावक्रगीता हिन्दी टीका जैसे ग्रंथों का पढ़ते और बहुत कुछ समझ लेते थे। मैं भी उनके पास बैठकर उन ग्रन्थों को पढ़ता, और उनसे वार्तालाप करता। धीरे-धीरे मेरा "आँखों का पट्टर" खुलने लगा, "एकश्लोकेन वक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।" मुझे कण्ठस्थ हो गया। उसी वक्त, के याद हुए श्लोकों में है—

> तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
> न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेसरी।।

वेदान्त की हिन्दी पुस्तकें समाप्त हो गई। हरिकरण बाबा ने बतलाया कि और ग्रंथों के पढ़ने के लिए तुम्हें संस्कृत पढ़ना चाहिए; उनका यह विचार मेरे मन में घर कर गया। मैंने घरवालों के सामने अपना विचार प्रकट किया। पिता और नाना अब भी अंग्रेजी पढ़ाने के पक्ष में थे, अभी भी मेरे सम्बन्ध की पुरानी वासना उनकी छूटी न थी। दूसरे इधर कुछ महीनों के मेरे चाल-व्यवहार ने उन्हें और शंकित कर दिया था। मैंने सन्ध्या सीख ली थी, दिन में तीन बार नहाकर सन्ध्या करता। कुश की आसनी बराबर साथ रहती। सिर्फ एक वक्त, सो भी अपने हाथ से बनाकर भोजन करता। धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने या परमहंस बाबा के दर्शन तथा हरिकरण बाबा के सत्संग

मे समय बिताता। हँसी-मजाक की तो बात क्या, किसी से बातचीत करना भी मुझे पसन्द न था। इन बातों को देखकर घर के लोग बडे चिन्तातुर थे, संस्कृत पढने का मतलब वे समझते थे, वैराग्य के बिरवे में पानी सींचना। बछवल बीच-बीच में मैं जाया करता था। वहाँ यागेश और पुराने मित्र तथा कालिकादास एक साधु, मेरे विचारो से कुछ सहानुभूति दिखलाते थे। मैंने फूफाजी से संस्कृत पढने का आग्रह किया, किन्तु उन्हे घरवालो का मनोभाव मालूम था, वह आनाकानी करने लगे। पीछे बहुत पीछे पडने पर उन्होने कहा—संस्कृत पढने को मैं तो हानिकारक नही समझता, किन्तु तुम्हारे घर के लोग नही चाहते, अच्छा हो, तुम बनारस मे पढो, मै अमुक दिन वहाँ जा रहा हूँ, साथ लिवाते चलूँगा, और अपने एक सहपाठी पडित को सुपुर्द कर आऊँगा। मुझे उनकी राय बहुत पसन्द आई।

निश्चित दिन से एक दिन पहिले मै बछवल पहुँच गया। लेकिन, दूसरे दिन प्रस्थान वेला से पहिले ही मैंने चचा साहेब (प्रताप पाडे) को वहाँ पहुँचा देखा। उन्होने फूफाजी को पिताजी, नानाजी की राय तथा मेरे उग्र वैराग्य की बात बतलाकर कहा कि उसे बनारस न ले जावें, बल्कि समझावें कि आजमगढ़ में नाम लिखाकर अग्रेजी पढे। फूफाजी उनकी बात से सहमत हुए, और मेरे दिल को बडा धक्का लगा, जबकि उन्होंने अपना निर्णय सुनाया।

मेरी वृत्तियाँ इस वक्त अन्तर्मुखीन थी। वेदान्त और धर्म सम्बन्धी पुस्तकों का स्वाध्याय तथा सत्संग बस यही काम था। खाने के समय—जो कि दिन में सिर्फ एक बार का था—को छोड़ बाकी वक्त परमहंस बाबा की कुटी पर ही गुजरता था। पुस्तकों का बडा अकाल था। मेरे घर में पहिले तो पढने लिखने का रवाज न था। पिताजी की जमा की हुई विनयपत्रिका और रामायण थे, जिनमे, वेदान्ती होने के कारण मेरा उतना अनुराग न था। एक दिन घर के भीतर घूमते एक पुरानी पिटारी में कुछ पुरानी पुस्तकें मिलीं। मालूम हुआ वह हमारे पिता के फूफा की पुस्तके हैं। किन्तु उनमे ज्यादातर फलित ज्योतिष की छोटी-मोटी पुस्तकें, दुर्गासप्तशती तथा एकाध स्तोत्र पाठ थे। उनमें से दालभ्य स्तोत्र का बहुत दिनों तक मैं पाठ करता रहा। चाणक्यनीति और भर्तृहरि वैराग्यशतक कुछ दिन के लिए हाथ लगे थे, मैंने श्लोकों का एक कापी पर लिख डाला, और भाषाटीका के सहारे कितनों के अर्थों को भी समझ डाला।

हरिकरण बाबा दो ही तीन साल पहिले बदरीनाथ हो आये थे। वैराग्य और अन्तर्मुखता की बातें रोज चलती ही थीं। एक दिन उन्होंने अपनी बदरीनाथ यात्रा का वर्णन किया। ऊँचे ऊँचे पहाड़, हरे हरे देवदार, सफेद सफेद बर्फ, ठंडे पानी के चश्मे तो आकर्षक मालूम हुए ही क्योंकि वे मेरी पर्यटन की सतत उपस्थित लालसा को जगाते थे; किन्तु, सबसे अधिक खिंचाव जिस बात ने किया, वह थी एक बालरूपी योगी की जिनके दर्शन हरिकरण बाबा को देवप्रयाग के आगे के पहाडो मे किसी निर्जन स्थान पर पहाड से उतरकर आते वक्त हुए थे। वह बतलाते थे—महापुरुष का शान्त स्वरूप, दिव्य ललाट, छोटी-छोटी पिंगल जटाएँ थी। जान पड़ता था कोई दूसरे ध्रुव हैं। उनके पास एक कमंडलु, एक मृगचर्म और एक लँगोटी के सिवा और कुछ न था। वह जरा देर के लिए बैठ गये। उनके मुँह से वेदान्तवाक्य फूल की तरह झड़ते थे। उनके कमंडलु में मुठिया नाले की तरह की एक गोल चीज थी, उन्होंने किनारे पर जरा हाथ लगाया, कि डेढ़ हाथ लम्बी चमकती तलवार लपलपाने लगी। तलवार का हमारे वैराग्य और वेदान्त प्रसंग में कोई खास सम्बन्ध न था, किन्तु उस वक्त मुझे वह बात अप्रासंगिक नहीं मालूम हुई।

होली मे मैं मुहर्रमी सूरत ही लिये फिरा। चैत का महीना (1910 ई.) आ गया। सर्दी खतम हुई। थोड़े-से कपडे में भी अब गुजारा हो सकता था। हाल ही मे सुनी बदरीनाथ की यात्रा और हरिकरण बाबा के 'तपस्वी ध्रुव' की कथा ने मुझे रास्ता दिखला दिया था। मैं सोच रहा था, अंग्रेजी—म्लेच्छ भाषा मुझे पढनी नहीं है, संस्कृत पढ़ने के लिए बछवल और बनारस का रास्ता बंद है, फिर कहाँ जाया जाय। आखिर एक दिन मैंने हरिकरण बाबा से उत्तराखंड की ओर जाने का अपना इरादा प्रकट किया, उन्होंने उसका समर्थन किया, कालिकादास की भी वही राय हुई। यागेश को मेरे वैराग्य और वेदान्त से कोई वास्ता नहीं था, उनका मुझसे प्रेम था, और देशाटन उनके लिए भी थोड़ी-बहुत आकर्षक चीज थी।

उसी वैराग्य की आँधी के जमाने मे एक दिन मेरे उस्ताद मौलवी गुलामगौस खाँ अपने घर मँहनगर से कनैला

आये। अब यह बुढ़ापे के कारण नौकरी से अलग हो गये थे। घरवालों की शिकायतों को सुनकर उन्होंने मुझे अपने कर्त्तव्य पर सर्मन देना शुरू किया। शिष्टाचार के नाते ही मैं उसे बर्दाश्त कर सका, नहीं तो वैराग्य और वेदान्त का पारा जितना चढ़ा हुआ था, उसमें उनकी सारी बातें मुझे हेच और असह्य मालूम होती थीं। मौलवी साहेब मेरे मिडल पास के सर्टीफिकेट को लेकर देने आये थे, जिसमें दो-एक रुपयों के मिलने की आशा थी, और वह उन्हें मिले भी।

इधर महीने-भर से बीच-बीच मे मैं दो-एक दिन के लिए परमहंस बाबा की कुटिया—अर्थात् हरिकरण बाबा की कुटिया—या बछवल में रह भी जाता था, जिससे लोग घर से एकाध दिन की अनुपस्थिति में घबराते नहीं थे। कनैला में पहिले-पहिल अब की साल प्लेग आया था। गाँव भर के लोग झोंपडियों में निकले हुए थे, और मौत की शका से भयभीत थे, किन्तु मुझे उसका हर्ष-विस्मय न था। रोज की तरह एक दिन फिर मैं दक्षिण की तरफ परमहंस बाबा की कुटी को ओर चला। बदन पर एक धोती, एक कोट और गमछा, बगल में अपने हाथ की बुनी कुश की आसनी थी। घरवालो ने समझा कोई खास बात नहीं है। उसी शाम को मैं बछवल चला गया। बछवल में फूफा के घर नहीं, बल्कि कुटी पर कालिकादास के पास। वहीं रात को योगेश आ गये। फूफाजी के विद्यार्थी अक्सर कुटी पर आया करते थे, मालूम नही कैसे मैने उनकी नजर पड़ने से अपने को बचाया। मैंने दोनों जनों से अपना संकल्प प्रकट किया। दोनो ने प्रोत्साहन दिया। पहिली दो उड़ानो में पास रुपये के थे, उनके बिना मैं अपने को पंगु समझता था किन्तु अब के वैराग्य का सबल साथ में था। हर वक्त यह श्लोकाश जिह्वा पर था—"का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते।" पानी के लिए मेरे पास कोई बरतन नही था, कालिकादास ने अपना नया सुन्दर लौकी का छोटा-सा कमण्डलु दे दिया। सबेरे अँधेरा रहते ही जब मैं चलने लगा, तो सिर्फ आधपाव गुड़ की डली-भर साथ ले जाने को तैयार हुआ। साथ में सबल लेकर चलना, मुझे अपने वैराग्य के साथ परिहास करना-सा मालूम होता था।

मैंने पैदल ही अयोध्या होते हरिद्वार जाने का इरादा किया था, मेरा इरादा तुरन्त साधु बनने का न था, और न तुरन्त योग में लग जाना ही चाहता था। मैंने ते किया था, पहिले संस्कृत और वेदान्त के ग्रंथो को खूब पढ़ूँगा, उसके बाद सन्यासी हो जाऊँगा। 9, 10 बज रहे थे, जब मैं सिधारी का पुल (टौंस पर, आजमगढ के पास) पार कर रहा था। देखा, पुल के नीचे नदी के किनारे बैठे मेरे भितिहरावाले नाना (प्रताप चचा के ससुर) दातुवन कर रहे हैं। मैने खुदा का हजार शुक्र किया, जो वह पुल या सड़क पर नहीं मिले, नही तो 'कहाँ' का जवाब देना मेरे लिए आसान न था। और वह जा रहे थे कनैला को ही। वह बहुत बूढे थे, पुल पर जाते देखकर मुझे पहिचान नही सकते थे। आजमगढ़ शहर से मैं सीधे गुजर गया। चैत्र शुक्ला अष्टमी थी, गर्मी काफी थी, इसलिए सड़क पर किसी बाग या कूएँ पर थोडी देर के लिए विश्राम मैंने जरूर किया। आधपाव गुड़ खाकर, सो भी चौबीस घंटे के निराहार के बाद, पैदल मंजिल ते करना, फिर भूख क्यों न लगे? सड़क के किनारेवाले दरख्तो पर पकी गूलरें थीं, उनसे दोपहर के भोजन का काम चल गया।

घंटा-भर दिन रह गया था, जब मैं मंदुरी के पोखरे पर पहुँचा। यह वही पोखरा था, जहाँ चार साल पहिले मै छात्रवृत्ति की प्रतियोगिता का इम्तिहान देने आया था। उस वक्त यहाँ डिप्टी लोगो के तम्बुओं, विद्यार्थियों, अध्यापको और अभिभावको की भीड़ के कारण मेला लगा हुआ था आज वहाँ सिर्फ वही विशाल पक्का पोखरा, और घना बाग था। घने बाग के अँधेरे मे पहुँचने पर मेरे मन मे कुछ चचलता, कुछ टीस-सी उठने लगी। मैं पोखरे पर थोडी देर के लिए बैठ गया। दिन-भर की भूख और गूलर के फीके फल याद आने लगे। शिर पर आ पहुँची रात और अपरिचित स्थान का चित्र नजरों के सामने खिचने लगा। मन ने धमकाना शुरू किया—बेपैसे-कौडी, बेगाने देश में इस तरह पैदल घूमना हँसी-ठट्टे की बात नही है। वैराग्य ने कुछ कहना चाहा, किन्तु उसे यह कहकर दबा दिया—'फिर, क्यों नहीं हवा-पानी पीकर रहे, क्यों गूलरो पर ढेले फेंके ?' मन ने ठंडे दिल से समझाया—'भितिहरा यही कहीं पास ही में है, चलें चलो, अब भी कुछ बिगड़ा नही है।' वैराग्य की तरफ से—'भितिहरा कभी नहीं गये'—उज्र पेश करने पर, यह कहकर चुप कर दिया गया—'मेरे चचा की ससुराल है। नाना नही है, किन्तु मामा तो परिचित हैं ही।'

दिन-भर की आपबीती का काफ़ी असर पड चुका था, इसलिए भितिहरा जानेवाली सलाह मुझे माननी पड़ी। भितिहरा वहाँ से मील-डेढ मील रहा होगा। रब्बी की फसल कट गई थी, जगह-जगह खलियानों मे लोग थे, उनसे पूछते मामा के घर पहुँचने मे दिक्कत नही हुई। मामा के गॉव के पहिले एक छोटा-सा पोखरा मिला, वहाँ पहुँचने पर मेरा ध्यान अपने कमंडलू की ओर गया। कमडलू के साथ मामा के यहाँ जाना—बैठे-बिठलाये आफत मोल लेनी थी। अभी भी वैराग्य को अन्तिम उत्तर नही दिया गया था, मँदुरी पोखरे का निर्णय अस्थायी था। अन्तिम निर्णय को रामनवमी के दिन और भितिहरा के वास पर छोडा गया था। मैंने पास के पोखरे मे कमंडलू को इस खयाल से डाल दिया, कि जरूरत पडने पर उसे फिर ले सकूँगा।

मामा ने मेरे आने पर बडी प्रसन्नता प्रकट की। थोडी ही देर मे घर-सा हो गया। घर मे मामी और मामा दो व्यक्ति थे, नाना कनैला गये थे। कहाँ और कैसे का सवाल नही हो सकता था, क्योकि मामा के यहाँ आना भी तो एक जरूरी कर्त्तव्य था। दूसरे दिन रामनवमी थी। साधारण हिन्दू गृहस्थ के यहाँ भी उस दिन पूडी, हलवा बनता है। स्वयपाकी और दूसरे खड्राग को छोडकर मैंने मामी के हाथ के भोजन को स्वीकार किया।

भोजन और विश्राम ने वैराग्य को फिर शक्ति प्रदान कर दी, और रात को ही मैंने निश्चय कर लिया—'यात्रा जारी रखनी होगी।' दूसरे दिन गप-शप के साथ मामा से पटसन माँगकर सीखने के बहाने मैंने रस्सी बटनी शुरू की, क्योकि रास्ते मे कमडलू के साथ रस्सी की भी जरूरत पडती। मामा मेरे ऊट-पटॉग बटने को देखकर हँसते, और खुद बट देने का प्रस्ताव करते थे, किन्तु मैं सीखने के बहाने उसे टाल देता। शाम को मैंने कह दिया था, कि कल मैं घर लौटना चाहता हूँ।

मेरा सत्रहवॉ वर्ष पूरा हो रहा था, और मैं अब बच्चा न था, तो भी सबेरे चलते वक्त मामा ने एक आदमी साथ कर दिया। उन्हे मेरी गतिविधि पर कुछ सन्देह हो गया था। पाथेय के लिए गुडमिश्रित सत्तू और भूँजा था। मामा पहुँचाने के लिए आये, बहुत आग्रह करके मैंने गाँव के बाहर से ही उन्हे लौटा दिया। अब मुझे साथवाले आदमी से पिड छुडाना था। 17, 18 मील दूर बेगार मे कनैला जाना उसके लिए भी कोई शौक की चीज न थी जब मैंने उसके सामने लौट जाने का प्रस्ताव किया, तो वह तुरन्त मान गया। मैंने खुशी मे पाथेय मे से थोडा सा सत्तू रखकर बाकी उसी को दे दिया। पोखरे मे जाकर देखा, तो वहाँ कमडलू कही तैरता नही दिखलाई पडा। चारो तरफ घूमकर एक-एक कोने को छान डाला, किन्तु वहाँ कमडलू हो तब न दिखाई दे। मैंने सोचा था, कमडलू साधुओं की चीज है, इसे चोर-चहरी कोई भी नही पूछता; लेकिन मुझे लडको का खयाल नही आया, जिनके लिए लौकी का कमडलू फुटबाल या निशाने का काम दे सकता है। मैं पछताने लगा—क्यो नही कीचड मे दबा दिया। अब दिन-भर की मेहनत से बटी रस्सी भी बेकार थी, किन्तु रस्सी को मैंने फेका नही।

मैं फिर पश्चिम की ओर मुडा, और फिर आजमगढ से अयोध्या (फैजाबाद) वाली पक्की सडक पर आ गया। दोपहर को स्नान और सन्ध्या की जरूरत पडी। सडक के किनारे एक स्कूल दिखलाई पडा। मास्टर से लोटा डोर लेकर स्नान किया। एक धोती मे नहाते नही बनता था, इसलिए उसे फाडकर दो लुगियाँ बना ली। सत्तू खाकर फिर चला। अब तो अयोध्या मे रामनवमी करने की आशा न थी, इसलिए बडी मजिल मारने की चाल मे नही चल रहा था। दोपहर की गर्मी मे सुस्ताता और सहयात्री के अभाव मे अपने ही मन से बात चीत करता चलता रहा।

सूर्यास्त को आते देख रात को ठहरने का इन्तिजाम करना जरूरी थी, और उससे भी जरूरी था लोटा-डोर माँगकर स्नान-सन्ध्या करना। सडक के पास एक छोटा-सा गाँव था, एकाध ही घर के बाद एक कुआँ था, जहाँ पर कुछ स्त्रियाँ पानी भर रही थी। उनके घाघरे और ओढनी को देखकर मुझे मालूम हो गया, कि मैं अब फैजाबाद जिले में हूँ। पास के घर से लोटा-घडा मिलने मे दिक्कत नही हुई। स्नान के बाद कुशासनी पर बैठ मैं सन्ध्या करने लगा, कुछ कठस्थ स्तोत्रो का पाठ भी हुआ। फिर कूएँ से जरा-सा हटकर आसनी बिछा निश्चिन्त बैठ गया। धीरे-धीरे पश्चिम के सूर्य की लाली अँधेरे की कालिमा मे परिणत होने लगी। पानी भरनेवाली स्त्रियो मे से कुछ मुझे गौर से देख रही थी। मेरी आयु, मेरी शकल-सूरत, मेरी पूजा-प्रार्थना सभी अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने की चीजें थीं। दो स्त्रियो ने आकर घर-द्वार, कहाँ जा रहे हो पूछा; फिर कहा—भोजन नही बनाओगे ? मैंने तय

किया था—जिसे नहीं बताना चाहता वैसी बात को न बताऊँगा, किन्तु जो बात कहूँगा सच्ची-सच्ची कहूँगा। जब उन्होंने देखा कि मेरे पास न खाने का सामान है और न बरतन-ईंधन। तीन-चार औरतें अपने घर से आटा-दाल-नमक, कंडा-हँडिया ले आईं। कंडा का 'अहरा' बनाना मैं जानता नहीं था, इसलिए एक स्त्री ने उसे बना दिया। आग सुलगने पर मैंने चावल-आटा-नमक इकट्ठा ही हँडिया में डाल दिया। उन्हें आश्चर्य हुआ। मैंने यह कहकर समाधान कर दिया, कि आखिर पेट में जाकर तो सब एक हो ही जावेंगे। अधिक आया हुआ सामान डलियों में पड़ा था। उन्होंने उसे बाँध लेने के लिए कहा। मैंने कहा—"मैं सामान बाँधता नहीं।"

"कल काम आवेगा।"

"आज क्या मैं यहाँ बाँधकर लाया था।"

जहाँ तक मुझे याद है, स्त्रियों के अतिरिक्त किसी पुरुष से वहाँ मेरी बात-चीत नहीं हुई। मालूम होता है 'किसी माँ-बाप के कोमल तरुण लड़के' को देखकर स्त्रियों के चित्त में करुणा उमड़ आई थी।

दूसरे दिन भिनसारे ही सड़क में यात्रियों के चलने की आवाज आने लगी। लोग अयोध्या से रामनवमी का मेला करके लौट रहे थे। रात की 'विश्वम्भर की कृपा' देख वैराग्य के रन्दे ने और जोर पकड़ा। मालूम होता था, पहिला किला फतह कर लिया। मालूम नहीं उसके बाद कितने दिनों में अयोध्या पहुँचा। कैसे खाता-पीता रहा, इसका भी स्मरण जाता रहा। एक दिन दोपहर को एक गाँव में गया। वहाँ कूएँ पर दो आदमी ढेकली चला रहे थे। स्नान-सन्ध्या के बाद उन्होंने सत्तू और नमक लाकर सामने रखा। माँगना मुझे आता न था, न सीखने की हिम्मत रखता था।

दर्शननगर के पहिले के बड़े तालाब पर मुझे कोई साधु मिला, वह भी अयोध्या जा रहा था। उसी के साथ मैं भी रात को बाबा रामप्रसाद की छावनी में ठहरा।

दूसरे दिन सरयू का स्नान और अयोध्या देखना था। वेदान्ती होने के कारण देवताओं की भक्ति मेरे लिए उतनी आकर्षक न थी। सबेरे स्नान करके जब मैं सरयू किनारे घूम रहा था, तो एक चलते-पुर्जे साधु ने मेरे पास आकर बात करनी शुरू की। फिर चेला होने का परामर्श दिया। मैंने कहा—मैं पहिले संस्कृत और वेदान्त पढ़ना चाहता हूँ, पढ़ लेने के बाद साधु बनने के बारे में निश्चय करूँगा। साधु खुद संस्कृत पढ़ा लिखा न था, इसलिए मुझ पर कोई प्रभाव न डाल सका। अयोध्या को मैं घर से बहुत दूर नहीं समझता था, इसलिए काशी की तरह यहाँ के रहने को भी अपने लिए खतरनाक समझता था।

अयोध्या में किन-किन जगहों का दर्शन किया, इसका मुझे स्मरण नहीं। एक रात गोंडा जिले के आये यात्रियों के साथ जन्मस्थान के पास के किसी मठ में ठहरा था। उन यात्रियों में एक-दो देहाती साधु और कुछ गृहस्थ थे। दूसरे दिन जब वे घर को लौटते वक्त फैजाबाद की ओर चले, तो मैं भी चल पड़ा। फैजाबाद में किसी सेठ की सदावर्त लगी थी, उस मंडली के साथ मैं भी वहाँ इन्तिजार करता रहा, और सदावर्त लेने पर एक बूढ़े साधु ने मेरा भी भोजन बना दिया। मुझे सबसे ज्यादा तरद्दुद था एक जलपात्र का। बूढ़े साधु ने कहा, हमारी कुटिया पर बहुत से कमंडलू हैं, यदि वहाँ चलो तो तुम्हें हम एक नहीं, दो कमंडलु दे देंगे। कमंडलु से निश्चिन्त होने का मतलब था, बार-बार लोगों से लोटा-डोर माँगते रहने से मुक्त होना। मैंने बूढ़े साधु की बात मान ली और उनकी कुटिया पर जाने के लिए राजी हो गया।

हमें नाव पर सरयू पार करनी पड़ी। पार होते होते धूप बहुत तेज हो गई और दोपहर को नंगे पैर जलते बालू पर चलना बड़ी तकलीफ़ की बात थी। सरयू पार नजदीक कोई गाँव नहीं था। दियारे में जहाँ-तहाँ झाऊ के दरख्त थे, और कहीं-कहीं गाय-भैंसें चर रही थीं। एक बजे के करीब जब एक अहीर की झोपड़ी में हमारा काफिला ठहरा, तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। अहीर बूढ़े बाबा का 'सेवक' था। बैठते के साथ ही गाढ़ा मट्ठा आया, 'नेकी और पूछ-पूछ'—मैंने पेट-भर पिया। बूढ़े बाबा वैष्णव साधु और ब्राह्मण दोनों थे और वह दूसरे के हाथ की बनाई रसोई नहीं खाते थे। 'पक्के' साधुओं की भाषा में तो उन्हें साधु भी नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि वह अपने ही गाँव तथा अपने ही घर में रहते थे। उनकी स्त्री बच्चे सब मर गये थे, सिर्फ एक विधवा बहू थी। शायद विधवा बहू की रक्षा के लिए ही वे घर छोड़ना नहीं चाहते थे।

रसोई बनी, भोजन हुआ, कुछ विश्राम किया गया, और उसके बाद हम फिर रवाना हुए। आगे की यात्रा बहुत आराम से होती रही। हर तीन-चार मील पर, बूढ़े बाबा के परिचित साधुओं की कुटियाँ थीं, हमारी 3, 4 आदमियों की जमात वहाँ पहुँचती। दंडवत् प्रणाम होता। बूढ़े बाबा जौ या गेहूँ की रोटी, घी से बघारी अरहर की दाल, आलू की तरकारी और आम की चटनी बनाते; भोजन बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता। मैं क्या करता रहता, यह स्मरण नहीं। अपनी पुस्तकों और विचारमालाओं के अतिरिक्त साधुओं से बात-चीत भी करता रहता था, जरूर। इधर के गाँवो की दीवारें, टट्टी और छतें फूस की होती थीं। कारण पूछने पर स्थानीय साधु ने बतलाया—बरसात के दिनों में यहाँ बाढ़ आ जाती है, सरयू का पानी पाँच-पाँच, दस-दस मील तक फैल जाता है, मिट्टी की दीवारें तो उसमें गल जाये। बाढ के वक्त रहने की बात पूछने पर उन्होने बतलाया—"दरख्तो पर मँचान बाँधकर।"

"और खाना ?"

"सत्तू, वहाँ आग कहाँ जलाई जा सकती है ?"

"और पाखाना ?"

"पानी ही में, आपद् धर्म ठहरा।"

यह भी पता लगा, कि बाढ सारी बरसात-भर नही रहती, दस पाँच दिन मे चली जाती है। बाढ़ के तजर्बे के लिए मेरा मन भी ललचाया, लेकिन मै तो दूसरी ही मुहिम पर निकला था।

बूढे बाबा के गाँव से पहिले पास का गाँव (शूकर क्षेत्र) मिला। बराह भगवान के मन्दिर मे ही डेरा पड़ा। बराह मन्दिर की बहुत धुँधली-सी स्मृति है। मन्दिर के सामने शायद चहारदीवारी से घिरा हाता था। बराह क्षेत्र से आगे जाने पर सरयू नदी—घाघरा नही—को हमने पैदल ही पार किया। धोती भीग गई थी। बूढे बाबा का गाँव कैसा था, उनका मकान कैसा था, उनकी बहू कैसी थी—इन बातो का कोई प्रतिबिम्ब स्मृति पट पर अंकित नही मिलता। दूसरे ही दिन या एक-दो दिन बाद मै जब चलने लगा, तो बूढे बाबा ने लौकी का एक गोलमटोल कमडल दिया। मुझे सूरत से क्या मतलब, काम के लिए वह काफी अच्छा था। रास्ते के लिए संयुक्त प्रान्त की मुख्य-मुख्य सड़कों का मुझे स्मरण था। मैं वहाँ से बहरामघाट रलवे-पुल पार हुआ। मालूम नही कौन कब, किन्तु शायद जगजीवन साहेब का कोटवा और लोधेश्वर तो जरूर ही मेरे रास्ते पर पड़े। नित नये गाँव, नित नये-नये मेजबानो के चेहरे सामने आते थे। माँगना न जानता था, और न उसकी जरूरत थी। कोई न कोई गृहस्थ खाने के लिए जरूर पूछता, और 'विश्वम्भर की कृपा' समझकर मै दाता के उपकार के लिए उतना कृतज्ञ होने की जरूरत नही समझता था। कुछ दिनो बाद दोपहर को सड़क के किनारे के कच्चे आमो पर रह जाता था, कमडल पास होने के कारण स्नान के लिए अब मैं गाँव का मुहताज न था। हाँ, रात को जरूर किसी साधु की कुटिया या गृहस्थ के द्वार पर पहुँचता।

मैं मुरादाबाद तक पैदल ही गया जिसमें बीस पचीस दिन लगे थे, किन्तु रास्ते की घटनाएँ इतनी साधारण थीं, कि उनमे से बहुत कम याद हैं। बिसवाँ मेरे रास्ते पर पड़ा था, और शायद वहाँ एक बड़े महन्त के मठ मे ठहरा था। महमूदाबाद शाम को पहुँचा था, और वहाँ एक उदासी साधु के स्थान में रात भर के लिए ठहरा। मिसरिख के पोखरे पर बाटी लगी थी। पोखरे में पानी बहुत कम था, उसके एक कोने मे एक कुआँ दिखलाई पड़ता था। नीमसार के कुड के बारे मे कहा जाता था, कि उसके पानी का थाह नहीं, वह पाताल लोक तक चला गया है। उसकी एक ओर से थोड़ा-थोड़ा पानी बह रहा था। हरदोई में कचहरी के पास विलायती दरख्तो पर लाल फूल खिले हुए थे। शाहजहाँपुर से कुछ मील पहिले बनारस जिले के एक तीर्थाटक ब्राह्मण मिले। साथ-साथ कुछ मील चलने पर सलाह हुई, साथ ही चलने की। वह भी हरिद्वार और बदरीनाथ जा रहे थे। मुरादाबाद तक हम दोनो साथ रहे। ब्राह्मण के साथ छूत-छात का खयाल मेरा बिलकुल नही था, ब्राह्मण देवता रसोई बनाते थे, खाने-पीने की चीज माँग जाँच भी लाया करते थे। बरेली में बादशाह एड्वर्ड के मरन के कारण उस दिन बाजार बन्द थे। रामपुर मे पाठकजी के साले रहते थे, जिन्हें कलकत्ता में मैंने देखा था। उनसे मिलने गया। मुझे वैराग्य से डिगाने के लिए उन्होंने कोशिश की, किन्तु अब मै उस अवस्था से बहुत आगे पहुँच चुका था। उन्ही से मालूम हुआ, कि पाठकजी कलकत्ता छोड़कर घर चले आये हैं, और अब मुरादाबाद ही मे रहते है।

मुरादाबाद में हम सीधे मियाँ साहेब की गली में गये। पाठकजी को मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु मेरे बाने और साथ के तिलकधारी को देखकर उन्हें बेचैनी हुई। रात बीतने पर सबेरे देखा तो बनारसी दोस्त गायब हैं। ढूँढ़ने में इधर-उधर परेशान देखकर पाठकजी के लड़के ने मुस्कराते हुए कहा–हमने उसे रवाना कर दिया। पहिले आनाकानी करते थे, किन्तु जैसे ही कहा–'दूसरे के लड़के को भगाये लिये जा रहे हो, जा रहे हैं पुलिस को रपट करने'; बस इतने ही में बच्चा का होश ठीक हो गया। आप यहाँ रहिए, और हम लोगों को भी ज्ञान-वैराग्य सिखलाइए। खैर, मुझे अभी जल्दी भागने की नहीं पड़ी हुई थी। पाठकजी का परिवार मध्य नागरिक परिवार था, और पाठकजी के आग्रह को मैं जल्दी ठुकरा नहीं सकता था। नगर के एक धनी सेठ थे। पाठकजी उनके दरबार में आया-जाया करते थे। दो भाइयों में बड़े भाई को भी ज्ञान-वैराग्य की बीमारी लगी हुई थी। मुझसे मिलकर उन्होंने बहुत प्रसन्नता प्रकट की, और अपने ही यहाँ रहने के लिए कहा। मुरादाबाद के दस-पन्द्रह दिन अधिकतर उनके ही यहाँ बीते। विरक्त सेठ ने कई दरियाई नारियल जमा कर रखे थे। कह रहे थे–'देखिए, दस नारियल हैं, मैं सोच रहा हूँ, दस संन्यासी हो जायें तब हम साथ निकलें। दो तो हो ही गये, आठ और आ जावेंगे।' गर्मी खूब पड़ रही थी, लेकिन सेठ (साहु) जी के बैठके में खस की टट्टियाँ लगी थीं। मेरे खाने-पीने, रहने-सहने का अच्छा से अच्छा इन्तिजाम था, और सेठजी समझते रहे होंगे, कि अब यह जानेवाला नहीं, बस सिर्फ आठ और मूर्तियाँ चाहिएँ।

सेठजी के छोटे भाई और खासकर उनकी माँ बड़े बेटे के रवैया से पहिले ही से बहुत परेशान थीं, मुझे डटकर सत्संग करते देखकर, उनका भय और बढ़ गया। मैं अब उकताने लगा था। सेठजी की दसवाली स्कीम मुझे फीकी लगने लगी, और ज्ञान-वेदान्त में तो वे मेरे पासग के बराबर भी न थे। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब एक दिन सेठजी की माँ और छोटे भाई ने बड़ी मिन्नत करके प्रस्ताव किया–"आप यहाँ से हरिद्वार चले जायें। वहाँ जाने के लिए रहने के लिए जो कुछ जरूरत हो, हम उसका इन्तजाम कर देंगे।" मैंने देखा उनके द्वारा मैं सेठजी और पाठकजी दोनों से बचकर निकल सकता हूँ, जिसकी इधर कुछ दिनों से मुझे बड़ी फिक्र थी। मैंने कहा, एक लुटिया (कमंडलू अब सड़ने लगा था) और हरद्वार तक का टिकट मुझे चाहिए, और कुछ नहीं।

2
हिमालय (1)

हरद्वार स्टेशन पर उतरते वक्त मेरे पास दो-चार आने पैसे से अधिक नही रहे होंगे, किन्तु अब मेरे लिए पैसे-कौड़ी के बिना अजनबी जगह में जाना चिन्ता की चीज नहीं थी। गंगा में स्नान करने गया। उस गर्मी में दिल कहता था, पानी में बैठें, किन्तु पानी में घुसने पर वह सर्दी के मारे काटे खाता था। हर की पैड़ी के पास कहीं कुछ पंट-पूजा की, और फिर चला किसी पंडित की खोज मे। आखिर हरद्वार आने का मेरा मतलब सिर्फ तीर्थ और तपस्या करना नहीं था, मैं वहाँ आया था सस्कृत पढ़ने के लिए। एकाध जगह लोगों से पढ़ने और पंडित के बारे में पूछा। लेकिन जब घर बनारस के पास बतलाया, तो उन्होंने कहा–यह चले हैं यहाँ हरद्वार में संस्कृत पढ़ने। सारी दुनिया जाती है बनारस संस्कृत पढ़ने, और इनकी उल्टी धार। पास के दूसरे आदमी ने कहा–अरे भाई, यह पढ़नेवाले देवता नहीं हैं, आये हैं छत्रों के टुकड़े तोड़ने। एक आदमी ने विष्णुतीर्थ (?) पर विष्णुदत्त (?) पंडित का नाम बतलाया। तलाश करते वहाँ पहुँचा। आवाज लगाई। कोठे पर से एक अधेड़ आदमी बोल उठा–"कौन, किसको चाहते हो ?"

"मैं पंडित विष्णुदत्त से मिलना चाहता हूँ।"

"ऊपर चले आओ, मेरा ही नाम विष्णुदत्त है।"

पंडितजी बहुत अच्छी तरह मिले। मेरी और उनकी उम्र के बीच जितना शिष्टाचार दिखलाना चाहिए, उससे

अधिक शिष्टाचार दिखलाया। पढ़ने की बात कहने पर कहा—कोई परवाह नहीं, हम पढ़ायेंगे। तुम दूर के विद्यार्थी हो, खाने के लिए चिन्ता मत करना, हमारे चौके में खाना।

इतनी सफलता पर मेरे आनन्द की सीमा न थी।

दो-तीन घटे बाद पंडितजी ने कलम, दवात और कापी के साथ एक मोटी-सी पुस्तक मेरे सामने ला रखी। बोले—"इस पुस्तक की खेमराज श्रीकृष्णदास के प्रेस से माँग पर माँग आ रही है, इसे तुम रोज नकल किया करो।"

मुझे और हर्ष हुआ, समझा—मुफ्त की नहीं, कमाकर रोटी खाना सबसे अच्छा है। एक दिन, दो दिन तो मैं संकोच में पड़ा रहा; समझता था, पंडितजी खुद पढ़ने के लिए कहेंगे। जब उधर से कोई बात ही चलती न देखी, तो मैंने पढ़ने के बारे में कहा। 'हाँ, बहुत अच्छा' कहकर दो दिन और टाला। उधर दिन में आठ घटा बराबर कलमघिसाई करनी पड़ रही थी। फिर कहने पर बड़े मीठे स्वर से कहा—"जल्दी क्या पड़ी है, किताब को जल्दी भेजना है, इसे लिखकर खतम कर डालो, फिर पढ़ाई शुरू करना, तब तक मेरी पुस्तकों में से जो रुचे, पढ़ते रहो।"

पंडितजी की पुस्तकों में मेरे काम की कोई पुस्तक न थी। छुट्टी मिलने पर दो-एक घटे बाहर घूमने जाता। कोशिश यह भी करता था, कि कहीं दूसरी जगह पढ़ने का सिलसिला लगे तो वहाँ चला जाऊँ। एकाध स्थान का पता भी लगा, तो बनारस की ओर से आना मेरे आवारापन का सबसे बड़ा प्रमाण था, और कोई मुझे विद्यार्थी के तौर पर स्वीकार करने को तैयार न था। पहिले ही साधु बन जाने के मैं बिलकुल खिलाफ था, इसलिए मठों में न मैं गया, न किसी साधु की मेरी ओर नजर गई। अखबार से मैं कोरा था। निजामाबाद के अन्तिम वर्ष में 'सरस्वती' के एकाध अंक देखे थे, पढ़े थे—इसमें सन्देह है।

सात-आठ दिन रहने के बाद पंडितजी का रहस्य खुलने लगा। उनको संस्कृत से कोई वास्ता न था। 'व्रतार्क' (यही उस पुस्तक का नाम था) को छपवाकर प्रेसवालों से कुछ रुपया और साथ ही तीर्थ पर आये भक्तों पर अपनी विद्वत्ता की धाक जमाना उनका काम था। रसोइया रो रहा था—छै महीने हो गये, एक पैसा तनख्वाह नहीं दी। खाना खिलाने की यह हालत थी, कि उनकी आठ-नौ वर्ष की लड़की ही रोटी होने से पेट भर खाने को पाती हो तो हो। लड़की के सिवा पंडितजी के घर में और कोई न था। शाम के वक्त छत पर बैठकर खाने और रात को वहीं सोने में मुझे और नफ़रत आती थी, जब देखता था, कि उसी छत पर कुछ दूर हटकर महीनों का पाखाना सूख रहा है।

अपनी सफलता पर फूला न समाता हरद्वार पहुँचने के दूसरे ही दिन मैंने यागेश को 'गद्यकाव्य' में एक पोस्टकार्ड लिखा था। उस आनन्दातिरेक में पत्र में कवित्व आ जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। पत्र सीधे यागेश को लिखा था या कालिकादास के पते से, यह याद नहीं। कोई दूसरा पत्र को न पढ़ ले, इसके लिए सारे पत्र को लिखकर फिर उसे इति से अथ की ओर करके उलट दिया था। मुझे जहाँ तक खयाल है, मैंने चलते वक्त यागेश को बतलाया नहीं था, कि मैं इस तरह का सांकेतिक पत्र लिखूँगा। वाक्यों को उलटकर कहने की देहाती स्कूलों में चाल थी, शायद इसी से यागेश को पत्र के पढ़ने में दिक्कत न हुई। पत्र में मैंने अपने यात्रानन्द का आकर्षक वर्णन करते हुए, उन्हें भी उसमें सहभागी बनने के लिए निमन्त्रण दिया था।

मेरा पत्र यागेश के पास आया है, यह रहस्य धीरे-धीरे खुल गया। यागेश के हाथ से उनके चचा महादेव पंडित पत्र लेने में सफल हुए। पहिले तो उसका कोई अर्थ नहीं मालूम हुआ, किन्तु पीछे उन्होंने भी संकेत ढूँढ़ निकाला। अब यागेश के ऊपर निगरानी रख दी गई। यागेश मेरे पत्र को पाकर चलने का बहुत कुछ निश्चय कर चुके थे, और जब निगरानी देखी, तो उनका इरादा और पक्का हो गया। वह निकल भागने की फिक्र में पड़े।

पंडितजी ने अपनी रोटियों के लिए लिखाने का काम लेकर यदि किसी के पास मेरे पढ़ने का प्रबन्ध भी कर दिया होता, तो भी मैं उनके पास बना रहता; किन्तु जिस स्थिति में बेवकूफ बनाकर वह रखना चाहते थे, वह मुझे सह्य नहीं थी। उस वक्त बदरीनाथ के यात्री आने लगे थे। हरिद्वार में पढ़ाई से निराश हो जाने पर मैंने सोचा, पढ़ाई के लिए फिर बनारस ही लौटना होगा, लेकिन अब जब यहाँ आ गया तो बदरीनाथ भी हो आना चाहिए।

एक दिन सबेरे मैंने पंडितजी से रुखसत ली। भीमगोड़ा होते हृषिकेश पहुँचा। अयोध्या से मुरादाबाद के

सफर मे सदावर्तो और धर्मशालाओं से मैं परिचित हो गया था। भीख माँगना तो मुझ अपने बस की बात नहीं मालूम होती थी, किन्तु सदावर्त में भीख माँगने की जरूरत नही, वहाँ तो नियमित अन्न या पैसा पाना हर भिखमगा अपना अधिकार समझता है। रास्ते मे मालवा के एक साधु मिल गये। यात्रा में एक से दो अच्छे होते है, यह बनारसी तीर्थाटक के साथ रहकर मैने अनुभव कर लिया था। दोनो बात करते चले, और हृषिकेश मे जाकर कालीकमलीवाले की धर्मशाला में ठहरे। पहिले के कालीकमलीवाले बाबा के 'पक्षपातरहित अनुभवप्रकाश' को मै पढ़ चुका था, किन्तु मुझे यह नही मालूम था कि कालीकमलीवाले की इतनी धर्मशालाएँ और इतने सदावर्त उत्तराखंड में फैले हुए हैं।

मेरे साथी मालवी बाबा देखने में पतले-दुबले तथा पचास से ऊपर के थे, किन्तु चलने–काम करने में मुझसे ज्यादा मजबूत थे। दो-तीन उतराई चढ़ाई में जहाँ मै टें बोल जाता, वहाँ वह हाथ में लाठी, पीठ पर बिस्तरा, बगल में झोली लिये धीरे-धीरे चलते ही जाते। दिन की मंजिल पूरी करके जब हम किसी धर्मशाला या चट्टी पर पहुँचते, तो मैं तो लेट जाता, और जरा भी हिलने-डोलने की इच्छा नही रहती, किन्तु वह लकडी जमा करते, आग सुलगाते, खाना बनाने मे लग जाते। थोडी देर सुस्ताने के बाद लज्जित होकर मै उठ खड़ा होता और उनके काम मे सहायता देने लगता। हमने हृषिकेश में ही कालीकमलीवाले के छत्र से अगले छत्र की दो चिट्ठियाँ ले ली थी–जिसमें एक आदमी दो बार सदावर्त न ले ले, इसके लिए कालीकमलीवाले ने एक चट्टी या धर्मशाला पीछे से छपी चिट्ठी ले जाने का तरीका निकाला था, चिट्ठी को देते ही उसमे छपी सदावर्त की चीजे मिल जाती थी। सदावर्त की जगह हर रोज नही मिलती थी, ऐसी स्थिति में हमे तीर्थयात्री दाताओं पर भरोसा करना पड़ता था, और उनकी काफी सख्या हमारे साथ-साथ चल रही थी। माँगने जाँचने का काम मुझसे होता भी नहीं, और उसके लिए मालवी बाबा जैसे एक्सपर्ट वहाँ मौजूद थे।

देवप्रयाग पहुँचते-पहुँचते मेरे भी पैर और फेफड़े कुछ मजबूत होने लगे। देवप्रयाग में अलकनन्दा उस पार हम एक या दो दिन ठहरे। भागीरथी की धार पर पारवाले गाँवों मे जाने के लिए रस्सी का झूला बना हुआ था एक बार मे उस पर से जाकर आर-पार हो आया और यह उस वक्त के लिए साधारण बहादुरी की बात नही थी।

देवप्रयाग मे सलाह हुई सीधे केदार-बदरी होकर चला जाना क्या, आये है तो जमनोत्री, गंगोत्री भी होते चले। प्रस्ताव मालवी बाबा की तरफ से हुआ, और मैने एवमस्तु कहा। देवप्रयाग छोड़ने के बाद पहिली चढ़ाई जब शुरू हुई, और उठने-बैठते घंटो चढ़ते चले जाने पर भी चढ़ाई का अन्त नही दिखलाई पड़ा; तो अपने निर्णय पर मुझे बहुत पश्चात्ताप होने लगा। लेकिन "अब पछताये होत का!" यह बात 1910 की है, उस समय देवप्रयाग से टेहरी का रास्ता, पगडंडी था।

चढ़ाई इतनी कड़वी मालूम हुई, किन्तु उसके खतम होने के बाद फिर इन्द्रियाँ शान्त हो गई। अब कुछ आदत पड़ती जा रही थी, इसलिए चलने के बाद चौबीस घंटा दर्द बनी रहनेवाली बात न थी। ऊपर डाँडे पर ठंडी हवा, और पके करौंदे, तथा तूत जैसे सुनहले फल–जिसके पौधे कँटीले थे–खाने मे मजा आने लगा। वहाँ की प्रकृति का सौन्दर्य पीछे की चकाचौंध के कारण भूल गया, किन्तु इतना याद है, वहाँ जंगली अनार थे, जो खाने में अधिक खट्टे थे। कितनी ही दूर जाने पर उतराई में वर्षा शुरू हो गई। हम लोग, एक पनचक्की घर मे चले गये। वहाँ वर्षा से बचने के लिए घर तथा खाना बनाने के लिए पास मे पानी भी मौजूद था। ईंधन की कमी न थी। अपने राम तो आज खाकर हँडिया ही फोड देते, किन्तु मालवी बाबा को देशाटन करते युग बीत गये थे। वह तीनो धाम हो आये थे, और उनमे से एक या दो को तो एक से अधिक बार। वह अच्छी तरह समझते थे, मौका पर गाँठ का बँधा गुड़ जितना काम देता है, उतना वेदान्त वैराग्य नही। एक शाम, दो शाम के लिए आटा-आलू-मिर्च-मसाला उनकी झोली में बराबर रहता था। आस-पास मील आधमील–सो भी पहाड़ी चढ़ाई-उतराई के साथ–कोई बस्ती न थी, तो भी हम निश्चिन्त थे। मालवी बाबा ने अपना छोटा तवा, थाली-बटलोई निकाली। पानी लाने, बरतन मलने मे अब मै भी सहायता करता था। रोटी उतनी अच्छी तरह तो नही सेंक सकता था, किन्तु दाल-तरकारी बनाने मे कोई त्रुटि नही होती थी। मालवी बाबा किस जाति के है, इसे न मैने कभी पूछा,

न पूछने की जरूरत समझी। यद्यपि वेदान्त के 'खाने के दाँत और दिखाने के और' के अनुसार व्यवहारावस्था में हजारों पाखंडों का पालन करना अन्तःकरण की शुद्धि के लिए आवश्यक समझा जाता है, किन्तु वेदान्त से पहिले कलकत्ता के पाठकजी का मन्त्र भी तो मुझे लग चुका था।

कितने दिन बाद टेहरी पहुँचे। वह कैसी बस्ती है, यह मुझे याद नही। राजकीय धर्मशाला मे हम लोग ठहरे थे। मालवी बाबा कहने लगे–तीरथ का फल पूरा नहीं मिलता, जब तक कि वहाँ के राजा का दर्शन भी न कर लिया जावे। 'तीरथ के फल' को मैं बिलकुल तुच्छ समझता था, यह तो नही कह सकता; किन्तु उसमे देशाटन की वासना बहुत ज्यादा मात्रा में थी, इसमे तो सन्देह नहीं; और उस दृष्टि से राजा का दर्शन एक आवश्यक चीज थी। हम लोग बस्ती से बाहर किसी बाग के पास खड़े हुए। हमारी तरह के कुछ और तीरथ प्रवासी लोग वहाँ खडे थे। राजा साहेब सामने के पहाड़ पर अपने ग्रीष्मावास से आये, उनकी बग्गी हमसे चार कदम पर खड़ी हुई। हम सबों ने राज-दर्शन पाया। राजा की क्या उम्र थी, कैसा चेहरा-मुहरा था, यह मुझे बिलकुल याद नही। हाँ, लौटते वक्त साथी लोग बातचीत कर रहे थे, कि महाराजा का शादी-सम्बन्ध नेपाल राजवंश के साथ है।

टेहरी से धरासू की यात्रा मे कोई स्मरणीय घटना नहीं घटी। दोपहर से पहिले किसी-न-किसी गाँव मे हमे मट्ठा मिल जाया करता। कुछ सदावर्त, और कुछ माँग-जाँचकर हमारे दोनो शाम के भोजन का काम चल जाता। अब सर्दी भी पड रही थी, और आगे की सर्दी मे मेरे पास कोई कम्बल जरूर रहा होगा, किन्तु मुझे जहाँ तक याद है, नीचे से कम्बल मैं साथ नहीं लाया था; कम्बल मिला होगा तो हृषिकेश या टेहरी मे ही। धरासू पहुँचते-पहुँचते मालूम होने लगा, कि अब मालवी बाबा के साथ और अधिक रहने मे कडवाहट के साथ अलग होना पड़ेगा। धरासू से यमुना के तट तक पहुँचने का दृश्य कैसा था, यह तो नही कह सकता, लेकिन यमुना के किनारे पहुँचने पर मालूम होता था, नाटक का एक नया पटोद्घाट हो गया। उपत्यका अधिक चौड़ी थी। यमुना का नीला जल दूर तक फैला हुआ अनवरत कल-कल करता चल रहा था। आपादमस्तक हरियाली से लदे विशाल पर्वत अपनी छाया से उपत्यका को ढाँके हुए थे, जिससे प्रकृति बड़ी स्निग्ध मालूम होती थी, यद्यपि अभी कुछ दिन था। इधर विशेषकर धरासू स इस तरफ जमनोत्री के यात्री बहुत कम होते थे, और रास्ते की मरम्मत और चट्टियो (पड़ाव की दूकानो) का अभाव था, इसीलिए हम लोगो ने जगलात मुहकमे के कुलियो के डेरे के पास यही ठहरना पसन्द किया।

हमारे डेरा डाल देने के थोडी देर बाद एक और भी मूर्ति हमारी बगल मे आकर रुकी, जिसकी शकल-सूरत और बातचीत ने बहुत जल्द ही मेरे ध्यान को अपनी ओर आकर्षित किया। उसका रग गोरा, चेहरे पर कम मास, नाक नुकीली, ऑखें चमकीली, मुँह पर घनी काली मझोले परिमाण की दाढ़ी, शिर पर काले केशों का छोटा-सा जूट था। उसके पास बहुत कम सामान था–एक पशमीने की नारगी रग की अलफी (लम्बा कुर्ता), एक कम्बल, छोटी-सी झोली, पीतल का कमडलू (डोल जैसा) एक गमछा, दो लँगोटी के सिवा एक लम्बा 'रोज' का लाल डडा-भर उसके पास था। उसके आने के साथ ही एक बड़े-बड़े बालोवाला मटमैला सफेद कुत्ता इधर-उधर सूँघकर मालिक से पाँच कदम दूर जाकर बैठ गया।

ब्रह्मचारी–उस व्यक्ति का नाम याद नही रहा–की जबान और रोम-रोम चुप रहना जानते ही न थे। उसने आते ही प्रश्नो की झडी लगा दी–"कहाँ से आये महात्मा ?" "कैसा रास्ता है ?" "हाँ, आप मालवा उज्जैन के रहनेवाले है, मैं उज्जैन के चढ़ाव पर गया हूँ।" "और आप तो बहुत अल्पवयस्क मालूम होते हैं; यह आपके पढ़ने का समय है ?" "अच्छा, आपका जन्मस्थान बनारस के पास है ? बनारस मैं दो बार गया हूँ। मणिकर्णिका-स्नान और विश्वनाथ के दर्शन किये हैं। काशी विश्वनाथ की नगरी का क्या कहना है ? हिमालय के बाद यदि कोई स्थान मुझे प्रिय लगता है, तो काशीपुरी ही, लेकिन वर्षों से हिमालय मे घूमते रहने के कारण वहाँ की गर्मी बर्दाश्त नहीं होती, मैंने पिछली बार कुछ महीने रहना चाहा, किन्तु फागुन के बाद रहना नामुमकिन हो गया।"

वह बड़े आत्मविश्वास के साथ, शुद्ध सस्कृत हिन्दी मे अप्रयास धाराप्रवाह बोलते जा रहे थे। उनका जन्मस्थान बरैली–मुरादाबाद की तरफ का मालूम होता था। उनकी भाषा में कितने ही उर्दू के शब्द भी आते थे, जिनका उच्चारण बहुत शुद्ध था। 'आपका आना किधर से हो रहा है'–पूछने पर बोले–

"मैं हरद्वार की ओर से नही आ रहा हूँ। यहाँ से पच्छिम रामपुर-कुल्लू-चंबा-जम्मू-काश्मीर मेरी विचरण

भूमि है। जाड़ों में कुल्लू में रहा। मणिकर्ण नाम सुना है ? नहीं सुना होगा। बहुत कम लोगों को पता है। बड़ा जागता तीर्थ है। जमनोत्री में तो एक गर्म कुंड देखोगे, वहाँ अनेक। यहाँ तो पानी में रोटी आलू डालने पर पकते हैं, वहाँ पानी पर बर्तन रखकर पका लो। पार्वतीजी के कान की मणि गिर गई, इसीलिए स्थान का नाम मणिकर्ण पड़ा।··· हाँ, ठीक मणिकर्णिका नाम भी काशी में पार्वतीजी की मणि खो जाने के कारण ही पड़ा, किन्तु यहाँ उबलते हुए पानी के चश्मे बतलाते हैं, कि त्रिशूली के त्रिशूल ने मणि को खोज निकालने में कितना प्रयत्न किया। ··· नहीं बूढ़े बाबा, कहने की बात है–'जो जाय कुल्लू, हो जाय उल्लू।' कुल्लू-चंबा में सुन्दरता बहुत है इसमें शक नहीं।··· मैंने कातिक मेला रामपुर में किया था। एक से एक कम्बल आते हैं, लेकिन भारी होते हैं। राजा ने बहुत कहा–'ब्रह्मचारीजी ! जाड़ों के लिए कुछ कपड़े ले लें।' जानते हैं, बोझ लादे-लादे फिरना मुझे सबसे ज्यादा तकलीफदेह मालूम होता है। बीहड़ से बीहड़ पहाड़ों को मैं कुछ नहीं समझता।··· धरासू से इधर का रास्ता मैंने नहीं देखा, तब भी यहाँ कुछ तो राज की ओर से रास्ते की मरम्मत पर खरच करना पड़ता होगा। मैंने तो ऐसे रास्ते पार किये हैं, जहाँ रास्ते के चिह्न बनाने का काम आदमियों के पैरों ने किया है। नदियों को आर-पार बाँधे एकहरे रस्से के सहारे पार करना होता है।··· हाँ, यह कम्बल और पट्टू की अन्फी रामपुर के राजा की दी हुई है। दोनों हल्के हैं, किन्तु खूब गर्म हैं। पट्टू–यह पशमी का पट्टू है। बर्फीली जगह की बकरियों के बालों के भीतर पशम उगती है।··· हाँ, बहुत कोमल है। असली पशमीने की परख है,–मलमल जैसे पतले पशमीने को चार परत करके जमे घी पर रख दिया, और आध घंटे में वह पिघल गया।··· हाँ, रामपुर का राजा तो बड़ा है, इधर पहाड़ों में चार चार गाँव के रा·। हैं। पहाड़ी लोग बड़े सच्चे होते हैं, अब तो देशी लोगों के संसर्ग से वे भी कुछ चालाक होते जाते हैं, नहीं, तो झूठ-चोरी का तो ये नाम भी न जानते थे। साधु-सन्तों मे बड़ी श्रद्धा रखते हैं।··· हाँ, बूढ़े बाबा, बदरी केदार की सड़कों पर चट्टियों में दूकान करनेवाले कहाँ तक अपनी श्रद्धा कायम रखेंगे, वहाँ तो रोज सैकड़ों साधु-सन्त आते-जाते रहते है।··· हाँ, यह झोली–इसमें यह देखो एक गाँजे की चिलम, साफ़ी, दियासलाई और कुछ गाँजा तम्बाकू है।···एक कमडलू काफ़ी है, प्यास लगी तो पानी, गाँव रहा तो छाछ या दूध माँग लिया। ··· रोटी बनाने की जरूरत क्या ? भोजन के समय चार घरों मे घूम गये, चार रोटी मिल गई, खा लिया।···यह कुत्ता रामपुर रियासत से मेरे साथ आ रहा है। बड़ा ईमानदार है। रोटी बनाकर नहाने-धोने, कुल्ला-गलाली करने चले जाइए, यह बैठा रोटी की रखवाली करता रहेगा। मजाल है कोई कुत्ता पास फटक जाये।··· हाँ, बड़ा तगड़ा है। रोटी सामने रख दीजिए, कनखियो ताकता रहेगा, लेकिन जब तक मुँह से 'खाओ' न कहें, तब तक भूखा भले ही मर जाये, रोटी मे मुँह न लगायेगा। यह कुत्ता साथी का काम देता आ रहा है।···"

ब्रह्मचारी की बातें मैं बड़े चाव से सुन रहा था। मन कह रहा था–यह है आदमी बाजंदा-टाइप का। काश ! मुझे भी इसी तरह उड़ते-फिरते रहने के लिए पर मिलता। शाम होने से पहिले वह थोडी देर के लिए टहलने निकल गये, और देखा ठीकेदार का मुंशी 'जी महाराज' कहता पीछे-पीछे आ रहा है। ब्रह्मचारी ने उससे कहा–'देखो, यह दो सन्त सूखी रोटी बना रहे हैं। इनके लिए पावभर घी और कुछ तरकारी-सरकारी तो भिजवाओ। अच्छा लो, पहिले एक चिलम गाँजा तैयार करो। 'दम लगे, वला भगे'।'

चिलम तैयार हुई। तम्बाकू के धूएं से पीली पड़ गई भिगोई साफी (रूमाल) को पीतल जड़ी काठ की लम्बी चिलम में लपेटते हुए ब्रह्मचारी ने दूर तक की वनस्थली को गुंजाते हुए कहा–"लेना हो शंकर।··· आ जा कैलाश के राजा।" और फिर दम खींचते हुए मालवी बाबा की अं. मुँह कर कहा–"आ जाओ बूढ़े बाबा, दम लगा जाओ। रोटी बनती रहेगी, रात तो अपनी है।"

दम लगाकर मुंशीजी हमारे लिए घी-तरकारी दे गये। ब्रह्मचारीजी का न्योता ठीकेदार के यहाँ था, वह एक-दो चिलम और फूँककर वहाँ चले गये और काफ़ी रात गये लौटकर आये। कह रहे थे–"सुल्फा (चरस) और बालूचर (गाँजा) यहाँ पहाड़ में कहाँ ? यहाँ तो जंगल की भाँग और जंगल का गाँजा। भंग के रस को मल-मलकर हाथ में लपेट लेने पर उससे सुल्फे का काम लिया जा सकता है। बहुत रात गये तक वार्तालाप जारी रहा, ज्यादा बात ब्रह्मचारी ही करते थे। मालवी बाबा तो शायद ही कभी बोलते थे, मैं भी ज्यादातर 'हाँ' 'हाँ' और कभी-कभी जिज्ञासा के दो-एक शब्द बोल देता था।

सबेरे हम तीनों ने रास्ता पकडा। रास्ता यमुना के बाये तट से ऊपर की ओर जा रहा था। दोपहर का एक पनचक्की के पास रसोई का तारघाट लगा रहे थे, तब ब्रह्मचारी को मालूम हुआ, कि कुत्ता गायब है। वह उसकी तलाश मे तीन-चार मील पीछे देखने गये, लेकिन नही मिला। वह आज गर्मी से परेशान मालूम हो रहा था। जहाँ पानी दिखलाई पड़ता, वहीं वह अपने शरीर को भिगोने जाता। ब्रह्मचारी कह रहे थे, जिस गाँव से कुत्ता उनके साथ चला था, वह और ज्यादा ठडा था। कुत्ते को अपना गाँव याद आया और वह उधर को लौट गया। यही निष्कर्ष हम लोगो ने भी निकाला।

हम जितना ही आगे बढ़ते गये, पर्वत की हरियाली और पानी के झरने भी बढ़ते गये। जमनोत्री के पंडो के गाँव में हम लोग शाम को पहुँचे। वहाँ चमडे की रस्सियो से मढे बाजे एक चिकनी समतल जगह मे रखे थे। लोगों ने बतलाया, आज स्त्री-पुरुषों का नाच होगा। मुझे यह कुछ अजीब-सा मालूम हुआ, क्योंकि मेरी समझ में आया पंडे लोग सपरिवार नाचेगे। गृहस्थ स्त्री-पुरुषो के सम्मिलित नाच को हमारे गाँवो ओर शहरो मे नीची निगाह से देखा जाता था। मुझे याद है, जब मैं नौ-दस वर्ष का था, उस वक्त मेरे समवयस्क तथा रिश्ते मे भाई जगमोहन का ब्याह हो रहा था। जगमोहन–प्रसिद्ध बहादुर चोर घुरबिन अहीर–का पोता था, पीछे वह गाँव का सबसे बलवान् पुरुष, तथा बिरहा गाने में कई गाँव मे अद्वितीय जवान हुआ। बारात जाने से दो तीन दिन पहिले ही शादी में स्त्रियों के पूजा-कुलाचार शुरू होते है। सारे दिन और रात मे भी बहुत देर तक नगारा बजता रहता है। अहीर बड़ी खुशदिल जाति है। गाय-भैंस पालना, खेती करना–और खूब तन मन लगाकर–उसके बाद मनोरंजन का सामान भी होना चाहिए। वह मनोरज्न था–बिरहा, लोरिकी का गाना, तथा गाहेबगाहे नाचना। नाच मे लम्बा स्त्रियाँ भी उस वक्त शामिल होती थी। जगमोहन की माँ किसी काम से बाहर आई। गाँव के किसी देवर ने ताना मारा, जिसको वह बहादुर अहीरिन कैसे सह सकती थी। वह ललकारकर मैदान मे उतरी और तब तक नाचती रही जब तक कि सामने का मर्द थककर भाग नही गया। मुझे याद था, उस दिन का वह नाच और साथ ही वह प्रसन्नता भी जो उसे देखकर हुई थी। आज यद्यपि कनैला मे चला हुआ शुष्क वैराग्य हिमालय की भूमि मे कुछ सरस हो चला था, तो भी पंडे स्त्री पुरुषों के नाच की बात न जाने कैसी जान पड़ी।

दूसरे दिन चलकर यमुना के किनारे वहाँ पहुँचे, जहाँ दो चट्टानो के ऊपर लकडी के ठहर का पुल बना हुआ था। वहाँ चट्टान पर कुछ लाल खून लगा हुआ था। जिज्ञासा का समाधान हुआ–कोई गिर गया, उसका सर फट गया। मुझे सन्तोष नही हुआ, क्योंकि यह कोई उतनी कठिन जगह नही थी, आगे जरूर कितनी ही जगह कुछ कठिन रास्ते आये। वृक्षो के तनों और शाखाओं से हरे कपास के बड़े-बड़े फाहे से लटक रहे थे–बर्फ पड़नेवाली जगह के वृक्षो का यह चिन्ह है। लेकिन ये वृक्ष उतने सुन्दर नही जँचे जितने कि देवदार। हम लोगो ने भगवान को बहुत धन्यवाद दिया, जब कि बिना पानी बूँदी के हम जमनोत्री पहुँच गये। आखिर के दो मील तो मैं कहता मे सचमुच पानी बरसने पर बहुत मुश्किल हो जाते।

जमनोत्री ऊँचे पहाडो मे घिरी एक छोटी-सी जगह मालूम हुई, जो एक तरफ से खुली हुई थी, और पानी उधर से ही बह रहा था। थोड़ी दूर पर सैकड़ों फीट ऊँचे बर्फ से सफ़ेद दो धाराएँ गिर रही थी, जो चन्द ही कदमों पर मिलकर एक हो जाती थी। बायेंवाली धारा के बायें थोडी ही दूर पर तथा पहाड़ की जड मे, पत्थरों मे, हाथ-डेढ़ हाथ लम्बा, उतना ही चौड़ा, और हाथ-भर से कुछ अधिक गहरा एक कुंड था। पानी उसके मुँह तक भरा न था। यही जमनोत्री का तप्तकुंड था। कुंड के किनारे से मूत जैसी एक धार पिचकारी की तरह छूट रही थी। इस गरम पानी मे ही खाना पकाकर खाना तीर्थ यात्री लोग धर्म समझते थे। हमने भी अँगौछे मे आलू बाँधकर कुंड मे डाल दिया, छोटी-छोटी रोटियाँ बनाकर कड़ाही के घी मे पूड़ियों की तरह उस पानी मैं डालते जाते थे। पकी रोटी की पहिचान थी, उसका ऊपर उतरा आना। कुंड तथा बर्फीली धार के कुछ पानी को ले जाकर एक कुंड में मिलाया गया था, यही यात्री स्नान करते थे। वहाँ की सर्दी मे घटा उसी के भीतर पड़े रहने का मन करता था। जमनोत्री में यमुनाजी का मन्दिर कैसा था, यह तो याद नही, किन्तु वहाँ एक या दो दूकानें थी, जिनमे खाने की चीजें मिल जाती थी।

जमनोत्री से मानवी बाबा और मेरा साथ छूट गया। ब्रह्मचारी की निर्द्वन्द्वता, उसकी दुरूह स्थानो मे हुई

यात्राओं, और भाषण की विचित्रता, तथा अधिक सस्कृत व्यवहार मुझे अपनी ओर आकृष्ट करने मे ज्यादा सफल हुए। जमनोत्री से चलते वक्त हमारे साथ एक तीसरा व्यक्ति बहराइच जिले के एक अधेड मुराव (कोइरी) भगत थे। चलने में अब मै वही आदमी न था, जो कि ह्रषिकेश मे सर लटकाये मुर्दो की तरह जबर्दस्ती रस्सी बाँधकर खीचा जाता-सा ऊपर की ओर घसीटा जा रहा था। मेरे भी पैर अब फुर्ती मे ब्रह्मचारी के पैरो का मुकाबला करने को तैयार थे। पाँच-चार मील चलते-चलते हम लोग आज के चले सभी यात्रियो को छोडकर आगे बढ गये।

हिमालय की इस यात्रा का वर्णन मानस-पटल पर अकित सिर्फ उन प्रतिबिम्बो के सहारे कर रहा हूँ, जो आज से तीस वर्ष पहिले पडे थे। उसके बाद फिर इस रास्ते जाना नही पडा, जिसमे कि धूमिल पडते उन प्रतिबिम्बो के रंग को चटक करने का मौका मिलता। मैंने उस वक्त कोई नोट भी नही किया था, और न आज (23-4-40) जेल मे लिखते वक्त मेरे पास कोई नक्शा या पथप्रदर्शिका किताब है, जिससे मैं रास्ते और दूरी के बारे मे कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। स्मृति प्रमाण नही है, यह भारत के एक सर्वोच्च नैयायिक का कथन है, अतः पुराण बाल्य-स्मृति के सहारे लिखा गया यह मेरा वर्णन कितनी ही जगह वस्तुस्थिति से विपरीत हो सकता है।

खैर, मालूम नही कितने मील चलने के बाद, हम तीनो एक जगह ठहरे। भोजन बनाने का काम मेरे ऊपर था। मुराव भगत पानी ला देते, आटा गूँध देते। ब्रह्मचारी तरकारी बनाने मे सहायता करते, जगल से न जाने कौन साग वह ला देते। पानी के किनारे एक बालिश्त से कम ही अँकुर जैसा एक डडी-पत्ते का पीलापन लिये हरा साग खाने मे बहुत अच्छा लगता था। उस दिन शाम को ही पता लग गया था, कि कुछ मील पर गगोत्री के दो रास्ते फूटनेवाले है, एक तो पुराने रास्ते से धरासू होकर गगा के किनारे-किनारे उत्तरकाशी और फिर गगोत्री को, दूसरा यही से उत्तरकाशी को जायेगा। नये रास्ते मे दो या तीन दिन की बचत थी, लेकिन उसका लोभ न मुझे था, और न ब्रह्मचारी ही को। हम लोग "बरस दिन के रास्ते मे छै महीने के रास्ते" को ज्यादा पसन्द करते थे, क्योंकि पता लगा यह रास्ता ज्यादा सुनसान, ज्यादा अल्प प्रचलित और ज्यादा खतरनाक है। मुराव भगत से पूछने पर उन्होंने भी छोटे रास्ते से चलना पसन्द किया।

पहिले रास्ते को छोडकर हम बाये को मुडे। 7 बजे के पहिले आखिरी गाँव खतम हो गया। मालूम हुआ अब इसके बाद दूसरा गाव 18 या 20 मील पर आवेगा। पहिले के दिन होते, तो दिल काँप जाता। रास्ते मे ज्यादा चढाई-उतराई नही थी, किन्तु आदमियो के पैरो से बने रास्ते—जिन पर कि हम चल रहे थे—को छोडकर दूसरा मानवचिन्ह कही नही दिखलाई पडता था। विशालकाय वृक्ष, उनके नीचे उगी रग-बिरगी बूटियाँ जिनकी मादक गन्ध लेकर हवा चारो ओर बिखर रही थी। बिलकुल साँप के फन जैसे एक पौधे को दिखलाकर जब ब्रह्मचारी ने कहा, कि इसकी जड मे साँप रहता है, तो मुझे बिलकुल विश्वास हो गया। वहाँ किसी वेदान्ती को रज्जु मे सर्प के भ्रम की जरूरत न थी, वह बूटी तो सोलहो आने फन जैसी मालूम होती थी। कुछ मील चले जाने पर एक जगह धूनी सुलग रही थी। लकड़ी का बडा कुन्दा अब भी जल रहा था। हमने खाना बनाने के लिए अभी बहुत सवेरा समझा। ब्रह्मचारी ने झोली खोली, चिलम तैयार हुई। जनशून्य कानन को 'बम-शकर' से प्रतिध्वनित करते हुए दम खीची, एक बालिश्त तो नही, किन्तु चार अगुल ऊँची लपट चिलम से ऊपर निकली; "लो हो भगत !" कहते हुए साथी को दिया। दो बार चिलम परिवर्तन के बाद चिलम को जमीन पर आहिस्ते से पटका, गिट्टक को फिर उठाकर उसके भीतर रख उन्होंने साफी से लपेट, झोली मे रखा और हम फिर रवाना हुए। ग्यारह बजे के करीब बड़े वृक्षोंवाला जगल खतम हो गया। अब लुकाट या गुलायची के पत्तो जैसे पत्तेवाले केवडे की भाँति के छोटे-छोटे और उसी तरह नीचे टेढे-मेढे हो गये दरख्त मिलने लगे। ब्रह्मचारी ने कहा, अब हम असली बर्फ की जगह आ गये। आसमान मे जब-तब बादल दिखलाई पड जाते थे, किन्तु उनकी हमे उतनी परवाह न थी। हम लोग सूखी लकड़ी की तलाश मे थे, वह मिल न रही थी, और उधर भूख तेज होती जाती थी। एक बजे तक जब वही टेढ़ा-मेढ़ा पतला वृक्ष मिलता गया, तो लाचार हमने कुछ सूखी-सी दीख पडती लकड़ियों को इकट्ठा किया। सूखी पत्ती थी नहीं, जिससे कि दियासलाई बालकर आग सुलगाते। मुराव भगत के पास बिछाने की चट्टी थी। एक बालिश्त काटकर सुलगाया। चट्टी तो सुलग गई, किन्तु लकडी बिलकुल बहरी थी, कुछ नही

सुन रही थी। जब हमारी एक डिबिया दियासलाई और मुराव भगत की सारी चट्टी खतम हो गई, फिर भी आग न जली, तो हार मानकर उस प्रयत्न को छोड़ना पड़ा। उस वक्त मालवी भगत मुझे याद आये। वह होते तो उनकी झोली मे कोई खाने की चीज जरूर निकल आती। आटा, आलू, कुछ घी भी हमारे पास था, किन्तु उनके लिए आग की जरूरत थी। उस वक्त मुराव भगत ने कहा—मेरी झोली मे गुड मिला पावभर सत्तू है, और तो रास्ते में खर्च हो गया, बस इतना ही बाकी है। हमारे जान मे जान आई। मुराव भगत को शाबाशी दी। सत्तू को लेकर ठीक तीन हिस्से किये गये। ब्रह्मचारी ने लुटिया मे घोलने से मुझे मना कर दिया। कहा—मैं कमडलू मे सत्तू घोलकर पी लेता हूँ, फिर इसी कमंडलू-भर पानी मे सत्तू घोलकर पियो। पेट जितना ही भरा रहेगा, उतना ही पैर आगे पडेगा। सत्तू क्या, मालूम होता था जैसे देवताओ ने अछूता अमृत अभी-अभी स्वर्ग से भेजा है।

दो घटा और चलने के बाद एक सूनी मडैया पहाड की रीढ पर दिखलाई पडी। अगली रात जहाँ हम ठहरे, वहाँ पहिले से पहुँचे साधु ने कहा—"मैं रात को उसी मडैया मे ठहर गया था। कभी-कभी उसमे गोरखिये रहते हैं, लेकिन उस शाम को कोई नही था। शाम को जब मैंने रीढ की दूसरी ओर पचास कदम नीचे देखा, कुछ भालू और उनके बच्चे किसी चीज की जड़ खोदकर खा रहे हैं, तो मेरी साँस उल्टी टँग गई। मैं चुपचाप आकर झोपडी के एक कोने मे पड रहा। रात को नीद कहाँ आवेगी, मालूम होता था, भालू अब आते हैं, और फिर मैं यहाँ का यही।"

खैर, यदि हमको उस झोपडी मे रात बितानी पडती, तो हमे उतना डर न होता, हम अकेले नही तीन थे जिसमे मुराव भगत के पास डडे मे खन्ती, ब्रह्मचारी के पास नोकदार लोहा मढ़ा लम्बा डडा था, मैं निहत्था जरूर था, और इस कथा के बाद मैं भी बराबर एक डडा साथ रखने लगा। उतराई शुरू हुई—पहिले का अधिक रास्ता पहाड की रीढ पर था, समतल भूमि पर मालूम होता था, फिर आदमियो और पैरो से कटे तथा पानी के बहाव से गहरे हो गये रास्ते अधिक मिलने लगे। भूख का जोर तेजी पर था, वह सत्तू तो लाल तवे पर की दो बूँदे थी तो भी अब रास्ते से नजदीक गाँव होने की सम्भावना थी, इसलिए मन सन्तोष करने के लिए तैयार था। चार साढे चार बजे के करीब हम गाँव मे पहुँचे गये।

धर्मशाला तो नही थी, किसी गृहस्थ का सूना घर रहा होगा, जिसमे हम लोग ठहरे। हमारी अँतडियाँ ऐंठ रही थीं, पैरो की ओर से कोई शिकायत न थी। ब्रह्मचारी एक मिनट के लिए भी बिना रुके—'तुम लोग आराम करो, मैं तुरन्त आता हूँ" कहकर चले गये। मुश्किल से पन्द्रह-बीस मिनट गुजरे होंगे कि एक सेर भुना हुआ गरमा-गरम गेहूँ और आधा पाव गुड की डली लिए ब्रह्मचारी हाजिर हुए।

"खाओ ! खूब खाओ ! रोटी की फिक्र मत करो, अभी दिन बहुत है। मैंने तो चाहा कुछ मट्ठा भी मिल जावे, तो अच्छा, किन्तु शाम—मट्ठे का समय नही। · मैं सीधा गाँव के प्रधान के घर गया। संयोग से वह नेपाली निकल आया। · · नेपाल का बाशिन्दा है, अब शादी करके यही रह गया है। मैंने कहा—प्रधान, तीन-तीन सन्त आज सारे दिन भूखे चले आ रहे हैं। जो कुछ तैयार हो, पहिले तो वह दो। सत्तू के लिए गेहूँ भून जा रहे थे, उसने यह लाकर रखा। गुड पहाड़ मे मोती के भाव बिकता है। उसके घर बस इतना ही था। अभी खा लो। मुझे बात करने की फुर्सत कहाँ थी। तुम्हारी अँतडियाँ क्या कह रही थीं, यह मुझे मालूम था। अब जाऊँगा। आज शाम को खीर-परावठे खाने की तबियत करती है। · दूध क्यो नही मिलेगा।"

शाम को सचमुच चार सेर दूध लिवाए ब्रह्मचारी पहुँचे। प्रधान भी आया था, किन्तु उसकी शकल-सूरत याद नहीं पड़ती। चीनी नही थी, गुड हम सफाचट कर चुके थे, किन्तु चीनी बिना भी वह गाढ़ी निर्जल खीर जिसमे दूध से चौथाई भी चावल नहीं पडा था, बहुत मीठी लगती थी।

दूसरे दिन घटा बीतते-बीतते धरासूवानी सडक पर पहुँच गये। उसी दिन हम उत्तरकाशी पहुँच गये। बादल और हवा के कारण काफी सर्दी लग रही थी, किन्तु धर्मशाले मे गुड और चाय की सदावर्त ने उसके भगाने मे बडी सहायता की। उत्तरकाशी गगा के किनारे एक खुली भूमि मे बसी मालूम पडी। शिवमन्दिर काफी बडा और सफेद था, पास मे धर्मशाला या घर भी अच्छा खासा था। सदावर्त तो जरूर ही होगी। कहाँ ठहरे, कितने दिन ठहरे, बाजार और बस्ती कितनी बड़ी थी, यह स्मरण के बाहर की बात है।

वहाँ से गंगोत्री कितने दिन में पहुँचे, यह याद नहीं आता। इतना मालूम हुआ कि हमारा रास्ता गंगा–जिसकी उपत्यका देवदारों के शुरू होने तक बहुत चौड़ी हो गई थी–के दाहिने से था। इधर के गाँवों में अखरोट के बड़े-बड़े दरख्त थे, जिनमें हरे-हरे फल लगे थे, और मैं समझता था, कि जब इनका रंग पीला पड़ जावेगा, तो लड़के आम की तरह लेकर चूसते होंगे। देवदारों के आने से पहिले ही एक सड़क के किनारे कुछ गदहे चर रहे थे, जो मामूल से कुछ ज्यादा बड़े थे। थोड़ी ही दूर पर रास्ते से जरा-सा हटकर एक छोटा-सा तम्बू खड़ा था। ब्रह्मचारी हमें भी साथ लिवाये वहाँ गये। 'लामा' 'लामा' कह तम्बूवाले से बात करने लगे। मालूम हुआ यह तिब्बत का नहीं नेपाल का बाशिन्दा है, व्यापार के लिए आया हुआ है। ब्रह्मचारी ने जब महाराना जंगबहादुर का नाम लिया, तो हँसी से मुख की रेखा को कान तक बढ़ाते, आँखों को गालों के भीतर अन्तर्धान करते 'लामा' ने एक हाथ को मुट्ठी बाँधकर ऊपर खींचते हुए जंगबहादुर के आत्मबल का नाट्य किया। उसका शरीर छै फीट से कम न रहा होगा, और उसी के अनुसार उसके शरीर की चौड़ाई भी थी। मुझे तो वह बचपन की कहानियों में सुना दानव मालूम होता था। उस वक्त मेरी धारणा हो गई थी कि. तिब्बत के सबसे छोटे आदमी ऐसे होते हैं। ब्रह्मचारी ने चलते वक्त लामा से 'चोरा' और जिम्बू की बूटियाँ माँगी, जिनमें पहिली सूखी पतली जड़-सी मालूम होती थी, और दूसरी किसी चीज का हरा पत्ता था। उसी शाम आलू की तरकारी. घी में उसी बूटी में से एक का छौंक देकर बनाई गई। लाल मिर्च, नमक और घी के अतिरिक्त उसमें दूसरा कोई मसाला नहीं पड़ा, था, किन्तु स्वाद के बारे में क्या कहना, उस वक्त कहना तो गुनाह होता, किन्तु मालूम होता था रामदीन मामा ने डाकखाने के अपने अफसर की दावत के लिए बकरी के पट्ठे का मसालेदार मांस तैयार किया है।

शाम के वक्त हम देवदारों की छाया में पहुँचे। सामने के अस्ताचल की आड़ में सूर्य के चले जाने से, अन्धकार नहीं बढ़ रहा था, बल्कि मालूम होता था, सूरज के डर से देवदारों की घनी हरी छाया के नीचे छिपा अन्धकार सूर्य के बल को कमजोर देखकर धावा बोल रहा है। देवदार का विशाल वृक्ष, शिवाले के शिखर जैसा उसका नुकीला शिखर, सहस्रों भुजाओं की तरह समकोण में फैली उसकी शाखाएँ, हरी फुलवारी की पतली रेखाओं जैसी उसकी लम्बी-लम्बी पत्तियाँ और उस पर से देवदारु जैसा आकर्षक नाम–देवदारु के सौन्दर्य ने उस दिन अपने लिए 'वृक्ष-श्रीका मापदंड' होने का जो निर्णय स्वीकार कराया, उसे तीस साल बाद भी फिर से विचार करने की मुझे जरूरत नहीं पड़ी। उस दिन उसके नीचे से भीनी-भीनी निकलती खुशबू का जो आघ्राण मैंने किया था, वह देवदार से सैकड़ों मील दूर रहते आज भी मुझे ताजा मालूम होता है।

आज जहाँ ठहरे थे, उसके आसपास जंगलात के ठीकेदार के आदमी देवदार के स्लीपर चीर रहे थे।

दूसरे दिन हम अधिकतर देवदार की छाया में चलते गये। किसी नदी को आरपार होना पड़ा याद नहीं। हाँ, एक जगह ऊपर के जानेवाले रास्ते का छोड़ दाहिनी ओर नीचे से उतरने लगे. उस समय सुना कि ऊपर का रास्ता एक भयानक पुल पर से गुजरता है. इसीलिए हम नीचे के रास्ते से चल रहे है। कितनी ही दूर उतरने के बाद काठ का एक पुल आया, और उससे हम भोट गंगा को पार कर गये। अब फिर चढ़ाई शुरू हुई, और काफ़ी दूर तक, किन्तु अब हम अभ्यस्त हो गये थे। आगे कहीं चौकीदार का घर मिला. जिसने हमें खबरदार किया, कि आग जहाँ-तहाँ न जलावें, जंगल में आग लग जाने का डर है।

गंगोत्री में हम जिस घर में ठहरे, उसमें सिर्फ साधु ही साधु थे. जिनकी संख्या आठ-नौ से ज्यादा नहीं रही होगी। बीच में बड़े-बड़े लक्कड़ो की धुनी जल रही थी और उसके किनारे अपने-अपने आसनों पर सन्त लोग बैठे हुए थे, उनमें कुछ शिर में लम्बी पिंगल जटा, देह में अखंड भभूत और माला-लंगोटी के सिवा नंगे-मादरजाद थे, किसी के गर्दन तक पहुँचे भूरे बाल तथा कान में स्फटिक की मुद्रा. किसी की लाल लंगोटी और गर्दन में काली ऊन की माला, किसी का सर घुटा और बदन में लम्बी अल्फी। वेश-भूषा में भेद रहते भी एक बात सबमें साधारण थी, वह थी गाँजे की साफ़ी, और लम्बी चिलम। गांजे की एक चिलम हाथ से हाथ में बदली जाती थी, और उधर दूसरी चिलम तैयार हो रही थी। मालूम नहीं वहाँ गाँजा महँगा मिलता था या सस्ता. अथवा नैपाल की शिवरात्रि की भाँति सदावर्त में मिलता था। चाहे कुछ भी हो, झोली से गाँजा निकालकर देने में हर सन्त होड़ लगाये हुए था। गंगोत्री एक तीर्थ मार्ग का अन्तिम छोर था, इसलिए हर एक धर्मेच्छुक गृहस्थ वहाँ साधुओं को कुछ

भोजन और दान-दक्षिणा दिये बिना नही रहता था। मैं नही समझता था, दो या तीन जितने दिन हम वहाँ रहे, हमे कभी रसोई बनानी पड़ी थी। रोज किसी न किसी माई-दाता की ओर से पूड़ी-हलुवा, पूआ, मिठाई बनके चली आती थी।

अब इधर मै सन्तो को बहुत नजदीक से देख रहा था, और उनकी धुआँधार चिलमो म अभी मै शामिल न हुआ था, उन्हे ब्रह्म-वेदान्त की चर्चा मे लीन भी मैं नही देखता था, तो भी मुझे उनसे घृणा और उदासीनता नही हुई। यह बात नही कि वेदान्त और वैराग्य मैं भूल गया था। जान पडता है, उनका बेफिक्री का स्वच्छन्द जीवन, उनकी एक तल पर आपस मे मिल बैठने की भेदभावशून्य चाल, उनकी खाने खर्चने मे उदारता, उनकी मार्ग के कष्टो को आवाहन करने की बेकरारी और उनकी कल मे बेफिक्री इतनी ठोस चीजे थी, जिनके कारण तसवीर के दूसरे रुखे पर मेरा ध्यान ही नही जाता था। छीलने पर मै अन्दर से क्या कहूँ, यह तो मुझे पता न था।

गगोत्री से गगनाणी तक हमे फिर लौटकर आना पडा। अब की बार लकडी के बिना कटघरेवाले पतले पुल से हम गगापार के गर्मकुड मे नहा भी आये। मालूम नही उसी पुल से या उससे नीचे किसी और पुल से पार होकर हमने केदारनाथ का रास्ता पकडा। महीना शायद आषाढ का होगा, नदी के ऊपर के खेत कट चुके थे। खेतो मे गेहूँ के लम्बे डठल खडे देखकर मुझे माजरा समझ मे नही आया, पीछे मालूम हुआ, यहाँ बाले ही काटी जाती हैं—वर्षा का डर होने मे बाले तो घर मे भी छिपाई जा सकती हैं। बूढ़े केदारनाथ के लिए हम बराबर ऊपर से ऊपर चलते रहना पडा।

बूढा केदार बहुत बडी बस्ती न थी; हाँ, उसके पास खेत बहुत थे। मन्दिर का स्मरण नही, यह याद है कि ब्रह्मचारी के लेक्चरो मे प्रभावित हो एक दिन रात को रोटी के वक्त मै मधूकरी माँगने गया था। एक या दो द्वारो पर गया, और हर घर से छोटी-बडी एक-एक रोटी मिली, इसी वक्त कुत्ते भूँकते हुए टूट पडे, वही से मैं उ- ग लौट पडा; और उसके बाद फिर कभी मधूकरी माँगने का नाम नही लिया।

बूढा केदार के आगे मरी तबियत कुछ अस्वस्थ हो गई। ज्वर आने लगा। एक या दो दिन आगे जाने पर मैं ब्रह्मचारी के साथ पैर मिलाकर चलने मे असमर्थ था। ब्रह्मचारी का मन अपनी अवस्था बतलाई थी, किन्तु उनको उसका खयाल न हुआ। एक दिन मैं 4, 5 मील जाते-जाते आगे चलने म असमर्थ हो गया। पास मे एक ब्राह्मण का घर था। नीचे गाय-बैल के बाँधने का स्थान, और ऊपर आदमियो के रहने की साफ सुथरी कोठरियाँ। घर के चारो ओर निकला बराडा था। घर मे कोई नौजवान लडका था, मेरी अवस्था देखकर उसने घर मे बुलाया। मुश्किल से मैं सीढी के ऊपर चढ पाया। वही बराडे मे कम्बल बिछाकर पड रहा। थकावट दूर होने पर कुछ चित्त स्वस्थ मालूम होने लगा। वही घर म मैंने तुलसीकृत रामायण देखी।—रामायण की चौपाइयाँ यहाँ भी पढी जाती हैं। दो घटे के विश्राम के बाद ब्रह्मचारी के आगे बढने की चिन्ता बढने लगी। मैंने हिम्मत करके चलना ही पसन्द किया। मुश्किल से मील-भर जा सका हूँगा, कि पैरो ने फिर आगे बढने म जवाब दे दिया। चढाई का रास्ता होने के कारण शरीर का ऊपर ढकेलना बडा कष्टसाध्य मालूम हो रहा था। आगे गाँव दूर होने के कारण रास्ते से थोडा नीचे गाँव की सूनी चौपाल मे कम्बल डालकर पड रहा। थोडी देर मे प्यास बढी तो सामान वही छोड वहाँ से कुछ दूर चश्मे पर पानी पीने गया। इसी बीच ब्रह्मचारी आये। उन्होने मेरे आने का भी इन्तिजार नही किया, पूछताछ की तो बात की क्या, अपना कम्बल—जिसे मैं ही ढो रहा था—लेकर चले गये। मुझे इस व्यवहार से अफसोस तो हुआ; लेकिन करता क्या ? ब्रह्मचारी से उसके बाद फिर मुलाकात नहीं हुई। मैं अब उतनी तेजी चाल से चल भी नही सकता था।

दूसरे दिन रास्ते मे कोटा के तीन-चार गृहस्थ मिले। उनकी बडी तथा एक तरफ तिर्छी बँधी छीट की पगडी, एडी तक पहुँचती दोकच्छी धोती और कानो मे मोती की बालियाँ अब भी याद हैं। मडली के मुखिया की बगल मे कानवास की एक छोटी-सी मशक लटक रही थी। उन्होंने अपने साथ भोजन बनाते-खाते चलने के लिए कहा। धर्मशाला-सदावर्त से दूर के उस पथ पर भिक्षा-भीरु व्यक्ति को इससे बढिया क्या बात हो सकती थी। हमारा एक पडाव गोरखियो के झोपडो मे पहाड की रीढ पर पडा। मैंने रसोई बनाई—नमक डाले आटे की रोटी

और उड़द की दाल···। बात छिड़ गई थी जंगल के बघेरो की। हमारे चारों ओर जंगल था, उसमें रीछ और बघेरे रहते थे। गोरखिया (चरवाहा) कह रहा था—बघेरे का बाप कोकी (जंगली कुत्ता) है। वे पचास-पचीस का गिरोह बाँधकर चलते हैं, और एक साथ हमला कर देते हैं। बघेरा भी उनसे नहीं बच सकता, गाय-भैंस की तो बात ही क्या ?

तिरयुगीनारायण से पहिले वृक्षरहित किन्तु घास से ढँके पहाड़ो पर पैर के अँगूठे जितनी मोटी काली-काली जोंकें दीख पड़ीं। जोक से मैं नहीं डरता, कितने लोग तो नन्ही-नन्ही जोंकों से भय खाते हैं, उनका तो दम ही इन डबल जोको को देखकर निकल जावे।

तिरयुगीनारायण केदारनाथ के रास्ते से थोड़ा ऊपर हटकर है, किन्तु हर एक यात्री के लिए वहाँ जाना आवश्यक है, इस प्रकार वह प्रधान रास्ते पर है। यहाँ काली कमलीवाले की सदावर्त थी, किन्तु कोटेवाले सेठ के साथ रहने के कारण इस वक्त मुझे सदावर्त की जरूरत नही थी।

तिरयुगीनारायण से उतराई उतरकर फिर केदारनाथ की प्रधान सड़क पर आये। नदी पार करते वक्त झूले का पुल टूटा मिला। बगल मे अस्थायी रस्सी का झूला बँधा था। यात्री लोग सुनी सुनाई बात कह रहे थे कि एक बार ही बहुत से आदमी चढ़ गये, इसलिए लोहे के तारवाला झूला टूट गया; कितने ही आदमियों की तो लाश तक नही मिली। उस रात हम गौरीकुड में ठहरे। वहाँ के पीले गन्ध की ठडे चश्मे, तथा सॉवले गर्म पानी के चश्में में लोग स्नान कर रहे थे। एक अच्छी धर्मशाला पास में थी, जिसमे कोई नेपाली रानी ठहरी हुई थी। लोग भिक्षा माँगने जा रहे थे। भिखमगो का क्या एक को जहाँ कुछ मिला कि दूसरे पचीस चल पड़े. आखिर दाता की श्रद्धा और थैली का भी कोई परिमाण होता है। देखा देखी में मैं भी किस्मत-आजमाई में शामिल हो गया। 'रानीजी कुछ मिल जावे'—सकोच और शर्म से भरी आवाज में कितनी ही बार कहा होगा। यह भी स्मरण नही कि रानीजी की ओर से क्या-क्या दिलवाया गया था। जीवन में दीनता के साथ भिक्षा माँगने का यही मेरा आदिम और अन्तिम प्रयास रहा।

गौरीकुड से चढ़ाई चढ़ते हुए लामबगड़ पहुँचे। यहाँ से केदारनाथ पाच-छै (?) मील है। केदारनाथ की सर्दी को इतना बढ़ा-चढ़ाकर लौटे यात्री सुनाते थे, कि नये जानेवाले घबरा जाते थे। अधिकाश यात्री दोपहर को भी लामबगड़ पहुँचने पर वहाँ से आगे नहीं जाते। इड़ा कुड़ा वही रखकर साधारण कपड़े के साथ केदारनाथजी के दर्शन करके शाम तक लामबगड़ लौट आने को हर एक यात्री पसन्द करता था। मेरे पास उतना सामान भी न था, जिसमे से कुछ छोड़ जाता, और दूसरे मै यमुनोत्री की मार खाये हुए था, जिसका रास्ता और भी बीहड समझा जाता था।

लामबगड़ मे रास्ता नदी (मन्दाकिनी) की दाहिनी ओर था चढ़ाई ही चढ़ाई का था, किन्तु चढ़ाई उतनी कड़ी न थी। कुछ आगे जाने पर उपत्यका भी और चौड़ी हो गई। बर्फ पिघल चुकी थी वर्षा के शुरू हो जाने से पहाड़ों में चारो ओर हरियाली ही हरियाली दिखलाई पड़ती थी। लामबगड़ से कितना आगे तक वृक्ष मिले, नही कह सकता; किन्तु अन्त मे वृक्षहीन घास से ढँकी भूमि थी। चढ़ाई सीधी न होने पर भी साँस बहुत फूल रही थी. लोग कह रहे थे, यह विषैली जड़ी-बूटियों का प्रभाव है। मेरे भूगोल पाठ ने इसको प्रदेश के उन्नताश से जोड़ा या नही इसका पता नही। केदारनाथ बस्ती के पास पहुँचने पर पुनः से हमें मन्दाकिनी के बाई ओर आना पड़ा।

संयोग से हमारे कोटेवाले सेठ किसी पड़ा के मकान में न ठहर, कालीकमलीवाले की धर्मशाला में ठहरे। बस्ती के दूसरे मकानों से वह अधिक साफ और आरामदेह थी। दोमहला मकान था, और शायद टीन या स्लेट से छाया हुआ था। सीढ़ी से उतरने पर दाहिना भाग—जो बाये से कम था—ऊपर-नीचे दोनो धर्मशाला के कर्मचारियों के लिए सुरक्षित था, और बायाँ यात्रियो के लिए। शायद हम लोग बायेंवाले निचले भाग की किसी कोठरी में ठहरे। अब हम प्रधान यात्रा पथ पर चले आये थे, जहाँ धर्मशालाएँ और सदावर्त सुलभ थे। मै रसोई बनाते हुए सेठों की मंशा से चलना पसन्द न करता था। मुझे साधुओं की मस्तानी यात्रा ज्यादा पसन्द थी; इसलिए यहाँ से रसोईदारी के काम को छोड़ना तै किया। उसी दिन रात को ऊपर बराडे में रामायण की कथा हो रही थी। शायद उसे पहिले दो-तीन साधुओं ने शुरू की। गाना नही अर्थसहित चौपाई का थोड़ा स्वर से पाठ। पाठ शायद

कोई दूसरा करता था, अर्थ मैं कर रहा था। उत्तरकांड का ज्ञानदीपक प्रकरण था। थोड़ी देर के बाद कुछ और महात्मा शामिल हो गये, जिनमें सदावर्त के अध्यक्ष उदासीन बाबा धर्मदास भी थे। थोड़ी देर चुप रहने के बाद अर्थ करने का काम उन्होंने अपने हाथ में ले लिया। अर्थ करते वक्त वह बीच-बीच मे उपनिषद् की श्रुतियाँ बोलने लगे। उन्होने आत्मा के स्वरूप को 'अणुवो रणियान महितो महियान' श्रुतिवाक्य से प्रतिपादन करना शुरू किया, तो मेरे ऊपर उनकी विद्वत्ता की जो धाक पडी, उसे वर्णन नहीं कर सकता। मुझे क्या मालूम था, कि वह इतना अशुद्ध उच्चारण कर रहे हैं, और जिन श्रुतियो को वह मौके-बेमौके फर-फर दुहरा रहे हैं, वही उनकी बिना अर्थ समझे तोते की तरह रट रखी जिन्दगी-भर की पूँजी है।

कथा समाप्त होने पर महात्मा धर्मदास ने मुझसे कुछ प्रश्न किये। साधु बनने के बारे मे पूछने पर मैंने कहा—"साधु तो मुझे जरूर बनना है, किन्तु पहिले संस्कृत और वेदान्त ग्रन्थो को पढ लेने के बाद।" उन्होंने कहा—"तो फिर हृषीकेश या हरिद्वार मे तुम रह क्यों नही गये ?" "पढने का सिलसिला कोई लगता दीख न पडा"—उत्तर देने पर, बोल—"दो-चार दिन रहकर तलाश करने पर लग जाना मुश्किल न था। अच्छा, तो तुम दो-चार दिन यहाँ मेरे पास रहो, कल जाने का इरादा छोड दो; फिर हम इसके बारे मे बातचीत करेंगे।" मेरे पास का कम्बल केदारनाथ की सर्दी के लिए काफी न था, इसलिए उन्होने एक मोटी लोई दी। रात को मै अपने साथियो के यहाँ सो गया।

दूसरे दिन हमारे सेठ तो चले गये, और मैं ऊपर धर्मदासजी के बैठने के स्थान मे गया। एक बराडा था, जिसके पीछे दो कोठरियाँ थी, जिनमे मे एक मे सदावर्त मे दिया जानेवाला सामान—सारे सामान के लिए नीचे गोदाम था—रहता; दूसरी कोठरी मे यात्रियो के रात-भर के लिए उधार दिये जानेवाले लोई-कम्बलो के अतिरिक्त धर्मदासजी का बिस्तरा था। दिन मे वह अधिकतर बाहर बराडे मे अपनी कोठरी के सामने मोटे गद्दवाले आसन पर मोटी पट्टी के कोट-पाजामा तथा कनटोप का ओढे-पहिने लोई से शरीर को ढाँक पडे रहते। जरा भी हवा होने पर सामने के जँगले को बन्द कर देते, जिससे वहाँ अँधेरा छा जाता। सामने अँगीठी मे निर्धूम कोयले की आग भी पडी रहती। धर्मदासजी गाँजा-तम्बाकू नही पीते थे। गुड-घी-आटा-चावल-दाल के साथ चाय भी यद्यपि सदावर्त मे बाँटी जाती थी, किन्तु वे चाय के भी ज्यादा आदी न थे, हाँ कभी-कभी एकाध गिलास पीते जरूर थे। सीढी के पासवाले बराडे के बाकी आधे भाग मे सदावर्त मे दी जानेवाली चीजो का रख बाँटनेवाले नौकर बैठते थे—जिनमे एक का नाम था नत्थूराम और दूसरे का याद नही।

3
हिमालय (2)

अगले दो-तीन दिन के वार्तालाप मे ते हुआ, कि मुझे पढने के लिए फिर बनारस नही लौटना चाहिए। घर का खतरा मेरे दिल मे बना ही हुआ था। धर्मदासजी ने कहा—"यात्रा का समय सितम्बर-अक्तूबर तक समाप्त हो जावेगा, फिर मैं हृषीकेश चलूँगा। उसी वक्त तुम भी चलना। बल्कि तुम्हारा बदरीनाथ दर्शन बाकी रहता है, वहाँ होते आ जाना। हृषीकेश मे मैं तुम्हारे सस्कृत पढने का प्रबन्ध कर दूँगा। फिर पढकर तुम्हारी इच्छा हो तो साधु बन जाना।"

मुझे और क्या चाहिए था ?

केदारनाथ की सर्दी सचमुच सख्त थी, गगोत्री और यमुनोत्री उसके मुकाबिले मे कुछ न थे। पहिले दिन तो बर्फ मे तुरन्त पिघलकर आये मन्दाकिनी के जल मे मैं भी नहा आया था, दूसरे दिन नहाने के लिए जाते देख धर्मदासजी ने आदमी साथ कर दिया, जो मुझे पूरब ओर की पहाडी की जड मे अवस्थित स्वच्छ स्फटिक जैसे पानी के चश्मे पर ले गया। वहाँ पर भी मैं एक ही दो दिन नहाने गया, पीछे देखा बाबा धर्मदास और उनके दोनो कर्मचारी सबेरे गर्म पानी से हाथ-मुँह धोकर मत्र स्नान कर लेते हैं। उन्होने मुझसे कहा भी—"यहाँ

की सर्दी साधारण नहीं है। एक दो दिन की बात हो तो कोई परवाह नहीं, ज्यादा ठंडे जल में नहाने पर बीमार हो जाने का डर रहता है।" उनके ब्राह्मण कर्मचारी ने अपने अध्यक्ष की बात का समर्थन करते हुए कहा—"नीचे देश में गंगाजल से जितनी पापशुद्धि नहीं होती, उतनी यहाँ केदारनाथ की हवा के शरीर में लगने से हो जाती है।"

'बिल्ली के भाग्य से छीका टूट गया'—तीन चार दिन के हिमजल में शरीर भिगाने में कैसा कष्ट हो रहा था, यह मैं ही जानता था। उसके बाद मैंने भी गृहवासियों का अनुकरण शुरू कर दिया। बाबा ने मेरे लिए भी सफेद पट्टी का एक मोटा कोट, ऊनी पाजामा, गर्म कनटोप दे दिया। चलने फिरने के लिए गर्म मोजा और लाल लोधियानवी जूता भी मिला।

बाबा धर्मदास पंजाबी थे, लेकिन भारत के बहुत भाग में घूम चुके थे। आयु उनकी 54-55 की रही होगी। बोलने चालने में वे बहुत चतुर थे। उस दिन कथा बाँचने में चाहे श्रुतियों के उच्चारण करते वक्त भले ही सरस्वती उनकी जिह्वा पर बैठ गई हो, किन्तु बाद में वह पण्डिताई नहीं दिखलाना चाहते थे। साफ स्वीकार करते थे कि मैंने संस्कृत नहीं पढ़ी है। विचारसागर, रामायण, योगवाशिष्ठ जैसे कुछ भाषा के ग्रंथ भर पढ़े हैं। इस साफगोई का मुझ पर बहुत असर पड़ा।

हरद्वार के बाद से या शायद पहिले ही से मेरी त्रिकाल सन्ध्या मद्धिम पड़ी थी। यह क्या?—यात्राकर्षण ने वैराग्य पर अपना असर डाला होगा, या साधुओं की रहन सहन से अनिवार्यता ढीली पड़ी थी, अथवा लगातार चलते रहने से फुरसत कम मिलती थी। केदारनाथ में अब कुछ महीनों के लिए स्थिर रहना था, इसलिए यहाँ फिर जीवनचर्या में कुछ परिवर्तन करना था। रामायण, विचारसागर, गुरुमुखी पंचग्रंथी के सिवाय बाबा के पास एक भाषा टीका शिवपुराण था। गुरुमुखी एक नई लिपि थी, किन्तु दो तीन दिन में ही पंचग्रंथी के ... आसा महिम्नप्रसाद ... को मैं पढ़ने लगा। विचारसागर और रामायण कई बार पढ़ चुके थे, इसलिए उन पर ज्यादा समय नहीं दे सकता था। हाँ, दोपहर के खाने के बाद दो तीन घंटा शिवपुराण का पाठ चलता था। संस्कृत के श्लोक पढ़े जाते, फिर उसकी हिन्दी टीका का। जहाँ तहाँ ही संस्कृत का कोई शब्द समझ में आता था, किन्तु हिन्दी भाषान्तर से काम चल जाता था। कथा के वक्त बाबाजी के अतिरिक्त दो एक ग्रामवासी पण्डा और कर्मचारियों में से भी कोई रहता था। मगर यहाँ कथा सुनने से मुझे विशेष प्रसन्नता नहीं होती, मैं उसका रसास्वादन ले रहा था। अनजान बेल के वृक्ष से गिराये पत्तों के विस्मृत ... शिवलिंग पर पड़ जाने ... और पापों को लेकर के दूत स्वर्ग ले जाने के लिए आये—इस कथा ने मेरे दिल में शंकर के प्रति श्रद्धातिरेक पैदा किया हो, ऐसी बात नहीं थी। मुझे तो उसके पढ़ने में उसी तरह की दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जैसी 'हातिमताई' और 'आराइश महफिल' को कई वर्ष पहिले बचपन में पढ़ते वक्त।

पुस्तक पाठ और बाबा से ज्ञान-वैराग्य-वेदान्त पर बातें सुनने के अतिरिक्त मेरा काम था आसपास के पहाड़ों पर घूमने जाना। गोरी निचली उपत्यका और पुराने ... दूर तक चली गई अधित्यका में हरी घास और रंग बिरंगे फूलों से लदी जड़ी बूटियों का कालीन बिछा हुआ था। अक्सर नाथूराम के साथ में घूमने जाना था। उपरली अधित्यका पर कितनी ही बार नीचे की ओर वहाँ तक गया, जहाँ और छोटे वृक्ष शुरू हो जाते हैं। ऊपर की ओर सत्पथ शुरू होनेवाली चट्टानों से बहुत आगे तक कई बार गया। पहिली बार हम दोनों उधर जा रहे थे, तो भेड़ों के झुंड में एक अधेड़ आदमी ने आवाज दी। नाथूराम रुक गये। उधर वाले—"उधर से आगे जाना मना है। पाण्डव लोग इसी रास्ते हिमालय गलने गये थे। कितने लोग उधर से जाया करते थे—रास्ते में गल गये, तो मरने के बाद, नहीं तो सशरीर ही स्वर्ग पहुँच जाते। हाँ, स्वर्ग उधर ही है। प्रधान पूछ रहा था, आप सत्पथ तो नहीं जाना चाहते। सरकार की ओर से मनाही है।"

'सत्पथ' का शौकीन तो मैं नहीं था। 'स्वर्ग इधर ही है', के खिलाफ मेरे भूगोल ज्ञान ने कितना विद्रोह किया था, यह मुझे याद नहीं। हमने एक बड़ी चट्टान पर त्रिशूल तथा दूसरे चिह्न बने देखे। नाथूराम कह रहे थे, कि पुराने सत्पथ-यात्री यह अपना चिह्न छोड़ गये हैं। लौटते वक्त हम सुन्दर सुन्दर फूलों और पत्तियों का गुच्छा बनाकर लाते थे।

पहिले रोज, और पीछे सोमवार के सोमवार मैं केदारनाथ के दर्शन को जाता था। मन्दिर पत्थर का तथा अब तक के हिमालय में दिखाई पड़े मन्दिरो से बड़ा था। कलश और शिखर की धातु याद नही, किन्तु मन्दिर शिखरवाला था। शायद मन्दिर के बाहर सभा-मडप न था। भीतर लिंग के स्थान पर अनगढ पत्थर का महिषपृष्ठाकार लिग था। कथा मे सुना भी था, कि शंकरजी को भैसा का रूप धर के इसी उपत्यका में चरने की बात सुन पांडव पकड़ने आये। भीम दोनो पहाड़ों पर पैर रखकर खड़े हो गये, जिसमें कि पैरों के नीचे से जो भैसा न जावे, उसे शंकरजी समझकर पकड़ लिया जावे। शकर सचमुच ही हिचकिचा रहे थे। पाडव लपके पकड़ने को, किन्तु उसी जगह शंकर अन्तर्धान होने लगे, पीठ-भर धरती मे डूबने को रही, वही यह केदारनाथ महादेव है, जो द्वादश ज्योतिर्लिंगो मे एक हैं। शंकर का चढ़ा प्रसाद–शिवनैर्माल्य–खाना वर्जित है, यह मै लडकपन से सुनता आया था; किन्तु यहाँ अक्सर शिवजी के प्रसाद को रावल (केदारनाथ के दक्षिणी प्रधान पुजारी) के यहाँ से आते देख मैंने बाबा से पूछा, तो उन्होंने कहा–ज्योतिर्लिग और नर्मदेश्वर (नमदा नदी से निकले) के प्रसाद के ग्रहण करने मे कोई हर्ज नहीं है। मन्दिर के रावलजी की भाँति कालीकमलीवाले बाबा की सदावर्त के अध्यक्ष बाबा धर्मदास भी केदारनाथ के प्रमुख व्यक्तियों मे थे। रावल भी अक्सर उनके यहाँ आया करते थे। सावन के महीने मे केदारनाथ की पुजा खास तौर से की जाती थी। उस वक्त एक तरह का कमल ('हिमकमल') बहुत चढ़ाया जाता। हमारे बाबा भी आदमी भेजकर हर सोमवार को टोकरे-भर कमल मँगवाते, और बड़ी भक्तिभाव से चढ़ाते थे। "परसे तुहिन तामरस जैसे"--यह चौपाई मुझे याद थी, और यहाँ हिमालय मे कमल होने पर मुझे बड़ी आपत्ति थी; किन्तु लोग उसे कमल ही कहने का आग्रह करते थे, और बतलाते थे, कि बर्फ के गल जाने पर पच्छिमवाले पहाड के पीछे एक विशाल झील मे वह पैदा होते हैं। पच्छिमवाली झील को देखने तो मैं नही जा सका, किन्तु उत्तर तरफ एक दिन नाथूराम के साथ बहुत दूर तक गया था। वहाँ, हवा के पतली होने के कारण साँस लेने मे तकलीफ होती थी। हम उस बर्फ को भी पार कर गये, जिसके नीचे से मन्दाकिनी की धार आ रही थी। आगे एक ईषद्-हरित साफ पानी की छोटी सी झील मिली। मैं थक गया था, इसलिए एक चट्टान के ऊपर लेट गया, और नीद भी आ गई, किन्तु नाथूराम आगे घूमने गये। उनके लौट आने पर हम लोग साथ ही बस्ती मे लौटे।

केदारनाथ मे जानवरो मे गाय-बैल के अतिरिक्त टट्टू और कुत्ते भी काफी थे, टट्टू सामान लाने के लिए थे। डडी, झप्पान या खटोले पर तो किसी किसी को चढ़े मैंने जरूर देखा था, किन्तु घोड़े पर चढ़े किसी यात्री को देखा हो इसका खयाल नही आता। कुत्तों की गर्दनो मे चार-छै अगुल चौड़े लोहे या पीतल के पट्टे थे। लोग बतला रहे थे, इसके रहने से कुत्ता बघेरे के काबू मे नही आता।

केदारनाथ मे रहते मुझे दो या तीन हफ्ते हो गये थे, इसी समय मैंने अँधेरी जगह मे अपने आसन पर बैठे देखा, एक साधु के साथ एक लडका–हाँ, दूसरा नही मेरा बालसाथी यागेश–सदावर्त लेने आया। उसके पास दो से अधिक पुर्जियाँ थी। सदावर्त देनेवाला कर्मचारी बिना आदमी देखे सदावर्त का सामान देने के लिए तैयार नही हुआ। साधु ने यागेश को साथियों के पास उन्हे लिवा लाने के लिए भेजा। यागेश के सीढ़ी से उतर जाने के बाद मैं भी चुपके से उतरकर पीछे हो लिया। यागेश के पास एक धोती, एक सूती कुर्ता या कोट था, सिर और पैर नगे थे; और मैं सिर से पैर तक गर्म कपडो से लदा था। दो-तीन सप्ताह के निश्चिन्त रहने तथा खाने पीने के आराम के साथ शरीर में वैसे ही नया खुन आ गया था, ऊपर से सम्भ्रान्त पोशाक और लोधियानवी लाल जूता और भी बतलाती थी, कि कोई अमीर का लडका है। यागेश जब अपने साथियों के रहने की जगह पर पहुँच गये, तब मैंने कहा–'यागेश !'

यागेश ने पीछे मुडकर मुझे देखा। दोनो तरफ के आनन्द का ठिकाना न रहा। हममे से किसी की आँखो मे आनन्दाश्रु आये–नही कह सकता। और बात करने को तो अब सारा समय अपना था, इसलिए उस प्रसग को बिना छेडे मैंने उन्हें साथ चलने के लिए कहा। यागेश ने सदावर्त से लाये सन्देश को अपने साथियों से कहा या नहीं, किन्तु जब उन्होंने उनसे कहा–'मेरे भाई मिल गये, इन्ही की खोज मे मैं घर से निकला था, वह बाहर खड़े हैं।' मुखिया साधु ने झाँककर मुझे देखा, तो घबड़ाए हुए जाकर यागेश के गले से कठी उतारने लगा, उतारने मे देर देखकर उसे तोड लिया। जिक्र करने पर यागेश से जब मैंने कारण पूछा, तो बतलाया–वह घबरा गया,

कि कहीं इनका भाई जबर्दस्ती चेला बनाने की बात पुलीस से कहकर फँसा न दे। हम लोग उसके भोलेपन पर हँसते धर्मशाला की ओर चले। मैंने कर्मचारी को कह दिया—'हाँ, उन्हे पुर्जी के मुताबिक सदावर्त दे दो, मेरा यह भाई इन्हीं के साथ आया है।' मै भी तो उनका उपाध्यक्ष-सा था, फिर वह मेरी बात क्यो न मानते।

कुछ खिलाने-पिलाने के बाद यागेश ने सारा किस्सा सुनाया। कैसे मेरी उल्टी चिट्ठी को उन्होंने पढ़ा, और कैसे अचानक आकर फूफा साहेब ने वह चिट्ठी उनसे छीन ली। कैसे बंसरोमामानी की हालत मे वह आँख बचाकर घर से निकले, कैसे कही थोड़ी दूर रेल पर और कही थोड़ी दूर पैदल चलते हरिद्वार पहुँचे। कैसे विष्णुदत्त पंडित (?) ने मेरे बदरीनाथ से लौटकर वहाँ आने की बात कह उन्हे भी रखना चाहा, और मेरी तरह वह भी पंडितजी की बनावटी बातों से असन्तुष्ट हो चलने पर मजबूर हुए। रास्ते म उन्हे गाजीपुर जिले की यह गृहस्थ-साधु-मडली मिल गई, और उसके साथ वह यहाँ तक पहुँचे। मै ही समझता था, यागेश को कितना कष्ट हुआ होगा, खासकर मेरे जैसा उनके पास वेदान्त और वैराग्य का बल न था, वह मेरे प्रेम और कुछ देशाटन के लोभ मे खिचकर ही इतने कष्ट को सहने के लिए तैयार हुए थे। मैने भी अपना यात्रा विवरण कह सुनाया। बाबा धर्मदास से मैंने सारी कथा कही। उन्होंने कहा—'अच्छा है, दोनों भाई चलो हृषीकेश, वहीं संस्कृत पढना, और साधु बन जाना।' साधु बनने के बारे में मैं तो कुछ 'ननु' 'न च' भी करता था, किन्तु यागेश अपने को एकदम तैयार जाहिर करते थे। हाँ, वह मेरे सामने जरूर कहते थे—'माँ याद आती है, भैया ! चलो घर चलें चलें।' किन्तु, मुझ पर तो दूसरी ही सनक सवार थी। मैं कोमल किन्तु स्थिर शब्दों मे यागेश को उस बात से रोकता था।

केदारनाथ में भुना चना रुपये का दो सेर, अर्थात् करीब करीब घी के बराबर विकता था। इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात मुझे यह मालूम हुई, कि आटा और पूड़ी दोनों एक भाव—शायद छै आने सेर—विकते थे। कारण पूछने पर बतलाया गया—सभी हलवाई चढा ऊपरी कर रहे है, और इसमें घाटा भी नही है, क्योंकि पूडी आटे से ड्योढी हो जाती है, और उसी वृद्धि मे घी का दाम नथा थोड़ा नफा भी निकल आता है। पूड़ी खाकर पेट की खराबी को मैंने देख लिया था। केदारनाथ म पहाडी लोग भी उससे डरते थे। सबेरे के वक्त हम हलवा बनाते थे, घी गुड-आटे की वहाँ कमी न थी। हलवा बनाने की कला मुझे बाबा धर्मदास ने बताई थी। यागेश के आ जाने पर तो हम दोनो बना लिया करते थे। बाकी वक्त का खाना दोनो कर्मचारियो मे से कोई बनाता था। दोपहर को क्या खाते थे, यह तो याद नही, किन्तु रात को खाना खाते हम तीनो जाते थे। केदारनाथ म अरहर या उड़द की दाल नही मिलती थी, न भात ही सीझता था, हमारी दाल मसूर की होती। तरकारी के लिए आलू की फसल तैयार होने में देर थी, उसकी जगह प्याज की तरकारी बनती थी। कभी-कभी जगल का कोई साग भी बन जाता। रोटी मे घी चुपडकर खाने से डरते थे, उसकी जगह आटा गूँधते वक्त कुछ घी मिला दिया जाता। दाल को घी से छौकने मे कोई आपत्ति न थी। सामग्री के परिमित होने पर भी भोजन सुस्वादु होता था।

यागेश के आने के बाद हम एक मास या अधिक केदारनाथ म रहे। दिनचर्या में शायद कोई परिवर्तन नही हुआ। जाड़ो मे बदरीनाथ की सारी बस्ती उजडकर नीचे चली आती है, यात्रियो का आना रुक जाता है, वहाँ की भूमि सारे मन्दिर-मकान बर्फ मे ढँक जाते है, और जानकारों के कहे अनुसार—छै महीने का भोग-आरती देवता लोग किया करते हैं, पंडा लोग उसके लिए सामान मन्दिर मे बन्द कर जाते है, पट खुलने पर देखा जाता है, सारी सामग्री खतम हो गई है, मन्दिर मे धूप की ताजी सुगन्ध आ रही है। अब पट बन्द होने मे तीन-चार सप्ताह बाकी थे—इतना ही समय जिसमें कि इधर हम बदरीनाथ होकर हृषीकेश लौटते, और उधर बाबा धर्मदास भी सदावर्त-धर्मशाला बन्द कर वहाँ पहुँचते।

पूर्व-निश्चय के अनुसार एक दिन पहिनने-ओढने के कपड़े तथा रास्ते के खर्च के लिए पैसे देकर बाबा ने हमे बदरीनाथ की ओर रवाना किया। चलते वक्त मुझे जरा भी विश्वास न था, कि बाबा धर्मदास से यह आखिरी मुलाकात है। पिछले डेढ़-दो महीने मुझे बहुत कम ही चलना-फिरना पड़ा था, किन्तु रास्ता अभी बहुत दूर तक नीचे की ओर का था। गुप्तकाशी के पास तक हम श्रीनगर-केदारनाथ के रास्ते से आये। गुप्तकाशी के छोटे गाँव तथा साधारण मन्दिर को देखकर तो मुझे काशी नाम के साथ परिहास-सा मालूम हुआ। उतराई उतर, नदी पार हो आगे बढ़े। ऊषीमठ को देखकर, पहिले के पढे हुए सुखसागर के बाणासुर और उषा की कथा याद आ गई।

वहाँ से और आगे के एक पडाव की अब भी स्मृति है, वहाँ भैंसा गायों का गोष्ठ था। मच्छर बहुत लगते थे, और बनारस की ओर 'ही' कहकर जैसे भैंस को पुकारते हैं, वहाँ उसकी जगह 'ड़ी' या कोई दूसरा शब्द इस्तेमाल करते थे। तुंगनाथ जाने की लालसा तो थी, लेकिन जब उसके लिए दुरूह पर्वत पथ से आधे आसमान पर चढ़ने की बात सुनी, तो वह ढीली हो गई। चमोली के पास गंगा का लोहे का झूला उसी साल टूट गया था, और लोग बगल में बने रस्से के झूले के बारे में तो उतना नहीं किन्तु इस विशाल रस्सी के झूले को देखकर मैं पहाड़ियों की चतुराई को बहुत सराहता था।

यहाँ से आगे हम हरिद्वार से सीधे बदरीनाथ जानेवाले रास्ते पर थे। यहाँ सड़क काफी चौड़ी थी। बरसात में कहीं कहीं के पुल टूट गये थे, किन्तु मालूम होता था, सरकार की ओर से सड़क की मरम्मत पर काफी ध्यान दिया जाता है। चट्टियाँ और गाँव भी ज्यादा थे। कहीं कहीं पके आड़ू खाने को मिले। थके माँदे जिस किसी चट्टी पर पहुँचते, तो योगेश झट कह उठते—'भैया! खिचड़ी बना लें।' मेरे बदन में आग लग जाती। बालपन के शत्रुभोजनों में खिचड़ी का स्थान अभी ज्यों का त्यों था, यद्यपि बछवल में मैं खिचड़ी खा लेता था, क्योंकि वहाँ बघारे हुए मिर्च और आम की फाँकी के साथ उसे हमजोलियों के साथ बैठकर खाना होता था। मैं योगेश को डाँट देता, यद्यपि मेरी समझ में पीछे आता था, कि योगेश मुझे चिढ़ाने के लिए वैसा नहीं कहते हैं। खिचड़ी बनाने में कम मेहनत और जल्दी होती है, इसी ख्याल से उनका वह प्रस्ताव होता—भात ही खिचड़ी उन्हें पसन्द भी थी, इसमें सन्देह नहीं। मालूम नहीं बदरीनाथ के रास्ते में ऊपर जाते वक्त कभी हमारी [illegible] हुई था। जोशीमठ (ज्योतिर्मठ) की कोई खास बात याद नहीं है, उसका यह महत्त्व भी दिल पर [illegible] न था कि यह वेदान्त के आचार्य शंकराचार्य के चार प्रधान मठों में से एक यही है।

जोशीमठ से आगे उतराई उतरकर कोई नदी पार करनी पड़ी, फिर अलकनन्दा के किनारे किनारे बदरीनाथ तक गए। बदरीनाथ से कुछ मील पहिले ही पर्वत वृक्षों से शून्य हो गए थे [illegible]। पहाड़ों की चोटियों पर बर्फ दिखलाई पड़ती थी, नहीं तो और कहीं उसका नाम न था।

बदरीनाथ की कालीकमलीवाली धर्मशाला केदारनाथ की अपेक्षा बड़ी थी। यहाँ [illegible] साधु थे। उनका महन्त जैसा लम्बा कद, गोरा रंग, मोटा बदन था। सिर दाढ़ी मूँछ [illegible] था। उमर 35-40 साल की होगी। धर्मदासजी से वह ज्यादा पढ़े लिखे थे, किन्तु [illegible] मुझे भी नहीं मिला। केदारनाथ से हम उनके लिए चिट्ठी लाये थे और उन्होंने ठहरने और भोजन आदि का [illegible] कर दिया। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि हम हृषीकेश लौटकर बाबा धर्मदास के साथ रहनेवाले हैं, तो [illegible] यह बात पसन्द न आई। उन्होंने हमें मना करना शुरू किया—"पढ़नेवाले नौजवानों को साधुओं के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। बाबा धर्मदास खुद पढ़े लिखे नहीं हैं, वह विद्या की क्या कद्र करेंगे। चेला बना लेंगे और कहेंगे 'मूँड दिया माँग खाओ।' उनका उपदेश चलता ही रहा, उसमें कितना भाग हमारे प्रति सद्भावना से प्रेरित था और कितना ईर्ष्या से यह मैं नहीं कह सकता। मैं बराबर उनकी सम्मति को अपने भीतर जाने से रोकता था किन्तु योगेश तो मानो उससे भी पहिले से इस बात के लिए तैयार बैठे थे। उन्होंने भी जोर देना शुरू किया—"नहीं भैया! चलो बनारस ही, साधुओं का ठिकाना नहीं। असहमत होने पर न जाने क्या कर बैठें। हृषीकेश हमने देखा नहीं है क्या? वहाँ कहाँ पंडित हैं?"

बदरीनाथ की बस्ती बड़ी थी। मकान संख्या में अधिक तथा अच्छी तरह के बने थे। छतों पर खपड़ों की जगह लकड़ी के पटरे थे, जिनके नीचे भोजपत्र की छाल बिछी थी। तप्तकुंड के होने से यहाँ नहाने की बड़ी मौज थी। बदरीनाथ के मन्दिर और मूर्ति का मुझे कोई स्मरण नहीं। वहाँ दाढ़ी मूँछ रहित लाल मुँहवाले कितने ही मजदूर और उनकी स्त्रियाँ दीख पड़ीं। लोग उन्हें मारछा कह रहे थे। गंगोत्री के पास मिले लामाओं से उनकी सूरत कुछ मिलती थी, यद्यपि वे उतने कद्दावर न थे, तो भी उस वक्त इन नरनारियों को देखकर मुझे कोई खास जिज्ञासा नहीं पैदा हुई। सुना इनकी बस्तियाँ और ऊपर तक हैं। कुछ मील पर वसुधारा तीर्थ था। एक बार जाने की इच्छा हुई, किन्तु न जाने क्यों नहीं जा सके। बदरीनाथ में बस्ती से बाहर ज्यादा नहीं घूमे फिरे। धर्मशाला के रसोईघर में एक बड़ा तवा था, जिस पर एक साथ दस-बारह फुलके डाले जा सकते थे। इस तवे के देखने से

यह पहिला अवसर था, इसलिए कुछ कौतूहल हुआ। यहाँ शीरा पूड़ी की जगह शीरा रोटी का भोज होता था, मालूम होता है यहाँ वाले भी पूड़ी से वैसे ही डरते थे जैसे केदारनाथ वाले। बदरीनाथ में तीन चार दिन से अधिक हम नहीं ठहरे। अध्यक्ष महाशय के उपदेशों के कारण मेरा मन वहाँ नहीं लगता था।

केदारनाथ छोड़ते वक्त तक तै नहीं हो पाया था, कि हमें बाबा धर्मदास के पास नहीं रहना है। यह बात पहिले तै हुई होती, तो उनसे हम कहकर आये होते, किन्तु अब तो उनसे मुलाकात हृषीकेश ही में हो सकती थी। योगेश मुझे वहाँ तक जाने देने के लिए तैयार न थे। उन्हें डर था और इसमें सच्चाई भी थी कि एक बार हृषीकेश पहुँच जाने पर मैं वहाँ से न हटूँगा—बनारस जाने में मेरी ज्यादा आसक्ति थी। यद्यपि हमें उस वक्त मालूम न था और बदरीनाथवाले महात्मा साफ इन्कारी थे, तो भी हृषीकेश के साधुओं में संस्कृतज्ञ कुछ अवश्य थे। बदरीनाथ में ही हृषीकेश न जाने की बात न तै हो पाई, किन्तु इसके अन्तिम निर्णय के लिए अभी काफी समय था। हृषीकेश और रामनगर का रास्ता अभी कई दिनों तक सम्मिलित था।

चमोली के पास तक हम अपने उसी रास्ते से लौटे। अलकनन्दा के रस्सेवाले पुल पर चलते वक्त कुछ संकोच होता था, खासकर नीचे धार की ओर नजर करने पर, किन्तु वह संकोच उतना भय संचार करनेवाला न था, जितना कि गंगोत्री से लौटते वक्त भटवाड़ी में भागीरथी के ऊपर के पुल से सकरी फाट नीचे सफेद फेनिल धार तथा हिलते हुए लोहे के पुल को देखकर होता था। शायद अब नन्दप्रयाग से केदारवाला रास्ता छूटा, अब तक मैं भी बनारस लौटने के लिए तैयार हो गया था। हम जितना ही नीचे उतरते जाते थे, उतनी ही गर्मी बढ़ती जाती थी और पहाड़ों पर गाँव भी [illegible] पड़ते थे। चलने की गति हमारी तेज होती गई और [illegible] दिन में रामनगर पहुँचे—हम [illegible] मील [illegible]।

4

काशी को

रामनगर में अब हम मैदान में थे। बरसात कभी कभी [illegible] रास्ते पर [illegible] थी। पहाड़ से उतर आने पर भी अभी हम [illegible] के कारण [illegible] पानी [illegible] थी। हम सड़क पकड़े पैदल ही [illegible] की तरफ चले। [illegible] बहुत मालूम होती और प्यास के मारे तो मुँह [illegible] सूखा रहता। गाँव में [illegible] किसी समृद्ध आदमी ने मुसाफिरों के लिए एक धर्मशाला बनवा रखी थी। [illegible] में [illegible] पर हम [illegible]। [illegible] स्थान पर वह [illegible] हम अच्छे लगते थे। धर्मशाला में ठहरे यात्रियों [illegible] पानी [illegible] हम भी [illegible] गृहस्थ के घर वह गुड़ का घड़ा तैयार था। [illegible] घर भर के [illegible] पानी में [illegible] होनेवाला थोड़े ही था।

रास्ते में ठहरते या कैसे एक दिन शाम को हम काशी पहुँचे। [illegible] दिन [illegible] था। एक भगत बड़ी श्रद्धा दिखलाते हुए [illegible]। भूख [illegible] लगी [illegible] किन्तु [illegible] हो जाने पर पेट भर प्रसाद मिलेहीगा इस आशा पर हम [illegible] रहे। [illegible]। एक तरुण साधु पिटारी में कई साँप लिए हुआ आया उसने उनमें से किसी को सिर पर किसी को [illegible] में किसी को हाथ में लपेटकर शंकर बन के दिखलाया। मनोरंजन [illegible] हवाले [illegible] हो गया, किन्तु वहाँ एक [illegible] चरणामृत [illegible] भर पंजीरी [illegible] और कुछ न था। भूख के मारे नींद नहीं आई। सबेरे बासी सूखी रोटियाँ सो भी [illegible] मिली। कहीं [illegible] इसलिए हमने जितना जल्दी हो सका कस्बे से बाहर हो ठाकुरद्वारे का रास्ता लिया। हम दोनों [illegible] अनिश्चित [illegible]

कोई तीसरा भी सहयात्री था। किसी कूएँ पर जंजीर या रस्सी के साथ बँधी हुई डोल को देखकर मुझे यह प्रथा बड़ी अच्छी मालूम हुई, यद्यपि वह स्वयपयाव मुसलमानो ही के लिए था।

ठाकुरद्वार मे कुछ बड़े धनी वैश्य परिवार रहते हैं। उनके बडे-बड़े पक्के घरों को सिर्फ बाहर से देखते हम लोग सीधे मन्दिर मे गये। वहाँ ही आगन्तुको के उतरने का इन्तिजाम था। रात को तो मै सो गया, लेकिन यागेश जगे थे, और एक नौजवान साधु के नाचने-गाने की बड़ी तारीफ कर रहे थे, शायद ठाकुरद्वार मे जन्माष्टमी आज थी–सभी पर्व हिन्दुओं के दो दिन पड़ा भी तो करते हैं ?

ठाकुरद्वार से हम मुरादाबाद आये और शायद पैदल ही। वहाँ रामगंगा के किनारे एक वैरागी साधु के मठ में ठहरे। पाठकजी से भेंट हुई। मैंने बतलाया कि किस तरह हरिद्वार से हताश होकर हम बनारस लौटे जा रहे हैं, साथ ही बाबा धर्मदास का भी जिक्र आया। पाठकजी ने बातों-बात यह जिक्र दसकमडलु जमा करके साथ चलनेवाले नौ दूसरे साथियो के इन्तिजार मे वैराग्य सेवन करनेवाले साहुजी से कह दिया। उनके भाई और माँ के षड्यन्त्र में पड़कर बिना सूचना के मेरा भाग जाना उनको बुरा लगा था, अब उन्होंने समझा, बाबा धर्मदास को बिना कहे चला आना मेरा अक्षन्तव्य अपराध था। मेरी अनुपस्थिति में उन्होने मठ के बूढ़े महन्त से आकर कहा, कि इन दोनो लडको को अपने मठ मे न रहने दें। खैर ! हम लोग वहां बसने के लिए नहीं गये थे, इसलिए हम हर वक्त चलने को तैयार थे। महन्त कह रहे थे–शहर के बड़े आदमी हैं, उन्हें नाराज करना अच्छा नही है।

फिर वही सीधी सडक पकड़ी, जिससे 4 महीने पहिले मै गुजरा था। नहीं मालूम होता था, सिर्फ चार महीने तब से गुजरे हैं, आखिर घटनाएँ काल की माप हैं, और उनकी संख्या बहुत अधिक जरूर थी। रामपुर में गोरखा पल्टन मे ठहरे। सिपाहियो ने खाने पीने का इन्तिजाम किया। बरेली मे स्टेशन के पास की पक्की धर्मशाला मे ठहरे। उसी धर्मशाला के एक भाग मे रेलवे के दारोगा (सब इन्स्पेक्टर) का परिवार रहता था। दारोगा साहब के भाई वहाँ अक्सर रहते थे। पास मे आसन गिराने से परिचय ज्यादा बढ़ा। वह उन्नाव जिले के पुरवा तहसील और शायद पुरवा कस्बे के ही रहनेवाले राजपूत थे। उनके घर के लोग पल्टन में भी नौकर थे। गोरे हमारे दारोगा भी काली तथा फाड़कर दोनों तरफ सँवारी अपनी दाढ़ी और खड़ी मूंछों से पल्टनिहा सिपाही ही ज्यादा मालूम होते थे। याद नही, हम लोगो का भोजन धर्मशाला की ओर से आता था, या दारोगाजी के यहां से।

दो एक दिन बाद वहाँ एक नेपाली साधुओं का काफिला आया। वे लोग हिंगलाज की भवानी (कराची से आगे बलूचिस्तान के रेगिस्तान में) का दर्शन करके लौटे थे। काफिले का प्रधान पुरुष स्वामी पूर्णानन्द से हिंगलाज की भवानी के तेज और उससे भी अधिक ऊँट के ऊपर पथचिह्न शून्य मरुभूमि पर अटकल से पथ प्रदर्शक के इशारे पर दिनों चलते जाने का वर्णन सुनकर एक बार जीभ मे पानी भर आया। काफिले के मुख्य सरदार स्वामी पूर्णानन्द नही उनकी 'गुरुभाई' एक पचास वर्ष की अवधूतानी थी। स्वामी पूर्णानन्द मुँह और शिर पर केश नहीं रखते थे, लेकिन अवधूतानी की जटाएँ छै-छै फीट की थी। उनके गले में बड़े-बड़े रुद्राक्ष और हिंगलाज के पतले पतले सफेद पत्थरों या सीपों की कई मालाएँ थी। शरीर पर उनके भी पूर्णानन्द की तरह की स्वच्छ गेरुआ की वस्त्रसामग्री थी। पूर्णानन्द नेपाल की बहुत सी बात सुनाते थे, राजनीतिक नही, प्राकृतिक और धार्मिक। नेपाल देखने की सूक्ष्म लालसा उसी वक्त मेरे मन मे प्रविष्ट कर गई, जिसे पूर्ण होने के लिए तेरह बरसों का इन्तिजार करना पड़ा। मै बनारस की ओर ही जा रहा था, इसलिए उनसे भी पता पूछा। उन्होंने अपना स्थान मणिकर्णिका पर 'दत्तात्रेय की पादुका' बतलाया।

जिस धर्मशाला में हम ठहरे थे, उसकी बगल मे एक और धर्मशाला किसी पेंशनर जिलाजज (नाम शायद शिवनाथ) की बनवाई हुई थी। उसमें एक विद्वान सन्यासी की खबर सुनकर मै एक दिन उनका दर्शन करने गया। वह गेरुआ कपड़ा पहिने एक आसन पर बगल में डंडा लिये बैठे थे। बीच-बीच में वह अपने डंडे को धरती में पटकते थे। लोग बतला रहे थे–चित्त को एकाग्र करते हैं, जब चित्त इधर-उधर जाने लगता है, तो डंडा पटकते हैं। वह शायद बातचीत नही करते थे, या मुझसे उन्होंने बात नही की। उनके पास कुछ छपी पुस्तिकाएँ रखी थीं, जिनमें से उठाकर एक उन्होंने मुझे दे दी। वह बहुत सरल संस्कृत में थी, जिसे मैं भी समझ लेता था।

उसमें अहिंसा का माहात्म्य दर्शाया गया था। साधु नाम खुन्नीलाल शास्त्री मुझे उस वक्त अर्थहीन-सा मालूम हुआ किन्तु पीछे मालूम हुआ कि हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों में बौद्धधारा को पुनः प्रवाहित करनेवालों में उनका खास स्थान था।

मै रोज वहाँ से चलने को कहता, किन्तु दारोगाजी के भाई का आग्रह देखकर रुकना पड़ता। उनके आग्रह को योगेश का समर्थन प्राप्त हो जाता, इसलिए पलड़ा उधर भारी रहता। इसी तरह करते एक सप्ताह से अधिक हो गया। आखिर एक दिन मैने उनकी एक न मानी, योगेश को भी डाँट दिया, और हम रेल से पीलीभीत के लिए रवाना हुए। उस वक्त तक मुझे मालूम नही था, कि योगेश से मिलकर वहाँ एक षड्यन्त्र रचा जा रहा है। पहिले कह चुका हूँ, कि योगेश पर वैराग्य का भूत सवार न था, वह इस कष्टमय यात्रा में मेरे स्नेह तथा कुछ देशाटन के लोभ से शामिल हुए थे। इतने दिनों घर से बाहर रहते उनको अपने घर का और खासकर माँ का मोह लगने लगा था। उन्होंने चुपके से हमारी सारी बातें दारोगाजी के भाई को बतला दी थी। उन्होंने, शायद पुलीस की मार्फत, बछवल सूचना दे दी थी। वह बछवल में किसी के तुरन्त आ पहुँचने के इन्तिजार में हमें रोके हुए थे। इस यात्रा में तीन ऐसे अनचाहे प्रयत्न मुझे लौटा लाने के लिए हुए। पहिले, भितिहरा होकर जाने की खबर सुनकर पिता जी अयोध्या पहुँचे, और उनको एक मानी ने यह कह ठगकर अपना गृहस्थ शिष्य बना लिया—'हाँ, आपका लड़का यहाँ आया था। मुझसे गुरुमन्त्र लिया। बदरीनारायण गया है, वह जरूर लौटकर आयेगा।' हरद्वार से आई मेरी चिट्ठी को देखकर फूफाजी को सम्मति से नाना चल पड़े, वह भी बदरीनाथ होकर लौट आये और मेरा पता न पा सके। अब यह तीसरा बार था। वस्तुतः यदि मैं एक दिन और रह गया होता, तो योगेश के पिता श्री महदेव पाँड़े ने बरेली ही में पकड़ लिया होता। पीलीभीत में भी जिस मठ में हम कुछ घंटों के लिए ठहरे थे, वहाँ भी हमारे हटने के एकाध ही घंटे बाद वह पहुँचे थे, और अन्त में उन्हें भी खाली हाथ बछवल लौट जाना पड़ा।

पीलीभीत में जब हम शहर से गुजर रहे थे, तो एक भद्र पुरुष ने बुलाया। बदरीनारायण से लौटे आ रहे हैं—सुनकर पूड़ी-मिठाई मँगवाकर भोजन करवाया। हम लोगों ने शहर के बाहर एक मठ में कुछ देर जाकर विश्राम किया। अधिक समय उसी देखे हुए रास्ते में गुजारने की अपेक्षा जल्दी से जल्दी बनारस पहुँच पढ़ाई शुरू करने की मुझे चिन्ता लगी हुई थी। किन्तु प्रश्न था, रेल के किराये का। मालूम हुआ राजा ललिताप्रसाद यहाँ के एक बहुत धनी पुरुष हैं। दिमाग में न जाने कहाँ से बात समाई कि राजा साहब की प्रशंसा में एक कविता पेश करूँ, शायद भाग्य खुल जाये। मनमानी तुकबन्दी जोड़ी, फिर एक साफ कागज पर लिखा, और राजा साहब के दर्बार में हाजिर हुए। क्या कहकर 'कविराज' ने डेवढ़ीदारों को अपने 'पधारने' की सूचना दी थी, यह याद नही। किसी दर्बार में जाने की उन्हें जरूरत नही पड़ी। शायद लिखित कविता को भीतर भेज देना पड़ा था, या राजा साहब ने बाहर निकलकर उसे ले लिया था। उम्मीद करके चले थे, बनारस के लिए दो रेल के टिकटों की, लेकिन 'कविराज' को वहाँ धेली मिली। लौटते वक्त हमे फिर वही वृद्ध सज्जन दिखलाई पड़े। पूछने पर हमने कहा—हम बनारस जाना चाहते हैं, यदि आप वहाँ तक का टिकट दिलवा दें, तो अच्छा। उस वक्त तो उन्होंने इन्कार किया, किन्तु जब हम स्टेशन पर गोलागोकर्णनाथ की गाड़ी का इन्तिजार कर रहे थे, तो उनका आदमी आया। 'कहाँ जाओगे' पूछने पर हमने बतलाया—जाना तो चाहते थे अयोध्या तक, किन्तु टिकट का पैसा नही है, इसलिए गोलागोकर्णनाथ जा रहे हैं। शायद गोलागोकर्णनाथ का टिकट भी हम कट चुके थे। उसने टिकट बदलवाकर फैजाबाद तक के दो टिकट हमारे लिए खरीद दिये।

फैजाबाद से अयोध्या जा हमने शायद एक ही दिन में दर्शन पर्शन खतम कर आगे का रास्ता नापा। रास्ते में पंकोली के पौहारीजी के मठ मे भंडारा था। हमे भी एक एक अँगोछा, दो या तीन बड़े बड़े लड्डू बाँधकर मिला। अब हमारा रुख था बनारस की ओर, जौनपुर के रास्ते पैदल।

अब भी हम लोगो मे लड़कपन था। एक दिन हम रास्ते से जा रहे थे, तो एक आदमी भी कुछ मीलों से उसी रास्ते चला आ रहा था। उसके शरीर में एक दो घाव थे जो अभी होने के मालूम होते थे। हमने उससे कहा—क्यों किसी को मारकर भागे जा रहे हो क्या ? उसने जवाब नही दिया। दूसरी या तीसरी बार दुहराने पर

वह हमें मारने दौड़ा। अब परिस्थिति की गम्भीरता मालूम हुई, और बोलते तो वह मारे बिना नहीं छोड़ता। वस्तुतः वह मारपीट करके ही भागा था, शायद पुलीस के डर से।

खेतासराय के पहिले एक बाग से हम लोग गुजर रहे थे, उस समय कुछ औरतें आपस में कह रही थीं—'हे ! वहाँ पुल पर एक चाईं लेटा पड़ा है।' आगे और क्या कहा, यह तो मुझे स्मरण नहीं रहा, किन्तु चाईं का नाम सुनते एक पुरानी बात याद आई और मन कुछ शंकित हो उठा। रानी की सराय में मैं जब पढ़ा करता था, तो प्रयाग माघ-स्नान के लिए पैदल जानेवाले हजारों यात्री—स्त्री और पुरुष दोनों—उसी सड़क से गुजरते थे। पुरुषों के पीठ पर और स्त्रियों के शिर पर आटा-सत्तू की गठरी होती, हाथ में लोटा डोरी, कन्धे पर कम्बल या पिछौरी। पैरों में जूते बहुत कम के होते। इन्हीं प्रयाग-यात्रियों के एक गिरोह में पन्दहा के भी कुछ व्यक्ति जा रहे थे, जिनमें से एक ने यह कथा कही। यह बात भी जौनपुर जिले के ही किसी स्थान की थी। रात को सैकड़ों यात्रियों का एक गिरोह किसी बाग में ठहरा हुआ था। इतनी बड़ी संख्या में होने से मारकर उनकी चीज तो छीनी नहीं जा सकती, और रेल से पैसा बचाने के खयाल से पैदल चलनेवालों के पास सम्पत्ति ही क्या रहेगी ? लेकिन साधारण गरीब चोर के लिए उनके सत्तू-आटे की गठरी, और कपड़े भी बहुत हैं। एक चाईं दरख्त पर शायद शाम ही से चढ़कर बैठा था, या मौका देखकर चढ़ गया। रात को जब सब सो गये, तो उसने गठरी को फाँसकर ऊपर उठा लेने के लिए कई मुँह का लोहे का काँटा रस्सी के सहारे नीचे गिराया। संयोग से काँटे का एक छोर किसी गठरी में न फँसकर एक वृद्ध आदमी की कमर में लिपटी धोती में पड़ा। गठरी जानकर चाईं ने काँटे को ऊपर उठाया। धरती छोड़ देने पर बुड्ढे की नींद खुली। एक दो और हाथ उठने पर उसने जोर से आवाज देकर साथियों से कहा—'भाइयो ! बहिनो ! कहा-सुना माफ करना। प्रयागराज का फल यहीं मिल रहा है। भगवान् इसी लोक लिए है और इसी देह से उठाये लिये जा रहे हैं।' चाईं को अपनी गलती मालूम हुई, वह रस्सी छोड़कर लेकर भागा। बूढ़े का शिर फूटा, कमर टूटी, और उसे फिर संसार में लौट आना पड़ा। चाईं मेरे लिए एक अत्यल्प परिचित शब्द था, और उसके कान में पड़ने पर यह कथा याद आने से हँसी छूट रही थी। डर तो था नहीं क्योंकि अभी दिन था, बस्ती से हम दूर न थे। वहाँ पुल पर सचमुच किसी आदमी को लेटे देखा।

जौनपुर जिला पार होकर हम बनारस जिले में प्रविष्ट हुए थे, पिंडरा के आसपास कोई जगह था। योगेश बगल के गाँव से मक्का का दाना भुनाकर ले आये। गुड़ के साथ हम दाना ले खाया। खाते वक्त मुझे याद नहीं रहा, कि निजामाबाद में गुड़-लावा खाने पर मुझे मलेरिया ने पकड़ा था, और तब से उसका लगाव सा रहता है। फिर देह में गर्मी और हृदय में कँपकँपी होने लगती है। खाने के बाद कह दूँ कि नहीं, किन्तु थोड़ी दूर जाने के बाद मुझे जड़ैया ने आ घेरा। कपड़ा ओढ़कर वहीं सड़क की बगल में पड़ा रहा। जड़ैया के कम होने पर बुखार बढ़ा, किन्तु हम हिम्मत करके थोड़ा दूर पर बाईं ओर एक कुम्हार के घर में चले गए। रात भर वहीं पड़े रहे। बनारस से पहिले ही, शायद, योगेश को भी जड़ैया आने लगी, लेकिन सवेरे के वक्त, उसके आने से पहिले हम कुछ चल लिया करते थे। याद नहीं कितने दिनों में बनारस पहुँचे।

बनारस पहुँचने पर सबसे पहिले एडवर्ड अस्पताल में हम मलेरिया की दवा लेने गये। शीशी में कुइनेन और क्या-क्या मिलाकर एक जहर से भी कड़वी दवा मिली, जिसमें से कुछ हमने वहीं पी लिया। उस बूटी से परास्त अवस्था में गंगा स्नान क्या किया होगा। हाँ, जैसे-तैसे हम अस्सी के तुलसी घाट पर पहुँचे। किसी से पाठशाला और पढ़ने के बारे में पूछ रहे थे, कि एक पतले नाटे से अधेड़ व्यक्ति—जिनके मुँह पर चेचक का दाग, शिर में त्रिपुंड, विभूति, कानों में पतले और गले में बड़े-बड़े रुद्राक्षों की माला पड़ी थी—हाथ में लोटे से नाव के घंटे में गंगाजल लटकाये नीचे से वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने भी 'कहाँ' और 'कैसे' पूछा। पढ़ने की बात सुनकर बोले—आओ हमारे साथ। बनारस को उससे पहिले मैं नाममात्र देख पाया था, और उसके इस हिस्से में तो आया भी नहीं था। जिन गलियों और सड़कों से घूमता उस दिन मैं मोतीराम के बगीचे में पहुँचा, उनसे होकर तुलसीघाट पर स्नान करने तथा लौटने जाना पिछले दो वर्षों में रोज का काम सा हो गया, किन्तु उस आद्यपरिचय के दिन उनका जैसा अजीब-सा रूप देखा था, वह पीछे लुप्त हो गया।

मोतीराम का बाग दुर्गाकुंड से जानेवाली उसी छोटी सड़क पर है, जिस पर भास्करानन्द की समाधि और

कुरुक्षेत्र का पत्थर के घाटवाला तालाब—जो सदा ही जलशून्य रहा करता है सिवाय सूर्यग्रहण के जबकि काशी में ही कुरुक्षेत्र का पुण्य लूटने के लिए पानी का कोई प्रबन्ध कर लिया जाता है। मोतीराम का बाग कुरुक्षेत्र के तालाब से सटे ही पूरब तरफ, तथा उक्त सड़क से थोड़ा उत्तर हटकर है। बाग के चारों तरफ लखौरी पतली ईंटों की चहारदीवारी थी, तीन छोटे-छोटे दर्वाजे थे जिनमें पूरब का दर्वाजा हमारे आज के मेहरबान—चक्रपाणि ब्रह्मचारी—के दखल में था और उसे बन्द कर उन्होंने उसे एक कोठरी के रूप में परिणत कर दिया था। बाग जैसा छोटा सा था वैसे ही उसके घर भी छोटे छोटे थे। मालूम होता था ये किसी वामन द्वीप के आदमियों के रहने के लिए बनाये गये हैं। खैर, बगीचे और उसके निवासियों का वर्णन फिर किसी दूसरे समय के लिए। चक्रपाणि ब्रह्मचारी हमें अपने स्थान पर ले गये। उस घर में उनकी दो कोठरियाँ पूरब ओर का बरांडा—जो इन कोठरियों के लिए हॉल सा था और कोठरियों के बीच का रास्ता जिसके पूरबी ओर पर बाग का मूल पूर्वद्वार था—यह सभी एक ही पक्की छत के नीचे थे। चक्रपाणि ब्रह्मचारी निराकार उपासी परमहंस नहीं थे वह साकार साधक थे। उनके पास एक गाय सदा रहती थी और इस वक्त एक अच्छी जाति की सवत्सा कृष्णा गौ उनकी सेवा की अधिकारिणी थी। गाय को पानी से बचाने के लिए घर चाहिए, खिलाने के लिए भूसा और उसके रहने का स्थान चाहिए—गोशाला का स्थान तो ब्रह्मचारीजी ने मूल कुटी से [illegible] बना लिया था और भुसागार का काम उनका [illegible] होल देता था। कहीं की पाकशाला [illegible] के सामने [illegible] इसमें ब्रह्मचारी और उनके सहवासी विद्यार्थी रहते थे।

उनके साथ दो चार दिन रहने के बाद हमें मालूम हुआ कि चक्रपाणिजी को अपने आसपास विद्यार्थियों का [illegible] एक व्यसन सा है। यह ऐसा नहीं [illegible] अपने खर्च के लिए उनका कोई [illegible] नहीं था शहर में उनके [illegible] थे। इस परिमित आमदनी से भी [illegible] वह विद्यार्थियों की सहायता करते थे। उनको यह भी [illegible] नहीं था कि विद्यार्थी उनकी गाय को चारा पानी कर देंगे उनके काम में सहायता करेंगे। ज्यादा से ज्यादा [illegible] उनको कहा जा सकता था कि [illegible] ब्रह्मचारी चक्रपाणि के साथ [illegible] विद्यार्थी रहते हैं। चक्रपाणि ब्रह्मचारी का जन्म कुरुक्षेत्र के पास किसी गाँव में गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। [illegible] सिमिट सिमिटकर समुद्र में पहुँचती [illegible] भारत के [illegible] और [illegible] के सभी प्रान्तों के कोने कोने के [illegible] ब्राह्मणों के विद्यार्थी बनारस पहुँचते हैं। यही [illegible] चक्रपाणि के भी बनारस [illegible] था। बनारस में वह पढ़ने के लिए आये [illegible] इसलिए उसमें वह अधिक [illegible] नहीं कर सके। व्याकरण में लघुकौमुदी [illegible] पढ़ [illegible] तथा शुक्ल यजुर्वेद संहिता के [illegible] ही अध्याय उन्होंने स्वरसहित किसी [illegible] से पढ़े थे। [illegible] की यज्ञ [illegible] का पुराना प्रणाली [illegible] की गणेश पूजा उपासना में उनकी [illegible] थी। [illegible] भी वह [illegible] के [illegible] थे न कि वेदान्त के सम्प्रदायक के तौर पर। [illegible] पर [illegible] कभी [illegible] नहीं पाया किन्तु [illegible] स्वामियों तथा हमारे बाग की महान ब्रह्मचारी [illegible] से डरते थे।

उनके समय का बहुत भाग कृष्णा गौ की सेवा में अर्पित होता था। [illegible] विद्यार्थियों के कहने के अनुसार [illegible] भाग रही है और चक्रपाणि ब्रह्मचारी [illegible] अतिरिक्त [illegible] तीन सेर अन्न उसे मिल जाता था। [illegible] नहीं पड़ता था। [illegible] मालूम होते थे भैरवती के [illegible] किन्तु [illegible] ही कृष्णा को सानी पानी [illegible] दूध दूहने का काम खतम कर ब्रह्मचारी गंगाजी ([illegible]) स्नान करने चले जाते। वहाँ से लौटने पर आसन पर बैठ आँखों में चश्मा लगा (इस वक्त उनकी आयु ५५ से ऊपर थी) [illegible] पाठ और पूजा करते—शायद नर्मदेश्वर की दो एक गोलियाँ उनकी पूजा में थीं। फिर फूलझारी लिए [illegible] की तरफ के शिवालय में शिवजी को फूल बेलपत्र चढ़ाते (बाग में बेल के कई वृक्ष थे) और अन्त में [illegible] पंचपूजक कृष्णा के सिर में चन्दन की टीका शिर पर फूल रखे जाते फिर ब्रह्मचारीजी उसके [illegible] पर शिर रखकर प्रणाम करते। नर्मदेश्वर की आरती उतारते वक्त कृष्णा की भी आरती उतारना आवश्यक था। कृष्णा की इतनी सेवा और इतनी भक्ति करते भी कभी खाने पीने [illegible] दूध देने में हाथ पैर चलाने पर ब्रह्मचारी का गुस्सा भी चढ़ आता

था, और फिर वह, एक-दो डंडे जड़ देने से भी बाज नहीं आते थे। मैं खयाल करता था–देवता भी यदि चौबीस घंटा उनके साथ बस जाये, तो उनको भी इसी तरह के बर्ताव का सामना करना पड़ेगा।

मोतीराम के बाग में आते ही हमारी जड़ैया न जाने कहाँ चली गई। चक्रपाणि ब्रह्मचारी का आतिथ्य पाँच सात दिन से ज्यादा हमने स्वीकार न किया होगा, कि पिताजी के घर से आ जाने के कारण यागेश की प्रेरणा से हम स्वयं घर चले गये, यह निश्चय करके कि लौटकर यहीं पढ़ने आना होगा। लेकिन इस निश्चय में यागेश साथ नहीं थे, क्योंकि उन्हें वैराग्य और पढ़ना दोनों का रोग न था। घरवालों को अब अपनी गलती मालूम हो गई थी, इसलिए हमारे संस्कृत पढ़ने में बाधा डालना नहीं चाहते थे। बनारस पढ़ने में ३ मील पर बछवल पढ़ना और सुरक्षित है, यह सोच उन्होंने बछवन जाकर पढ़ने का परामर्श ही नहीं दिया, बल्कि चचा साहेब तीन चार महीनें के खाने का आटा-दाल लिवाये मुझे एक दिन वहाँ पहुंचा भी आये। फूफा साहब ने जब आटा दाल की बात सुनी, तो चचा को बहुत फटकारा–"यहाँ हमारे पास खाने के लिए अन्न है, एक लड़के के और बढ़ जाने से वह घटेगा नहीं।"

अक्तूबर (1910 ई.) में एक दिन शुभ मुहूर्त में मिश्री मेवा की भेंट के साथ-साथ सरस्वती की पूजा करके फूफाजी से मैंने लघुकौमुदी शुरू की। उस वक्त यह स्मरण आने पर बड़ा अफसोस आता था, कि आठ वर्ष पहिले (1902 जुलाई) मैंने यही सारस्वत शुरू किया था, काश वही क्रम जारी रहता तो आज मैं कहाँ होता। स्मरण शक्ति ने अब भी मुझे जवाब नहीं दिया था, लेकिन मेहनत करने से जी चुराने की आदत भी उसके साथ थी। 1902 ई. में किसी ने नहीं कहा था, कि याद करना दुर्गुण है लेकिन बीच के वर्षों में कितने ही प्रामाणिक मुखों से 'रट्टूपीर' की निन्दा सुनी थी। उसका असर पड़े बिना नहीं रह सकता, विशेषकर जब कि वह मेहनत से बचने का एक सम्मानपूर्ण रास्ता निकाल देता था। दूसरे लड़के चिल्ला चिल्लाकर पचासों बार रटते हुए अपने पाठ को याद करते थे, मैं मन में कुछ देर आवृत्ति करके उसे याद कर लेता था। इसमें समय कम लगता था, किन्तु मुझे सन्देह रहता था, कि चिल्लाकर रटने से स्मृति ज्यादा ठोस रहती है। लघुकौमुदी के साथ मैंने हितोपदेश भी शुरू कर दिया था।

बछवन में रहते बाल्यकाल के बछवन की कुछ मधुर स्मृतियाँ याद आती थीं। पहिली बार मैं आया था बरसात में मक्का की फसल के समय। हम कई छोटे छोटे बहिन-भाई मचान पर जाते, चिड़ियों से मक्का के खेत की रखवाली करने शायद लड़कियाँ ज्यादा थीं, या उनका प्रभाव ज्यादा था। वह गाना शुरू करतीं। 'सबके सिपहियन के लालि-लालि अँखिया, हमारि काहे कुचुरी ए दीदी-बहिनी ?" (सबके सिपाहियों पतियों की लाल लाल आँखें हैं, किन्तु हमारे (की) क्या छोटी बदसूरत सी ?), मैं और यागेश भी उसे दुहराते। हमें क्या मालूम था, कि यह लड़कियों-स्त्रियों का गाना है, लड़कों पुरुषों को उसे नहीं गाना चाहिए। बछवल से लौटकर कनैला जाने पर एक दिन अकेले मचान पर बैठे मैंने तान लेना शुरू किया, और उसे विद्या बाबा ने सुनकर मजाक करना शुरू किया–'कौन लड़की गीत गा रही है; तब मुझे अपनी गलती मालूम हुई। फिर एक बार गर्मी के दिनों में–जिस साल (1907 ई.) नानी मरी थी–आया था, उस वक्त फूफा के पास आज से ज्यादा विद्यार्थी थे। रामस्वरूप एक हृष्ट पुष्ट गोरा तरुण विद्यार्थी था, वह 'चन्द्रिका' पढ़ता था। दोपहर के वक्त गरुडपुराण की साँची पन्नेवाली पोथी को सामने रख व्यास की तरह पलथी मार वह मधुर स्वर से आधे गीत के राग में उसका पाठ करता, साथ ही अर्थ करता जाता, वह कितना अच्छा लगता। रामस्वरूप अब मर चुका था, इसलिए और अफसोस होता था। पहिले के बहुत-से विद्यार्थी बछवल छोड़कर या तो घर बैठ गये थे, या बनारस पढ़ने चले गये थे। अतीत की निशानी राजाराम अब भी वहाँ मौजूद थे, यह एक सन्तोष की बात थी। पहिली बार जब मैं आया था तो फूफा और उनके छोटे भाई (यागेश के पिता सहदेव पांडे) एक साथ रहते थे, किन्तु अब दोनों अलग-अलग हो गये थे। आमतौर से यह अलगा-बिलगी कड़वाहट पैदा हो जाने के बाद होती है, वही बात इन दोनों घरों में भी थी, किन्तु, मेरा दोनों घरों से एक-सा स्नेह-सम्बन्ध था। एक घर में मेरी अपनी बुआ बसती थीं, जो मुझ पर बड़ा स्नेह रखती थीं–जिनके परिमार्जित तथा संस्कृत वार्तालाप, व्यवहार को मैं अपने अभिमान की बात समझता था; दूसरे घर में यागेश जैसा मेरा अनन्य बालमित्र। दोनों घरों में आपस का चाहे कैसा ही सम्बन्ध हो, किन्तु मैंने उनमें कभी भेद नहीं किया।

योगेश के प्रेम के कारण उनकी माँ भी मुझे वैसा ही मानती थी। उनके बारे में मालूम हुआ, जब योगेश मेरे साथ मारे-मारे फिर रहे थे, तो उस वक्त उनके घर हर भिखमंगे को दूनी-तिगुनी भीख मिला करती थी, इसलिए कि उनकी माँ को, उसी तरह किसी के द्वार पर जाते अपने ज्येष्ठ पुत्र की सूरत दिखलाई देने लगती थी।

बछवल मे मैंने दो ढाई महीने निश्चिन्त पढ़ने पाया होगा, कि फिर दिमाग मे खुराफात शुरू हुई। प्रयाग में बड़े धूमधाम से प्रदर्शनी हो रही थी। गवर्नमेंट उस पर खूब पैसे खर्च कर रही थी। सलाह हुई प्रदर्शनी देखी जाये। पैसे की कमी ? पैदल ?—शालिग्राम को भूनकर खा जानेवाले के लिए बैगन भूनने मे हिचकिचाहट ? योगेश, मैं, फूफा के एक विद्यार्थी विश्वनाथ और शायद चौथा भी कोई। सलाह हुई—सब कनैला से अमुक दिन सबेरे परमहंस बाबा की कुटी पर आओ। योगेश वही मिले। फिर साथ खगपुर मे विश्वनाथ को लिवाते पैदल ही चल पड़े। योजना मे कोई बाधा नही हुई। कुहरा पड रहा था, जब कि कुछ देर की प्रतीक्षा के बाद योगेश परमहंस बाबा की कुटी पर मिले। विश्वनाथ घर के खाते-पीते आदमी थे, किन्तु सिर्फ यजमानी के भरोसे; उनके घर खेती का काम नहीं होता था, इसलिए वह शरीर से बहुत कमजोर थे, यद्यपि आयु मे हम दोनों से बड़े। भोला होते हुए हम औंढियार, फिर रेल की सड़क पकड़े सारनाथ पहुँचे। अब तक सारनाथ की धमाख को दूर से ही देख 'लोरिक कुदान' मुँह से निकालकर हम सन्तोष कर चुके थे। अब की हम धमाख देखने गये। उस वक्त पीला कपड़ा पहिने कुछ बर्मी भिक्षु भक्तिभाव से प्रणाम कर रहे थे। उनमे से एक वृद्ध ने हमारी ओर देख हाथ से आँखो की ओर इशारा करके कहा—'चक्खु', 'चक्खु', मै भला क्या अर्थ समझता। हाँ, उस बार यह मालूम हुआ, कि 'धमाख' 'लोरिक-कुदान' ही नही है, बल्कि दूर देश के लोगो का तीर्थस्थान भी है। अभी सारनाथ का जादूघर नही बना था, खुदाई मे निकली मूर्तियाँ जैन मन्दिर के पीछेवाले चहारदीवारी के किनारे मे रखी हुई थी। वहाँ एक काले रंग के आदमी थे, पूछने पर उन्होने अपने को सिंहली बतलाया। उन्होने बुद्ध की मूर्तियो को दिखलाया। एक ठोस मन्दिर-प्रतीक के चारो ओर नगी मूर्तियो के बारे मे पूछने पर उन्होंने हँसकर कहा—जैनमूर्ति है। पुरातत्त्व की वस्तुओं और मूर्तिकला से यह पहिला साक्षात्कार था। मैने समझा, सिंहल के सभी लोग उन्ही की तरह हिन्दी जानते होंगे। शायद वह कलकत्ता मे रहते थे।

बनारस मे बिना ठहरे ही हम गगापार चले गये, रामनगर के रास्ते या राजघाट के, सो याद नही। चुनार मे हम सूर्यास्त के बाद पहुँचे, इसलिए किले के भीतर भर्तृहरि की समाधि के दर्शन की बड़ी उत्सुकता रखते भी वैसा नहीं कर सके। जाना था प्रयाग, किन्तु हम चुनार मिर्जापुर विन्ध्याचल का चक्कर क्यो काट रहे थे ?—मटरगश्ती और क्या ? हम प्रयाग पहुँचे। प्रदर्शनी देखी। कुश्ती और हवाई जहाज पर चढ़ाकर घुमाना—ये दो आकर्षक चीजे थी, किन्तु उनके लिए हमारे पास पैसे न थे। प्रयाग मे हम लोग अलग अलग हो गये, या साथ लौटे, यह याद नही। यह भी नही कह सकता, कि बछवल की पढ़ाई समाप्त कर मैंने किस वक्त प्रस्थान किया।

मार्च (1911 ई.) मे मै निश्चित रूप से बनारस मे था। उसी वक्त एक और दीर्घ यात्रा का प्रयत्न किया गया। पन्दहा मे किसी से सुन रखा था, कि वह पैदल ही वहाँ से कलकत्ता गया था। मुझे भी उसके तजर्बे से फायदा उठाने का खयाल आया। अस्सी पर जगन्नाथ मन्दिर मे पडित मुखराम पाडे—फूफाजी के पुराने विद्यार्थी—रहते थे, मैं उन्ही के पास पढने जाया करता था, वैसे रहता था चक्रपाणि ब्रह्मचारी के ही पास। जगन्नाथजी के पुजारी मुखराम पडित के जन्मस्थान वीरपुर और कनैला के बीच के एक गाँव के रहनेवाले थे। उनके भाई दशरथ लघुकौमुदी के विद्यार्थी तथा मेरे समवयस्क थे। हम दोनो की सलाह हुई—अबके पैदल कलकत्ता देखना चाहिए। एक दिन हम दोनो गायब हो गये। राजघाट-मुगलसराय होते पुरानी बादशाही (शेरशाहवाली) सडक पकडे चले। चँदौली मे शाम हो गई। हम लोग कहाँ ठहरे यह याद नही। दिन मे पास के खेतो के मटर-चने की फलियो से काम चल गया। कर्मनाशा की धार को हमने बड़े आश्चर्य से देखा, क्योकि सोलह आना नही तो दस-बारह आना हमे जरूर विश्वास था, उसके पानी के छूने से कर्म (पुण्य) के नाश हो जाने का। दुर्गावती मे हम सबेरे दस बजे पहुँचे थे, दशरथ मुझसे कुछ पीछे आये। भूख-प्यास तो जो थी सो थी ही, हम लोगो के पैरो के तलवे कट गये (हम नंगे पैर थे और दशरथ का पैर फूल गया था। बडे दीन-वचन से दशरथ ने कहा—अब लौट चलना चाहिए। हम लौटकर फिर बनारस पहुँच गये।

5

बनारस में पढ़ाई (1)

मोतीराम का बाग प्राचीन नहीं तो मध्यकालीन मुनि-आश्रम सा था। इस आश्रम की कुटियाँ बाग को चारों ओर से घेरनेवाली चहारदीवारी से सटकर बनी थीं, और एक को छोड़ सभी आकार-प्रकार में घरौंदे जैसी थीं। ब्रह्मचारी के उत्तर चार हो पाँच हाथ के फासिले पर एक दंडी स्वामी की कुटी थी, जिनके भतीजे बनमाली मेरे समवयस्क दोस्तों में थे। उनसे और उत्तर ब्रह्मचारी जगन्नाथ पंजाबी थे, जिन्हें जिन्दगी-भर हिन्दी बोलनी न आई और बराबर मतलब को मतबल और चाकू को काचू कहते रहे। उन्हें भी गाय पालने का शौक था, किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारी—जिनसे उनकी कभी-कभी कहा सुनी हो जाती थी—का कहना था कि वह सब मेरी ईर्ष्या से करते हैं। जगन्नाथ ब्रह्मचारी क्रोध में दुर्वासा के द्वितीय अवतार थे। उनके आगे से चहारदीवारी पश्चिम ओर मुड़ती थी, और आधी दूर से आगे जाकर पक्का कुँआ और शिवालय मिलता था। इसी के पास सहारनपुर के रहनेवाले एक महात्मा रहते थे, बुढ़ापे ने उनकी कमर को टेढ़ी कर दिया था और वह अनन्त काशीवास की प्रतीक्षा में थे। उनकी कुटिया से पश्चिम चहारदीवारी के साथ खाली जमीन में जाने की जरूरत नहीं, वहाँ से दक्खिन घूमने पर हम बगीचे के केन्द्र में पहुँचते थे जहाँ बड़े बड़े वृक्षों की छाया में ऊँचे पक्के चबूतरे पर टीन की छत थी। गर्मियों में वहाँ बैठने में बड़ा आनन्द आता था। वहाँ से पश्चिम चन्द ही कदम पर उत्तर मुँह की एक छोटी कुटिया थी जिसमें एक अत्यन्त वृद्ध सन्यासी रहते थे, जिनके सौ वर्ष से अधिक के होने में मुझे कभी सन्देह नहीं हुआ। अक्सर कई कई दिन तक उनको पाखाना नहीं होता था, और उसके लिए पिचकारी लगाने की जरूरत पड़ती। वह चल फिर नहीं सकते थे। सभी इन्द्रियों ने—मन के साथ—जवाब दे दिया था। इस कुटी से थोड़ा ही आगे पश्चिम के घेरे की पाँती शुरू होती था और यह थी छत्रों की पाँती। पहिला छत्र था गाजीपुर के किसी मारवाड़ी सेठ का। उसमें कुछ भोजन भी वितरण होता था, किन्तु उससे ज्यादा इसका नाम अपने अपक्व अन्न के वितरण के कारण था। बनारस के आसपास बहुत दूर तक सरयूपारी ब्राह्मण ही रहते हैं, इसलिए वहाँ के पंडितों और विद्यार्थियों में उनकी संख्या का अधिक होना स्वाभाविक है। कनौजियों की तरह सरयूपारी भी 'आठ कनौजिया नौ चूल्हा' के माननेवाले हैं। बनारस में पक्व अन्न देनेवालों की अपेक्षा अपक्व (सूखा) अन्न देनेवाले छत्रों की संख्या कम है इसलिए भी इस छत्र का महत्व ज्यादा था। किन्तु इससे भी बढ़कर इसकी ख्याति बनारस में अपने दानपात्र विद्यार्थियों की योग्यता के कारण थी। वहाँ परीक्षा के बाद चुनकर विद्यार्थी स्वीकार किये जाते थे। उन्हीं महीने के खर्च के लिए गेहूँ, दाल, तथा नमक, दियासलाई, ईंधन आदि का दाम दिया जाता था। इस छत्र के बाद पटियाला के एक ब्राह्मण रविदत्त पंडित का छत्र था। इनके पिता अच्छे पण्डित थे, पंजाब में उनके गृहस्थ शिष्यों की काफी संख्या थी, और उन्हीं की सहायता से यह रोटी-छत्र चलता था, जिसमें उस तरफ के कुछ विद्यार्थी भोजन करते थे। उसके दक्खिनवाले दर्वाजे के पास सन्यासी-ब्रह्मचारियों का एक रोटी छत्र था, जिसमें एक-दो विद्यार्थी भी रहते थे। चहारदीवारी के साथ पूर्वमुख घूमने पर कुछ कदमों पर ऊँची कुर्सी पर एक अच्छी ऊँची पक्की बारादरी थी, जिसके दोनों सिरों पर दो हवादार कोठरियाँ, तथा सामने काफी चौड़ा पक्का चबूतरा था। आरम्भ में बाग के साथ ही यह इमारत बनी थी। शायद कुएँ के पासवाला शिवालय भी उसी वक्त का हो, किन्तु बाकी कुटियाँ तो जरूर पीछे की थीं। बाग में कुछ बेल-आम के बड़े दरख्तों के अतिरिक्त कागजी नीबू के दरख्त ही ज्यादा थे, और साल में उनसे कुछ आमदनी हो जाती थी।

हाँ, तो जिस बारादरी के पास जाकर हम रुक गये, उसका उस समय की काशी में बड़ा महत्व था। उसी में ब्रह्मचारी मगनीराम रहते थे। पतला गोरा शरीर, छोटी चुटिया, केश श्मश्रु श्वेत, कमर से घुटने तक एक गेरुआ अँगोछे का आवरण, शायद देह में एक श्वेत जनेऊ—यही थी मगनीराम ब्रह्मचारी की मूर्ति। इस वेष में जो कुछ दिखावा हो, बस इतना ही उनमें दिखावा था, नहीं तो उनमें कृत्रिमता छू नहीं गई थी। न उन्हें धर्मोपदेश का मर्ज, न योग-ध्यान चर्चा का व्यसन, न वेदान्त-उपनिषद् की सनक, न पूजा-पाठ की आसक्ति थी। या तो वह उसी

चौतरे पर टहला करते, या कोठरी में बैठे पुस्तक देखते। आम दर्शकों की भीड़ वहाँ नहीं लगती थी, किन्तु कभी कभी कोई कोई गम्भीर जिज्ञासु वहाँ पहुँच जाते। प्रणाम करने पर, स्वाभाविक हास की रेखा मुख पर लाकर वह 'नारायण' कह दिया करते। बहुत ही कम बोलते, किन्तु मानी नहीं थे। लोग उन्हें बहुत कम दिक करते। उनके आसपास कोई साधक या परिचारिक नहीं रहते। उनको बवासीर का रोग था। जौ की रोटी मूँग की दाल खाते थे, जिसे रोज एक पंजाबिन बुढ़िया बनाकर पहुँचा जाती। आषाढ़ पूर्णिमा (गुरुपूर्णिमा) के दिन उनके यहाँ ज्यादा भीड़ रहती। जिनकी पूजा के लिए उस दिन खुद शिष्यों की भीड़ रहा करती, वैसे दिग्गज शिवकुमार शास्त्री जैसे पंडित भी उस दिन फल फूल लिये वहाँ मगनीराम ब्रह्मचारी की पूजा तथा परिक्रमा करते आपको मिलते, यदि आप उस समय वहाँ रहते तो। मगनीराम ब्रह्मचारी के प्रति श्रद्धा जिन व्यक्तियों के हृदय में थी, वह साधारण राह चलते आदमी नहीं थे। भास्करानन्द और तैलंग स्वामी के पास मनचले वहाँ नहीं पहुँच पाते थे। वह निराकांक्ष थे, प्रदर्शन-शून्य थे। मगनीराम ब्रह्मचारी विद्वान थे, वेदान्त और उपनिषद् के खास तौर से, किन्तु उनकी विद्या विवादाय क्या होती, उसकी ख्याति तो हृदय से हृदय तक ही पहुँचकर रह जाती थी। उनके विद्या-व्यसन के बारे में कहा जाता था कि [illegible] प्राप्त [illegible] उन्होंने पाठ याद किये थे। मैं बराबर ही उधर से गुजरता था और नजर पड़ने पर प्रणाम करता, [illegible] सुनने को मिलता। पढ़नेवाले विद्यार्थियों में मेरी भी ख्याति थी, इसलिए मुझसे तो नहीं, किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारी से मेरे बारे में वह कभी कभी पूछ लिया करते थे।

मगनीराम ब्रह्मचारी की कुटिया के [illegible] फिर कोने पर पुस्तकवाला [illegible] के साथ एक कुटिया थी।

यह था मगनीराम का बाग [illegible] किसी पंजाबी ब्राह्मण [illegible] था। किन्तु इस वक्त किसी दूसरे के हाथ में चला गया था।

[illegible] कुछ विद्यार्थी भी रहते [illegible] जिनको दो वक्त खाने को भी [illegible] था। [illegible] चक्रपाणि ब्रह्मचारी के साथ रहनेवाला [illegible] तो ऐसा फायदा [illegible] कोई समय था [illegible] पूरा [illegible] समाप्त [illegible] सिद्धान्तकौमुदी [illegible] कि विद्यार्थी [illegible] मुत्रों को [illegible] कि [illegible] पाता [illegible] निर्दोष [illegible] लेकिन अब जब कि [illegible] बहादुरी समझी जाती थी। प्रादेशिक व्याकरणों की जगह सर्वत्र प्रचलित पाणिनीय व्याकरण [illegible] और व्यवहार दोनों की दृष्टि से अधिक उपयोगी था। [illegible] समय सारस्वत चन्द्रिका [illegible] चन्द्रिका समाप्त कर रहे थे। खान पान का काम तो [illegible] ऊपर से भी [illegible] जिसके लिए अब के उन्होंने भागवत पुराण की पोथी खरीदी थी—बाहर [illegible] कहीं [illegible] तो बीस पच्चीस नकद तो मिल ही जायेंगे, इसी भावना से प्रेरित होकर।

कुछ समय बाद उनके [illegible] लम्बा [illegible] शरीर [illegible] अक्षर से भेंट नहीं। लोग कह रहे थे 'बूढ़ा ज्ञाता [illegible] राम राम [illegible] चक्रपाणि ब्रह्मचारी ने रख लिया। बेचारे की स्मरणशक्ति भी बहुत क्षीण थी, इसलिए [illegible] नहीं कर सके। एक दिन ऐसे में हम दोनों एक दूसरे के हाथ पकड़ रहे थे, उसी वक्त मेरी दाहिनी पर [illegible] बकाइन पर [illegible] अपने और [illegible] के बल को लिए में उसी पर गिर पड़ा। कुछ आवाज हुई और [illegible] से पैर टूट गया। ब्रह्मचारी को रामनगर का एक मल्लाह मालूम था, जो हड्डी बैठाने में काफी ख्याति रखता था। चक्रपाणि खास तौर से [illegible] थे। नाव पर मुझे वहाँ ले जाया गया। संयोग से वह घाट पर ही मिला। हाथ से [illegible] आवाज हुई। [illegible]—जाओ ठीक हो गया। और सचमुच ही ठीक हो गया। [illegible] ब्रह्मचारी और [illegible] के अनुसार मैं वहाँ से अपने पैरों 'दौड़ा' क्या चलकर भी नहीं आ सका। उस स्थल की निशानी अब भी मेरे दाहिने पैर के घुटने में एक चलती फिरती गोटी है, जो कभी बैठते वक्त [illegible] के [illegible] आने पर तकलीफ देती है।

बनमाली मेरे पहुँचने से पहिले से वहाँ रहते थे, और मेरे चले आने के बाद भी कुछ महीनों तक रहे। वह

भी लघुकौमुदी पढते थे. किन्तु उसे हम दोनो एक गुरु के यहाँ नही पढते थे। हाँ, वेद का स्वर-अध्ययन हमने साथ ही एक गुजराती वैदिक ब्रह्मचारी से आरम्भ किया था, जो कि अस्सी नाले के पार एक बगिया मे शीतलदास के अखाडे के उस पार रहते थे। एक समय हाथ उठा-उठाकर एक स्वर से "हरिहि ओ-ो-ो-म्-मा। गणा।-ना-। त्वा-।" पढने मे कम मनोरंजन नही होता था, यद्यपि उस समय—हम यजुर्वेद की पवित्र ऋचाओ का पाठ कर रहे थे, इससे ज्यादा ज्ञान नही रखते थे।

व्याकरण पढने मैं पडित मुखराम पाडे के पास जाता था, जो पहिले जगन्नाथ मन्दिर और पीछे 'पुष्कर' के किनारे छोटे गूदर (मठ) के छत की कोनेवाली अकेली कोठरी मे रहते थे। पडित मुखरामजी फूफा साहेब के योग्य विद्यार्थियो मे थे, और उनके सम्बन्ध के कारण वह मुझे साधारण विद्यार्थी से अधिक मानते थे। यद्यपि सरयूपारी ब्राह्मणो मे दूसरे ब्राह्मण का भी छूआ खाना जाति नियम के विरुद्ध समझा जाता है, लेकिन मै उन नियमो का पहिले ही से अवहेलना कर चुका था, अब फर्क इतना ही था, कि उन्हे खुल्लमखुल्ला तिरस्कृत कर रहा था। पढने में कितना जोर लगा रहा हूँ, यह तो मै ही जानता था, किन्तु दूसरे सभी लोग मुझे अच्छा विद्यार्थी समझते थे—हितोपदेश आदि के अर्थ लगाने मे मै भी अपने समकक्ष विद्यार्थियो से अपने को आगे पाता था जरूर। खैर, इस सार्वजनिक राय का चक्रपाणि ब्रह्मचारी पर बहुत अच्छा असर हुआ था, और वह मेरी शारीरिक आवश्यकताओ पर बहुत ध्यान रखते थे। रसोई मेरी उन्ही के साथ बनती थी। उनकी कृष्णा का दूध उसे भी गाढा होता था, ऊपर से ओटाये दूध मे आधा छटाँक घी डालना वह न भूलते थे। मुझे वैसा दूध बिलकुल पसन्द न था, किन्तु करता क्या स्नेह का बलात्कार सहना पडता। मोतीराम के बगीचे के निवासियो को महीने मे दस दिन तो कम से कम निमन्त्रण मे जाना ही पडता था, और मेरा तो आधा आधा था, मै वेदपाठी जो था, पश्चिम मे परम्परागत वस्तुत वेदपाठ का ब्राह्मणो मे बडा महत्व समझा जाता था। निमन्त्रण का मतलब साधारण दाल रोटी का भोजन नही पक्वान्न—पूरी, खीर हलवा यह तो मामूली भोज मे होता, नही तो पुआ, लड्डू, जलेबी आदि कई तरह की मिठाइयाँ, दही, रायता और क्या-क्या तरकारियाँ, और कितनी ही जगह तो दूध को भी केसर से पीला रँगकर दिया जाता था। कितनी ही बार भोज हमारे बगीचे ही मे होता था। यदि कभी सम्मिलित निमन्त्रण मे जाना हो, तो पडित रविदत्त का भोजन उस दिन ठढाई के साथ पिसी भाँग जबर्दस्ती पिला जाता, जिसका मतलब था, उस दिन शाम और रात की पढाई भी खतम। इसमे शक नही, मोतीराम-बगीचे के विद्यार्थियो—जिनकी सख्या एक दर्जन से ज्यादा न थी—को जितना खाने-रहने का सुभीता था, उसके अनुसार पढाई मे वह तत्परता नही दिखलाते थे।

गर्मी के महीनो मे आमतौर से बिहार-युक्तप्रान्त के विद्यार्थी अपने घर चले जाते और फिर आषाढ पूर्णिमा के आसपास लौटकर आते। बनारस की गर्मी मे गाँव की गर्मी कुछ कम भी रहती है, दूसरे गर्मी के मारे पढाई अच्छी नही होती, और परीक्षा दिये हुए विद्यार्थियो की पढाई परीक्षाफल की प्रतीक्षा मे रुकी रहती थी। पडित मुखरामजी भी घर चले गये थे, किन्तु मै तो बनारस मे सिर्फ विद्या पढने के लिए नही रहता था, बल्कि उसमे गृह से विरक्ति का भी अश काम कर रहा था। मोतीराम के बाग के तीन-चार मास के वास, तथा यजुर्वेद और शिवभक्तो के ससर्ग मे आकर मेरे दिल मे एक और खब्त सवार हुआ, वह था वैष्णव मतविरोधी शिवभक्ति। 32 मणियो का बडा रुद्राक्ष का कठा गले मे रहता, और शिर का भस्म त्रिपुड्र तो नहा के ही मा जाने पर मिटता। रुद्राष्टाध्यायी के बहुत से अध्याय तथा महिम्नस्तोत्र पारायण करते ही करते याद हो गये थे। हर सोमवार को नियम से विश्वनाथ का दर्शन करने जाता। गर्मियो मे चक्रपाणि ब्रह्मचारी नियम से मगल की शाम को दुर्गाजी के सामने के कूएँ पर पानी पिलाने जाते, लेकिन न जाने नजदीक होने से या क्या, वहाँ मै बहुत कम दर्शन करने गया। बनारस मे वैष्णव (रामानुजीय, निम्बार्कीय, आदि) शायद ही कभी दिखलाई पडते हैं, किन्तु पिताजी के गले मे ठगकर अयोध्या के वैरागी के हाथ की बँधी कठी को देखकर मुझे कुछ गुस्सा सा आ गया था, नही तो कारण नही मालूम होता, क्यों वैष्णवो के खिलाफ पुरानी गाली-गलोज की पुस्तको को खोजता फिरा—'चक्राकित मतनिरूपण' तथा दो-एक और इस तरह के खडन-मडन के ग्रथों को मैंने बडे प्रयत्न से खोज निकाला था। मेरे बार-बार के कहने से पिताजी को अपनी कठी तोडकर फेकनी पडी।

सब मिलाकर देखने से मैं अपने समय का उपयोग कर लेता था, यद्यपि उससे सन्तुष्ट नही था। गर्मी थी,

बनारस की। दोपहर तो किसी तरह काट लेता, शाम को चार बजते ही गंगा किनारे दौड़ता। और फिर दो घंटा गंगा में तैरना और खेलना। कभी तैरकर उस पार नहीं गया, किन्तु वह किसी साथी के अभाव के कारण, नहीं तो अस्सी पर आधी धार से आगे तो रोज ही मैं पहुँच जाता था।

गर्मियों में रघुवंश, वाल्मीकीय रामायण तथा दूसरे सरल काव्यग्रंथ बहुत मन लगाकर पढ़े, इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत भाषा का पढ़ना अब मुझे अँधेरी कोठरी में टटोलना सा नहीं था। एक दिन कुएँ पर वाले बाबा ने सत्यनारायण की कथा मुझसे करवाई–इस कथा का वहाँ के समाज में उतना मान न था–मैं साथ-साथ अर्थ कहता गया, लोगों ने बड़ी तारीफ की। साथी विद्यार्थी मंडली को तारीफ करना ही था, क्योंकि खेल का खेल और मुफ्त का प्रसाद।

आषाढ़ आ जाने पर फिर विद्यार्थी लोग जुटने लगे। मुखराम पंडित भी आ गये। उनकी राय हुई, कलकत्ता की व्याकरण प्रथमा परीक्षा दे देने की, मैंने भी स्वीकार किया। उनको अन्नवृत्ति मोतीराम-बगीचे के उसी प्रसिद्ध अन्नछत्र से मिलती थी। छत्र के निरीक्षक एक दिन नये छात्रों की भरती के लिए आये थे। बहुत से छात्र उम्मीदवार थे, मैं भी गया; अक्षर देखा, कुछ प्रश्न पूछे, इसके बाद मेरा नाम वृत्ति पानेवालों में दर्ज कर लिया गया। चक्रपाणि ब्रह्मचारी और निमन्त्रणों की कृपा से मुझे उसकी उतनी जरूरत भी न थी, किन्तु घर आई लक्ष्मी को कौन लौटावे ?

बनारस में रहते वक्त मैंने बरेली में मिले स्वामी पूर्णानन्द को भी ढूँढ निकाला। दत्तात्रेय-पादुका का मिलना मुश्किल न था, किन्तु पूर्णानन्दजी उस वक्त वहाँ न थे। उनके गुरु को देखा। बड़ी-बड़ी जटाएँ, नंगे मादरजाद धुनी के पास बैठे गाँजे-सुल्फे की चिलम पर चिलम उड़ाये जा रहे थे। उनके चारों ओर 'जी महाराजियों' की पलटन बैठी हुई थी। एक दिन कह रहे थे–"आज गया था विश्वनाथ का दर्शन करने। पंडे ने कहा–'बाबा कुछ चढ़ाते नहीं।' इन्द्रिय में से निकालकर एक दुअन्नी गिरा दी। पंडा लाल-पीली आँखे करने लगा। मैंने कहा–'अबे आँख के अन्धे, यही है विश्वनाथ'। दूसरे पंडे ने उसे डाँटा–'चीन्हते नहीं किस महापुरुष से बात करते हो ?'"

मंडली बोल उठी–"दयालु ! सबको आँख थोड़े ही मिलती है।"

वर्षा शुरू होने से पूर्व ही स्वामी पूर्णानन्दजी आ गये। उनके गुरु के प्रति तो मेरी श्रद्धा नहीं जगी थी, किन्तु कुछ नेपाल के जन्म होने तथा कुछ उनकी शान्त प्रकृति के कारण पूर्णानन्दजी में मुझसे ज्यादा रब्त जब्त रहा; उसमें सहायक हो गया था मेरा मन्त्र-तन्त्र की ओर नया उत्पन्न हुआ आकर्षण। मुझे लोगों ने बतलाया था, कि नेपाल की तरफ अच्छे-अच्छे मन्त्रवेत्ता रहते है। मैं पूर्णानन्दजी के पास उसी मन्त्र-तन्त्र की खोज में बार-बार जाता। वह भी धीरे-धीरे मेरी श्रद्धा को उस ओर अधिक बढ़ाते ही जाते थे। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' के अनुसार क्रमश लिखित, मुद्रित तन्त्रों और पटलों की काफी संख्या मुझे मिली। खैर, और जो हुआ सो तो कहने ही जा रहा हूँ, इन तन्त्रों में मन के एकान्त-रत होने से संस्कृत भाषा का ज्ञान स्वयं बढ़ता जा रहा था–यह तो नकद लाभ था। एक पुस्तक से रसायन–तांबे का सोना बनाना–की अच्छी विधि देखकर मैंने उसका प्रयोग करना चाहा। हड़ताल, सोना-मक्खी और क्या-क्या चीजे बंगाली टोला की किसी दूकान से खरीदीं। बनारस से बछवल को अधिक एकान्त और अनुकूल समझा–और वहाँ मेरे अनुमोदक, समर्थक योगेश भी थे, जो हर बात पर 'हाँ, भैया ठीक तो है' कहने के लिए तैयार थे। मन-सवा–मन कंडे में रसायन को फूँका गया, लेकिन तांबे का सोना कहाँ बननेवाला था। लेकिन 'एक ताव की कसर' पर श्रद्धा टूट थोड़े ही सकती थी।

बनारस लौटने पर फिर पढ़ाई के साथ-साथ वह खब्त जारी रहा। स्वामी पूर्णानन्द ने 'अनंगरंग' नामक एक गोर्खा (नेपाली) भाषा की हस्तलिखित पुस्तक दी, थी तो कामशास्त्र की पुस्तक (लोदी शासनकाल में संस्कृत भाषा में लिखे ग्रंथ का अनुवाद) किन्तु उसमें जड़ी बूटियां भी कितनी ही दी हुई थीं। मैंने उतारते वक्त गोर्खा भाषा में न लिख, हिन्दी में लिख डाला, यह मेरा अनुवाद का पहिला प्रयत्न था। उस पुस्तक में उल्लिखित सुगन्धित तेल को मैंने तिल के तेल में अपेक्षित सामग्री डाल बोतल में बन्द कर धूप में कई दिनों तक रखकर बनाया, मगर कुछ भी सफलता न हुई, यह तो नहीं कह सकता; किन्तु, इतना जरूर था, कि उसमें अधिक अच्छा तेल बाजार

ही दाम में बाजार से मिल सकता था।

मन्त्र-तन्त्र के फिराक मे हैं, यही नही बल्कि खुद उसके विशेषज्ञ हैं, इस तरह की मेरी ख्याति धीरे-धीरे हमारी परिमित विद्यार्थी-मडली मे बढी। एक बडे ज्योतिषी के यहाँ उनका स्वदेशी विद्यार्थी रहता था, उसको मेरी मन्त्रशक्ति को अनुभव करने का अवसर मिला। बेचारे ने दक्षिणा के एक-एक-दो-दो पैसे जमा करके भागवत की पोथी खरीदी थी। अभी दो-तीन दिन भी चौक से लाये नही हुए थे, कि किसी ने उसे झटक लिया। बहुत चिन्तातुर मेरे पास आकर गिडगिडाने लगा। मैंने बडी गम्भीर मुखमुद्रा के साथ कहा–'घबराने की क्या बात है। पुस्तक हजम हो जायेगी, यह हो नही सकता। आप जाइए, लोलार्क कुड पर की देवी के चबूतरे की एक ईंट उलट दीजिए, और इस मन्त्र का सवा लाख जप कीजिए। लेकिन पहिले पास-पडोस के रहने वालो को जतला दीजिए, कि आप भयकर पुरश्चरण करने जा रहे है। देवी की ईंट को उलटना और इस अमोघ मन्त्र का जाप ठट्ठा नही है। यदि नौसिखिये चोर को अकल होगी तो सँभल जायेगा। हाँ, आप अपनी कोठरी मे ताला बिना लगाये, कभी-कभी बाहर-भीतर चले जाइएगा।'

विद्यार्थी ने मेरे कहे अनुसार किया। शाम को बडे प्रसन्न बदन दौडा हुआ मेरे पास आया, और टोकर टोकरे धन्यवाद देने लगा–'आपकी कृपा से, बस आपकी कृपा से, नही तो पुस्तक मिलनेवाली न थी। मैं कोठरी मे बिना ताला लगाये बाहर गया था, शाम को लौटकर देखा पुस्तक किवाड के भीतर रखी पडी है। मैंने जप भी शुरू नही कर पाया था। ईंट उलटने ने ही गजब ढा दिया। अब नाम लेने से क्या मतलब? जिसने पुस्तक हजम करनी चाही थी, उसका भी पता लग गया। दन्नू का दो ही दस्त तो आये, और फिर मेरी पोथी ला कान में रखता। मैं आपका सदा कृतज्ञ रहूँगा। मन्त्रबल इसे कहते है।'

उक्त विद्यार्थी का पढने-लिखने से बहुत कम ही सरोकार रहता था। छत्रों और निमन्त्रणो मे भोजन करना और फिर इधर-उधर मुसाहिबी करना तथा गप्प मारना। ऐसे आदमी द्वारा मेरा नाम दूर तक–उच्च मध्यम हल्के मे नही निम्न मे ही सही–फैलने की सम्भावना थी, जिससे मै सबसे डरता था। मैंने उसे बहुत समझाया और कुछ धमकाया भी, तब वह अपनी जबान पर कुछ सयम कर सका। एक दिन वह बडी नम्रता से मुझसे कह रहा था–'मै आपके मन्त्र की बात किसी से नही कहता।' हमारे ज्योतिषीजी–जानते ही है, वह मेरे ऊपर कितनी कृपा रखते हैं।'' उनकी बहिन बेचारी निस्सन्तान है। बहुत से अनुष्ठान हुए, दवा दारू भी की गई, किन्तु उनका बन्ध्या दोष गया नही। पति पत्नी सिर्फ दो व्यक्ति हैं। उनकी बडी लालसा है, कि आप कुछ उनके लिए अनुष्ठान बतलाते।'

"तो आपने उनके पास तक बात पहुचा ही दी?"

"आप नाराज मत हो, मैंने अपने ओठो को सी दिया है, किसी से जिक्र तक नही करता, किन्तु ज्योतिषीजी के परिवार का और मेरा सम्बन्ध आप जानते हैं। और फिर आपके समझाने से पहिले जो बात मुँह से निकल चुकी थी, उसे कैसे वापस करता?"

मेरे दोस्त का तकाजा बढता ही गया–वह आपसे खुद बात करना चाहती है, अनुष्ठान मे जो खर्च लगे उसे देने के लिए तैयार है। मैंने तन्त्र की पुस्तकों मे बन्ध्या के पुत्रयोग के कितने ही प्रयोग देखे थे, किन्तु मैं यह व्यवसाय नही करना चाहता था। सकोच तो उस वक्त हजार गुना ज्यादा था, यद्यपि मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग कहाँ तक खीचकर ले जा सकता है, इसका भी मुझे पता न था। एक दिन विद्यार्थी ने रोनी सूरत बनाकर कहना शुरू किया–"उस घर में मेरा विश्वास चला जाने को है। आप एक बार चलकर, चाहे असाध्य ही क्यों न कह आये, किन्तु चले जरूर। नही तो मुझे झूठा बनाया जा रहा है।' "

पोथी मे वन्ध्योपचार पढ लेने मे समस्या का सामुख्य थोडे ही किया जा सकता है। मैं गया। उमर ने चाहे जो भी खिलाफ फैसला दिया हो, किन्तु मैंने अपने को नौसिखिया साबित नही किया। मैंने इतना ही कहा,–उपचार मैंने पढे हैं, किन्तु किसी गुरु की देख-रेख मे मैंने उनका प्रयोग नही किया है, और मन्त्र विद्या में बिना गुरु के निरीक्षण मे कुछ करना खतरनाक है।'

मेरी साफगोई का स्त्री पर अच्छा असर पडा, मेरी जान भी बच गई।

स्वामी पूर्णानन्द के पास जब-तब जाना मेरा अब भी हो रहा था। मन्त्र-तन्त्र के ग्रन्थो के पढने से उनकी

'गुरुभाई' अवधूतानी पर मुझे सिद्धायोगिनी का सन्देह हो रहा था, किन्तु अवधूतानी कुछ ही दिन रहकर नेपाल चली गई थीं। यजुर्वेद पढ़ते देख, स्वामी पूर्णानन्द ने मुझे नेपाली कागज पर लिखी एक अपूर्ण यजुर्वेदसंहिता प्रदान की, जिसे कुछ वर्षों पीछे मैं न सुरक्षित समझ लालचन्द पुस्तकालय (डी. ए. वी. कालेज, लाहौर) को भेंट कर दिया। मन्त्र-तन्त्र पर श्रम और श्रद्धा पराकाष्ठा को पहुँच रही थी, कोई विशाल प्रयोग करना अब मेरे लिए अनिवार्य हो गया था। मैंने पूर्णानन्दजी से–यह कह दूँ, पूर्णानन्दजी ने कभी मुझसे गुरुवत् मनवाने की आशा न रखी, और न मैंने वैसा किया–किसी मन्त्र या देवता की सिद्धि के लिए प्रयोग बतलाने का आग्रह शुरू किया। क्वार का नवरात्र जितना ही नजदीक आता गया, उतना ही मेरा आग्रह बढ़ता गया, और उन्हे मेरी प्रार्थना मंजूर करनी पड़ी।

नवरात्र में पंडित मुखरामजी घर जानेवाले थे, इसलिए मन्त्र सिद्धि के लिए सबसे उपयुक्त स्थान उनकी कोठरी थी। छोटे गूदर में वही एक कोठे पर की कोठरी थी, और थी एक कोने (पूर्व-उत्तर) में। मन्दिर, रसोईघर तथा साधुओं के रहने के स्थान पच्छिम तरफ मे थे, जो वहाँ से काफी दूर पड़ते थे। हमारी कोठरी के नीचे रहनेवाले विद्यार्थी भी घर चले गये थे। थी वहाँ वह दुहरी कमरवाली दुबली-पतली अस्सी बरस की बुढ़िया, जिसे चिढ़ाने में विद्यार्थियों को बहुत मजा आता था, और वह भी आपे से बिना बाहर हुए चुन-चुनकर गालियाँ सुनाती–"गुलाम का बेटा…" बुढ़िया माई अच्छी बात भी लड़कों के मुँह से सुनने को तैयार न होती, सिवाय उस समय के जब कि नारियल पर चिलम रखकर धूम्रपान सेवन करती। तीसों बरस हो गये थे बुढ़िया को इसी मठ में रहते। बूढ़े महन्त वंशीदास ने उसे तरुणी विधवा के तौर पर मुजफ्फरपुर जिले से लाकर आश्रय दिया था। वंशीदास अभी भी जीवित थे, किन्तु बुढ़ापे के कारण अब वह आँख-कान के साथ मठ की अध्यक्षता को भी खो चुके थे। बुढ़िया उन्हे भी पचास गालियाँ देती, किन्तु वहाँ सुननेवाला कौन था। खाना-पानी देने में अब भी वह वंशीदास की सहायता करती।

हमारी मन्त्र-साधनावाली कोठरी के ठीक नीचे ही बुढ़िया रहती थी, किन्तु उससे बाधा का डर न था। स्वामी पूर्णानन्द के अतिरिक्त चक्रपाणि ब्रह्मचारी ही दूसरे व्यक्ति थे, जो मेरी मन्त्रसिद्धि की बात जानते थे। उनके जिम्मे एक बार सिर्फ रात को कृष्णा का आध सेर गर्म दूध ला देना था जिसे वह सेर भर में जलाकर छटाँक घी के योग के साथ लाते थे।

पडित मुखरामजी की पुस्तकें यत्न से एक तरफ रख दी गईं, उनका सामान ज्यादा नहीं थी। और सामान नीचे कोठरी में रख आये। उस स्वच्छ कोठरी मे सिर्फ मेरा आसन था। बीच में पक्के फर्श पर जमीन से उभड़ा गंगा की चिकनी मिट्टी मे मैने सुन्दर षट्कोण बनाया, जिसके केन्द्र में 'ॐ' और छओं कोनो पर 'श्रीं ह्रीं क्लीं फट् स्वा हा' मिट्टी के उभड़े हुए सुन्दर अक्षरों में रचकर लिखा। सवेरे के वक्त अँधेरा रहते ही मैं गंगा-स्नान कर आता, और बगल की फुलवाड़ी से थोड़ा फूल लेकर धूपदीप के साथ 'चक्र' की पूजा करता, और फिर पूर्णानन्द के बतलाये 'श्रीं ह्रीं क्लीं' मन्त्र का रुद्राक्ष माला पर जप करने लगता। उन्होंने बतलाया था कि पूरे नियम के साथ 9 लाख जप करने पर दुर्गा सिंहवाहिनी का साक्षात दर्शन होगा, वह 'वरब्रूहि' कहेगी, फिर धन, बल, बुद्धि, विद्या जो माँगना हो माँग लेना। मैंने पहिले अल्पश्रम साध्य यक्षिणी या किसी दूसरे छोटे-मोटे देवता–हनुमान आदि की सिद्धि करनी चाही थी, किन्तु पूर्णानन्द की राय हुई–कुछ श्रम भले ही अधिक करना पड़े, किन्तु आद्याशक्ति की सिद्धि अर्थ-धर्म-काम मोक्ष चारों फलों की साधक होगी।

दिन-भर पच्छिम, दक्खिन के दोनों दर्वाजे बन्द रहते और मैं अपने जप में तन्मय रहता। शायद वृद्ध विद्यार्थी पडित रामकुमार दास पूजा के बारे मे जानते हो, किन्तु उन्होंने कभी बातचीत करनी नहीं चाही। रात के कुछ घंटे सोने के सिवाय बाकी समय जप और पूजा मे बीतता। शाम के वक्त ब्रह्मचारी दूध देने आते, उनके सिवाय किसी आदमी का दर्शन नहीं, बात तो उनसे भी एक या दो शब्द तक परिमित थी। पाँच-छै दिन तक तो कोई बात ही नहीं, सातवाँ दिन भी बीता, सिंहवाहिनी के वाहन की घंटा का भी कहीं पता न था। रात को छत पर नजर गड़ाये जब लेटता, तो लोहे की कड़ियो पर पड़ी पत्थर की पटियों के खुरदरापन के कारण उठ आई रेखाएँ, टिमटिमाते घी के चिराग की रोशनी में कुछ ज्यादा स्पष्ट होने लगतीं। जहाँ तहाँ उनमे कुछ चेहरों का आकार

निकलता दिखलाई पड़ता, किन्तु रेखाओ का खयाल आते ही वे चेहरे विलीन हो जाते। आठवाँ अहोरात्र भी बीत गया, इस दिन के सूर्यास्त से दिल धड़कने लगा। आज पूजा के लिए विशेष सामग्री जमा की गई थी, जिसमे और चीजो के अतिरिक्त कितने ही धतूर के पक्के फल भी थे। मैने भक्तिभाव से गद्गद् हो स्तुतिपुरस्सर जगदम्बा की पूजा की। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' को बडे भावावेश के साथ कई बार दुहराया। जप के शेष भाग को भी समाप्त किया। चित्त भगवती के गुणों के चिन्तन, कान उनकी नूपुरध्वनि के श्रवण, और नेत्र दिशाओ को जब-तब निहारने में लग्न थे। धीरे-धीरे दिन बीत चला। शाम हुई। अँधेरा होते ब्रह्मचारी दूध दे गये मैं उनसे एक शब्द भी नही बोला। उनके चले जाने के बाद मेरे मन मे प्रतिक्रिया शुरू हुई। मैंने सारी विधियो का पूर्णरूपेण पालन किया। किसी सामग्री मे कमी नही रही। मन्त्र का उच्चारण बिल्कुल शुद्ध शुद्ध किया। मन्त्र का प्रभाव तो अमोघ है, फिर क्या कारण है, जो जगदम्बा ने दर्शन नही दिया ? बहुत 'सोचन विचारने' के बाद मैं इसी निर्णय पर पहुँचा, कि इस असफलता मे मेरा अभागा जीवन ही कारण है और तै किया कि इस जीवन के रखने से लाभ नही ? उसी वक्त मैंने दो चिट्ठियाँ लिखी। एक मे लिखा कि मेरी लाश का मणिकर्णिका पर फूक दिया जावे दूसरे मे पिताजी को अभागे पुत्र के लिए शोक न करने की प्रार्थना की गई थी। दोनो चिट्ठियों को शायद धोती के खूँट से या जनेऊ में बाँधा था। मैने पूजा मे चढाये धतूर के फलो मे से दो के सारे बीजो को मिश्री के साथ कूटा, और इस अर्धअवलेह को पानी के सहारे निगल गया। इसके बाद बिछौने को कोठरी से बाहर पच्छिम की छत पर बिछाकर पड रहा।

उसके बाद की अवस्था के बारे मे सहवासी कह रहे थे—उनमे से एक, शायद प. रामकुमार दास, ऊपर पेशाब करने आये, तो उन्होने मुझे छत पर लोटते देखा। दूसरो की सहायता से वे मुझे नीचे ले गये। मै कुछ समय तक बोलता-चालता न था, पीछे विक्षिप्त-सी बाते कर रहा था। मुझे याद है, धतूरे के खाने के बाद के आई थी, और पेट के भीतर का बहुत-सा अंश निकल गया था। दूसरी बात खयाल पड़ती है—खूब दिन निकल आया था मुझे कई आदमी जोर से पकडकर रखे हुए थे, मैं उनसे आदमी के तौर पर पेश आने के लिए विनती कर रहा था।

उसी दिन अचानक योगेश आ गये। उस अवस्था मे भी योगेश को देखकर मै बड़ा शान्त करने लगा। मैने कहा, मुझे तालाब पर ले चलो, मैं खूब मुँह तथा शिर धोना चाहता हूँ। योगेश मुझे पकडकर सामने के पुष्कर पर ले गये। मैं उसमे कूद पड़ा। देखनेवाले घबराये, योगेश वैसे ही कपड़ा पहने कूद पड़े, और उन्होने जाकर मुझे पकड़ा। मैं वस्तुतः गर्मी से व्याकुल था, इसीलिए कूदा था। बाहर निकाला गया।

दूसरे दिन शाम तक मैं होश मे आ गया या तीसरे दिन, इसका मुझे कुछ पता नही। वहाँ से मुझे मानागम के बगीचे में लाया गया। अब मैं बहुत कुछ प्रकृतिस्थ था। कभी उकताया हुआ सा था किन्तु अकल की बात करता था। साथियों से कहा—मैंने बहुत धतूरा खा डाला है। पेट में ज्वाला फूक रहा है। जल तम्बाकू, कागला पीसकर पिलाओ, जिसमे पेट साफ हो जावे। शायद लोगो ने दिया भी, किन्तु पेट मे अब तक कोई चीज रखा हुई थोडे ही थी। इस सारी हालत मे न कोई डाक्टर बुलाया गया न वैद्य, भूत प्रेत झाड़नेवाला आया हो तो उसकी खबर नही।

रात को बाग के बीचवाले चबूतरे से चाँदनी रात मे नीबुओ की ओर देखता। उनकी डालियाँ धीरे-धीरे बढने लगती, और अन्त मे हथियारबन्द हजार पैदल तथा घुड़सवार पल्टनो की पंक्ति मे परिणत हो जाती। वह मार्च करते मेरी तरफ आती, जब पाँच-सात कदम रह जाता और मैं हटने के तरद्दुद मे पड जाता, तो वह फिर पीछे हटकर छोटी-छोटी पत्तियाँ बन जाती।

इस प्रकार प्राणों की बाजी लगाकर मैंने मंत्र-साधना की।

6

बनारस में पढ़ाई (2)

और तरह से अच्छा हो जाने पर भी पुस्तकों के अक्षर मुझे पुती हुई हल्की स्याही जैसे मालूम होते थे। यागेश के साथ मैं घर चला गया। हफ्तों बाद भी आँखों की रोशनी की वही हालत रही। इसी बीच कलकत्ता का परीक्षा-पत्र भरने का समय भी बीत गया। अक्षर जब फिर पढ़ने लगा, तो मैं फिर बनारस (अक्तूबर में) चला आया।

अब मुझमें कुछ परिवर्तन था। यह तो नहीं कह सकता, कि मन्त्र तन्त्र, देवी-देवता पर से मेरा विश्वास उठ गया। उसकी सम्भावना कहाँ थी, जबकि मेरे आसपास के विद्वान् मूर्ख सब उस विश्वास को बढ़ाने में सहायक थे। हाँ, अब फिर वैसे तजर्बों के लिए मैं तैयार न था। धार्मिक वायुमंडल में उड़ने के साथ ठोस पृथिवी पर भी पैर रखना चाहिए, इधर भी मेरा ख्याल गया। साधुओं और त्यागियों के समाज में भी अंग्रेजी जाननेवाले की कदर होते देख, मैंने तै किया, कुछ समय उसके लिए देने को। आनन्दबाग में एक तरुण ब्रह्मचारी रहते थे, जिनके बारे में हमारे चक्रपाणि ब्रह्मचारी का कहना था, वह सब पास कर गये हैं, 'विलायत तक की विद्या'। मैं एक दिन गया, तो देखा भास्करानन्द की समाधि से पूरबवाले मकान में सीढ़ियों के सिर पर लिखा था, 'कृपया आने का कष्ट न उठाइए।' मैं वहीं से लौट आया। लेकिन ब्रह्मचारी चक्रपाणि किसी तरह उनके पास पहुँच गये। इतना ही नहीं उन्होंने उनसे धोखा ले लिया, कि वे मुझे अंग्रेजी पढ़ायेंगे। अपनी जगह बुलाकर पढ़ाने की जगह उन्होंने शाम को टहलने के लिए निकलने पर मेरे वासस्थान—उस वक्त मैं स्वामी अनन्ताश्रम के लिमड़ी छत्र में रहता था—में आकर पढ़ाना स्वीकार किया। मैं कई महीने उनसे पढ़ता रहा, जिसमें छठी क्लास तक पढ़े जानेवाले सभी रीडर समाप्त कर डाले।

तन्त्र-मन्त्र और पूजा पाठ के अभाव में समय की भी काफी बचत थी। उस समय को संस्कृत और अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी पुस्तकों और समाचार पत्रों के पढ़ने में भी लगाना शुरू किया। अखबारों का शौक 'विदेशयात्रा' वाले मुकदमे से बनारस में फैली सनसनी के कारण हुआ था। बाबू श्रीप्रकाश विलायत से लौटकर आये थे, उनकी अग्रवाल बिरादरी ने उनको जातिच्युत किया था, इसलिए जाति के पंचों पर मानहानि का मुकदमा दायर हुआ था। पंचों की तरफ से पं. शिवकुमार शास्त्री जैसे धुरंधर पंडित समुद्र यात्रा के विरुद्ध साक्षी पेश किये जाते थे। मुकदमे की कार्रवाई अखबारों में छपती थी। कचौड़ी गली में अन्नपूर्णा की ओरवाले द्वार के पास एक अखबार के पन्ने टँगे रहते थे, जिसे मेरे जैसे बिना पैसा-कौड़ी के अखबार पढ़ने के शौकीन पढ़ा करते थे। बढ़ते-बढ़ते यह शौक चौक जाते वक्त कारमाइकल लाइब्रेरी तथा गेवा कोठी के एक तरुण विद्यार्थी तक ले जाने लगा। दुर्गाकुंड पर भी पुस्तकों और हिन्दी अखबारों का अड्डा निकल आया। वहाँ ही पहिले पहिल 'सरस्वती' का पारायण मैंने शुरू किया था। उस वक्त खन्ना के अमेरिका भ्रमण पर लेख निकल रहे थे। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के एक-दो व्याख्यान (गिने चुने तरुणों के सामने गोदौलिया के पास एक कोठे पर, अपने निवासस्थान पर दिये गये) भी सुनने को मिले।

इसी समय फुसलाकर टापू में भेज देनेवाले अरकाटियों से सावधान रहने तथा टापू के कष्ट के सम्बन्ध में छपे उनके हैंडबिल पढ़ने को मिले। इस सम्बन्ध के, मालूम होता है, कई लेख पढ़ने को मिले तभी तो मैं किसी अरकाटी से भिड़न्त करने के लिए डोलता फिरता था। एक दिन मैं दशाश्वमेध से सिकरौल जानेवाली सड़क पर कहीं जा रहा था। एक आदमी ने आकर मुझसे पूछा—"नौकरी करना चाहते हो ?"

"क्या नौकरी ?"

शायद मेरे शिर पर चन्दन था, अथवा विद्यार्थी के वेष से वह समझ गया, कि मैं ब्राह्मण हूँ। बोला—"बाबू की रसोई बनानी है ?"

"कितना रुपया मासिक मिलेगा ?" मैंने मनोरंजन के लिए, किन्तु संजीदगी के साथ पूछा।

"बीस रुपया महीना, किन्तु बनारस से बाहर कुछ दूर जाना पड़ेगा।"

अब मुझे निश्चय हो गया, कि वह अरकाटी है। मैंने और इतमीनान से कहा—"भाई, तुम्हारी बड़ी नेकी मानूँगा, नौकरी की तो तलाश में मैं पाँच दिन से मारा-मारा फिर रहा हूँ।"

फिर वह नौकरी, और उसके आराम तथा कमाई के सम्बन्ध में बातें करते इंग्लिशिया लाईन में मुझे वहाँ ले गया, जहाँ मेहतरों के झोंपड़ों के सामने आज जौहरी का बँगला है। उस वक्त ईंटों की चहारदीवारी से घिरा एक बाग था, जिसके दक्खिन में पक्की सड़क की ओर कुछ पक्के साधारण से घर थे। भीतर जाने पर मैंने देखा, वहाँ दर्जनों दीहाती बैठे हुए हैं, जिनमें एक मेरी उमर का लड़का भी था। मैंने उससे पूछा—"कहाँ घर है ?" जवाब मिला—"आजमगढ जिला में देवकली।" देवकली ! मेरे गाँव से बहुत नजदीक है। फिर पूछा—"यहाँ कैसे बैठे हो ?" "नौकरी के लिए। बाबू अच्छी नौकरी दिलवा रहे हैं।"

मैं नौसिखिया था, अपने को रोक न सका, और उत्तेजित हो मैंने लड़के से कहना शुरू किया—

"बाबू अच्छी नौकरी दिलवा रहे हैं ! वह तुम्हें दस रुपये पर बेंच रहे हैं, बेच। हाँ, मिरिच, डमरा टापू समुन्दर पार भिजवा रहे हैं, जहाँ न धरम···।"

मेरा स्वर कुछ ऊँचा था, साथ ही लड़का भयभीत होकर जिस तरह मेरे पास आकर मेरी बातें सुनने लगा, और आसपास के दो-एक और आदमी आने लगे, उसे देख मेरे अरकाटी का ध्यान मेरी ओर हुआ; और मेरे मुँह से निकलती बातों को सुनते ही आगबगूला हो मेरी ओर लपका। मैं चार छलाँग मे बाग के बाहर हो गया। सौभाग्य से दर्वाजा उस वक्त खुला था। उसने ताबड़तोड़ कई ढेले चलाये, किन्तु मै बेतहाशा भागता वहाँ से बँच निकला। अरकाटी, अधिकतर शहर के गुंडों में से होते थे, इसलिए मारपीट करना उनके बायें हाथ का खेल था। यदि मै पकड़ा गया होता, तो खूब मरम्मत हुई होती।

खतरे के क्षेत्र से बाहर आ जाने पर मुझे अब फिक्र पडी, कैसे उस लडके का उद्धार किया जावे। उस वक्त राजनीति की हवा तक भी मुझसे छू नही गई थी। मैं अरकाटियो के धोखे और टापू मे होते अत्याचारों को पढकर समझ रहा था, अरकाटी से उस लडके के बचाने का मतलब है, कमाई मे एक गाय को बचा लेना। मैंने सोचा सेन्ट्रल हिन्दू कालेज मे आजमगढ़ जिले के रामजीलाल (बछवल) तथा दूधनाथ पांडे पढते हैं; यदि उनसे कहूँ, तो शायद अब भी लड़के को बचाया जा सके। ये तथा दूसरे नौजवानों और शायद आरा के देवेन्द्रकुमार जैन (जो कालेज के होस्टल मे रहते थे) के पास भी मैं पहुँचा। अपने आवेग का कुछ अश उनके भीतर भी प्रविष्ट कराने में मैं सफल हुआ, और मुझे तथा शायद रामजीलाल को बगीचे की ओर भेज उनमे से कुछ एनीबेसेंट से मदद लेने के लिए बहुत आशा के साथ गये। हम तीनों फिर उसी बगिया के पास सडक पर आये। हममे से एक सूचना देने तथा दूसरे साथियों को लाने लौट गया और दो आदमी—मैं और शायद रामजीलाल—पहरा देने के लिए रह गये; जिसमें कि लड़के को दूसरी जगह भगाया न जा सके। हम लोग बडी सड़क पर टहलते थे। शाम होने लगी, तो दो-तीन अरकाटियो ने छत पर से ईंटे चलानी शुरू कीं। अब और अधिक वहाँ रहना बेसूद था, क्योंकि हिन्दू कालेज से भी कोई खोज-खबर लेने नहीं आया। जब हम वर्तमान भारत माता भवन—जो उस वक्त अस्तित्व मे नहीं आया था—के आगेवाले घर, जो बहुत दिनों तक काशी विद्यापीठ के विद्यालय-विभाग का छात्रावास रहा, और उस वक्त वहाँ कितने ही कालेज के विद्यार्थी रहते थे—सामने से गुजरे, तो हमारे साथी का खयाल हुआ, यहाँ से कुछ विद्यार्थियों को लेकर हाकी की कुबडी के बल पर मारकर लड़के को छीन लावे, किन्तु उस वक्त का भारत आज का भारत नहीं था। कालेज जाने पर पता लगा—बेसट साहिबा ने मदद देने की जगह शान्त रहने का एक संक्षिप्त लेक्चर झाड़कर अपना कर्त्तव्य पालन कर लिया।

मेरे सार्वजनिक कार्य का आरंभ पहिले-पहिल इस वक्त (नवबर 1911 ई) हुआ, यद्यपि उस वक्त उसके पीछे ज्ञान और निरन्तर कार्यशीलता का अभाव था।

दिसम्बर में बादशाह जार्ज की दिल्ली में राजगद्दी हुई। बनारस मे भी उस दिन बड़ी तैयारी थी। क्वीन्स कालेज के सामने से पल्टन और रामनगर राज्य—जो अभी तक जमींदारी थी—के मशक बाजा बजानेवाले सिपाहियो का जुलूस बहुत सजधज के चल रहा था। राजा मुंशी माधवलाल की कोठी खूब सजाई गई थी। शहर मे और जगह भी तैयारी थी। अस्सी मुहल्ले में उतनी चहल-पहल न थी, इसका कारण शहर से अलग-अलग रहना भी

हो सकता है। वस्तुतः हिन्दू विश्वविद्यालय के बनने के पहिले अस्सी शहर का बाहरी छोर मालूम होता था। हम लोगों के लिए यह जुलूस और बाजा-गाजा एक बड़ा तमाशा था। उस समय अंग्रेजो के प्रति राजनीतिक वैमनस्य का कोई भाव उस समाज मे नही देखा जाता था, जिसमें कि मैं घूमता था। हाँ, अंग्रेज विधर्मी, म्लेच्छ हैं, इस भाव से कोई मुक्त नहीं था।

1912 का नया वर्ष शुरू आया, उसके साथ साथ मेरे ज्ञान और दृष्टि का विकास भी होता जा रहा था। लघुकौमुदी के बाद मैंने सिद्धान्तकौमुदी शुरू की थी। कई सरल नाटक और काव्य—कुछ किसी के साथ और कुछ खुद समाप्त किये थे। अंग्रेजी ब्रह्मचारी पढ़ा रहे थे, ओर हिन्दी का अपने ही स स्वाध्याय चल रहा था। इस समय के मेरे पढानेवालों में पंडित मुखराम पांडे के अतिरिक्त पंडित शिवमंगल दूबे, पण्डित चाननराम, एक काव्यतीर्थ वैरागी (जो अस्सी पर पंडित अनन्तराम के मकान के पीछे रहते थे), गुजराती ब्रह्मचारी तथा एक दो और सज्जन थे। मित्रों में थे, बनमाली के अतिरिक्त गर्वा कोठी में रहनेवाले पुरोहितपुत्र गिरिशंकरजी (?) और छोटे गूदरवाली सड़क पर रहनेवाले कविजी के ज्येष्ठ पुत्र (?) जो अच्छे विद्वान् होकर जवानी ही में मर गये। पंडित शिवमंगलजी नगवा मे पढते थे, और खुद स्याद्वाद विद्यालय में पढाने जाते थे। एक दिन मैं भी उनके साथ स्याद्वादविद्यालय गया। पंडितजी पढा रहे थे, मैं टहलता हुआ आँगन में, और फिर पट खुला देख मन्दिर में गया। पुजारी दौड़ा हुआ आया—"आपको मन्दिर में नही आना चाहिए, यह जैनमन्दिर है ?"

"क्यो ?"

"जैनमूर्त्ति के दर्शन करने से पाप लगता है।"

"तो तुम पूजा क्यो करते हो ?"

"हम तो पेट के लिए··· ।"

यह भी मेरे लिए एक नया अनुभव था। इस अनुभव के बाद सुना—"नवदेद् यावनी भाषा न गच्छेद् जैनमन्दिरम् ।"

गर्मियो में अब की भी मै बनारस से बाहर नही गया। उसी वक्त अस्सी पर एक और नई मूर्त्ति पधारी, जिसने पक्की बावड़ी के दक्खिनवाले घर में डेरा डाला। सारी विद्यार्थी मंडली मे—और पंडित-मंडली में भी समझिए—तहलका मच गया, बड़ा अगाध पंडित, भारी कवि, सूक्ष्मतार्किक भयानक नास्तिक रामावतार शर्मा आया है। वह वेद को नही मानता, वह भगवान् को नहीं मानता, वह पुण्य पाप का नही मानता। सैकडो दूसरे व्यक्तियो की भाँति भी मुझे वह अजूबा-सा आदमी सुन पड़ा। पहिली बार मुझे उनके दर्शन हुए, जगन्नाथ मन्दिर के बाहरवाले फाटक के सामने किन्तु सड़क के दूसरे किनारे पर। एक धोती पहिने हुए थे, एक धोती और शायद अँगोछा भी हाथ मे था। एक कन्धे पर दो-तीन वर्ष की एक लड़की बैठी थी, जिसे सँभालने के लिए दूसरा हाथ उठा हुआ था। पाँच-सात आदमी—जिनमे तरुण विद्यार्थी ही अधिक थे—घेरे हुए थे। व्याकरण या न्याय पर शास्त्रार्थ नही हो रहा था, बल्कि बात हो रही थी किसी पौराणिक गप या ऋषि के असम्भव चमत्कार पर। पंडितजी स्नान के लिए गंगा के रास्ते मे थे। एक दिन मैं उनके बैठके में पहुँचा—बैठका भी दो दर्वाजो की एक सामान्य कोठरी थी, और वह फर्श ही पर बैठे हुए थे। वहाँ, हमारे वह काव्यतीर्थ वैरागी तरुण भी थे। पंडित रामावतारजी का दर्बार सबके लिए उन्मुक्त था, इसलिए हम लोग निस्संकोच पहुँच जाते थे। शायद फेरीवाले से कुछ कल्मी आम खरीदकर अभी-अभी वह घर मे भेज रहे थे—हाँ, सुना कि पंडितजी की दो स्त्रियाँ हैं। वैरागी तरुण से मजाक करते हुए कह रहे थे—"भाई ! सात-सात दिन के उपवास के बाद भी हमे तो इन्द्रियो पर संयम रखना मुश्किल मालूम होता है, और तुम लोगों का आजन्म ब्रह्मचर्य ! असम्भव।"

आगे स्वामी मुद्‌गरानन्द की बात शुरू हो गई। वह छींक देते थे, तो दनादन हाथी निकल आते थे। पुराण की गप्पो की मजाक करते हुए शर्माजी इन कथाओ को कहते थे। उनकी बातो को तीन-चार बार से अधिक सुनने का मुझे मौका नहीं मिला, और उनका मुझ पर सिवाय क्षणिक मनोरंजन के कोई स्थायी प्रभाव हुआ, यह मुझे खयाल नहीं। शायद मैं अभी उसके लिए आरम्भिक तैयारी से वंचित था, अथवा उनकी बाते मुझे विशृंखलित तौर से जब तक थोड़ी देर के लिए सुनने को मिलीं।

मई या जून पहुँचते-पहुँचते मेरा भी स्कूल मे नाम लिखाना तै हो गया। मेरे रीवाँवाले साथी हाल ही मे खुले दयानन्द स्कूल की नवी क्लास मे नाम लिखा चुके थे, मुझे भी उनकी सम्मति हुई, उसी स्कूल मे प्रविष्ट होने की। सस्कृत पढने के लिए तो फीस की जरूरत नही थी, वहाँ तो बल्कि छात्रवृत्ति भी मिल जाया करती थी, किन्तु यहाँ प्रश्न आया फीस का, किताबो के दाम का। मै घर के भरोसे नाम लिखाने जा रहा था, और न कोई दूसरी आमदनी का स्थायी रास्ता था। किसी ने कहा, स्कूल के मैनेजर पडित केशवदेव शास्त्री के नाम कोई सिफारिशी चिट्ठी ले जाओ, तो शायद फीस माफ हो जावे। यह भी पता लगा, कि स्याद्वादविद्यालय के मैनेजर नन्दकिशोरजी पडित केशवदेव के दोस्त है। नन्दकिशोरजी से मेरी भी जब तब की देखा देखी थी, उन्होने चिट्ठी लिखकर दे दी। पडित केशवदेव शास्त्री ने आधी फीस माफ करने के लिए हेडमास्टर को लिखा। इस प्रकार दयानन्द स्कूल मे परीक्षा लेकर सातवे दर्जे मे मेरा नाम लिखा गया। उस वक्त स्कूल किराये के मकान मे गादोलिया गिरिजा से सिकरौल जानेवाली सडक पर थोडा गली मे था। पडित केलकरजी उस वक्त हेडमास्टर थे, और अभी वह हिन्दू कालेज मे एम ए मे पढ रहे थे। मेरे अध्यापको मे एक बगाली थे, जिन्हे दाढी की समानता से हम 'किग जार्ज' कहा करते थे, और एक सीधे साधे बूढे पडितजी सस्कृत के अध्यापक थे। दर्जे मे कुल छै या सात लडके थे, जिनमे एक चन्द्रावती के पास के राजपूत उसे मै हम सबसे बडे थे। सस्कृत मे कुछ पूछना ही नही था, मै कालेज की पढाई के बराबर पढ चुका था। गणित मे बीजगणित नई चीज थी, किन्तु उसमे भी मेरा लोहा गुरुपाठी तुरन्त मान गये। अग्रेजी—खासकर उसका व्याकरण मेरा कमजोर था, और एक दिन परीक्षा लेने के बाद मास्टर ने इसके लिए बहुत ताकीद भी की। हमारे दर्जे मे एक मोटा सा बगाली लडका था, जिसकी तबियत पढने मे बिल्कुल नही लगती थी और वह बराबर गप्पो मे लगा रहता- 'कलकत्ता गया, तो मुगलसराय मे किल्नर के यहाँ यह खाना खाया, वह बोतल उडाई।' एक और साँवले मुशीजी थे, जिनके सुन्दर अक्षरो को देखकर मुझे रश्क आता था। धर्मशिक्षा का घटा मुकर्रर था, और वह रोज नियमित रूप से हुआ करती थी, लेकिन शायद ही एकाध दिन भूल भटककर मैं उधर गया हूँगा। मुझे उनकी बाते बच्चो की बकवास सी मालूम होती थी।

पहिले गिरिजाशकर के साथ मैं नित्य अस्सी से वहाँ पढने जाता, फिर दूर समझकर ख्याल हुआ कहीं नजदीक ही रहने का। इधर योगेश एकाध बार प्रयाग से आये, तो उन्होने भी तै किया, आकर पढने का। गादोलिया गिरिजा से थोडा पूरब गली मे एक सन्यासी का मठ था। सन्यासी बाबा, कनैला से दो मील पूरबवाले गाँव दौलताबाद के ब्राह्मणो के गुरु थे। उनसे कहने पर बडी खुशी से उन्होने हमारे लिए एक अच्छा कोठरा रहने को दे दी, जिसमे एक आलमारी भी थी। हमने अपनी पुस्तक, कपडे लत्ते खूब सजाकर रखे। योगेश की वस्ट एक वाच—शायद बहुत भारी मालूम हो रही थी—इसलिए वह भी उसी मे रखी गई। खाने के लिए एकाध महीने का पैसा तो हम लोगो के पास जरूर रहा होगा, तब तो हम वहाँ नये घर मे बसने जा रहे थे। एक ही दिन उस घर मे रहने पाये, दूसरे दिन देखा तो घडी गायब। कौन ले गया—बिना देखे यह कहना तो मुश्किल था, किन्तु तालेवाला घर का ही कोई आदमी रहा होगा, इसमे तो सन्देह नही। पूछताछ से हाथ से निकली चीज कैसे लौट आ सकती है ? योगेश का मन फीका, मेरा भी उदास। योगेश फिर प्रयाग चले गये, मैं फिर मोतीराम के बाग से स्कूल का रास्ता रोज नापने लगा।

पडित चन्द्रभूषणजी सेट्रल हिन्दू कॉलेज के सस्कृत विभाग (रणवीर पाठशाला) के प्रिंसिपल और बनारस के प्रधान वैयाकरणो मे थे। मेरे अध्यापक पडित मुखरामजी उनके विद्यार्थी थे। उस वक्त भी उनका शब्देन्दु (?) शेखर का कुछ पाठ चल रहा था। एक बार उनके साथ मैं भी पडित चन्द्रभूषणजी के पास चला गया। पुराने पडितो की सादगी का क्या कहना ? उनके लिए विद्यार्थी उनके घर का एक व्यक्ति होता था। पडितजी चारपाई पर बैठे बात कर रहे थे। खयाल आया—गाय के सामने भूस नही है। बोल उठे—'मुखराम ! गाय के सामने भूस नही मालूम होता।' 'डाल आता हूँ गुरूजी !' कहकर पडित मुखरामजी उठना चाहते थे। मैं बोल उठा—'आप बैठे, मैं जा रहा हूँ।' मैं उठ खडा हुआ। भूसागार मे उस सूर्यास्त के समय कुछ और अँधेरा था। पडितजी ने अपनी छोटी लडकी को आवाज दी—'तुषारे ! ओ तुषारे ! अरे बोलती क्यो नही ?' लालटेन दिखला दे, गाय को भूस डालना है।' भूस डालकर मैं गया। उसके पहिले मेरे बारे मे गुरु-शिष्य मे क्या बातचीत हुई थी, सो तो मैं नही

सुन पाया। अब कह रहे थे–

"... लड़का होनहार मालूम होता था। वृत्ति कहीं से मिलती है या नहीं ?"

"नहीं, गुरुजी ! इस वक्त तो नहीं मिलती।"

"भला, वृत्ति बिना पढ़ने-लिखनेवाला विद्यार्थी क्या पढ़ेगा ?... अब की भरती के वक्त ले आओ। वृत्ति का प्रबन्ध करना होगा।"

इन्हीं दिनों मुझे एक सिन्धी नौजवान मिला। उसके बदन पर का कपड़ा फट गया था। राह चलते मुझसे बातचीत हो गई। उसने बतलाया–घर छोड़कर भाग आया हूँ। मैंने उसे अपना कुर्ता दे दिया। मुझे बड़ा प्रसन्नता हुई, जब मैंने दो दिन बाद देखा, उसने आठ आने किराये पर मकान ले पकौड़ियों की दूकान कर ली है, और आर्थिक तौर से स्वतन्त्र है। वह मेरे पहिले व्यवहार का बहुत कृतज्ञ था। उसने आपबीती कहते हुए बतलाया, कि जैसे उसका पिता एक धनी सेठ है। उसने पिता के रुपयों को जवानी की शौकों में बर्बाद किया, और भागकर यहां आया है। उसका अमीरी जीवन से पकौड़ी बेचने तक उतर आना जरूर मुझे साहस का काम मालूम हुआ।

छोटे गूदर में उस वक्त कई सेवकों के साथ कहीं के एक बड़े महन्त ठहरे हुए थे। जहाँ कि महन्तजी ठहरे थे मेरा उधर जाना बहुत कम हुआ करता था। पंडित मुखरामजी की कोठरी अलग अलग थी, और मेरा मतलब उनके ही पास तक था। एक दिन रात के सात बजे पंडित रामकुमारदास के शिष्य मुझे बुलाने आये–'चलिए, आपको गुरुजी बुलाते हैं।' गया, देखा एक स्निग्ध, गोरे, अधेड़ भद्र पुरुष, सफेद विरक्तवेष धारण किये, एक चौकी पर बैठे हुए हैं, उनके आसपास दो चार भाई साधु या बैठे हैं। पंडित रामकुमारदास ने एक कागज मेरी तरफ बढ़ाते हुए कहा–'यह कागज पढ़ तो दीजिए।' मैंने कागज को हाथ में लेकर देखा, वह किसी अदालती फैसले की बाकायदा नकल थी। मेरा मन पहिले तो घबराया–'अभी तीन दिन से मैंने अंग्रेजी शुरू की है, भला अदालत का फैसला मैं कैसे पढ़ सकूँगा।' लेकिन मैंने अपनी घबराहट को बाहर प्रकट होने नहीं दिया। कागज को खोलते हुए कहा–"अदालती कागज के पढ़ने का मेरे लिए यह प्रथम अवसर है, उसकी एक खास भाषा होती है, और मैंने तो अभी हाल में अंग्रेजी शुरू की है।"

फैसले को मैंने एक बार खुद पढ़ा। कुछ अर्थ तो समझ में आया, किन्तु वहां बहुत से शब्द मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखते थे। मैंने भावार्थ को कुछ नमक मिर्च लगाकर सुना दिया। महन्तजी उछल पड़े–"देखा, महन्त रामकिसुनदास ! तुमने, देखा पंडित रामकुमारदास ! समझ, सदर आला ने हमको फैसला लिखा है। बाबू लोग अब सात जनम में भी मठ का कुछ बिगाड़ नहीं सकते।"

"हाँ, ठीक सरकार, आपका अकबाल है"–पास बैठी मण्डली बोल उठी।

मैं दो-चार मिनट वहाँ बैठा रहा, इसके बाद मोतीराम के बाग चला गया।

अगले दिन पंडित रामकुमारदास पंडित मुखरामजी के सामने कह रहे थे–"यह छपरा जिले के एक बहुत प्राचीन और भारी मठ परसा के महन्त हैं। लाखों की सम्पत्ति के स्वामी हैं। एक बड़ा मन्दिर बनवाने जा रहे हैं, उसी के लिए खुद देखकर पत्थर खरीदने आये हैं। केदारनाथजी ने जो फैसला पढ़ा, वह परसा के बाबू लोगों की ओर से महन्तजी के खिलाफ़ दायर किये हुए मुकदमे का था। महन्तजी के एक शिष्य रामउदारदास थे–जो अभी हाल ही में मरे हैं। महन्तजी ने अपने बाद उनको महन्ती लिख दी। बाबू लोग उन्हें नहीं चाहते थे, यही झगड़े की जड़ थी। दीवानी के अलावा फौजदारी के कई मुकदमे चल रहे थे। महन्तजी का पचास हजार रुपया उसमें खर्च हुआ है।..."

मेरा तो हर रोज पंडित मुखरामजी के पास जाने का काम था, और महन्तजी कई दिनों तक वहाँ ठहरे रहे। पंडित रामकुमारदासजी अकेले मिलने पर भी जब तब परसा-मठ की चर्चा चलाने लगे। फिर कहा, महन्तजी के योग्य और प्रिय शिष्य मर गये। उन्हीं के लिए इन्होंने सारा झगड़ा किया था। महन्तजी बहुत अफसोस में रहते हैं। मुझसे कह रहे हैं–'बनारस में तुम रहते हो, मेरे लिए कोई अच्छा पढ़ा-लिखा तरुण शिष्य नहीं ढूँढ देते।'

शुरू-शुरू मे जब इस तरह की बाते हुई, तो मैं अपने को अन्य पुरुष समझता था। मैं समझता था, पडित रामकुमार महन्तजी के लिए चेला खोज देने में मेरी भी सहायता चाहते हैं। दो-तीन दिन बाद आखिर एक दिन वह खुल ही पडे–"केदारनाथजी ! आपने उस दिन फैसला जो पढ़कर सुनाया, उसके बाद से महन्तजी को दूसरा कोई जँचता ही नही। मैंने एकाध विद्यार्थियो का नाम लिया था, लेकिन वह तुम्हारे बारे मे पूछते हैं। तुम भी तो घर से वास्ता नही रखते। साधु होने की बात भी करते रहते हो ?"

यदि वैष्णव के यहाँ चेला होने की बात साल-भर पहिले उन्होंने मुझसे की होती, तो गुस्से से मेरा रोम-रोम जल उठता, किन्तु पिछली मन्त्रसाधना के बाद मे मैं वह उग्र वैष्णवपन्थ-वैरी नही रह गया था। मैंने सीधे इनकार न करते हुए कहा–

"मैं पढ रहा हूँ। आप जानते है, मैंने स्कूल मे नाम लिखाया है। अग्रेजी और सस्कृत दोनो को दत्तचित्त से पढना चाहता हूँ।"

"तो इसमे कौन सी बाधा है। वहाँ तो आपको और अनुकूलता होगी। पढाने के लिए पडित और अध्यापक रखे जा सकते हैं, यहाँ ही आकर पढ सकते हैं। देखते नही, इन्ही के एक शाखामठ बगौरा के महन्त के शिष्य यहाँ पढ रहे हैं ?"

"परतन्त्रता होगी। महन्तजी के स्वभाव से परिचित नही हूँ।"

"महतजी बेचारे बहुत बहुत सीधे-सादे व्यक्ति है। सवेरे से ग्यारह बजे तक लगातार पूजा पाठ मे रहते हैं। बारह वर्ष से ज्यादा हो गये, इन्हे अन्न छोडे, सिर्फ फलाहार करते हैं। इतने बडे महत, जिसकी पन्द्रह हजार सालाना नकद तथा उसी के करीब गल्ले की आमदनी हो, ऐसा तपस्वी जीवन व्यतीत करे ! मुझे तो सिर्फ इस बात की लालच है, कि तुम्हारे ऐसा विद्याव्यसनी यदि परसा का महत हुआ, तो विद्या व्यसनियो और विद्यार्थियो की कदर करेगा।"

"लेकिन मुझे बात कुछ जँचती नही है।"

"मैं अभी फैसला करने के लिए नही कहता। आप इस पर विचार कीजिए। अभी महन्तजी पाँच-सात दिन और रहेगे। पत्थर का एक बडा मन्दिर बनवाने जा रहे हैं, दशाश्वमेध पर कई बार पत्थर देखने गये, किन्तु उनकी पसन्द के पत्थर वहाँ बहुत कम हैं। मैं आपसे कहूँगा, परसा मठ आपके लिए सबसे अधिक अनुकूल होगा। आप तो कह चुके हैं, साधु जरूर होगे; फिर ऐसे स्थान मे क्या न हो जहाँ के बारे मे हम कुछ दावे से कह सकते हैं।"

"खैर, मैं सोचकर जवाब दूँगा।"

यह प्रस्ताव तो मेरे सामने बिल्कुल नया था, किन्तु पढाई मे आनेवाली आर्थिक कठिनाइयो--विशेषकर अग्रेजी स्कूल मे नाम लिखाने के बादवाली–को हल करने का यह भी एक रास्ता है, इस पर मैंने विचार नही किया था। अब मैं पडित रामकुमार के प्रस्ताव पर ज्यादा ध्यान से विचार करने लगा। मेरे लिए दिक्कत यह थी, कि बनारस मे उस वक्त कोई ऐसा व्यक्ति नही था, जिसके सामने इस रहस्य-प्रश्न को खोलकर रख सकूँ। वैरागी का चेला होना–चक्रपाणि ब्रह्मचारी को कभी पसन्द न आता। पडित मुखरामजी घर और फूफाजी के सम्बन्ध के कारण भी, सुनते ही इसका विरोध ही नही करते, बल्कि हर तरह की बाधा उपस्थित करते। योगेश उस वक्त वहाँ थे नही, होते भी तो वह वैराग्य और आश्रमपरिवर्तन मे मुझसे सहमत न थे। इस प्रश्न पर निर्णय मुझे अकेले ही सोचकर देना था।

आर्थिक कठिनाइयाँ मेरी कोई इतनी ज्यादा नही थी। घरवालो से मदद माँगना यद्यपि मैं अपने आत्मसम्मान के खिलाफ समझता था, तो भी ब्रह्मचारी चक्रपाणि की कृपा से मैं भोजन और रहने से निश्चिन्त था। चार-पाँच रुपये मासिक की वृत्ति के प्रबन्ध की बाते कई जगह से चल रही थीं, और उनके होने मे बहुत देर न थी। पडित चन्द्रभूषण की बात कह चुका हूँ। एक वृद्धा रानी के यहाँ पूजा करने की माँग आई–मैं कुछ वैदिक भी हो गया था। धर्माध्यक्ष ने पसन्द करके अन्त मे स्वीकृति के लिए रानी साहिबा के सामने ले जाने को कहा। पता लगा, जब तक रानी स्वय देखकर पसन्द नहीं कर लें, तब तक रखा नहीं जा सकता। रानी ने देखा, एकाध बात पूछी

और अपनी स्वीकृति दे दी। रानी के सम्बन्ध की बहुत-सी अफ़वाहें सुन चुका था, और अब वह बातें और स्पष्ट होने लगीं, इसलिए मैं फिर वहाँ नहीं गया। एकाध जगह किसी (दुर्गाजी के एक पंडे) के लड़के को पढ़ाने की भी बात चल रही थी। इतना होते भी आर्थिक अनुकूलता का हाथ मेरे निर्णय में नहीं था, यह मैं नहीं कह सकता। मुझे याद है, उस वक्त का एक उदाहरण। अस्सी पर रहनेवाला एक साधारण विद्यार्थी कीनारामी गमगढ़ (?) गद्दी के महंत का चेला होने जा रहा था। पहिले उसे कोई नही पूछता था, किन्तु अब वह पीताम्बरी पहिने तिवारीजी के सड़क पर के कमरे में रहा करता था। लेकिन आर्थिक सुभीते से भी ज्यादा जिस बात ने परसा के पक्ष में मुझे निर्णय देने पर जोर दिया, वह था घर और घरवालों की पहुँच से दूर, पृथिवी के दूसरे छोर—हाँ, छपरा जिला उस वक्त मेरे लिए कुछ वैसा ही अपरिचित-सा था—पर चला जाना, एक नई जगह नये लोक का अनुभव प्राप्त करना। महंतजी के पूजापाठ ने तो नहीं, लेकिन उनके सीधे-सादे स्वभाव ने भी मुझ पर कुछ असर डाला, यद्यपि उस वक्त मैं यह नहीं जानता था, कि वह सस्कृत नही जानते।

दो-चार दिन सोचने-विचारने के बाद, अन्त में मैंने अपनी स्वीकृति दे दी। महतजी बहुत प्रसन्न हुए। पंडित रामकुमार के प्रति उन्होंने बड़ी कृतज्ञता प्रकट की।

बनारस से चलने में मुझे इस बात का भी ध्यान था, कि घरवालों को, मै कहाँ गया, उसका पता न लगने पावे, सदा के लिए नहीं तो कम से कम काफी समय के लिए; और इसके लिए पंडित मुखराम और ब्रह्मचारी चक्रपाणि से अपने निर्णय तथा महतजी के सम्बन्ध को गोप्य रखना बहुत जरूरी था। पंडित मुखरामजी क्वार के नवरात्र में घर जानेवाले थे, इसलिए इसी समय का प्रस्थान के लिए मैंने सबसे अधिक अनुकूल समझा।

किस दिन मैं बनारस से प्रस्थान करूँगा, छपरा स्टेशन पर किस ट्रेन से पहुँचूँगा, और स्टेशन पर आदमी के न मिलने पर मुझे कहाँ पहुँचना चाहिए—सभी बातें महतजी से मिलकर तै कर ली।

7

परसा में साधु (1912-13 ई.)

उस दिन (सितम्बर 1912 ई.) मेरी ट्रेन छपरा (भगवान बाजार) स्टेशन पर शाम को पहुँची थी। याद नही, महंतजी का आदमी बनारस से ही साथ आया था, या यहाँ स्टेशन पर मिला। पचमन्दिर के पीछे परसा मठ की छावनी में पहुँचने मे मुझे कोई दिक्कत नही हुई। महतजी बहुत प्रसन्न हुए। उनके परिचारक तथा मुसाहिब बड़ा सम्मान दिखला रहे थे। बनारस में एक अकिंचन विद्यार्थी की तरह मैं नही रहता था। यद्यपि कपड़े-लत्ते में तड़क-भड़क नहीं थी, किन्तु उसको तथा मेरे चेहरे को देखने से आदमी समझ सकता था, कि मै काफी आराम के साथ रहने का आदी हूँ। महन्तजी ने अपने आदमियो को कह रखा था, कि मुझे किसी बात का कष्ट न होने पावे। अपने साईस के लड़के रामदास को मेरे लिए खासतौर से खवास नियत किया। छपरा के उस आरम्भिक जीवन की घटनाओ में 'खोवा की दही' का शब्द मेरे कानो में अजनबी-सा मालूम हुआ। मै सोचने लगा—दही दूध से बना करती है, खोवा हो जाने पर तो दूध अपने ही सूख जाता है, फिर दही कैसे बनेगी ? दूसरी बात नई-सी मालूम हुई, उस कुली का नाम दहाउर, जिसने मेरा सामान स्टेशन से परसा-छावनी मे पहुँचाया था।

छपरा में एक-दो दिन से ज्यादा नहीं रहा। याद नहीं, मैं स्टेशन से दूर भी कहीं गया। शायद पचमन्दिर के बाबू ठाकुरप्रसाद के घर गया होऊँ, उनसे मुलाकात तो जरूर हुई होगी, क्योंकि महन्तजी के मुकदमे में उन्होंने मुख्तार के तौर पर ही उनका काम नहीं किया था, बल्कि जरूरत पड़ने पर धन—हाँ कर्ज के तौर पर—ही नही, लाठी से भी बाबू लोगों के विरुद्ध महन्तजी की मदद की थी। महन्तजी उनके बड़े कृतज्ञ थे, क्योंकि वह जानते थे, कि मुख्तार ठाकुरप्रसाद जैसा सहायक नहीं मिला होता, तो कानून उनकी रक्षा नहीं कर सकता था।

हम लोग छपरा से एकमा रेल से गये। महंतजी सेकंड क्लास में थे, नहीं कह सकता मैं किस क्लास में गया। एकमा प्लेटफार्म, और स्टेशन से बाहर खड़े पीठ पर मुर्गा बाँधे घोड़ों के एक्कों का झुंड उस दिन कुछ विचित्र-सा मालूम हुआ। महंतजी के साथ सामान काफी था, और नौकर-चाकर भी काफी। मेरे पास दो-चार किताबें, धोती-चादर, बदन पर सफेद डोरिया का कोट, और शायद शिर पर टोपी थी। क्वार समाप्त हो रहा था, या कातिक का पहिला-दूसरा दिन बीत रहा था। महन्तजी की बग्घी पर चढ़कर जब हम परसा को जा रहे थे, तो देख रहे थे, सड़क के पास हरे-हरे धान के खेत लहलहा रहे हैं। मैं बीच बीच में मौसिम और फसल के बारे में एकाध बात पूछता जाता था। महंतजी भी मुझे बात में लगाये हुए थे। सड़क कच्ची थी, इसलिए घोड़े को दौड़ने का बहुत कम मौका मिला। धुरदह के पुल को पार करने पर मैंने दाहिनी तरफ काफी दूर बहुत ऊँचे मकान देखे। महन्तजी ने बतलाया—'वही बाबू लोगों का गढ़ है, वही एक चेले को शिखंडी खड़ा कर लड़ रहे थे।' मैंने कहा—मकान बहुत ऊँचे मालूम होते हैं। उत्तर मिला, पुराना गढ़ है, जमीन ही वहाँ की बहुत ऊँची है इसलिए मकान बहुत ऊँचे मालूम हो रहे हैं। बहुत से घर तो खँडहर पड़े हैं। दो ही तीन घर बाबुओं के धनी हैं, बाकी सब गरीब हो गये हैं।

और आगे चलने पर मठ के खपड़ैलवाले मकान तथा दो शिखरदार मन्दिर दिखलाई पड़े। महन्तजी ने बतलाया—'यह पश्चिमवाली मठिया है, इससे कुछ दूर पर वह दूसरी पूरबवाली मठिया है। वहाँ गोपालजी का मन्दिर है और यहाँ रामजी का। यह छोटा मन्दिर समाधि है, पहिले के महन्त गुरुओं की चरणपादुकाएँ यहाँ रखी हैं।

बातें करते करते हमें मालूम भी नहीं हुआ, और तीन मील का रास्ता ते कर हम मठ पर पहुँच गये।

उस वक्त मठ के बाहरवाले पक्के घरों का पता न था, वहाँ पश्चिम तरफ सिर्फ एक [illegible] थी। मठ का सामने का भाग पक्का था, जिसके सामने ऊँची कुर्सी पर [illegible] का ओसारा था। ओसारे के दोनों छोर पर दो कोठरियाँ थीं, जिनमें से पूरबवाली में मठ के दीवान साहब रहते थे। भीतर जाने पर मेरा सामान पक्के मकान के पूर्वी पार्श्व में छोर पर अवस्थित कोठरी में रखा गया। मुझे बतलाया गया कि [illegible] इसी कोठरी में रहा करते थे। अब रामदास मेरा वैयक्तिक खिदमतगार था, इसलिए नई जगह होने पर भी मुझे किसी बात की अड़चन नहीं पड़ती थी।

सबेरे के वक्त पाखाना-रस्ता में—जाते वक्त रामदास लोटे में पानी लेकर चलता था। अपनी कोठरी के पीछे, पोखरे के पक्के घाट पर हाथ पैर धोता, दातुवन करता फिर स्नान करता। हलवाई को हुक्म हो गया था कि मेरे लिए सबेरे ही पावभर गर्मागर्म जलेबियाँ आ जायँ। बनारस में नियमपूर्वक पान तो नहीं खाता था, किन्तु शायद महन्तजी ने पान खाते मुझे देखा था, इसलिए पान मँगवा रखने की ताकीद थी। कोठरी का फर्श पक्का था, जिसके एक तरफ चबूतरा था, जिसे मृत तरुण महन्त ने अपने लिए बनवाया था। उसी चबूतरे पर मेरा बिस्तरा लगा था।

बाबू लोगों की मुकदमे में हार हुई थी, लेकिन अब भी झगड़ा बन्द नहीं हुआ था। अपील करने की मियाद अभी बाकी ही थी। पूरबवाले मठ के बाहरवाले आँगन की दालान तथा कितनी ही कोठरियाँ अब भी बाबू लोगों के पक्ष के कुछ साधुओं के अधिकार में थीं। वहाँ के दोनों मन्दिर—गोपालजी और रामजी—के पुजारी महन्तजी के वर्ग के थे। एक दिन रामजी के मन्दिर के पुजारी—लम्बाई चौड़ाई में समभुज एक तरुण साधु—गाली देते हुए आये—'हमारे काम में वे बाधा डाल रहे हैं, कहते हैं हमारा मठ है।' नागा लाठी लिये पूरबवाले मठ की ओर दौड़े, किन्तु मारपीट तक नौबत नहीं आई।

शाम को मठ के पुरोहित पंडित- ओझाजी और तिवारीजी—आये। तिवारीजी यहाँ पश्चिमवाले मठ में रोज कथा सुनाते थे, और ओझाजी गोपाल मन्दिर के सामने। ओझाजी संस्कृत अधिक पढ़े थे, इसलिए उनके साथ मेरा हेल-मेल जल्दी कायम हो गया। तिवारीजी बड़े मधुर स्वभाव के वृद्ध पुरुष थे। कथा कहते हुए वह भाषार्थ भी कहते जाते थे, किन्तु वह दुनिया के पर्दे पर कहीं बोली जानेवाली भाषा न थी। उसमें बनारसी 'भया' भी आता था, ब्रजभाषा के भी कितने ही सुबन्त-तिङन्त प्रत्यय शामिल थे, और छपरा की बोली की गहरी पुट तो होती ही थी। पहिले कुछ राग के साथ श्लोक को पढ़ते, फिर अपने ढंग से अर्थ करते—"वोही समैया को बीच मों-न,

जे बा-से, रामजीकी-ी हिंछासे सुखदे-वर्जी-ी महारां-ां-ज बां-ो-लतं-भ ये। क्या कर-कर-करके, गोविन्दाय-नमो-ो-न-मः…" एकादशी के दिन 'एकादशी माहात्म्य' मे उस दिन की एकादशी की कथा कही जाती।

ओझाजी की कथा पूरबवाली मठिया में होती थी, इसलिए उसे सुनने का मुझे मौका नहीं था। उनकी भाषा कुछ कम अस्वाभाविक होती थी। उस दिन शाम को जब दोनों पंडित जमा हुए, तो महन्तजी ने मेरे साधु होने के लिए एक अच्छी तिथि निश्चित करने का प्रस्ताव रखा। कितनी ही देर तक पन्ना उलटा गया। मेरी मकर राशि (चो) से ग्रहों और नक्षत्रों के स्थान को मिलाया गया, और अन्त में कार्तिक शुक्ला एकादशी (वैष्णवी) को सबसे महापुनीत दिन समझा गया। महन्तजी ने बहुत सोच-साचकर अपने मृत उत्तराधिकारी का नाम—रामउदारदास मेरे लिए भी तजवीज किया।

एकादशी को मन्त्र दीक्षा की सारी विधियाँ तो मुझे याद नहीं, हाँ, उसमें कंठी और "रा रामाय नमः" मन्त्र देने के अतिरिक्त, एक और भी विधि हुई थी, जिसका पता यदि बनारस में लगा होता, तो उतने ही मात्र से मैं परसा का नाम न लेता, लेकिन अब तो वचन देकर बहुत आगे बढ़ चुका था। बाबू परमसिंह के मुँह की कहावत याद आती थी—"तेरी माँ ने खसम किया।" "बुरा किया।" "छोड़ दिया।" "बहुत ही बुरा किया।" विधि थी—पीतल में बनी शंखचक्र की मुद्रा को आग में लाल करके दोनों बाहुमूलों में दागना। रामानुजीया (आचारियों) में अनिवार्य होने पर भी बैरागियों में यह प्रथा नहीं थी, किन्तु हमारे महन्तजी ने दक्षिण में अपने पर्यटन के समय आकर्षित हो इसे अपना लिया था। आचारी तो बिल्कुल हल्के तौर से सिर्फ छुआ मात्र देते थे, जिसमें बहुत हल्का-सा दाग उतर आता है; किन्तु यहाँ मालूम होता था, जीवित आदमी के शरीर पर दहकती धातु नहीं लगाई जा रही है, बल्कि डाकखाने में कोई नौसिखिया आहिस्ते-आहिस्ते मुहर लगा रहा है। खैर, मैंने जी कड़ा करके आँख दूसरी ओर फेर ली थी, समझ लिया था, आखिर ये मिनट भी घटा तक नहीं चलते रहेंगे।

अब से मैं रामउदारदास या संक्षेप में रामउदार कहा जाने लगा।

मठ में मेरे आराम का पूरा ध्यान दिया जाता था। मैं वहाँ वैरागी, तपस्वी साधु नहीं था, बल्कि एक सुकुमार राजकुमार था जिसके नहलाने-धुलाने, पैर दबाने, तेल लगाने के लिए नौकर था। कोट उतर गया था, किन्तु उसकी जगह तनजेब की चौबन्दी बनी थी। धोती भी शान्तिपुरी पाढ़ की बारीक, जूता लाल दिल्लीवाला। धूप में निकलने पर नौकर छाता लगाये चलता था। पुराने नाम राशि की सारी दिनचर्या, नौकरों ने मुझे भी सिखला दी। मै भी पहिले नक्कू न बनने के खयाल से उसे स्वीकार करता गया, पीछे वह साधारण-सी बात हो गई। महन्तजी का स्नेह बढ़ता ही गया। उन्होंने अपने सम्प्रदाय के बहुत से चाल व्यवहार को सिखलाना शुरू किया, और सचमुच वहाँ पचासों बातें सीखनी थीं। पाखाने के वक्त शिर में हाथ लगाकर नहीं बैठना चाहिए। वहाँ से लौटते वक्त दाहिने हाथ से लोटा नहीं पकड़ना चाहिए। मिट्टी से हाथ धोते वक्त पहिले बायें हाथ में पाँच बार मिट्टी लगाकर धोना चाहिए, फिर पाँच बार दाहिने हाथ को और तब पाँच बार दोनों हाथों को। हाँ, पैरों को भी मिट्टी लगाकर धोना चाहिए। लोटा शुद्ध भूमि पर भी रखते वक्त, पहिले चिल्लूभर पानी गिराकर तब रखना चाहिए। छुरी नहीं, चाकू कहना चाहिए, साग को 'चीरना' नहीं 'अर्मनिया करना' कहना चाहिए। इसी तरह की एक दूसरी शब्द-सूची बतलाई गई, जिसमे बाबूशाही (गृहस्थ) बोली होने के कारण कितने ही शब्द निषिद्ध हैं, और उनकी जगह साधूशाही कोश के शब्द बतलाये गये। उसी वक्त महावाक्य सुनने में आया—'बारह बरस रहे साधु की टोली। तब पावे एक टुटही बोली।'

महन्तजी फलाहार करते थे, यह पहिले कह आये है। ग्यारह बजे पूजा पाठ समाप्त करने के बाद थोड़ा-सा दूध पीते, और आध घंटा मठ का कारबार देखते, फिर फलाहार बनाने जाते। अब उनका शरीर वृद्ध हो चला था, कमर भी टेढ़ी हो गई थी, इसलिए उनके कामो में कुछ मुझे भी सहायता देनी जरूरी थी। पहिले मैंने फलाहार बनाने से शुरू किया। अब मुझे पता लगा, फलाहार में सिर्फ तपस्या का ही खयाल काम नहीं कर रहा है, बल्कि अन्न ग्रहण करने पर पंक्ति में शामिल होना पड़ता, जिसमें जहर देने का डर था। फलाहारी अवस्था में भी महन्तजी के एक गुरुभाई ने एक बार दूध में उन्हे जहर दिया था, जिसके पीने से वह बाल बाल बच गये थे। इसी खयाल से किसी दूसरे के हाथ का फलाहार न खाकर वह उसे खुद बनाते थे। महन्तजी का फलाहार बनाना भी एक

अच्छी खासी पाक-कला थी। उसमें चावल, दाल, पूडी, पकौड़ी, हलवा, खीर, तरकारियाँ, चटनियाँ, पूड़े सभी शामिल थे, और रोज एक दर्जन के करीब चीजे बनती थी। चावल मे धान का स्थान तिन्नी (नीवार) ग्रहण करती, आटे में गेहूँ का स्थान कुटू (बकव्हीट), दाल-बेसन मे अरहर-उडद-चने की जगह बकला (क्लोवर) ग्रहण करता। घी और दूध सिर्फ गाय का और मीठे के लिए सिर्फ मिश्री का व्यवहार होता। अभी तक पाकशास्त्र मेरे लिए सबसे दुरूह चीज थी, और मिला भी तो फलाहार पर उसके प्रयोग करने का मौका, जिसमे कुटू के आटे का गूँथना तो एक बडी टेढ़ी खीर थी। लेकिन धीरे-धीरे गुरुजी ने मुझे सब सिखला दिया। रसोई मे पास हो जाने पर उन्होने अपने पाठ-पूजा की बाते भी सिखलाई, क्योकि उनके अस्वस्थ होने पर वह भार मेरे ऊपर आता।

परसा मठ के दो भाग थे—पूरब की मठिया और पश्चिम की मठिया—यह मैं पहिले कह आया हूँ। महन्तजी, मैं, तथा कितने ही साधु पश्चिमवाली मठिया मे ही रहा करते थे। किसी समय पश्चिमवाले मठ मे सिर्फ महन्त और दो-चार परिचारक तथा पुजारी ही रहते थे, बाकी सभी साधु पूरबवाली मठिया मे रहते। रसोई भी वही बनती, और उत्तराधिकारी भी वही रहते। किन्तु झगडे के बाद रसोई भी पश्चिमवाली मठिया मे चली आई, साधू भी ज्यादातर यही आ गये, और पूरबवाली मठिया धीरे धीरे उजाड होने लगी। मेरे सामने ही उसका नौबतखाना, बाहर के आँगन के गिर्द का घेरा और पक्की दालान गिर गई, और मेरे सामने ही पश्चिमवाली मठिया के आँगन के भीतरवाले घर कच्चे से पक्के हो गए, और बाहर एक नया चौक कई पक्के घरो के साथ बनकर तैयार होने लगा।

कार्तिक के आखिरी सप्ताह और अगहन के पहिले पखवारे तक मानपुर (हरिहर क्षेत्र) का मेला लगता है। मेला शुरू होने से पहिले ही परसा मे मैं पुरान-चिरान हो गया था। गुरुजी के साथ उनकी बग्घी मे बहरौली और एकाध दूसरे जमीदारी के गाँवो मे हो आया था। कनैला, और बछवल मे कभी-कभी घोडे पर चढ़ा था, किन्तु वह घोडे परसा के पाँच सौ के घोडे के सामने गदहे थे। परसा का घोडा बहुत दिनो मे सिर्फ बग्घी मे चलता था, और सवारी की चाल भूल गया था। परसा पहुँचने के सात-आठ ही दिन बाद मैंने माईस नकछेदी से घोडे पर चढने की इच्छा प्रकट की। वहाँ खरहरा करने की मामूली सीधी-सादी लगाम थी, लेकिन मैंने कहा— कोई परवाह नहीं, इसी लगाम के साथ पीठ पर गद्दी कस दो।' रिकाब भी मौजूद न थी। मैं मठ के दर्वाजे से ही घोडे पर सवार हुआ, और सरपट दौडाता हुआ एकमा के रास्ते पर बहुत दूर तक ले गया। लौटते वक्त फिर उसी चाल से चला आ रहा था, किन्तु मुख्य सडक मे मठ की तरफ मुडनेवाली सडक के मुडाव को देखकर मैंने चाल धीमी करनी चाही। घोडा उस लगाम को क्या समझे ? मेरा कुछ ध्यान तो अपने को बचाने और कुछ लगाम के सहारे खडा करने मे बँट गया। इसी बीच मे मठ के पास के पुल की ढालुवाँ जमीन आई, सँभलूँ ही सँभलूँ कि मठ के फाटक पर सीधा 90 डिग्री का समकोण, इस मुडाव मे अपने बोझे को ठीक न कर सका, और घोडे की पीठ से बाईं ओर गेंदे की भाँति उछाल दिया गया। वहाँ रखी हुई लकडी से बाल बाल बचा। चोट नही लगी। धूल झाड़कर बहादुर शहसवार की भाँति खडा हो गया। लोग पहिले चिन्तातुर हुए, फिर मुझे खडा होकर मुस्कुराते देख तारीफ करने लगे—"ऐसे बगैर काँटे की लगाम पर इस तरह के जबर्दस्त घोडे पर सवारी करना ऐसे-वैसे आदमी का काम नहीं है।"

मठ की बग्घी मुझे बहुत भद्दी मालूम होती थी। ?? भी वह गुरुजी की योजना के अनुसार मठ के गाँव बहरौली के रामजियावन मिस्त्री के हाथ की—सोलह आना स्वदेशी—बनी हुई। गुरुजी ने भीतर जगह कुशादा रखने मे फराखदिली रखने का आदेश दिया था, और रामजियावन मिस्त्री ने बग्घी मे घर के शीशमो की मामूल से सिर्फ चार-पाँच गुना अधिक लकड़ी लगाई। भारीपन को हटाने के लिए, एकाध बार छीला-छीली भी की गई, किन्तु उससे कुछ हुआ-हवाया नहीं। मुझे वह भद्दी और चारो ओर से बन्द, सुस्त सवारी पसन्द न थी। मैं चाहता था, तेज सवारी। गुरुजी ने परामर्श को स्वीकार कर मेले से टमटम खरीद लाने के लिए मुझे ही भेज दिया।

सोनपुर के मेले को उसके बाद, न जाने कितनी बार देखा, लेकिन वह पहिली बार की नजर में कुछ दूसरा ही जँचा था। कहीं कतार के कतार हाथी बँधे हुए हैं, जो जब-तब चिग्घाड़ उठते हैं। कहीं घोड़ों के अलग-अलग कितने ही बाजार हैं—छोटे घोड़े अलग, नेपाली टाँघन अलग, और बड़ी राशि के घोड़े अलग। कितने ही घोड़ों के

ऊपर कपड़े का सुन्दर चँदवा टँगा हुआ है। बैलों और गायों की बाजार में जाने पर अनन्त दूर तक मालूम होता है, उन्हीं का हाट लगा है। मेले में सबसे अप्रिय चीज थी, दिन में धूल और रात में धुआँ। मैंने अपनी पसन्द का एक टमटम और घोड़े का नया साज खरीदा, एक ही दो दिन रहकर टमटम लाने के लिए आदमियों को छोड़कर चला आया।

नई जगह की नवीनता भी धीरे-धीरे जाने लगी। मैं अपनी पढ़ाई पर नजर डालने लगा, तो वहाँ मेरे आसपास और दिनचर्या में उसका कोई स्थान न था। खैर, मैं 'सरस्वती' और 'डॉन' (अंग्रेजी मासिक पत्र) का ग्राहक बन गया। इंडियन प्रेस की छपी कुछ हिन्दी की पुस्तकें तथा कितने ही संस्कृत के काव्य-नाटक मँगाये। इस प्रकार शून्यता कुछ कम मालूम होने लगी, साथ ही इसमें सहायक हुआ अगले दो-ढाई महीने लगातार दीहात में घूमते रहना। गुरुजी जानकीनगर, बुचया, कल्यानपुर होते एक ओर गंडक के किनारे सलेमपुर घाट तक पहुँच गये, तो दूसरी ओर गंगा-सोन संगम पर, संठा के पास, मकर सक्रान्ति का स्नान किया। सभी जगह यात्रा उसी बग्घी से होती रही, मेरा टमटम गुरुजी के लिए कम आरामदेह था।

मठ के जमीदारी के गाँवो मे रिआया पर जमींदार का रोब मेरे लिए एक नई चीज थी। ननिहाल और पिता के गाँव में हम लोग खुद छोटे-मोटे जमीदार थे, इसलिए अपने ऊपर जमीदार का रोब कैसे अनुभव कर पाते ? किन्तु, मैं न समझ सकता था, कैसे यहाँ के जमींदार अपने काश्तकारों से आपसी झगड़े मे जुर्माना वसूल कर सकते हैं, ब्याह-शादी, आना-जाना, हर वक्त हुकूमत और बेगार ले सकते है। युक्तप्रान्त मे जहाँ पटवारी सरकारी नौकर था, वहाँ यहाँ मैं उसे जमींदार का नौकर पाता था। पटवारी से सारे किसान कितनी पनाह माँगते थे, इसका मुझे अनुभव था; इसलिए यहाँ पटवारी के भी जमीदार का नौकर होने का बात देखकर मैं और समझने लगा किसानों की दयनीय दशा को।

मठ के नौकर-चाकर मेरा बहुत अदब मानते थे, सिर्फ इसलिए नही कि मै नया 'पुजारीजी' (परसा के महन्त के उत्तराधिकारियों का यह भी एक उपनाम था। शायद पहिले के कुछ व्यक्ति महन्त होने से पहिले पुजारी रह चुके थे) था, बल्कि इसलिए भी कि मै कागज की 'उदिया-गुदिया' समझता था, 'पारसी' अंग्रेजी सब जानता था। बूढ़े महन्तजी के बाद मैं ही महन्त बनूँगा, इसमें किसको सन्देह था, जब कि मेरा नाम भी वही रामउदारदास पड़ा था, जिसके नाम महन्तजी महन्ती लिख चुके थे।

कनैला और पन्दहा में जमीदारी कागजपत्रो के देखने का मुझे कभी मौका नही मिला था, और यहाँ के कागजपत्र–'तिरजी', 'सियाहा' आदि बिल्कुल दूसरी ही चीज थे। पहिले तो उधर ध्यान देने ही में दिल उकताता था, क्योंकि साथ ही मैं अपने को विद्यार्थी अवस्था मे भी तो समझता था। देखते-देखते उनका समझना भी आसान हो गया। मठ के जमा-खर्च के जगलो को देखना चाहा। मालूम हुआ कि कई साल से जमा-खर्च ही तैयार नही हुआ। महन्तजी मे न उसे समझने की शक्ति थी न देखने की फुरसत। पूछने पर लिखने-पढ़नेवाले लोग बहानेबाजी करते। खैर, यह तो मुझे मालूम हो गया, कि कर्ज बढ़ता जा रहा है, और महन्तजी आमदनी से ज्यादा खर्च कर रहे हैं। जिस सभामडप के लिए पत्थर आने शुरू हो गये थे, वह उधार के रुपये मे बनने जा रहा है। यद्यपि उसके खर्च का तखमीना महन्तजी चार-पाँच हजार लगा रहे थे, किन्तु मै समझ रहा था दस हजार, और अन्त में तो वह पन्द्रह हजार पहुँचकर रहा। मठ के भीतरी यन्त्र को बहुत दूर जाकर देखने की मुझे बिल्कुल इच्छा नही थी, क्योंकि जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं अपना ध्यान पढ़ने मे दूसरी ओर नही ले जाना चाहता था, किन्तु जो कुछ देखा, वही कम न था।

तीन महीने बीत चुके थे, अब जनवरी 1913 ई शुरू थी, और पढ़ने का कोई भी इन्तिजाम नही। शायद इसका असर भी जाहिर होता, किन्तु इसी समय पत्थर के भेजने तथा कारीगरों के आने मे कुछ गडबडी हुई, जिसके लिए महन्तजी फिर बनारस गये–महन्तजी को ठगना आसान था, और वह हमेशा ठगे जाते थे; किन्तु स्वयं जाकर सारी जमात के साथ रेल-भोजन आदि पर चौगुना खर्च करके भी–यदि काम करते थे, तो समझते थे, कि मैंने बहुत से रुपये बचा लिये। उनकी अनुपस्थिति मे एक दिन पिताजी और फूफा महादेव पडित परसा आ धमके। जिस खतरे से मैं डरता था, वह खतरा मेरे सामने आ खडा हुआ। सोचने लगा, किस तरह बचा जाये। तै किया–जिस

वक्त यह लोग औरों से बात करने मे फँसे हों, उसी वक्त भाग चलना चाहिए। दूसरे दिन सबेरे मैने नकछेदी को कहा—टमटम कसकर सड़क पर दूर लेकर चलो। 'जी महाराज' कहकर वह कसने लगा। मैं मासूम की तरह फूफाजी के पास बैठा कुछ सुन रहा था। रामदास या किसी दूसरे ने इशारे से बतलाया कि टमटम चला गया। मैं किसी बहाने उठा, और खिड़की के रास्ते खेतो से होकर सड़क पर पहुँचा। एक बार टमटम पर सवार हो जाने के बाद मेरे हाथ में चाबुक और घोड़े की पीठ थी, यदि वह खड़ा होने का नाम लेता। एकमा, दाऊदपुर, कोपा-समहुता के पास पहुँचा। मेरा जिले से बाहर कही अनजान जगह मे चला जाना जरूरी था, और टमटम वहाँ तक जा नही सकता, इसलिए मैंने नकछेदी को कहा—'टमटम लौटा ले जाओ, रास्ते मे कोई पूछे तो कह देना, मैं नही जानता कहाँ गये, मैं तो यहीं से उतारकर आ रहा हूँ।'

कोपा-समहुता मे ट्रेन आने मे देर थी, इसलिए वहाँ प्रतीक्षा करने की जगह अगले स्टेशन—छपरा—पर पैदल चलकर पहुँच जाना अच्छा समझा। छपरा से मुजफ्फरपुर, पटना, बनारस की तरह निकल जा सकता था, और शायद ट्रेन भी थी, किन्तु सबमे पहिले तो आवश्यकता थी, रुपये की, जिसके बारे मे परसा मे मैने नही सोचा था, हालाँकि उसके लिए वहाँ सुभीता था। यहाँ छपरा मे मुख्तार ठाकुरप्रसाद के सिवाय मेरा कोई परिचित न था। मैंने जाकर उनसे पिता और फूफा के चले आने की बात कही, और कहा कि इस वक्त मेरा यहाँ से हट जाना अच्छा होगा, आप कुछ रुपये दे। रुपया कितना भयकर, कितना जहरीला नाम है, जिसके निकलने के साथ आदमी की बात, उसकी शान, उसकी इज्जत नगण्य हो जाती है। मुख्तार साहेब के दिल मे भी इस तरह का कोई भाव उद्भूत हुआ, अथवा उनकी सहानुभूति पिताजी की ओर हो गई। उन्होंने नही तो नही किया, किन्तु 'थोड़ी देर मे कहेंगे' कहकर शब्दान्तर मे वही कहा।

मैं लौटा आ रहा था, गली मे पिताजी मिले। मै ग्यारह बारह मील टमटम मे भी आया था, यह सारा रास्ता—परसा से छपरा—पैदल आये, कैसे वह इतनी जल्दी पहुंचे गये ? और छपरा मे इतनी जल्दी उन्हे जगह का पता कैसे लग गया। मालूम होता है, किसी से उन्हे ये भेद मालूम हो गये थे, ऐसा भेद बतलानेवाला महन्तजी को प्रसन्न करनेवाला नहीं हो सकता। पिताजी हाँफ रहे थे, उनकी आँखो मे आँसू छलछला आये, कुछ जोर से बोलना शुरू करना चाहते थे, किन्तु लोग जमा हो जायेंगे, इस शर्म से मैने कहा—"आप हल्ला न करे, मै सबेरे परसा चलूँगा।"

वहाँ से हम छावनी मे चले गये, जो भी गंज से दूर नहीं था।

सबेरे जब हम परसा पहुँचे, तो देखा महन्तजी भी आ पहुँचे है। मुझे यह सुनकर बहुत झुंझलाहट पैदा हुई कि फूफाजी की बातो मे पड़कर महन्तजी ने सिर्फ दस दिन के लिए कनैला ले जाने की इजाजत दे दी है। फूफाजी की पंडिताई का ओझाजी तथा दूसरे लोगो पर असर हुआ। उन्होने जब कहा, 'इसकी आजी और बुआ रोते रोते मरी जा रही हैं, अब तो बैरागी हो जाने के कारण वह हमारी जाति का भी नही रह गया, सिर्फ दर्शन और सान्त्वना देकर चला आये, बस हम इतना ही चाहते हैं।' महन्तजी ने कहा—"कोई हर्ज नही।"

चलते वक्त रामदास खिदमतगार और हनुमानदास (नेत्रहीन होने से जिन्हें हम सूरदास कहते थे) साथी बनाकर भेजे गये। "दस दिन मे भेज देने की बात गलत है। वहाँ जाते ही मैं नजरबन्द कर लिया जाऊँगा' —मैं कितना ही कहता रहा किन्तु महन्तजी ने कहा—हम वचन दे चुके है।

8

पकड़कर कनैला में (1913 ई.)

फूफाजी को ब्रह्म पर खास विश्वास था। बलवन मे एक सभ्रान्त कायस्थ के ऊपर उनका पाँच सौ रुपया कर्ज था, दस्तावेज लिखा हुआ मौजूद था। बहानेबाजी मे उसने तमादी की मीयाद गुजार दी, और फिर मुकदमा दायर करने पर वह खारिज हो गया। मुकदमा दायर करने से पहिले मूल रुपया वह शायद देना भी चाहते थे। खैर,

मुकदमा हारने के बाद फूफा साहेब को बहुत क्रोध आया। घरवाले कह रहे थे, पाँच सौ रुपये के लिए इतनी चिन्ता क्यों करते हैं, किन्तु वह कब माननेवाले थे। उन्होंने बाल बढ़ाए, पुरश्चरण शुरू किया, और जगबहादुरलाल को निरवंश करने के लिए उनके टोले के कब के भूले-भटके ब्रह्म की पिंडी पर दूध की धार चढ़ाकर उसे जगाना शुरू किया। इसी फिराक में वह हरसूराम ब्रह्म की शरण तक में हो आये थे। किन्तु जगबहादुरलाल का बाल भी बाँका नहीं हुआ। हरसूराम ब्रह्म के जोड़-तोड़ के ही मैरवावाले हरिराम ब्रह्म भी थे, और मैरवा हमारे रास्ते में पड़ता था, फिर फूफा साहेब वहाँ क्यों न उतरते ?

9 बजे सबेरे के करीब, हम स्टेशन पर उतरे, और मील भर पैदल चलकर 'बाबा के धाम' पर पहुँचे। यात्री आते थे, पडे भी मौजूद थे, किन्तु पिछले 28 वर्षों में जो श्रीवृद्धि 'बाबा के धाम' की हुई, वह उस वक्त न थी। बड़ा तालाब, और कितने ही मकान तथा दूकान जो मन्दिर से उत्तर आज दिखाई पड़ती हैं, वे सब पीछे की माया हैं। हम लोग मन्दिर के सामनेवाले फर्श पर बैठे। फूफा साहेब स्नान-सन्ध्या में लगे और फिर उन्हें हरिराम ब्रह्म का पूजन करना था। मैं इस ब्रह्मपूजा से मुक्त था, वैष्णव होने का एक लाभ तो मिला। पंडित बतला रहे थे—हरिराम की गाय को राजा ने (जिसके ध्वस्त गढ़ के, थोड़ी ही दूर पर झरही के किनारे पूरब उत्तर के कोने पर अब भी दिखलाई देते हुए) जबर्दस्ती ले लिया। ब्राह्मण हरिराम ने बहुत विनती की, किन्तु प्रभुता से मदान्ध राजा ने एक न मानी। हरिराम ने आत्महत्या कर ली। उसके देखते राजा की प्रभुता स्वप्न की तरह विलीन हो गई। 'रहा न कुल कोउ रोवनहारा।' भव्य प्रासाद पस्त होकर मिट्टी में मिल गये। मैंने कथा को ध्यान से सुना, किन्तु अब उसमें वह प्रेरणा नहीं मिलती थी जो दुर्गासप्तशती से पहिले ऐसी चमत्कारिक कथाओं से मिला करती थी।

मैरवा से दूसरी गाड़ी पकड़कर, भटनी में बदलते हुए मऊ पहुँचे। मऊ में यह मेरा पहिले पहिल आना हुआ था। वहाँ एक या दो दिन हम लोग ठहरे थे कहाँ, सो याद नहीं। फूफा साहेब पसन्द नहीं कर रहे थे, कि सूरदास और रामदास मेरे साथ जाये। सूरदास से उन्हें खास डर था, क्योंकि वह परमहंसों की ओर मेरा ध्यान दिलाते रहते। फूफाजी की बोली बानी देखकर सूरदास भी समझ गये, और उन्होंने एक मित्र से मिल आने का बहाना ढूँढ़कर छुट्टी माँगी। मैंने भी इसे पसन्द किया। मैं तो चाहता था, रामदास भी न जावें, क्योंकि बिल्कुल अकेला रहने में मुझे भागने में सुभीता होता—मैं समझ ही रहा था, कि अबकी मेरे ऊपर जबर्दस्त देख रेख रखी जायगी।

मालूम होता है, फूफा साहेब ने पिताजी को मेरे बारे में विशेष ध्यान देने के बारे में समझाया था। वह समझते थे, गाँव में अच्छे खाने पहिनने का सुभीता नहीं रहता है, इसलिए इसका मन वहाँ नहीं लगता। जो पिताजी सादी पोशाक, सादे चाल व्यवहार के जबर्दस्त पक्षपाती थे, उन्होंने जाते देकर मेरे लिए रेशमी कमीज और किसी वैसे ही सूती-रेशमी कपड़े का वास्कट बनी मऊ में सिलवाया। पान के बारे ही नहीं आ गये, बल्कि कनैला साथ ले चलने के लिए भी सौ डेढ़ सौ अच्छे पान पान के पत्ते, कत्था इलायची, चूना जर्दा के साथ ले लिया गया। मुझे भीतर ही भीतर हँसी आ रही थी।

कनैला में देखकर सबसे अधिक खुशी नानाजी को हुई। उनका तो लड़कपन ही से मैं सर्वस्व था। आजी और चाची भी प्रसन्न हुई, और मुझे भी प्रसन्नता हुई—इससे मैं इन्कार नहीं करता। कनैला और पन्दहा को देखकर क्यों न मुझे आनन्द होता, वहाँ के एक-एक वृक्ष, एक-एक भीट, एक-एक पोखर पोखरी, एक एक खँडहर तक से मेरे बाल्यकाल की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ निगूढ़ थीं। गोविन्द साहेब पोपल अब सूखकर खतम हो चुका था, किन्तु जब मैं उधर से गुजरता तो फागुन के दिनों के प्रहसन याद पड़ते—कैसे रात की चाँदनी में एक तरफ स्त्रियों की और दूसरी तरफ़ पुरुषों की जमात बैठती। कैसे बीच में प्रतिभाशाली तरुण सद्यःप्रसूत भावनाओं से प्रेरित हो, लोगों के मनोरंजन के लिए तरह तरह के अभिनय करते—जिनमें कितने ही अश्लील भी होते थे यह ठीक है, तो भी वे मनोरंजन की काफी सामग्री रखते थे। चुड़िहार नौजवानों के उत्साह के कारण जोगीड़ा खूब जमता था। फ़ज़ल, वलीजान, अब्दुल की उस वक्त बड़ी माँग थी। फजल की उस समय की हँसने-हँसानेवाली सूरत को जब कई वर्ष बाद की उस सूरत से मैंने मिलाया, जिसमें नंगे शिर, बढ़ी, धोती-काली लुंगी की जगह वह घुटनों

तक पायजामा, कुर्ता और सिर पर टोपी रखे हुए था, तो वह मुझे बिल्कुल नहीं जँची। मैं दलसागर पर ब्रह्म बाबा के बरगद को अपने दर्वाजे से देख सकता था। उस वक्त कामुक सैयद से नवोढ़ा पत्नी के सतीत्व को बचाने के लिए ब्राह्मण दम्पति की आत्माहुति से भी बढ़कर मधुर वह स्मरण मालूम होता, जिसमे पशु-पक्षियो तक को सब काम छोड़ छाया का आश्रय लेने के लिए मजबूर करनेवाली गर्मी की दुपहरिया में उस बरगद के नीचे लडके अपनी गाय-भैंसो को जमा कर देते—वे स्वय वहाँ बैठकर जुगाली करने लगतीं—और फिर बरगद की घनी शीतल छाया से स्फूर्ति पा ओल्हापाती खेलने लगते। और कहीं होता तो वृक्ष पर चढने की कला से अपरिचित होने के कारण मैं शरीक न होता, किन्तु ब्रह्म बाबा की धरती-छूती मोटी-मोटी सहस्र शाखाओं पर चढ़ने और कूदने मे हाथ-पैर टूटने का डर न था। बड़ी, लहुरिया और नाउर की पोखरियाँ उन कहानियों को याद दिलाती थी, जिन्हे मझली बुआ या माँ की गोद में लेटा हुआ मैं बडी तन्मयता से सुना करता था। सोचता था—कनैला मे भी कोई राजा था, जिसकी बडी, लहुरी (छोटी) दो रानियाँ थी, जिसकी चहेती एक नाइन थी, तीनो ने इन तीनो पोखरियां को बनवाया था। इन्ही पोखरियों में मैं कभी किन्ना और बदरी के साथ मछली मारा करता। कनैला के स्थानो को देखकर पुरानी घटनाएँ फिर आँखो के सामने सजीव होकर फिरने लगती, और चित्त मे "ते हि नो दिवसा गताः" की टीस के साथ एक प्रकार का आनन्द भी प्रदान करती। इस तरह कनैला आना सिर्फ असन्तोष ही असन्तोष पैदा करने का कारण नही हुआ।

पाँच-सात दिन बाद रामदास ने परसा हो आने की इच्छा प्रकट की, मैंने भी उसके द्वारा गुरुजी के पास अपनी परिस्थिति को कहला भेजा। रामदास आठ-दस दिन बाद लौट भी आया। लेकिन यहाँ जाने देने का कौन नाम लेता है ? निराश हो रामदास जब परसा जाने के लिए तैयार हुआ, तो घरवालो को बहुत सन्तोष हुआ। मैंने भी इसे अच्छा ही समझा, क्योंकि अपने साथ रामदास को भी लेकर भागना ज्यादा मुश्किल था। घास चरने के लिए लम्बे रस्से मे बँधे बछडे की भाँति मेरे बन्धन मे भी कनैला से बछवल तक आने जाने की गुजाइश थी। मेरे लि; विशेष खाने-पीने की व्यवस्था थी, किन्तु कुटुम्ब-भोज मे अवाछनीय दाल भात का अमृत बनाकर खाने वाला मन अब भी मेरे पास था, फिर छोटे भाइयो और घर के दूसरे व्यक्तियो से पृथक अपने लिए विशेष भोजन मुझे क्योकर पसन्द आता।

रामदास के चले जाने के हफ्ते-भर बाद मैंने एक बार मुक्त होने का साहस किया। भागकर आजमगढ़ स्टेशन पहुँचा, किन्तु ट्रेन पकडने से पहिले ही पिताजी वहाँ मौजूद थे। सामने पड जाने पर भीड इकट्ठा कर बहस शुरू करना मुझे पसन्द न था। मैंने अपनी हार स्वीकार की, और उनके साथ कनैला की ओर चल पड़ा। रास्ते में वह समझा रहे थे—तुम्हे गाँव का जीवन पसन्द नही। वहाँ खाना अच्छा नहीं मिलता, वहाँ परिष्कृत वस्त्र दुर्लभ है। मैं तुम्हारी जिन्दगी-भर के लिए घी-दूध खाने, साफ कपड़ा पहिनने का इन्तिजाम कर देता हूँ।' इसके बाद उन्होंने हिसाब भी लगाना शुरू किया, और बतलाया—"इतने मूलधन के सूद से तुम्हारा काम चल सकता है। तुम कहीं मत जाओ, घर पर रहो, मैं इतना रुपया तुम्हारे नाम से जमा करने के लिए तैयार हूँ। मुझे उनकी बातों से गुस्सा नही आता था, मुझे सिर्फ इतना ही खयाल आता था, कि अपने भावो को उन्हे समझाना मेरे लिए कितना मुश्किल है। ज्ञान की भी कोई भूख है, विस्तृत जगत के देखने की भी कोई भूख है, शिक्षित-सस्कृत समाज मे रहने की भी कोई भूख है, जो भोजन की भूख से हजारो गुना ज्यादा तेज, और सदा अतृप्त रहनेवाली है) इसे मैं समझाने की कोशिश करता, किन्तु वह उसे सुनने को तब तैयार होते, जब मैं कनैला मे आँखो के सामने रहने की उनकी शर्त को कबूल कर लेता।

कनैला और बछवल मे लोग ज्यादा सजग हो गये थे, इसलिए इस अवस्था मे कोई साहस करना फजूल था। मुक्ति प्राप्त करने के लिए विश्वास दिलाकर उनकी उस जागरूकता को खतम करना जरूरी था। योगेश आधा प्रयाग मे और आधा बछवल मे रहते थे। वह सस्कृत नागरिक समाज मे रहना पसन्द करते थे, किन्तु ज्ञान-लिप्सा की वह प्रचड दावानल जो मेरे अन्तरतम मे जल रहा था, उसके प्रहार से वह बहुत कुछ सुरक्षित थे। वह अब भी मेरे "नर्मसचिव" थे, इसलिए होली से पहिले बछवल मे उन्हे आया देखकर मुझे बडी खुशी हुई। उसी तरह हम चारपाई पर लेटे या बैठे भूत-भविष्य की कथाएँ और कल्पनाएँ किया करते। उसी तरह हम एक साथ कभी

कुटी, कभी सकटाप्रसाद के बँगले और कभी हरे-भरे खेतों में चक्कर काटने चले जाते। कनैला की अपेक्षा बछवल में मेरा दिन अच्छा कट जाता। फूफा साहब नम नत थे, उनके छोटे भाई महादेव पांडे (यागेश के पिता) सुर्ती (खाने का तम्बाकू) और अफ़ीम दोनों के आदी थे। अपने बड़े भाई की तरह उन्होंने संस्कृत नहीं पढ़ी थी, उसकी जगह उन्होंने उर्दू सीखी थी। निचले ओंठ में सुर्ती दबाये रामायण की चौपाइयों को बड़े राग से और कभी कभी वह गद्‌गद हो पढ़ते थे। मेरे प्रति बाहर से यद्यपि शिष्टाचार का बरताव रखते, किन्तु यागेश पर मेरे असर को वह बिल्कुल पसन्द न करते थे। यागेश की माँ अपने ज्येष्ठ पुत्र की इच्छा के विरुद्ध जाने की हिम्मत नहीं रखती थीं, और उनको मालूम था, यागेश और मेरा स्नेह कितना चिरस्थायी है।

मेरी बुआ मेरे लिये अभिमान की चीज थीं, पहिले ही साक्षात्कार के समय से मैं उन्हें मितभाषिणी और गम्भीर होते हुए भी बहुत स्नेहमयी पाता था। मुझे माँ की यह बात याद थी—"उस वक्त मैं पहिले पहिल ब्याह के बाद ससुराल आई थी। घर का बड़ा कुनबा था। मेरी छोटी ननद बरना—अभी ब्याह नहीं हुआ था—ने दीवार की आड़ से अँगुली दिखलाकर बतलाया था, यह हैं काका। मैंने वहीं एक बार आँख भरकर अपने ससुर को देखा था। थोड़े समय बाद तो वह मर ही गये।" माँ और उनकी छोटी ननद कैसी रही होंगी ?—तब तो संसार में मेरा अस्तित्व भी नहीं हो पाया था। बुआ ब्याह के बाद जब बछवल गईं तो उन्हें पीसने के लिए अनाज बहुत दे दिया जाता था। कनैला में उनका मायका बहुत धनी न होने पर भी काफी काम करनेवाले असामियों का स्वामी था, इसलिए ज्यादा काम न करना पड़ता था और अभी तो वह छोटी लड़की भी थीं। उनकी इस तकलीफ की सूचना जब कनैला पहुँची तो जानकी पांडे ने अपने भाई को कहा—मथुरा! ले जाओ यहाँ से कुछ पिसनहारियों को, और रामटहल तिवारी (?) फूफा (जो मौसा जी उस वक्त घर के प्रबन्धक थे) के घर के लिए छै महीने की कुटाई-पिसाई करवा आओ। मथुरा पांडे सचमुच ही मजदूरिनों को लेकर चले गये थे। बुआ मुझसे बहुत बातें करतीं, और उनकी बातें साधारण ग्रामीण स्त्रियों के तल से कुछ ऊँची हुआ करतीं, इसलिए उस वक्त संस्कृति के नये दिलदादे मुझे वह पसन्द आया करतीं। एक दिन गाँव के पश्चिम की मठिया (टोला) में रहनेवाली एक वृद्धा स्त्री आई। कमर झुकाये डंडे के सहारे चलती थी। मैंने बुआ से उनके घर के बारे में पूछा। बोलीं—'बचवा! वह जिस वक्त अपने घर की बात कहती थी, तो उसकी आँखों से झर झर बहते आँसुओं को देखकर मुझे भी रुलाई आती थी। कहती थी, 'बदअमली (1857 के गदर) के जमाने में आसपास के गाँवों को मारती जलाती गोरों की पल्टन हमारे गाँव में भी आई। उनका गाँव नरयनऊ के पास था। गोरों ने घर की दो तरुण बहुओं को एक्के में बैठाकर छावनी की ओर रवाना किया। रास्ते में दोनों तालाब या कुएँ में कूदकर मर गईं। मैं अपने भाग्य को कोसती हूँ, मैंने भी क्यों नहीं वैसा ही किया। मुझे जीवन का लोभ हो आया। ऐसे ही भूलती भटकती मठिया के महन्त के पास आजमगढ़ पहुँच गई।

बछवल में उसी वक्त एक दुर्घटना घट गई थी। बुआ के जेठे लड़के रमेश—उम्र में मुझसे छोटे—बड़े गरम मिजाज के थे। एक दिन बात बात में एक लड़के से तकरार कर बैठे और उसे उठाकर तालाब में फेंक दिया। मामला पुलीस में गया, और जाँच में दारोगा के अतिरिक्त इन्स्पेक्टर साहब आये। गवाही साखी के वक्त मैं भी रहा। फूफाजी की पंडिताई का इन्स्पेक्टर के ऊपर भी प्रभाव पड़ा और लड़कों का झगड़ा समझा बुझाकर वहीं दबा दिया गया। इन्स्पेक्टर साहब का ध्यान मेरी ओर खासतौर से आकर्षित हुआ था। मैं ? उर्दू संस्कृत कुछ अंग्रेजी जानता था, इसकी खबर कहाँ तक उन्हें मालूम थी, यह तो नहीं कह सकता, किन्तु मैं उस वक्त 19 वर्ष का लम्बा छरहरा, पतला किन्तु स्वस्थ जवान था—गाँव के देखनेवालों के कहे अनुसार 'निखरी जवानी' थी। पतली साफ धोती, लाल जूता, फलालैन की बगलबन्दी के विनीत वेष का भी प्रभाव पड़ना जरूरी था। पूछने पर जब फूफाजी ने अभिमानपूर्वक कहा—"मेरे साले के लड़के—मेरे ही लड़के हैं।" तो इन्स्पेक्टर साहब ने कहा—"ऐसा लड़का मेरा होता तो मैं उसे अंग्रेजी पढ़ाता।" शायद डील डौल को देखकर उनको खयाल हुआ, अंग्रेजी पढ़ाकर एक दिन मेरी तरह इन्स्पेक्टर बनना इसके लिए आसान होता। अब कनैला का थाना जहानागंज टूटकर चिरैयाकोट हो गया था। एक दिन वहाँ के दारोगा साहब ऐसे ही गश्त लगाते कनैला आये। मेरे दर्वाजे पर थोड़ी देर के लिए ठहरे। बनारस के रहनेवाले खत्री नौजवान थे। कालेज में पढ़ाई छोड़कर पुलीस में आ पड़े थे। बड़े बड़े मन्सूबे

थे, इसलिए बेचारे वर्तमान परिस्थिति से सन्तुष्ट न थे। शायद उन्होने मुझमे कुछ समानधर्मता देखी, इसीलिए तो पुराने स्वप्नो को मेरे सामने रखने लगे। पुराने आशाभग स्वप्नो का सकथन भी बाज वक्त अच्छा मालूम होता है। मुझे खयाल आता था, अपने शैशव का जमाना, एक बार पिता ने गाँव के दूसरे घर का कुछ खेत रोक दिया था—हक का झगडा था—फौजदारी के मामले मे जहानागज के दारोगाजी जाँच करने आये। गाँव के बाहर पोखरे के पास पकडी के वृक्ष के नीचे चारपाई पर दारोगाजी बैठे थे। आसपास लाल पगडी बाँधे सिपाही और काला कुर्ता पहिने चौकीदार बैठे हुए थे। रात थी, लालटेन की रोशनी मे—लालटेन जरूर दारोगाजी अपने साथ लाये होगे, क्योकि गाँव मे अभी मिट्टी का तेल और लालटेन पहुँच न पाई थी—दारोगाजी दोनो ओर के गवाहो की गवाही लिख रहे थे। मै देख रहा था, किस तरह सारे गाँव और सात आठ वर्ष के बच्चे मेरे ऊपर भी दारोगाजी का रोब छाया हुआ था। बहुत दिनो तक सिउबरती (शिवव्रता मंझली) बुआ, नानी या दूसरे के मुँह से कहानियाँ सुनते वक्त राजा का नाम आने पर मुझे पकडी के नीचे के वह दारोगा साहेब तथा उनके आस पास के सिपाही-चोकीदार याद पडते थे। आज दारोगाजी को मैं अपने सामने, किसी जबर्दस्ती छीन लिये गए आदर्श के वास्ते अफसोस करते, और अपने को सवेदना प्रकट करते देख रहा था।

होली के दिन मै बछवल मे रहा। योगेश प्रयाग लौटनेवाले थे, इसलिए किसी दिन उनके साथ चल देना मेरे लिए आसान था। हम लोग रात को योगेश के ननिहाल शाहपुर मे रहे। उनके मामा लक्ष्मी को बछवल की पहिली यात्रा मे देखा था, उनकी उम्र उस वक्त छोटी थी और उनकी जनानी आवाज को लोग मजाक उडाते थे। वह घर पर न थे। रानी को सराय स्टेशन से हम दोनो का रास्ता दो तरफ होनेवाला था। योगेश की गाडी कुछ पहिले रवाना हुई। रानी की सराय को चार साल बाद देखने का मौका मिला था, किन्तु गाडी की जल्दी मे मैंने उधर ध्यान नही दिया। हाँ, योगेश की गाडी से जानेवाले मेरे सहपाठी जहाँगीरपुर के द्वारकाप्रसाद मिले। हम दोनो ने एक साथ निजामाबाद मे मिडल पास किया था। वह जौनपुर मे अमीन का काम करते थे। दूसरे एक परिचित व्यक्ति पन्दहा के थे। उन्होने मुझे बिल्कुल नही पहिचाना, जिससे मालूम हुआ कि [illegible] मेरे चेहरे मे बहुत परिवर्तन हो गया है। जीवन मे बारह और चौबीस वर्षवाले चेहरे मे बहुत अन्तर होता है। मैंने भी [illegible] हालत मे परिचय देना नीति विरुद्ध समझा।

भटनी मे जाकर भेष मे परिवर्तन की जरूरत पडी। वैरागी साधु चाहे तो सारे मुँह और सिर के बाल को मुँडा सकता है, या सभी को रख सकता है। मै अब तक कनैला मे गृहस्थ वेश मे था। [illegible] नाई ने इस काम को खुशी से कर दिया, यद्यपि मूँछ मूँडते हुए उसे आनाकानी हुई—मूछ हमारी तरफ वही हिन्दू मुँडा सकता है जिसका बाप मर गया हो।—हाँ अब मेरे चेहरे पर जरा जरा से बाल उग रहे थे। वेस्टकोट को नाई को ही दे दिया—वह बाबू की शाहखर्ची पर बहुत खुश था, उसको क्या मालूम था कि बाबू वेश विरुद्ध समझकर उससे पिण्ड छुडा रहे हैं।

9

फिर परसा में

गुरुजी आशा को बिल्कुल तो छोड नही बैठे थे, किन्तु उन्हे मेरे आने मे सन्देह होने लगा था। मुझे लौटा हुआ देखकर उन्हे बडी खुशी हुई। पिता और फूफाजी जान गये, कि मैं कहाँ गया हूँ, किन्तु अब वहाँ से लौटाकर लाना अपने बूते से परे की बात समझकर वे चुप रहे। रामदास फिर मेरी खिदमत मे आ गया, और तीन महीने पहिले जैसी दिनचर्या फिर शुरू हुई।

पढने के बारे मे कुछ कहने पर गुरुजी साफ इनकार नही करते थे, कभी कहते 'अच्छा' कभी कहते 'यही ओझाजी से पढते क्यो नही ?' कभी कहते 'मैं बूढा हो गया हूँ खडा होकर चल नही सकता, न जाने किस दिन

आँखे मुँद जाये, तुम मठ का कारबार सँभालो।' यह बात मुझे रुचिकर नहीं जँचती थी सही, किन्तु मैं यह भी देख रहा था कि मठ का प्रबन्ध बहुत खराब है। हिसाब किताब का कोई खयाल नहीं करता। आमदनी से खर्च बहुत ज्यादा था। सरासर घाटे के काम बड़े उत्साह के साथ 'लाभदायक उद्योग' के तौर पर किये जाते थे। परसा में मठ के बहुत से धान के खेत थे, जिनके लिए 10, 15 रुपया एकड़ पर लगानवाले आसानी से मिल जाते, किन्तु उनको खास 'जिरात' में रखा गया था। मैंने हिसाब करके दिखलाया कि इन खेतों की जुताई, रोपाई, निकाई, सिंचाई, कटाई, दँवाई पर जितना खर्च होता है, उतनी भी उनसे आमदनी नहीं होती। 10, 15 रुपये एकड़ मालगुजारी का जो नुकसान होता है, सो अलग। लेकिन गुरुजी इस बात को भी नहीं समझ पाते थे। कारिन्दा समझा देते— 'माल में धान की कितनी बड़ी राशि खलियान में दिखलाई पड़ती है, सब खरीदना पड़ता।' और गुरुजी भी वही दुहराते। मन्दिर के सभामण्डप का काम भी घटने की जगह बढ़ता ही जा रहा था। इस वक्त बनारस के मिस्त्री उस पर काम कर रहे थे। इन दोनों बातों को रुकवा सकना मैं अपनी शक्ति से बाहर की बात देखता, किन्तु कर्ज का रास्ता रोकना तथा आमदनी के रास्ते को स्थायी करने के लिए कुछ करना जरूरी था।

मठ का सबसे बड़ा गाँव बहरौली था, जिसकी सालाना आमदनी पाँच हजार थी। यह गाँव मठ के प्रभावशाली संस्थापक बाबा परमादीराम को अठारहवीं सदी में दिल्ली से दान मिला था। गाँव के [illegible] तालुके से मालगुजारी कभी वसूल न होती थी [illegible] यह बड़ा [illegible] था। पचासों [illegible] आने पर भी गाँव के [illegible] सरकार के पास जमा की जानेवाली मालगुजारी का कुछ हिस्सा [illegible] है। [illegible] बहरौली के सारे खेत रब्बी के हैं। आज से पचास वर्ष पहले [illegible] बिहार में प्रसिद्ध थी। उसके निलहे साहबों का आस पास के सैकड़ों गाँवों पर भारी रोब था। कोठी का विशाल बँगला, [illegible] फैक्टरी तथा मशीनें उस वक्त भी मौजूद थीं। नील का रोजगार जब जोर पर था, तो बहरौली के आधे से अधिक खेतों में नील की खेती हुआ करती थी। नील की खेती के बन्द होने पर [illegible]। [illegible] मुकर्री [illegible] जमीन [illegible]। अभी सब खाद डालकर नील की खेती में [illegible] घनी आबादीवाली बहरौली के किसानों ने बीस बीस पच्चीस पच्चीस रुपये एकड़ [illegible] बन्दोबस्त लिया। अब उन किसानों से वह रुपया [illegible] बहुत सी मालगुजारी बाकी रह गई।

उस वक्त इस बाकी पड़ी मालगुजारी पर मैं इस दृष्टि से [illegible] रहा था [illegible] हमारे [illegible] पटवारी मिलकर कुछ ले दे वसूल होनेवाली रकम को भी [illegible] तो मालिक से कहते— सरकार, वसूल होने लायक नहीं है [illegible] हजार रुपये छोड़ जाते। यह बात मुझे मालिक के साथ [illegible]। [illegible] अपने उद्योग से कलकत्ता में जा एक अच्छी सम्पत्ति पैदा की थी, [illegible] रुपये [illegible] पर लेने के लिए तैयार थे। मैंने ने किया [illegible] गये, तो भी जिन लोगों के स्वार्थ पर इससे [illegible] ठीका दे देने पर अपनी ही जमींदारी में आप परदेशी [illegible] ठीकेदार ही को न मिलेगी। पटवारी ने [illegible] काम नहीं था। उसी में महीनों लग गये और [illegible] हल्का होता दिखाई पड़ा।

रात को मन्दिर की आरती पूजा और भोजन से छुट्टी हो जाने पर [illegible] में भी गुरुजी का पैर दाबने जाता था। यह वक्त था, जबकि गुरुजी अपनी तीर्थ यात्राओं, अपनी सुनी हुई कथाओं और मठ तथा सम्प्रदाय के मौखिक इतिहास को बतलाते थे।

परसादीराम की गुरु परम्परा पीछे जाती हुई शा०ज्हाँ—औरंगजेब के समकालीन सन्त धरणीदास तक पहुँचती है। वह एक अच्छे सन्त कवि हो गये हैं। परसादीराम के बाद रामसेवकदासजी महन्त हुए। इन्ही के जमाने मे सारन जिला कम्पनी के अधिकार मे गया। रामसेवकदास के शिष्य रामचरणदास कुछ दिनो अंग्रेजी पल्टन में सिपाही थे। गुरु के मरने पर उनके पुत्र लक्ष्मीनारायण महन्ती के दावीदार थे। हथुआ के बाबू छत्रधारीशाही, जो पीछे अपनी सेवाओ के कारण महाराज छत्रधारीशाही (वर्तमान हथुआ राजवश के पूर्वज) बने, उनकी पीठ पर थे। हथुआ राज्य की ओर से झरही के किनारे—रामनगर आदि पाँच गाँव परसा मठ को मिले थे, इसलिए मठ के उत्तराधिकार के प्रश्न पर मेरा भी बोलने का अधिकार है, यह उनका कहना था। दूसरे पक्ष ने—जिसमें परसा के बाबू लोग शामिल थे—श्री रामचरणदास को कह-सुनकर परसा ले आ, उनकी ओर से महन्ती का दावा दायर किया। लड़ाई बहुत दिनों तक होती रही, अन्त मे रामचरणदास की जीत हुई, और परसा मठ गृहस्थ के घर के रूप मे परिणत होने से बच गया। इसी मुकदमे मे बहरौलीवाली बादशाही माफी की सनद, अदालत मे जमा हो गई, और दायमी बन्दोबस्त के दुबारे सर्वे मे पेश न कर सकने के कारण बहरौली पर सरकारी मालगुजारी बँध गई, जो आस-पास की शरह से ज्यादा थी। रामचरणदास के महन्त होने पर बाबू छत्रधारीशाही ने अपने राज की ओर से दिये गये पाँचो गाँवो को परसा से लौटा लिया।

सन् सत्तावन के गदर मे विदेशी शासको के खिलाफ देश के विरोध को देखकर रामचरणदास के बूढ़े शरीर मे भी एक बार सिपाही-खून जोश मारने लगा। उन्होंने परसा के ठठेरों को बुलाकर तोप ढालने की सलाह भी की। गढ़ के बाबुओ ने बहुत हाथ बाथ जोड़कर उन्हें वैसा करने से रोका। बाबा रामचरणदास बड़े दीर्घजीवी थे, कहते हैं वह सौ वर्ष से ऊपर तक जिये, और उनके दाँत फिर से निकल आये थे। दान देने मे भी वह बड़े सखी थे। सामने जो कुछ आता उसे देने मे सकोच नही करते। मठ का कारबार छोटे महन्त श्रीरघुवरदास ने सभाला था, स वक्त मठ के हाथी को दान हो जाने के भय से परसा मठ पर आने नही पाता था।

हमारे गुरुजी के गुरु श्री रघुवरदासजी मे कोई खास विशेषता न थी, सिवाय इसके कि वह अपने मठ की सम्पत्ति का अच्छा इन्तिजाम कर लेते थे। इन्तिजाम करने के लिए मठ का एक और अधिकार था जिसे 'अधिकारी' कहा भी जाता था। वस्तुतः अंग्रेजी राज्य ने—हर तरह की सम्पत्ति पर व्यक्ति का निस्सीम अधिकार—एक ही लाठी मे सबको हाँककर मठ की सम्पत्ति पर व्यक्ति का एकाधिकार जिस तरह कायम कर दिया वैसा पहिले था भी नही। पहिले महन्त को मनमानी करने से रोकने का अधिकारी का अधिकार था, और महन्त पर इतर साधुओं, गृहस्थों तथा सम्प्रदाय के मडल का अधिकार होता था। परसा मे मेरे आने से पहिले ही अधिकारी का स्थान रिक्त हो गया था, और गुरुजी अपने स्वातन्त्र्य मे बाधक समझ अभी उसकी स्थापना के बारे मे सोच भी नही रहे थे।

परसा का मठ किसी समय कइल के मठ से निकला था। उसके सस्थापक कंवलराम के उत्तराधिकारी गृहस्थ हो गये, और आज उस मठ मे उन्ही की सन्तान गृहस्थ वैरागी के तौर पर रहती है। कंवलराम के गुरु मांझा के धरणीदास थे, यह बतला चुके हैं। इस प्रकार परसा मठ का नम्बर माँझी और कइल के पीछे पड़ता है, किन्तु वैरागी जगत् मे परसा ही का नाम ज्यादा प्रसिद्ध है, उसकी वजह यही है कि परसादीराम की शिष्यपरम्परा ज्यादा बढ़ी, और पिछली दो शताब्दियो मे वह युक्तप्रान्त और बिहार ही नही पजाब, महाराष्ट्र और बगाल तक फैल गई। उसकी शाखा-मठो की सख्या आज सैकड़ो है। उस वक्त गुरुजी इन मठो के नाम तथा उनके सस्थापको की विशेषताएँ बतलाते। वह खुद भी बहुत घूमे हुए थे। साथ ही कभी-कभी उन मठो के साधु मूलस्थान को देखने परसा आया करते थे, उनसे भी बातें मालूम होती थीं।

यद्यपि वह नही चाहते थे, कि मैं परसा से जाऊँ, तो भी वह आपबीती से जानते थे, कि मैं किसी वक्त चला भी जा सकता हूँ; इसलिए 'करम-धरम' (साम्प्रदायिक चाल-व्यवहार) सिखलाने मे बड़ी तत्परता दिखलाते थे। 'रामपटल' और 'रामपद्धति'—की छोटी-छोटी पोथियाँ मेरे हाथ मे थमा दी गईं थीं, और रोज आग्रह होता था—'इसमे से धाम क्षेत्र पच-सस्कार याद कर डालो।' वेदान्त और भगवती के महामन्त्र की सिद्धि की जिस पर मार पड़ चुकी हो, उसे आर्य समाज की छीट न पड़ने पर भी, ये पटल-पद्धतियाँ खिलवाड़-सी थीं; तो भी अब उन्हे देखना तो

जरूरी था। इसमें शक नहीं कि, धर्म और वैराग्य की खोज में मैं परसा नहीं आया था, मैं वहाँ आया था शास्त्र और संसार के विषय मे विस्तृत ज्ञान के सुभीते के खयाल से। परसा में एक दिन एक पंडित से मेरी बहस होने लगी, अद्वैत वेदान्त का पक्ष ले मैं बोल रहा था। गुरुजी को वेदान्त के सूक्ष्म सिद्धान्तों से क्या मतलब ! तो भी वह यह जानते थे, कि अद्वैत वेदान्त शंकराचार्य की चीज है, इसीलिए मुझसे कहा–यह हमारे सम्प्रदाय का सिद्धान्त नहीं है। मुझे यह भी एक नई सी बात मालूम हुई, क्योंकि मैं रामानन्द के शिष्य कबीर तथा रामानन्दीय तुलसीदास को अद्वैत वेदान्त का प्रेमी मानता था।

'पंचसंस्कार' की सोलहों आना जाली 'श्रुतियाँ' तो मुझे असह्य सी मालूम होती थी, क्योंकि रुद्री और यजुर्वेद के बहुत से अध्यायों को स्वरसहित पढ़ा होने से मैं पहचानता था, कि वेद के मन्त्रों की भाषा कैसी होती है। किसी नये मठ या साधु के पास जाने पर, उसके असली नकली पहचान के लिए धाम क्षेत्र सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते हैं। गुरुजी ने उसके कुछ प्रश्नोत्तर मुझे निम्न प्रकार बतलाए–

"कौन स्थान है महात्मा !"

"परसा।"

"आपके गुरु महाराज का नाम क्या है ?"

"श्री श्री श्री लक्ष्मणदासजी महाराज।"

"कौन अखाड़ा है ?"

"दिगम्बर।"

"कौन द्वारा है ?"

"सुरसुरानन्द।"

आमतौर से यही प्रश्न काफी होते हैं। धामक्षेत्र में वैष्णवों के चारों सम्प्रदायों के अलग अलग अयोध्या धर्मशाला, चित्रकूट गुरुविलास' आदि सूची दी गई है। पाँच सात बार के कहने पर भी मुझे उन सूचियों को रटते न देख गुरुजी ने चेतावनी देते हुए कहा–'यदि याद नहीं कर रहोगे, तो बाबाजी (निरुपन्नी) से पंगत (पंक्ति) से मार उठा देंगे।'

मैंने उत्तर दिया–"पंगत में बैठने की नौबत आने से पहिले मुझे सारे धाम क्षेत्र, पंच संस्कार याद हो गये रहेंगे।"

आजमगढ़ और छपरा के ज़िलों के बीच में सिर्फ बलिया या गाज़ीपुर में से एक ज़िले का अन्तर है। उन दोनों की भाषा भोजपुरी है, और आजमगढ़ के कुछ थानों में तो उसकी उपभाषा वही मल्ली बोली जाती है जो छपरा में। यद्यपि कनैला और पन्दहा दोनों की भाषा काशिका (बनारसी) उपभाषा के भीतर पड़ती थी, और इस प्रकार छपरा की भाषा से अन्तर था। इसी तरह कितने ही ग्रामीण आचारों और पूजा प्रकारों में भी अन्तर दिखलाई पड़ता था। इसी तरह कितने ही ग्रामीण आचारों और पूजा प्रकारों में भी अन्तर दिखलाई पड़ता था। जब पहिली बार बहरौली में मुझसे कहा गया–आज छठ का पर्व (कार्तिक शुक्ला षष्ठी सूर्य पूजा) है, तो मुझे यह नहीं मालूम हो सका, कि आज हिन्दू घर रात को कई घंटों के लिए स्त्रियों से शून्य हो जायेंगे। औरतों की बटगायनों में भी मुझे कनैला-पन्दहा से यहाँ फरक मालूम होता था। मेरे लिए यह भी तअज्जुब की बात थी, कि खासतौर से पहिले से इन्तिजाम न करने पर बहरौली जैसे बड़े गाँव में भी अरवा चावल–वैष्णव साधु उसी को खा सकते थे–नहीं मिल सकता; घर गाँव, हाट-बाजार सभी जगह लोग 'उसिना' चावल (उबले धान का चावल) खाने के आदी हैं।

मठ के साधुओं के साथ मेरा बरताव सदा सहृदयता का रहता था। ज्ञानप्राप्ति में सहायता के सिवाय मठ के अधिकार को मैं और किन्हीं अर्थों में नहीं लेता था। यद्यपि भविष्य की रूपरेखा मेरे सामने साकार नहीं थी, तो भी उस वक्त भी मुझे मालूम होता था, कि परसा मेरा 'अथ' और 'इति' नहीं होगा। मठ में साधुओं की संख्या 15, 16 के करीब रहती थी। मैं उन दिनों की बात बड़ी ईर्ष्या से सुनता था, जब परसा मठ की 'पंगत' में सौ

से कम साधु नहीं बैठते थे। मेरे गुरुभाइयों में श्री सीतारामदास शुरू ही से मेरे स्नेह के भाजन रहे। एक और तरुण गुरुभाई—जो थोड़ी-सी लघुकौमुदी भी पढ़े थे—से तो इतना स्नेह हो गया था, कि जब पहिली लम्बी यात्रा में लौटकर आने के बाद मुझे मालूम हुआ कि उनका देहान्त हो गया, तो इसका मुझे बहुत दिनों तक अफसोस रहा। मेरी कोठरी के बाहर मौनी बाबा का आसन था। वह भी परसा मठ के हितैषी सरल साधुओं में से थे। वह कभी नहीं बोलते थे, किन्तु अँगुलियों और आँख के इशारे से सभी बातें समझा देते थे, और स्लेट पेन्सिल की बहुत कम जरूरत पड़ती थी। महन्तजी का उन पर बहुत विश्वास था। वह भी मठ के कुप्रबन्ध से बहुत दुखित थे, किन्तु करते क्या? मठ के स्थायी साधुओं में सूरदास और माधवदास दो भाई थे। सूरदास—यह नेत्रहीन होने के कारण उनका नाम पड़ा—समझदार थे, किन्तु उनके भाई माधवदास आठ वर्ष के बच्चे के बराबर बुद्धि रखते थे। तरुण लड़के और छोटे-बड़े मठवासियों के लिए वह मनोरंजन की एक सामग्री थे। भात बनाने के बड़े बरतन उन्हें मलने के लिए दे दिये जाते और कहा जाता—माधवदास जाओ आज से तुम 'टाकना' (देग) के महन्त बना दिये गये। मजाक समझ जाने पर भी वह नाराज नहीं, खुश होते। सुदर्शनदास की कथा बड़ी मनोरंजक है। सोलह सत्रह वर्ष की उम्र में वह महन्तजी से शिष्य होने आये थे। दालान में सोये हुए थे। एक दूसरे साधु को बात मालूम हो गई, उसने तुलसी की कंठी ले धीरे से गले में बाँध दी। जिस वक्त वह कान में मन्त्र फूँक रहे थे, उस वक्त नींद खुली। अब क्या करते? चेला तो बन चुके थे, अन्त में वही साधना करना बन गया। एक और पागल साधु रंगादास (?) हमेशा अस्तबल में रहता। देग मलने का काम उससे लिया जाता। नहाते उसे कभी किसी ने नहीं देखा। जिस पुआल और चटाई पर सोता, उसे कभी बदलता नहीं था। एक बार उसके बदन से कई सेर मरे साँप बिस्तरे के नीचे पड़े मिले। इतना होने पर भी पैसा जमा करने में उस्ताद था। परसा से एकमा जानेवाली सड़क पर प्रायः आधी दूर बरगद के नीचे एक बिना जगत का कुआँ था। वह लोगों को वहाँ जाने आनेवालों को पानी पिलाता। बंगाल से लौटनेवाले कितने ही मुसाफिर एकमा स्टेशन से उतर इसी रास्ते जाते। पानी पिलाकर बड़े मधुर स्वर में कहता—'भैयाजी! और सभी तो पूरी हो गई। रामजी की दया से कुआँ भी बन गया, अब इसको मन का पक्का कर देने की सर्धा और बाकी है। जो आना दो आना पैसा दो पैसा बन सके, इस के काम में मदद करो।' और उसे पैसे मिल जाते थे। लोग समझते थे, इसी साधु ने कुआँ बनवाया है।

साधुओं में पढ़ने लिखने का अभाव था और उसके लिए प्रोत्साहन भी नहीं दिया जाता था। वहाँ ज्यादा थे ऐसे साधु, जिनके पास कम से कम दिमागी सम्पत्ति हो। जो बर्तन मल सकें, झाड़ू दे सकें, खाना बना सकें, हजारों छोटे मोटे शालिग्रामों को 'नहला' (?) फेर उन पर थोड़ा थोड़ा चन्दन और एक एक तुलसी का पत्ता रख सकें, राम लक्ष्मण सीता या राधा गोपाल की मूर्तियों के समय समय पर कपड़ा बदल सकें, पानी छिड़क सकें, तथा सबेरे झाल झनका कर आरती कर सकें, और रात को दूकान से लौटे गाँव के भगतों के साथ मिलकर रामायण के सम्पुट के नाम पर खूब गला फाड़ सकें। इसके ऊपर थोड़े लिखा पढ़ा जाने की जरूरत थी, तो महन्तजी के लिए एक 'हजूरिया' (साधु खिदमतगार) या भण्डारी (भण्डार के सामान का देन लेनवाला) हो। जिनमें कुछ साक्षरता हो तो अच्छी बात। शरीर से कुछ काम कर देना, दोनों शाम खा लेना, और समय बचे तो कुछ गला फाड़ लेना या गप्प उड़ाना बस यही वहाँ के साधुओं की दिनचर्या थी। वहीं क्या दूसरे वैरागी मठ भी इससे बेहतर हालत में नहीं थे।

हमारे नौकरों में कोचवान नकछेदी थे, जिनका लड़का रामदास मेरा अपना खिदमतगार था। नकछेदी बहुत सीधे सादे बूढ़े आदमी थे। गुरुजी के उस वक्त के खिदमतगार दुक्खन के बाप और नकछेदी से जब भेंट हो जाती तो मजा आ जाता। दुक्खन के बाप दूर से बिना बताये गोली दागने की तरह नकछेदी के पास जाकर हाथ धरती की तरफ बढ़ा बोलते—"पान (पाव) लागी, नकछेदी भाई!" "पान ले... अरे यह क्या बड़ा भाई छोटे भाई को कहीं पान' लगता है?"

"बड़े भाई तुम ही हो न?"

"कहने से हो जायेगे?"

"तो किसी का पच बद न?"

"पंच बदने की क्या जरूरत ? (नकछेदी राउत को पास-पड़ोस में किसी की ईमानदारी पर विश्वास नहीं था) वह तो दोनों का चेहरा ही देखने से मालूम हो जायेगा।"

"बाल की कम-बेशी सफेदी से उमर नहीं पहिचानी जाती ?"

"तो चमड़े की झुर्रियों से ?"

"हाँ", फिर सन्देह मे पडकर "नही, सारा गाव जानता है, कौन बड़ा कौन छोटा है।"

"तो नकछेदी भाई ! और किसी को पच नही मानने, तो भौजी (भाभी) को ही पच मान लें, वह जिसको छोटा कहें वही छोटा।"

"हूँ" हँसी को ओठों से बाहर न जाने के लिए पूरा प्रयत्न करते हुए "भसुर (बड़े भाई) के सामने भवेह (छोटे भाई की स्त्री) कैसे आयेगी ?"

"भावज को भवेह मत बनाओ, नकछेदी भाई !"

नकछेदी पूरी कोशिश करते, किन्तु दुश्मन के बाप की बहस तथा पचों का रुख उनके खिलाफ जाता।

मेरे लिए परसा का निवास बौद्धिक अनशन था। किस तरह के समाज में रहना पड़ता था, इसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर करा चुका। इसके अतिरिक्त यदि कोई थे, तो खुशामदी जीहजूरिए। उनकी बातों को सुनने से मालूम होता था, मठ और उसके [illegible]जान के वे कितने अनन्य भक्त हैं, किन्तु मौका पाते ही उन्हें आंख में धूल झोंकते देर न लगती थी। बड़ा घोड़ा बग्घी में चलता था, जिसकी आवश्यकता गुरुजी को भी रहा करती थी, इसलिए चैत में, डुमरसन के मेले में मैंने सवारी के लिए एक घोड़ा खरीदना चाहा। मैंने अपने जान एक विश्वसनीय आदमी को दाम ठीक करने में मदद देने के लिए चुना। सवा सौ रुपये में घोड़ा लिया गया, लेकिन पीछे मालूम हुआ, घोड़ा पचहत्तर से ज्यादा का कभी नहीं हो सकता। वह सारा वायुमण्डल सड़ाँद से भरा मालूम होता था। मेरा वह समय अच्छा गुजरता, जबकि 'सरस्वती' के नये आये अंक को या किसी और नई पुस्तक को पढ़ता। उस समय हिन्दी साहित्य आरम्भिक अवस्था में भी था। पूजा पाठ की तरफ मेरा मन न लगता था। सबेरे स्नान करके कोठरी में जाता। लोग समझते 'पुजारीजी' पूजा पाठ में लगे हैं और यहाँ पुजारीजी दर्वाजा बन्द कर बिस्तरे पर खूब पैर फैलाए लेटे हुए हैं, अथवा कोई उपन्यास या 'सरस्वती' का अंक पढ़ रहे हैं। मन्दिर के पुजारी दूसरे ही थे, किन्तु यदि कभी मेरे मत्थे पड़ता तो सवा मन शालिग्रामों को बड़े थाल में दो-दो घड़े पानी से एक एक करके धोना मेरे बस की बात न थी। सौभाग्य से स्नान शृंगार के वक्त मन्दिर के दर्वाजे पर पर्दा लटकता रहता था। उस वक्त मैं एक एक को अलग धोने की जगह अंजली की अंजली पानी में डुबाकर रखता जाता। यदि कपड़ा मजबूत होता, और मैं अपने दोनों हाथों से सारी ढेरी को उठा सकता, तो एक ही बार डुबो कर रख देता। श्रद्धा के साथ अत्याचार करने का यही नतीजा होता है। अभी तक मैं आर्यसमाज के मूर्तिविरोधी प्रभाव में नहीं आया था, तो भी मेरे लिए शालिग्राम के वह काले-काले गोल-मटोल चिकने पत्थर निरे पत्थर थे। बेगार की तरह उन पर चन्दन और तुलसीदल भी डाल देता। जल्दी पर्दा हटा देने पर डर था सन्देह होने का, इसलिए भीतर ही बैठा एक शालिग्राम को दूसरे से लड़ाया करता।

परसा में यदि किसी आदमी से मिलने में मुझे प्रसन्नता होती, तो देवढ़िया (डेवढ़िया) के ओझाजी थे। सिद्धान्तकौमुदी (व्याकरण) के कितने ही भाग को समाप्त कर चुका था, तो भी मुझे रस आता था काव्यशास्त्र के विनोद में। कादम्बरी तो नहीं किन्तु दशकुमार चरित का बहुत सा अंश मैं पढ़ चुका था; नाटक तो कई, काव्यमाला में छपे भी कितने ही। एक दिन याद है, पंडितराज जगन्नाथ पर हम वार्तालाप कर रहे थे, और शाहजहाँ के इनाम देने की बात कहने पर पंडितराज ने कहा था—

> "न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं, न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
> इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता लवंगी कुरंगीदृगंगीकरोतु।"

आज से तीन सौ ही वर्ष पूर्व एक ब्राह्मण महान् विद्वान् ने 'यवन' तरुणी से ब्याह किया था, इसका मेरे दिल पर, सामाजिक रूढ़ियों को लेकर, क्या प्रभाव पड़ा था, उसे नहीं कह सकता। वस्तुतः, उस समय मेरे दिल पर सबसे अधिक असर यदि किसी विचारधारा का था, तो वह वेदान्त का, और वेदान्ती व्यवहार में सड़ियल से सड़ियल, सरासर बेवकूफी से भरी, नितान्त परस्पर-विरोधी बातों पर भी विश्वास करने का विधान करते हैं।

10

परसा से पलायन (1913 ई.)

बहरौली के ठीके पर चले जाने से प्रबन्ध का कुछ काम मैंने सम्पादन कर दिया था। इधर बौद्धिक अनशन में भी सब्र का प्याला लब्रेज हो चुका था। अब के लीची-आम-कटहल के फल खूब डटकर खाये, और उनकी फसलें भी समाप्ति पर पहुँच गई थीं। गुरुजी से मद्रास और बम्बई प्रान्त के तीर्थों और वहाँ के वैरागी स्थानों के बारे में भी काफी सुन चुका था। पढ़ने की इच्छा तो प्रबल हो ही रही थी, साथ ही बाजन्दा ने भी दिन रात रट लगानी शुरू की–

"सैर कर दुनिया की गाफिल ज़िन्दगानी फिर कहाँ
ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ।"

किसी को मन की बात बतलाना, यहाँ भी कनैला की भाँति ही नीति के विरुद्ध था, गुरुजी की ओर से जरूर बाधा पहुँचाई जाती। मैंने मन्दिर बनानेवाले बड़े मिस्त्री महावीरराम–जो बनारस के होने से मेरे ज्यादा विश्वास-भाजन थे–से तीन रुपये लिये, और रात को ट्रेन से थोड़ा ही पहिले जा एकमा पहुँचकर गाड़ी पकड़ी (जुलाई 1913)। दो-एक संस्कृत पुस्तकें, दो धोतियाँ, दो लंगोटियाँ, गमछा और बिछौने के लिए आलवान का एक पल्ला मात्र मेरे पास था। ज्यादा चीज ले ही कैसे सकता था ? एकमा में हाजीपुर का टिकट खरीदा।

हाजीपुर में सबसे पहिले जरूरत पड़ी लोटे की। लोटे के बिना किसी साधु के स्थान पर जा कैसे सकता–तुरन्त कह बैठता, लोटे बिना यह साधु अपना 'करम-धरम' कैसे निबाहता है ? आठ आने में पीतल का बगाली लोटा लिया–पैसे को कम से कम खर्च करना जो था। यह पहिली बार रमते साधु के तौर पर मुझे किसी स्थान में जाना पड़ा, इसलिए परीक्षा में उपस्थित होनेवाले विद्यार्थी की तरह दिल में धकधकी हो रही थी। 'अखाड़ा द्वारा' तो खैर याद ही था। रात को रेल की बत्ती के सहारे मैंने 'धामक्षेत्र', 'पंचसंस्कार' के भी कितने ही अंशों को रट लिया था–कहीं कोई पूछ न बैठे। रामचौरा मठ में गया। किन्तु वहाँ परसा स्थान-भर बतलाने की जरूरत पड़ी, बाकी मेरा भव्य वेश बतला देता था।

परसा से प्रस्थान करते वक्त यह तो निश्चय कर लिया था, कि अब के मद्रास की ओर चलना है, किन्तु कैसे, यह तै नहीं कर पाया था। जब निश्चय किया, कि रेल के लिए पैसा भी नहीं है, और पैसा होने पर भी पैदल ही चलना उत्तम। पिछली बार तो मैं कनैला से मुरादाबाद तक सर्पगति से मार्ग की सारी भूमि को स्पर्श करते गया था, अब के मंडूक-प्लुति (मेढक-कुदान) कर रहा था। हाजीपुर में मैं एक-दो दिन रह रेल से बरौनी पहुँचा। शाम होने को आयी थी, मैं स्टेशन से पश्चिमवाले नजदीक के गाँव में गया। संस्कृत-भाषण के भरोसे समझ रहा था, किसी संस्कृतज्ञ के यहाँ रात-भर को शरण मिल ही जावेगी। किन्तु, वहाँ जिस ब्राह्मण देवता से मुलाकात हुई, उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं वैरागी हूँ, तो उनका मुँह बिगड़ गया। अवहेलनापूर्वक एक चौपाल की-सी जगह बतला दी। मैं क्या-क्या विचारता वहाँ जाकर सो रहा।

सबेरे घाट की गाड़ी पकड़, गंगा पार हो रेल द्वारा लखीसराय पहुँचा। पूछने पर साधु के स्थान का पता लग गया, और सड़क से दाहिनी ओर के मुहल्ले में उस छोटी-सी ठाकुरबाड़ी में पहुँचा। वहाँ सिर्फ एक मूर्ति साधु

थे। अच्छी तरह आसन लगवाया। उनके मधुर वार्तालाप में चन्द ही मिनटों में मालूम हुआ, कि मैं किसी अपरिचित स्थान में नहीं हूँ। तीन रुपये की पूँजी खतम होने जा रही थी, इसलिए यहाँ से आगे पैदल चलने की सोच रहा था। रास्ते के बारे में जब स्थानीय महात्मा से पूछा, तो उन्होंने कहा—आगे वैजनाथ का जंगल आयेगा; इसमें चोर-डाकू लगते हैं, आपके पास कुछ है या नहीं यह वे क्या जानेंगे; पहिले विषबुझा उनका तीर आपको लग जायेगा, फिर आकर टटोलेंगे। अन्त में उनकी सलाह से मैंने यही तै किया कि आसनसोल तक के रास्ते को रेल से पार कर लिया जावे, जिसमे जगल भी खतम हो जावे, फिर पैदल चला जायेगा।

नदी पार क्यूल में गाड़ी पकड़नी थी। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ, गाड़ी में कुछ देर है। एक मुसल्मान टिकट कलेक्टर से पूछताछ करने लगा। उन्होंने बड़ी नम्रता से सब बतलाया, और साथ ही मेरे बैठने के लिए कुर्सी मँगवाकर रख दी, खाने-पीने का आग्रह करने लगे। पहिले मुझे समझ में नहीं आया, क्यों वह इतना अधिक सम्मान प्रदर्शन कर रहे हैं। मेरे बदन पर शान्तिपुरी पाढ़ की सफेद नफीस धोती सादगी के साथ अँचले के रूप में बँधी थी। बदन पर दूसरा कुर्ता आदि कुछ नहीं था। हाथ और पैर का बहुत-सा भाग खुला था। दूसरी धोती में पुस्तक लँगोटी में लिपटी बँधी थी। कन्धे पर, शायद, साफ पतला गमछा था। शिर और पैर नंगे थे। अच्छा खाने पीने तथा घोड़े की सवारी करते रहने से शरीर मांसल और दृढ़ मालूम होता था, ऊपर से सुगन्धित तिल के तेल की रोजाना मालिश ने चमड़े को स्निग्ध और छायावास ने उसे शुभ्र बना दिया था। क्या इस आकृति ने टिकट कलेक्टर पर प्रभाव डाला था ? कुछ जरूर, किन्तु अधिक असर मेरी भाषा का पड़ रहा था। शायद टिकट कलेक्टर युक्तप्रांत के रहनेवाले थे, मेरी उर्दू तथा उसके परिष्कृत उच्चारण से वह ज्यादा प्रभावित हुए थे।

ट्रेन आयी। बहुत से कम्पार्टमेंट खाली थे। मैं एक कम्पार्ट में टिकट कलेक्टर से कृतज्ञता प्रकट करते हुए चढ़ने जा रहा था, कि बगल के कम्पार्टमेंट में बैठे एक सज्जन बोल उठे—'इसी कम्पार्टमेंट में आइए महाराज !' मैं उसमें चला गया। टिकट-कलेक्टर से 'आदाब' हुआ, कुछ मिनटों में गाड़ी चल पड़ी।

हमारे कम्पार्टमेंट के दूसरे साथी ने बात शुरू की। स्थान पूछने पर परसा बतला दिया, व्यवसाय तो साधु था ही। कहाँ जा रहे हैं ?—जहाँ सींग समाये, लेकिन अभी आसनसोल तक। उनके बारे में पूछने पर ज्ञात हुआ, वह बाढ़ के वकील गुरुेश्वरीशरण (?) कचहरी की छुट्टियों में पुरी, रामेश्वर और शायद द्वारिका के भी दर्शन के लिए निकले हैं। प्रारम्भिक परिचय के समाप्त होने के बाद उनका सबसे ज्यादा आग्रह था आसनसोल में न उतरकर, सीधे उनके साथ चलने का। मैं पैदल चलने का पक्षपाती था, रेल के डब्बे में बन्द होकर एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाने में मुझे कोई मजा नहीं मालूम होता था। वकील साहेब के सभ्रान्त व्यवहार को देखते अन्त में उनके आग्रह को अस्वीकार करने में मैं समर्थ नहीं हुआ। तै हुआ, मेरे खाने पीने का प्रबन्ध वकील साहेब करेंगे, और रेल की सवारी बिना टिकट।

आसनसोल, आद्रा और खड्गपुर में ट्रेन बदलनी पड़ी। बिना टिकट कैसे हम बचकर नई ट्रेन पकड़ सके, इसकी कोई बात याद नहीं है। शायद किसी टिकट कलेक्टर से सामना नहीं पड़ा, एक जगह तो पुल से न जाकर लाईन ही पार कर हम दूसरे प्लेटफार्म पर चले गये। खुर्दा से पुरी तक का टिकट ले लिया गया था। यहीं से किसी पंडे का आदमी भी साथ हो लिया। स्टेशन से घोड़ा गाड़ी पर चढ़ हम पंडा के घर पहुँचे। कोठे पर एक अच्छी साफ सुथरी कोठरी हमको मिली।

सत्ताईस वर्ष पहिले उस वक्त पुरी के किस किस स्थान को मैंने किस रूप में देखा, यह तो पूरा मुझे याद नहीं। जगन्नाथ के मन्दिर के ऊपर की अश्लील मूर्तियाँ तो हम दोनों को नापसन्द आईं। जगन्नाथ के दर्शन में बदरीनारायण की भाँति ही मुझे कोई विशेष प्रभावोत्पादक बात नहीं मालूम हुई। एक बार हम लोग समुद्र में स्नान करने भी गये थे। दो या तीन दिन पुरी में रहे। रोज एक शाम जगन्नाथ का प्रसाद—'हटका'—चला आता था। चलते वक्त पंडा ने अपनी बही या रजिस्टर सम्मति लिखने के लिए वकील साहेब के पास भेजी, उन्होंने अंग्रेजी में अपनी बहुत बुरी सम्मति लिख दी। न जाने क्यों, मुझे यह बात पसन्द न आई। पंडे इतनी खातिर और आराम के साथ रखकर, कुछ दक्षिणा की आशा रखते हैं, तो कौन-सा बुरा करते हैं।

मैंने पुरी तक ही रेल से चलने की बात स्वीकार की थी। अब मैंने यहाँ से पैदल यात्रा शुरू करने की बात

कही। वकील साहेब बहुत प्रार्थना करने लगे, और सकोच के मारे मैं फिर नही न कर सका, यद्यपि समझ रहा था, कि मैं कितना पर्यटन के आनन्द से वचित किया जा रहा हूँ।

खुर्दा से दो चार ही स्टेशन आगे तक का मेरे लिए टिकट लिया गया था। अब की हम लोग मद्रास मेल मे बैठे थे। एक ही ट्रेन मे तीस घटे से ज्यादा चलना पड़ा होगा, और एकाध बार टिकट चेकर जरूर आया होगा, किन्तु याद नही कैसे पिंड छूटा। यदि ट्रेन से उतार देता तो मुझे बडी खुशी होती। रास्ते के दृश्य बिहार और युक्तप्रान्त से बिलकुल भिन्न थे। चिल्का झील का भूगोल मे पढ़ा था किन्तु अब उसे प्रत्यक्ष आँखो के सामने देख रहा था। उसकी मछुवे की नावे और उन पर के पाल बलात् मेरे ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे मैं उनमे सत्यनारायण की कथा मे आये साधु बनिये के व्यापारी जहाजियो को देख रहा था। पास ही छोटे-छोटे पहाड, लाल जमीन, दूर तक फैले धान के खेत थे। स्त्री पुरुषो की वेशभूषा से मालूम होता था कि मैं किसी दूसरे द्वीप मे जा रहा हूँ, विशेषकर आन्ध्र-स्त्रियो मे किसी-किसी की चार चार जगह छिदी नाक–दोनो नथुने, नासिकान्त और विभाजक दड। जितना ही आगे बढता जाता लोगो का रग अधिक साँवला तथा काला और उसी के साथ काया खर्व होती जाती थी।

मद्रास हम लोग सबेरे नौ या दस बजे पहुँचे थे। बिना किसी दिक्कत के वकील साहब के साथ मै 'छत्रम्' (धर्मशाला) मे पहुँचा। छत्रम् रेल की सडक पार करके पडता था। अब यहाँ से दूसरी ट्रेन से रामेश्वर जाना था जो रात को दूसरे स्टेशन से जाती थी। दिन मे हमने घूमकर मद्रास शहर के कुछ हिस्सो को देखा। वहाँ के अधिकाश एकतल्ले मकानो को देखकर मालूम नही होता था, कि हम भारत के तीसरे बड़े शहर मे घूम रहे हैं। स्त्रियो की तेज रग की चारखानेवाली साडियाँ तथा नगे शिर ने मेरा ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था–यहाँ परदा के लिए कितनी बेपरवाही है। आठ दस घटे ठहरने को मिले थे, किन्तु उनको भी शहर को अच्छी तरह देखने मे वकील साहेब ने नही खर्च किया। मुझे अब और आगे रेल से चलना असह्य मालूम हो रहा था किन्तु साफ इनकार करने की हिम्मत नही पडती थी। इतने दिनो तक साथ साथ रहने से वैसा करने मे बड़ी बेमुरव्वती मालूम होती थी।

शाम को नौ या दस बजे डाक छूटनेवाली थी। सैदापेट का टिकट लेकर मै भी वकील साहेब के साथ बैठा एक कदम भी रेल से आगे जाना नागवार गुजर रहा था, किन्तु मानसिक परवशता–मुरव्वत के बन्धन को तोडने की हिम्मत नही थी। सिर्फ एक आशा थी टिकट चेकर पर यदि वह आ जाय, तो उतरने का नाम लेते ही मै इतना दूर चला जाऊँगा, कि फिर वकील साहेब नही पा सकेगे। मै धडकते दिल से ट्रेन खुलने की प्रतीक्षा कर रहा था, और जब टिकट चेकर को ट्रेन के डब्बों के बीच बीच से आर पार गये रास्ते से आते देखा तो चित्त मे कुछ प्रसन्नता हुई। टिकट चेकर ने मेरे टिकट को देखते ही अग्रेजी मे कहा–"उतरो, यह ट्रेन सैदापेट मे नही खड़ी होती।" मैं दर्वाजे की तरफ बढ़ा, वकील साहेब 'जरा ठहरिए' कहकर कुछ बहस करने लगे। बहस के परिणाम को सुनने की मुझे ख्वाहिश नही थी, मैं दर्वाजे से तुरन्त प्लेटफार्म पर और फिर वकील साहेब की नजर से ओझल।

मालूम हुआ, सैदापेट मे खडी होनेवाली गाडी दूसरे प्लेटफार्म पर है। रात के दस या ग्यारह बज रहे थे जब मैं सैदापेट स्टेशन पर उतरा। गुरुजी कहा करते थे, कि मद्रास मे यात्रियो के ठहरने के लिए जगह जगह 'छत्रम' बने हैं, जिनमे से अधिकाश मे सदावर्त भी मिलती है। रात को सदावर्त से तो मुझे मतलब नही था, किन्तु छत्रम की जरूरत थी, रात को रहने के लिए भी, और साथ ही आसपास के तीर्थो के बारे मे जानकारी प्राप्त करने के लिए भी। स्टेशन से बाहर निकलते ही एक लडका मिला। मैंने अग्रेजी मे 'छत्रम् कहाँ है' पूछा। उसने कहा–"मै उधर ही जा रहा हूँ, चले आइए।' मैं अंग्रेजी मे ही बातचीत करता जा रहा था। आगे किसी परिचित व्यक्ति से उसने हिन्दुस्तानी मे बातचीत की। मेरे पूछने पर लडके ने कहा–हम इधर के मुसलमान हिन्दुस्तानी भाषा मे ही बोलते हैं। उस वक्त मुझे नाना की बात याद आयी। वह कहा करते थे– तिलगाना (आन्ध्र) मे जब कोई भाषा समझनेवाला नही मिलता, तो हम मुसलमान के बारे मे पूछते थे। मुसल्मान जरूर हमारी बोली समझ लेता था। लडके ने छत्रम के दर्वाजे पर मुझे छोड दिया। रात को मैं दर्वाजे के बाहर चबूतरे पर सो गया।

सवेरे छत्रम् मे किसी से आगे के दर्शनीय स्थान के बारे मे नही मालूम हो सका। बिना किसी से पूछे सड़क

पकड़कर एक तरफ चल पड़ा। कितनी ही दूर पर सड़क की दाहिनी तरफ एक बड़ा बँगला देखा, हाते में कुछ दरख्त थे, फूल नहीं, और एक कोने में था एक पक्का कुआँ। मैं कायदे-कानून से परिचित न था, कि किसी के हाते में जाना जुर्म है, विशेषकर कुएँ को तो घर के आँगन में भी होने पर मैं सार्वजनिक सम्पत्ति समझता था। मैंने कूएँ पर जाकर इत्मीनान से पानी भरकर दातुवन की, स्नान किया। तब तक देखा, बँगले के बाहर के दरख्त के नीचे तीन चार कुर्सियाँ पड़ गई है, और उन पर एक तरुण और दो स्त्रियाँ बैठी है। स्त्रियाँ उत्तरी भारत की तरह साड़ी पहिने हुई थी। हाते के भीतर आते वक्त यह नहीं मालूम था, कि बँगले में कौन रहता है। स्नान करते ही वक्त नौकर ने आकर इशारे से मुझे मालिक के बुलावे की खबर दी। वहाँ जाने पर तरुण ने मेरे स्थान आदि के बारे मे पूछा और यह भी कि कहाँ जा रहे है। उसकी माँ और बहिन भी बात में सम्मिलित हो गई। उन्होंने खाना खाकर जाने के लिए कहा। वह बेला भी उसी की थी। मैंने दाल, तरकारी का झगड़ा छोड़ा और रोटी को घी मिश्री से खा लेने मे जल्दी समझी। पंजाबिन स्त्री का हाथ हो, और वह छटाँक दो छटाँक से कम घी की बात चलाये! एक कटोरी घी की भरी आई। खाना खाया। कोई लाहौर का उर्दू का अखबार था, उसे जरा-सा पढ़ा, और फिर चलने के लिए उठ खड़ा हुआ। तरुण ने आज रह जाने के लिए कहा, किन्तु आज रहने और कल रहने के फेर में मैं अभी अभी छूटकर आया था। तरुण ने मेरे लिए आस पास किसी तीर्थ के बारे मे नौकरों से पूछा और तिरुमले (?) का नाम मालूम हुआ। 'तिरुमल अरु', (तिरुमल जाना) इतना मैंने तामिल में सीख लिया, और जहाँ कोई आदमी सामने से आता दिखाई पड़ता उसे दुहरा देता। वह हाथ से इशारा करते हुए 'इग पो' (इधर जा) कह देता! सत्तर तिरुमल तक मुझे सड़क ही से जाना पड़ा था, यद्यपि सड़क कच्ची और कितने ही खेतों से होकर जाती थी।

तिरुमल में मन्दिर के सामने एक कमलपुष्कत सरोवर था। दक्षिण के प्रायः सभी मन्दिर इसी तरह के होते हैं, इसलिए यह उसकी विशेषता नहीं हो सकती थी। हाँ, उसके पास एक छोटा सा पथरीला पर्वत था, जिस पर मन्दिर नहीं तो एक गोपुर (द्वारशिखर) जरूर था, जिसमें रात के वक्त एक से अधिक लालटेनें उसके दो-तीन तलों पर जलाई जाती थी। तिरुमल में शाम से बहुत पहिले पहुँच चुका था। यहाँ संस्कृत के कारण मुझे बोलने चालने में कोई दिक्कत नहीं हुई। मन्दिर में दर्शन किया, किसी नवपरिचित व्यक्ति ने मुझे यह भी बतला दिया, कि शाम को मन्दिर की भोजनशाला में पथिकों को दध्योदन मिलता है। दध्योदन है तिल के तेल में मेथी या किसी दूसरी चीज का तड़का देकर छौंका हुआ मट्ठा और भात। खाने में खट्टा नमकीन अच्छा लगा। पुजारी से यह भी पता लगा, कि यहाँ 'उत्तराधिमठम्' भी है। उत्तराधिमठम् में जाकर एक आचारी और आचारिणी मिले। यद्यपि वैरागी तो वह निम्न श्रेणी का उनको समझते थे, तो भी वहाँ रात को रहने के लिए जगह मिल गई और साथ ही आगे के दर्शनीय स्थानों के बारे में बहुत सी बात मालूम हुई। उन्होंने कहा करते थे कि दक्षिण में तीर्थस्थानों को 'दिव्यदेश' कहते है, उनकी संख्या सैकड़ो है, जहाँ पर कि रामानुजाचार्य और दूसरे महात्माओं का वास रहा है। इन उत्तरार्धी (उत्तर भारतीय) आचारी साधु साधुनियों से पता लगा, कि तमिलप्रान्त के बहुत से दिव्य देशों में उत्तरार्धी साधु रहते है। उन्होंने कुछ के नाम भी लिखवा दिये। यह भी मालूम हुआ कि प्रायः हर मन्दिर में दो-चार नवागन्तुक के लिए 'प्रसाद' बँधा हुआ है।

ये 'उत्तरार्धी' आचारी हम वैरागियों को नीची निगाह से देखते थे, किन्तु दक्षिणी गृहस्थ आचारियों की दृष्टि में उनका भी स्थान वैसा ही था, जैसा उनकी दृष्टि में हमारा। गुस्से में आकर मैंने उत्तरार्धियों को 'वैरागी' कहकर गाली देते भी सुना था। ये 'उत्तरार्धी' सभी दिव्य देशों में कैसे पहुँच गये और स्थानीय ब्राह्मण पुजारियों के विद्वेषक होते भी कैसे ये अपना अड्डा जमा सके, यह भी एक मनोरंजक बात है। उत्तरीय भारत में साधुओं और उनके मठ को स्त्री संसर्ग से बिलकुल शून्य रखना आवश्यक माना जाता है, किन्तु इधर इसमें कुछ उदारता थी, इसका कारण ढूँढने पर पता लगा–उत्तरीय भारत के विरक्त आचारियों के भी दक्षिणी आचारी ही आदर्श और पूज्य है, और दक्षिणी आचारियो में कोई भूला ही भटका होगा, जो गृहस्थ न हो। इस प्रकार मठ में स्त्री का रहना उतना निन्दनीय नहीं समझा जाता, खासकर जब कि स्त्री के बारे में कोई समीपस्थ सम्बन्ध बतलाया जा सकता हो। इन उत्तरार्धियों में से अधिकांश तीर्थ करने के लिए पैसे कौड़ी बिना छत्रम् का चावल पकाते, तथा मन्दिर

का पुंगल (खिचड़ी)। दध्योदन खाते हुए आये थे। किसी दिव्य देश में पहुँचकर जहाँ-तहाँ से फूल-पत्ता जमाकर "पुष्पकैंकर्य" (फूलों द्वारा सेवा) करने लगे। मद्रास और आसपास के श्रद्धालु अब्राह्मण भक्तों से उनकी कुछ जान-पहिचान बढ़ी। उत्तर भारत में सारे अब्राह्मण तो शूद्र माने नहीं जाते—वहाँ तो ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, अगरवाल आदि पचासो जातियो को भोजन और प्रणाम को छोड बिलकुल एक समान माना जाता है, इतना ही नही कितनी ही जगह उनके हाथ की कच्ची पक्की भी चलती है, और यहाँ मद्रास में ब्राह्मण अपने से भिन्न को बहुत नीच 'शूद्र' समझते हैं। उत्तरार्धी ब्राह्मण आदतवश यहाँ अब्राह्मण गृहस्थो के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, जिसका असर पडना जरूरी ठहरा। व्यापार, व्यवसाय अब्राह्मण चेट्टी और मुदालियर लोगों के हाथ मे है, उत्तरार्धी अपने व्यवहार द्वारा उनका प्रिय हो जाता है, और इस प्रकार पुष्पकैंकर्य के लिए दो आना चार आना मासिक चन्दा कई जगहों से उसे मिलने लगता है। स्त्री और बाल-बच्चो का बोझ न होने से ये रुपये जमा होने लगते हैं, और थोडे ही दिनों में उत्तरार्धी का अपना मकान, अपना बाग, और कभी कभी काफी जायदाद भी हो जाती है।

तिरुमलै में मालूम हुआ, कि यहाँ से कुछ दूर पर पुन्नमलै का दिव्य देश है। मैंने रात को तमिल वाक्यों को काफी सख्या में अपने नोटबुक मे लिख लिया था। सबेरे रवाना हुआ। रास्ते में सौभाग्य से संस्कृत का जानकार एक तरुण कुछ दूर तक साथी बना, और फिर पूछते पाछते पुन्नमलै पहुँच गया। पुन्नमलै काफी बड़ा बाजार है। बस्ती मे नारियल के कुछ वृक्ष और बगीचे काफी हैं। यहाँ पहिले उत्तरार्धी मठ में गया। स्वामिनी एक उत्तरार्धिनी आचारिनी थी, जो बहुत दिनो से इधर रह जाने से तमिल खूब बोलती थी। वह इधर की आचारी (रामानुजीय अय्यगार) ब्राह्मणियों की तरह लाँग बँधी चारखानेवाली साड़ी पहिने हुए थी। देखने से मालूम नहीं हो सकता था, कि वह दीवाँ की रहनेवाली हैं। थोड़ा-सा परिचय दे पुस्तक रख मैं मन्दिर में चला गया। यहाँ भी मन्दिर तिरुमलै से बड़ा था। संस्कृत जाननेवाला मन्दिर में मिल ही जाता था। अपने असह्य जाति अभिमान के साथ तामिल ब्राह्मणों में यह बात तो जरूर है, कि उनमें शत प्रति-शत पढ़े हुए लोग है। वह कपड़ा लत्ता, घर द्वार ज्यादा साफ रखते हैं और बहुत काफी सख्या संस्कृताभिज्ञों की भी उनमें मिलती है। कह नहीं सकता 'पुंगल' मिला या दध्योदन, उसे खाकर मैं उत्तरार्धी मठ में चला आया। उत्तरार्धी मठ में एक आचारी भी थे। पहिले मैं समझता था, यही स्वामी हैं, पीछे यह बात गलत निकली। खैर, उनसे पूछकर आगे के कई दिव्य देशों के नाम और मार्ग के बारे में लिखा इनमे पहिले आनेवाले थे—पच्चपेरुमाल, तिरुमिशी और तिरुन्नानूर, पहिले दोनो में उत्तरार्धी आचारी रहते हैं यह भी पता लगा।

पच्चपेरुमाल दूर नहीं था, तो भी अभी प्रतिदिन एक दिव्य देश के दर्शन का नियम रखा। पच्चपेरुमाल एक छोटे-से गाँव का छोटा-सा मन्दिर था, किन्तु वह 'छोटा सा मन्दिर' राग-भोग, वस्त्र आभूषण, वृत्ति बन्धन में हमारे यहाँ के बड़े बड़े मन्दिरों की नाक काटनेवाला था। यहाँ के उत्तरार्धी आचारी अभी कुछ ही सालों से आये थे। उनका अपना मकान भी नहीं था। किसी तरह गुजारा कर लेते थे, किन्तु अब तक के देखे तीन दिव्य देशों में सबसे अधिक सहृदय मुझे यही मिले। रात को बड़ी देर तक उनके साथ दक्षिणी लोगों के आचार व्यवहार पर बातचीत होती रही। वह भी उनके जात्यभिमान से तंग आये हुए थे। आगे के बारे में उन्होंने बतलाया कि तिरुमिशी मे आपको श्री हरिप्रपन्नाचार्य मिलेंगे, वह हमारे उत्तरार्धियों में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति है।

11

तिरुमिशी का उत्तराधिकार (1913 ई.)

अगले दिन आठ बजे मैं तिरुमिशी (या तिरुमलिशै) में था। फूले कमल के साथ चारों ओर पक्का बँधा बड़ा तालाब, उसकी उत्तर और पूरबवाले छोर से दूर तक चली गई एकतल्ले खपडैल के, किन्तु स्वच्छ घरों की पंक्तियाँ, पश्चिम

तरफ काफी खाली जगह छोड़कर, मन्दिर का विशाल गोपुर (शिखरद्वार)—तरह-तरह के पशु पक्षियों, देव-देवियों की चूने-ईंटे की बनी मूर्त्तियो से अलकृत, और उसकी दोनों बगल से साँप की तरह से निकलकर चला गया चतुर्भुज प्राकार तथा तदन्तरालवर्ती देवालय समुदाय। प्राकार के दक्खिन-पश्चिम थोड़ी-सी वीथी छोड़कर फिर समरेखा में अवस्थित गृह-पंक्तियाँ। तालाब के पूरब तरफ फलों का बाग, सुन्दर मडप और फाटक।

तालाब में स्नान कर पहिले मैं देवदर्शन के काम से निवृत्त होने मन्दिर में चला गया। दर्शन के समय का भी खयाल रखना जरूरी था। यहाँ चार या पाँच सन्निधि (देवालय) थे। तिरुमिशी आलवार (भक्तिसार स्वामी) रामानुजी वैष्णवों के बारह प्रधान आलवारों (सिद्धाचार्यों) में है, यह मुझे उस वक्त मालूम हुआ था, जिस वक्त भारी रुद्राक्ष के कंठे और दूर से चमकते भस्म-त्रिपुड को धारण कर ढूँढ ढूँढकर मैं वैष्णवों के लिए लिखी गई गालियों को बड़े शौक से पढता था; उनमें से किसी पुस्तिका में वैष्णवों को नीच-अन्त्यजों का पन्थ साबित करने के लिए किसी पुराने ग्रन्थ का उद्धृत यह श्लोक मुझे याद था—

"विचक्षणो विश्वविमोहहेतुः, कुलोचिताचारकलानुयुक्तः
पुण्ये महीसारपुरे विधाय, विक्रीय शूर्प विचचार योगी।"

वही यह महीसारपुर था, और यहीं भक्तिसार स्वामी का जन्म और कर्म-स्थान रहा। किसी समय के एक शूर्पकार की जन्मभूमि होने से आज इसका यह सम्मान था किन्तु आज का शूर्पकार वीथी के भीतर तक घुस नहीं सकता था, मन्दिर के प्राकार के भीतर जाने की तो बात ही क्या?

दर्शन और प्रसादग्रहण से निवृत्त हो मैं उत्तराधी मठ में गया जो कि दक्षिणवाली वीथी में प्राकार से दूसरी तरफ था। लम्बा और कुछ मोटा सा एक प्रौढ वयस्क व्यक्ति चबूतरे पर बैठा हुआ था। मैंने संस्कृत में पूछा—उत्तराधी मठ यही है। संस्कृत ही में मुझे अपने प्रश्नों का भी उत्तर मिलता गया। बहुत देर बाद जाकर मालूम हुआ, कि यही स्वामी हरिप्रपन्न है। कुछ देर के बाद जब मैं चलने की इजाजत माँगने लगा, तो उन्होंने अकृत्रिम मधुर शब्दों में कहा—"दोपहर का प्रसाद पाकर न जाते।" रह जाने के बाद फिर बात शुरू हुई। मालूम हुआ उनका जन्म-स्थान बलिया जिले का है, वृन्दावन के किसी 'स्थल' में वह शिष्य हुए। वहाँ नलकोमठी का बहुत सा भाग पढ़े, फिर दिव्य देशों की दर्शन लिप्सा उन्हें यहाँ ले आई। छपरा और बलिया पास पास के जिले है, इसलिए छपरा का नाम सुनकर अधिक आत्मीयता अनुभव करना उनके लिए स्वाभाविक था। दोपहर के बाद जब जाने के लिए तैयार हुआ, तो कहने लगे—'महात्मा दो चार दिन यहाँ विश्राम करो। इसे दूसरे का स्थान मत समझो। तुम्हे दिव्य देशों के दर्शन की लालसा है, तो मै भी उसी लालसा में खिचकर देश छोड़ इस मुल्क में आ पड़ा हूँ। पिछले पच्चीस वर्षो के निवास में मे सभी दिव्य देशों में घूम आया हूँ। मैं तुम्हें वह सब बात बतला दूँगा, जिनके जानने से तुम्हारी यात्रा अल्पायास से होगी।

मुझको उनकी बाते युक्तियुक्त मालूम हुई, और मैंने अपने दंड कमण्डलु को वहीं रख दिया।

हरिप्रपन्न स्वामी वृन्दावन से खाली हाथ भागकर दक्षिण में आये थे। यहीं उन्होंने पुष्पकैंकर्य कर्म शुरू किया। धीरे धीरे मद्रास के कितने ही चट्टी गृहस्थ उनके परिचित हो गये। चार चार आठ आठ आने मासिक चन्दे की रकमे जमा करते अब उनकी आमदनी पचास रुपये मासिक से ऊपर पहुँच गई थी। आज स्वामी हरिप्रपन्न के पास वीथी में अपने दो घर थे, तालाब से पूरबवाला बड़ा गुलाब का बाग इन्हीं का था। कितने ही एकड़ धान के खेतो के अतिरिक्त कुछ हजार रुपये सूद पर भी चल रहे थे। 'यह सब भक्तिसार स्वामी व पुष्पकैंकर्य की कृपा से' जैसा कि वह कहते थे।

मठ में हरिप्रपन्न स्वामी के दो शिष्यों में देवराज फैजाबाद के रहनेवाले थे, और तीर्थयात्रा करते ऐसे ही भटकते हुए यहाँ पहुँच गये थे; दूसरे शिष्य रीवाँ राज्य के रहनेवाले हरिनारायण थे। देवराज बहुत सीधे-सादे थे, किन्तु गुरु का स्नेह और विश्वास उन्हीं पर ज्यादा था। पहिले हरिप्रपन्न स्वामी ने अपनी कठिनाइयों को मेरे सामने रखकर सहानुभूति प्राप्त की। तमिल ब्राह्मणों के अभिमान का उन्हें सचमुच निशाना बनना पड़ा होगा। खाली हाथ आकर उन्होंने यहाँ एक अच्छा धर्मस्थान तैयार कर दिया, इसमें किसको सन्देह हो सकता है। दो-चार दिन रहने

के बाद उन्होने कहा—"मैं भी पढ़ने के समय इसी तरह भागकर मारा-मारा फिरने लगा। पढ़ता होता, तो एक अच्छा पंडित होके रहता। तुम्हारी उम्र पढने की है, घूमना तो पीछे भी हो सकता है।"

बाजिन्दा की सदा जीवित वाणी के कोलाहल मे भी कभी-कभी हरिप्रपन्न स्वामी जैसो की इस युक्ति के तथ्य को मैं स्वीकार करता था। फिर उनका प्रस्ताव हुआ—"परसा गुरुजी को लिख दें, और कुछ मास यही रहकर विद्या पढ़े। व्याकरण के लिए हमारा देश जबर्दस्त है, किन्तु न्याय, वेदान्त, मीमासा और काव्य मे यहाँ वालो का अच्छा प्रवेश होता है। इस घर को अपना घर समझे। किसी बात की तकलीफ हो तो मुझसे कहे। यहाँ एक अच्छी संस्कृत पाठशाला है, यही रहकर संस्कृत क्यो न पढे?"

मुझे हरिप्रपन्न स्वामी की स्वार्थहीन सम्मति क्यो न पसन्द आती, आखिर सैर और विद्याव्यसन मे कौन मुझे अधिक प्रिय है, इस बात का पता तो अभी भी मुझे नही लग सका है।

तालाब के उत्तर-पूरबवाले मकान मे उस समय संस्कृत पाठशाला थी, जिसमे दो अध्यापक थे। मैंने जाकर पाठशाला मे नाम लिखा लिया। भक्ति (पीछे मीमासा शिरोमणि टी. वेंकटाचार्य), रंगा और श्रीनिवास मेरे सहपाठी थे। हम लोग पाठशाला की ऊपरी श्रेणी मे पढ़ते थे। भारी अन्तर था यहाँ के विद्यार्थियो और समकालीन काशी के विद्यार्थियो मे। लेकिन इसमे दोष हमारे यहाँ के विद्यार्थियो का नही है, आखिर वह जिन घरो से आते हैं, उनमे कितने सैकडे शिक्षित रहते हैं? बहुतेरे विद्यार्थी तो 'रामागति' शुरू करके 'इय स्थर' रटने लगते हैं और टोल से वर्णमाला और हिन्दी की पाठशालीय पुस्तको से भी परिचित नही होते। भक्ति और दूसरे साथी फूल [illegible] से भरे तालाब के किनारे घटो बैठकर उनके सौन्दर्य को देखते रहते, असाधारण वर्षा होने से [illegible] को देखने के लिए तीन-तीन मील तक जाते। क्या इस बात की आशा हम अपने बनारसी साथियो से रख सकते थे? यहाँ हम लोग सिर्फ पाठ्य-पुस्तको को ही नही रटते थे, बल्कि अपने मन से कितने ही काव्य, नाटक, चम्पू मिलकर या अलग-अलग पढ़ते थे। देलगामकथासार जैसे कितने ही अपरिचित काव्य नाटको को मैंने यहीं समाप्त किया। मालूम हुआ उपन्यास और कहानियो की भाँति संस्कृत के इन ग्रन्थो को भी [illegible] पढ़ाई मे शामिल किया जा सकता है। पाठशाला मे हम सिद्धान्तकौमुदी, मुक्तावली तथा [illegible] पढ़ते थे। मेरा मन खूब लग गया था, इसमें सन्देह नही।

हरिप्रपन्न स्वामी ने अब धीरे-धीरे अपने सारे परिश्रम के व्यर्थ जाने तथा मठ के चौपट हो जाने की बात कहकर प्रेरणा करनी शुरू की—"ऐसा स्थान जहाँ पढ़े-लिखे, सभ्य जनो का समागम सुलभ है, एक महान् पुण्यस्थली होने से सारे वैष्णवजगत् मे जिसका सम्मान है, ऐसी जगह रहना और दक्षिणियो को भी दिखला देना कि उत्तर भारतीय कितने विद्वान् हो सकते हैं, यह कैसा अच्छा होगा?"

वे बडे व्यवहारकुशल थे, उन्होंने अपने अभिप्राय को एक ही दिन मे नही कह डाला। उसके लिए पखवारों का वह इन्तिजार करते रहे। वह यह जान गये, कि वहाँ के सहपाठियो, पढ़ाई और समाज मे मेरा मन लग गया है। तो भी मैं बराबर उज्र करता रहा—"मैं एक जगह शिष्य हूँ।" "ठीक, किन्तु रामानुज स्वामी तो उस सम्प्रदाय के भी मूल हैं। उनके वेदान्त की परम्परा तो बल्कि आचारी लोगों के ही पास है"—उत्तर मिला। इसी बीच वृन्दावन के महान् नैयायिक सुदर्शनाचार्य (पंजाबी नही दूसरे) के प्रधान शिष्य श्रीभागवताचार्य श्रीरंगम् से तिरुमिशी आये। शायद हरिप्रपन्न स्वामी ने खासतौर से उन्हे बुलाया था। भागवताचार्य नव्य न्याय के भारी विद्वान् थे, अपने अध्यापक के सबसे तीव्र विद्यार्थी थे, और उत्तर भारत मे रहते तो उनकी बड़ी ख्याति होती। किन्तु, उनको दमा का रोग था; जाडो, और बरसात मे भी उत्तर मे रहने पर बराबर दौरा हो जाया करता था, इसी कष्ट से बचने के लिए वह तमिल प्रान्त मे चले आये थे। तमिल देश मे सर्दी का नाम नही, माघ-पूस मे भी वहाँ कपड़ा ओढ़ने की जरूरत नही पडती। यहाँ वह दमा से बचे रहते थे। वह अधिकतर श्रीरंगम् मे रहते, किन्तु बीच बीच मे रामानुजाचार्य की जन्मभूमि पेरम्बुदूर (भूतपुरी), तिरुमिशी, तथा दूसरे दिव्य देशो मे भी चले जाया करते थे। उस वक्त उनकी आयु 50 वर्ष से ऊपर की थी। उनका पतला दुबला गोरा शरीर, असामल प्रसन्नमुख, असाधारण मधुर वाणी, तथा परम सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किसी को भी अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रह सकता था। वह कुछ दिन यहीं रहनेवाले थे, और उनका आग्रह हुआ; मैं सपरिष्कार न्याय के किसी ग्रन्थ को शुरू करूँ। तर्कसंग्रह मैं पढ

चुका था, किन्तु उसी के प्रत्येक लक्षण का परिष्कार उन्होंने मुझे पढ़ाना शुरू किया। उनके पढ़ाने का ढंग सुन्दर था, न्याय जैसे शुष्क विषय में भी वह दिलचस्पी ला देते थे।

श्री भागवताचार्य मेरी ओर से बहुत प्रभावित हुए थे, कारण शायद पढ़ने की लगन तथा परिष्कृत रुचि ही रही होगी। हरिप्रपन्न स्वामी की बात का उन्होंने भी समर्थन करना शुरू किया, और अन्त में मुझे हरिप्रपन्न स्वामी का प्रस्ताव बलात् स्वीकार करना पड़ा। फिर से वासुदेवमन्त्र दिया गया, बाहुमूलों में तप्तमुद्रा (शंख चक्र) दी गई, हाँ उतनी गरम और उतनी निर्दयता से नहीं जितनी कि परसा के नये 'आचारी' के हाथों से मिली थी। दीक्षा के बाद भी पंक्ति में बैठकर भोजन करने के लिए प्रमाण चाहिए था, कि मैं ब्राह्मण हूँ। मैंने प्रयाग यागेश के पास पत्र लिख दिया, और उनकी चिट्ठी चली आई। लिखित प्रमाण हरिप्रपन्न स्वामी को नहीं दक्षिण की और उत्तरार्धी बिरादरी के लिए आवश्यक था।

यहाँ मेरे लिए पूजा-पाठ का विशेष झगड़ा न था। सवेरे शौच दातुवन खतम कर तालाब में स्नान करता, फिर, तालपत्र की छोटी-सी सुन्दर पिटारी से सफेद सुवासित रज, तथा लाल रोरी से ललाट में तिलक करता, और बस पूजा खतम। हरिप्रपन्न स्वामी, और पंडित भागवताचार्य संस्कृत की पाठ्य-पुस्तकों के पढ़ने को भी पूजा-पाठ का अंग समझते थे। नहाते वक्त हफ्ते में एक बार तिल के तेल की मालिश जरूर होती थी। यहाँ एक छटाँक तेल सुखा देना तेल मलनेवाले (स्नापक) के लिए प्रशंसा की बात न थी, और ऐसे स्नापकों की कमी भी न थी। खैर, बदन में तेल की खूब मालिश करानी अच्छी ही बात थी, किन्तु जब आँखों में भी तिल के तेल डालने की बारी आती तो मुझे बहुत बुरा लगता, लेकिन जब देवराज और हरिनारायण एक ओर से कहने लगते—इससे आँख निरोग रहती है, तो मानना पड़ता। नहाने के वक्त इमली जैसे एक फल (सिकाकाई) की पानी में पिसी लेई बदन में मलनी पड़ती। इससे बदन का तेल छूट जाता, और तेल लगकर धोती मैली नहीं होती। यदि तेल भी लगाना है और साथ ही कपड़े को भी उजला रखना है, तो इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं हो सकता था। हजामत बनाने में उत्तर भारत के वैरागी के लिए शिर मुँह का बाल साफ करना ही पर्याप्त था, किन्तु यहाँ सारे शरीर पर, निर्लज्जतापूर्वक भी—छुरा घुमवाना पड़ता था। छाती पर के रोओं का भी कटवा देना—मुझे व्यर्थ श्रम-सा मालूम होता था। उस वक्त मेरे दिल में यह ख्याल न आया था, कि यहाँ के कर्मनिष्ठ ब्राह्मणों के लिए सुई का सिला कपड़ा वर्जित है, वह कुर्ता, कोट, मिर्जई नहीं पहिन सकते, इसलिए कमर के ऊपर के बाल देखने में बुरे लगते हैं।

सब लोग, घर में और यात्रा में भी कदलीपत्र पर खाते थे। उनके सूखे पत्तर भी बाजारों में पत्तल की तरह बिकते थे। खाने में भात अनिवार्य चीज थी, और मैंने अपने को उसके अनुकूल बना लिया था। सवेरे जलपान में रात के बचे भात में ताजा बना दध्योदन मिलता था, जो सचमुच ही खाने में बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता था। दोपहर को उत्तरी भारत का दाल-भात, तरकारी के साथ दक्षिण का रसम या शातुमधु भी रहता था। कभी कभी लाल मिर्चों की शोखी बढ़ जाती थी, नहीं तो गरमागरम पीने या भात के साथ मिलाकर खाने में यह अच्छा मालूम होता। इसके इमली, लाल मिर्च, तिल का तेल—ये खास अंश थे। बुखार आने पर पथ्य के तौर पर जब हमारे एक मठवासी को रसमू दिया जाने लगा, तो मैं बहस कर बैठा—'क्यों बेचारे को मारना चाहते हो?' मेरे उत्तर भारतीय साथियों ने बतलाया—'यह उत्तम पथ्य है, यहाँ की आबोहवा में इससे नुकसान नहीं होता।' मैं समझता था कि इससे तिल्ली बढ़े बिना नहीं रहेगी। भात दाल मिट्टी की हँडियों में पकता था, और जब तक कोई ग्रहण नहीं आता, तब तक उनके बदलने की जरूरत नहीं पड़ती थी। मुसलमानी चौके की भाँति आचारी के चौके को भी दक्षिणी आचार के अनुसार धोने-धाने की जरूरत नहीं। वहाँ कोई खाता तो था नहीं, फिर सिर्फ कालिख और कचड़े की सफाई के लिए रोज-रोज के श्रम में एक-एक तोला खून सुखाना क्या बेवकूफी न थी? रसोई के कमरे से खाने का कमरा अलग था, और वह खूब साफ रहता था। खा लेने के बाद पत्तल अपने ही उठा लेनी पड़ती, फिर थोड़े से गोबर को लेकर उस पर चिपकाकर गिरे हुए चावल उठा लिये जाते, और पानी फेर दिया जाता। भोजन में आचारियों का नियम है—जो कि वस्तुतः तमिल वैष्णव ब्राह्मणों का आचार है—भोजन कच्चा हो या पक्का, सिर्फ उसी के हाथ का ही नहीं बल्कि उसी की दृष्टि के सामने खाया जा सकता है, जिसका सहभोज हो सकता है।

जिसका भोजन चलता है उसी का पानी भी, इस नियम के कारण बहुत से धनी तथा उच्च-पदस्थ मद्रासी ब्राह्मणों की स्त्रियो को भी अपने हाथ चौका-बासन, पानी भरना, रसोई बनाना पडता है।

खान-पान सम्बन्धी छूत-छात की अति मुझे उतनी नहीं खटक रही थी, क्योंकि इसमे कुछ उदार होने पर भी मेरी धारणा किसी सैद्धान्तिक विचार पर निर्भर न थी; किन्तु ब्याह-शादी की रीतियाँ मुझे बहुत खटकती थीं। भक्ति के पड़ोसी में एक अच्छे सस्कृतज्ञ विद्वान् थे, उनकी गौरी कन्या--नाम कोई... वल्लो पश्चिम वीथी के रहने वाले एक स्थूलकाय श्यामल तरुण से ब्याही थी। हमारी तरुण मडली को यह ब्याह अनुचित जँचता था; लेकिन मेरे आश्चर्य की तो सीमा नही रही, जब मालूम हुआ कि उक्त तरुण की सगी बहिन ही उसकी सगी सास भी है। मामा की कन्या से भाजे का ब्याह पहिले सुन रखा था, किन्तु बहिन की कन्या से विवाह उस समय मेरे लिए कल्पनातीत बात थी। उसके बाद कितने ही मामा और बुआ के दामादों को देखकर मुझे यह सब साधारण सी बात मालूम होने लगी। नगे शिर रहना, सौभाग्य का चिह्न होने से वहाँ स्त्रियों के परदे का तो सवाल ही न था किन्तु तरुण पति-पत्नियो का पिता-माता के सामने घूमने निकलना उत्तर भारतीय आँखों को विनयशून्यता मालूम होती थी--यद्यपि मैं उसका पूरी तरह से अनुमोदन करता था। शाम के वक्त तरुण पत्नी अपनी सर्पपुच्छाकार वेणी को फूलों से सजाती, साफ अक्सर रेशमी-भड़कीले रगवाली साड़ी को लाँग बाँधकर पहनती, फिर सन्तान होने पर उसका शृगार करके, पति के साथ बाग, वीथी, तालाब के तट पर घूमने निकल जाती। हमारे उत्तर भारत की बूढ़ी सासुएँ इसे 'निर्लज्जता की पराकाष्ठा' कहे बिना नहीं रहती। हाँ, एक बात मुझे जरूर खटकती थी--बुढ़ापे में कुछ विश्राम पाने की जगह वहाँ सासुओं को सबसे ज्यादा काम करना पड़ता था। वे बड़ी रहते ही रात से उठती, घर-आँगन झाडती, पानी मे गोबर घोलकर अविरल धार से सब जगह छिड़कती, फिर द्वार पर चूने से सुन्दर चौक पूरती--इस चौक के देखने मे मालूम होता था, दक्षिणी स्त्रियाँ अपनी उत्तरी बहिनों से कला सम्बन्धी सुरुचि मे काफी आगे बढ़ी हुई हैं। सूर्य उग आते, किन्तु अभी तरुण वधू की खुमारी ही नहीं टूटती। बूढ़ी सासु पानी गरम कर तैयार करती--शायद वह तेल-साबुन के साथ नहाना चाहे, केश धोना चाहे या कम से कम हाथ मुँह तो धोना चाहे। बहू के बच्चों को नहलाना-धुलाना आदि भी सासु का ही काम है। बर्तन साफ करना, खाना पकाना खिलाना, सासु से वंचित बहू को ही करना पड़ता--और सास रहने पर ऐसे घर में बहू कम ही बाप अपनी बेटी को देना चाहते। शाम को रसोई बनाना, बच्चों को खिलाना-पिलाना तथा देख भाल ही नहीं करना बल्कि बहू के केशों की वेणी बनाना--रोज नई वेणी गूंधने का रवाज बुरा तो नहीं है--उसे फूलों से सजाना भी सासु का ही काम है। सबेरे चार बजे से रात के दस बारह बजे तक सासु को साँस लेने की फुरसत कहाँ? चाहे पचास बरस की हो या सत्तर की, सासु का इसी तरह रोज-रोज, महीने-महीने, बरस बरस मशीन की तरह काम करते हुए उस दिन आँखों को सदा के लिए मुँद जाने पर ही छुट्टी मिलेगी। 'वृद्धा के साथ यह व्यवहार तरुण पत्र और पुत्रवधू में हृदय की कमी को बतलाता है'--उत्तरार्थियों के इस आक्षेप का दक्षिणी उत्तर देते थे--'किन्तु हर सासु को सास बनने से पहिले बधू का जीवन बिताना पड़ता है, और उस वक्त इन सुभीतों को वह पहिले भोग चुकी रहती है। साथ ही नब्बे फीसदी बधुएँ सासु की अपरिचित नहीं, उसके भाई, बहिन, बेटी की लड़कियाँ होती है।'

तिरुमिशी में मठ के भीतर छोड़कर बाकी वक्त मुझे सस्कृत का ही व्यवहार करना पड़ता था। वहाँ एक ब्राह्मण दूकानदार थे, जिनके यहाँ से तेल, दियासलाई या कोई चीज लाने के लिए जाने पर अंग्रेजी का व्यवहार करना पडता। तिरुमिशी मे मैं चार महीने रहा था, किन्तु पढ़ने लिखने जैसे मानसिक श्रम का काम भी इतने मनोनुकूल ढग, तथा स्निग्ध संसर्ग के साथ चला, कि कभी मन ऊबने न पाया, और सचमुच ही 'दिवस जात नहि लागहि बारा।' जरूरत न पडने से इस बार तमिल सीखने का मुझे मौका नहीं मिला।

हरिप्रपन्न स्वामी के एक शिष्य देवराज तो बहुत सीधे-सादे आदमी थे। चौका-बासन, रसोई, मन्दिर के भीतर मे पानी भर लेना (घर के कूएँ का पानी खारा था), और कुछ गाय बैलो के खिलाने-पिलाने में ताकीद--बस इतने ही मे उनका समय चला जाता था; हरिनारायणजी नाममात्र पढ़े, किन्तु होशियार थे, तो भी मुझसे उनको ईर्ष्या न थी, हालाँकि हरिप्रपन्नाचार्य का उत्तराधिकारी होने मे अपने हक से वंचित हो रहे थे। शायद इसका कारण मेरी मठ की सम्पत्ति और महन्ती से निस्पृहता थी। मेरी चिट्ठी जब परसा पहुँची, तो जवाब के साथ गुरुजी ने पचीस

रुपये का मनीआर्डर भी भेज दिया, और लिखा कि जब जरूरत हो, रुपये मँगा लेना, और दक्षिण के तीर्थों में खूब घूमना।

मन्दिर के तीनो तरफ (पूरब तरफ तालाब और आगे बस्ती न थी) की वीथियों मे सिर्फ ब्राह्मणों के घर थे। उनकी दीवारे ईंट की, छते खपड़ैल की थी, घर भीतर से खूब साफ थे। हर द्वार की भीतरी दहली में जंजीरों पर लकड़ी के तख्तों का एक झूला जरूर रहता, जिस पर आगन्तुक या काम से फुरसत पाया घर का आदमी भी बैठता था। सवेरे के वक्त हर द्वार पर भिन्न भिन्न ढंग के पुरे हुए चौक, तथा हर गोबर से पुती भूमि के कारण वीथी बहुत सुन्दर मालूम होती। मै वहाँ के ब्राह्मणो को जब अपने यहाँ के ब्राह्मणो से मिलाता तो सोचता यह बिना हाथ पैर हिलाए घरों में बैठे रहते है फिर इनका खर्च कैसे चलता है। दरअसल, ब्राह्मण का अपने हाथ से कुदाल चलाना, खुरपा इस्तेमाल करना भी यहाँ के लिए अनहोनी सी बात थी। मुसलमानी शासन की स्थापना से पहिले शायद उत्तरीय भारत मे भी ब्राह्मणो की यही अवस्था रही हो, किन्तु वहाँ तो नये शासन ने पुराने अग्रहारों, उनकी वृत्तियो और दानपत्रों को हजार शपथो और शूकर गर्दभ सन्तान होने की चित्रित गालियों के होने पर भी नाजायज करार दे दिया। शासनदण्ड के सामने किसकी चलती बनती है? इसी कारण उत्तर के ब्राह्मणों ने अन्त मे अपने शारीरिक परिश्रम पर निर्भर रहने की शिक्षा ग्रहण की। उसके विरुद्ध तमिल, केरल आदि प्रान्त सदा हिन्दू शासन के अधीन रहे, कभी मुस्लिम शासकों ने वहाँ स्थायी विजय नहीं पाई। उन्होंने दिल्ली के फरमान को मान्य भी ठहराया, तब भी अपने स्थानीय [illegible] दिल्ली के सामन्त या करद राजा रखते हुए ही इस प्रकार उनके अग्रहारों और देवालयों की [illegible] उनके हाथ से जाने नहीं पाई। उन्होंने अपनी पुरानी [illegible] संस्कृत शिक्षा के क्रम को भी जारी रखा, इस प्रकार वे निरक्षर नहीं बनने पाये, और साधारण जनता पर उनकी विद्या का रोब बना रहा। लेकिन [illegible] इस अविच्छिन्न शास्त्रीय धार्मिक परम्परा के कारण ही दक्षिण के ब्राह्मणों मे सबसे अधिक विचारों की संकीर्णता तथा सामाजिक विषमता भी अक्षुण्ण बनी रही।

तिरुमिशी में दो देवस्थान थे, वैष्णव देवस्थान के [illegible] गाँव से बाहर एक शैव देवस्थान भी था। वैष्णव शिव की मूर्ति को अचानक देख लेने मे भी पाप समझते है, किन्तु [illegible] के साथ रूपक में से उसे देखते [illegible]। [illegible] की जगह [illegible], [illegible] की जगह [illegible] [illegible] बातें यहाँ बाते कुछ [illegible] रूप मे यहाँ भी था। वैष्णव मन्दिर के पास [illegible] [illegible] समकर्ता एक अब्राह्मण मुदलियार था। हर महीने [illegible] दिन [illegible] में विशेष पूजा होती या किसी [illegible] देवता या आचार्य की मूर्ति [illegible] निकलती-प्रधान मन्दिर में अचल शिलामूर्तियां के अतिरिक्त जलूस में जाने के लिए एक [illegible] या छोटी चल मूर्ति भी रहा करती है। नाना सुवर्ण मणि मुक्ता के आभूषणों से सजाकर मूर्ति को [illegible] के [illegible] के चमचमाते प्रभामण्डलयुक्त सिंहासन पर रखा जाता। चार या आठ आदमी अब्राह्मण-सिंहासन को कंधों पर उठाकर चलते। आगे [illegible] बाजा [illegible] की प्रसिद्ध नफीरी (शहनाईचौकी) भी शामिल रहती-बजती, उससे भी आगे [illegible] धोती के ऊपर कमर में लपेटकर ऊर्ध्वकाय [illegible] रखे ब्राह्मण लोग पहिले 'द्रविड़प्रबन्ध' (तमिल गाथा) [illegible] वेदमन्त्र [illegible] चलते। स्त्री पुरुष सिंहासन के आगे से शिर झुकाए, नजदीक पहुँचने [illegible] रहते थे, पुजारी मूर्ति के सामने रखी घंटी से [illegible] चरण पादुका को विनम्र नर शिर पर रख देता।

लेकिन तिरुमिशी के अब्राह्मण टोले की ओर जाने पर यह सफाई, यह सुरुचि और वह संस्कृति नहीं दीख पड़ती। वहाँ निरक्षरता और गरीबी का [illegible] दिखलाई पड़ता, कुछ [illegible] पीत [illegible] घरों को छोड़कर। हमारे ब्राह्मण साथी बहुत कम उधर जाना चाहते, और उन्हें यह सुनकर [illegible] होता कि उत्तर के ब्राह्मण इन शूद्रों-यहाँ ब्राह्मण से अन्य सभी जातियां शूद्र समझी जाती है-के हाथ से पानी ही नहीं अन्न या मिठाई तक खा लेते है।

पहिले पहिल जब रात को कहा गया- [illegible] गाड़ी मे [illegible] [illegible] गाड़ी से तो मैंने अन्दाज लगा लिया-कई आदमियों का एक जगह [illegible] होना [illegible] मध्य [illegible] महार्घ पक्वान्न होगा। दो प्रधान मन्दिरों के सम्मिलित सभामण्डप में-[illegible] न रहने के कारण दिन मे भी अंधेरा

रहता था, रात के टिमटिमाते तेल के चिराग की वहाँ कौन सुनता, पत्थर के फ़र्श पर लोग–सिर्फ़ ब्राह्मण ही–बैठे हुए थे। मधुर स्वर मे कोई मुरली बजा रहा था। पुजारी पीतल के बरतनो से निकाल निकालकर हाथ मे चार-पाँच आवले के बराबर कोई चीज डालता जा रहा था। पहिले 'कुलीन' होने से दक्षिणी ब्राह्मणो के हाथ म प्रसाद दिया गया, फिर हम उत्तरार्धी 'नीच' ब्राह्मणो की बारी आई। अब्राह्मण मडप के दरवाजे से बाहर आसमान के नीचे अकेले टकटकी लगाये खडे थे। मेरे हाथ मे भी 'पुगल' पडा। बडे उत्साह के साथ मुँह मे डाला, देखा तो खिचड़ी–हाँ, वही खिचडी–जिस खिचड़ी के खाने की बात कहने पर यागेश को कितनी ही बार बात सुननी पडती थी। मैंने धीरे से हरिनारायणाचारी की ओर घूमकर कहा–'खिचडी ! यही पुगल !!' वहाँ से लौटते वक्त हरिनारायणजी ने एक घटना सुनाई–"बलिया जिले के नये बने दो आचारी बाप बेटे तीरथ करने दक्षिणापथ आये। इसी तरह गोष्ठी मे वह भी बडे उत्साह के साथ पुगलप्रसाद के लिए बैठे। आपकी तरह हाथ के पुगल को मुँह मे डाला तो लडका चिल्ला उठा–'अरे खिचड़ी है, हे बाबूजी, ससुर ने, पुगल कहके जाति ले ली।' "

खैर, मुझे जाति की परवाह नही थी, और यागेश जैसे खिचड़ी प्रेमी को तो काफी घी डालकर बनी उड़द चावल की खिचडी बहुत अच्छी भी लगती। मीठा पुगल, और मीठा 'दोसे' (चावल मूँग का मोटा चीला) तो मुझे भी अच्छा लगता, किन्तु वह कभी ही कभी बँटता था। और खीर के नाम मे तो आँसू गिर जाता। स्वामी हरिप्रपन्न का कहना था, पावभर दूध मे एक दक्षिणी मनभर खीर तैयार कर सकता है।

तिरुमिशी मे रहते पुन्नमले, पच्चपरुमाल, परम्बुदूर के उत्सवो मे मैं शामिल हो आया था। जिस दिन पहिले पहर हरिप्रपन्न स्वामी अपनी बडी (बैलगाडी) पुन्नमल चलने के लिए जुतवा रहे थे, तो मैंने कहा–'हम दौड़िया पद ही चले चलेंगे।' 'इसमें जल्दी पहुँचेंगे'–सुनकर मुझे विश्वास नही हुआ। हरिण की तरह पतले पाँव और छोटे सींगोंवाले मुट्ठी-भर के उनके बैल को देखकर तो और भी आशा नही हो सकती थी। लेकिन उस रह रास्ते पर मैंने उसे साधारण एक्के के घोडे की चाल से दौड़कर चलते देखा। बड़ी ऊपर से दाहिने से बाएँ मेहराब से छाई हुई थी। शायद पहियो पर स्प्रिंग नहीं था।

अगहन का महीना था, जब कि एक दिन हरिनारायणाचारी ने तिरुपती के पास तिरुवानूर के महोत्सव का जिक्र चलाया। बालाजी तिरुपती का नाम मैं परसा मे बहुत सुन चुका था सोचा चलो उसे भी देख आऊँ।

12
दक्षिण का तीर्थाटन

चौरस्ते पर दो रास्ते नजदीक क्या एक-दूसरे में मिश्रित रहते हैं, किन्तु वही आगे चलकर सैकड़ों हजारों मील दूर पड जाते हैं। इसी तरह आदमी चौरस्ते पर ज़रा सा पथान्तर करने पर आगे कहीं का कहीं चला जाता है। तिरुमिशी से चलते वक्त हरिप्रपन्न स्वामी ने तिरुपती के एक आचारी स्थान का पता दे दिया था, और शायद परिचय पत्र भी। रेल मे अकेले बैठने पर मैं सोचने लगा, आचारी के स्थान में चलूँ, या तिरुपती के वैरागी महन्तराज–कई लाख की तहसील रखनेवाले वे वस्तुत. राजा महन्त हैं–के स्थान पर। वहाँ की पंगत (पंक्ति) मे बैठ लेना वैरागी के लिए बड़े गर्व की चीज है। परसा के सम्बन्ध को मैंने दिल से तोड़ा नहीं था, क्योंकि अभी मैं निश्चय नही कर सका था, कि अपना कार्यक्षेत्र उत्तरीय भारत रखूँ या दक्षिणीय। अन्तिम निर्णय आगे के लिए छोडकर मैंने सोचा, तिरुपती मे वैरागी स्थान ही मे चलना अच्छा होगा।

वेष भूषा से मैं बहुत सम्भ्रान्त तरुण दीख पडता था, पढ़ा लिखा भी था, इसलिए मुझे महन्तजी के झाड़ फानूस से सजाये हॉल की बगल में एक अच्छी कोठरी में ठहराया गया। मेरे पास की कोठरी मे छपरा जिले के एक तरुण साधु थे, जो लघुकौमुदी पढ़ रहे थे। हॉल मे खुलनेवाले पूरब के कमरे में सुरसंड (मुजफ्फरपुर) लवाहीपट्टी के परमहंस के शिष्य एवं पंडित साधु रहते थे। इन दोनों व्यक्तियों से परिचय हुआ। सवेरे का जलपान तो कर

लिया। दोपहर के भोजन का समय आया। पंगत का घंटा या नगारा बजा। औरों के साथ मैं भी मन्दिर के सभामण्डप मे जाकर बैठा। थोड़ी देर मे एक रसोइया आया और उसने नम्र स्वर मे कहकर मुझे ले जा आँगन मे बैठे साधुओं की पंक्ति मे बैठा दिया। मैंने साधारण बुद्धि से समझ लिया, कि दोनों जगहों मे ऊँच नीच का कोई भेद है, और यह खयाल आते ही लोटा लिये मैं उठकर अपनी कोठरी ही मे चला नहीं आया बल्कि बाजार से कुछ सेब अंगूर तथा मिठाई लाकर खाने की तैयारी करने लगा। इसी बीच यह घटना मठ के प्रमुख व्यक्तियों को मालूम हुई। आदमी दौड़े-दौड़े मेरे पास आये—"चलिए, आप उठ क्यों आए?"

"आप मुझसे धाम क्षेत्र, पंचसंस्कार जो भी वैराग का करम धरम है, पूछते, न बतलाता तो जहाँ चाहते वहाँ बैठाते, किन्तु आपने एकदम से ले जाकर मुझे कँगालों मे बैठा दिया।"

"नहीं, कँगालों मे नहीं बैठाया था। ऊपर की पंगत मे ऊपर (बालाजी) जो हो आता, उसे वहाँ भी बैठाया जाता है। अभी आप ऊपर से नहीं हो आये हैं, इसी वास्ते रसोइये ने ऐसा किया।"

"तो अब तो मैं खाने की चीज ले आ चुका।"

"नहीं, गलती माफ कीजिए। रसोइए अनपढ़ मूर्ख होते हैं, आप जानते ही हैं। चलिए आप जहाँ चाहें वहाँ बैठें।"

और मैंने जाकर सभामण्डपवाली पाँती मे बैठकर भोजन किया।

तिरुपती अच्छा खासा शहर है। इस नाम पर मालूम होता था यह स्थान तामिल (द्रविड़) देश मे, नहीं आन्ध्र मे है। मठ (धर्मस्थान) के बारे मे पता लगा, पहिले यह सारी पार्वती-गाँव आदि—किसी राजा की थी। हाथीराम बाबा कोई बैरागी उत्तर भारत से आए, जिनसे राजा इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपना सर्वस्व भेंट दे दिया। मठ मे गाँवों की आमदनी लाख तक रुपये सालाना होती है। इसके अतिरिक्त ऊपर पहाड़ पर वेंकटेश (बालाजी) तथा नीचे के कई मन्दिरों के चढ़ावे की भी बहुत भारी आमदनी है। मन्दिरों की आमदनी पर उस वक्त भी महन्त का एकाधिकार नहीं था। पिछले कई महन्तों के जहर या गोली के शिकार होने की बात मैं सुन चुका था, इसलिए वर्तमान महन्त प्रयागदास का बहुत सतर्क रहना स्वाभाविक था। हाथीराम बाबा के समय से ही यहाँ के महन्त उत्तर भारतवासी होते आये हैं, महन्त प्रयागदास का जन्म राजपूताने का है। महन्तों के लिए बहुत पढ़ा-लिखा होने की कोई जरूरत नहीं, वैरागियों के यहाँ कहावत मशहूर है—पढ़े लिखे बन्धन का काम। मठ वालों ने मेरी आवभगत की, पर महन्त प्रयागदास से भेंट एकाध ही बार में हुई। स्थानपति का अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए कभी-कभी किसी को मुगालते में डालना मेरे स्वभाव से बिलकुल उल्टी बात थी।

यहाँ रहते हुए मैंने फिर सोचा और अन्त मे इसी निर्णय पर पहुँचा कि उत्तराखण्ड को छोड़कर दक्षिणापथ को मैं अपना कार्यक्षेत्र नहीं बना सकता, और जब इतना ही सिद्ध होने पर भी निकम्मी लाकर जाना उचित नहीं। मैंने परसा तार दिया और तार से ही स्पष्ट उत्तर आया। स्थान के वर्तमान महन्तजी का हस्ताक्षर जरूरी था इसलिए उस वक्त दो एक बात बोलने की जरूरत पड़ी। तिरुमल्ला या तिरुमला, तिरुपती से थोड़ी दूर पर एक गाँव है, जहाँ लक्ष्मी का पुराना मन्दिर है। यहाँ मे बैरागी भी हैं और यहाँ आन्ध्र ब्राह्मण पुजारियों के अतिरिक्त सैकड़ों वैरागियों और आचारियों के रूप मे कितने ही उत्तर भारतीय भी थे।

वेंकटाचलम या बालाजी का पर्वत तिरुपती से साढ़े छः मील दूर पहाड़ पर है। पहाड़ की जड़ मे सीढ़ियाँ बनी हैं, जिनमे पहिले तो दाता लोग अपना नाम खुदवाकर अमर फल पाने की कोशिश करते थे, और अब विज्ञापनबाजी के युग मे बहुत सी व्यापार कम्पनियाँ अचिर फल के लिए सीढ़ियों पर अपना नाम खुदवा रही हैं। पहाड़ की पैदल चढ़ाई मे जितना चक्करदार बिना सीढ़ी का रास्ता अच्छा होता है उतनी सीढ़ियाँ नहीं। सीढ़ियों पर आदमी जल्दी थक जाता है, तो भी सीढ़ी बनाने का रवाज बहुत पुराना मालूम होता है। सीढ़ियों को पार करने के बाद रास्ता साधारण चढ़ाई उतराई का शुरू हो जाता है। रास्ते के दोनों तरफ काफी जंगल है।

बालाजी की बस्ती अधिक यात्रियों और उनकी सहायता मे व्यापृत लोगों की है। तिरुपती के वैरागी संस्थान

का मूल मठ यहीं है, जो पहिले का राजप्रासाद बतलाया जाता है। मुझे पहिले मठ में जाकर आसन लगाना था। मठ के बाहरी भाग में पहाड़ी की जड़ में पाँती से बहुत-सी कोठरियाँ थीं, जिनमें से एक में दूसरे दो साधुओं के साथ मुझे भी स्थान मिला। संयोग से मेरी बगल में एक मस्तमौला साधु मिल गये, जो कई सालों से वहाँ रहा करते थे। बोलने-चालने, गाने-बजाने, देश-परदेश की बातों का जितना उनका ज्ञान था, उसके रहते वह मठ के प्रभावशाली व्यक्तियों में हो जाते, किन्तु उनको इससे मतलब नहीं था। बहुत दिनों तक भारत के भिन्न-भिन्न भागों की भी उन्होंने सैर की थी। आज यहाँ एक जगह रहने पर वह रोज दो-चार कोस दूर जंगलों में चले जाते थे। अंचला, कमंडलु के अतिरिक्त एक खँन्ती, झोली में गाँजे की चिलम, साफी तथा दियासलाई उनके पास होती। मौज आती तो बड़े स्वर के साथ गाते–"चार युगों में नाम तुम्हारा कृष्णकन्हैया तुम्हीं तो हो।" वह मुरादाबाद जैसे किसी शहर के रहनेवाले थे। भाषा उनकी स्वभावतः परिष्कृत थी। सैलानी तबियत के साथ इस विशेषता ने मुझसे उनकी घनिष्टता पैदा कर दी। शाम को हम दोनों दूर चले जाते। यहाँ तक चिलम-साफी से बचा आया था, किन्तु अब मैं न बच सका। दरअसल वैसा करने में हमारे साथ का आधा मजा ही किरकिरा हो जाता। कभी-कभी हम लोग दो-दो, तीन-तीन घंटा रात बीतने पर स्थान में लौटते। लोग कहा करते थी, इन जंगलों में बाघ रहता है, और एकाध बार बस्ती के पास की मठ की गौशाला से गाय को पकड़ भी ले गया, तो भी चिरनिवासी साथी को जब इसकी परवाह नहीं थी, तो मुझे क्या होती। शाम को चार बजे हम इस दैनिक सैर पर निकलते। दिन में एक और अड्डा बन गया था। बालाजी के मन्दिर के खुलते वक्त और जब तक खुला रहे, तब तक के लिए वहाँ वैरागी मठ के एक व्यक्ति का रहना जरूरी था। वह व्यक्ति एक उत्तर भारतीय पचास बरस के साधु थे। गले में सोने की साँकल, कान में साँकलदार मणिजटित कुण्डल, तथा बदन पर जरी की कीमती खिलअत पहिने वह द्वार की दाहिनी तरफ आकर खड़े होते, जब कि दरवाजा खुलता। उनका अपना स्थान और बगीचा था, उन्होंने उसे काफी आरामदेह और सजाकर रखा था। 'कृष्णकन्हैया' बाबा के साथ मैं एक दिन वहाँ गया। हाथीराम बाबा भी राजा से चौपड़ खेलते थे, इसीलिए शायद, यहाँ भी चौपड़ खेली जाती थी। मैं भी शामिल हो गया। खेल के बाद वहीं खाने का आग्रह। इतने दिनों में रहते भी उन्हें भात खाने की आदत नहीं थी। दोपहर को मुझे अक्सर वहीं खाना खाना पड़ता, और सदा पूड़ी ही बना करती। मालूम नहीं बालाजी में दस दिन रहा या पन्द्रह दिन, उनमें से अधिकांश दिनों दोपहर का भोजन मेरा यहीं होता रहा।

दूसरे मठों की भाँति बालाजी के "अधिकारी" का भी महन्त के नीचे मठ के प्रबन्ध में काफी अधिकार था। अधिकारीजी ज्यादा यहाँ ही रहा करते थे। उनके दोनों पैर बेकार थे। 'कृष्णकन्हैया' बाबा को जब कभी भी गाँजे की कमी होती, तो वह अधिकारीजी के पास चले जाते। अधिकारीजी उनको मानते थे। अधिकारी वस्तुतः महन्त की अपेक्षा साधुओं में अधिक जनप्रिय थे। बालाजी के मध्यम-श्रेणी के साधु कर्मचारियों के पास जब चालीस-पचास हजार रुपये जमा हो जाने आसान थे, तो अधिकारी के बारे में क्या कहना ?

बालाजी में सबसे मनोरम प्राकृतिक दृश्य की जगह मुझे एक हनूमानजी का स्थान मालूम हुआ। वहाँ बारहों महीने "जनु वसन्त ऋतु रह्यो लुभाई"। खूब दरख्त, चारों ओर हरियाली, पानी से भरा जलाशय, और आसपास वनाच्छादित पहाड़ियाँ थीं।

बालाजी का निवास भी अच्छा रहा, और छोड़ते वक्त, चित्त को उदासी मालूम हुई। किन्तु आखिर हर जगह एक-एक बरस देने के लिए हजार-हजार बरस की उमर भी तो चाहिए। हजार बरस की आयु होने पर भी कौन जानता है, वह एक साल भी आदमी की नजर में दस-पन्द्रह दिन का नहीं लगने लगेगा।

बालाजी से फिर तिरुपती और वहाँ से आगे की यात्रा आरम्भ हुई। अब मैं पहिले की भाँति तहीदस्त मुहताज नहीं था। पाँच रुपये जब हाथ में रहते तभी परसा तार देता, और तीसरे दिन पचीस रुपयों का मनीआर्डर पहुँच जाता, तो भी जो रुपये के बल पर सैर करना चाहता है, वह सैर का मजा नहीं उठा सकता–आखिर मिर्चों की कड़वाहट ही स्वाद है। अब के रेनगुंटा से जब हम स्वामिकार्तिक की ओर गये, तो हमारे साथ चार-पाँच और वैरागी थे। आचारियों की हद से ज्यादा छुआछूत, और 'मैं बड़ा–तू छोटा' की नीति ने भी मुझे तिरुपती में आचारी स्थानों में न जाने दिया। एक लोटा या कमंडलु लेकर कम से कम सामान के साथ घूमने की इच्छावाला आदमी

भला आचारी-खटराग को कैसे माथे पर ढो सकता है ? वैरागी इस विषय में कुछ स्वतंत्रता रखते थे, यद्यपि उतनी नहीं जितने कि संन्यासी। हम चार पांच वैरागी थे, किन्तु एक दूसरे के हाथ की रोटी खाने से पहिले हमें अपनी जाति का प्रमाणपत्र मँगवाना जरूरी नहीं था। स्थान, नाम, द्वारा-अखाड़ा का उत्तर जहाँ ठीक आया, कि समझ गये—टकसाली साधु है, नकली नहीं है।

स्वामिकार्तिक मन्दिर पहाड़ पर रेनगुटा से कुछ दूर शायद दूसरे स्टेशन पर था। किस तरह की मूर्त्ति, कैसा मन्दिर था यह याद नहीं। शायद पास के छत्रम में सदावर्त थी, जहाँ हमने भोजन बनाकर खाना खाया था।

चिंगलपट से हम पक्षीतीर्थ गये। उत्तर भारतीय साधुओं ने दक्षिण के अधिकांश नामों को दूसरे ही नामों से प्रसिद्ध कर दिया है, इसलिए कह नहीं सकते पक्षीतीर्थ का तमिल नाम क्या है ? वहाँ एक प्राकारवेष्टित विशाल मन्दिर है, किन्तु वैरागियों का पक्षीतीर्थ उसके पासवाली पहाड़ी पर है। रोज दस बजे पुजारी लोग कुछ भोजन बनाकर उस पहाड़ी के पार्श्व पर ले जाते हैं, फिर दो बड़े-बड़े पक्षी मँडराते उतर आते हैं, जिन्हें पुजारी भोजन कराते हैं। कहते हैं, यह पक्षी साधारण पक्षी नहीं, भगवान् विष्णु के वाहन साक्षात् गरुड़जी और उनकी धर्मपत्नी हैं। मुझे तो वह चमरगिद्ध (सफेद शरीर, काला पाँखवाले छोटे गिद्ध) मालूम हुए। वहाँ कितने ही श्रद्धालु गरुड़ महाराज को साष्टांग दंडवत् करते थे। नीचे के बड़े मन्दिर के बारे में यही याद है, कि उसकी किसी शाला में चमगादड़ियों की भरमार थी, और बदबू के मारे नाक फटी जाती थी।

कांचीपुर (कन्जीवरम्) के शिवकांची, विष्णुकांची नगरार्द्धों के मंदिरों में भी गया, किन्तु उस वक्त की कोई बात याद नहीं। श्रीरंग और मदुरा होते रामेश्वरम् चला। रामेश्वर का रेलवे पुल अभी नहीं बना था। जान पड़ता एक स्टीमर से उस पार गया। खाक चौक में डेरा गिरा। 'वैरागियों' के स्थान अधिकतर उन्हीं जगहों में हैं, जहाँ तुलसीकृत रामायण चलता है—यदि बंगाल के गौड़िया साधुओं को वैरागी में न गिना जाये। गुजरात में वैरागी स्थान बहुत हैं, और महाराष्ट्र में भी कितने ही हैं, किन्तु उनमें रहनेवाले साधु प्रायः हिन्दी-भाषा भाषी हैं। मद्रास की तरफ वैरागियों के स्थान कम हैं, जिसके कारण उन्हें कष्ट होता है। वस्तुतः स्थान क्या है, घूमती-फिरती पलटन की स्थायी छावनियाँ हैं, जहाँ पहुँचते ही साधु घर-सा अनुभव करने लगते हैं। यदि स्थानीय साधु के पास खान पीने का सामान है, तो वह हाजिर है; यदि नहीं है, तो वह एक लोटा पानी लेकर खड़ा हो सकता है, अभ्यागत उसके लिए बुरा नहीं मानेगा। उसके पास अपना जो कुछ रहेगा उससे रोटी बनावेगा और स्थानीय साधु को भी खिलावेगा। दक्षिण में वैरागी साधुओं के अभाव होते भी वहाँ छत्रम और सदावर्त काफी हैं, जिससे यात्रा असह्य होने नहीं पाती। रामेश्वरम् में एक या दो ही वैरागी साधुओं के छोटे छोटे स्थान हैं—खाक चौक और रामझरोखा। खाक चौक बस्ती में होने से अधिकांश साधु यहीं जाते हैं। एक, दो दिन तक साधु-सेवा भी होती है, शायद दायक अधिकतर उत्तर-भारतीय यात्री होते हैं। रामझरोखा बस्ती से बाहर एक जगह है। उस वक्त एक चलते पुर्जे साधु यहाँ रहते थे। वह दो-चार अभ्यागत साधुओं को बुला लाते यात्रियों से—'हमारे स्थान में बच्चा, इतनी मूर्त्तियाँ हैं, कुछ रागभोग का इन्तजाम करो' कहकर सामान लाते। शाम को साधुओं को एक-एक मुट्ठी चना देकर टरका देते। दूसरे दिन फिर रामेश्वर से दूसरी मूर्तियाँ फँसा लाते।—यही उनका काम था।

रामेश्वर के मन्दिर की विशाल शालाएँ, छत से ढँकी परिक्रमाओं को देखने से मालूम होता था, कि मन्दिरों के बनाने में उत्तर-भारत दक्षिण-भारत से कितना पिछड़ा हुआ है—यदि हम मुसल्मानों के शासन काल में टूटे मन्दिरों की गिनती न करें। रामेश्वर के प्रधान गर्भ मन्दिर के सामने कोई मंडप बन रहा था। भीतर शिवलिंग पर लोग जल चढ़ा रहे थे, कितने ही काशी, हरद्वार और गंगोत्री का गंगाजल ढाल रहे थे।

रामेश्वर से कुछ साधुओं के साथ मैं धनुषकोडी के लिए निकला। स्टेशन के रास्ते में एक दो आदमियों के साथ एक तरुण ब्रह्मचारी दयाशंकर—नाम में भूल हो सकती है (वह उनके हाथ पर खुदा हुआ था)—मिले। उनके बदन पर एक लम्बी अल्फी, शिर पर एक छोटा सा अँगोछा, हाथ में पीतल के कमंडलु में शंख थी। मझोला कद, छरहरा बदन, गोरा रंग, आयु 26, 27 की होगी। शहरी हिन्दी बड़ी बेतकल्लुफी से बोल रहे थे। मालूम हुआ उनका जन्मस्थान मथुरा है। वह भी धनुषकोडी जा रहे थे। हम लोग रामेश्वर के टापू के दूर तक फैले बालू, काँटेदार बबूलों और ताड़ों को देखते रेल से रवाना हुए। स्टेशन से उतरकर कुछ दूर पर ताड़ के पत्तों

मे छाई एक वैरागी कुटिया थी। अभी हाल ही मे बनी थी, इसलिए बड़ी बेसरोसामानी थी। उन्हे मीठा पानी दूर से लाना पड़ता था। खैर, उस तपती भूमि मे ताड पत्तो की छाया मामूली चीज न थी। कुटी से थोडी दूर पर दो दिशाओ–दक्षिण और पश्चिम को दिखलाकर बतलाया गया–यही 'रत्नाकर' और 'महादधि' का सगम है। दोपहर और शाम को भी समुद्र स्नान हुआ और रात को वही विश्राम।

लौटते वक्त ब्रह्मचारी दयाशकर से विशेष बात हुई। वे कुछ महीनो से दक्षिण मे आये हैं। आजकल पामन मे रह रहे हैं। वैद्य का काम करते हैं, जिसमे निर्द्वन्द्व विचरन के लिए उनको बहुत सुभीता है। उनके साथ एक काला सा आदमी था ब्रह्मचारी का गाजा चिलम दियासलाई का खजाची वही था। 'वैराग्य' मे आकर पुलिस की नौकरी छोड उसने ब्रह्मचारी का साथ पकड़ा था। मैं भी उर्दू बोल सकता था। मुझ भी कितने ही शेर याद थे। अन्त मे ब्रह्मचारी ने मुझसे पामन चलकर कुछ दिन रहने के लिए कहा। ऐसे निमन्त्रण यदि हर सौ मील पर मिला करते, तो मैं दो-दो हफ्ता बिताने के लिए तैयार था।

पामन रामेश्वर द्वीप की अन्तिम बस्ती है। उसके बाद कुछ मीलो की उथली सी खाडी और फिर जम्बूद्वीप (भारत) का स्थल भाग आ जाता है। पामन के ज्यादातर रहनेवाले मुसलमान थे–ब्रह्मचारी भी एक मुसलमान ही के मकान मे रहते थे। ये लोग हिन्दुस्तानी बोलते थे इसलिए तामिल से अनभिज्ञ ब्रह्मचारी को सुभीता था। घर अधिकतर फूस और बॉस के थे। ब्रह्मचारी के पास पैसा की कमी न थी। रोज दस पन्द्रह बीस रुपये आ जाते। पॉच सात रुपये रोज तो उनके गाजे मे उड जाते। उनके पास सिर्फ दो दवाइयाँ थीं एक जमालगोटे का जुलाब और दूसरी सखिया की भस्म। सिरदर्द पेटदर्द जैसी मामूली बीमारियो से लेकर कुष्ट पाडु यक्ष्मा जैसे महारोगो पर भी यह अनुपान बदलकर इन्ही दवाओ को देते थे। मुफ्त दवा शायद ही किसी को देते हो। दवा देने से पहिले भेट की शर्त तै कर लेते। दो तिहाई या कम से कम आधी रकम पहिले ले लेते और बाकी के लिए कह देते–इतने दिनो बाद रोगी का रोग मुश्किलासान कर देगे और उसी दिन बाकी रुपया दे देना होगा। ...कुछ बीमारो को उनकी दवा से बहुत चमत्कारिक लाभ हुआ था इसलिए लोग खुशी खुशी रुपया देकर दवा लेते थे। पामन मे तो खैर मुसलमान सहवासी दुभाषिए का काम कर देते थे किन्तु दूसरी जगह होने पर लोग खुद दुभाषिया लिए हुए आते। ब्रह्मचारी को यह परवाह नहीं थी कि मुसलमान के साथ रहने के लिए लोग उनकी कैसी नुकताचीनी करते हैं खासकर ब्राह्मण लोग।

मुसलमान घर मे रहते हुए भी ब्रह्मचारी भोजन खुद या किसी साधु के रहने पर उसके हाथ का बनाया खाते और यह मेरे जैसे के लिए तकलीफ की चीज थी। दूध, घी आटा जितना चाहो, उतना मौजूद था बनानेवाला चाहिए था। ईजानिब पाचन कला से बहुत प्रेम नहीं करते थे, यद्यपि यह नहीं कह सकते कि उससे बिलकुल अपरिचित थे। दिन मे एक बार खीर परवठ, या कोई अल्पश्रमसाध्य चीज बना लिया करते। दिन रात का यहाँ पता थोड़े ही लगता था। सबेरे जिस वक्त नींद खुली, गाँजे की चिलम तैयार मिली। और फिर एक चिलम बुझ रही है, दूसरी जल रही है, यही सिलसिला तब तक जारी रहता जब तक रात को सो नहीं जाते। मैं समझता हूँ, शायद ही रात को 3, 4 घटे हो जिनमे मेरा मस्तिष्क गाजे के नशे से मुक्त रहा हो। ब्रह्मचारी की चमत्कारिक दवा को देखकर मेरी भी ख्वाहिश हुई उस मारण लेने की। ब्रह्मचारी चाहते भी थे सिखा देना किन्तु कहते थे–जमालगोटा मारना सखिया मारना आप किताब से भी सीख सकते हैं, किन्तु जब तक सामने बनाकर दिखलाया न जावे, तब तक मुँह से बतला देने मे कोइ फायदा नहीं। उनका कहना बजा था और वस्तुतः मेरे तीन चार सप्ताह पामन मे रह जाने का भी प्रधान कारण यही भस्म विधि सीखने की इच्छा थी। गाँजा पीने, गप करने के अतिरिक्त वहाँ मेरे लिए दूसरा काम नहीं था, शायद उर्दू की कोई कविता पुस्तक ब्रह्मचारी के पास थी, उसे पढ लिया करता था। हमारे आवास के पास एक कोढी मुसलमान था, ब्रह्मचारी उसकी मुफ्त दवा शुरू करनेवाले थे। उससे दो एक कौवे बहुत हिल-मिल गये थे, वे उसके शिर और कन्धे पर बैठ जाते थे। कौओं को लडकपन ही से मैं बहुत होशियार जाति जानता था। सुना था मादा कौआ एक बार अपने बच्चो को सिखला रही थी–'जैसे ही कोई पत्थर उठाने के लिए झुके उड जाना।' बच्चो ने पूछा– और माँ ! यदि वह घर ही से पत्थर लिये आवे ? माँ ने कहा–'तब तुम्हे सिखलाने की जरूरत नहीं।' यहाँ इन कौओं को कोढी के शिर और कन्धे पर बैठते

देखना उनकी जाति के लिए भी चतुराई का अपवाद जान पड़ा।

ब्रह्मचारी सामान मँगाकर भस्म बनाना सिखलाने की तैयारी कर रहे थे, किन्तु अब मेरी रुचि उधर से हट गई थी। दुनिया के सभी व्यवसायों को सीखने से मतलब, जब मैं सबको कर नही सकता? ब्रह्मचारी और मुझमे कई बातों मे समानता थी, उर्दू, शहरी भाषा और जीवन के भी हम समान भक्त थे, इसलिए उनकी इच्छा क्योंकर होती, कि मैं चला जाऊँ।

चलने के लिए हमने पामन खाड़ी पर नये बने पुल पर चलनेवाली पहिली ट्रेन को पसन्द किया। ब्रह्मचारी ने रामनद में भी अपने लिए एक अड्डा बना रखा था, और वह भी मेरे साथ ही आये। अड्डा क्या, बस्ती से दूर खजूरो के काँटेदार झुरमुट मे पन्द्रह-बीस हाथ लम्बी चौड़ी एक जगह साफ की गई थी, और उसी मे ताल के पत्तो की एक झोपड़ी पड़ी थी। ब्रह्मचारी जब कभी आते तो वहा ठहरते। झोपड़ी मदुरा से रामनद होते रामेश्वर जानेवाली सड़क पर थी, इसलिए पैदल चलनेवाले साधु कभी कभी वहाँ पहुँच भी जाते थे। वस्तुतः इसी खयाल से ब्रह्मचारी ने उस जगह को पसन्द किया था। जब साधु आ जाते, तो उनको बहुत खुशी होती। ब्रह्मचारी उन आदमियो मे थे, जो आज की आमदनी को कल के लिए रख छोड़ने को अपराध समझते हैं। साधुओं को खिलाने-पिलाने का उन्हें बहुत शौक था। तीर्थ यात्रियो मे दो श्रेणी होती है, एक नियमपूर्वक किसी सम्प्रदाय—वैरागी, उदासी, सन्यासी आदि—में प्रविष्ट साधु, जिनको अपने सम्प्रदाय का आचार व्यवहार सीखना जरूरी होता है, और सम्प्रदाय की सार्वजनिक राय को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनको लज्जा, सकोच आत्म सम्मान का भी बहुत खयाल करना पड़ता है, इन पाबन्दियों का लाभ उनको यह है, कि सारे भारत मे जगह-जगह अवस्थित अपने सम्प्रदाय के स्थानों मे दाव के साथ और दूसरे स्थानो मे सम्मान के साथ उन्हे स्वच्छन्दता से रहने का मौका मिलता है। ये स्थान बिना पैसे कौड़ी दिए यात्री के लिए भोजन और निवास के होटल हैं—इसी से पता लग सकता है, कि इन सस्थाओं ने साधुओं के लिए यात्रा कितनी सरल बना दी है। भारत का कोई भाग नही है, जहाँ ये मठ या साम्प्रदायिक स्थान न हो। हिन्दी भाषा भाषी हिन्दू प्रान्तो मे इनकी सख्या बहुत ज्यादा है—पंजाब, सिन्धु सीमान्त मे भी हिन्दुओं की सख्या के अनुसार काफी है। गुजरात, काठियावाड़ साधु सेवा के लिए बहुत प्रसिद्ध प्रान्त समझे जाते है। आसाम बगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र मे भी सख्या काफी है। द्रविड़ भाषाओ के चारों प्रान्तो में अवश्य इन मठो की कमी है। वैसे तो ये मठ काबुल, कन्धार तक ही नही सुदूर पश्चिम कास्पियन तट के बाकू मे भी कुछ साल पहिले मौजूद थे।

रामनद मे ब्रह्मचारी से विदाई ली। एक बार फिर निर्मल्शी लाटने का विचार हो सकता था, किन्तु मेरे जैसे आजाद-तबियत मुसाफिरत-पसन्द आदमी के लिए आचारियो के आचार व्यवहार भारी बन्धन थे—यह बात अभी बालाजी से रामेश्वर की ताजी यात्रा ने भी बतला दिया था—इसलिए मैने उधर जाने का खयाल छोड़ दिया। यात्रा की तरह पढने की रुचि भी मेरे खमीर मे है, इसलिए जब तक वह उग्र रूप धारण नही करती, तब तक कुछ घूम लेना मैंने जरूरी समझा। इस प्रकार अब मेरा रुख द्वारिका के रास्ते मे आनेवाले तीर्थो और दर्शनीय स्थानो की ओर था।

बंगलोर—रास्ते में पहिले पहिल बगलोर मे उतरा। शहर देखकर गाड़ी से आगे बढ़ने का इरादा था। बाजार मे भोजन से निवृत्त होने के लिए कोई स्थान ढूढ रहा था, कि एक हलवाई की दूकान मिली। हलवाई की दूकान द्राविड़ प्रान्तो के लिए नई चीज है। पानी पूड़ी मे जहा गोबर की छुआछूत है, वहाँ हलवाई की दूकान कैसे चल सकती है? जाकर रुच्यनुसार पेट भर पूरी मिठाई खाई। पैसा देने पर हलवाई ने कहा—"नही महाराज! आपसे पैसा नही लेते। उत्तर भारतीय सन्तो की एक बार भोजन से सेवा कर देना हमारा नियम है।"

विजयनगर—बंगलोर के बाद, जहाँ तक याद है, विजयनगर (हम्पी) के खण्डहरो के लिए उतरने की जगह पर रेल से उतरे। स्टेशन का नाम शायद हूसपेट था। धर्मशाला मे एक 'खाड़ियापलटन' वाले मिले। 'खड़ियापलटन' यह साधुओं का खास शब्द है। बहुत से स्त्री पुरुष किसी सम्प्रदाय मे बाकायदा दीक्षा लिए बिना साधु का वेष बनाये भारत के भिन्न-भिन्न जगहों मे घूमते फिरते है। इन्हे साम्प्रदायिक आचार व्यवहार वेष भूषा की बाकायदा शिक्षा तो हुई नही रहती, इसलिए ऊपर से साधुओं को देखकर उनकी नकल करना चाहते हैं। नकल करने मे

भी अवान्तर भेदो–जो बहुत सूक्ष्म होते हैं–का ध्यान जरूरी है, किन्तु ये उसमें अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित करते हैं। साधु देखते ही समझ लेते है, ये बनावटी साधु हैं। खडिया कन्धे पर दोनो तरफ लटकते झोले को कहते हैं, जिसे किसी सम्प्रदाय के साधु इस्तेमाल नही करते, ये तीरथवासी खडिया लिये फिरते हैं, इसलिए इनका नाम ही 'खडियापलटन' पड गया है। साधुओ मे स्त्री, स्त्री-साधुनियो के साथ, और पुरुष, पुरुष-साधुओं के साथ घूमते हैं, खडियापलटन इस नियम से अपने का मुक्त समझती है, उसमे स्त्री-पुरुष दोनों शामिल रहते हैं।

खड़ियापलटन से मालूम हुआ, किष्किन्धा–विजयनगर के पास की बस्ती–यहाँ से बहुत दूर नही है, पक्की सडक गई है। शायद सवारी भी मिल रही थी, और मेरे पास पैसो की कमी न थी, तो भी पैदल चलना ही मुझे पसन्द आया। बोझा रखने का मैं विरोधी हूँ। शरीर को हलका से हलका रखना मुझे पसन्द है, और खाली हाथ चलने मे मजा आता है। रास्ते और उसके आसपास के स्थानो के बारे में कोई बात याद नही, सिवाय इसके कि मैं कर्णाट भाषाभाषी प्रदेश मे चल रहा था। शाम को 4 बजे के करीब मैं एक खँडहर के पास पहुँचा। एक कब्र थी, एक वृक्ष के किनारे बडा-सा चबूतरा था, जो बहुत दिनो से बेमरम्मत पड़ा था। वहा एक शाह साहब (मुसल्मान फकीर) बैठे थे। उन्होंने हाथ उठाते हुए 'दर्शन सफा' कहा, मैंने भी 'मिजाजे वफा' कह जवाब दिया। हिन्दू-मुसल्मान साधुओं में पारस्परिक अभिवादन की यह रीति है। शाह साहेब ने आग्रह से बैठाया। गाँजे का चिलम तैयार की, दयाशंकर ब्रह्मचारी के यहाँ चिलम मे मुसल्मान गृहस्थ तक शामिल होते थे, तो यहा मुसल्मान साधु के लिए क्या कहना था? चिलम पीते हुए हम लोगो की कितनी ही देर तक बातें होती रही। शाह साहब उत्तर भारत के ही कही के थे, दक्खिन के मुसल्मानों के खान-पान, बोली-बानी की उनको सख्त शिकायत थी। कह रहे थे–"इमली और मिर्च। तोबा तोबा। कम्बख्तों को खाने का भी शऊर नही।" हम लोगो के बात करते समय ही एक दूसरे साधु चले आये, उन्होंने मुझे भी अपने साथ चलने का निमन्त्रण दिया। वे तीन चार साधु नदी के पास किसी परित्यक्त पाषाणगृह में पाँच-सात दिनों से ठहरे हुए थे।

सूर्यास्त हो गया था, जब हम तकिया से रवाना हुए। हमे एकाध जगह नगर के टूटे पाषाण प्राकार को पार करके जाना पडा। मैंने भारत के इतिहास को पढा तो था, किन्तु अभी ऐतिहासिक दृष्टि प्राप्त नही हुई थी तो भी विजयनगर को ऐतिहासिक स्थान ही समझ में देखने आया था। साधुओं का निवासस्थान सचमुच ही भरथाना का अखाडा था। गोसाईं (सन्यासी), उदासी, वैरागी सभी सम्प्रदाय वहाँ मौजूद थे। मुझे छोड़ बाकी सभी जटाधारी भभूतिए थे। बीच में लकडी की धुनी जल रही थी और चारों ओर हम लोग बैठे थे। यहाँ ब्रह्मचारी दयाशंकर की तरह अखड चिलम चक्र तो नही चल सकता था, किन्तु दो-चार चिलम में कोई हर्ज नहा था। बाकी वक्त 'सूखा ककड' चलता रहा। बातों की कमी न थी, सभी पुराने अखाडिये थे, और दुनिया घूमने ही जिन्दगी काटी थी। धुनी मे ही आटे के टिक्कर लगे, मालूम नही तरकारी या दाल थी कि नही।

रात का तो मै कुछ देख नही सका था, सबेरे नहाने के बाद घूम घूमकर प्राचीन विजयनगर के खँडहरो को देखना शुरू किया। उस वक्त पुरातत्त्व की ओर से उल्लखनीय खँडहरो पर उतने साइनबोर्ड नही लगे थे। हर खँडहर का परिचय साथी साधुओं में से पहिले के आये, सुनी-सुनाई परम्परा के अनुसार दिया करते–'यह सुग्रीव की कचहरी है', 'यह बालि का राज-दरबार है', 'यह तारा का रनिवास है', 'यह अंगदकुमार का महल है'...। सभी त्रेतायुग की चीजें, सभी बालि की किष्किन्धापुरी की इमारतें। और मैं जो चला था विजयनगर के ध्वंसावशेषों को देखने? उनके बारे मे वहाँ कोई कुछ बतलानेवाला न था। तो भी ये मन्दिर और महल विजयनगर राज्य के समर्थक हैं, इस बारे में मुझे सन्देह नही था। वैष्णव-विरोधी पुस्तिकाओ को पढते वक्त इसमें त्रिपुड और ऊर्ध्वपुड (आड़ी-बेड़ी टीका) का भी झगडा देखा था। मैं समझता था, वैष्णवों का ऊर्ध्वपुड बहुत पीछे का है, त्रिपुड ही सनातन से चला आ रहा है। मैंने एक तरह के ऊर्ध्वपुडों को यहाँ के मन्दिरो मे अंकित देखा। मीलो चले जाने पर भी वे ध्वसावशेष खतम नही हो रहे थे, और उनके मन्दिर, सामने पाषाणगृहों की पंक्तियाँ या बाजार ध्वस्त हो जाने पर काफी रूपरेखा रखती थी। मन्दिर तो कितने ही आसानी से मरम्मत कराये जा सकते थे। नगर के बीच में पडी टेकरियों पर भी कोई न कोई मन्दिर था। इन्हीं मन्दिरों में से एक जगह दोपहर को हम पहुँचे। स्थान आचारियों का था। आचारी–तीन लोक से मथुरा न्यारी–के सिद्धान्तानुसार अपनी डेढ़ चावल

की खिचड़ी अलग ही पकाते हैं। दूसरे सम्प्रदाय के स्थान में खाना पीना तो उनका हो नहीं सकता, इसलिए दूसरे सम्प्रदायवालों को अपने यहाँ खिलाने की क्या जरूरत–इस खयाल से वैरागी उदासी सन्यासी साधुओं का उनके यहाँ आतिथ्य-सत्कार भी नहीं होता, होता भी है तो बेगार की तरह। उक्त स्थान–रामशिला या स्फटिकशिला–के अधिकारी ने और साधुओं के लिए तो भोजन सामग्री दे दी, और मुझे खाने के लिए बुलाया। इस भेद का कारण क्या हो सकता था ? शायद जटा भभूत के अभाव के कारण ऐसा किया गया हो।

दोपहर बाद हम तुंगभद्रा के तट पर गये। नदी पार होने के लिए बड़े कड़ाव की शकल की चमड़े की नाव थी, जिसमें एक बार तीन चार आदमी बैठ सकते थे। नदी में जहाँ तहाँ उभड़ी और दबी पत्थर की चट्टानों को देखकर चमड़े के नाव की उपयोगिता मुझे मालूम हो गई। अब हम हैदराबाद रियासत के एक बड़े गाँव या कस्बे में थे। वहाँ कितनी ही दूकानें तथा पक्के घर थे। लोगों ने इसका नाम किष्किन्धा (आजकल की) बतलाया। रात को हम पम्पा सरोवर पर ठहरे। एक छोटे तालाब–जिसे पम्पासर बतलाया जाता था–पर एक वैरागी स्थान था, दस पाँच साधु वहाँ बराबर रहा करते थे। निवासस्थान और मन्दिर भी था, शायद काफी गायें भी थीं। अभ्यागत साधुओं की सेवा होती थी इससे मालूम होता था, कर्नाटक में उत्तरीय साधुओं का कुछ चल बन जाता है।

सवेरे उठकर स्नान पूजा के बाद मैं आसपास की पहाड़ियों पर चढ़ता फिरा। एक पहाड़ी में अंजनागुहा बतलाई गई। यहीं हो अंजना ने हनुमान को प्रसव किया था। मठ से थोड़ी दूर पर पौंढे ऊख के खेत थे, और शायद मुझे खाने के लिए माल में समान ही ऐसे दो मिले थे।

पम्पासर से नदी पार कर फिर एक बार हम्पा (विजयनगर) के खण्डहरों में आना पड़ा था। खंडहरों में, याद है कोई बीजापुर का महल या मस्जिद भी देखी थी जो अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित अवस्था में थी।

बागलकोट हासपेट से फिर रेल पर रवाना हुआ। परसा में गुरुजी से पता लगा था, कि उनका एक सादिक (प्रथम धरम सौंपनेवाला साधु) चेला बागलकोट में महन्त है। इधर भी बागलपुर के महन्त की साधु सेवा की बड़ी ख्याति सुनी थी और अब मेरा रुपया भी समाप्त हो रहा था इसलिए कहीं दो चार दिन ठहरकर उसे मँगाना था। बागलकोट सीधी लाइन पर नहीं है और जहाँ तक याद है रेल बदलना रास्ते में पड़ा था, किन्तु मैं वहाँ उतरा नहीं था। स्टेशन से मठ में पहुँचने में दिक्कत नहीं हुई। बागलकोट में काफी मारवाड़ी दूकानदार हैं, और हिन्दी भाषा भाषियों के पादरी तो हम लोग थे ही।

महन्त वैष्णवदास (शायद यही उनका नाम था) को जब मालूम हुआ कि मैं परसा के महन्त का शिष्य हूँ तो बहुत प्रसन्न हुए। हमारे गुरुजी उनके सादिक गुरु हो न थे बल्कि उन्हें महन्ती भी उन्हीं की सलाह से मिली थी, फिर ऐसे व्यक्ति के शिष्य और उत्तराधिकारी की क्यों न पूरी खातिर करते ? वैसे भी बागलकोट में साधुओं की बड़ी खातिर होती थी, और उन्हें तीन दिन तक रहने का पूरा इत्मीनान था। अभ्यागत को कोई काम नहीं करना पड़ता था–दूसरे स्थानों में रसोई की सामग्री को सुधारना या कुछ छोटा मोटा काम करना जरूरी होता था, किन्तु यहाँ तीन बजे रात को ही महन्तजी उठ जाते। स्नान पूजा के बाद अपने एक शिष्य के साथ अँधेरा रहते ही रसोई में घुसते। पूड़ी तरकारी और साथ में हलुवे की पूआ में से कम से कम एक बारहों मास बनता था। कच्ची रसोई खिलाना महन्तजी के शान के खिलाफ था। बागलकोट के मारवाड़ी गृहस्थ महन्तजी की साधु सेवा में सहायता पहुँचाने में होड़ लगाये रहते थे। सूर्योदय होते होते जब नदी से स्नान करके पूजा की इच्छा से मारवाड़ी महिलाएं आने लगतीं, तब तक रसोई तैयार हो गई रहती।

गाँजे और तम्बाकू पीने में पिछले एक मास में अति कर दी थी इसलिए सन्देह होने लगा कि पेट में धुएँ की बहुत-सी कालिख जमा हो गई होगी। यहीं अपने हाथ से सनाय की जुलाब बनाकर ली, रुपये के लिए परसा तार तो दूसरे दिन ही भेज दिया था।

बागलकोट के बाहर एक नदी बहती है और शायद पथरीली। इस तरफ धोबी को कपड़ा देने का बहुत कम रवाज है, देखता था सवेरे से शाम तक घाट के ऊपर कपड़ों पर डंडा इत्यादि चल रहा है।

पंढरपुर–रुपया आ जाने पर मैं वहाँ से पंढरपुर के लिए चल पड़ा। नये नये तीर्थ स्थानों का पता साधुओं

से लग जाया करता है। पण्ढरपुर तथा वहाँ के विट्ठलनाथ महाराष्ट्र के माननीय तीर्थ और देवमूर्ति हैं, किन्तु उनके बारे मे मैं इतना ही जानता था, कि जब हमारे साथी साधु मैदान मे रसोई बनाते, तो कहते—भाई विट्ठल भगवान् से होशियार रहना, अर्थात् कुत्ता कहीं रोटी न उड़ा ले जावे।

पूना-बबई—पण्ढरपुर से चलकर पूना मे शायद एक दिन मैं ठहरा, वहाँ क्या देखा, इसका कोई खयाल नही। बम्बई मे पञ्चमुखी हनूमान में आसन पड़ा। शहर और महालक्ष्मी को देखा। किसी खास चीज ने वहाँ आकर्षण नही पैदा किया। जानकी माई की ख्याति सुनी—'वह बहुत-से लोगो का जहाज से द्वारिका भिजवा देती है। उसके बहुत-से बड़े-बड़े सेठ सेवक हैं'—आदि आदि। मुझे बम्बई से सीधे द्वारिका जाना नही था, और न किराये के लिए मेरे पास रुपयो की कमी थी।

नासिक—द्वारिका जाने से पहिले नासिक जाना मैंने पसन्द किया। नासिक स्टेशन से शहर तक उस वक्त घोड़े की ट्राम जाती थी, या कम से कम उसकी रेल अब तक मौजूद थी। शहर के बाद पथरीली भूमि मे अनेक धार में डूबती उतराती गोदावरी को पार किया। परसा का एक शाखामठ कपिलधारा (नासिक जिला) मे था, जिसकी शाखा नासिक मे भी है यह पता लग चुका था। पता लगाने पर वह जगह तो मिल गई किन्तु वहाँ उस वक्त कोई आदमी मौजूद न था। नासिक भी महाराष्ट्र मे ही है, किन्तु यहाँ वैरागी तथा दूसरे उत्तर भारतीय साधु पन्थों के काफी स्थान है, यह देख कुछ नवीनता मालूम हुई, किन्तु पीछे बम्बई में बसनेवाले मारवाड़ी गृहस्थों का खयाल जाते ही वह शंका दूर हो गई। दो तीन दिन रह पञ्चवटी और दूसरी जगहों में घूमता रहा।

त्र्यम्बक—नासिक में मालूम हुआ, गोदावरी का उद्गम स्थान त्र्यम्बक बहुत प्रसिद्ध तीर्थ है। उस वक्त वहाँ वार्षिक मेला था, हजारों स्त्री-पुरुष सड़क से उधर ही जा रहे थे मैं भी उनके साथ हो लिया। नासिक से त्र्यम्बक कितने मील है, सो तो नहीं याद, किन्तु मैं दोपहर से पहिले नहीं चला था। रात को रास्ते में रहना पड़ा, दूसरे दिन त्र्यम्बक पहुँचा, तो बड़ा भारी भीड़ थी। गोदावरी के स्रोत मे स्नान, और त्र्यम्बक का दर्शन किया। ठहरा कहाँ, नहीं कह सकता। करताल और एकतारा ले कई मंडलियाँ कुछ कीर्तन सी कर रही थी, जो कि उत्तरी भारत के मेलों में कुछ भिन्न-सी चीज थी। रात को रेल की रोशनी में भी यह भजन सगायन होते रहे।

कपिलधारा—त्र्यम्बक से मैं कपिलधारा को चला। गाँव का नाम कुछ दूसरा था और वह देवलाली से नजदीक पड़ता है, किन्तु मैं नासिक से फिर लौटकर बम्बई की ओर जाना नहीं चाहता था। रास्ता पहाड़ी, और पगडंडी का था, खाने के लिए मैंने पास मे कुछ पेड़े बाँध लिये। पहाड़ में पानी कम था, और इधर मिठाई खाने से प्यास ने भी जोर मारा। नजदीक में किसी आदमी के न मिलने से एकाध बार मै रास्ता भी भूल गया, इस प्रकार मेरी दिक्कतें बढ़ गईं। दोपहर को तो प्यास से व्याकुल हो मैं रास्ता वास्ता का खयाल छोड़ गाँव ढूँढने निकल पड़ा और काफी दूर जाने पर कुछ झोपड़े मिले। प्यासा हूँ कहने पर एक लड़की ने जाकर गाँव से बाहर एक गड्ढे को दिखला दिया, जिसका पानी मटमैला-सा था, और मै समझता हूँ, उसमे मवेशियों के घुसने की भी कोई रुकावट न थी। साधारण अवस्था मे वैसे गड्ढे का पानी कौन पीता, किन्तु उस वक्त जब कि तालू फटना चाहता था उस पानी से कौन इनकार कर सकता था? शाम को पहाड़ के एक बड़े गाँव में पहुँचा। सार्वजनिक चौपाल सी थी, जिसमें मैंने आसन डाला। रात को एक पुलिस का सिपाही आया, उसने नाम स्थान आदि नोट किये। खयाल आता है, वह हैदराबाद रियासत का गाँव था, लेकिन इसकी सत्यता पर अब विश्वास नही पड़ता। गाँव से बड़े तड़के ही मैं कपिलधारा की ओर चल पड़ा। ऊँचाई से निचाई—ढालुआ समतल जैसी—की ओर, और फिर निचाई से ऊँचाई की ओर रास्ता जा रहा था। रास्ते में कोई आदमी खेत की रखवाली कर रहा था, जिसके पास ठहरकर मैंने मटर या चने के ताजे होले खाये। कपिलधारा मैं दोपहर से पहिले पहुँचा था। उस वक्त महन्तजी वहाँ नहीं थे, कोई एक अभ्यागत साधु मन्दिर का काम कर रहा था। मठ में गायें काफी थीं। भीतर एक झरना था, जिसका नाम कपिलधारा था। महाराष्ट्र के इस अरण्य-पर्वत में कैसे वैरागी स्थान बनाने में सफल हुए, या कैसे चला रहे हैं, और इसका प्रयोजन क्या है?—यह मुझे समझ में नही आया। लेकिन जिस वक्त मेरे दिल में ये खयाल आ रहे थे, उस वक्त मैं त्र्यम्बक से रास्ते की मार खाता आ रहा था। कपिलधारा से देवलाली ज्यादा नहीं है, इस

बात का उस वक्त मेरे दिल में ख़याल न था। कपिलधारा में उस साधारण मीठे पानी के झरने के सिवा और कोई खास बात नहीं थी, किन्तु मैं परसा मठ की सुदूर महाराष्ट्र में अवस्थित शाखा के तौर पर उसे देखने के लिए आया था, जिसमें कि परसा लौटकर मैं गुरुजी को बतला सकूँ, कि मैं वहाँ हो आया हूँ। जो अकेला साधु वहाँ रहता था, एक आगन्तुक साधु को देखकर उस पर भारी बोझ सा पड़ गया। उसने पहले तो कहा—महन्तजी यहाँ नहीं हैं, वह कहीं दूर गए हुए हैं, मैं तो मन्दिर और इन गायों को देखने पर लगाया गया हूँ। कुछ देर इधर उधर का काम करके वह फिर आया, और बोला—मैं तो भोजन कर चुका हूँ, चावल दे देता हूँ, भोजन बना लें और मट्ठा से खा लें। मैंने कहा—इस वक्त मैं थका माँदा हूँ, मट्ठा ही दे दो एक लोटा, वही पीकर विश्राम करूँगा।

देवलाली बहुत दूर नहीं, यह सुनकर दोपहर के बाद मैं स्टेशन पर चला आया।

ओंकारनाथ-मान्धाता—बम्बई से ही नासिक की ओर चलते वक्त निश्चय किया था, कि ओंकारनाथ और उज्जैन का दर्शन करते डाकोर से द्वारिका की ओर जाना है। देवलाली से मैंने बुरहानपुर का टिकट लिया, लेकिन वहाँ शहर में ठहरा नहीं। बुरहानपुर से ओंकारनाथ के लिए कौन स्टेशन पर उतरा, नहीं याद; किन्तु शायद एक या दो नदी को पार करना पड़ा था। मान्धाता को स्टेशन से कुछ पैदल चलकर जाना पड़ता है। पहाड़ों के बीच नर्मदा की गम्भीर धारा है, नदी के दोनों तरफ बस्ती है, पुल के उस पारवाली बस्ती में किसी गोंडराजा का महल बतलाया जाता था। * इसी पार नरसिंहटेकरी के वैरागी के स्थान में ठहरा। नर्मदा की महिमा काशी में अपने वेदाध्यापक गुजराती ब्रह्मचारी से बहुत सुनी थी। वह नर्मदा के किनारे बहुत विचरे थे। उनकी सम्मति में पवित्रता में नर्मदा का स्थान गंगा से कम ऊँचा नहीं है। बल्कि योगियों और तपस्वियों के लिए मुक्तिसाधना का जो सुभीता नर्मदा प्रदान करती है, वह गंगा भी नहीं। ओंकारनाथ में मैं एक से अधिक दिन ठहरा था। शाम के वक्त नदी के तट के ऊपर की ओर दूर तक चला जाता। वहाँ खरबूजे के खेत थे, दिसम्बर या जनवरी होने से वह खरबूजों के पकने का समय तो नहीं था। उस पार के किसी शिवालय में एक शिलालेख मैंने देखा था, किन्तु वह प्राचीन था या नवीन इस ओर उस वक्त ध्यान ही नहीं जा सकता था। पुल पार की बस्ती में भी गया था, कह नहीं सकता ओंकारनाथ का मन्दिर उस पार है या इस पार।

उज्जैन—मान्धाता से चलते वक्त मेरे साथ एक और तरुण नागा साधु हो लिये। मुसलमानी काल में, समसामयिक सभी देशों में मठों, विहारों तथा भिन्न भिन्न सम्प्रदाय अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए फौजी ढंग से अपने को संगठित करते देखे जाते हैं। भारत में भी वैसा हुआ था। उस वक्त मुसलिम-शासन होने से आज के जैसे हिन्दू मुसलिम झगड़े तो हो नहीं सकते थे, उसकी जगह हिन्दुओं के आपस के साम्प्रदायिक झगड़े होते थे। हर बारहवें साल, और आपस में कुछ साल का अन्तर दे हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन तथा नासिक के चार चढ़ाव ('कुम्भ' मेले) हुआ करते थे, जिनमें यात्रियों की संख्या लाखों तक पहुँचती थी। वैरागी, दशनामी (गोसाईं या सन्यासी) तथा दूसरे सम्प्रदायों के हजारों साधु जमात बाँधकर आते। संख्या और प्रभाव में वैरागी तथा सन्यासी आगे बढ़े हुए थे, इसलिए चढ़ाव में पहिले स्नान करने के लिए इन्हीं में आपस में झगड़े हुआ करते। कबीर का समय तो वैरागियों का आरम्भिक समय था, इसलिए सोलहवीं सदी के अन्त में पहिले वह सन्यासियों से लोहा लेने लायक नहीं हो सके होंगे, इसमें सन्देह नहीं। जान पड़ता है, शुरू शुरू में झगड़े 17वीं सदी के साथ शुरू हुए होंगे, ज्यादा से ज्यादा उनका आरम्भ हमायूँ शेरशाह के समय तक जा सकता है।

इन्हीं चढ़ावों के झगड़ों में पिटकर हर दल ने अपने को मजबूत करना शुरू किया, और हर सम्प्रदाय की सशस्त्र, साधारण युद्ध शिक्षाप्राप्त सेनाएँ बनने लगीं। वैरागियों के दिगम्बर, निर्वाणी, निर्मोही आदि सात अखाड़े बने, संन्यासियों के भी निरंजनी आदि अखाड़े। अखाड़ों में नाम लिखानेवाले तरुण साधु नागा कहे जाते। इन्हें बाना-बनैठी, तलवार-भाला चलाने की बाकायदा शिक्षा होती। वैरागी अखाड़े में प्रविष्ट होनेवाला लड़का हुड़दंगा कहा जाता था, बारह बरस की अखाड़े की सेवा करने के बाद किसी चढ़ाव में पंच नागा उसे नागा बनाते। उस वक्त वह अपने अखाड़े का जरदोजी के काम का झंडा—निशान (दिगम्बर का पचरंग और दूसरों के भिन्न-भिन्न) रखने और उठाने का अधिकारी होता। बारह बरस का नागा हो जाने पर वह अतीत बनता। इन अखाड़ों के

पास महत्त्वपूर्ण स्थानों मे काफी मठ और सम्पत्ति होती, जिनका इन्तिजाम एक महन्त के हाथ मे न होकर बहुत कुछ पचायती होता, और सचमुच सघ का बल निर्णायक होता। नागा-अतीत लोग अपने अखाडो के अतिरिक्त, जमात बनाकर एक चढाव के बाद दूसरे चढाव की पैदल यात्रा करते। उनके पास ऊँट रहते। जिस मठ पर भी नागा पहुँचते, उन्हे खिलाने-पिलाने के अतिरिक्त अपने भेष की पलटन समझकर कुछ पूजा भी देनी पडती। नागो के यहाँ अपने शिष्यों से ज्यादा सादिक शिष्यो की प्रधानता होती है। ज्ञान-वैराग्य के लिए इनका निर्माण नहीं हुआ था, ये तो थे चढ़ाव और दूसरे मौको पर भेष के निशान को ऊँचा रखने के लिए। मरने-मारने मे वे किसी से डरते न थे।

आज अंग्रेजी शासन के इतने दिनो के बाद इन अखाडो और नागो का वह महत्त्व नही है। पुरानी बातों की कुछ नकल आज भी हम 'चढावो' पर देख सकते हैं, और इन अखाड़ो के कितने ही मठ और स्थान उज्जैन हरिद्वार आदि जगहों मे भी देख सकते हैं।

उज्जैन मे हम रात को उतरे थे। मेरे साथी को ग्यारी बावली या कोन स्थान मालूम था, हम लोग बिना दिक्कत के वहाँ पहुँच गये।

उज्जैन मे तीन-चार दिन ठहरे होंगे। चढाव के वक्त मेला कहाँ लगता है, उस स्थान को देखा, और बहुत से अखाड़ो मे भी गये। महाकाल का दर्शन तो किया था, किन्तु पीछे वह विस्मृत हो गया। जाड़े का दिन था सर्दी मालूम हो रही थी, इसलिए नागा के साथ मैंने भी एक गरम कोट अपने लिए बनवाई—परसा होता तो कोट की जगह चौबन्दी बनवानी पडती। यहाँ भी धुनी के पास ही आसन लगा था, और वह गंजेड़ियो भंगेडिया की चौधरान मे थी। एक दिन भाँग की गोली लेकर कुछ नशे में हो, आँख मूँद, आसन पर पालथी मार मैं बेठा था। भग के नशे मे आप बोलने लगे तो बहुत बोलते रहेंगे चुप रहना चाहे, तो एकदम चुप ही रहेंगे। मै एकदम शान्त आसीन था। आठ-नौ बजे शाम का वक्त था। कोई शहर का श्रद्धालु गृहस्थ बैठा बहुत देर से औरो को बातचीत करते, किन्तु मुझे उस तरह शान्त देख, समझने लगा—कोई योगी ध्यान मे मग्न है। उसने पास के साधुओ से जिज्ञासा की। उन्होने जो तारीफ करनी शुरू की—'भगत ! महात्मा है नही तो यह दुनिया ठहरी कैसे है ?' मेरे मन में आता था, बोल दूँ—'क्या झूठमूठ की हाँक रहे हो', किन्तु भगत की श्रद्धा मे खलल करना भी तो अच्छा नही।

डाकोर—उज्जैन से डाकोर की ओर चलते वक्त उक्त तरुण नागा फिर मेरे साथ था। रतलाम रास्ते मे पडा, किन्तु हम लोग वहाँ शहर मे नही गये। हमे जाना था डाकोर—अभिनव द्वारिका। गुजराती लोग वैरागी साधु कम होते हैं, किन्तु उनके स्थान वहाँ बहुत ज्यादा हैं। डाकोर को तो एक तरह का वैरागी स्थानो का नगर कहना चाहिए। हर गली-सडक पर कोई न कोई स्थान है। हम लोग खाकचौक (?) मे 'उतरे' (ठहरे)।

महीनों से सैकड़ो स्थानों में 'उतरते', बातचीत करते, अब रीति रवाज, तथा स्थानीय एव अभ्यागत साधु के कर्तव्य और अधिकार मुझे मालूम हो गये थे। किसी जगह जाने आने, मिलने-जुलने, रहने-सहने मे कोई सकोच नही था। अब दरअसल मैं टकसाली साधु बन गया था। इन सभी स्थानो मे घूमते हुए मैं देख रहा था, वहाँ पढने-लिखनेवालो का कितना अभाव है, उनका सांस्कृतिक तल कितना नीचा है; लेकिन, इतना होते हुए भी दुर्गम रास्तों और स्वागतहीन देशों मे जाने के लिए तैयार नौजवान भी उनमे मिलते थे जो कि मेरे लिए कम आकर्षण की चीज न थी।

बालाजी की तरह डाकोर मे भी मुझे एक छोटे-से स्थान के महन्त दामोदरदास से परिचय हो गया। वह साधारण वैरागियों मे कुछ अधिक सस्कृत और समझदार थे। उनके स्थान मे दो-तीन और साधु थे, महन्तजी के पास काफी समय गप करने, चौपड खेलने और बीड़ी-तम्बाकू पीने के लिए था। वह थे भी मेरी ही उम्र के, इसलिए हम दोनो मे खूब पटरी जम गई। मे अक्सर उनके ही यहाँ रहता, चौपड खेलने के अतिरिक्त एक गुजराती पुस्तक उनके यहाँ देखकर मे उठाकर देखने लगा; कितने ही अक्षर तो पहिले ही से परिचित थे, दूसरे-तीसरे दिन मैं उसे खूब पढने लगा, और भावार्थ समझने मे भी कोई दिक्कत न थी। दामोदरदासजी ने मुझसे बिहार के अच्छे धानों का बीज माँगा था, जिसे परसा पहुँचने पर मैंने भिजवा दिया था।

अहमदाबाद (जनवरी 1914)–माघ उतर रहा था, जब कि मैं अहमदाबाद के लिए रवाना हुआ। अहमदाबाद में जमाल दरवाजे से बाहर थोड़ी ही दूर पर नरसिंह बाबा का मन्दिर साधु-सेवा के लिए मशहूर हो चुका था। मेरे साथी वहाँ ही जा रहे थे, मैं भी उनके साथ वहीं जाकर धुनी के पास 'उतरा'। धीरे-धीरे देख रहा था, धुनी मुझे ज्यादा आकृष्ट कर रही है, किन्तु क्या गाँजा या सुखे की चिलम के लिए ?–नहीं, बल्कि गँजेड़ी-भँगेड़ी ही परले दरजे के सैलानी भी होते हैं; उन्हीं से ज्यादा 'देश-देशान्तर' की बात सुनने को मिल सकती, उन्हीं की बतलाई अभिज्ञता के अनुसार मैं आगे की यात्रा का प्रोग्राम बना सकता था। कश्मीर, कुल्लू, काठियावाड़, छत्तीसगढ़, अमरकंटक, आसाम के दुर्गम तीर्थों की बातें यही धुनी के सामने सुनी जा सकती थीं। स्थान के ब्रजवासी महन्त बड़े सीधे-सादे व्यक्ति थे। एक मैला-सा अँचला, नंगे पैर, नंगे शिर–बस यही वेष था। काम के लिए उनको न आलस्य था, न संकोच। आँगन में झाड़ू-बुहारू कर डालना यह उनके लिए मामूली बात थी। गृहस्थ, उनको मानते थे, और महीने मे बीस दिन किसी न किसी की ओर से भोज होता रहता था। गुजरात साधु-सेवी प्रान्त के तौर पर साधुओं में बड़ा ही मशहूर है और उसमें भी अहमदाबाद। कानी-रोटी, धवजी-दाल (पूआ और खीर) को वहाँ के साधारण भोज के तौर पर समझा जाता था। अहमदाबाद में मैं एक मास के करीब रहा, और देख रहा था, बराबर पूड़ी के साथ किसी दिन हलवा, किसी दिन पूआ खीर। कितने ही गृहस्थ स्थान ही में सामान भेज देते थे, और कितने खाने के लिए अपने घर बुलाते थे। उनके घर जाते वक्त घड़ी-घंटे के साथ साधुओं का जुलूस निकलता, लालसा होने पर निशान (कीमती ध्वजाएँ) भी लगाकर चलते। एकाध बार साबरमती की दूसरी तरफ़ किसी गाँव में भी हमें भोजन करने जाना पड़ा।

स्नान आदि के लिए हमें साबरमती जाना पड़ता, जो स्थान से बहुत दूर नहीं थी। यहाँ भी साधारण लोग धोबी को कपड़ा न दे खुद साफ़ कर लिया करते। नदी की धारा क्षीण थी, उसमें धुले कपड़े का पानी मिल जाता, तो बहुत गन्दा हो जाता था। जाड़े का दिन था, और धोनेवाले जरा देर से काम शुरू करते थे, तब तक जाड़े-पाले ही में बड़े तड़के हम लोग जाकर स्नान कर आते थे। अभी तक साबरमती से गाँधीजी का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था। वह उस वक्त अफ्रीका ही में थे। स्थान में ज्यादातर अभ्यागत साधु थे, जो हफ्ता-दस दिन रहने के बाद चल देते थे। महन्तजी के शिष्य और उत्तराधिकारी माधवदास गुजराती तरुण थे। कुछ पढ़े थे, किन्तु आगे बैठ गये थे। मुझसे मामूली बातचीत थी। एकाध बार उनके साथ मैं गुजराती गृहस्थ परिवारों में गया। उनमें अधिक शिक्षा, अधिक संस्कृति थी, जैसी कि हमारे यहाँ का नौकरी पेशा शिक्षित परिवारो मे देखी जाती है। बीड़ी का भारी प्रचार पहिले-पहिल यहीं मैंने देखा, अभी वह बिहार और युक्तप्रान्त में नहीं पहुँची थी। आगन्तुक के सामने भुना हुआ धनिया, बनी हुई कसैली तथा बीड़ी पेश की जाती थी। गुर्जरों को भी पंचद्राविड़ों में शामिल किया गया है, किन्तु यहाँ छत से टँगा झूला भर तमिल घरों जैसा देखा। परदा नहीं था, किन्तु यहाँ की साड़ी से तामिल-साड़ी का कोई सम्बन्ध न था। शायद मामा की कन्या से भांजे का ब्याह (?) यहाँ तक चले आने के कारण यहाँ के ब्राह्मणों को पंचद्राविड़ों में गिना गया हो। लोग यहाँ के कमजोर थे–बाजरे की रोटी का देश, फिर इतने कमजोर क्यों ?–यार लोगों ने बाजरे का संस्कृत वज्रान्न किया है। स्त्रियों से पुरुष ज्यादा कमजोर, और कितनों का कहना था, वहाँ की स्त्रियाँ अबला नहीं प्रबला हैं; परन्तु शायद बनिया और क्लर्क श्रेणी को देखकर उनकी यह धारणा हुई, बाकी के स्त्री-पुरुषों में ऐसा वैषम्य नहीं देखा।

अहमदाबाद में रहते मैंने गुजराती की कुछ पोथियाँ पढ़ीं। गुरु बनाने की जरूरत नहीं थी, गुजराती का हिन्दी के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा हिन्दी के साथ भोजपुरी और मगही का। गुजरात हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की लपेट में क्यों नहीं आ गया, यह आश्चर्य की बात है। अहमदाबाद में इतने दिन रहने का कारण हुआ, मेरी परसा से आनेवाले रुपये की प्रतीक्षा। मैंने डाकोर से तार दिया था, देर होते देख वहाँ से चला आया, और आखिर जब तक रुपया यहाँ आवे, तब तक मै प्रस्थान कर गया।

अहमदाबाद से अब जाना था, काठियावाड़ और द्वारिका की ओर, किन्तु अहमदाबाद के साथियों ने कहा–डाकोर जैसी होली इधर कहीं नहीं होती; इसलिए डाकोर की होली देखकर द्वारिका जाने का निश्चय किया। जमाल दरवाजे से दो-एक दिन के लिए हम लोग एक दूसरे स्थान में, शहर की चहारदीवारी के बाहर ही चले आये थे। यहाँ

देखते थे, स्त्रियों को कपड़ों पर जरी का काम करते। पूछने पर बतलाया, निशान यहाँ भी बन सकते हैं, किन्तु उनका कारबार करनेवाले कारीगर सूरत में हैं। निशान में जरी के सूत से महावीरजी की उभड़ी हुई मूर्त्ति बनाई जाती; इसमें शायद कुछ विशेष कारीगरी की जरूरत होती।

देश देखना हो, तो पैदल चलो–इस सिद्धान्त का मैं पूरा कायल हूँ, यद्यपि हर वक्त उसका पालन करना मुझसे भी नहीं हो सका। अब के अहमदाबाद से नड़ियाद के रास्ते डाकोर पैदल आना तय किया। साथी थे, बहुत दिनों से गुजरात में रहता एक नागा, तथा एक बस्ती जिले के मोटे-तगड़े 'रमतेराम' (पर्यटक)। गुजरात के गाँव कुछ बुंदेलखंड के गैरपहाड़ी इलाके गाँवों जैसे मालूम हुए। गाँवों में भी जगह-जगह साधुओं के स्थान थे, जिनसे नागाजी परिचित थे। हम लोग वहीं ठहरते। नरसिंह स्थान (अहमदाबाद) की भाँति यहाँ भी बड़ी-बड़ी गायें पाली हुई थीं। शाम को घी में चुपड़ी बाजरे की रोटी, खट्टे मट्ठे की कढ़ी के साथ मुझे जितनी स्वादिष्ट मालूम होती थी, उतनी वह काली-रोटी, धवली-दाल भी नहीं। यद्यपि रहने की हमें जरूरत नहीं पड़ी, किन्तु गाँवों में कितनी ही जगह चौपालें भी पथिकों के लिए बनी थीं।

नड़ियाद में हम एक अच्छे वैरागी-स्थान में ठहरे। महन्त अब तो उतना नहीं, किन्तु पहिले कुछ नागरिक जीवन पसन्द करते थे। उनके बैठके में अच्छे-अच्छे कौच, गद्दीदार, कुर्सियाँ, झाड़-फानूस तथा तसवीरें टँगी थीं। नागाजी ने बतलाया, यह सब महन्तजी की प्रेयसी की देन है, जिसे मरे कुछ दिन हो गये, और जिसके बाद महन्त के जीवन में उदासी आ गई। गुजरात के वैरागी-मठों में अधिकतर महन्त और स्वत्वाधिकारी युक्त प्रान्त और विहार के होते हैं। महन्तों की अवस्था सभी जगह एक सी है, और सभी जगह प्रेयसियाँ सुलभ हैं, इसलिए इसमें किसी प्रान्त के पुरुषों और किसी प्रान्त की स्त्रियों की कमजोरी बतलाना गलत है। हमारे दोस्त बतलाना चाहते थे, कि गुजरात में तरुण वैरागी सन्ततिप्रवाह कायम रखने में बड़े सहायक हैं, लेकिन मैंने पूछा–जब अधिकतर इनका सम्बन्ध कुलीन विधवाओं से होता है, तो सन्ततिप्रवाह कायम रखने का सवाल कहाँ होता है ? रास्ते में हमारी बीती यात्राओं के वर्णन और नई यात्राओं की योजना के बारे में बात होती रही। हिमालय के देवदारुओं और हिमाच्छादित श्वेत शिखरों ने मेरे हृदय को हर लिया था, इसलिए प्रकृति के सौन्दर्य, साहसपूर्ण यात्रा का जब सवाल आता, तो मैं हिमालय का नाम लिया करता। द्वारिका के तो अब पास पहुँच गये थे, और वहाँ पहुँच जाना कुछ दिनों की बात मालूम होती थी–यद्यपि वह फिर कभी पूरी न हुई। हम लोग आगे की यात्रा में हिमालय और पंजाब को ही शायद ले रहे थे। बस्तीवाले बाबा हममें से सबसे कम घूमे हुए थे।

अब की बार डाकोर में 'चार सम्प्रदाय' में उतरे। वहाँ के महन्त नागाजी के परिचित थे। आसन ऊपर कोठे पर था। हमारे पास ही नाहन के महन्तजी का आसन था। वह एक-दो साधुओं को अपने साथ नाहन ले जाना चाहते थे। बस्तीवाले बाबा तैयार हो गये। आखिर रास्ते में जो हिमालय की तारीफ का मैं पुल बाँधता आया था। साधुओं में महन्तजी की शिकायत भी करनेवाले थे, क्योंकि उन्होंने स्त्री रख रखी थी। साथ ही साधु सेवा में वह डाकोर के किसी स्थान से पीछे न थे, अपनी सारी सम्पत्ति को गाडी सिन्दूर पर खर्च नहीं करते थे, इसलिए तारीफ़ करनेवालों की कमी न थी। भारी सम्पत्ति के स्वामी, तथा वैराग्य के आदर्श पर अल्पतम विश्वास रखनेवाले महन्तों को नागरिक जीवन के उपभोगों से वंचित रखकर, अखंड ब्रह्मचर्य पालन करने की उनसे आशा रखना, वस्तुतः उन्हें आत्मवंचना एवं परवंचना के लिए उत्साहित करना था। 'चार सम्प्रदाय' के महन्तजी बहुत विनीत और मिलनसार पुरुष थे। होली के दो-एक दिन पहिले मैं डाकोर पहुँचा था, और एक-दो दिन बाद चला आया; इतने कम समय में महन्तजी से कितना मिलने-जुलने का मुझे मौका मिला, यह तो मुझे याद नहीं; किन्तु एक बार अपने अस्तबल में उन्होंने मुझे अपनी कच्छी घोड़ी दिखलाई थी। सवारी मैंने नहीं की, उसके लिए जी तो किया होगा जरूर।

डाकोर में उसी तरह की काली भोंडी-सी रणछोड़ (मगधराज जरासन्ध से युद्ध में पराजित हो मथुरा से द्वारिका भाग आने के कारण कृष्ण का यह नाम पड़ा !) की मूर्त्ति है। कहते हैं, रणछोड़ ने द्वारिका छोड़ डाकोर आने की इच्छा एक सीधे-सादे गृहस्थ से प्रकट की, और वह उन्हें डाकोर ले आया। डाकोर में मैं उनके दर्शन के लिए एक-दो बार जरूर गया होऊँगा, किन्तु देर तक प्रतीक्षा करना और कुछ भीड़-भड़कम के सिवा और

कोई बात याद नहीं। होली का जुलूस सचमुच बड़ी तैयारी के साथ निकला था। वैरागी नागों ने गुजरात को आमतौर से और डाकोर को खास तौर से अपना अखाड़ा बना रखा है। उस दिन वह अपने गदका-फरी, लेजिम, बाना-बनेठी के हाथ दिखला रहे थे। चारों ओर अपार दर्शकों की भीड़ दिखाई पड़ रही थी। निशान चल रहे थे—सो तो याद नहीं, किन्तु बाजे बज रहे थे, अबीर लगाई जा रही थी, शायद होली भी गाई जा रही थी, यद्यपि उत्तरी भारत की भाँति गन्दी नहीं; क्योंकि उनके गानेवाले साधु थे; तो भी कृष्ण-राधा, गोपी-कृष्ण के नाम पर उसे सरस बनाया जा सकता था।

डाकोर आते ही मैंने परसा तार दिया था, और होली के दूसरे ही दिन तार के मनीआर्डर के साथ खबर आई—जरूरी काम है, तुरन्त चले आओ।

13

परसा वापिस

डाकोर से परसा बहुत दूर है और मुझे रतलाम, भुपाल, बीना, कटनी, प्रयाग, काशी होते गुजरना पड़ा; किन्तु एक दिन के लिए काशी को छोड़कर रास्ते में कहीं नहीं उतरा। परसा आने पर मालूम हुआ—डोरीगंज के महन्त मर गये, उनके लिए उत्तराधिकारी चुनने का मामला पेश है। डोरीगंज छपरा से कुछ मील पूर्व गंगातट पर किसी वक्त एक अच्छा बाजार था, जब कि रेल के आने से पहिले गंगा द्वारा व्यापार हुआ करता था। जहाँ लक्ष्मी निवास करना चाहती है, साधु लोग भी वहाँ अपना आवास बना लेते हैं—इस नियम के अनुसार परसा के किसी साधु ने जाकर वहाँ अपनी छोटी सी कुटिया बाँधी, वह धीरे धीरे बढ़कर एक छोटा-मोटा मठ बन गया। बाजार की आर्थिक अवनति का प्रभाव मठ पर भी पड़ना जरूरी था, तो भी उसके पास कुछ खेत और महन्तजी के पास थोड़े से पैसे थे। परसा के महन्त प्रधान स्थान के स्वामी होने के कारण महन्त बनाने का अधिकार रखते थे। डोरीगंज के महन्त एकाएक मरे थे, और परसा के महन्त को यह सोचने का मौका भी नहीं मिल पाया था, कि वहाँ कौन महन्त बनाकर भेजा जावे। मरने या सख्त बीमार पड़ने की खबर आने पर मठ की सम्पत्ति की देखभाल के लिए किसी होशियार आदमी को भेजना जरूरी था—होशियार भी हो और महन्तजी का विश्वासपात्र भी, ऐसे आदमी का परसा में अभाव-सा था। लाचार हो उन्होंने अपने एक भतीजा-शिष्य रामलखनदास को भेज दिया। बलिया जिले के सेंधवार गाँव में भी परसा मठ का एक अच्छा शाखा मठ है, वहाँ के पहिले महन्त, रामलखनदास के गुरु थे। उनके मरने पर रामलखनदास को बड़ी आशा थी, कि वही महन्त होंगे, किन्तु उनको महन्त बनाने से परसा के महन्त को भेंट पूजा कम मिलती, नया महन्त अपने पूर्वज का शिष्य होने से मठ की चल सम्पत्ति पर अधिकार रखता, तथा उसे भविष्य के लिए अपने पास ही रखने की चाह रखता। परसा महन्त ने 'मौनीजी' को सेंधवार का महन्त बना दिया, रामलखनदास का नाराज होना जरूरी था। रामलखनदास वही साधु थे, जिन्होंने लड़के सुदर्शनदास को परसा महन्त के पास शिष्य होने न देकर, रोते ही में उसे कंठी और मन्त्र दे दिया था।

डोरीगंज में जाकर रामलखनदास ने सोचा कि यहाँ भी महन्तजी चाहेंगे, सारे रुपयों को अपने पास रख लेना, और कुछ दूसरा करने पर वह रामलखनदास को महन्त भी न बनावेंगे, इसलिए अबकी बार महन्तजी को छकाने की उन्होंने पूरी तैयारी की थी। पहिले स्थान के गृहस्थ शिष्यों को समझा दिया, कि महन्तजी चाहेंगे डोरीगंज की मिट्टी तक को खोदकर उठा ले जाना। उनकी यही रवैया हर जगह होती है। मठ के सेवकों ने तय किया, कि महन्तजी को वैसा नहीं करने देंगे। इसकी कुछ भनक महन्तजी को लग गई थी, इसलिए उन्होंने मुझे तार दिया था। मैंने सब बात सुनकर इसे अनुचित और नीतिविरुद्ध समझा कि डोरीगंज की सारी चल सम्पत्ति परसा चली आवे। आखिर वहाँ भी मन्दिर और मठ था। साथ ही रामलखनदास के वहाँ की धार्मिक जनता को महन्तजी

के खिलाफ भडकाने की भी बात मैंने सुनी। सब सोचकर मैंने गुरुजी को समझाने की कोशिश की, लेकिन वह कब उसे पसन्द करते। उन्हे ईंट-चूने पत्थरो पर स्वाहा करने के लिए हर साल दस-पन्द्रह हजार रुपये चाहिए थे, और समझते थे डोरीगज के हजार बारह सौ रुपये बहुत काम के साबित होगे।

श्राद्ध या भडारा का दिन आया। एकाध दिन पहिले ही गुरुजी के साथ मैं भी डोरीगज पहुँचा। महन्तजी ने जहाँ रुपये तलब किये, वही स्थानीय गृहस्थों के कान खडे हो गये। रामलखनदास ने मुस्कराते हुए इशारा करके कहा—'मैं कह रहा था न, महन्तजी के लिए डोरीगज का स्थान चूल्हे-भाड मे जाये, उन्हे तो जरूरत है रुपयो से।' गृहस्थ-सेवको का भी आखिर मठ पर कुछ अधिकार होता है, वे कई पीढी से डोरीगज के महन्त के शिष्य होते आ रहे थे, मठ की सम्पत्ति में उनके दान का भी रुपया था और उनकी सन्तान का मठ के साथ चिरस्थायी सम्बन्ध था फिर वे नये महन्त को खाली हाथ काम शुरू करने की बात को क्यो पसन्द करने लगे? उन्होने नरमी के साथ कह दिया कि मठ की मरम्मत आदि कितने ही काम बाकी हैं, जिनके लिए वे रुपये रखे हुए हैं। गुरुजी इस बात को सुनकर आग बबूला हो गये, और लगे 'चौकी तोडने'—गुस्सा होने पर मुँह कान लाल-लाल करके बैठने की चौकी पर आसन बदलते हुए डाँटना तथा जली कटी सुनाना यह महन्तजी की खास आदतों में था। लेकिन वहाँ चौकी तोडने से क्या होनेवाला था यदि गाँव भर के लोग एक राय थे तो बीस कोस दूर का बडे से बडा आदमी भी वहाँ क्या कर सकता था? सैथरार में रामलखनदास अनुभवी नही थे, उनको जरूरत से ज्यादा आत्मविश्वास था और जनता को अपनी ओर करने की आवश्यकता वो नहीं समझ पाये थे अबकी बार वे उन गलतियों को दुहराने नही जा रहे थे।

न्योता पाकर आसपास के कई स्थानो के महन्त और साधु आये हुए थे। अच्छे खासे भडारे की तैयारी थी। रुपये देने से इनकार करने पर महन्तजी अड गये—'तो मैं रामलखनदास को महन्ती की चादर ही नही दूँगा।' मुझे समझाने में बहुत परिश्रम करना पडा। मैंने कहा—'आपको चादर न देने पर भी रामलखनदास डोरीगज से जानेवाले नही है पिछले दस बारह दिनो मे आपके खिलाफ लोगो को भडकाकर उन्होने अपनी स्थिति मजबूत कर ली है। फिर नाहक बदनामी लेने मे फायदा? आखिर हजार बारह सौ रुपयो से आपका कुछ होने जानेवाला नही है।' 'चौकी तोड' उठने के बाद उनका पारा कुछ नीचे उतरता है यह सबको मालूम था। अन्त में हम लोगो की बातो का असर हुआ उन्होने मुँह फुलाये हुए, किन्तु बाहर से क्रोध न प्रकट करते हुए सब काम किया चद्दर दे रामलखनदास को महन्त बनाया उनके बाद आए हुए दूसरे महन्तो ने भी चद्दर दी। रामलखनदास सैथरा के नही तो डोरीगज के महन्त हुए।

रामनवमी परसा में हुई। परसा मठ की रामनवमी, जन्माष्टमी बहुत प्रसिद्ध है। रंडियो की नही, किन्तु छोकरो की जितनी नाच मडलियाँ आ जाय उनको खाना और विदाई मिलती है। जन्माष्टमी के भादो मे पानी से वर्षा के कारण उसमे विघ्न भी पड सकता है किन्तु रामनवमी मे दो दिन तक शामियाने के नीचे नाच होता रहती है। जनता को तो मनोरंजन चाहिए—वह चाहे धर्म के नाम पर हो या दूसरे नाम पर। आसपास के पचासो गाँव के लोग नाच देखने के लिए टूट रहते। सबेरे बैंडबाजा और रोशनचौकी साधारण तौर से बजती, 12 बजे दिन को रामजन्म होना, उस वक्त बाजे की आवाज से कान का पर्दा फटने लगना, परसादी लेने के लिए लोगो की भीड लग जाती। दोपहर को खा पीकर निश्चिन्त हो नाच शुरू होती, और फिर चलती ही रहती। नाच गाना देखने का मुझे शौक न हो सो बात नहीं, किन्तु जिस तरह के गवैये वहाँ जमा होते थे, उनके लिए नींद हराम करना मैं अपने लिए उचित नही समझता था। कभी कभी कोई कत्थक या वास्तविक गायक पहुँच जाता—और ऐसा अवसर कम ही होता क्योकि गुरुजी के लिए सब धान बाईस पसेरी थे—तो जरूर कुछ समय तक सुनता।

अबकी लौटकर परसा आने पर एक प्रिय परिचित चेहरे को देखकर बडी प्रसन्नता हुई, वह था वनमाली ब्रह्मचारी का चेहरा। वनमाली वही जो बनारस में सीतीराम के बाग में मेरे वेद के सहपाठी थे, मेरे अपने जिले के रहनेवाले थे, मेरे मित्र थे। मालूम हुआ मेरे बनारस से चले आने पर उनके मन में भी खलबली पैदा हुई और वह भी आकर परसा में गुरुजी के शिष्य हो गये, नाम पडा वरदराजदास—गुरुजी दिव्य देशों के पर्यटन से

प्रभावित हो आचारियों की नकल करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने शख चक्र देना शुरू किया था, और इसीलिए वरदराज जैसा आचारी नाम हमारे मित्र को दिया गया। वरदराज को पास पाने से मुझे खुशी और अप्रसन्नता दोनों हुईं। खुशी तो इसलिए कि अब मेरे पास एक अभिन्न हृदय मित्र आ गया था, जिसके सामने बिना कोई परदा रखे अपने हृदय के भावों-सन्तोषों, असन्तोषों-को रख सकता था; अप्रसन्नता इसलिए हुई, कि परसा मठ के समाज, उसके विद्याविमुख तथा निम्नकोटि के वातावरण से मैं स्वय ही असन्तुष्ट था; उसमें एक और अपने मित्र को फँस गये देखना मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ। तो भी स्वार्थ के खयाल से तो खुशी की मात्रा ही मुझमे ज्यादा पैदा हो सकती थी।

मेरे लिए फिर वही चर्चा। जमीदारी के गाँवों को देखो, कागज-पत्र समझो, मामले-मुकदमे के लिए कारपर्दाजों को हिदायत करो, दिनों-दिन बढ़ते कर्ज के बोझ की फिक्र मे मरो, और इन सब बातो के साथ अकल का अपमान करने के लिए हर वक्त तैयार रह चाटुकारों की खुशामदों को सुनो। गर्मी के दिन, किसी तरह नौ-दस बजा दिये; फिर तो गर्मी में बाहर जाने या किसी से मिलने-जुलने की बात नहीं; कोठरी में बैठा पखे के नीचे या वैसे कुछ किताबें पढ़ता, वरदराज से बातें करता, या सो जाता। चार बजे उठने पर फिर कुछ इधर-उधर मठ के काम को देखता। ठडा होने पर चाहे घोड़े पर चढ़कर या टमटम से चार-छ मी. का सैर करता। टमटम से जाने पर एकमा की ओर जाता। टमटम कितनी बार उलटा होगा, गिरा भी हाऊँगा, घोड़े से गिरने की तो नौबत नहीं आई, किन्तु कभी मुझे चोट-फोट नहीं आई। एक दिन एकमा से टमटम हॉक आ रहा था, घोड़ा कुछ देखकर भड़का, और तुरन्त एक पहिया बीच के ऊचे रास्ते से डेढ़ हाथ नीचे जा पड़ा। पहिया नीचे जाने का मुझे खयाल है किन्तु किस वक्त दिमाग को उसकी खबर मिली, किस वक्त उसने हाथ पैरो को फॉद जाने की इजाजत दी, यह मुझे नहीं मालूम। टमटम बिलकुल उलट गया, उसका बम घोड़े की पीठ पर चला गया, खैरियत यही हुई कि घोड़ा नहीं उलटा। घोड़ा सहित टमटम के उलटने की भी नौबत आई, किन्तु मै उसी तरह फुटबाल की तरह उछल जाता। एक बार की घटना मुझे याद है, जिसका स्मरण आने से अब भी रोमाच हो जाता है। परसा से जल्दी मे किसी गाँव को जाना था। टमटम और बग्घी द्वारा जाने मे देर लगती, और ज्यादा दिन का काम भी न था, इसलिए साईस को पैदल भेजकर मैं घोड़े पर साधारण गद्दी कस, खरहरा करनेवाली बिना कॉटे की लगाम लगा परसा से चल पड़ा। बाजार की सड़क जहाँ एकमा से आनेवाली सड़क मे मिलती है, वहाँ चार-चार पॉच-पाँच वर्ष के कितने ही बच्चे चौरस्ते पर खेल रहे थे। घोड़ा दौड़ाये हुए मै आ रहा था, और जब नजदीक आ गया, तो लड़को को देखा। लगाम रोकी किन्तु वह उसकी क्यो सुने। घोड़ा जिस वक्त लड़को के खेलने की जगह पर टाप मारता गुजरा, उस वक्त मैं सज्ञाहीन-सा था, मेरी आँखे बलात् मुद गई थी। आगे रोकने मे सफल हो घोड़े को मोड़ा, मेरा चित्त खिल गया, जब देखा, कि सभी बच्चे भागकर सड़क के दोनो किनारो पर खड़े हो गये हैं। यूथ-प्रतिभा उनकी काम कर गई। शायद कुछ अधिक उमर के होने पर उनमे से एकाध जरूर भौंचक हो वहाँ रह जाते।

इसी साल या इससे पहिलेवाले साल मे जब मैं परसा मे था, भारतीय पुरातत्त्व विभाग के दो फोटोग्राफर एस. गागोली तथा पिंडीदास पुरानी वस्तुओं का फोटो लेने के लिए आकर एकमा के डाकबँगले मे ठहरे। वह परसा भी आये। उस वक्त मैं पुरातत्त्व सम्प्रदाय के नाम से भी अपरिचित था, फिर उनके काम के महत्त्व को क्या समझता ? पिंडीदास ने मठ मे आकर कुछ पूछ-ताछ की और मै ही ऐसा आदमी था, जिससे वह कुछ पूछ-ताछ सकते थे। उस वक्त मन्दिर के उस सभामडप को तोड़ दिया गया था-जिसमे कि कितनी ही सुन्दर नक्काशी के काम की काठ की टोडियाँ लगी हुई थीं। उन्होने बाकी खड़े मन्दिर-शिखर और समाधि के फोटो लिये, मेरा भी पहिला फोटो इसी वक्त लिया गया, पिंडीदासजी ने उसकी एक कापी दी भी थी, किन्तु वह अयोध्या जाते वक्त मनकापुर में वरदराज से खो गई। उन्होंने एक फोटो घोड़े पर भी लिया था और पता दिया था इंडियन म्युजियम कलकत्ता का; किन्तु मैंने उसके लिए चिट्ठी नहीं लिखी। दोनो सज्जनो को इधर उधर जाने के लिए मैंने अपना टमटम दे दिया था, न देने पर उन्हे पुराने ढग के एकमा के एक्कों पर चढ़कर जाना पड़ता, जिन पर खाकर सवारी करने पर पेट स्वतः खाली हो जाता था।

बहरोली गाँव ठीके पर दिया जा चुका था, उसके बाद जानकीनगर (थाना बसन्तपुर के बिल्कुल नजदीक) ही मठ का दूसरा बडा गाँव था। इसे परसा के बाबुओं ने 'जानकी'जी के राग-भोग के लिए प्रदान किया था। उस समय इसका नाम बौंडैया था। पीछे कर्ज या मालगुजारी में बाबू लोगों की जमींदारी नीलाम हो गई, नये खरीददारो ने और गाँवो के साथ बौंडैया को दखल करना चाहा, किन्तु तब तक बौंडैया जानकीनगर में परिणत हो गई थी। खोजकर हार गये, उस नाम का गाँव नहीं मिला–यही पुरानी कहावत है। जानकीनगर में मठ की बाईस सौ रुपये की आमदनी थी, सरकारी मालगुजारी, दायमी-बन्दोबस्त के अनुसार सौ या सवा-सौ देना पड़ता था, जिसे लार्ड कार्नवालिस के वक्त मुकर्रर किया गया था। गुरुजी के साथ मैं भी जानकीनगर में जमींदारी की देख-भाल करने गया था। बिहार का जमीदार छोटा मोटा राजा है–कम से कम उस वक्त था, स्त्री-पुरुष के झगडे में भी जुरमाना लेता था, मामूली मारपीट के झगडे थाने तक जाने नही पाते थे, दोनों ओर से कुछ ले-देकर जमींदार या उसके कारपर्दाज दबा देते थे। जमीदार न्याय करते हो, सो बात नही, उन्हे तो हर साल जुरमाने से अधिक से अधिक रुपये मिलने चाहिए थे। मैं भी उस वक्त जमीदारो के इस अधिकार को दूसरी बहुत सामाजिक बातो के साथ सनातन और जायज समझता था; यद्यपि मेरी कोशिश थी पूरी न्याय करने की। जानकीनगर मे किसी जबर्दस्त आदमी को दूसरे कमजोर के ऊपर अत्याचार करते मैंने पाया। गवाही साखी से कसूर साबित हुआ। मैंने जुरमाना किया। जमीदार के कारपर्दाज गाँव के जबर्दस्त आदमी का ही पक्ष लेना पसन्द करते हैं, उन्होंने मुझसे जुरमाना छुड्वाने के लिए कोशिश की। किन्तु इस बारे में मेरे स्वभाव को वह जानते थे; फिर उन्होने गुरुजी से सिफारिश करनी शुरू की। उन्होंने जुरमाना माफ कर दिया। मुझे यह बहुत नागवार गुजरी। नियम और व्यवस्था का पद-पद पर अवहेलना करना उनके स्वभाव मे था–यह मैं जानता था; फिर भी मैंने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की; और नाराज हो वहाँ से सीधे परसा चला आया।

लीची शुरू हो गई थी, आम के आने में बहुत देर न थी, तो भी नही कह सकता मीठी-मीठी लीचियाँ मेरे मन को बहलाने में समर्थ हुई थी। परसा का रहना मुझे सिर्फ अपने समय को बरबाद करना मालूम होता था–उस समय को पढ़ने या दुनिया की सैर में लगा सकता था। वरदराज मठ ही पर थे, और उनसे भविष्य के कार्यक्रम पर बात होती रहती थी। यागेश के बहुत से गुण वरदराज मे थे। दोनो नये स्थानो, नये दृश्यों को देखना पसन्द करते थे, दोनों मुझसे घनिष्ठ अनुराग रखते थे, और साथ ही दोनो पढ़ने-लिखने को ज्यादा महत्त्व नही देते थे, इस तीसरी बात मे यदि वे मेरे सहरुचि रखनेवाले होते, तो शायद जीवन की दौड मे बहुत दूर तक हमारा साथ रहता।

जिस वक्त मैंने कनैला से सम्बन्ध तोडा नही था और बनारस में पढ़ रहा था, उसी समय पिताजी कनैला से पूर्व जिगरसंडी गाँव की एक जमीदारी खरीदना चाहते थे। एक बार उसके मालिक दस्तावेज लिखने भी गये थे, किन्तु किसी बात के कारण पटरी नहीं जमी। पीछे उन लोगो ने उस जमीन को एक दूसरे आदमी को लिख दिया। पिताजी ने अपनी सबसे छोटी बहिन के ससुर के नाम से–जिनके नाम कि उस जगह की जरा-सी जमीन पहिले साल लिखी जा चुकी थी–हकशफा दायर किया था; अब हकशफा में उनकी जीत हो गई। उन्हें दूसरे बैदार को रुपया लौटाना था। मीयाद नजदीक और यहाँ नकद रुपये नदारद। कर्ज पर दिये हुए रुपये उस वक्त लौट न सकते थे। मेरे चचा प्रताप पांडे कुछ दस्तावेजों को लिये तत्काल कुछ रुपये कर्ज लेने के खयाल से परसा आये। मैं समझ सकता था, कि असाधारण घबराहट में ही वह इधर आने पर बाध्य हुए, किन्तु मैं इस तरह के मामले में ऐसे भी हाथ नहीं डाल सकता था, और इस वक्त तो अभी-अभी झगड़कर जानकीनगर से मैं चला आया था। दूसरों के साथ रूखे बरताव के मेरे बहुत कम उदाहरण हैं, इस वक्त भी एक ऐसा ही उदाहरण मेरा अपने चचा के साथ हुआ, जिसकी स्मृति मुझे सदा अप्रिय मालूम होती है। मैंने कह दिया–'मैं कुछ नहीं जानता, आप महन्तजी के पास जायें।'

वर्षा शुरू हो गई थी। उस साल आमों की फसल अच्छी आई थी, अथवा दुनिया के लिए अच्छी फसल आवे चाहे नहीं, मेरे जैसी स्थिति के लोगों के लिए आम दुर्लभ चीज नहीं थे। फसल के वक्त उस समय के फलों को ही अपने भोजन का प्रधान भाग बनाना मेरी आदत है, चाहे दूसरी खाद्य-वस्तुओं से वह कितने ही सस्ते

क्यों न हों; हाँ, बारहो मास मिलनेवाले फलों के बारे में मेरा यह पक्षपात नहीं। पके कटहल को पेट-पेटभर खाते देखकर मेरे साथी डरने लगते थे, किन्तु मैं बड़े चाव से खाता था। इस वक्त आमों का खूब दौर-दौरा था। सबेरे, दोपहर और शाम के भोजन में काफ़ी परिमाण में उनका रहना बहुत जरूरी था। गुरुजी को डर था, कि मैं फिर किसी तरफ़ निकल जाऊँगा, इसलिए खिदमतगार के अतिरिक्त एक सिपाही और एक-दो साधु मुझ पर पहरा देने के लिए नियुक्त किये गये थे। दरअसल रात को सोते वक्त, बिना हथकड़ी-बेड़ी तथा काल-कोठरी के मैं एक कैदी से बेहतर हैसियत नहीं रखता था। मेरा दिमाग भागने की ताक में था, अब के वरदराज भी मेरे सहयात्री बनने को तैयार थे। दोनों का साथ निकलना असम्भव मालूम हुआ, इस पर तय किया गया कि मैं निकलकर 10, 12 मील दूर महाराजगंज के एक मठ में ठहरूँ, वहीं वरदराज भी आ मिलें, फिर दोनों साथ यात्रा शुरू करें।

एक दिन मुझे मौका मिल गया। पानी बरस रहा था, और रात थी। खाली देह लिये महाराजगंज के उस मठ में पहुँचा। दूसरे या तीसरे दिन वरदराज भी पहुँच गये। हम दोनों साथ परसा मठ के एक अच्छे शाखा मठ बगौरा में गये, जो कि वहाँ से तीन-चार मील पर था। महन्तजी पहिले से भी परिचित थे। बड़ी आवभगत हुई। वे समझ गये हम भागकर आये हैं, लौटाने की बहुत कोशिश की, किन्तु हमने कहा—वहाँ रहना वक्त बरबाद करना है, अयोध्या में रहेंगे, तो कुछ पढ़ेंगे। महन्तजी खुद तो पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन उसकी कद्र जानते थे, तभी तो अपने एक शिष्य को बनारस में पढ़ने के लिए भेज रखा था। उस वक्त बगौरा में पूड़ी और आम ऊपर से दूध का भोग लगता था। परसा की तरह बगौरा में कितने ही बड़े पुराने तथा धनी जमींदार परिवार हैं। इस मठ की चार-पाँच हजार वार्षिक आय की जमींदारी का अधिकांश भाग वहाँ के बाबू लोगों का ही दिया हुआ था। परसा में बाबू लोगों का मठ की संरक्षता को लेकर जबर्दस्त मुकदमा हो चुका था, बगौरा में अभी नहीं हुआ था; किन्तु उस वक्त किसको मालूम था, कि वह गर्भ में है और अचल 'सीता' (मन्दिर की मूर्ति) के लिए चढ़ाई रेशमी साड़ी किसी चलती-फिरती सीता के बदन पर पहुँचकर गजब ढायेगी।

दो-चार दिन बगौरा रहकर हम अयोध्या को रवाना हो गये।

14

अयोध्या में तीन मास (1914 जुलाई-सितम्बर)

दुरौंदा से गाड़ी में चढ़ते वक्त हम दो डब्बों में बैठ गये थे। मैंने वरदराज को कह दिया था, कि गोरखपुर से अगले स्टेशन पर उतर पड़ना। शायद हम लोगों में से एक बिना टिकट का था, नहीं तो वरदराज वहाँ का उतरना न भूलते, और न हम दोनों को दो डब्बों में बैठने की जरूरत पड़ती। मैं जिस स्टेशन पर उतरा, शायद वह डोमिनगढ़ था। ढूँढ़ा, लेकिन वहाँ वरदराज का पता नहीं। स्टेशन मास्टर से परिचय हो गया। शाम को उन्हीं की सहायता से रवाना होकर मनिकापुर में ट्रेन बदल लकड़मंडी पहुँचा। अयोध्या सामने दिखलाई पड़ रही थी। बिना पैसा-कौड़ी जा रहा था, किन्तु अब बिना पैसा-कौड़ी भी काफ़ी दुनिया 'ख चुका था, इसलिए अयोध्या की ओर पैर बढ़ाना घर की ओर जाना-सा था। बरसात होने के कारण इस वक्त पुल नहीं स्टीमर चल रहा था, और शायद गोलाघाट पर लगता था। स्वर्ग द्वार पर विदेहीजी के स्थान का नाम मैं पहिले ही सुन चुका था, इसलिए वहीं जाकर उतरा। नीचे सीढ़ी की बाईं ओर की कोठरी में रहने के लिए जगह मिली।

सावन का महीना अयोध्या में बहुत चहल-पहल का होता था। आधी अयोध्या मन्दिरों और मठों से भरी हुई है, इस महीने में हर मन्दिर में राम-सीता झूला झूलते। झूले को खूब फूलों, लट्टुओं और रोशनी से सजाया जाता। हर जगह थोड़ा-बहुत संगीत का प्रबन्ध रहता, अधिक समृद्ध मन्दिरों में नाच भी होती, और किन्हीं-किन्हीं मन्दिरों के 'सीताराम' तो रंडियों का नाच भी देखते। मुझे कुछ आश्चर्य और कुछ अभिमान हुआ, जब कि झूले

की झाँकी निहारते वक्त घूमते समय सुना कि पास के मन्दिर मे झूलन मे छपरा की विख्यात नटी तौखी नाच रही है। तौखी का नाम याद रह गया, क्योंकि 1922 मे तिलकस्वराजफड मे उसने काफी रुपया देकर दिखलाया था, कि एक रडी भी हृदय रख सकती है। युक्तप्रान्त और बिहार के दूर-दूर के कोनो से श्रद्धालु स्त्री-पुरुष झूलन देखते सावन बिताने के लिए अयोध्या आते हैं। हम लोगो को निश्चय ही सावन का आकर्षण खीचकर नही लाया था।

दूसरे या तीसरे दिन वरदराज भी मिल गये। उन्हे अपने जन्मस्थान का एक वृद्ध साधु मिल गया था। परसा मठ के एक महात्मा अयोध्या की अन्तरग धार्मिक-मडली मे बहुत विख्यात थे, उन्ही के द्वारा हमे एक-दूसरे का पता लग पाया।

पाँच-सात दिन तो अयोध्या के भिन्न-भिन्न मठो, मन्दिरो को देखने, रात को झूलनोत्सवो का आनन्द लेने मे हमारे बीत गये। दर्शको मे यही चर्चा रहती थी–'अमुक स्थान की फूलो की सजावट बडी सुन्दर थी', 'अमुक स्थान मे रोशनी अच्छी थी', 'अमुक स्थान मे हरी-पीली घासो को कैसा सजाया था ?' ' मन्दिर मे कत्थक नाचने मे कमाल कर रहा था। दर्शको की चलन्तू मडली आधी रात तक चलती फिरती रहती। दूसरे मन्दिरो मे तो ताँबे पीतल, अष्टधातु के राम सीता झूले पर झूलते किन्तु 'रसिक' लोगो के यहाँ उखने सुननेवाले, चलने-फिरनेवाले, जीते-जागते, राम-सीता झूलन का आनन्द ले रहे थे। रामलीला की तरह छोटे छोटे सुन्दर लड़को को राम-सीता बनाकर वहाँ झूले पर बैठाया जाता। रामजी 'द्वापर' के वेश मे पट्टा काढे, किरीट मुकुट बाँधे, नाक मे मोती पहिने धनुष-बाण लिये बैठे होते उनके पास लहँगा-दुपट्टा ओढे शिर पर चन्द्रिका दिये जानकीजी होती। दोनो के शिर मे चन्दन-खौर घमी रहती। गोलाघाट के महात्मा श्री रामवल्लभाशरणजी अपने श्री करकमल से राम-जानकी का झूला झुला रहे थे, बनेया लेते उनके मुँह मे पान के बीडे दे रहे थे। वहाँ रोशनी के मारे रात का दिन हो रहा था। फूलो और अतर की सुगन्ध से सारी हवा लदी हुई थी। यहाँ फैजाबाद तथा दूसरे नगरो के सम्भ्रान्त परिवारो के स्त्री पुरुष बाल-बच्चो सहित बैठे झूले की झाँकी तथा सगीत का आनन्द ले रहे थे। लक्ष्मण किला, हनुमतनिवास जैसे रसिक देवालयो मे सावन के लिए खूब तैयारी थी। अपनी सूक्ष्म रुचि का इन लोगो को अभिमान था, और वह अभिमान बहुत कुछ दुरुस्त भी था।

परसा के शिष्य एक भजनानन्दी महात्मा के पास जाने आने का मौका न मिला होता तो मुझे सखीमतवालो के बारे मे विशेष जानने का मौका नही मिलता। यद्यपि उस वक्त भी, और इधर तो ज्यादा मैंने कहते सुना कि सखीमतवाले दाढी-मोछ मुडाकर, लम्बा केश बढाये बिलकुल स्त्री-वेष मे रहते हैं, किन्तु अपने परिचित व्यक्तियो मे मुझे ऐसे चेहरे नहीं देखने मे आये। हाँ, स्त्रैण भावना उनमे ज्यादा होती है। मेरे स्थान के उक्त महात्मा भी भीतर मे सखीभाव रखते थे, ऊपर से तो लम्बी दाढी-मूँछ, लम्बा केश, अँचला और शिर पर एक सफेद गमछा रहता; किन्तु उनके शिष्य का इसी वेष के साथ, ललाट पर राम-नाम के छाप के अतिरिक्त स्वर बिलकुल स्त्रियो का था। बोलने और चलने मे स्त्रियो की हूबहू नकल करते तो मैंने भी बहुत से सखीमतानुयायी देखे। उनका कहना है–पुरुष तो एक भगवान ही हो सकते हैं, दूसरा व्यक्ति पुरुष भाव रखकर भगवान् की भक्ति नही प्राप्त कर सकता; इसीलिए भगवान की भक्ति के लिए सखीभाव की पूर्ण साधना बहुत आवश्यक है। हर 'सखी' (सखीमतानुयायी) का एक स्त्रीलिंगी रहस्य नाम होता है–'लवगलता', 'अनगलता'। वह राम को अपना पति समझकर उनकी पूजा करती, उनको साथ लेकर कितनी ही सोती तक, और कितनो को तो मासिक-आर्तव का भी अभिनय करते देखा जाता। रसिक या 'सखी' लोग दूसरो की भक्ति को अनाड़ियों की-सी निम्न कोटि की मानते। यह 'राम जानकी' पूजा-अर्चा मे आजकल के राजा-रानियो के उपभोग की सारी सामग्रियाँ यथाशक्ति उपस्थित करना चाहते। 'सखी' लोग वियोग नाट्य नही, सदा मिलने के बाने को पसन्द करते। उनके कपडे भी कुछ अधिक नफीस, चेहरे पर स्निग्धता (चिकनापन) ज्यादा, वाणी स्त्रैण और मधुर होती। एक दिन श्रीराम वल्लभाशरणजी से हम लोग बातचीत करने गये थे, वेदान्त पाठशाला के बारे मे उन्होंने राजकुमार रामसम्बन्धी निजनिर्मित पहिले तो कुछ कवित्त सुनाईं, फिर जिस उद्देश्य को लेकर हम गये थे उस पर भी बातचीत की। उस वक्त उनका बारीक अँचला सूती था या रेशमी सो तो मैं नही कह सकता, किन्तु चादर सफेद काशी सिल्क की

थी। केसरिया चन्दन से सीताराम तथा चन्द्रिका-मुद्रिका द्वारा उनका सारा ललाट दोनों आँखों के बाहरी कोनों तक अंकित था। जिस स्वर और हाव भाव से बोल रहे थे उसमे गम्भीरता जरूर थी, किन्तु उससे मालूम होता था, कोई दाढ़ीवाली महिला बोल रही है।

किसी समय जानकी घाट–सखीमत का उद्गम स्थान–अपने सख्य भाव और शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रसिद्ध था, फिर किला के युगलानन्यशरण का सितारा चमका जो इस वक्त डूब चुका था। इस वक्त वहाँ के महन्त स्त्रीनाट्य नहीं पुरुषाभिनय को ही तरजीह देते थे। गोलाघाट के श्रीरामवल्लभाशरण की प्रकट तथा पडित वल्लभाशरण की गुप्त सख्यभावना की ख्याति थी, किन्तु वस्तुतः सखी समाज का केन्द्र हनुमत-निवास हो रहा था, जहाँ के महन्त गोमतीदास सख्यभक्ति में बहुत पहुँचे हुए समझे जाते थे। उनकी शक्ति प्रभाव की वृद्धि को मुबारकपुर (छपरा) के श्रीभगवानदास–जो गृहस्थावस्था में परसा के पहिलेवाले महन्त श्रीरघुवरदास के शिष्य थे–की उनके प्रति श्रद्धा ने और बढ़ा दिया था। श्रीभगवानदासजी अपने भक्तों में रूपकलाजी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, वह पहिले स्कूलों के डिप्टी-इन्स्पेक्टर थे, पेनशन लेने के बाद वह घर से विरक्त हो गये, और अयोध्या में रहने लगे। जिस वक्त की बात मैं लिख रहा हूँ, उस वक्त वह हनुमत-निवास में रहा करते थे। दाढ़ी-मूँछ मुँड़ाये वह पूरी तौर से स्त्री-रूप में रामभक्ति कर रहे थे। उनका बिहार के एक श्रेणी के शिक्षितों पर बहुत प्रभाव था, जिससे उनके लिए तो हनुमत-निवास काबा बन गया था।

सखीमत के सभी कर्णधारों के बारे में तो नहीं कह सकता, किन्तु अधिकाश तो इस रामभक्ति की आड़ में अपने स्थानों को अस्वाभाविक व्यभिचार का अड्डा बनाये हुए थे। मुझे आश्चर्य होता था, गृहस्थों में कितने ही इस रहस्य को जानते हुए भी क्यों उनकी ख्याति बढ़ाने में सहायक होते है।

पाँच-सात दिन में अयोध्या काफी देख लेने के बाद अब पढ़ाई का सिलसिला भी जारी करना था, उसी वक्त पता लगा, गोलाघाट के पास 'दिव्य देश' (मद्रासी ढंग पर बने आचारी-देवालय) में एक वेदान्त पाठशाला खुली है, जिसमें एक योग्य मद्रासी विद्वान पढ़ाते हैं। मैं भी जाकर वहाँ दाखिल हो गया। छात्रों की संख्या बारह-तेरह रही होगी, जिनमें तीन-चार को छोड़ बाकी सभी वैरागी थे, और यही अच्छे विद्यार्थियों में से थे। शायद वेदार्थ-संग्रह का पाठ चल रहा था। तिरुमिशी में रहते मैंने 'यतीन्द्रमतदीपिका' (रामानुजवेदान्त का प्रारम्भिक ग्रन्थ) पढ़ ली थी। शकर वेदान्त का भी कुछ परिचय था, इसलिए उसके पढ़ने में मेरी खूब रुचि रहती। ददुआ साहेब (अयोध्या के राजा) के महल के पीछे उन्हीं के मकान में कुछ महाराष्ट्र वैदिक रहते थे। विंदेहीजी के स्थान में रहनेवाले एक ब्राह्मण विद्यार्थी से पता लगा, कि वहाँ एक पंडित सामवेद पढ़ाते हैं। मैंने वहाँ जाकर सामवेद भी 'पढ़ना' शुरू किया–पढ़ने से मतलब यहाँ सस्वर पाठ से है। गुरुजी खुद भी गर्दभ स्वर का ही अनुकरण कर सकते थे, और ईजानिब भी ब्रह्मा के पास उस वक्त पहुँचे थे, जब वह मृदु और संगीतोपयोगी स्वरों को बाँट चुके थे। खैर, साम-गान में कैसे पाठ की विकृति गायन के खयाल से की जाती है, इसका कुछ परिचय मिला। अध्यापक यदि गायक भी होते तो शायद और ज्यादा मजा रहता। वैदिक गुरु हमें बड़े प्रेम से पढ़ाते, और अयोध्या के निवास में आखिरी महीने को छोड़ बराबर उनके यहाँ मैं पढ़ने जाया करता।

वेदान्त पाठशाला में पढ़ते ही वक्त साथियों के अनुरोध से मैं प्रमोदवन की बड़ी कुटिया में आ गया। यहाँ उस वक्त सौ से अधिक साधु रहा करते, और यह अयोध्या के अच्छे साधु-सेवी स्थानों में गिना जाता था। हमारे कई सहपाठी इसके आसपास ही रहा करते थे। यह वह जमाना था, जब कि धार्मिक जगत् में सार्वजनिक व्याख्यानों की चहल-पहल थी, आर्यसमाजियों, सनातनियों, ईसाइयों, मुसल्मानों के परस्पर शास्त्रार्थ-मुबाहिसे हुआ करते थे। व्याख्याताओं की बड़ी कद्र थी। यद्यपि अयोध्या के पुरानी चाल के महात्मा मजमें में गला फाड़कर हाथ-पैर डुलाते हुए इस चीत्कार को बिलकुल धर्मबहिर्मुख नई चाल समझते थे; किन्तु नौजवान पीढ़ी को भाषणमंच की शक्ति का जरा-जरा भान होने लगा था। अभी हाल में ही भरतपुर के अधिकारी··· जी, और महन्त लक्ष्मणाचार्य का बड़ी जगह में भाषण हुआ था, जिसे हम भी सुनने गये थे। इसका असर यह पड़ा कि हम कई साधु-विद्यार्थियों ने मिलकर बड़ी कुटिया में एक छोटी सभा के रूप में भाषणमंच तैयार किया। उस सभा का रूहेरवाँ मैं था। सप्ताह में एक दिन हम लोग किसी विषय पर भाषण देते। यद्यपि मेरा वह पहिला ही प्रयास था, किन्तु वहाँ

मैं 'अन्धों में काना राजा' समझा जाता था। स्वामी हंसस्वरूप, पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र के छपे हुए व्याख्यानो को हम लोग अपनी भाषण-शिक्षा का अग समझते थे। आर्यसमाज के प्रहारों से हिन्दुओं के प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय तंग आये हुए थे। आर्यसमाजी मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध, अनेकदेवतावाद, पुराणोपरिश्रद्धा आदि सिद्धान्तों का बहुत जोर से खडन करते थे। यह खडन अखबारो और पुस्तकों ही में नहीं छपता था, खुद अयोध्या में भी फैजाबाद के महाशय केदारनाथ धूम मचाए हुए थे। जब तब उनका व्याख्यान हो जाया करता, यद्यपि मुझे उसे सुनने का कभी मौका नहीं मिला। आर्यसमाजी अपने इस संगठनात्मक प्रवृत्ति से अप्रिय हो गये थे, किन्तु यह अप्रियता धार्मिक व्यवसायियों ही तक परिमित थी. दूसरे हिन्दू उनके इस्लाम से 'लड़' कर हिन्दू धर्म की रक्षावाली नीति से प्रभावित होते जा रहे थे।

सभा का हमने क्या नाम रखा था ? याद नहीं। खैर, बडी कुटिया मे शाम को सप्ताह में एक बार हम लोग व्याख्यान दिया करते थे। भाषण सीखने की लालसा तो भूत की बीमारी की तरह फैल ही गई थी। देखा देखी पंडित वल्लभाशरण के यहाँ के विद्यार्थियो ने भी अपने यहाँ सभा कायम की। मैं बीच बीच में इचाक-मंदिर मे पडित गोविन्ददास के पास आया-जाया करता था। मेरे व्याख्यानो की ख्याति बडी कुटिया से बढ़कर यहाँ के विद्यार्थियों तक भी. मालूम होता है, पहुँच गई थी। उन्होने मुझे व्याख्यान देने के लिए—नही व्याख्यान देकर सिखलाने के लिए—बहुत आग्रह किया। मुझे आत्मविश्वास बिलकुल नही था, सो तो नही कह सकता; किन्तु मैं अपने को व्याख्याता नहीं समझता था। नोट लिखकर व्याख्यान देना तो मैं अब तक नही जानता, फिर उन आरम्भिक खिलवाड़ो के बारे में क्या कहना ? खैर, मैं उनकी छोटी सभा मे व्याख्यान देने गया। पडित वल्लभाशरण भी पधारे थे। न जाने किस विषय पर व्याख्यान दिया। मैं कह क्या रहा हूँ, मुझे खुद इसका पता नही रहा। सामने बैठी जनता विशेषकर पंडित वल्लभाशरणजी का रोब इतना गालिब था, कि मुझे सोच-साचकर कहने की वहाँ फुरसत ही नही थी। मालूम होता था, भूतावेश मे कुछ बोलता जा रहा हूँ—भूतावेश भी नही, क्योकि मेरे व्याख्यान मे शुरू ही से स्वरो के आरोहावरोह की ज्यादा गुजाइश नही होती। व्याख्यान की समाप्ति पर मेरी बडी तारीफ हुई। पंडितजी ने विद्यार्थियो को कहा—इस तरह व्याख्यान देना सीखो, व्याख्यान का युग है। मुझे व्याख्यान की तारीफ की उतनी प्रसन्नता नही हुई, जितनी पत रह जाने की।

वेदान्त पाठशाला मे इधर एक नया गुल खिलने लगा। श्री बलरामाचार्य (तिरुमिशी मे मिले पडित भागवताचार्य के यह दीक्षा-गुरु थे) के शिष्य इन्दौर के एक सेठ इस पाठशाला को खोलने मे द्रव्य की सहायता दे रहे थे। जिस वक्त मैं तिरुमिशी मे था, उस वक्त उक्त सेठ वहाँ आये थे, और पाठशाला के सम्बन्ध मे बातचीत चल रही थी। पाठशाला खोलने का उद्देश्य था, उत्तरी आचारियो को रामानुज वेदान्त से परिचय प्राप्त करने का अवसर देना। किन्तु, यहाँ पढ़ने के लिए आचारी तो मुश्किल से दो-चार आये—क्योंकि अयोध्या मे उनके स्थान ही बहुत कम हैं—और उधर वैरागी भर गये। वैरागी भी रामानुज के ही विशिष्टाद्वैत वेदान्त को मानते थे, इसलिए इस विषय मे आचारियों के प्रति विशेष श्रद्धा रखते, अपने भीतर वेदान्त के जानकारो के अभाव के कारण वे आचारियो की प्रधानता को भी स्वीकार करते। यदि ये खुद वेदान्त पढ़ जायंगे, तो हमारी प्रधानता छिन जायेगी, आदि खयाल थे, जिनके कारण आचारियों ने दिव्य देश की वेदान्त पाठशाला को अपने सम्प्रदाय के लिए घातक समझा। वह उसे बन्द करने की सोचने लगे। उसके अध्यापक इस मनोवृत्ति को महत्त्व नहीं देते थे, वह तो बल्कि समझ नही सकते थे—विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त के बीज को ऐसे श्रद्धालु तरुण मस्तिष्को मे बोने से सम्प्रदाय को कैसे हानि होगी ? वह अपने प्रति हमारी श्रद्धा तथा पढ़ने मे तीव्र रुचि भी देख रहे थे, और इस प्रकार चाहते नही थे, कि पाठशाला टूटे। किन्तु आखिर पराधीन, थे. उनके पास रुपया कहाँ था, कि सेठ और श्रीबलरामाचारी को फटकारकर लिख देते,—जाओ, तुम अपना रुपया अपने पास रखो, हम तो यहाँ इन छात्रों को पढ़ावेंगे। हम लोगो को भी इतनी जल्दी मे यह खबर लगी, कि हम दूसरा कोई प्रबन्ध नहीं कर सकते थे। तो भी इस खबर के लगते ही हमारे दिलों मे आग लग गई। हमने दूसरी वेदान्त पाठशाला खोलने के लिए एक अस्थायी समिति कायम की। पंडित गोविन्ददास उसके प्रधान मंत्री और मैं उपमंत्री बनाया गया। पंडित गोविन्ददासजी कुछ सुस्त और मितभाषी थे, इसलिए, बहुत कुछ काम मेरे ऊपर था। पडित मथुरादास, तथा दूसरे कई साधु-विद्यार्थी बडी

तत्परता से धनसग्रह के लिए जुट गये। भूतपुरीवाले वेदान्ती ने हमारे आग्रह को स्वीकार करते हुए कहा–'इस वक्त तो मुझे सपत्नीक घर जाना है, किन्तु वहाँ से आप लोगो की वेदान्त पाठशाला मे पढाने के लिए मैं अवश्य आऊँगा।' उनके रवाना होने से पहिले ही हमने बारह-तेरह मो सालाना चन्दा का वचन ले लिया था। इस सिलसिले मे मुझे अयोध्या के प्रायः सभी मठो के महन्तो मे मिलने का मौका मिला था। बडी जगह और राजगोपाल के दोनो महन्त महाशयो ने हमारे उत्साह को बहुत बढाया था। पडित वल्लभाशरण का सम्बन्ध रसिक-सम्प्रदाय से था; किन्तु वह भी हमारे पृष्ठपोषक थे।–दूसरे पक्के रसिक तो वेदान्त, और विशिष्टाद्वैत को फजूल पडितों की 'दाँत कटाकट' समझते थे।

हमने वेदान्त पाठशाला के लिए फैजाबाद मे रसीद बही छपवाई, बैठने के लिए टाट बनवाया। छोटी कुटिया के महन्तजी ने अपने फाटक पर के कोठे को वेदान्त पाठशाला के लिए देना स्वीकार किया। एक दिन पडित सरयूदासजी व्याकरणोपाध्याय की अध्यापकी मे हमने पाठशाला का उद्घाटन भी कर दिया।

जिस वक्त हम अयोध्या के कुछ शिक्षित तरुण वैरागी आचारियो के अपमानपूर्ण बरताव से आहत हो नई वेदान्त पाठशाला खोलने का आयोजन कर रहे थे, कई जगह भाषण-सभाएँ चला रहे थे, उसी समय यूरोप मे महायुद्ध छिड गया था। उससे पहिले 'सरस्वती' का पाठक तो मैं अक्सर रहता रहा, किन्तु नही खयाल है, साप्ताहिक पत्रो को भी देखता था या नहीं। महायुद्ध ने अखबारी दुनिया से मेरा परिचय कराया। कलकत्ता का 'बगवासी' साप्ताहिकों मे बहुत जनप्रिय था, उसका एक चद्दर के बराबर, ओढने बिछाने भर के लिए पर्याप्त विशाल कलेवर हर सप्ताह हमारी आँखों के सामने से गुजरता। कहाँ है लीग, कहाँ ब्रुसेल्स–हमें तो बेल्जियम का भी धुँधला-सा ज्ञान था। अखबारों के लिए उस वक्त नकद आवश्यक चीज नहीं समझे जाते थे। खबरों से यही मालूम होता था, अग्रेजी, फ्रासीसी, और रूसी सेनाएँ बराबर जीत रही हैं, किन्तु अग्रेजो के प्रति हमारी स्वाभाविक घृणा उन जीतो मे भी हमे अग्रेजों की हार देखने के लिए प्रेरित कर रहा था।

अयोध्या और फैजाबाद के बीच, किन्तु सडक से हटकर देवकाली नामक एक प्रसिद्ध देवी-स्थान है। अयोध्या का वैरागियो ने अपने हाथ मे काबू करके उसे शाक्तो से शून्य कर डाला है। जिन राम ने, वाल्मीकि के कथनानुसार सीताहरण के शोक मे ही मास और सुरा को छोडा उन्हे उनके अयोध्या के कलियुगी भगतो ने हमेशा के लिए मास सुरा-विरत कर दिया! किन्तु देवकाली ऐसा स्थान था जहाँ अब भी दोनो नवरात्रो के समय बकरे की बलि हुआ करती है। न जाने कहाँ से एक आवारा तरुण ब्रह्मचारी (वैरागी या वैष्णव नही) भूलता-भटकता वहाँ पहुँच गया, और उसने आश्विन के नवरात्र मे बलि बन्द करने के लिए भारी बाधा पहुँचानी शुरू की। गृहस्थ–विशेषकर स्त्रियाँ–साफ देख रही थीं कि कालीमाई को पाठा चढाने की मिन्नत से ही उनका लडका या पति बचा है, नही तो वे कभी की अपुत्रा या विधवा हो गई होती। वह अपनी मिन्नत के मुताबिक माई को पाठा चढाने के लिए बेकरार थी, लेकिन यहाँ एक तरुण साधु वैसा करने पर भीषण शाप देने तथा आत्महत्या कर लेने के लिए तैयार था। दोनो ओर से धर्म सकट था, क्या किया जावे, यह गृहस्थों को सूझ नही पड रहा था। किन्तु देवकाली के पुजारी खूब समझ रहे थे। नवरात्र के दिन बीतते जा रहे थे, और वहाँ एक भी बकरा नही आ रहा था। बलि के बकरे का मुड उनका होता था, मुड का शोरबा (रस) कितना स्वादिष्ट होता है–इसकी स्मृति आते ही ब्रह्मचारी के ऊपर उनका खून खौलने लगता था। साथ ही बलि के साथवाली दक्षिणा की भी उन्हे हानि उठानी पड रही थी। और यदि काली के प्रताप को इस तरह ऐरे गैरे नत्थू खैरे कम करने लगे, तो पडे-पुजारी कितने दिनो तक अपनी खैरियत मनायेगे। नवरात्र के आखिरी दिन (आश्विन शुक्ला नवमी को) बलि जरूर करनी होगी–इसका उन्होने निश्चय कर लिया था। इसके लिए कालीमाई के दिलाये दारुण स्वप्नो की खबरो को भी उन्होने फैलाना शुरू किया था।

ब्रह्मचारी नवमी के मुहिम से घबरा गया। यदि उस दिन बलि चढी, तो मेरा सब किया-कराया अकारथ चला जायेगा–यह सोचकर वह बडी चिन्ता मे पड गया। उस वक्त उसे पता लगा, हम वैरागी तरुणो का। वह हमारे पास आया और उसने पशु-बलि-विरोधी हमारे स्वाभाविक भावो को और उत्तेजित किया। हमने भी समझा कि हमारे लिये डूब मरने की बात होगी, यदि 'पचकोशी' के भीतर निरपराध बकरो की बलि जारी रही। हमने

नवमी को आने का वचन दिया।

अयोध्या से देवकाली के लिए जिस वक्त, आठ बजे सबेरे के करीब, हम रवाना हो रहे थे, उस वक्त हमे यही खयाल था, कि पडे भरमाकर कुछ गृहस्थों को बलि देने के लिए लायेगे, उस वक्त हमे अपने भव्य वैष्णव स्वरूप वाणी-शक्ति का प्रयोग करना होगा। ब्रह्मचारी के कहे अनुसार इतने ही से गृहस्थो की बलि करने की हिम्मत जाती रहेगी। निमत्रित तरुणो में पडित गोविन्ददास—हममे सबसे अधिक सस्कृतज्ञ (काशी के व्याकरणाचार्य के कई खड पास)—भी थे, किन्तु लेट-लतीफ होने से वह अभी रास्ते ही मे थे, जब कि देवकाली काड समाप्त हो गया। हमारे साथियो मे दो तिरहुतिया साधु बहुत मोटे-ताजे थे, एक 'लश्करी' तो बिलकुल पहलवान जैसे थे, और दूसरे 'हरिव्यामी' उनसे कुछ नरम। बडी कुटिया मे रहनेवाले पचशिखी परमहस साधारण शरीर के स्वामी थे, वही बात पडित मथुरादासजी की भी थी यदि वह इस मुहिम मे सम्मिलित थे। मैं उम्र मे सबसे कम 21 साल का लम्बा किन्तु पतला-सा ज्वान था। नीचे पतली धोती साधुओ के नियमानुसार लुगी की तरह बँधी हुई थी। शायद पैर मे जूता भी था, बदन पर खूब सफेद धुला हुआ तनजेब का कुर्ता था, और गले मे पडी थी एक रेशमी चादर। शिर नग्न था। हाथ मे पडित गोविन्ददासजी के यहाँ से चलते वक्त एक शीशम की छडी उठा ली थी। देखने मे निश्चय ही सबसे ज्यादा अमीराना ठाट मेरा मालूम देता था। सारी जमात का नेता न मैं अपने को समझता था, न समझने की इच्छा रखता था, तो भी बोल-चाल मे सबसे ज्यादा निधडक मैं ही था, सबसे ज्यादा देश देखा हुआ मैं ही था और पढने मे बेशी नही तो किसी से कम भी न था। हम लोग कितने युगो के बाद अयोध्या से देवकाली पहुँचे, इसका ठीक अन्दाजा नही—आगे की घटनाओ से अवश्य मुझे वह समय युगो मे बीतता मालूम हुआ। चहारदीवारी मे एक बडा द्वार था, उसी के भीतर देवकाली का स्थान बतलाया गया। द्वार के बाहर दस कदम पर चारो ओर से पक्के घाटवाला एक पोखरा था। द्वार के पास बहुत से माली स्त्री-पुरुष फूल-बतासा बेच रहे थे। हम लोगों ने दरवाजे के सामने घाट की ऊपरी सीढ़ियों को भाषणमच बनाया। खडे होकर एक-एक करके लोगो को समझाने लगे। कुछ तो देवी को जगत्-माता बतलाकर 'बच्चे' की बलि को निषिद्ध साबित कर रहे थे, कोई प्राण-हिंसा को पाप और नरक का रास्ता बतला रहे थे। व्याख्यान बढते हुए आखिर उस अवस्था मे भी पहुँच गया, जब कि उसने सीधा 'सराप (शाप) का रूप धारण कर लिया—खासकर जब कि हमारे व्याख्यान देते रहने पर भी एक बकरा तालाब के पानी तक ले जाकर धोया जाने लगा। बकरे को धोकर—शायद शिर पर—फूलमाला पहिना गुस्से मे लाल लाल आँखे किये एक पडा बनावटी यजमान (हमे ऐसा ही बतलाया गया कि लोगो की बलि का जारी रहना दिखलाने के लिए पडों ने अपने पैसे से बकरा खरीदकर अपने ही आदमी द्वारा बलि कराने का इन्तिजाम किया है) के हाथ से बकरे को लिवाये द्वार के भीतर घुसा। मेरे साथी अब आपे से बाहर हो द्वार के भीतर घुसने के लिए आगे बढे। मैंने भीतर जाने से मना किया, किन्तु वहाँ तो अहिंसा शिर पर भूत बनकर सवार हुई थी। छओ-सातो साथियो को आगे बढते देख मैं पीछे कैसे रह सकता था? हाते के भीतर एक तरफ देवकाली का साधारण-सा पक्का मन्दिर, उसके सामने बलि-स्थान। सामने एक ऊँची कुर्सी पर महाराजा बनारस की ओर से बनवाया एक मन्दिर, जिसमे शायद तत्कालीन महाराज का प्रोस्लीन पर उतरा चित्र भी था। हमारे साथियो ने उसी ऊँचे चबूतरे को भाषणमच मे परिणत कर दिया, भाषण क्या था जले-कटे शाप के रूप मे गालियाँ। सारा प्रयत्न व्यर्थ गया, और जब पडे ने बकरे के कन्धे पर चलाने के लिए शस्त्र उठाना चाहा, तब मैंने साथियो से कहा—अब भाषण बन्द कीजिए, आँखो से बलि देखने मे कोई फायदा नही। चले बाहर निकल चले।

जिस वक्त बाहर जाने के लिए हम फाटक के पास पहुँचे, उसी वक्त पडो ने हाथ चलाना शुरू किया। कई साथी पिटे। हरिव्यामी बाबा का कलवाला छता छीनाझपटी मे हाथ से तो जाता ही रहा, हाथ ही उससे लगकर उनके एक हाथ मे खूब घाव हो गया। पहलवान जैसे लगते लश्करी बाबा से पहिले पंडे भयभीत से मालूम हुए, किन्तु जब पीठ सिकुडाए वह निकलने की कोशिश करने लगे, तो मोटे शरीर मे छोटी हिम्मत का खयाल करके उनकी मोटी पीठ पर भी दो-चार हाथ पडे। एक पडे ने मेरी ओर इशारा करके अपने साथी को चिल्लाकर कहा—अरे यह तो साफ बचा निकला जा रहा है। वे मुझे मारने को लपके। इस असाधारण आवेश की अवस्था

थी, चारों ओर मेरे निहत्थे—मुझे छोड किसी के पास यदि कोई चीज थी तो छत्ता था—साथी पिट रहे थे। कार्यकारण, पर विचार कर पक्ष-विपक्ष की दलीलो को देखते हुए निर्णय करने का वहाँ अवसर कहाँ था। वहाँ जो कुछ निश्चय हो रहा था, वह हो रहा था सेकडों मे सहज बुद्धि के द्वारा। एकतरफा पिटकर चला जाना मुझे कुछ लज्जाजनक बात मालूम हुई; अभी तक गाधीजी के निष्क्रिय प्रतिरोध की ध्वनि कानो तक नही पहुँची थी। पडे ने दौड़कर मेरी रेशमी चादर पकडी, मैं उसे छोड आगे बढ गया। उसने डडा चलाया, उससे बचकर मैंने अपनी शीशम की छडी चला दी। उसने उसे पकड लिया। आखिर शीशम की छडी शौक के लिए थी, मारपीट के लिए थोडे ही थी। खीचा-खीची मे वह बीच मे ही टूट गई, लेकिन तब तक हम फाटक से बाहर पहुँच गये थे, जहाँ लोगो की भारी भीड थी, और उसके सामने पडो को साधुओ पर हाथ चलाने की हिम्मत नही हो सकती थी। मुझे अछूता निकलते देख, एक पडे ने (जिस पर शायद मेरी छडी पड चुकी थी) और कुछ न पा, बगल मे बैठी मालिन की फलडाली रखने का टिन उठाकर चलाया किन्तु वह भी मुझ पर न लग मेरे साथी की पीठ से टकरा खनखनाता हुआ गिर पडा।

मन्दिर से बाहर, दरवाजे से भी कुछ दूर पहुँच जाने पर पडे भी लौट गये। मैने देखा, मेरे साथी किंकर्त्तव्यविमूढ बन गये हैं। आगे क्या करना है, किसी को कुछ सूझ हो नही रहा है। मालूम हुआ, यहाँ पुलिस चौकी है। मैंने बतलाया, पुलिस मे यदि हम खबर नही देते हैं तो पीटनेवाले उलटा हमारे ऊपर मुकदमा भी कर देगे, और हम हैरान होते फिरेगे। मै यह भी देख रहा था कि यदि हर एक को अपने मन से बयान देने को कहा गया, तो बहुत सी परस्पर-विरोधी बाते निकल आ सकती हैं, साथ ही आसपास खडी भीड के बीच साथियो का अपने इजहार के सम्बन्ध मे कोई निर्णय हो नही सकता था। मैने साथियों से कहा—'हम लोग चलें पुलिस चौकी पर। मै पहिले बयान लिखाऊँगा, बस उसी के अनुसार सब लोग बोलेगे। दरवाजे के भीतर हम काशिराज के मन्दिर मे दर्शनार्थ गये, व्याख्यान देकर बलि बन्द करने नही, इस बात का खूब स्मरण रखेंगे।'

पुलिस चौकी तक पहुँचते-पहुँचते मै उनका स्वनिर्वाचित नेता बन गया। चौकी पर और बाते सच्ची ही सच्ची कही, सिर्फ मन्दिर के भीतर भाषणमच निर्माण को हमने देवदर्शन मे परिणत कर दिया। पडे भी वहाँ पहुँचे थे। वह हमारे उस एक झूठ का प्रतिवाद करते थे, और साथ ही मारपीट से इनकारी थे। चौकी से हम लोग सिपाही के साथ फैजाबाद कोतवाली मे गये। कोतवाल साहेब मुसल्मान थे, और शायद आजमगढ जिले के। उन्होने हमारा इजहार लिया। मैने अपने पहिले इजहार को दुहराया, मेरे साथियों ने भी उसी का समर्थन किया। पडो से पूछा जाने लगा, तो वे हमी को मारपीट करनेवाला बतलाने लगे। उस समय अयोध्या का सब-इन्स्पेक्टर—एक लम्बा-चौडा, रोबीला राजपूत—वहाँ किसी काम से पहुँच गया था, उसने पडो को ही नही उनकी देवी तक को जद-बद कहना शुरू किया—"ये पढने-लिखनेवाले पाँच-छै साधु तुम्हारे साथ लाठी चलाने गये थे? यदि ऐसी मनसा होती तो इनको लाठी चलानेवाले साधु अयोध्या मे नही मिलते? क्यो झूठ बकते हो? कोतवाल साहब इन सा पर मुकदमा कर दीजिए। और वह देवी भी क्या है, जो जगतमाता कही जाने पर अपने बच्चो को खाती है?..."

मेरे साथियो मे से किसी ने धीरे से मेरे कान मे कहा—'जानते हैं आर्यसमाजी हैं।' आर्यसमाजी, बड़े हर्ष मे कह रहे थे, और इस वक्त वह भूल गये थे, कि वह साथ ही मूर्तिपूजा की भी अप्रत्यक्षरूपेण धज्जी उड़ा रहा है।

किसी को सख्त चोट तो आई नही थी, कि पुलिस मुकदमा करती या किसी को गिरफ्तार करती। मामला चलाने की बात चली, तो लोगो ने बतलाया—फैजाबाद के आर्यसमाजी वकील इसमे पूरी मदद करेगे। मैं एक और साथी के साथ बलदेव बाबू (आचार्य नरेन्द्रदेव के पिता) के पास एक-दो बार गया। उनसे मुकदमे की सारी बात कही, वह सहायता करने के लिए तत्पर थे। अन्त मे मैंने देखा, कि मेरे साथी मामले की पैरवी से जी चुराते हैं, और सारा बोझा मुझ पर डालना चाहते हैं। उधर पडे भी सुलह करने के लिए पैरवी कर रहे थे। ऐसी अवस्था मे मुकदमा चलाने का खयाल छोड़ देना ही मैंने वाजिब समझा। हमारी चीजे मिल गईं, पडो ने पश्चात्ताप किया, मामला वहीं खतम हो गया।

मैंने आर्यसमाज का नाम पहिले-पहिल 1901 या 1902 मे रानी की सराय मे अपने योगी मास्टर से सुना था। इतना ही जानता था, कि वह देवी-देवता की निन्दा करते हैं। बनारस मे दयानन्द स्कूल (वर्तमान डी. ए. वी. कॉलेज) का मैं कई महीनो तक विद्यार्थी था, किन्तु वहाँ बराबर जल मे कमल की तरह रहा, कभी उनकी बाते न सुननी चाही, न सुनी। यहाँ अयोध्या मे भाषण सीखने के सिलसिले में सनातनधर्मी व्याख्याताओ—हसस्वरूप, ज्वालाप्रसाद मिश्र आदि—के आर्यसमाज के पक्ष के खडन मे ही पुस्तके पढी, और एक तरह से उसके प्रति घृणा पैदा करनेवाली सामग्री ही से अधिक साबिका पडा। किन्तु कभी-कभी कोई चीज ऐसे स्थान मे मिल जाती है, जहाँ उसकी सबसे कम सम्भावना है। दूसरो के खडनो को पढ़ते हुए मैंने उसमे कई बार स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' का नाम सुना। मैं भी पहिले इसे 'मिथ्यार्थप्रकाश' ही कहता था। एक दिन पंडित मथुरादास के पास उसकी एक प्रति देखी। वह इसे खडन के लिए ही पढना चाहते थे। पुस्तक का कीड़ा तो मैं था ही, लेकर उसे पढ़ने लगा। कौन-कौन 'समुल्लास' पढ डाले, यह याद नही। सारे ग्रथ को तो हर्गिज नही पढ़ पाया था, और पढ भी रहा था बहुत कुछ खडन ही की दृष्टि से, किन्तु उसकी तर्कयुक्त बातें हठधर्मी से मुकाबिला कर रही थी। इधर देवकाली के मामले मे अयोध्या के सब-इन्स्पेक्टर, तथा बा बलदेवप्रसाद वकील आदि—जिन्हे आर्यसमाजी कहकर मुझे बतलाया गया था—के बरतावो ने आर्यसमाजियो के प्रति मेरा भाव बदल दिया; और इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश के अगले हिस्से को मैं सिर्फ खडन की दृष्टि से पढनेवाला नही रह गया।

वरदराज मेरे साथ नही रहते थे, किन्तु हम बराबर मिलते रहते थे। परसा और वैरागी-सस्थाओ से बिलगाव के बीज मेरे हृदय मे काफी बोये जा चुके थे, जिसमे आर्यसमाज के सश्लेष को छोड बाकी मे वरदराज भी मेरे सहभागी थे। मुझे अब अयोध्या के रहने मे अरुचि मालूम होने लगी—अपने सहपाठियो और सहकारियो की मनोवृत्ति से मेरी मनोवृत्ति मे अन्तर आ गया था। आर्यसमाज के अतिरिक्त अखबारो द्वारा बाह्यजगत की हवा भी मुझे लग रही थी। मैं अपने अन्तस्तल मे एक सकीर्ण गडहिया से निकलकर विशाल जलाशय मे जाने की मूक वेदना को अनुभव कर रहा था, यद्यपि अब भी मुझे यह नही मालूम था, कि वह जलाशय किस दिशा मे है, कैसा है ?

बहुत दिनो बाद फूफा साहेब को बछवल एक पत्र लिखा, और उस पत्र मे इस मानसिक उथल-पुथल की छाप जरूर रही होगी। उन्होंने पिताजी को हुकुम दे दिया—जाओ, लडके को अयोध्या से लिवा लाओ।

1910 ई. मे वह अयोध्या से खाली हाथ लौटे थे, लेकिन अबकी नही।

नव प्रकाश : 1915-22 ई.

1
'किं करोमि क्व गच्छामि'

कार्तिक के प्रथम पक्ष में दीवाली के आसपास, वरदराज से विदाई ले मैं पिताजी के साथ कनैला की तरफ चला। वर्षा समाप्त हो चुकी थी, रबी बोई जा रही थी, धान अब भी खड़े थे, जब कि मैं कनैला पहुँचा। शायद हम लोग आजमगढ़ स्टेशन पर उतरे थे। पिताजी को विश्वास हो गया था, कि अब वैराग्य का भूत मेरे शिर से उतर गया, अब मैं बिलकुल प्रकृतिस्थ हो घर की जिम्मेदारी लेने के लिए तैयार हूँ। उनको क्या मालूम था, कि यह शान्ति आगे आनेवाले भारी तूफान का पूर्वनिमित्त मात्र है। उनको शायद ठीक तौर से मालूम नहीं था, कि जिस शादी को उन्होंने या समाज ने स्थिर मजबूत बेड़ी समझकर मेरे पैरों में डाली थी, उसे कब का नहीं तिलाक देकर मैं अपने को मुक्त कर चुका हूँ, और उसका खयाल आने पर मेरा दिल एक क्षण के लिए भी कनैला मे रहने के लिए तैयार नहीं होता।

जिस वक्त मैं मद्रास के तीर्थों की यात्रा करने में लगा था, उसी वक्त नाना की मृत्यु हो गई। मरते समय उनको बराबर मेरा खयाल बना रहा। मुझ पर उनका असाधारण स्नेह था। मेरे लिए वह क्या-क्या स्वप्न देखते रहे। अपने अनजाने हाथो में उन्होंने मेरे जीवन प्रवाह के लिए एक कुल्या खोदी थी, अपने जान मेरे शानदार भविष्य के लिए; किन्तु आदमी का जीवन-प्रवाह नदी की धारा से भी अधिक दुर्दम्य है। नाना अपने स्वप्न मे सफल न हो सके। जिसे उन्होंने अपना सर्वस्व दिया, जिसके लिये सहोदर भाई और उसकी सन्तान से झगड़ा किया, जन्मभूमि को छोड़ा, निन्दास्पद यामातृपुर का वास स्वीकार किया; उसके देखने के लिए भी बिलखते हुए उन्हें अपने जीवन का अन्त करना पड़ा। मेरे हृदय में सचमुच उनके लिए समवेदना थी, किन्तु यही समवेदना क्या दक्षिण मे उनकी मरणासन्नावस्था की चिट्ठी पाकर मेरे हृदय मे होती।

बछवल में जाने पर कुछ विजयाभिमान के साथ फूफा साहेब ने कहा—'क्व विशेषः', अर्थात् कहाँ अच्छा है वैराग्य में या घर मे ? मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, और न मैंने कोई दुर्भाव माना। मै अब भी अपने को पथ से दूर नहीं मानता था, हाँ, वह पथ किसी नई दिशा का संकेत कर रहा था, जो मुझे स्पष्ट नहीं दीख रही थी। इस बार साप्ताहिक पत्र मे लड़ाई की खबरों को पढ़ने के लिए प्रति सप्ताह मुझे बछवल जाना पड़ता। यद्यपि 'बंगवासी' के महाकलेवर में दो तीन कालम की जो खबरें छपती, और सभी सरकारें अपने अपने यहाँ जिस तरह से खबरों को युद्ध-सम्बन्धी प्रचार का जरिया बना रही थी, उसमें मेरे जैसे नौसिखिये के लिए कुछ समझना बहुत मुश्किल था; तो भी खबरो के पढ़ने के बाद छोटे फूफा (यागेश के पिता) बड़े चाव से पूछा करते—कहो, बच्चा ! लड़ाई की क्या खबर है। वह खुद भी अखबार को पढ़ते थे। अखबार मे चाहे कुछ भी लिखा हो, किन्तु

हम सबकी राय थी, जर्मनी जीत रहा है। यद्यपि हमे उसकी वास्तविकता का जरा भी ज्ञान न था।

जिस वक्त मैं बछवल नही जाता, उस वक्त यागेश कनैला चले आते। हम दोनो को अनिवार्य 'चडाल-चौकड़ी' समझ कनैला और बछवल दोनो जगह घरवाले बर्दाश्त करने के लिए मजबूर थे, यद्यपि दिल से वे शकित रहते थे। अबकी बार यागेश ने 'सगीतरत्नप्रकाश'—आर्यसमाजी तुकबन्दियो के सग्रह—को कही से पैदा किया। खाट पर लेटे हम बड़े मौज से अपने सगीतपलायन स्वर मे उसके मूर्ति पूजा श्राद्ध विरोधी भजनो को गाया करते। एक दिन ऐसे ही समय घराने के एक चचा आ गये, वह गाँव के उन व्यक्तियो मे थे, जिनका गरीबी के कारण ब्याह नही हो सका, और जिनके लिए कुछ दिनो मे ही तमादी लगनेवाली थी। उन्होने कहा—'मैने दोहरीघाट मे आर्यसमाजियो की सभा देखी थी। वह यहाँ नही पहुँचे तो ?'

'यहाँ क्या जरूरत है, काका ?'

'अरे ! विधवाविवाह चलता, कितने घरो के चिराग बुझनेवाले है।'

और इस बात मे बहुत कुछ सचाई थी। कनैला के बीस ब्राह्मण घरो मे से नो की अगली सन्तान बिलकुल अविवाहित थी, और व्यक्ति को लिया जावे, तो दो ही तीन ऐसे घर थे, जिनको ब्याह की ओर से निश्चिन्तता थी, बाकी सबके यहाँ सयाने सयाने व्यक्ति अविवाहित पड़े थे। सबका ब्याह होने पर ढेर की ढेर सन्तान होगी इस बात पर दिमाग लगाने की मुझे उस वक्त जरूरत नही थी।

हकशफा के रुपये का इन्तिजाम कही से करके, पिताजी ने जिगरसडी की जमींदारी अपने रिश्तेदार के नाम ले ली थी। वह स्वय वहाँ की तहसील वसूल करने जाते, और कभी कभी मैं भी गाँव देखने जाता था। एक दिन जाने पर मेरे एक परिचित राजपूत-परिवार मे ताजी मछली मारकर आई थी उधर से कहा गया—'पाड़ेजी आवे, बनावे न मछली।' (ब्राह्मण होने से मैं राजपूत के हाथ की कच्ची रसोई नही खा सकता था और मछली कच्ची रसोई थी, इसमे सन्देह की गुजाइश न थी)। बचपन का प्रिय खाद्य कुछ दिनो की सगत से अप्रिय थोड़ा ही हो सकता है, मैंने बनाकर खाया। तेल मे तलकर हल्दी सरसो मे बनी मछलियाँ न जाने उस समय इतनी स्वादिष्ट क्यो होती थी ? जिगरसडी मे बहुत साल तक ब्रिटिश गायना (दक्षिणी अमरिका) मे रहकर लौटा एक आदमी था। वह वहाँ अरकाटी के बहकावे मे आकर कुली बनकर रह गया था। बीसो साल रहने के बाद भी वह वहाँ से खाली हाथ लौटा था। वह एक तरह की अग्रजी—जिसका व्याकरण से कोई वास्ता न था—धड़ल्ले के साथ बोलता था। जब उसे गायना के आराम का खयाल आता, तो लौटने के लिए पछताता था।

इस बार परमहस बाबा की कुटिया पर मैं गया कि नहीं—यह याद नही। वैराग्य और वेदान्त का जोर कम होकर उसकी गति किसी दूसरी ओर हो रही थी, जिज्ञासा और यात्रा-लिप्सा का वेग पहिले ही जैसा था।

प्रयाग का माघ मेला नजदीक आया। यागेश से सलाह हुई, वहाँ चलने की। घरवालो को मेरे ऊपर अब उतना सन्देह नही था, इसलिए खास निगरानी नहीं थी। एक दिन बीस-बाईस रुपये मेरे हाथ लगे, और मैं रानी की सराय स्टेशन से प्रयाग के लिए रवाना हो गया।

प्रयाग मे मैं यागेश से दो-चार दिन पहिले पहुँचा, पैसा था, मेले में ठहरने की जगहो की कमी न थी। आजकल के मेले को उस दृष्टि से कभी देखा नही, उस वक्त तो बहुत-सी जगहो मे धार्मिक व्याख्यान होते दिखलाई पड़ते थे। पुराने ढग के कथावाचक व्यास लोग जहाँ शाम को अपनी कथा शुरू करते थे, वहाँ नये ढंग के व्याख्यान सनातन धर्म और आर्यसमाज के शामियानो मे हो रहे थे। उसी वक्त मैंने पहिले-पहिल पंडित मदनमोहन मालवीय का व्याख्यान सुना, शायद किसी धार्मिक सभा का विशेष अधिवेशन था। कुमायूँ के पडित दुर्गादत्त पन्त ऋषिकुल के दो ब्रह्मचारियो के साथ पहुँचे हुए थे, जिनके शिर मे रुद्राक्ष की माला बँधी हुई थी। आर्यसमाज के व्याख्यानो को मैं ज्यादा सुनता रहा, और उनकी खडन-मडन की पुस्तके भी लेकर पढ़ता रहा। यागेश के आ जाने पर उनके ससुराल के सम्बन्धी एक पुलिस के जमादार के पास हम लोग रात को रह जाते थे।

मेरा इरादा था, खाने-पीने लायक कुछ कमाकर पढ़ाई को जारी रखने का। इसी खयाल से मैं एक दिन इंडियन प्रेस गया। 'सरस्वती' का इधर कई वर्षों से निरन्तर पाठ कर रहा था, और दीवार के सहारे चश्माधारी गिरी मूँछवाले जिस पुरुष से बातचीत कर रहा था, मेरी समझ मे वह पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी थे, यद्यपि यह

बात गलत निकली, मैं पंडित रामजीलाल शर्मा से बातें कर रहा था। उन्होने बड़ी नम्रता से कहा—'यदि दो-तीन दिन पहिले आये होते, तो प्रूफ-रीडरी में मै रख लेता, लेकिन अब, अफसोस है, कोई काम नहीं।' इसी वक्त, एक दिन यागेश के बहनोई ब्रजभूषण पांडे (?) के यहाँ शाहगज में गया था, वहाँ हाईकोर्ट में काम करनेवाले लकड़ी की टाँगवाले अलीगढ़ के एक बाबू से भेंट हुई। कई आदमी बैठे हुए थे। उन्होंने मेरी पढ़ने की रुचि देखकर कहा—'क्यों नही आगरा में पंडित भोजदत्त के विद्यालय मे चले जाते, वहाँ खाने और पढ़ने का प्रबन्ध है, व्याख्यान सिखाया जाता है।'

उनकी बात मेरे मन में बैठ गई। प्रयाग मे मकरसक्रान्ति तो जरूर पूरी की होगी, और शायद अमावस्या तक और रहा हूँगा। मेरे पास इतने ही पैसे रह गये, जिसमे आगरे का टिकट खरीदकर, आठ आने पैसे बचे, जब कि मैं इलाहाबाद से आगरा के लिए रवाना हुआ।

आर्य मुसाफ़िर विद्यालय, आगरा में

उस दिन (जनवरी 1915) सबेरे की गाड़ी से मैं आगरे में उतरा था। स्टेशन पर उतरते ही पडित भोजदत्त के आर्य मुसाफ़िर विद्यालय का पता न लग सका. उसको ढूँढ निकालने से पहिले मुँह-हाथ धो लेना जरूरी समझा, इसलिए सीधे यमुना किनारे पहुँचा। मुँह हाथ धोया, शायद स्नान भी किया। किसी स्नानार्थ आये सज्जन ने विद्यालय का पता नामनेर बता दिया। आठ आने पैसे मे से कुछ तो जलपान मे खर्च हो गया, बाकी को पाकेट में रखे पैदल ही मैं नामनेर की ओर चला। मुहल्ले और वहाँ मुसाफ़िर विद्यालय के मिलने मे देर न हुई। सड़क से थोड़ा हटकर एक मन्दिर था, मुसाफ़िर विद्यालय का मकान उसी की आड मे पड़ता था। विद्यालय के लिए कोई खास तौर से मकान ठीक नहीं किया गया था। एक पुराना मकान आर्यसमाज के लिए खरीदा गया था, उसी में विद्यालय का काम होता था। दरवाजे से भीतर घुसते ही एक बडी दालान थी, यहीं संस्कृत की पढ़ाई होती। उत्तर तरफ कुछ कोठरियाँ थी, जिनमें विद्यार्थी रहते। कोठे पर उत्तर की कोठरी मे अरबी की पढ़ाई होती, और पश्चिम की कोठरी में कोई विद्यार्थी रहता। आठ-दस विद्यार्थियो के रहने के लिए कोठरियाँ काफी नहीं थीं, इसलिए बाकी लडके रसोई के लिए मकान में रहते थे, और वह कई जगह बदलता रहा।

विद्यालय में जाने पर पहिले विद्यार्थियो से मुलाकात हुई। शायद भाई साहेब मौलवी महेशप्रसाद उस वक्त नहीं मिल सके। अधिकाश लडके मेरी ही उम्र के थे। उनसे नये लडको की भरती के बारे में पूछने पर मालूम हुआ—यद्यपि वर्ष शुरू हुए दो-तीन मास हो गये हैं, किन्तु जगह है, आप विद्यालय के प्रबन्धक डाक्टर लक्ष्मीदत्त (पंडित भोजदत्त के ज्येष्ठ पुत्र) से मिले। दस बजे के करीब मैं पडित भोजदत्त के घर में सीढ़ी से चढ़कर उस कोठरी मे गया, जहाँ साप्ताहिक 'मुसाफिर आगरा' का दफ्तर था। छोटी-सी कोठरी, जिसमे दो मेजों और चार-पाँच कुर्सियों के बाद मुश्किल से थोड़ी-सी जगह घर के भीतर घुसने के लिए रह जाती। मेजों पर कलम-दवात-कागज के अतिरिक्त बहुत-से हिन्दी-उर्दू के अखबार पडे रहते, जिनमे साप्ताहिकों की और उर्दूवाले अखबारों की संख्या अधिक होती।

मालूम नहीं डाक्टर लक्ष्मीदत्त उस वक्त मौजूद थे, या उनकी प्रतीक्षा मे मुझे कुछ देर बैठना पड़ा। डाक्टर लक्ष्मीदत्त का चेहरा गोखले से ज्यादा मिलता। चश्मा लगा लेने पर सिर्फ मराठी पगड़ी की कमी रह जाती थी। वह फेल्ट की गोल टोपी लगाया करते। नवागन्तुक के साथ बात करने में उनकी मुखमुद्रा गम्भीर हो जाती, यद्यपि परिचित को हँसने-हँसाने में उन्हें बहुत मजा आता। मैंने उनसे विद्यालय मे भरती कर लेने की दरख्वास्त की। उन्होंने मेरी पढ़ाई के बारे में पूछा। उर्दू मिडल, काफी संस्कृत और जरा-जरा अंग्रेजी भी, भर्ती के लिए काफी योग्यता थी। पढ़कर तुम अपना समय आर्यसमाज के प्रचार मे लगाओगे ?—अवश्य, यदि आप मुझे उसके योग्य

बना देगे। 'अच्छा, तो आप जाइए—आप भर्ती हो गये

नवागन्तुक सहपाठी को देखकर तरुण विद्यार्थियो का बहुत कौतूहल होता है। कोई आँख बचाकर हँसी भी उडाना चाहते हैं, कोई नई जगह मे दिल लगने मे सहायता देना चाहते हैं। कोई चाहते हैं नवागन्तुक के बारे मे विशेष जानना, और कोई अपने ही को सबसे आगे दिखलाना चाहते हैं।

मुसाफिर विद्यालय के विद्यार्थी अब तक मिले मेरे सहपाठियो की तरह के नही थे। इन सबके हृदय मे एक खास भाव लहरें मार रहा था। वे बडे से बडे खतरे का सामना करके वैदिक धर्म—जिसे वह कभी-कभी देश-स्वातंत्र्य से अभिन्न समझते थे—का प्रचार करना चाहते थे। दयानन्द और लेखराम—जिसकी स्मृति मे यह विद्यालय स्थापित हुआ था—की कुरबानियाँ, सचमुच ही, उनके हृदयो मे प्रेरणा का काम देती थी। इस तरह की भावना से ओत-प्रोत विद्यार्थी अभी तक मुझे साथ पढने के लिए नही मिले थे।

उस पहिली मुलाकात मे किसके साथ किस तरह बातचीत हुई, यह तो याद नही। ज्यादा बोलनेवालो मे शायद अभिलाषचन्द्र और भगवतीप्रसाद थे। माणिकचन्द सहपाठियो मे सबसे कम उम्र होने से कम बोलता था। मुशी मुरारीलाल बनारस जिले के रहनेवाले होने से, मेरे जन्मस्थान के सबसे नजदीक के थे, इसलिए उनकी ओर विशेष ध्यान जाना जरूरी था। दुर्गाप्रसाद और मास्टर वसडाराम थोडे ही महीनो बाद विद्यालय छोड़कर चले गये, इसलिए उनके साथ के वार्तालाप का कोई असर बाकी नही रहा। हमसे ऊपरवाली कक्षा के दो विद्यार्थी थ, जिसमे रामगोपाल के साथ तो मेरी घनिष्ठता उसी दिन से स्थापित हो गई।

मुसाफिर विद्यालय मे दो साल का कोर्स था। कम से कम उर्दू मिडल पास लडके लिये जाते थे। उन्हे सस्कृत, अरबी भाषाओ के साथ ईसाई, मुसल्मान, हिन्दुओ के प्रधान-प्रधान सम्प्रदायो के दुर्बल रीति रवाजो, सिद्धान्तो और आर्यसमाज के मुख्य सिद्धान्त की शिक्षा दी जाती। रोज शाम को बाकायदा बहस मुबाहिसा (शास्त्रार्थ) कराया जाता तथा भाषण देने की विधि बतलाई जाती। सस्कृत की जितनी पढ़ाई मुसाफिर विद्यालय मे होती थी, उससे कहीं ज्यादा मैं उसको पढ चुका था, इसलिए और साथियो से पीछे पहुँचने पर भी मुझे सिर्फ अरबी ही पढना था।

जनवरी तक लडाई शुरू हुए 4 महीने से ऊपर हो गये थे, किन्तु उस वक्त की घमासान लडाई, और आज (1940) की सिग्फ्रीड तथा मेगिनो दुर्गपक्तियो के भीतर छिपकर चुपचाप बैठे रहने मे बहुत अन्तर था। पहिले से सरकार की ओर से विशेष ध्यान न देने के कारण, चीजो का भाव बहुत बढ गया था, और अन्न का तो अकाल-सा मालूम होता था। हमारे यहाँ इसका असर गेहूँ के आटे मे पर्याप्त आलू डालकर रोटी की सूरत मे प्रकट हुआ, यद्यपि जाड़ो के बाद फिर शुद्ध आटे की रोटी बनने लगी।

गर्मियों के आते-आते मैं भी अरबी में अपने और साथियों के साथ था, तब तक वसन्दाराम और दुर्गाप्रसाद हमें छोड़कर चले गये, अभिलाष की स्थिति डावाँडोल रहती। उसे अरबी धातुओं और शब्दों के रूप याद करने की जगह घड़ियों के बनाने, मशीनों के सूचीपत्रों को निहारने तथा इधर से उधर जाने में ज्यादा मजा आता था। अब हमारी श्रेणी में भगवती, माणिक, मुंशी मुरारीलाल और मैं चार ही नियमित विद्यार्थी रह गये थे। ऊपर की श्रेणी में बाबूराम और रामगोपाल स्थायी थे। भाई साहेब—महेशप्रसाद—के सहपाठी पंडित धर्मवीर धर्म-प्रचार के लिए बाहर जाया करते, और उनकी इस्लाम पर जबर्दस्त नुकताचीनियों की ख्याति सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता होती। सुखलाल हमारे विद्यालय के भजनोपदेशक थे, और उनके प्रभावशाली भजन तथा बीच-बीच की अवतरणिकाएँ—अभी परिमित क्षेत्र में ही ख्याति पा रहे थे। संस्कृत के पंडित मध्यमा की तैयारी कर रहे थे, और रोज आकर संस्कृत पढ़ा जाया करते थे। वह सनातनधर्मी थे, और समझ रहे थे, कुछ रुपयों के लालच में हम धर्म को बेच रहे हैं। अरबी मौलवी महेशप्रसाद पढ़ाते थे, जिन्हें हम सभी भाई साहेब कहते थे। मुसाफिर विद्यालय की विद्यार्थीमंडली में तथा मेरे जीवन में उनका खास स्थान है, इसलिए उन पर खास तौर से लिखूँगा। इनके अतिरिक्त डाक्टर लक्ष्मीदत्त और उनके छोटे भाई पंडित तारादत्त वकील अपने पिता पंडित भोजदत्त द्वारा स्थापित इस विद्यालय की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। शाम को दोनों भाई नामनेर के दोस्तों—जिनमे भोगाँव के मामा साहेब तथा सदा हँसमुख रहनेवाले पंडित प्यारेलाल तिवारी जरूर रहते—के साथ टहलने निकलते, और सूर्यास्त

होते-होते विद्यालय में चले आते। विद्यालय के बड़े आँगन में बेंच और कुर्सियाँ पड़ी रहतीं। वहाँ उनकी और विद्यार्थियों की जमात बैठ जाती, और रात को नौ-दस बज जाते किन्तु हमें मालूम न होता। हमें, कभी उसी वक्त विषय दिया जाता, और वादी-प्रतिवादी बनकर शास्त्रार्थ करना पड़ता, तथा कभी एक-दो दिन पहिले से भी विषय दे दिया जाता। हमारे भाषण की त्रुटियों पर डाक्टर साहेब की आलोचना होती, जो बड़े काम की चीज थी। भाषण में भी शिक्षा इसी तरह विषय को पहिले, या परीक्षार्थ सद्यः देकर होती थी। भाषण में जब तक अभिलाष रहे, तब तक वह अच्छे रहे, शास्त्रार्थ में थोड़े ही दिनों बाद लोग मेरा लोहा मानने लगे, इसमें संस्कृत की मेरी अभिज्ञता विशेष कारण न थी। शास्त्रार्थ में मैं सारी शक्ति को अपने ऊपर किये गये आक्षेपों के उत्तर देने में खर्च नहीं करता था, बल्कि काफी समय प्रतिद्वन्द्वी पर आक्षेपों की झड़ी लगाने में खर्च करता था। धीरे-धीरे आक्षेपों की संख्या बढ़ती जाती, प्रतिद्वन्द्वी सबका जवाब नहीं दे पाता, मैं उत्तर न पाये आक्षेपों को दुहराता जाता, और दो-तीन बारी बीतते-बीतते प्रतिद्वन्द्वी अपने ऊपर किये गये आक्षेपों के उत्तर देने में ही उलझ जाता, उसे मेरे ऊपर आक्षेप करने की फुरसत ही नहीं रह जाती। मेरा काम इतमीनान से सब तरफ से सुरक्षित हो आक्रमण करते जाना, तथा श्रोतृमंडली पर अपने शस्त्रक्षेप के कौशल की धाक जमाना रहता। मेरे बाकी तीन स्थायी साथियों में मुरारीलाल व्याख्यान देने में अच्छे थे, भगवती व्याख्यान की कमी को अपने तीखे आक्रमणों से पूरा करता। माणिक बच्चा था, उस पर पढ़ने की ओर ज्यादा ध्यान देने का आग्रह था। ऊपरवाली श्रेणी में रामगोपाल भाई में वक्तृत्व-शक्ति अच्छी थी। वह बोलने में स्वर के उतार-चढ़ाव को ठीक से अदा कर सकते थे। लिखे और रटे उद्धरणों को वह बड़े धड़ल्ले से इस्तेमाल कर सकते थे। सारे विद्यालय में वक्तृत्वकला की दृष्टि से उनका कोई सानी नहीं था। बाबूरामजी भी अच्छा बोल लेते थे।

भाई महेशप्रसाद इलाहाबाद जिले में कायस्थान कस्बे के रहनेवाले थे। मैट्रिक पास करने के बाद सब-इन्स्पेक्टरी के लिए उम्मीदवार हुए। करीब-करीब ठीक हो गया था, और वह घोड़े की सवारी भी सीखने लगे थे, इसी समय इलाहाबाद में पढ़ने की अवस्था में मन पर पड़े संस्कार उन पर असर डालने लगे। उस वक्त इलाहाबाद से एक उग्र राष्ट्रीयतावादी पत्र 'हिन्दुस्तान' उर्दू में निकला करता था। उसके कितने ही सम्पादक जेल में चले गये थे, किन्तु 'हिन्दुस्तान' निर्भीकतापूर्वक ब्रिटिश शासन के अत्याचारों का—हाँ ज्यादातर अत्याचारों को ही, अपनी राष्ट्रीय कमजोरियों की ओर उग्र राष्ट्रीय दल की भाँति उसे ध्यान दिलाने की जरूरत न थी—भंडाफोड़ करता था। 'हिन्दुस्तान' के जेल जानेवाले सम्पादकों में महात्मा नन्दगोपाल भी थे, जिनका भाई साहेब पर काफी असर पड़ा था। शायद सूफी अम्बाप्रसाद को वह देख न पाये थे, किन्तु उनके साहसपूर्ण कार्य—विशेषकर एंग्लो-इंडियन बन महीनों पुलिस को चकमा दे घूमते रहना—उनकी प्रशंसा की चीजें थीं। बंगभंग के बाद स्वतंत्रता के लिए देश ने जितनी आहुतियाँ दी थीं, उनका इतिहास उन्हें जबानी याद था। पहिले-पहिल ये रोमांचक, आत्मबलि के जीते-जागते उदाहरण मुझे भाई साहेब के मुँह से ही सुनने को मिले। भाई साहेब वक्ता न थे, उनकी कलम भी साधारण तल से ऊँचे नहीं उठ पाई, किन्तु वह हमारे लिए सफल शिक्षक ही नहीं, बल्कि कुछ और भी थे। धीरे-धीरे किन्तु स्थिरता के साथ जारी रहते अपने संलापों—जिनमें बीच-बीच में प्रश्नोत्तर करने की हमें पूर्ण स्वतन्त्रता थी—द्वारा वह हमारे हृदयों में एक जबर्दस्त आग जला रहे थे। यह आग कितनी राजनीतिक पराधीनता के खिलाफ थी, और कितनी धार्मिक, यह हमें स्पष्ट न मालूम था; क्योंकि उस समय 'स्वदेश' और 'स्वधर्म' को हम अभिन्न समझते थे। 'आबिर' अकबराबादी (डाक्टर लक्ष्मीदत्त) की कविताओं, तथा सुखलाल अपने गानों में—

> 'वतन के नाम पर यारो तुम्हें मरना नहीं आता' की जगह
> 'धरम के नाम पर यारो तुम्हें मरना नहीं आता' कह देते थे।

हमारे लिए सौभाग्य की बात थी, कि मुसाफिर विद्यालय में हम पाठ्यपुस्तकों के बोझ से मरे नहीं जा रहे थे। संस्कृत में जीवाराम की संस्कृत-शिक्षा की प्रथम-द्वितीय आदि पुस्तकें और शायद हितोपदेश भी था। अरबी में 'सरफ', 'नस्व' की एक-एक पुस्तक तथा कुरानशरीफ था। पढ़ाई के बाद का समय हमारा अपना था, किन्तु उसे हम बहुत उपयोगी और बहुत मनोरंजक ढंग से बिताते थे। हम बाहरी पुस्तकें खूब पढ़ते, और खूब गप

भी मारते थे। लेकिन यह हमारे भविष्य जीवन-निर्माण के लिए बहुत उपयोगी साबित हुए। मुझे याद हैं वे दिन और खास करके ये रातें, जब चारपाई पर लेटे या बैठे भाई साहेब शहीदो की कथा सुनाते, 'हिन्दुस्तान' के भूखे शिक्षित सम्पादकों की तपस्या का वर्णन करते। सादगी की भाई साहेब साक्षात् मूर्त्ति थे। वह मोटे कपड़े (खद्दर का अभी युग नहीं आया था, किन्तु हाथ के बुने कपड़ों पर भाई साहेब का जरूर जोर था)—कुर्ता-धोती पहिनते, टोपी की जरूरत न थी। जूता दीहाती। खाने में सादगी रखने के लिए, खैर, आर्थिक अवस्था मजबूर किये हुई थी। भाई साहेब को खाने के अतिरिक्त दस या पन्द्रह रुपये मासिक मिलते थे, जिसमें कुछ मासिक दे वह, एक मौलवी साहेब से अरबी की आगे की पढाई जारी रखे हुए थे।

अयोध्या में भाषण और अखबार का आरम्भ हुआ था। महायुद्ध की खबरो ने जर्मनी आस्ट्रिया, जापान, रूस आदि के ठोस अस्तित्व को मनवाया। और यहाँ तबकी अवस्था मे मैं डिग चुका था, किन्तु अभी भी मै था पुराने जगत मे। मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति किधर को है, इसका परिचय मुझे नही था। यहाँ आगरा मे भाई साहेब के सम्पर्क में आने पर मालूम हुआ, जैसे आदमी अँधरी कोठरी से निकालकर सूरज की रोशनी मे रख दिया जावे, जैसे दम घुटती काली कोठरी से निकाल शीतल मन्द सुगन्ध-वायु परिचालित बाग मे ला रखा जाये। अब मुझे मालूम होने लगा, दुनिया मे ऐसे भी काम है, जिनके लिए जीवन की आवश्यकता है, ऐसे भी आदर्श हैं, जिनके लिए मृत्यु मधुरतम वस्तु है। अंग्रेज किस तरह भारत का शोषण करते है, इस सम्बन्ध मे उर्दू-हिन्दी मे जो भी उपलभ्य पुस्तकें थी, उन्हे भी मैंने ध्यान से पढ़ा—इन पुस्तकों मे कुछ जब्तशुदा भी थी। मुझे याद है, भाई परमानन्द के जब्तशुदा 'भारत का इतिहास' को बडे परिश्रम के साथ जब हम हासिल कर पाये, तो कितनी खुशी के साथ उसे पढ़ रहे थे। अंग्रेजी के ज्ञान से एकदम कोरा तो नही था, किन्तु अभी उसकी पुस्तको के पढ़ने का अभ्यास नहीं था।

खाना खाने के बाद दोपहर को मैं रोज 'मुसाफिर' के आफिस मे चला जाता, और दो-तीन घंटे रहकर अखबारो को पढ़ता। 'मुसाफिर' के परिवर्त्तन में कई दर्जन अखबार वहाँ आया करते। 'लीडर' शायद डाक्टर साहेब खासतौर से मँगाया करते। मुझे उसका भावार्थ भी अच्छी तरह समझ मे नही आता था, क्योंकि समाचार पत्रों की भाषा में भी कुछ विशेषता रहती है, तो भी आगरा के एक सवा बरस के निवास मे शायद ही किसी दिन 'लीडर' पर मैंने एकाध घंटा न दिया हो, और आखिर में मुझे खबरो के समझने मे दिक्कत नही रह गई। इन अखबारो मे धार्मिक अखबारो की ही सख्या ज्यादा थी। 'आर्यगजट' और 'प्रकाश', 'हिन्दुस्तान' और 'देश' लाहौर के अखबारो का मैं निरन्तर पाठक था। 'सुदर्शन'जी ने इसी वक्त अपना पत्र निकाला था। महात्मा मुशीराम का 'सद्धर्मप्रचारक', फर्रुखाबाद से निकलनेवाला 'सत्यवादी' (?) आर्यसमाज के हिन्दी साप्ताहिक थे। इनके अतिरिक्त हमारे शहर से निकलनेवाला तथा प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र 'आर्यमित्र' उस वक्त सर्वानन्द के सम्पादकत्व में निकल रहा था। हाल ही मैं मैंने 'मेघदूत' के पद्यबद्ध अनुवाद की एक पुस्तक देखी थी, जिसमे अनुवादक का बड़ी दाढ़ी-मूँछ के साथ फोटो छपा था। मैं अपने साथियों के साथ एक दिन शहर (हीग की मंडी) के आर्यसमाज मे पडित आर्यमुनि या स्वामी अच्युतानन्द का व्याख्यान सुनने गया था, वहाँ दो-तीन बरस की बच्ची लिये एक मूँछ-दाढ़ी-सफाचट सज्जन आकर बैठ गये। मेरे साथियो मे से किसी ने कान में कहा—यही 'आर्यमित्र' सम्पादक सर्वानन्दजी हैं, लेकिन इनका असली नाम है पडित लक्ष्मीधर वाजपेयी*। मुझे मेघदूत की तसवीर याद आई। मेरे एक साथी ने बतलाया—मिडल तक ही पढकर इन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली है, कि ये हिन्दी के बडे-बडे लेखकों का कान काटते हैं। मैंने सोचा—मैं भी मिडल ही पास हूँ। अखबारो मे हमारी नजर तीन चीजो पर रहती—आर्यसामाजिक जगत की क्या नई खबर है, कहीं शास्त्रार्थ और मुबाहिसा तो नहीं हो रहा, किसी बड़े समाज का जलसा तो नही हुआ, और उसमें कौन-कौन प्रसिद्ध व्यक्ति आये—स्वामी सोमदेव, स्वामी मुनीश्वरानन्द, स्वामी अनुभवानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी सत्यानन्द, महात्मा मुंशीराम, महात्मा हसराज, प्रोफेसर रामदेव, प्रोफेसर दीवानचन्द, पंडित तुलसीराम, पडित रामचन्द्र देहलवी, चौधरी खूबचन्द—आदि हमारी उस दुनिया की विख्यात मूर्त्तियाँ थीं। फिर देखते कहीं किसी आर्यसमाजी व्याख्यान या मुबाहिसा को लेकर हिन्दुओं या मुसल्मानो से सिर फुटौवल हुई कि नहीं। खडन-मंडन के लेख—विशेषकर इस्लाम के विरुद्ध—बहुत चाव से पढ़े जाते, और

1915 ई. के अन्त होने से पहिले ही 'मुसाफिर आगरा' के केदारनाथ विद्यार्थी के भी लेख छापने शुरू किये। अपने लेख को पहिले-पहिल छपा देखकर तरुण लेखक को कितनी प्रसन्नता होती है, उसे अनुभवी ही बतला सकते हैं। मेरा उर्दूवाला लेख पहिले छपा या हिन्दीवाला, इसे नहीं कह सकता; किन्तु मेरठ के हिन्दी मासिक 'भास्कर' के दो अंकों में अपने छपे लेखों से मुझे ज्यादा खुशी हुई। यही हिन्दी का मेरा प्रथम लेख है। इसमें अयोध्या में साधु लोगों के पास गृहस्थ लोग कैसे मन्त्र लेने आते हैं, इसे विदेहीजी के स्थान में देखे-दृश्य को लेकर मैंने वर्णित किया था।

संस्कृत की पढ़ाई से छुट्टी पाने के कारण मेरे पास कुछ और भी फ़ाजिल समय था, जिसे मैं बाहरी पुस्तकों के पढ़ने में लगाता था। 'मुसाफिर' आफिस की रद्दियों और कूड़े में बहुत-सी समालोचनार्थ आई आर्यसमाजी पुस्तकें पड़ी थीं। मैंने लगकर कूड़ा-कचड़ा साफ किया, पुस्तकों को जमा किया, और एक-एक को पढ़ डाला। इन पुस्तकों मे पंडित आर्यमुनि, पंडित राजाराम शास्त्री, पंडित तुलसीराम के किये दर्शन, उपनिषद् और दूसरे संस्कृत ग्रंथों के मूलसहित अनुवाद थे। मैं अब इन ग्रंथों में रस लेने लायक हो गया था। उर्दू की 'कुल्लियात-आर्यमुसाफिर' हमारे लिए बड़ी प्रिय चीज थी, क्योंकि यह उन्हीं शहीदे-धर्म पंडित लेखराम आर्य मुसाफिर की कृतियों का संग्रह था, जिनकी स्मृति में हमारा आर्यमुसाफ़िर विद्यालय स्थापित हुआ था। स्वामी दर्शनानन्द, पंडित भोजदत्त, महाशय धर्मपाल (जो अब फिर मुसल्मान हो चुके थे) की उर्दू पुस्तको को मैंने बहुत शौक से पारायण किया था। इस्लाम की समालोचना मे लिखी गई पादरियों की भी बहुत-सी पुस्तकें मैंने देखी। मेरे साथी सुनी-सुनाई परम्परा को दुहराते हुए जब मौलवी सनाउल्ला अमृतसरी, पादरी ज्वालासिंह और स्वामी दर्शनानन्द की शास्त्रार्थ में अप्रतिभ प्रतिभाओं का वर्णन करते, तो मुझे ईर्ष्या होती-क्या मैं भी वैसा हो सकता हूँ। मौलवी सनाउल्लाह के 'अह्ले-हदीस' का तो मैं हर सप्ताह पाठ करता था। 'पैगाम-सुलह', 'अल्फ़जल', 'नूर' जैसे कादियानी अखबारों से भी मुझे नवीन इस्लाम की जानकारी का अच्छा मौका लगता था।

हम लोग वैदिक धर्म-आर्यसमाज के सिद्धान्तों-ऋषि दयानन्द के पैगाम-को सारी दुनिया में पहुँचाने के लिए मिशनरी तैयार किये जा रहे थे। हमें उपदेशों, अखबारो और पुस्तको द्वारा बतलाया जाता था, कि दुनिया का सबसे पुराना धर्म-सारे धर्मों का आदि स्रोत-आज भी अपने सिद्धान्तों मे कितना मजबूत है। उसमें एक ईश्वर छोड़ किसी दूसरे की पूजा नही है। बहुदेववाद वेद-विरुद्ध है, श्राद्ध ब्राह्मणपोपों के पेट पालने की चाल है। अवतार अजन्मा ईश्वर का नही होता। पुनर्जन्म और कर्म का सिद्धान्त हमारे धर्म को सारे धर्मों से श्रेष्ठ सिद्ध करता है। वर्ण-व्यवस्था जन्म से नही, रुचि के अनुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता का दूसरा नाम है। तीर्थ, मूर्त्ति-पूजा आदि सभी पोपलीलाएँ हैं। बात-बात में हमारे सामने ईसाई मिश्नरियों के धर्म प्रचार के लिए किये गये स्वार्थत्याग और साहस की मिसाल पेश की जाती थी, और उससे भी ज्यादा, जापान-चीन-तिब्बत-मध्यएसिया के दुरूह रास्तों मे शताब्दियों पूर्व बौद्धभिक्षुओं की यात्राओं का उदाहरण पेश किया जाता था। हम अपने को दयानन्द के भिक्षु और अपने विद्यालय को एक छोटी-सी नालन्दा-यद्यपि बहुत त्रुटिपूर्ण-समझते थे।

शिक्षा सिर्फ़ मौखिक नही थी, उसे व्यवहार मे रूप देने का भी हमारा प्रयत्न होता था। मुसाफ़िर विद्यालय के हम सभी विद्यार्थी सप्ताह के अधिकांश दिनो मे शहर में, या सुल्तानपुरा बाजार मे सड़क पर व्याख्यान देने जाते थे। यह परम्परा मेरे पहिले कायम हुई थी, पहिली बारी के विद्यार्थी थे भाई साहेब और धर्मवीरजी, रामगोपाल जी दूसरी बारी में, और अब हमारी जमात का नम्बर तीसरा था। मालूम होता है, इसे ईसाइयों से सीखा गया था। इन व्याख्यानों के श्रोता दस-पाँच मिनट से अधिक एक जगह न खड़े रह सकनेवाले अपनी खरीद-फ़रोख्त के लिए आये लोग हुआ करते थे, इसलिए हम लोगो का व्याख्यान संक्षिप्त होता था। इन व्याख्यानों के अतिरिक्त अछूतोद्धार में हमें खासतौर से काम करना पड़ता था। पंडित भोजदत्तजी अखिल भारतीय शुद्धि सभा के प्रधानमन्त्री और संस्थापक थे। इसका काम तो था, मुसल्मानो और ईसाइयों को वैदिक धर्म की दावत देना, किन्तु इसमें उसे बहुत कम सफलता मिलती थी। कभी ही कोई भूला-भटका मुसल्मान या ईसाई जाति-पाँत की संकीर्णता से दबे हिन्दू समाज में आना चाहता था। हाँ, शुद्धि-शुदो की संख्या दिखलाने के लिए अछूतों के शुद्धिसंस्कार होते थे। कुछ पढ़-लिख गये, तथा बेहतर आर्थिक अवस्थावाले अछूत परिवार जरूर चाहते थे कि समाज में उनके

लांछित अपमानित स्थान में कुछ परिवर्तन हो। इसी इच्छा से वह अपनी 'शुद्धि' कराते थे। इसके लिए एक दिन मुकर्रर होता। उस दिन घर के व्यक्ति, सस्कार की गम्भीरता को साबित करने के लिए उपवास रखते, शाम को हम लोग पहुँचकर हवनकुंड खोदते। चौक-वौक पूरते, संस्कारविधि में आये मन्त्रो से हवन करते, घर के व्यक्ति उसमें यजमान के तौर पर बैठकर अपने हाथों से आहुति देते। फिर उनके हाथ के बने हलवे-पूड़ी का प्रसाद बाँटा जाता। हम पुरोहित लोग वहीं भोजन करते। हमारे इन शुद्ध होनेवाले भाइयो में अधिकतर आगरा के आसपास के चमार होते, जो शकल-सूरत में पास-पडोस के दूसरे लोगो से भिन्न नही मालूम होते थे।

वैष्णवधर्म–वैरागी सम्प्रदाय–से मैं उदासीन हो गया था। धर्म का आकर्षण नहीं बल्कि घूमने-पढने का आकर्षण, तथा घर से मुक्ति का खयाल मुझे वहाँ ले गया था। वहाँ मेरे विचार वध्या समान थे, किन्तु यहाँ आर्यसमाज मे अपनी बुद्धि को ज्यादा स्वच्छन्द, ज्यादा अनुकूल परिस्थितियो मे पा रहा था। जाति-पाँत का खंडन आर्यसमाजी एक हद तक ही करना चाहते थे, किन्तु मैं उसको असह्य बीमारी समझता था। युक्तप्रान्त के आर्यसमाजियो में वर्णव्यवस्था को लेकर उस वक्त दो दल हो गये थे, एक दल–ब्राह्मणपार्टी–वर्णव्यवस्था को गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार बतलाते भी स्वभाव पर बहुत जोर देकर 'पनाले को वही' रखना चाहता था, इस दल के मुखियो मे पडित मुरारीलाल (सिकन्दराबादी), पडित तुलसीराम और ज्वालापुर महाविद्यालय का पडितदल शामिल था। स्वामी सर्वदानन्द को पुरानी मर्यादा का अतिक्रमण कर, ब्राह्मणो को नीचे दबाते हुए, अछूतो को आगे बढ़ाते देख कविराज पडित नाथूरामशकर ने 'चमरन के तारन को नारन के कारण प्रगटे सन्त सर्वदानन्द' लिख मारा था। मै अपने छोटे दायरे मे इस विचारधारा का सख्त मुखालिफ था। मेरे सहपाठियो मे सबसे अधिक घनिष्ट मित्र भगवतीप्रसाद कुछ दिनो तक गुरुकुल सिकदराबाद मे रहे थे, और पडित मुरारीलाल शर्मा के विचारो से प्रभावित हुए थे। वे अक्सर वर्णव्यवस्था के बारे मे मुझसे झगड पडते। मैं सारे आर्य (समाजी) मात्र की रोटी-बेटी के पक्ष मे था, और स्वामी सर्वदानन्द की खरी-खरी बातो को बहुत पसन्द करता था।

एकमा से एक बार गुरुजी के साथ एक दिन मैं छपरा जा रहा था। हमारे ही सेकड क्लास के डिब्बे मे छपरा के बैरिस्टर मिस्टर मुस्तफा बैठे हुए थे। बातचीत मे परिचय हुआ। मिस्टर मुस्तफा ने गुरुजी से कहा–'महन्तजी अपने शिष्य को विलायत भेजिए!' किसलिए, सो मैंने नही सुना या याद नही। महन्तजी ने हँस दिया। परसा का वैष्णव वैरागी क्रिस्तानो के मुल्क मे जायेगा–इस पर वह सोच भी नही सकते थे। किन्तु वह बात मेरे लिए भी वैसी ही न थी। उससे भी पहिले बनारस मे जिस वक्त 'सरस्वती' मे मैं खन्ना की अमेरिका यात्रा सम्बन्धी लेखो को पढ़ता, तो मेरा हृदय वहाँ साक्षी मात्र नही रहता था। सेंट्रेल हिन्दू कालेज मे, शायद कुमार देवेन्द्र का स्वर के साथ गाते सुना था–'न्यूयार्क म पहुँचकर हमको भी तार देना', तो उससे मेरे मन पर अजीब-सा प्रभाव पड़ा था। और अब तो हम विदेशयात्रा के ही स्वप्न देखा करते थे, मेरा स्वप्न अमरिका यूरोप का नही था, मैं एसिया के ही किसी भाग को पसन्द करता था, पहिले अरब, मिश्र, ईरान और पीछे चीन-जापान को। किसलिए!–वैदिक धर्म के प्रचार के लिए। किन्तु, जिस तरह धर्मवीरजी अरब मे धर्मप्रचारार्थ जाने के लिए उतावल होकर बम्बई की किसी मस्जिद मे कई दिन काट आये थे, मैं उतनी जल्दी का पक्षपाती न था, उसके लिए मै काफी तैयारी की जरूरत समझता था। वैसे सभी चारो सहपाठी हमारे स्वप्नो के सहभागी थे, किन्तु रामगोपाल के साथ उन पर बहस करने मे बहुत लुत्फ आता था। मैं स्वतन्त्र था, मुझे कहीं आने-जाने मे कोई बन्धन नही था, किन्तु रामगोपाल की उड़ानो मे बाधक थी उनकी स्त्री। मैं सलाह देता–उसे पढ़ाकर अपने पैरो पर खड़ा कर दो, कही अध्यापिका हो जायेगी। हमारी भविष्य की कार्य-योजनाओ में एक मिशनरी विद्यालय भी था, जिसमे पुराने नालन्दा और उस वक्त के मुसाफिर विद्यालय का सम्मिश्रण होगा। वहाँ हम पढ़े-लिखे नौजवानों को छै-सात वर्ष की विशेष शिक्षा देंगे। जो जिस देश मे जायेगा, वह उस देश की भाषा, सस्कृति और धर्म के बारे मे विशेष तौर से पढ़ेगा।

पडित भोजदत्तजी आगरा मे ही थे, किन्तु, असाध्य बीमारी–शायद यक्ष्मा–से बीमार थे। उनके दर्शन बहुत कम हुआ करते थे।

मेरी बुआ की लडकी का ब्याह करना था। फूफा साहब ने पत्र लिखा–'फीरोजाबाद के पोस्ट-मास्टर (आजमगढ़

जिले के रहनेवाले) के लड़के को देख आना, और ब्याह की बात कर आना।' मैं फ़ीरोजाबाद गया, और ब्याह के ठीक-ठाक करने मे मदद की। उसी समय कनैला से पत्र आया—शायद यागेश का, कि पिताजी अर्धविक्षिप्त से हो गये हैं, शायद तुम्हारे भाग जाने के कारण; इसलिए एक बार मिल जाओ। पन्द्रह-बीस दिन की छुट्टी लेकर मैं कनैला आया। पिताजी बहुत दुबले हो गये थे, मालूम होता था बहुत दिनो की बीमारी से उठे हैं। उन्होने मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। दिमाग की गर्मी शान्त करने के लिए कनपटी के पास फस्द खोलकर खून निकालने के लिए आदमी आया हुआ था। उन्होने कहा—"क्या करोगे फस्द खुलवाकर, मै अब अच्छा हो जाऊँगा।" दीवाली के दिन मैं आजमगढ़ आर्यसमाज मे था, और कार्तिक पूर्णिमा के दिन करहा के मेले मे मुझे लेक्चर झाड़ते देख मेला देखने के लिए आये कनैला के स्त्री-पुरुषो को बहुत आश्चर्य हुआ। इसी वक्त मुहम्मदाबाद मे बाबू बैजनाथप्रसाद वकील के यहाँ ठहरा। वह अभी-अभी इलाहाबाद से वकालत पास कर आये हुए थे। उनके पास 'कर्मयोगी' की पूरी फाइल थी। राजनीति पर बातचीत करने के अतिरिक्त उस फाइल के कितने ही भागो को मैंने पढ़ा। तीन-चार सप्ताह बाद पिताजी ने बडी खुशी के साथ मुझे आगरा लौट जाने की इजाजत दी।

1915 ई. के जुलाई-अगस्त तक पढ़ने-लिखने, बोलने-चालने मे मेरी काफी प्रगति हो चुकी थी। अब मुझे आगरा से बाहर, फतेहगढ़, जसवन्तनगर, फीरोजाबाद जैसे स्थानो मे भी व्याख्यान और संस्कार कराने के लिए भेजा जाता था। व्याख्यान देते वक्त अपरिचित अगणित चेहरो का रोब गालिब होना अब भी कम नही हुआ था, तो भी श्रोताओ की टिप्पणी या चेष्टा अनुत्साहवर्धक न होने मे मुझे आत्मग्लानि नही होती थी। इसी बीच शायद सितम्बर (1915) मे जबलपुर से डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पडित धर्मवीर को मुसल्मानो के साथ शास्त्रार्थ करने का निमन्त्रण आया। मै भी शास्त्रार्थियो मे गिना जाने लगा था, और सस्कृत के प्रमाणो को जुटाने मे तो उनकी काफी सहायता कर सकता था, इसलिए डाक्टर लक्ष्मीदत्त ने मुझे भी चलने के लिए कहा। हम लोग पहिले इलाहाबाद गये। उस वक्त वहाँ युक्तप्रान्त के राजनीतिक नेताओं की एक बडी कान्फ्रेंस हो रही थी। युक्तप्रान्त मे उस वक्त लेफ्टेंट-गवर्नर शासन करता था, देशभक्तो की—जिसमे पडित मोतीलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू, आदि सभी शामिल थे—माँग थी, गवर्नर की। शायद अंग्रेजी सरकार ने इस माँग को ठुकरा दिया था, इसी पर यह विराट् कान्फ्रेंस काग्रेस की ओर से सारे प्रान्त-भर के लोगो की बुलाई गई थी। हम लोग आगरा मे किसी सभा के प्रतिनिधि न थे। सभा-स्थल ही मे हमे एक-एक प्रतिनिधि टिकट मिल गया। कान्फ्रेंस शायद म्योहाल मे हुई थी। अंग्रेजी मे धुआँधार तकरीर हुई, जिसका समझना ऐसे भी हमारे लिए मुश्किल था, ऊपर से गर्मी का पूछो मत, बर्फ डाले पानी के गिलासो के गिलास गले के नीचे उँड़ले जाते थे, और प्यास बुझना जानती न थी।

जबलपुर मे हम लोगो को हितकारिणी हाई स्कूल के मकान मे ठहराया गया—शायद उस वक्त कोई छुट्टी थी, जिससे स्कूल बन्द था। गर्मी यहाँ भी खूब थी, किन्तु बँगले की छत कुछ ऊँची थी, और लेमनेड बर्फ का बराबर इन्तिजाम रहता था। मुसल्मानो की तरफ से मौलाना सनाउल्लाह शास्त्रार्थ करनेवाले थे। उनकी मदद के लिए मौलाना अबूतुराब, मौलाना कासिम बनारसी तथा दूसरे सज्जन भी आये थे। आर्यसमाज की तरफ से डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पडित धर्मवीर बोलनेवाले थे। पडित रामचन्द्र देहलवी के कुछ व्याख्यान यहाँ के टाउनहाल मे हुए थे, उसी पर यह शास्त्रार्थ रचा गया था। मेरे लिए यह पहिला मौका था किसी आर्यसमाजी मुस्लिम शास्त्रार्थ देखने का। एक ही प्लेटफार्म पर मध्यस्थ—जो शायद जबलपुर के किसी कालेज के मिशनरी के प्रिंसिपल थे—की दोनो तरफ दो मेजो पर दोनो पक्ष के पडित मौलवी पुस्तको का ढेर लेकर बैठे हुए थे। चारो तरफ खुली जगह मे विराट् हिन्दू-मुस्लिम जनता शास्त्रार्थ सुनने के लिए बैठी थी। रात के अँधेरे को दूर करने के लिए लालटेनो का काफी इन्तिजाम था। वक्ताओं को बारी-बारी से बोलना पड़ता था। समय पूरा होते ही मध्यस्थ घटी बजा देते। शास्त्रार्थ का प्रभाव सभी जनता पर एक सा कैसे पड़ता, जब कि उनकी सहानुभूतियाँ पहिले ही से बँटी हुई थी। तो भी अपने धर्म को विज्ञानानुमोदित बनाने के लिए आर्यसमाज बहुत से पुराने मिथ्या विश्वासो को छोड़े हुए था; स्वामी दयानन्द ने उन्ही सिद्धान्तो को मान्य रहने दिया था, जिन्हे वह अपने सामयिकों के कथनानुसार विज्ञानसम्मत समझते थे। एक तरफ अपनी पुरानी खुराफातो के अधिकाश की होली जलाकर एक आदमी आया हो, और दूसरी ओर तेरह सौ वर्षो की अधिकाश लचर बातो को काफिर होने के डर से न छोड़ने के लिए मजबूर

व्यक्ति हो, दोनों में कौन अच्छी तरह लोहा ले सकेगा, यह स्पष्ट ही है।

शास्त्रार्थ शायद दो दिन हुआ था। उसी समय हम ताँगे से भेड़ाघाट के मार्बल राक (संगमरमर चट्टान) को देखने गये थे। हम लोगों को निमन्त्रण देकर अपने घर खाने के लिए ले जानेवालों में एक बैरिस्टर कोई गुप्त साहेब थे। वह विलायत में तरुण भारतीयो के ऊपर खुफिया पुलिस की कितनी कड़ी निगाह रहती है, इसके बारे में कह रहे थे—हम उनसे बचने के लिए बहुधा मैदानों की घास में बैठ जाते थे। जबलपुर में एक दिन संस्कृत में मुझे व्याख्यान देना था, किन्तु किसी कारण से व्याख्यान नहीं हो सका। उस समय के शास्त्रार्थ से मुकाबिला करने से मालूम होता था, कि अब से उस समय के लोग ज्यादा विचार-सहिष्णु थे।

युद्ध की भीषणता और भी बढ़ गई थी। नामनेर आगरा-छावनी के भीतर समझा जाता है। हम लोग दोपहर बाद पढ़ने के लिए कभी-कभी एक बाग में जाया करते थे, वहाँ देखते थे आये हुए झुंड के झुंड रंगरूटों को। खुफिया पुलिस और भेदियों का तो चारों ओर जाल बिछा हुआ था। हमारे विद्यालय के सामनेवाले मन्दिर मे एक पगला रहता था, कितने लोग कह रहे थे—वह पागल नहीं भेदिया है। कुँअर सुखलाल के गानों में कुछ राष्ट्रीयता की गर्माहट बढ़ रही थी, जिसके लिए पुलिस सजग रहने लगी थी। एक बार हम लोगों के सामने प्रस्ताव आया था, मेसोपोतामिया में दुभाषिया बनकर पलटन के साथ जाने का। लेकिन न जाने क्यों बात यहीं तक रह गई, हममे दो-एक तो जरूर ही सैर के शौक में जाने के लिए तैयार हो जाते। अब अभिलाष विद्यालय के विद्यार्थी नहीं रह गये थे, तो भी बीच-बीच में आया करते थे, और बड़ी खतरनाक सूरत मे। उनकी घड़ी, फोटोग्राफ़ी के छोटे-छोटे औजारो के लिए चलने का बड़ा शौक था। थोड़े से ही खर्च मे वह बड़े फिटफाट से रहा करते थे। यह हमारे विद्यालय के परले दर्जे के चलते-पुर्जे—बुरे अर्थ में नहीं अच्छे अर्थों में—तरुण थे। अपने साथियों पर पूरा विश्वास रखते और खुद भी उनके पूरे विश्वासपात्र थे। बगविच्छेद के बाद जो बम्ब-सम्प्रदाय चला, वह भीषण दमन के बाद भी घटने की जगह बढ़ता ही जा रहा था। दिल्ली में वाइसराय लार्ड हार्डिंग के ऊपर बम्ब चला था, उसकी गूँज अब भी हवा में थी। हम बड़ी गम्भीरता और सहानुभूति के साथ दिल्ली षड्यन्त्र के मुकदमे के बारे मे पढ़ा-सुना करते। मेरे आगरा में रहते ही वक्त अवधबिहारी, मास्टर अमीरचन्द और बालमुकुन्द को फाँसी हुई थी। उनकी फाँसी हमें अपने किसी अत्यन्त आत्मीय की हत्या से बढ़कर मालूम होती थी, साथ ही हमें उसका बहुत अभिमान भी था। पिछले साल-भर के साहित्य और सत्सग ने हमारे सुप्त हृदय को जागृत कर दिया था, राजनीति के साथ धर्म की खिचड़ी बनाते हुए भी देश की आजादी के लिए हम बेकरार थे। अभिलाष ने एक बार कहीं से भडकनेवाले कुछ मसाले लाकर एक कागज मे रस्सी मे बाँधकर विद्यालय के आँगन में पटका, हलका-सा धमाका हुआ, शायद आँगन से बाहर आवाज नही गई। कुछ देर तक गन्धक की गन्ध उड़ती रही। बतलाया—यही बम्ब का ममाला है, किन्तु असली बम्ब बनाने मे बहुत-सी चीजें आवश्यक होती हैं। अभिलाष—साहसी और व्यवहारपटु अभिलाष—मेरी नजरों में बहुत ऊँचा स्थान रखता था, यद्यपि उसके पढ़ाई छोड़ बैठने को मै पसन्द नही करता था। आतंकवादियों मे मेरी बड़ी सहानुभूति थी। उनकी देश की आजादी के बारे में अधीरता की मैं प्रशसा करता था, और यदि जरूरत पड़ती तो उनके काम के लिए मुझे प्राणोत्सर्ग करने मे भी हिचकिचाहट न होती, लेकिन उस एक दिन दो मिनट के कागज की पोटली के धड़ाके से बढ़कर मुझे कभी आतकवाद के समीप ज्यादा जाने का मौका न लगा। मैं आतंकवादी क्यों न बना !—इसमें शायद संयोग ही कारण हो सकता है, आसपास कोई मुझे उधर खींचनेवाला व्यक्ति नहीं था। अथवा मेरे में ही दृढ़ जिज्ञासा की कमी थी, और मैं उनके अड्डो को ढूँढने नही निकला। शायद अभिलाष का कोई सम्बन्ध रहा हो, किन्तु उसने मुझे किसी और साथी को मिलाने की बात नहीं की। भाई साहेब राजनीतिक स्वतन्त्रता का जबर्दस्त पाठ पढ़ा रहे थे, लाल बाल-पाल के परम भक्त थे, और देश के लिए मरनेवालों की प्रशंसा करते नहीं थकते थे; किन्तु, वह भी किसी कर्मठ आतंकवादी के सम्पर्क मे नहीं आये थे। तो भी, मुसाफ़िर विद्यालय के नगे शिर नगे पैरवाले अर्द्धशिक्षित हम तरुण विद्यार्थी भी पुलिस की निगाह से बचे न थे।

1915 के अन्त के साथ मेरी पढ़ाई का अन्त भी आता दीख पड़ा। मेरे साथियो में से कोई, नमाज और कोई मौलूद नागरी अक्षरों में करके आगरे के एक प्रेस को दे रहा था। एक बार उक्त प्रेस ने मुझे कुरान को

हिन्दी में कर देने के लिए कहा। मिहनत और पारिश्रमिक से परिचित तो था नहीं, मैंने ढाई रुपया सिपारा में नागरी अक्षरों में अरबी आयतों और हिन्दी में उनके अर्थ को लिखकर देना स्वीकार कर लिया। पहिले सिपारे को दे आने के बाद मालूम हुआ, प्रेसवाला (बाम्बे मशीन प्रेस) लूट रहा है। दूसरे सिपारे को ले जाते वक्त मैंने पारिश्रमिक को बढ़ाने के लिए कहा। कुछ तय नहीं होने पाया, और मैंने उसके बाद अनुवाद के काम को छोड़ दिया। कुछ वर्षों बाद कानपुर में किसी हटिया में अपने अनुवादित दोनों सिपारों को बिना मेरे नाम के छपकर बिकते देखा, तो मैंने प्रेसवाले को चिट्ठी लिखी। वह चिकनी-चुपड़ी बातें करने लगा, और उसने कुछ रुपये भेज दिये। मैं खुद तरद्दुद में नहीं पड़ना चाहता था, न उसे तरद्दुद में डालना चाहता था।

आगरा के उस निवास में हमारा दिन सिर्फ़ रूखे आदर्शवाद ही में नहीं कट रहा था। समवयस्क सहृदय साथियों का साथ एक लालसा की चीज है। मुंशी मुरारीलालजी हममें सबसे ज्यादा गुरु-गम्भीर पुरुष थे। उन्होंने स्वामी रामतीर्थ की वेदान्त-सम्बन्धी एक दो उर्दू पुस्तकें पढ़ी थी, और प्रयाग में रहते वक्त स्वामी राम के दर्शन और सत्संग का जिन्हें मौका मिला था, ऐसे बहुत से आदमियों से स्वामी राम के व्यक्तित्व को जानने का उन्हें मौका मिला था; इससे उन पर वेदान्त और रामतीर्थ का गहरा असर था। एक समय था, जब मैं वैष्णव रहते हुए भी शंकराचार्य के वेदान्त का जबर्दस्त भक्त था, किन्तु अब मैं पक्का आर्यसमाजी था; सिर्फ़ ऊपर-ऊपर की बातों ही में नहीं, दर्शन में भी आर्यसमाजी द्वैतवाद के सामने वेदान्त के अद्वैतवाद को बिलकुल कमजोर समझता था। भाई मुरारीलाल को, मैं समझता था, कि वह अभी आदिम अवस्था में हैं। और जब कभी मजलिस में कुछ सुस्ती छाई होती, तो रामतीर्थ के बारे में छेड़ देता। मुरारी भाई प्रहार हलका रहने पर तो समाधान करने की कोशिश करते, और यदि कहीं प्रहार सख्त हुआ, और मैंने कह दिया—'क्या वेदान्त और क्या ब्रह्म ? जो आदमी पानी में डूब मरने के लिए तैयार हो जाये, वह पागल ही हो सकता है।' फिर तो यह उनके बर्दाश्त से बाहर की बात हो जाती, लेकिन उसके लिए वह झगड़ते नहीं थे, उनका 'मौन केवलमुनेः' होता। भाई मुरारीलाल के पास एक मोटे डोरिये का अचकन था, जिसे जाड़ों में वह कभी-कभी पहनते थे; काले रंग की एक कश्तीनुमा टोपी भी थी। हम लोग मुसाफिर विद्यालयवाले नंगे शिर रहा करते, लेकिन मुरारी भाई जब अचकन पहनते तो टोपी भी लगा लेते। हम उनसे बहुत कहते—'भाई साहेब, सबकी तरह आपको नंगे रहना चाहिए।' बोलते—'उहुँक, इस अचकन पर तो यह टोपी लाजिमी है।' 'टोपी लाजिमी है' इसे जब हमने आवाज कसने का जरिया बना लिया, तब अचकन ही उतर गया।

हमारे यहाँ एक बूढ़ी मिश्रानी रोटी बनाया करती। बूढ़ों और जवानों की अलग-अलग दुनिया होती है। हममें से कई मनचले कभी-कभी मिश्रानी को हैरान भी कर डालते। एक दिन मिश्रानी अन्दाजा करके हम सबके खाने-भर के लिए आटा लाई। हमने निश्चय किया, आज मिश्रानी को छकाना है। बस, पालथी मार के खाने बैठ गये। मिश्रानी फूले हुए फुलके फेंकती जाती, और हम खाते जाते। आटा खतम हो जाने पर भी हम लोग डटे हुए थे। लाचार सेर-भर फिर आटा आया। आटा आने में देर, गूँधने में कुछ और देर, तब तक हमारी भूख कुछ और ताजी हो गई। उस सेर-भर आटे को भी खतम किया। फिर नौकर आटा लेने गया, हमने अपनी भूख ताजा की। मिश्रानी ने कहा—'खाओ, कितना खाओगे।' हमने कहा—'खिलाओ, कितना खिलाओगी।' दोनों ओर से होड़ लगी थी। चौथी बार आटा मँगाने के बाद मिश्रानी निराश हो गई, और उसने हार मान ली। हम लोग उन फुलकों को खाकर उठ खड़े हुए।

मुसाफिर विद्यालय के संस्थापक पंडित भोजदत्त शर्मा थे। पंडित लेखराम शर्मा के बाद मुसलमानों से लोहा लेने में वह भारी महारथी समझे जाते थे। उनकी जबान में जबर्दस्त ताकत थी, यद्यपि कलम में उतनी नहीं। पहिले कुछ दिनों तक वह आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के उपदेशक भी रहे। उन्होंने पंडित लेखराम के काम को जारी रखने के लिए मुसाफिर विद्यालय और 'मुसाफिर आगरा' साप्ताहिक पत्र निकाला था। विद्यालय का काम चन्दे से चलता था जिसका जमा होना, उस लड़ाई के जमाने में उतना आसान काम न था, खासकर जब कि पंडित भोजदत्तजी रोगशय्या पर पड़े थे। उनके दोनों लड़के डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित तारादत्त वकील विद्यालय का काम देखते थे, किन्तु उन्हें अपनी गृहस्थी भी चलानी थी, इसलिए अपने पेशे में भी समय लगाना जरूरी

था। डाक्टर लक्ष्मीदत्त की डिस्पेन्सरी शहर में थी। पंडित तारादत्त नये वकील थे, इसलिए उनकी कशमकश कम न थी। आर्थिक सहायता के लिए डाक्टर लक्ष्मीदत्त को ही ज्यादा काम करना पड़ता था। ये रुपये कुछ तो पंडित धर्मवीर और कुँवर सुखलाल के जरिये आर्यसमाज के उत्सवों या सभाओं से आते, और कुछ पैसे चिट्ठी-पत्री लिखने पर मददगार लोग भेज दिया करते। आर्यसमाज उस वक्त युक्तप्रान्त में निम्न मध्यम श्रेणी के शिक्षित लोगों ही में फैला हुआ था, इसलिए वह बड़ी धनराशि दान में नहीं दे सकते थे। आगरा में रहते ही वक्त छुट्टियों में पंडित बलदेव चौबे (अब स्वामी सत्यानन्द सरस्वती) वृन्दावन आदि घूमते हुए वहाँ आये थे। उस वक्त वह प्रयाग में मेट्रिक के विद्यार्थी थे। साधारण बातचीत हुई, एक जिले के होने से आकर्षण तो जरूर कुछ बढ़ जाता है, किन्तु उस समय कहाँ पता था, कि हमारा यह प्रथम परिचय एक आजीवन मैत्री का रूप धारण करेगा। हम लोग उस साल (1915 ई.) के दिसम्बर में गुरुकुल वृन्दावन का वार्षिकोत्सव देखने गये थे। पीछे कांग्रेस के अधिवेशन और उनके विराट् कैम्पों को देखने पर तो वह स्मृति फीकी पड़ गई, किन्तु उस वक्त का वह छोटा-सा शिक्षित संयत मेला दूसरे उजड्ड असंयत धार्मिक मेलो से बहुत अच्छा मालूम हुआ। वहाँ हमे आर्यसमाज के चोटी के उपदेशकों–प्रोफ़ेसर रामदेव आदि के व्याख्यान सुनने का मौका मिला। बार-बार पानी या दूध की घूँटों से गला साफ़ करते, नोटबुक के पत्तों को उलटते, फेनिल मुख से आरोहावरोह क्रम से निकलती उनकी आवाज, और वेद की सचाइयों के सामने विज्ञान और पश्चिमी जगत के शिर नवाने की गर्जना पर जनता की तुमुल ध्वनि–यह बातें मुझे अब भी स्मरण आती हैं। मुझे 1915 ई. के गुरुकुल वृन्दावन की इमारतों का स्मरण बहुत क्षीण है। गुरुकुल के पास ही कुछ जंगल-सा था। इमारतें थोड़ी किन्तु साफ़ थी। पीले कपडे, मोजे के साथ लकडी के चप्पलो में वहाँ के ब्रह्मचारी की ऋषियुग याद दिलाते थे। ईर्ष्या होती थी, कि मुझे ऐसी संस्था में पढ़ने का मौका क्यों नहीं मिला।

वृन्दावन में हम प्रेम महाविद्यालय को भी देखने गये थे। उनके संस्थापक का नाम और वर्णन युद्ध से पहिले शायद 'सरस्वती' मे मैं पढ चुका था। इधर लड़ाई के समय जिस तरह सर्वस्वत्यागपूर्वक वह इगलैंड के शत्रुओं से मिलकर भारत की स्वतन्त्रता की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे थे, इसकी भी खबरें हमें जब-तब मिलती थी। उस वक्त उनकी जायदाद हाल ही में जब्त हो चुकी थी। हम लोग सराहना करते थे, उनकी दूरदर्शिता की–जायदाद का बहुत-सा भाग उन्होने प्रेम महाविद्यालय को दे दिया था। वृन्दावन के एकाध मन्दिरो मे भी गये। श्रीरंग के मन्दिर को देखकर तमिलप्रान्त के वैसे हजारों मन्दिर याद आने लगे। मथुरा में हम लोग गुजरे थे जरूर, किन्तु वहाँ ठहरे न थे। इसी यात्रा मे रेल मे साहित्याचार्य पंडित ब्रह्मदत्त शास्त्री से भेंट हुई थी, अभी वह एम. ए. नहीं हुए थे, न आर्यसमाज मे आये थे। कुछ समय बाद जब पंडित अखिलानन्द आर्यसमाज से अलग हो उसे और उसके संस्थापक को गालियाँ देने तथा अपने सम्स्कृत काव्यपाठ के अभिमान मे आर्यसमाजियो को शास्त्रार्थ के लिए चैलेंज देने लगे, उस समय उनसे मुकाबिला करने के लिए पंडित ब्रह्मदत्त प्रकट हुए। उन्होने संस्कृत भाषा के गद्य-पद्य किसी में अखिलानन्द को शास्त्रार्थ करने का चैलेंज दिया।

आगरा में रहते ही वक्त कोमागातामारू के बहादुर सिक्खों और उनके नेता बाबा गुरुदत्त सिंह के ऊपर बजबज में हुआ गोलीकांड घटित हुआ था। कोमागातामारू के सिक्खो ने साहस के साथ अंग्रेजों का सामना किया था, इसे हम अपने अभिमान की चीज समझते थे। उसके बाद एक के बाद एक पंजाब मे स्वतन्त्रता के लिए किये गये प्रयासों की बाते, लाहौर षड्यन्त्र की अदालती कार्रवाइयों–जिनकी कोई-कोई बातें अखबारों और दूसरे जरियों से मिलती रहती थीं–से मालूम होती रहती थी। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का जोश अपने जैसे लाखों भारतीय नौजवानों की भाँति मेरे हृदय में भी भरा हुआ था। भाई परमानन्द की जब्त 'इतिहास' पुस्तक को हम पढ़ चुके थे, जब कि लाहौर षड्यन्त्र केश में उन्हें फाँसी की सजा हुई। मेरी मानसिक अवस्था उस वक्त ऐसी थी कि यदि उनके या उनके दूसरे साथियों को छुड़ाने के लिए सशस्त्र चेष्टा के लिए प्राण देनेवाले स्वेच्छासेवकों की जरूरत पड़ती, तो मैं उनमें पहिले नाम लिखाता।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए मुझमें इतनी बेकरारी थी, किन्तु उस वक्त राष्ट्रीयता के बारे में मेरी क्या धारणा थी ? राष्ट्रीयता और धर्म को मैं उस वक्त अलग नहीं समझता था। धर्म से मेरा मतलब आर्यसमाज और स्वामी

दयानन्द के मान्य वैदिक धर्म से था। बाकी धर्मों–ईसाई, इस्लाम, यहूदी, बौद्ध ही नही हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदायों को भी मैं झूठे धर्म तथा वेद और विज्ञान के प्रकाश में शीघ्र ही लुप्त हो जानेवाले धर्म समझता था। तर्क और दलील द्वारा प्रतिद्वन्द्वी को अपने रास्ते पर लाने का मैं पक्षपाती था। किसी तरह का बलप्रयोग मैं मजहबों की कमजोरी समझता था। इसीलिए, जब कभी मुझे किसी ईसाई या मुसलमान धर्मप्रचारक से मिलने का मोका मिलता, तो मैं उनसे बहुत प्रेम से मिलता। बात करते वक्त हमेशा दिमाग को ठंडा रखने का प्रयत्न करता। आगरा में भाई महेशप्रसादजी के परिचितों में वहाँ के बपटिष्ट मिशन स्कूल के हेडमास्टर श्री सामुयेल थे। उनके पिता ब्राह्मण से ईसाई हो गये थे। उनकी माँ अब भी शायद अपने बच्चे को शामलाल कहा करती थी। भाई साहब के साथ कभी-कभी मैं भी सामुयेल साहेब के पास जाता। उनकी बूढ़ी माँ भाई साहेब से जगन्नाथ-दर्शन करा लाने की लालसा प्रकट करतीं। शुद्धि की बाते उनके कानों तक भी पहुँची थी; किन्तु अपनी उस आन्तरिक इच्छा में एकलौते पुत्र की सहानुभूति तथा बहू का विरोध देखकर वह खीझती थी। उनका खयाल था, बहू न बाधा डालती तो हम फिर ब्राह्मण हो जाते। सामुयेल साहेब अपनी माँ की श्रद्धा का सम्मान करते, और उनसे बहुत प्रेम करते थे। उस वक्त मेरे दिमाग में यह नही समाता था, कि एक परिवार में भी माँ-बेटे ईसाई और हिन्दू दो धर्म रख सकते हैं। आर्यसमाज को मैं सार्वभौम धर्म समझता था, और विश्वास रखता था, कि अपनी सचाइयो के कारण यह भी विज्ञान की तरह एक दिन सारे संसार के समझदार और साधारण व्यक्तियों का धर्म हो जायेगा। जाति-पाँत, छूत-छात को उसमे बाधक देख, मैं उनके साथ जरा भी दया दिखलाने के लिए तैयार न था। मालूम नही, उस वक्त किसी मुसल्मान के साथ मुझे खाने का मोका मिला या नहीं, किन्तु आगरे ही मे बनारस के एक सर्वधर्म सहभोज की बात अखबारो मे पढ़ी। इस भोज मे पंडित केशवदेव शास्त्री जैसे आर्यसमाजी नेता भी शरीक हुए थे। आर्यसमाज के कई समाचारपत्र इसके खिलाफ लिख रहे थे, लेकिन मैं उसका बड़ा समर्थक था। भगवती भाई दूसरी विचारधारा के पोषक थे, और उनका कहना था, कि बिना शुद्धि के किसी गैर-आर्य के हाथ का खाना अच्छा नही। मैं कहता–यदि यही बात है, तो किसी हिन्दू–ब्राह्मण, क्षत्रिय के हाथ का भी तब तक खाना नही खाना चाहिए, जब तक वह शुद्ध न हो ले।

उस समय मैं आर्यसमाज के गर्मदली विचारों का समर्थक था, उसके सिवाय वेद के ईश्वरीय होने मे किसी को आपत्ति को मैं सहन करने के लिए तैयार न था। वेद मे रेल, तार, विमान की बात मुझे सच्ची मालूम होतीं, यद्यपि अभी तक मैंने उनकी पूरी छानबीन न की थी। आर्यसमाजी को अपने लिए हिन्दू कहना, मै शर्म की बात समझता था। आर्य-धर्म हिन्दू धर्म से उतना ही दूर है, जितना ईसाई और इस्लाम धर्म, यह मैं बराबर कहा करता। भारत पर आर्य-धर्म का विशेष अधिकार है। उसकी उन्नति और स्वतन्त्रता आर्य-धर्म और एक जातीयता की स्थापना से ही हो सकती है; इसके साथ मै यह भी समझता था, कि आज यद्यपि सभी धर्मानुयायियो का एक हो जाना असम्भव मालूम होता है, किन्तु आर्य-धर्म की सन्यता को रोका नही जा सकता। विज्ञान के साथ कुछ झूठे विज्ञान भी संसार मे खोटे सिक्कों की भाँति चल रहे हैं, ऐसे ही झूठे विज्ञानो मे डार्विन के विकासवाद को भी मैं समझता था। जब पंडित आत्माराम अमृतसरी की विकासवाद के खंडन पर लिखी पुस्तक मिली, तो मुझे बड़ी खुशी हुई। संसार के बनाने के लिए एक सृष्टिकर्ता, ईश्वर की जरूरत है (जन्माद्यस्य यतः। वेदान्त सू. 1/1), और वह ईश्वर मनुष्य-निर्माण के साथ उसे अपना ज्ञान भी जरूर देगा, इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आरम्भ ही में हो जाता है; डार्विन के विकासवाद के अनुसार मनुष्यो का बन्दरों से जंगलियों तब सभ्य मनुष्यों तक मारे-मारे फिरते हुए ज्ञान का विकास करना, मेरे लिए ईश्वर की सत्ता पर भारी आघात था। इसीलिए वादविवाद होने पर मैं कहा करता, और बहुत पीछे तक–'यदि इनकार करना है, तो ईश्वर की सत्ता से पहिले इनकार करो। यदि ईश्वर है, तो उसने सृष्टि के आरम्भ ही में सूर्य की भाँति एक ज्ञान-सूर्य भी दिया होगा, जिसमें उसकी सन्तानें भटकने न पायें। और वह ज्ञान-सूर्य संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है।'

जाड़ों के साथ मेरी पढ़ाई भी समाप्ति पर पहुँच रही थी। भाई रामगोपाल उपदेशक बनकर कर्नाल चले गये थे। विद्यालय के नये निकलनेवाले विद्यार्थियो मे मुझसे विद्यालयवाले ज्यादा आशा रखते थे। पढ़ाई-लिखाई, खाने-पीने का निःशुल्क प्रबन्ध करके विद्यालय का अधिकार था, मुझसे कम से कम कुछ वर्षों के लिए सेवा लेने

का। पढ़ाई के बाद जब प्रबन्धकों की ओर से कहा गया, कि अब आर्यसमाज और विद्यालय के लिए कुछ काम करो, तो मेरा उत्तर था–'आर्यसमाज का काम मैं करना चाहता हूँ, किन्तु आज की टुटपुँजिया अवस्था में मैं उसे ज्यादा नहीं कर सकता। मुझे सफलतापूर्वक काम करने के लिए अभी कुछ और पढ़ने की जरूरत है।'

मेरे पत्रों ने यागेश के लिए फिर छूत की बीमारी पैदा की, और वह मेरे आगरा से प्रस्थान करने से पहिले ही मुसाफिर विद्यालय में दाखिल हो गये थे।

3

लाहौर के लिए (1916 ई.)

आगरा में ही तय कर लिया था, आगे संस्कृत पढ़ने का, और लाहौर मे। सैर की स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने अस्तित्व को भुलाने देना नहीं चाहती थी, इसलिए सीधे लाहौर जाने की जगह कुछ घूमते-घामते जाना था। भगवती भाई से उनके गाँव कोटा का नाम सुना था। भाषा-तत्त्व से अभी मेरा कोई परिचय न था तो भी मैं लालायित रहता था ऐसी जगहों को देखने तथा वहाँ के लोगों से बात करने के लिए, जहाँ की साधारण जनता हिन्दी बोलती है। हम लोग पढ़कर हिन्दी बोलते थे, और उसमें वह सजीवता, वह लचक न थी, जो कि जन्म से हिन्दी बोलनेवालों की भाषा में होती है। मुरादाबाद के सारस्वत, खत्री व्यक्तियों और परिवारों की भाषा में मुझे खास विशेषता मालूम होती थी, लेकिन मुरादाबाद की साधारण नगर और ग्राम की जनता हिन्दी नहीं बोलती, कोटा ऐसा गाँव था, जहाँ के लोग वस्तुतः उस हिन्दी को बोलते थे, जिसके परिष्कृत रूप को हम किताबों में पढ़ते, तथा अपने व्यवहार में लाते हैं। मुरादाबाद के पाठकजी की प्रारम्भिक संगति से मैंने अपनी भाषा की त्रुटियों को परखा था, उच्चारण में सेकड के हजारहवे हिस्से तथा उच्चारण स्थान के सूत भर के अन्तर से भाषा की स्वाभाविकता, कृत्रिमता, तथा वक्ता के वासस्थान का पता लग जाता है, यह मुझे कलकत्ता के पहिले दूसरे प्रवासों ही में मालूम हो गया था। अपने प्रयत्नों से भाषा के उच्चारण में कितनी सफलता मैंने प्राप्त की यह मुझे नहीं मालूम–आखिर अपने चेहरे की तरह अपने स्वर को भी कोई देख नहीं सकता, जिस वक्त मन उच्चारण के प्रयत्न मे व्यस्त रहता है, उस वक्त श्रोता से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। दर्पण की तरह कोई अपने उच्चारण का ठीक प्रतिबिम्ब (प्रतिध्वनि) सामने रख सके, तब शायद असलियत को समझा जा सके। शब्दों के प्रयोग में भी मैं ध्यान रखता था, क्योंकि भिन्न-भिन्न जगहों में घूमने से मुझे मालूम था, एक जगह का कोई बहुप्रचलित शब्द भी दूसरी जगह अज्ञात हो सकता है। हमारे मुरारी भाई अक्सर ऐसी गलतियाँ कर बैठते थे, भगवती झट इसके लिए उन पर हमला कर बैठता, फिर इस ग्राम्य दोष को हटाने के लिए मैं संस्कृत के प्रतिशब्द ढूँढ़ निकालने की कोशिश करता। जो शब्द शुद्ध या अपभ्रंश रूप में संस्कृत में मौजूद हो, उसके प्रयोग पर कौन आक्षेप करने की हिम्मत कर सकता है ?

भाषा सुनने से भी ज्यादा कोटा जाने की इच्छा भगवती भाई के घर को देखने तथा फागुन के होलों के खाने के लिए थी। खुर्जा रास्ते में पड़ा था, और बुलन्दशहर भी, किन्तु दोनों जगहों में मेरे देखने के लिए कोई खास आकर्षण न था। दोपहर के पहिले कोटावाले स्टेशन पर उतरा। कोटा वहाँ से कुछ मील पर है। रास्ता पगडंडी का था, और लोगों से पूछ-पूछकर जाना था। नहरों के पानी से नीचे गेहूँ के खेतों में बड़ी-बड़ी बालें लगी हुई थीं। चारों ओर हरियाली, और कहीं-कहीं पक गई मटर के पीले पौधों का फर्श बिछा मालूम होता था। अन्न सर्वोपरि धन है, अन्न को देखकर जितना चित्त प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है, उतना और किसी चीज से नहीं, इसका ज्ञान फागुन में पकी तथा पकने को तैयार फसल को देखकर ही होता है। और होला ? –क्या दुनिया में इससे मधुर कोई खाद्य हो सकता है ? मटर, गेहूँ, जौ या चने के हरे दानों समेट डंठलों को सूखी पत्तियों से भून डालिये, फिर मिल जाये तो एक साथ पिसे नमक और हरी मिर्च के साथ, अथवा अकेले ही गर्मगर्म हाथ

से मसलकर खाना शुरू कीजिए—यह नियामत है ! बहिश्त का मन्ना और देवताओं का अमृत भी इसका मुकाबिला नहीं कर सकते।

रास्ता खेतों में से था, शायद जहाँ चल रहा था, वहाँ मुसाफिरों ने जबर्दस्ती खेत के भीतर से रास्ता बना लिया था। एक बार बन गये रास्ते—चाहे वह किसी की वैयक्तिक सम्पत्ति पर ही क्यों न बना हो—पर जाना हर एक पान्थ के लिए विहित है। लम्बे गेहूँ के पौधों की आड़ से यकबयक एक युवती आ सामने खड़ी हो गई। उसने कड़खती हुई आवाज में पूछा—

'किंघे जायेगा ?'

स्त्री की आवाज इतनी कडी हो सकती है इसका मुझे कभी अनुमान भी न हुआ था। मालूम होता है, शब्द नहीं एक साथ दस-दस लाठियाँ कानों के पर्दे पर पीटी जा रही हैं। पहिले सोचा, शायद मैं उसके खेत के भीतर से जा रहा हूँ, इसलिए नाराज हो रही है। लेकिन इसमें मेरा क्या दोष ? रास्ता पहिले से बना हुआ है। रोकना था, तो काँटे से रूँघ क्यों नहीं दिया ? और अब फसल के कटने के वक्त रास्ता रोकने से ही कौन-से नये पौधे बालें लिये फूट निकलेंगे ?

'कोटा जा रहा हूँ।'—कहकर बड़ी नर्मी से मैंने उस तरुणी को उत्तर दे दिया। उसका चेहरा उसके शब्दों की तरह कर्कश न था। अठारह वर्ष की अवस्था में तो जानकारों के कथनानुसार 'गर्दभी ह्यप्सरायते', किन्तु वहाँ तो सौन्दर्य की काफी मात्रा थी। लहँगा, ऊपर ओढ़नी, बदन में चोली थी। ओढ़नी शिर पर से होते पीठ पर पड़ी थी—चोली से गोल गोल स्तन फूट निकलना चाहते थे। उसके चेहरे पर नजर रखे, उसके वाक्य तथा स्वर की प्रतिध्वनि को अब भी सुनते तथा विचार करते मैंने कोटे का रास्ता पूछा। उस तरुणी की आकृति, उसके चेहरे के इगित को प्रकट करने के लिए, बल्कि अनुभव करने के लिए मुझे हाल की 'गाथा-सप्तशती' का ध्यान आने लगा। प्राकृत तो उतना नहीं जानता था, किन्तु संस्कृत-छाया के साथ मैंने उसे पढ़ा था। मुझे विश्वास था, कि वहाँ शायद इस मौके की कोई गाथा जरूर होगी, किन्तु इस सचाई को सिद्ध करने का कभी मौका नहीं मिला। स्वस्थ्यपूर्ण यौवन का साकार स्वरूप वह अहीर युवती, सालों के बीतने पर भी अधिक आकर्षक बनती गई। यह स्थान कोटा से बहुत दूर न था।

भगवती भाई कोटा में नहीं थे, मालूम नहीं माणिक उस वक्त कहाँ थे। भगवती के पिता भी मेरे पिता की भाँति दो भाई थे। मेरी तरह भगवती की माँ भी पहिले मर चुकी थी, और मेरी तरह उनकी भी एक चाची थीं, जिनका बर्ताव भतीजों के साथ अच्छा होता था। भगवती उम्र में शायद मुझसे थोड़े बड़े थे—बड़े न भी हों, किन्तु मैं उनको बड़ा भाई बनाए हुए था, आखिर हर एक आदमी नफे का ही काम करता है, भाभी पाने में नफा है, या अनुजबधू, जिस पर भूल से नजर पड़ जाना भी पाप है; और कहीं गलती से भी बदन छू गया, तो यमराज भी अपने यहाँ शरण न देंगे। भगवती भाई होते तो शायद भाभी साहिबा के दर्शन किसी तरह हो भी जाते—शायद ही कहता हूँ; क्योंकि चौबीस बरस पहिले क्या, आज भी तरुण दम्पति बुजुर्गों के सामने कितना स्वातन्त्र्य रखते हैं, यह हमें मालूम है। हाँ, भाभी के हाथ की रोटिया खाईं, बड़ी मीठी थीं। एक दिन मक्के की रोटी बनी थी, मुझे गुमान भी नहीं हो सकता था, कि मक्के का आटा इतना बारीक और उसकी रोटी इतनी मीठी हो सकती है। भाभी की वे रोटियाँ अब भी याद हैं, किन्तु पीछे यह जानकर अफसोस हुआ, कि घूँघट की ओट से चकले पर चलनेवाले वे हाथ अब इस दुनिया में नहीं रहे।

होली के दिन थे, रात को फाग गाने की बहार थी। आर्यसमाज की बीमारी गाँवों में पहुँच रही थी, और संयम-नियम के नाम पर जनता के मनोरंजन के हर तरीके पर कुठाराघात किया जा रहा था—फाग अश्लील है, इसे नहीं गाना चाहिए; नाचना असभ्यो और रंडियों का काम है, उसके पास तक नहीं फटकना चाहिए। किसी समय गाँवों की अधिकांश जातियाँ—स्त्री-पुरुष दोनों ऐसे मौकों पर गाते-नाचते थे, किन्तु वे बातें अब विस्मृति के गर्भ में विलीन होती जा रही थीं। तो भी कोटा से फागुन की यह सारी बहार लुप्त नहीं हुई थी; मैंने क्या देखा इसकी स्मृति नहीं।

कोटा में आकर होले खूब खाये। भगवती भाई के बालसंघातियों के साथ खेतों में ही अधिक समय व्यतीत

करता। मुझे नही खयाल, कि क्या मैंने अपनी उपदेशकी का जौहर दिखलाने की वहाँ जरा भी कोशिश की। होली के एक या दो दिन बाद मैंने कोटा छोडा। पैदल सिकन्दराबाद गया, एक रात गुरुकुल मे ठहरा। शर्माजी (पडित मुरारीलाल) का शायद देहान्त हो चुका था।

सिकन्दराबाद से सीधे दिल्ली गया। किला, कुतुब तथा कुछ दूसरे दर्शनीय स्थानो को देखा, और रेल से सीधे गुड़गाँवा को रवाना हुआ। वृन्दावन गुरुकुल के वार्षिकोत्सव मे सोहना के एक सज्जन मिले थे, उन्होने अपने यहाँ के गर्म पानी के चश्मो तथा पहाडो का वर्णन किया था, बस उसी के देखने के लिए लाहौर के रेल-पथ को छोडकर इधर-उधर बहक रहा था। गुडगाँवा से सोहना को पक्की सडक गई है। सोहना पहुँचने पर अब भी खेतो मे हरे गेहूँ खडे थे। जाडा था, गर्म चश्मे मे नहाने का मजा था। मालूम नही, वृन्दावन मे मिले सज्जन से मुलाकात हुई या नही, किन्तु ज्यादातर ठहरा एक ब्राह्मण पहलवान के यहाँ; जिनकी एक छोटी-सी दूकान थी। वह दिल्ली षड्यन्त्र केस के अभियुक्त गणेशीलाल 'खस्ता' के मामा थे, इसलिए मुझे ज्यादा सन्निकट मालूम होते थे। उनके खानो मे गाजर का अचार और उसका रस मुझे अब भी स्मरण आता है। सोहना अच्छा कस्बा है। इसके आसपास के इलाके मे मेव लोग बसते हैं, जो प्रायः सबके सब मुसल्मान हैं। कस्बे के पास के पहाड पर बादशाही वक्त का एक उजाड किला है, जिसके अनगढ पत्थरो के बुर्ज और दीवारे अब भी खडी थी। पहाड छोटे-छोटे हैं, और उन पर जहाँ-तहाँ बस्तियाँ हैं। एक दिन किसी के साथ मैं एक मेव मौलवी के यहाँ गया, आसपास मे एक अच्छे ईश्वरभक्त के तौर पर उनकी बहुत ख्याति थी। बल्कि वह उतने मौलवी न थे, जितने कि एक 'भजनानन्दी सूफी।' हिन्दू भी उनका बडा आदर करते थे, और वह हिन्दुओ के पीने खाने के लिए अलग बरतन रखे हुए थे। इस्लाम और कुरान को पढकर मैं अभी नया-नया पहलवान बना था, और बहस का कोई मौका निकाल लेने की ख्वाहिश रखता था, किन्तु उक्त वृद्ध इसके लिए तैयार न थे। उन्होने शायद इसके लिए किसी दूसरे मौलवी का नाम बतलाया। मुझे बडे सम्मान से बैठाया, कितनी ही देर तक बाते करते रहे। बहस करने की साध तो मेरी नही पूरी हुई, किन्तु मैं अपने मेजबान की भद्रता मे बहुत प्रभावित हुआ। लौटते वक्त शाम को हम एक कूएँ पर पहुँचे, जिसके पास एक धर्मशाला थी। सैकडो हाथ की गहराई मे पानी का नहीं देखा होता, तो मुझे विश्वास न होता कि एक कूएँ के बनवाने मे हजारो रुपये लग सकते है।

सोहना से फिर मैं पैदल ही गुडगाँवा को लौटा। रास्ते पर किसी शिक्षित सज्जन का एक अच्छा खासा बँगला या मकान था। उनसे बातचीत हो गई, उन्होने आग्रह किया खाकर जाने का। आखिर दोपहर का खाना कही खाना ही था। वहीं पहिले-पहिल पजाबी खाना खाया। खीर, फुलके, कोलिया (कटोरियो) मे प्याज के साथ घी मे तुडकी तरकारियाँ (भाजियाँ), और शायद दही की लस्सी थी। सज्जन पजाबी न थे। गुड़गाँवा आदि अम्बाला कमिश्नरी के जिले भाषा के खयाल से युक्तप्रान्त के साथ सबध रखते हैं, किन्तु पजाब प्रान्त मे रहने से शिक्षितो की वेषभूषा तथा खान-पान पर पजाब का असर पडा है।

दिल्ली होता थानेसर आया। रामगोपाल भाई यहाँ उपप्रतिनिधि-सभा की तरफ से आर्यसमाज का प्रचार करते थे। उनसे भेंट करना, थानेसर-कुरुक्षेत्र को देखना, यहाँ आने का खास मतलब था। कुरुक्षेत्र गुरुकुल मे भी हो आया, उस वक्त पडित विष्णुदत्त उसके मुख्याधिष्ठाता थे। यद्यपि मुसाफिर विद्यालय के कर्णधारो का कागडी गुरुकुल से झगड़ा हो गया था, और उनकी सहानुभूति महाविद्यालय ज्वालापुर के अनुकूल तथा गुरुकुल कागडी के विरुद्ध थी; वहाँ गुरुकुल को बुद्धू पैदा करने की फैक्टरी बतलाया जाता था; तो भी मेरी उसके साथ सहानुभूति थी। आखिर वेद और विज्ञान की पूर्ण शिक्षा का कोई स्थान तो होना चाहिए ?

रामगोपाल भाई के साथ शाहाबाद भी गया। लाला रामप्रसाद का व्याख्यान आगरा मे सुन चुका था। महात्मा हसराज की कुर्बानी का जिस तरह चित्रण उन्होने अपने उस व्याख्यान मे किया था, उसका मुझ पर भारी प्रभाव पड़ा था। आजकल लालाजी घर पर ही थे। रामगोपालजी के साथ मैं भी उनके पास गया, किन्तु मेरे बारे मे उन्हे एक साधारण अर्द्धशिक्षित तरुण के सिवाय और क्या खयाल हुआ होगा।

शाहाबाद से रामगोपाल भाई को थानेसर लौट जाना था, और मुझे जाना था लाहौर। मेरे रुपये खतम हो चुके थे, और लाहौर तक का टिकट कटाकर दो-चार रुपये दे देना, रामगोपाल भाई के लिए खुशी की बात थी—हम

लोगों की घनिष्ठता साधारण मित्रों जैसी नहीं थी। थानेसर आने में उन्होंने मेरी सम्मति ली थी। वह नौकरी करके परिवार चलाने यहाँ नहीं आये थे, बल्कि पत्नी को कुछ पढ़ा-लिखाकर मुक्त हो वैदिक मिश्नरी के गम्भीर कर्तव्य को पालन करने की अगली तैयारी के लिए आये थे।

आगरा से रवाना होते वक्त, 'मुसाफ़िर' के मैनेजर कुँअर बहादुरसिंह से मैंने लाहौर के उनके दो परिचितों के नाम पत्र लिखवा लिये थे। कुँअर बहादुरसिंह भी सैलानी तबियत के आदमी थे। सिन्ध में कितने ही समय तक रहे, फिर 'मुसाफ़िर' में चले आये। पिछले ही साल सुखलाल के व्याख्यानों से उत्तेजित हो उनके जिले जालौन के कोंच कस्बे में मुसलमानों ने उन पर हमला कर दिया था, जिसमें उनको बहुत चोट आई थी। उन्होंने एक चिट्ठी 'आर्यगजट' के सम्पादक महाशय खुशहालचन्द 'खुर्सन्द' के लिए दी थी, और दूसरी हाल में ही बुंदेलखंड की एक राजपूत विधवा से शादी करनेवाले एक तरुण-पंजाबी के लिए, जो किसी दफ्तर में शार्टहैंड-राइटर और टाइपिस्ट थे। स्टेशन से उतरकर पहिले अनारकली आर्यसमाज में गया, शायद उसी दिन 'खुर्सन्द' साहेब से मुलाकात हो गई, किन्तु पहिले चन्द दिनों मैं टाइपिस्ट महाशय के यहाँ मोरी दरवाजे के भीतर के एक अँधेरे घर में रहा। वहाँ की एक घटना याद है। घर की मालकिन बुंदेलखंडी महिला को पंजाब में आये अभी पाँच-छै ही महीने हुए थे; किन्तु इतने ही में, मालूम होता था, वह अपनी भाषा के कितने ही शब्दों के प्रयोग को छोड़ चुकी थीं। उन्होंने कहा—'दो पैसे की पकौड़ी लेते आवें, बताऊँ की।'

मैं वाक्य के अन्तिम अंश को सुनने की प्रतीक्षा करने लगा। उन्होंने फिर कहा—"हाँ, जाइए न, दो पैसे की पकौड़ी लाइए दरवाजे के बाहर से, बताऊँ की।"

कहीं बेवकूफ़ न समझा जाने लगूँ, इसलिए मैंने और इन्तिजार करना पसन्द नहीं किया, और 'अच्छा' कह मैं वहाँ से चला गया। सोचा श्रीमती की फ़र्माइश पकौड़ी की है, 'बताऊँ की' ऐसे ही दो बार मुँह से निकल आया, वाक्य तो उतने ही से पूरा हो जाता है। मैंने प्याज की पकौड़ियाँ खरीदीं, और लाकर उनके सामने रखा। उन्होंने आश्चर्य के साथ कहा—"यह क्या ? मैंने तो बताऊँ की पकौड़ियाँ मँगाई थी।"

"बताऊँ क्या बला है ?"

"अरे बैगन, बैगन।"

मन में कहा—'देशी बुढ़िया मराठी बोल' इसी को कहते हैं। लेकिन उनकी अपेक्षा मैं अपने पर ज्यादा गुस्सा हुआ। सन्देह था, तो संकोच छोड़कर पूछ क्यों नहीं लिया। मैंने अफ़सोस जाहिर करते हुए कहा—"माफ़ कीजिए, बताऊँ का मतलब मुझे समझ में नहीं आया।"

"नहीं कोई बात नहीं, मुझसे ही गलती हुई।"

4

आर्यसमाज के गढ़ लाहौर में (1916 ई.)

महाशय खुशहालचन्द 'खुर्सन्द' का उस वक्त का तरुण-चेहरा मुझे याद है। वह सचमुच 'खुर्सन्द' (प्रसन्न) थे। कभी मुहर्रमी सूरत तो उनकी मैंने देखी नहीं। हँसी की मृदुरेखा तो चौबीसों घंटे मानो उनके ओठों पर नाचती रहती थी। 'नमस्तेजी महाराज' कहने का उनका ढंग, तथा 'खुर्सन्द तो हैं ?' कहकर खैरियत पूछना एक बिलकुल खुलेदिल दोस्त की अपनी निराली अदा का सबूत देते थे। उस वक्त 'आर्यगजट' का आफ़िस आर्यसमाज-मन्दिर के हाल की बाईं कोठरी में था, वहाँ 'खुर्सन्द'जी रहते थे। मैं भी जब तक वैदिक-आश्रम में भरती नहीं हो गया, तब तक आर्यसमाज में ही ऊपरवाले कोठे पर रहता था। 'खुर्सन्द'जी ही लाहौर में मेरे प्रथम परिचित व्यक्ति बने। मैं बेयार-व-मददगार उस बड़े शहर में आया था। इसमें शक नहीं, ऐसी यात्राएँ मैं कई सालों से कर रहा था, इसलिए मेरे पास हिम्मत काफ़ी थी; किन्तु, 'खुर्सन्द'जी ने जिस तरह शुरू ही से सहायता और प्रोत्साहन दिया,

उससे लाहौर परदेश नहीं रह गया। 'पैसा अखबार' के सामनेवाली पाँती में एक छोटा-सा वैष्णव-होटल था, जिसमें वह खाने जाया करते थे। वह मुझे जरा भी संकोच का अवसर दिये, दबोचकर वहीं खाना खिलाने ले गये। अपने घी के डब्बे की चाभी दुहरी करके एक मेरे हवाले की–'हम लोग साथ न आ सके, तो यह डब्बा है, घी निकालकर खाना खा जाया कीजिये।' स्मरण रखना चाहिए, उस वक्त के 'खुर्सन्द' आज के 'रोजाना मिलाप' के स्वामी और सम्पादक नहीं थे, बल्कि उन्हे प्रादेशिक-प्रतिनिधि-सभा के 'आर्यगजट' के निर्वाह मात्र के लिए कुछ रुपये मिला करते थे।

सप्ताह के भीतर ही मैं डी. ए. वी. कालेज के सस्कृत-विभाग मे भरती हो गया। विशारद श्रेणी मे नाम लिखा गया। पडित भक्तराम वेदतीर्थ, पडित नृसिंहदेव शास्त्री हमारे अध्यापक थे। आर्यसमाज भवन में मैं ज्यादा दिनो तक नही रह सका, और थोडी ही देर बाद एक छात्रवृत्ति के साथ कालेज के छात्रावास 'वैदिक-आश्रम' मे दाखिल कर लिया गया। उसके आस ही पास डी. ए. वी. कालेज के होस्टल मे रसोइयो को पढ़ाने का काम मिल गया। दोपहर को एक घटा जाना पडता, और दस या बारह रुपये मिल जाते, जो खाने के ऊपर के खर्च के लिए जरूरत से ज्यादा थे।

आगरा छोडते वक्त यह नही मालूम था, कि बलदेव चौबे भी वैराग्य के फदे मे फँस लाहौर पहुँच गये हैं। हाँ, किन्तु उनका वैराग्य सिर्फ इसी बात का था, कि आत्मिक उन्नति–तत्त्वज्ञान–के लिए सस्कृत पढ़ने की जरूरत है, अग्रेजी बिलकुल बनियापन की विद्या है। वह अनारकली मे वशीधर के मन्दिर मे रहते, किसी छत्र मे खाना खाते और लघुकौमुदी पढते हैं। मैंने आते ही उनके निर्णय पर चोट पहुँचानी शुरू की–'सस्कृत पढ़िए अच्छा है, किन्तु मेट्रिक मे नाम भी लिखवा लीजिए।' नये वर्ष से वह डी. ए वी हाई स्कूल के दसवे दर्जे म दाखिल हो गये। वशीधर के मन्दिर मे बलदेवजी के साथ एक दूसरे तरुण मिस्टर कनकदडी वेंकट सोमयाजुलु भी रहते थे, हम लोग उन्हे मिस्टर कहा करते। वे भी हमारे लाहौर के घनिष्ट मित्रो मे थे। उन दोनो मित्रो के कारण अक्सर मैं वशीधर के मन्दिर मे जाया करता। उस वक्त मन्दिर के मालिको ने उसे बिलकुल व्यवसाय का जरिया नही बनाया था। वशीधर महाराजा रणजीतसिह के पुरोहित-वशी थे। मन्दिर के साथ सड़क पर कुछ दूकाने थी, जिनका अच्छा किराया आता था। भीतर के दो-तीन कमरे, कोठरियाँ और बराडे सस्कृत पाठशाला तथा विद्यार्थियो के लिए थे। बलदेव और सोमयाजुलु एक बराडे मे रहते, सामान रखने के लिए शायद दीवार मे दो आलमारियाँ थी। गर्मी के दिनो मे साफ चिकने सगमरमर के फर्श पर बैटने-लेटने मे अच्छा लगता था। वहीं हम लोगो का घटो अपने भविष्य, देश के भविष्य और आर्यसमाज के काम पर बाते हुआ करती। इन बातो में एक चौथे दीवाने मोहनलालजी शामिल हो जाया करते थे। इन्ही बातो के सिलसिले मे तय हुआ कि बलदेवजी बहिन महादेवी को लाकर कानपुर मे किसी शिक्षण-सस्था मे दाखिल कर दे। यही पहिले-पहिल पडित सन्तराम से मुलाकात हुई, जिसने आगे चिरस्थायी मित्रता का रूप धारण किया। पीछे भाई महेशप्रसादजी और रामगोपालजी के आ जाने पर तो वशीधर का मन्दिर हम सभो का सम्मिलन-मन्दिर हो गया।

मुसाफिर विद्यालय मे प्रवेश, भाई महेशप्रसाद की सगति और महायुद्ध ने मिलकर मेरे सामने एक विशाल जगत् रख दिया था। आगरा मे रहते ही वक्त कानपुर से श्री गणेशशकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' निकाला था, अथवा कम से कम मेरा उससे परिचय उसी वक्त हुआ। उसके बाद तो अक्सर मैं उसे पढ़ा करता था। यहाँ लाहौर से उर्दू के कई दैनिक पत्र 'देश', 'बुलेटिन', 'पैसा अखबार' आदि तथा 'ट्रिब्यून' अग्रेजी मे निकलते थे। मैं अब अखबारों का आदी हो गया था। अच्छी तरह न समझने पर भी 'लीडर' पर जो साल-भर आगरे में भिडा रहा, उसका फल अब मिलने लगा था, और अग्रेजी पत्रो से भी मुझे समाचारो के जानने का सुभीता था। अखबारो को इत्मीनान से पढने के लिए प्रायः रोज ही मैं 'गुरुदत्तभवन' पहुँचता। हिन्दी-उर्दू की राजनीतिक पुस्तकें शायद पढ़ चुका था, इसीलिए इस समय उनके पढने मे समय नहीं जाता था, किन्तु साथ ही अब डी. ए. वी. कॉलेज और कॉलेज आर्यसमाज के मनस्वी विद्वानों पडित भगवद्दत्त और पडित रामगोपाल शास्त्री के सम्पर्क मे आने का मौका मिला। खासकर, पंडित भगवद्दत्त की लगन और अन्वेषण-प्रेम ने मेरे हृदय में उसकी ओर एक प्रेरणा पैदा की, यद्यपि अन्वेषण के तरीके आदि के सम्बन्ध में उनसे सीखने का मुझे मौका नहीं मिला। पंडित ऋषिराम

और प्रोफेसर रामदेव एम. ए. उस समय बी. ए. के विद्यार्थी थे, और वैदिक साहित्य तथा आर्यसमाज के कामों में खास दिलचस्पी रखते थे।

आचारियों के अति-संकीर्ण तथा वैरागियों के अपेक्षाकृत उदार तो भी संकीर्ण वायु-मंडल से निकलकर आर्यसमाज में आने पर मुझे मानसिक विचार-स्वातंत्र्य का मूल्य मालूम होने लगा। मुसाफिर विद्यालय में 'करोड़ों वर्षों से स्थापित आचार, धर्म-सम्बन्धी परम्परा पर भी हम खुली तौर से नुक्ताचीनी कर सकते थे। 'यस्तकणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः' के महामंत्र को सुनकर मेरा रोआँ-रोआँ आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द के प्रति कृतज्ञ था। अब भी सीधे वेद के पढ़ने और उस पर विचार करने का मौका नहीं मिला था, तो भी जो कुछ जानता या सुन चुका था, उस पर मुझे विश्वास था—आर्यसमाज के सिद्धान्त ध्रुवसत्य हैं। मैं निस्सन्दिग्ध रूप से जानता था, कि मुझे अपना जीवन आर्यसमाज के प्रचार में समर्पित करना है। एक दिन मैंने स्वामी दयानन्द के प्रति अपने उद्‌गार को प्रकट करते हुए कह दिया था—'मैं दयानन्द के एक-एक वाक्य को वेदवाक्य मानता हूँ।' पंडित भगवद्दत्त ने सहमत होते भी कहा—'इतनी जल्दी न कीजिए। पहले पढ़कर देखिए तो।'

हमारे संस्कृत-विभाग के विद्यार्थियो में पंडित ईशानन्द और पंडित तुलसीराम भी थे। तुलसीराम के अध्यवसाय को मैं बहुत सराहनीय समझता था। किसी वक्त मजदूरी करने वह पंजाब से पूर्वी अफ्रीका के केन्या प्रदेश में पहुँचे थे। शायद मिस्त्री का काम करते थे। वहीं आर्यसमाज के सम्पर्क में आये। पढ़ने की इच्छा बलवती हुई। काम छोड़कर लाहौर पहुँचे, और नीचे से शुरू करके आज शास्त्रिश्रेणी के अच्छे विद्यार्थियों में थे। ईशानन्द के पिता गुरुकुल विरालसी के प्रधान स्तम्भ थे। ईशानन्दजी पहिले वहीं पढ़े। काशी के व्याकरणाचार्य के एक खंड भी वह पास थे, और अब शास्त्री परीक्षा देनेवाले थे। मेरी अपनी विशारद श्रेणी में रामप्रताप, देवदत्त-द्वय, यशपाल तथा पंडित भक्तराम के छोटे लड़के थे। रामप्रताप पढ़ने में भी अच्छे, तथा उन मजाकपसन्द लड़कों में थे, जो अपनी हँसी को ओंठों की सीवन में छिपा सकते थे। उनके मजाक का निशाना करारा लगता था, किन्तु पुरदर्द चोट नहीं पहुँचाता था। पंडित भक्तरामजी बूढ़े आदमी थे। आँखों से उन्हें बहुत कम सूझता था, और पढ़ने के लिए पुस्तक को आँख के बिलकुल पास ले जाना पड़ता था। संस्कृत के पंडित, उस पर बूढ़े, बात के फेर में जल्दी पड़ जानेवाले वैसे ही होते हैं, किन्तु यहाँ जिस दिन हम लोगो का पढ़ने का मन नहीं होता, तो रामप्रताप कोई बात चला देते, पंडितजी बहक जाते और दूसरी बातों में लग जाते। हमारा घंटा बस उसमें खत्म हो जाता। कभी-कभी पंडितजी को हम लोगों की चालाकी मालूम हो जाती, फिर उनकी टिप्पणी शब्दों में नहीं बल्कि पतली छँटी मूँछों के ऊपरी खिंचाव और उससे भी ज्यादा गालों पर छलकती हँसी के रूप में प्रकट होती थी। यशपाल उन विद्यार्थियों में थे, जो भूल-भटककर विद्याकुंज में चले आते हैं। उनमें प्रतिभा का अभाव नहीं था, किन्तु उनका मन पढ़ने में बिलकुल नहीं लगता था। वह एक रँगीली तबियत के ऐसे तरुण थे, जिनकी धारणा होती है, जीवन को बस हँसी-खुशी में बिता देना चाहिए। ऐसे आदमियों को अपनी एकतरफा धारणा पर जबर्दस्त थपेड़ा लगने का डर रहता है, और उस अवस्था में वे अपनी किश्ती का बैलंस ठीक नहीं कर पाते। यशपाल को एक बार कोई ऐसी ठेस लगी, कि उसने अफीम खा ली थी, खैर, जान बच गई। कोई अनिष्ट होने पर हम लोगो को साधारण आघात नहीं लगता। यशपाल अपने सहपाठियों में हर दिल-अजीज तरुण था, वह हमारे मजलिस की जीनत था। उसके भाई श्रीरामदासजी होशियारपुर, डी. ए. वी. हाई स्कूल के हेडमास्टर थे, और उनकी बड़ी इच्छा थी, कि यशपाल अच्छा संस्कृत पढ़ जाये। यशपाल महीने-भर के लिए मिले खर्च को हफ्ते से ज्यादा तक चलाने को पाप समझता था।

देवदत्त दो थे—गोरे, छोटे। गोरे देवदत्त पतले छरहरे बदन के थे, उनका रंग यदि पश्चिमी यूरोपियन की तरह नहीं तो पूर्वी यूरोपियन जैसा था। वह महात्मा हंसराज के जन्मस्थान (बेजवाड़ा) के निवासी थे। पुरानी स्मृतियों में यह दोष है, कि पहिले की पड़ी मुहर पर नई मुहर पड़ जाने या फोटो फिल्म के दुहरा एक्सपोजर की तरह उनका अंकन अस्पष्ट हो जाता है, जब उन पर कोई नया ठप्पा लगता है। देवदत्त से कई वर्षों पीछे भी मुझे मिलने का मौका मिला, जब कि वह शास्त्री करके बी. ए. में पढ़ रहे थे, इसलिए उन आरम्भिक दिनों की बातों की स्मृति क्षीण हो गई। वह ऐसे तरुणों में थे, जो किसी मजलिस में प्रधान पात्रों का पार्ट तो नहीं अदा करते,

किन्तु जिनके लिए मजलिस सफल भी नही हो सकती। छोटे देवदत्त के कानों में सोने का कुंडल था। हमारी श्रेणी में वह और रामप्रताप कुंडलधारी थे। उनका 'न ऊधो से लेना न माधो को देना था', तो भी सहपाठियो की मजलिस से बहिष्कृत होने लायक नहीं थे। शिवलालजी भी हमारे एक सहपाठी तथा गुड़गाँवा (हरियाना) जिले के रहनेवाले थे। वैसे हमारे सहपाठियों में मेरे सिवा और भी ठेठ गाँव के पैदायशी विद्यार्थी रहे होंगे, किन्तु हम सभी शहरी हो गये थे; शिवलाल ही ऐसे व्यक्ति थे, जिसमें कच्चे नौतोड़ खेतो की गन्ध आती थी। वह दाल को दाल्ल, काला को काल्ला बोला करते।

अभी संस्कृत-विभाग की पढाई डी. ए. वी. कॉलेज-हाल के ऊपरी कोठे पर हुआ करती थी। हम लोग वैदिक-आश्रम जाते वक्त या तो देवसमाज की तरफ से जाते, या सेक्रेटरियट के भीतर से। वैदिक-आश्रम के फाटक से कुछ कदम पर ही अनारकली की कब्र थी। उसके इकहरे ईंट-चूने के गुम्बद को हम रोज देखते थे, और शायद यह भी सुना था, कि यही अपने समय की एक अद्वितीय सुन्दरी का बलात् जीवन से वंचित शरीर सो रहा है; उसका कसूर यही था, कि अकबर का युवराज सलीम अपनी आँखों से उसे निकाल नही सकता था। तो भी अनारकली की समाधि ने हमारे तरुण हृदयो मे कोई आकर्षण नही पैदा किया। कारण सिर्फ रसज्ञता से अनभिज्ञ होना ही नही हो सकता, बल्कि उस समाधि का सरकारी दफ्तर के एक अग के रूप मे परिणत होना भी हो सकता है। इसी समाधि के पीछे दोपहर को सेक्रेटरियट के कितने ही छोटे-छोटे नौकर नमाज पढ़ने आया करते थे।

शार्टकट से चलने पर हम देवसमाज से दूर तक फैले घरो से होकर गुजरते थे। शाम के वक्त उधर से जाने पर कितनी ही बार देवगुरु भगवान् (श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री) को हम ताँगे पर टहलने के लिए जाते देखते, कभी-कभी उनके साथ उनकी पत्नी भी होती, दोनो की उम्रों मे काफी अन्तर था। देवसमाज-सम्बन्धी दो-चार पुस्तकें भी मैंने पढ़ी थीं, उनके साप्ताहिक 'जीवनतत्' को कभी-कभी देखने का भी मौका मिला था, किन्तु देवसमाज और देवगुरु मेरे लिए मुअम्मा ही बने रहे। सुनता था, देवसमाज ईश्वर को नहीं मानता, इल्हाम को नही मानता विज्ञान को मानता है, विकासवाद को मानता है, योग को नही मानता, ध्यान को नही मानता, देवगुरु को विकास की सर्वोच्च विभूति मानता है; आचार-सम्बन्धी भूलो के लिए अपराध स्वीकार करने पर जोर देता है—इत्यादि। ये सब बाते मुझे परस्पर-विरोधी ही नही मालूम होती थी, बल्कि बाज वक्त मुझे मनुष्य की बुद्धि पर तरस आने लगता था। मुझे वह कुछ व्यक्तियों के मौज से जीवन निर्वाह की खुली दूकान मालूम होती थी।

रविवार के दिन हम लोग जलपान करके अनारकली समाज पहुँचते, और हवन मे खास तौर से हाथ बँटाते थे। हर सप्ताह किसी न किसी प्रोफेसर, पंडित या प्रभावशाली वक्ता का व्याख्यान होता। महात्मा हंसराज के उपदेश जोशीले न होते थे, किन्तु उनके सीधे-सादे शब्दों के पीछे पचीसों वर्षो के अद्भुत त्याग और तपस्या की जीवनी थी, जिसके कारण वे सीधे हमारे अन्तस्तल में पहुँच जाते थे। प्रोफेसर दीवानचन्द कभी-कभी पौर्वात्य-पाश्चात्य दर्शनो की तुलना करते, जिनमे हमारी जानकारी बढती। पंडित राजाराम शास्त्री के व्याख्यानो मे वेद और उपनिषद् के वाक्य बहुत होते, किन्तु उसका मेरे जैसो पर कोई असर नही होता, जिन्हे मालूम था, कि उन्होंने वृद्धावस्था में अल्पवयस्का कुमारी बालिका से शादी की है। जाति-पाँत के खिलाफ जो मनोभाव मुसाफिर विद्यालय मे मेरे हृदय में पैदा हुआ, वह स्थायी हो गया था। पंडित राजाराम के विचार इस विषय मे बहुत पिछड़े थे, यह मुझे मालूम था। पंडित भक्तरामजी तो कभी-कभी चिढ़ जाते, जब मैं जाति-पाँत का बुरी तरह से खंडन करने लगता। वे कह उठते—'कुल-कलंक',—वह जानते थे मैं ब्राह्मणवंश का हूँ।

आरम्भिक दिनो मे जिनके उपदेशों की मैं बहुत सराहना करता, उनमे स्वामी सत्यानन्दजी भी थे। आगरे मे एक बार वह मुसाफिर विद्यालय मे भी आये थे। लाहौर जाने पर एक दिन मै उनसे मिलने 'अमृतधारा' गया था, राय ठाकुरदत्त धवन उनके पास बैठे थे। गुरुकुलपार्टी-आर्यसमाज के दो पक्षो मे उस वक्त जोर का वैमनस्य चल रहा था, जिसमे अल्पमत पक्ष के नेता राय ठाकुरदत्त थे। मुझे याद है, किसी प्रकरण मे उन्होंने कहा था—

'बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा।'

स्वामीजी ने पढ़ने-लिखने के बारे में पूछा, चलते वक्त मेरे ना करने पर भी उन्होंने कुछ रुपये देते हुए कहा—"विद्यार्थियों को जरूरत रहती है।"

लाहौर की गर्मी आगरे से बढ़-चढ़कर ही थी, किन्तु अभी तक गर्मी में ठंडे रहनेवाले मुल्कों की हवा मुझे नहीं लगी थी, इसलिए वह उतनी असह्य नहीं मालूम होती थी। प्यास लगती थी, किन्तु बर्फ-बताशा डालकर बनी दही की लस्सी (लहस्सी) दुनिया का बेहतर पंय वहाँ मौजूद था, और उसके खरीदने के लिए मेरे पास पैसे भी थे। गन्ने की गडेरियाँ, नमक डाले छिले खीरे, फाल्सा और जामुन गर्मी की सख्ती को बहुत नरम कर देते थे। कितनी ही बार हम अपनी किताबों को लेकर नहरों से सीराब हरे-भरे बागों में चले जाते थे। सबेरे के वक्त कितनी ही बार बरगद के नीचे अपने अखाड़े में गामा को लड़ते देखा करते थे।

पंजाब के अधिकांश नर-नारियों के लम्बे-चौड़े शरीर को देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। मेरे पिता और नाना के घरों में नाटे कद के आदमियों का अस्तित्व न था, शायद इसलिए भी यह पक्षपात दिल में पैदा हुआ हो। पुरुषों के शिर के पट्टेदार बाल, और उस पर मेंहदी-रँगी कटी-छटी दाढ़ी नई चीज होते भी आँखों को खटकती न थी। किन्तु तरुण स्त्रियों की अमित घिरावेवाली जर्क-बर्क सलवार, ओढ़नी और शिर के पिछले भाग की नुकीली खोंप को मैं युक्तप्रान्त के भद्दे ओढ़नी-घाघरे का विस्तार समझता था। खासकर, रस्सी की तरह बट-बटकर बालों का गूँथना तो मैं, बालिकाओं के लिए सासत समझता था। दूध लेकर आनेवाले लम्बी तहमद, बड़ी पगड़ी बाँधे चौड़ी छाती के गूजरों से भी बढ़कर मैं पुरुषों ही की तरह चौड़ी बाँह के कुर्तों-तहमदों को पहिने कद्दावर गूजरिनों को देखकर प्रसन्न होता और कहा करता—ऐसे ही स्त्री-पुरुषों को हिन्दुस्तान में बच्चे पैदा करने का अधिकार होना चाहिए।

मई का महीना था, अभिलाष लाहौर आये। मुसाफिर परिवार के भाइयों को एक दूसरे से मिलने पर असाधारण प्रसन्नता के बहुत से कारण थे। और फिर अभिलाष के पास उड़ने के पर मुझे साफ दीखते थे। मैं चाहता था कि वह खूब उड़े, हाँ, अपनी दिशा में; मेरी उड़ने की एक खास दिशा थी, मैं नहीं चाहता था कि सभी उसी दिशा में उड़ें—साहस को मैं जीवन का सार समझता था। अभिलाष का कल-पुर्जों में बहुत मन लगता था। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब उसने बतलाया कि मैं मोटर ड्राइवरी सीखने आया हूँ। मोटर ड्राइवरी कोई बड़ी विद्या न थी, किन्तु उसे मैं आगे बढ़ने की सीढ़ी समझता था। उस वक्त अभी मोटरें और मोटर-ड्राइवर वैसे कम भी थे।

जून का, शायद, अन्त आ रहा था, जब कालेज गर्मी की लम्बी छुट्टियों के लिए बन्द होने लगा। छुट्टियों में लाहौर की गर्मी से सती होना मैंने पसन्द न किया। किसी साथी ने काँगड़ा चलने को कहा, किसी ने पंजाब के किसी गाँव में। ईशानन्दजी का प्रस्ताव हुआ, बिरालसी चलने का। मुझको उनका प्रस्ताव सबसे अच्छा जँचा, वहाँ मैं आमों का आनन्द ले सकता और पढ़ाई को भी जारी रख सकता था।

5

रास्ते की भूलभुलैया

ईशानन्द और मैं जब सहारनपुर में उतरे, तो वहाँ एकाध फुहारे पड़ चुके थे, और सहारनपुर में पके आम आ गये थे। सहारनपुर में एकाध दिन ठहरने की बात याद नहीं, यह भी याद नहीं कि बिरालसी हम किस स्टेशन से उतरकर गये। शायद थानाभवन कस्बा हमारे रास्ते में पड़ा था, पंडित भीमसेन यहीं पैदा हुए थे। ईशानन्दजी के पिता का नाम याद नहीं। और ठाकुरों से उनकी एक विशेषता यह थी, कि उनकी आँखें बिलकुल मंगोलों-जैसी थीं, वैसी ही जैसी कि ईशानन्द की थीं। लम्बे-चौड़े कद्दावर जवान थे। वह ऊँचे तबके के खेतिहर-जमींदार थे। काफी खेती होती थी, गायों-भैंसों का दूध इफरात था, बड़ी जाति की घोड़ी घर में पोसी हुई थी, जिसके ऊपर

रिसाले का नम्बर लगा हुआ था, और वह अच्छे डील-डौल के बछड़े पैदा करती थी। उनके पास एक अच्छा आमों का बाग था–शायद अनार-नासपाती का भी–किन्तु उस वक्त मुझे आमो से वास्ता था। आमो की फसल तक हमारी पढाई-लिखाई ताक पर ही रखी रही। बाग मे चले जाते, पककर गिरे हुए फलो के ढेर से चुनकर कुछ दर्जन आम पानी भरी बाल्टी मे डाल दिये जाते, और मैं, ईशानन्द तथा एक-दो नये बने तरुण साथी भी चारों ओर घेरकर बैठ जाते, किसी को यह परवाह नहीं थी, कि घर में हाथ जलाकर रोटियाँ भी पकाई जा रही हैं। ठाकुर साहेब जोर देते–आम खाकर दूध जरूर पीना चाहिए, फिर एक गिलास दूध किसी तरह गले से नीचे उतार लेता। रोटी खाना तो सिर्फ दिखाने के लिए था। ईशानन्द के घर मे मैं उनके परिवार के एक व्यक्ति की भाँति था। उनके ही साथ चौके मे खाने जाता। लडकियो का पायजामा पहना देखकर, मैंने समझा, युक्तप्रान्त के हिन्दुओ मे भी यह प्रथा सिर्फ मुसल्मानो तक ही सीमित नही है। ईशानन्द के कुटुम्बियो मे कुछ शिक्षा भी थी। ठाकुर रघुवीर सिंह (!) ग्रेजुएट थे और सरकारी नौकरी की तलाश मे थे। उनके छोटे भाई एफ. एस्-सी करके लखनऊ मे डाक्टरी पढ़ रहे थे, इस प्रकार गाँव मे रहते भी शिक्षितो की सगति से वचित होने की सम्भावना नहीं थी।

बिरालसी गुरुकुल, बिरालसी गाँव से थोडा हटकर था। स्वामी दर्शनानन्द को बिना नीव की सस्थाएँ खोल डालने का मर्ज था। बिरालसी, सिकन्दराबाद, ज्वालापुर, चोयाभक्ताँ (रावलपिडी) के गुरुकुलो को–'मूँड दिया माँग खाओ' के सूत्रानुसार वह खोलते गये। एक बार सस्था खुल जाने पर आसपास के लोगो को लाज-शर्म होती है–शायद इस तत्त्व को वह जानते थे; इसी खयाल से बिरालसी का गुरुकुल भी लष्टम-पष्टम चल रहा था। विद्यार्थियो की सख्या चौदह-पद्रह थी। एक अध्यापक थे, जो भाषा टीका के सहारे अष्टाध्यायी पढा दिया करते थे। एक रसोइया थे, जिन्हे रोज शाम को फिक्र पडती, कि आज तो किसी तरह एक शाम सूखी-पाखी रोटी मिल गई, किन्तु कल क्या होगा। आमो की फसल खतम होने या उनके आकर्षण के कम होने तथा पढ़ने पर ध्यान जाने से मैं गुरुकुल मे चला गया। गुरुकुल के सीधे-सादे मकान उतने आदमियो के रहने लायक काफी थे। उसके पास इतने खेत थे, कि कूएँ के इन्तिजाम के साथ यदि ठीक से खेती की जाती, तो गुरुकुल को अनाज के लिए किसी के सामने हाथ पसारना न पड़ता। पास मे बहुत-सा गैर आबाद जगल था, जिसमे से भी कुछ गुरुकुल के लिए मिल सकता था। दो-चार गाये थी, किन्तु शायद 'दुग्धदोहा'। मैंने एक दिन गाय-बैलो के बडे झुड को जगल मे दौडते देखा, एक बार वह झुड गुरुकुल के पास भी आया। 'जगली गाय' सुनकर मेरी जिज्ञासा और बढी इस पर बतलाया–एक-दो गायें जगल मे छूट गईं, उन्ही की सन्तान बढकर इतनी हो गई हैं। वह बडी स्वस्थ, स्वच्छ, और दर्शनीय थी।

धार्मिक बातो में 'विचार-स्वातन्त्र्य' के अभिमान के साथ आर्यसामाजिक सकीर्णता होते हुए भी सामाजिक सुधारों मे मेरे विचार सुधार की सीमा से बाहर जा रहे थे। मैं उन विचारो को बडी निर्भीकता से प्रकट करता था। धीरे धीरे मेरे विचारों का असर अध्यापक और क्लर्क–रसोइया भी थे–पर भी पड़ने लगा। वह भी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रश्नोत्तर करने लगे। मैं उनका आदर करता था, क्योंकि तनख्वाह का तो सवाल ही क्या, वहाँ तो पेट के लाले पडने पर भी वह गुरुकुल मे डँटे हुए थे। वह भी मेरी बातो मे कुछ विशेषता जरूर पाते होंगे, तभी तो इतने प्रभावित थे। बात करने मे इतना जरूर मुझे खयाल रहता कि वह दूसरे को चिढाने, नीचा दिखाने के लिए न हो। विचार-परिवर्तन के लिए होती रोज-रोज की बैठको का परिशेष एक दिन अन्तस्तल की घुंडी के खोलने के रूप मे था।

पडितजी ने कहा–क्या करे, समाज बहुत अक्षन्तव्य अपराधो, महापापो का कारण है। एक आदमी उसकी अपारशक्ति का सामना कैसे करे ? मेरी तरुणी विधवा पुत्री है। मैं अपने से जानता हूँ, कि उस अवस्था मे उससे ब्रह्मचर्य पालन करने की आशा रखना जबर्दस्त आत्मवचना है, किन्तु कुछ आर्यसामाजिक विचारों को रखते भी बिरादरी तोडने की मेरी हिम्मत नही, और पुत्री का विधवा-विवाह नही कर सकता। नतीजा ? –कुछ न पूछिए, पिछले चार-पाँच वर्षों मे तीन-चार गर्भ गिराये जा चुके हैं। मेरी पुत्री है, कामवासना स्वाभाविक चीज है, उसके लिए उसे प्राण-दड देने की हिम्मत पिता होने के कारण, हृदय रखने के कारण मुझमे नही है। सोचता हूँ, सर्वशक्तिमान

समाज जब मुझे ऐसा करने के लिए मजबूर करता है, तो न्यायकर्त्ता भगवान् इस पाप को भी उसी के खाते में लिखेगा।

रसोइया-क्लर्क ब्राह्मण ने अपनी बात शुरू की—हम तीन भाई हैं। हम लोग जवान थे, जब कि बूढ़े पिता एक छोटी-सी कन्या से ब्याह करने पर उतारू हुए। लोगों ने मना किया, हमने भी मना किया, जिसका अर्थ पिताजी ने हमारी मंशा से बिलकुल उल्टा लगाया। आखिर किसी की एक भी न मानकर उन्होंने उस अबोध बालिका से ब्याह कर ही डाला। वह जवानी में अभी अच्छी तरह पैर भी रखने न पाई थी, कि पिता परलोक सिधारे। मेरी सौतेली माँ जवानी का हिसाब काट देने पर भी सुन्दरी है। कुछ वर्षों बाद मालूम हुआ, कि पड़ोस के आदमी से उनकी घनिष्ठता हो गई है। यही नहीं, डर लगने लगा, कि कहीं वह निकल न भागे। निकल भागने पर समाज यह नहीं कहता, 'चलो सड़ते अंग को काट फेंका अच्छा हुआ', बल्कि वह हमारे परिवार को हमेशा के लिए लांछित करता—'इस घर की औरत निकल गई है।' आपसे छिपाने की जरूरत क्या? अन्त में मैंने सोचा—इसकी एक ही दवा है। जिसके लिए सौतेली माँ को भागकर कुल में कलंक लगाना पड़ेगा, उस कामना की पूर्त्ति मैं ही क्यों न करूँ। दो गर्भ गिराये जा चुके हैं। बतलाइए, मैं क्या करूँ?

पंडितजी को तो मैंने सलाह दी थी, यदि अपने जिले में हिम्मत नहीं होती, तो दूर के किसी जिले में लड़की का ब्याह कर आयें। दूसरे सज्जन की समस्या का क्या हल मैंने पेश किया, मुझे याद नहीं।

गुरुकुल के पास जंगल था, और झूठ या साँच लोग कह रहे थे, कि इसमें कभी-कभी बघेरा आ जाता है। मुजफ्फरनगर के एक स्थान में भेड़ियों के प्रकोप से गाँव उजड़ जाने की बात भी बतला रहे थे। कहते थे शाम होते ही उनका झुंड गाँव में आ जाता। घर में बन्द हो जाने पर किवाड़ के चौखटों को खोदकर वे भीतर घुस आते थे।

बरसात के महीने दिन पर दिन खतम होने लगे। अब हमें अपनी पढ़ाई का खयाल आने लगा। ईशानन्दजी से सलाह हुई, कि मुजफ्फरनगर चला जावे, और वहीं पंडित परमानन्द (?) से पढ़ा जाये।

मुजफ्फरनगर में हम लोग आर्यसमाज-मन्दिर में ठहरे। वह शहर से बाहर किसी बाग जैसे स्थान में था। शाम को पंडितजी के यहाँ हम पढ़ने जाते। आर्यसमाज मन्दिर में एक और तरुण प्रज्ञाचक्षु रहते थे। वह पहिले ईसाई थे, हाल में शुद्ध करके उन्हें आर्य बनाया गया था। अजमेर और कहाँ-कहाँ रह आये थे। अन्धों के लिए लिखी पुस्तकें पढ़ लेते थे।

मुजफ्फरनगर में रहते कोई विशेष घटना नही घटी। गड्डी (गाड़ी), रोट्टी (रोटी), जाग्गी (जायेगी) से हम बिरालसी मे काफ़ी परिचित हो गये थे, यहाँ के शिक्षित लोग ऐसे उच्चारणों से परहेज करते थे। तो भी मुझे यहाँ के देहात की वह हिन्दी ज्यादा सजीव मालूम होती थी।

मुजफ्फरनगर में हम लाहौर लौटने की सोच रहे थे। पढाई कैसे होगी, दोस्तों से कैसे मिलेंगे, अगले साल के लिए विशारद परीक्षा में बैठने के अतिरिक्त क्या प्रोग्राम है। इसी वक्त भाई साहेब का पत्र आगरा से आया। उन्होंने तुरन्त आने को लिखा था।

मैंने पुस्तक-पत्र सँभाला, और सीधे आगरा का रास्ता पकड़ा। शायद भाई साहेब ने काम के बारे में भी कुछ इशारा कर दिया था, यदि ऐसा था, तो मैंने ईशानन्दजी से अपने लाहौर आने के बारे में सन्देह भी प्रकट कर दिया होगा।

मेरे लाहौर पहुँचने के बाद भाई साहेब भी लाहौर पहुँच गये थे। उन्होंने गवर्नमेंट ओरियंटल कालेज में अरबी की मौलवी-आलम श्रेणी में नाम लिखाया था। छुट्टियों में वह भी लाहौर छोड़, आगरा नामनेर मे ठहरे थे। भाई साहेब ने प्रस्ताव रखा—अब समय आ गया है कि हम वैदिक मिश्नरी तैयार करने के लिए कोई गम्भीर कदम बढ़ायें। मुसाफिर विद्यालय से वह काम होने का नहीं। किन्तु हर एक काम रुपये से साध्य होता है, इसलिए चन्दा जमा करने के लिए नहीं बल्कि उसकी सम्भावना को देखने के लिए तुम्हें युक्तप्रान्त के कुछ स्थानों में घूमना होगा। हमारी इस योजना में मुसाफिर विद्यालय के संचालकों के साथ कुछ असहकार की-सी गन्ध थी। विद्यालय के संचालन में त्रुटियाँ रहते हुए भी वे लोग कितनी कठिनाई से उसे चला रहे थे; रुपयों और योग्य

विद्यार्थियो के मिलने मे कितनी दिक्कत थी—इसका हमे अभी खुद तो अनुभव नही था, इसलिए हम उसकी कद्र नही कर सकते थे। पढाई को बीच से छोडना मुझे तो पसन्द नही हो सकता था, किन्तु भाई साहेब की बात कैसे टाली जाती।

आगरे से यशवन्तनगर, इटावा के आर्यसमाजो मे होते मैं कानुपर पहुँचा। वहाँ से फिर लखनऊ आर्यसमाज मे। हर जगह आर्यसमाज मे ठहरता, खास खास आदमियो से बातचीत करता, कही कही व्याख्यान भी देता। बातचीत मे वैदिक धर्म-प्रचार की आवश्यकता और उसके लिए योग्य मिशनरी तैयार करने की समस्या सामने रखता। लखनऊ आर्यसमाज मे उस वक्त अजमेर के एक तरुण रामसहायजी ठहरे हुए थे। उनका गोरा, नाटा पतला बदन, भीतर की तरफ ज्यादा घुमी ऑखे और जरा-जरा-सी निकल रही मूँछे आयु को वास्तविकता मे कम बतलाती थी। वह बडे उत्साही नवयुवक मालूम हुए। सस्कृत पढने के लिए निकले थे, किन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक तरीके मे पढानेवाला अध्यापक उन्हे नही मिला था। वहाँ किसी से मुझे मालूम हुआ, कि यहाँ एक बौद्ध विहार है, जिसमे एक बौद्ध भिक्षु रहते हैं। बौद्ध भिक्षुओ जैसी धर्मप्रचार की लगन को बहुत बार व्याख्यानो मे मैं सुन चुका था। नालन्दा जैसे धर्मप्रचारक पैदा करने के केन्द्र होने चाहिए, इस विचार का अकुर बडी मजबूती के साथ हमारे हृदयो मे उग चुका था, इसलिए जब बौद्धभिक्षु का रहना मालूम हुआ, तो एक दिन शाम को मै बिहार मे पहुँचा। अँधेरा हो चुका था, बाहरी रोशनी काफी नही थी या स्मृति का ही दोष है, मदिर और उस समय के स्वामी बोधानन्द के आकार प्रकार का कुछ खयाल नही। उनसे मुख्य तौर पर ईश्वर, वेद आदि विषयो के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य, त्रिपिटक आदि के बारे मे बातचीत हुई। ईश्वर का उन्होने साफ शब्दो मे निषेध नही किया। शायद वह पुरानी विचारधारा पर धीरे-धीरे प्रहार करने के पक्षपाती थे। बौद्ध साहित्य मे बंगला मे छपी बुद्ध पुस्तको तथा बगीय बौद्धो की मासिक-पत्रिका 'जगज्ज्योति' का पता दिया। पाली त्रिपिटक के पाने के बारे मे अनागरिक धर्मपाल से लिखा पढी करने के लिए कहा। उस सक्षिप्त साक्षात्कार के वक्त यह नही पता लगता था, कि मेरे जीवन के विकास मे इस साक्षात्कार द्वारा ज्ञात बात खास पार्ट अदा करनेवाली है।

लखनऊ से मलीहाबाद, फिर बिलग्राम, जागस और सडीला गया। सडीला मे तहसीली स्कूल के हेडमास्टर के यहाँ ठहरा था। शाम को नदी किनारे किले की ऊँची जगह पर बैठ रग बिरगे बादलो मे ईश्वरीय रचना के चमत्कार को देखते हुए सन्ध्या करता था। सडीला से हरदोई पहुँचा। आर्यसमाज मे 25-30 आदमियो के सामने व्याख्यान दिया। थमरावॉ के रायसाहेब केदारनाथ मुसाफिर विद्यालय के प्रधान पृष्ठपोषको मे थे, इसलिए उनके यहाँ जाना जरूरी था। अभी वर्षा बिलकुल समाप्त नही हुई थी। मैं पैदल ही थमरावॉ पहुँचा। बडे आदमियो के यहाँ आने जाने के लिए विशेष सभ्रान्त वेष-रचना, तथा सवारी आदि की जरूरत होती है, किन्तु वह मुझे उपहासास्पद सी बात जँचती थी, इसीलिए मैंने कभी भी अमीरो को अपनी ओर खीचने का न प्रयत्न किया और न उसमे सफलता प्राप्त की।

थमरावॉ के रायसाहब एक बडे जमीदार तथा पुराने रईस थे। गरीबो की झोपडियो के साथ साथ वहाँ उनके पक्के महल थे, जिनमे दर्जनो नौकर-चाकर घूमते रहते थे। उनके अस्तबल मे कई अच्छी जाति के घोडे भी थे। शायद हाथी और घोडागाडी भी थी।

मैं जिस बे-सरोसामानी से गया था, उससे तो कही भी टिकाये जाने पर मुझे शिकायत करने का हक न था, किन्तु रायसाहेब मे अपनी श्रेणी के दूसरे रईसो से कुछ विशेषता थी—विशेषता न होती तो आर्यसमाज की ओर क्यो झुके होते। उन्होने जब सुना कि मैं आगरे का 'आर्यमुसाफिर' हूँ, तो मेरे ठहरने के लिए कोठे का वह कमरा खुलवा दिया, जिसमे किसी समय पडित अखिलानन्द शर्मा रहकर उनके ज्येष्ठ पुत्र को सस्कृत पढाया करते थे। कायस्थ रईस होकर सस्कृत की ओर उनका ध्यान जाना बतलाता था उनकी धार्मिक अभिरुचि को। लडका अच्छा पढ गया था, किन्तु मृत्यु ने उसे छीनकर बाप के मसूबे को पस्त कर दिया। रायसाहेब के चेहरे पर अब भी अपने ज्येष्ठ पुत्र की मृत्यु का शोकचिह्न मौजूद रहता था। मैं वहाँ दो-चार दिन रहा, अपने उद्देश्य पर बातचीत की। तत्काल कुछ माँगना था नही, इसलिए मेरी जबान स्वतत्रतापूर्वक अपना काम कर सकती थी। चन्दा माँगना हो या भीख, ऐसे समय मुझे रहीम के इस दोहे की सत्यता साफ झलकती है—

'रहिमन ये नर मरि चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।' एक दिन रायसाहेब और मैं कुर्सी पर बैठा था, उनका छः-सात वर्ष का लड़का—अब यही एक मात्र लड़का बच रहा था, इसलिए बहुत लाड-प्यार में पाला जा रहा था—आया। उसके काले वार्निशवाले जूतो पर थोड़ी-सी धूल लग गई थी। अभी रायसाहेब की उधर नजर भी न पड़ी थी, कि वहाँ उपस्थित एक ब्राह्मण-पुरोहित ने झट से अपनी चादर के कोने से जूते को पोंछना शुरू किया। रायसाहेब ने खड़े होकर उनके हाथ को हटा दिया, और उनके इस काम मे असन्तोष प्रकट किया। कह नही सकता, मेरी उपस्थिति से उनको सकोच हुआ, और इसीलिए उन्होंने पुरोहितजी के आचरण पर असन्तोष प्रकट किया, या वह स्वभावतः इस बात को पसन्द नही करते थे। मेरी बातो से उनको यह तो मालूम होने में दिक्कत नही हुई होगी, कि यह खुशामदकला से बिलकुल अनभिज्ञ व्यक्ति है। पुरोहित के इस आचरण ने ब्राह्मण धर्म को मेरी नजर में और भी नीचे गिरा दिया।

थमरावाँ से चलते वक्त रायसाहेब ने सवारी देने के लिए कहा। घोड़े का जिक्र आने पर मैंने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उसे पसन्द किया, किन्तु अन्त मे बड़े घोड़ो में से किसी को न पा जब एक टट्टुआनी आई, तो गाँव से कुछ दूर तक मैं उस पर चढ़कर आया, फिर सईस का उसके साथ लौटा दिया। अच्छे घोड़े पर चढ़ने के मेरे स्वाभाविक शौक को इससे धक्का लगा; लेकिन रायसाहेब क्या जानते थे, कि मैं घुड़सवारी का इतना शौकीन हूँ।

लौटते वक्त फिर लखनऊ आया। स्वामी बोधानन्द से फिर भेंट हुई या नही—मालूम नही। लखनऊ से रायबरेली। वहाँ आर्यसमाज के मत्री या सभापति कोई ब्राह्मण वकील थे, जिनके यहाँ मैं ठहरा। व्याख्यान के लिए खास प्रबन्ध की जरूरत नही पड़ी। किसी दिन के उपलक्ष्य मे कोआपरेटिव बैंक के मकान मे हिन्दी भाषा पर व्याख्यान होनेवाला था, जिसमे सनातन धर्म के एक प्रसिद्ध महोपदेशक वाग्मीभूषण पडित नन्दकिशोरजी बोलनेवाले थे। वही मेरा व्याख्यान भी रख दिया गया। तैयार करके व्याख्यान देनेवाले को कुछ सुभीते भी रहते है, और कुछ मुश्किलें भी। रामगोपाल भाई को तैयार करके व्याख्यान देने की आदत थी। उनको कुछ व्याख्यान बिलकुल कंठस्थ थे, जिन्हे वह बड़े जोश के साथ भाषणमंच पर हाथ पटकते हुए अदा करते थे। मै व्याख्यानो के लिए लिखे सकेत-नोटो तक को इस्तेमाल नही कर सकता था। सुभीता यह था, कि नये से नये विषय पर भी दस-बीस मिनट कुछ बोल सकता था। वाग्मीभूषणजी ने अपना तैयार भाषण सुनाया, जिसमें हिन्दी भाषा और साहित्य से न सम्बन्ध रखनेवाली ही बातें अधिक थी। वह देर तक बोलते भी रहे। मै पन्द्रह-बीस मिनट से ज्यादा नही बोला, सिर्फ हिन्दी-भाषा-साहित्य पर बोला, और ऐसी बाते जिनमे सम्प्रदाय-शास्त्रो की दुहाई कम और नई रोशनी की पुट कुछ अधिक थी। शिक्षितो को मेरा भाषण ज्यादा पसन्द आया—यह मेरे मेजवान वकील साहेब की राय थी।

रायबरेली से अमेठी पहुँचा। नाना के मुँह से अमेठी के दवनसिंह नामक बलिष्ठ सिपाही की बाते कई बार सुन चुका था, किन्तु मैं वहाँ दवनसिंह या उनके परिवार की खोज करने नहीं आया था। मुसाफिर विद्यालय के उद्देश्य के साथ बहुत सहानुभूति रखनेवाले अमेठी के द्वितीय राजकुमार रणवीर सिंह से मुझे मिलना था। किसी क्लर्क के यहाँ उस दिन तो ठहर गया, शाम को कुमार साहेब से उनके महल के आँगन में बातचीत हुई, शायद उस दिन पुरानी चाल की कविताओ का पाठ भी हो रहा था। कुमार रणवीर विद्या, व्यायाम, और उदार विचार के प्रेमी थे। उनका शरीर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट था, पूरे जवान हो जाने पर भी अभी उन्होंने शादी न की थी पाँच मिनट में अपना परिचय दे देने की कला मैं नही जानता, और वहाँ डटकर कुछ दिन मुसाहिबी करने के लिए मैं गया नहीं था। कुमार रणवीर अपने आसपास सदा बने रहनेवाले खुशामदियो से चिढ़ते थे, किन्तु उनका शिकार न होते हो, यह बात नही। वह मुझसे मेरे वेश भूषा के अनुसार नही बल्कि एक प्रगतिशील तरुण समझकर मिले। नौकरो से किसी अतिथिशाला मे ठहराने के लिए कहा। उसके पास कुत्ता घर था—यहाँ कितने ही भिन्न-भिन्न जाति के कुत्ते चारपाइयों पर पड़े रहते थे। आर्यसमाज को मैंने गम्भीरता से ग्रहण किया था, वैरागीपथ की तरह उसे 'ग्राम गच्छन् तृणान् स्पृशति' के हल्के हृदय से नही स्वीकार किया था, इसीलिए यथाशक्ति आर्यसामाजिक विचारो के अनुसार चलने की कोशिश करता था। मांस भक्षण और बलिदान को एक कट्टर आर्यसमाजी के तौर पर बुरा समझता था, और जब मालूम हुआ, कि देवी का बलिदान बन्द हो जाने पर भी बाद को बकरा मारकर

खिलाया जाता है, तो मैंने इसकी शिकायत कुमार रणवीर से की। किन्तु मुश्किल यह थी, कि बाघ देवी की तरह पत्थर का न था। कुमार के बडे भाई बडे सीधे-सादे, ढीले-ढाले आदमी थे, सौभाग्य बँटते वक्त वह जरूर ब्रह्मा के पास पहिले पहुँच गये थे, किन्तु समझ और शक्ति के वितरण के वक्त अपने तीनो भाइयो से पिछड गये थे। कुमार रणवीर का अपने दो छोटे भाइयो पर बडा प्रभाव था। शाम को वह उनके साथ घुड़सवारी के लिए निकलते थे, उनके शरीर से मध्यकालीन राजपूत प्रभा झलकती थी।

अगली मजिल प्रतापगढ था। यहाँ एक तरुण विद्यार्थी के घर ठहरा। उनके पिता कचहरी मे कोई साधारण कर्मचारी थे। वहाँ का आर्यसमाज भी अवध के अन्य आर्यसमाजो की भाँति कमजोर था, किन्तु कुछ नौजवानो मे जोश था। उन्होने सडक के किनारे टाट बिछा दिया। शाम के वक्त कुछ लोग आ गये, और मैंने आर्यसमाज के किसी सिद्धान्त पर व्याख्यान दिया। रात को तरुण के घर खाना खाने गया, कायथ-भाई थे, आर्यसमाज के फेर मे पडकर गोश्त छोड चुके थे, लेकिन वह दिल मे उतना जल्दी थोडे ही छूट सकता है। खाने मे बेसन की कोई तरकारी इस तरह की बनी थी, कि उसमे बिलकुल मास का-सा स्वाद आता था। मुझे भारी भ्रम हो गया था, किन्तु आर्यसमाजी घर मे गोश्त नही बन सकता, इस खयाल से मैंने अपने भ्रम को दबा दिया और सकोचवश पूछा भी नहीं।

बनारस के लिए रवाना होते वक्त मैंने यागेश के पास एक पत्र लिख दिया था। यागेश गर्मिया म पडित भोजदत्त के साथ मसूरी या देहरादून गये थे; उनके देहान्त के बाद घर चले आये थे। उस वक्त स्वामी वेदानन्द बनारस मे पढते थे, साक्षात्कार नही हुआ था, किन्तु हम एक-दूसरे से परिचित थे। उनके ही यहाँ ठहरे। एक वक्त भोजन गोपाल-मन्दिर से मँगवा लेते—वहाँ सस्ते मे कई तरह के अच्छे भोजन मिल जाते थे। हाँ, इस बात मे पीछे आनेवाले हिन्दू-भोजनालयो तथा हिन्दू-होटलो का गोपालमन्दिर पथ-प्रदर्शक था। श्रद्धालु भक्तजन तथा मन्दिर की सम्पत्ति से प्रतिदिन भोग लगने के लिए चावल, आटा, घी, दूध, मिठाई, केसर, चन्दन हर चीज की मात्रा वहाँ नियत है, और प्रतिदिन के भोग मे कई सौ रुपये लगते हैं। मन्दिर के हर एक कर्मचारी को वेतन के एक हिस्से मे एक या अधिक पत्तले भी मिलती थीं, जिसे बहुत से छूत-छात के खयाल से या पैसे बनाने के खयाल से बेच दिया करते। कनैला के—रिश्ते मे मेरे दादा—रामाधीन पाडे गोपालमन्दिर मे परवाडजी थे, और बनारस मे पढते वक्त कभी-कभी उनके यहाँ मैं गया था। रामाधीनजी छूत-छात के खयाल से अपनी पत्तल को नहीं खाते थे इतना मुझे मालूम था, किन्तु उस वक्त मुझे यह नही पता था, कि ये पत्तलें बाकायदा बिकती हैं।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ बहुत बातो मे मुझसे समानधर्मता रखते थे। उनको भी मेरी ही तरह विद्या की उग्र प्यास थी, वह भी वेद के उच्च तत्त्वज्ञान के विश्वासी, और वहाँ तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील थे, और सारा समय सस्कृत के अध्ययन मे लगा रहे थे। उच्च योग्यता और काफी तैयारी के साथ देशान्तरो मे वैदिक धर्म के प्रचार के वह भी मेरी ही तरह प्रबल पक्षपाती थे। 'खूब निबहैगी जो मिल बैठेंगे दिवाने दो' वाली बात थी इसलिए हमारे बीच चिरस्थायी मित्रता क्यो न स्थापित होती।

बनारस आर्यसमाज मे मेरा एक व्याख्यान भी हुआ। अभी मैं वही था कि श्यामलाल (मेरे छोटे भाई) को लिये यागेश आ धमके। श्यामलाल को देखकर मैं यागेश पर कुछ नाराज हुआ, किन्तु उन्होने कोई बहाना बना दिया। दोनो ने आग्रह किया, कि चन्द दिनो के लिए कनैला जरूर चले। मुझे मानना पडा। कनैला पहुँचने पर कई बार प्रयत्न करके असफल होते हुए भी पिताजी ने फिर नजरबन्दी का हथियार इस्तेमाल किया। क्षणिक वैराग्य अब स्थायी आदर्शवाद का रूप धारण कर रहा था, इससे वह ज्यादा शकित हो गये थे। मुँह पर मैं 'नही रहूँगा'—दो टूक कहने की मुझमें हिम्मत न थी, क्योकि उसमे गाँव-भर के बडे-बूढ़े जमा हो जाते और वे मेरी बेवकूफी का मजाक उडाते हुए पिता की आज्ञा मानना आदि का उपदेश झाडने लगते। मैंने थोडे दिनो के लिए अपने भागने के खयाल को छिपा लिया और तै किया कि यदि अब एक बार मुक्ति मिली तो आजमगढ जिले में आने का नाम न लूँगा। जिगरसडी मे श्री मर्याद दूबे के नाम से जो जमीदारी खरीदी गई थी, उसके वसूल-तहसील मे मैंने भी हाथ बँटाना शुरू किया। सप्ताह बीतते-बीतते एक दिन मुझे अकेले जिगरसडी जाने का मौका मिला। अब कौन लौटकर कनैला जाता है। सीधे जखनिया या सादात स्टेशन जाने मे अब भी डरता था, इसलिए मैं

वहाँ से वीरपुर में पंडित मुखराम पांडे के यहाँ चला गया। वह व्याकरणतीर्थ, काव्यतीर्थ होकर अब घर ही पर रहते थे। बड़हल बाजार मे कह-सुनकर संस्कृत पाठशाला खुलवाने का इन्तिजाम कर रहे थे, आज पाठशालारम्भ का मुहूर्त था। पाठशालारम्भ मे एक क्षण के लिए पुराने गुरु का फिर से मैं विद्यार्थी बन गया। उपनिषद् की गुटका मेरे पास थी, उसी से पाठ शुरू हुआ। मालूम नहीं, बड़हल से लौटकर रात को मै वीरपुर में ठहरा, या वहाँ से सीधे दूलहपुर स्टेशन गया। खैर, कैसे ही मैं फिर बनारस पहुँच गया।

बनारस मे ज्यादा रहना खतरे से खाली नही था, पिताजी किसी वक्त वहाँ पहुँच सकते थे। स्वामी वेदानन्दजी मेरी राय से सहमत थे। वह अभी हाल ही में अहरौरा (मिर्जापुर) से लौटकर आये थे, वहाँ के कितने ही तरुण आर्यसमाजी उन्हें आकर कुछ दिन रहने के लिए बहुत आग्रह कर रहे थे, उन्होंने मुझे वहाँ जाने के लिए कहा। रेल से कोसों दूर विन्ध्याचल की इस खोह में पिताजी कहाँ आ पायेंगे इस पर हम दोनों को पूरा विश्वास था। किन्तु इस रहस्य को एक दूसरे गुजराती विद्यार्थी—जिन पर मुसाफिर विद्यालय का छात्र होने से हम विश्वास रख सकते थे—जानते थे। उन्होने पिताजी को यह बात बतला दी। अहरौरा मे पहुँचकर निश्चिन्त हो मैने तरुणो के सामने धर्मप्रचार शुरू कर दिया था, जब कि दो तीन दिन बाद, एक शाम को देखा, पिताजी विकराल काल की तरह मेरे सामने खड़े हैं। खैर, उन्होंने उसी वक्त लोगो के सामने निबटना नही चाहा, शायद वे मेरे इस निर्बल स्थान को नही समझते थे। अलग में मुझसे मिले। मैंने कहा—अभी में यहाँ एक मास रहूँगा, आप कही रहे, और अभी मुझे दिक न करे। अपने प्रयत्नो की असफलता पर उनका विश्वास हो चला था, तो भी स्नेह उन्हें निश्चेष्ट नही रहने देता था। उन्होंने एक बार फिर हृदय खोलकर अपनी व्यथा सामने रखने की कोशिश की। भोजन-वस्त्र के सम्बन्ध मे ग्रामीण जीवन को कुछ और सरस करने का प्रस्ताव किया। मैंने बतलाया—मेरे लिए अब सबसे ज्यादा आकर्षण ज्ञान की ओर मे है, वह कनैला या बछवल मे नही मिल सकता। बाते थोड़ी ही हुई, और मुझे खुशी हुई, जब पिताजी ने एक साधु की कुटिया मे रहते दूर-दूर से सिर्फ मेरे ऊपर निगरानी रखने तक ही अपने काम को सीमित रखा।

अहरौरा मे जिनके घर मे मैं रहता था वह पहरी जाति के थे, मुझे इस जाति का नाम पहिले-पहल सुनने मे आया था, और इसे मैंने सस्कृत के प्रहरी शब्द से निकला समझा। वह उत्साही आर्यसमाजी तरुण थे। किसी वक्त उनका घर बहुत समृद्ध था। विन्ध्याचल के जगलो से जमा की गई सुरती बेरी तथा तम्बाकू को ढेकी मे कूटकर उनके यहाँ अच्छी किस्म की तम्बाकू बनती थी; जब लाख का रोजगार बढ़ा हुआ था, उससे भी काफी आमदनी होती, और कई हजार रुपये सूद पर चलते थे। इस प्रकार एक वक्त एक समृद्ध नागरिक की भाँति उनके घरवालो का जीवन व्यतीत होता था। अब लाख का रोजगार चौपट हो चुका था, लेन-देन का रुपया कर्ज खानेवालों के यहाँ से आता न था, इसलिए वह भी रास्ता बन्द, बाकी बचा था सिर्फ तम्बाकू। तम्बाकू के रोजगार मे गुंजाइश रहते भी वह नये व्यापारिक तरीको से वाकिफ न थे, और न देसावर में तम्बाकू भेजने के लिए सम्बन्ध स्थापित करने की ओर खयाल रखते थे। कूट-काटकर पुराने ढग से पुरानी आवश्यकता के अनुसार तम्बाकू बनाकर रखा; अहरौरा में जितना बिक गया, बस उसी पर उनके परिवार का गुजारा था। वह अपने पिता के अकेले लड़के थे। घर मे माँ और स्त्री के अतिरिक्त दो छोटे-छोटे बच्चे थे, जिनका खर्च तम्बाकू की उस साधारण दैनिक आय से भी चलाया जा सकता था; किन्तु उनके पिता के वक्त ही से कुछ सम्बन्धी परिवारो का भी भरण-पोषण उन्हीं के घर पर होता चला आता था; आज आमदनी के बड़े रास्तो के बन्द हो जाने के बाद भी उस तरुण का हृदय हिम्मत नहीं रखता था कि अपने आश्रित सम्बन्धियो को अलग करे। जीर्ण-शीर्ण कमजोर नौका, सवारियों के बोझ से किसी नदी में स्वयं डूबना चाहती हो। कुछ सवारियों को हटा देने से नौका बचाई जा सकती है—यह जानते हुए भी जैसे मृदु-हृदय नौका-स्वामी नौका से साथियों को हटाने की अपेक्षा उनके साथ डूब जाना पसन्द करता हो—ठीक यही मनोभाव उस तरुण का था। मेरी उनके साथ बड़ी सहानुभूति थी, और उनकी कठिनाइयों को खयाल करके कभी-कभी मेरा चित्त उद्विग्न हो उठता था—उन्ही के घर में ठहरा रहने से ऐसे मौके बहुत मिलते थे। बकाया पड़े रुपयों को वसूल करने के लिए अदालत मे नालिश करने की जरूरत थी। नालिश करना, कचहरी में मुकदमा लड़ना—गांधी युग से बहुत पहिले उस समय भी उन्हें पसन्द न था; और पसन्द होने पर भी

इसके लिए बहुत रुपयों की आवश्यकता होती।

शाम को व्याख्यान के तौर पर ही नही कुछ क्लास के तौर पर हमारी कार्रवाई होती थी। मेरे भाषणों पर धार्मिकता के साथ-साथ राष्ट्रीयता का रग भी चढने लगा था। कई जगह की खुफिया पुलिस ने रिपोर्टे की थीं, जिनकी जाँच आगरा मे हुई थी, जिसे भगवती भाई को एक पुलिस अफसर ने मित्रतावश बतलाया था। महीने भर तक मेरी बातों को सुनते रहने पर भी अहरौरा के तरुण यदि उकताये नही तो मार्मयिकता ही इसमे कारण थी।

खाना बराबर मैं अपने मेजबान तरुण के यहाँ ही खाता, किन्तु एकाध बार तहसीली स्कूल के हेडमास्टर,–एक आर्यसमाजप्रेमी–किन्तु बिरादरी के डर के मारे काँपनेवाले–के यहाँ भी खाने गया। जिस कमरे में मैं रहता, वह कोठे पर सफेद चूने से पुता हवादार कमरा था, उसमें कई तस्वीरें और शीशे टँगे थे। तरुण उपन्यासो के शौकीन थे। 'जासूस' की तो फाइल की फाइल वहाँ मौजूद थी। यही श्री गोपालराम गहमरी की लका की यात्रा पर एक किताब पढ़ी, जो मेरे लका जाने से पहिले भूल-सी गई थी। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्तासन्तति तथा इस तरह के और भी कितने ही तत्कालीन उपन्यास वहाँ मौजूद थे। मेरे पास पढ़ने के लिए गम्भीर पुस्तकें न थीं, काफी समय और एकान्त मिला था, इसलिए उस सारी राशि का मैं एक बार पारायण कर गया। हिन्दी उपन्यासों को तल्लीन हो पढ़ने का मेरे लिए वही आदिम और अन्तिम मौका था।

अहरौरा विन्ध्याटवी के मुँह पर है। यहाँ से एक रास्ता सर्गुजा होते दक्षिणापथ को गया है। पहाड और जगल पास ही शुरू हो जाते हैं, जिनमें बाघ और चीते रहते हैं। सर्गुजा और दक्षिणी मिर्जापुर से अब भी सौदा लादे हुए सैकडो बैल जाते थे। मुझे उस वक्त परसा मे सुनी शोभनायक (नयका) बजारे की गीतमय कहानी याद आती। ऐतिहासिक समाज का मानसचित्र तैयार करना अब कुछ कुछ मुझे आने लगा था। इस चित्र की तैयारी में अहरौरा के दक्खिन से आनेवाले ये लदनी के बैल सहायक हुए। जगलो मे आबनूस और खैर के हजारो दरख्त थे। खैर की लकड़ी के रस से कत्था तो तैयार किया जाता था, किन्तु आबनूस का वहाँ कोई काम न होता था। अहरौरा में लकडी के बने तथा लाह के रग से रँगे सिंदूरदान, खिलौने आदि बहुत बनते थे। वह ज्यादातर साधारण गीली लकडी को खरादकर बनते थे, और सूखने पर फट जाते थे। मैंने लकडी का एक कमडलु बनवाया था जो महीने भर के भीतर ही पानी छानने लायक हो गया।

दो-चार बार मैं पहाडो मे कुछ भीतर तक पहुँचा, एक बार महाराजा बनारस की शिकारगाह मे गया था। पक्की दीवारो के भीतर सुरक्षित बैठकर, खतरे की जरा भी सम्भावना के बिना शेर के शिकार मे क्या आनन्द आता होगा–यह मुझे समझ मे नही आता था। इन शिकारगाहों को देखकर मुझे जगल के गोपालों के गोष्ठ याद आते थे। एक बार हम अहरौरा की नहर जिस जलाशय को घेरकर निकाली गई है, उसे भी देखने गये थे।

धीरे-धीरे दिसम्बर का महीना बीत चला, जनवरी के साथ 1917 सन् आनेवाला हुआ। अहरौरा में स्वामी वेदानन्द की चिट्ठियाँ हर सप्ताह आती थी, वह सभी सस्कृत मे होती। मेरा भी उत्तर सस्कृत मे जाता। मुझे उनके सुन्दर अक्षरो को देखकर ईर्ष्या होती। दिसम्बर के अन्त मे साधुजी (भाई महेशप्रसाद) का एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि महेशपुरा के एक वैश्य आर्यसमाजी धर्म प्रचारक तैयार करने के लिए एक विद्यालय स्थापित करने के वास्ते कुछ हजार रुपये देना चाहते हैं, तुम जाकर वहाँ काम शुरू करो। मैं जिस विद्यालय का स्वप्न देखता था, वह महेशपुरा के अल्प धन से, और मेरे अपने अल्प ज्ञान-साधन से स्थापित नहीं हो सकता था, किन्तु मैं जानता था कि नई दुनिया की ओर मेरी आँख खोलनेवाले भाई साहेब ही थे, इसलिए उनके किसी निर्णय को मैं सहसा टालने की हिम्मत नहीं रखता था। मैं तैयार हो गया महेशपुरा जाने के लिए।

नये दोस्तो मे सौगात बाँटने के लिए मैंने जगली बाँस की दस-बारह लाठियाँ साथ ले ली थीं। मैंने अपने प्रस्थान को बिलकुल गुप्त रखा था, क्योंकि मैं जानता था, कि यदि पिताजी को खबर लग गई, तो भारी विघ्न उपस्थित होगा। एक दिन मैं चुपचाप एक्के पर बैठ अहरौरा-रोड स्टेशन के लिए भाग चला। स्टेशन पर पहुँचने के बाद मालूम हुआ कि गाड़ी के आने में अभी देर है। मेरा हृदय शका से काँपने लगा–कहीं तब तक पिताजी न आ पहुँचे। दिल कहता था–यदि कहीं एक बार मैं यहाँ से निकल पाता, फिर तो किसकी मजाल थी ढूँढ़ निकालने

की ? मैं कभी यागेश को दोष देता और कभी बनारस के गुजराती विद्यार्थी मित्र को।

जिसका डर था, आखिर वही बात हुई। अभी टिकट बँटने न पाया था, कि पिताजी प्लेटफार्म पर पहुँच गये। वह हाँप रहे थे। उन्होंने 9, 10 मील की यात्रा बिना साँस लिये दौड़ते या तेजी से चलते तै की थी, नहीं तो इतनी जल्दी कैसे पहुँच सकते थे ? मुझे कभी गुमान भी न था, कि मेरे मेजबान की माँ पिताजी के लिए अवैतनिक खुफिया का काम कर रही हैं। वह मुझे देखते ही फूट फूटकर रोने तथा उलाहना देने लगे। प्लेटफार्म पर लोग जमा हो गये। वह चिल्ला रहे थे—क्यों मुझे मार रहे हो ? मुझे भी अपने साथ ले चलो आदि। उनकी बातों में पिछले साल की अर्धविक्षिप्तता का भी हल्का सा असर था, नहीं तो रोने और चिल्लाने में अपनी स्वाभाविक गम्भीरता का परित्याग कर वह उतने अधीर और कातर न बनते। मैंने एक बार हिम्मत बाँधकर कहा—आखिर, कब तक आप मुझे इस प्रकार बाँधकर रखेंगे। किन्तु वहाँ सारी जनता मेरे खिलाफ थी; उसकी चलती तो पथराव कर मेरा काम वहीं तमाम कर देती। सब मुझे थू-थू करने लगे। मैंने महेशपुरा की ओर की यात्रा स्थगित की, और दो टिकट लेकर बनारस की ओर रवाना हुआ। ट्रेन में और उससे भी ज्यादा बनारस स्टेशन पर मैंने ठंडे दिल से उन्हें समझाना शुरू किया—मैं आपके भावों को, आपकी बेकरारी को समझता हूँ; किन्तु साथ ही मेरा जीवन भी किसी भविष्य की लालसा रखता है, जिसकी जो अस्फुट झाँकी मुझे मिल रही है, उसके कारण जबर्दस्त से जबर्दस्त खतरे, मृत्यु के साक्षात् दर्शन तक भी अब मुझको अपने पथ से विचलित नहीं कर सकते। मैं कनैला के अयोग्य हूँ, मैं आपके काम का नहीं रहा। यदि ऐसा ही करना था, तो मुझे गाय भैंस की चरवाही में लगा दिये होते, मेरी दुनिया कनैला की सीमा में परिसीमित हो जाती। अब जोर देने का भयंकर परिणाम होगा, आपको मेरे जीवन से हाथ धोना होगा।

मैंने इन बातों को धीरे धीरे उन्हें बोलने का मौका देते हुए कहा। इसका उनके दिल पर असर हुआ। अन्तिम उत्तर जिस तरह उनके मुख से यकायक निकला, उसकी मुझे आशा नहीं हो सकती थी। उन्होंने कहा—अब मैं तुम्हारे रास्ते में बाधक नहीं होऊँगा, किन्तु साथ ही मैं भी कनैला न जाकर यहीं बनारस ही में अपने जीवन को बिता दूँगा।

अपने वचन के पूर्वार्द्ध को उन्होंने ठीक से पालन किया। यही उनका अन्तिम दर्शन था।

मैंने प्रतिज्ञा की—अब मैं पचास वर्ष की उम्र खतम होने तक फिर आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर भी कदम न रखूँगा।

6
मिश्नरी तैयार करने का एक प्रयास (1917 ई.)

बनारस-छावनी स्टेशन पर जिस वक्त टिकट लेने गया, उस वक्त छोटी लाइन के जंगले पर टिकट लेनेवाले कुछ यात्रियों को छपरा की बोली बोलते सुना। घर का पता पूछने पर उन्होंने एकमा-मड़ली बतलाया। मुझे परसा याद आ गया। किस तरह मैं वहाँ बड़े-बड़े अरमानों को लेकर गया था। किस तरह परसा के निवास और उसके सम्बन्ध ने भारत के हर स्थान मे मेरे लिए भोजन और आवास की निश्चिन्तता पैदा की। किस तरह सब दोषों के रहने भी महन्तजी मुझे बहुत मानते थे, मुझे पाकर अपने भविष्य के लिए निश्चिन्त हो गये थे। अभी भी मेरा साथी वरदराज—जो मेरे ही लिए वहाँ जाकर साधु बना—परसा के सम्बन्ध को छोड़े नहीं होगा। इन विचारों के आते ही थोड़ी देर के लिए अपने विचार सम्बन्धी जबर्दस्त परिवर्तनों को मैं भूल गया, परसा की ओर से आती एक सुनहली रस्सी मेरे हृदय को बाँधती-सी मालूम हुई, धीरे-धीरे उसका खिंचाव साफ मालूम होने लगा। पैर बी. एन्.-डब्ल्यू. आर. के जंगले की ओर बढ़ना चाहते थे, इसी वक्त हवा का रुख फिर बदला—महन्ती मुझसे नहीं हो सकेगी, जीवन की धारा को उल्टी बहाने की मुझमें शक्ति नहीं है। मैं अपनी जेब में भाई साहेब के

पत्र को अनुभव करने लगा। मेरी आँखो के सामने मोटे-मोटे अक्षर नजर से आने लगे—महेशपुरा जाकर काम सँभालना है, भगवती भाई पिछली सारी गर्मियो से घूम-घूमकर वहाँ प्रचार कर रहे हैं।

मैंने महेशपुरा जाने के लिए कोच का टिकट खरीदा।

कानपुर, काल्पी, उरई, एटा के स्टेशनो-भर को ही देखते मैं कोच स्टेशन पर उतरा। भाई साहेब की चिट्ठी मे पडित कृष्णगोपालजी का पता दिया हुआ था। कुँअर बहादुर सिह ने महेशपुरा के स्वामी ब्रह्मानन्दजी का पत्र-द्वारा भाई साहेब से परिचय कराया था। एक तरफ इस तरह की सस्था को अस्तित्व मे लाने के लिए कुछ शिक्षित तरुण बेकरार थे, दूसरी तरफ ऐसे काम के लिए कुछ रुपये मौजूद थे, फिर दोनो का गठबन्धन हो जाना कोई मुश्किल बात नहीं थी। स्वामी ब्रह्मानन्दजी, और उनके पुत्र श्री पन्नालालजी ने मेरे आने की खबर पडित कृष्णगोपाल को दे रखी थी, इसलिए कोच मे ठहरने के लिए इधर-उधर भटकने की जरूरत नही पडी।

कोच से महेशपुरा के पास तक कच्ची सडक गई है। मैं पैदल ही आदमी के ऊपर सामान लादे महेशपुरा की ओर चल पडा। जनवरी (1917 ई) के महीने मे ज्वार-बाजरे के फले हुए बडे बडे पौधे खेतो मे खडे थे। नई फसल बोई जा चुकी थी। महेशपुरा के पास पहुँचने पर हाथो कटी जमीन की स्वाभाविक खन्दको से होकर उतरना-चढना पडा। मकानों की खपडैल चौडी थी, उनकी दीवारे कच्ची, तथा दरवाजे साफ लिपे-पुते थे। स्त्रियो के पैर के चीन्हेदार कडे, मोटी मजबूत बँधी साडियाँ और ठोस शरीर देखकर मुझे बजरे के सस्कृत प्रतिशब्द वज्रान्न का अर्थ याद आ रहा था।

रामदीन पहाडिया (स्वामी ब्रह्मानन्द का गृहस्थाश्रमी नाम) के घर का पता लगाना, अपनी प्रसिद्धि के कारण शहर मे भी मुश्किल न होता, फिर यहाँ तो गाँव था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी उनके ज्येष्ठ पुत्र पन्नालाल और शायद कनिष्ठ पुत्र श्यामलाल भी घर ही पर मिले। जनाना मकान मे फर्क एक साफ सुथरी हवेली थी, जिसका अगला भाग पक्का था। दरवाजे पर भीतर से बन्दूक का निशाना लगाने के लिए सूराख बने हुए थे, जिन्हे मैंने रास्ते के भी कुछ घरो मे देखा था, किन्तु यह नही सुन पाया था, कि अब भी इस इलाके मे कभी कभी सशस्त्र डाकू आ पहुँचते हैं, और उस वक्त गृहपति पुलिस के ऊपर अपनी रक्षा का भार सौंपकर चुप नही रह सकते। महेशपुरा ग्वालियर रियासत की बिलकुल सीमा पर था, गाँव से थोडी दूर पच्छिम जिस नदी मे हम रोज नहाने जाया करते थे, उसका एक तट ग्वालियर रियासत मे था। जहाँ एक किनारे पर बन्दूक रखने से साल भर की गोलघर की हवाखोरी मुफ्त धरी थी, वहाँ दूसरी ओर टोपीदार बन्दूक और लाठी एक श्रेणी मे समझी जाती थी। महेशपुरा से थोडी दूर पर नदी गाँव था, जो दतिया रियासत मे था और दक्षिण का एक गाँव था समथर की रियासत मे।

हम लोगो के राजनीतिक विचार भी थे। देश की स्वतन्त्रता के लिए शस्त्र का प्रयोग करने तथा उसके लिए फाँसी के तख्त पर लटक जानेवाले वीरो के हम प्रबल प्रशसक थे, तो भी हमने किसी ऐसी मशा से महेशपुरा को पसन्द नही किया था। हमने जान-बूझकर महेशपुरा के एक धनिक वैश्य का स्वार्थत्याग के लिए तैयार नही किया था। श्री रामदीन पहाडिया अपने पिता की एकमात्र सन्तान, मामूली बही-खाता लिखना-पढना जाननेवाले एक ग्रामीण महाजन थे। स्वामी दयानन्द के सुधारो और धर्म-प्रचार की गूँज युक्तप्रान्त और पजाब के बहुत से हिस्सो मे पहुँची थी। विचारो के पर बहुत तेज होते हैं, और किसी तरह वह महेशपुरा के तरुण वैश्य रामदीन के पास भी पहुँचे। उनके पास बाप का कमाया कुछ धन था। कुछ कपडे का रोजगार था, और कुछ गिरवी रखने तथा सूद पर रुपया देने का कारबार होता था। वे आर्यसमाज की किताबो को पढने लगे, उसकी ओर से एकाध जहाँ-तहाँ निकलनेवाले अखबारो को मँगाने लगे। आर्यसमाज मे उन्हे रोशनी दिखलाई देने लगी। मूर्तिपूजा, श्राद्ध, पुराणो की गप्पो मे उनकी श्रद्धा उठ गई। किन्तु सिर्फ अभावात्मक कर्म-धर्म पर वह सन्तोष करनेवाले न थे। उन्होंने बाकायदा सन्ध्या शुरू की, हवन भी उसमे शामिल किया; फिर अपनी पत्नी को अक्षर-परिचय करा अपनी यथार्थ सहधर्मिणी बनाया। यही नही, लोकाचार की परवाह न कर स्त्री को भी जनेऊ पहनवाया। इन वाह्य आचारो को आर्यसमाज प्रधानता नही देता था, उसका जोर मानसिक आचारो पर भी था। झूठ बोलने से बढकर पाप नही, सच से बढ़कर धर्म नहीं—इसे वह बहुत पढ़ चुके थे। उन्होने उसकी पाबन्दी का निश्चय किया। व्यापारी के लिए यह बडी मुश्किल बात थी, किन्तु रामदीनजी अटल रहे। गाहक कपडे का दाम पूछते। जवाब

मिलता—'ग्यारह पैसा गज।'

'कुछ कम कीजिए भैयाजी !'

'एक दाम।'

'अरे ऐसी क्या ?'

'नहीं एक दाम बोलते हैं।'

शुरू में कुछ कठिनाई तो हुई किन्तु पीछे लोगों ने देखा, कि रामदीन की दूकान में चीजें कोंच के भाव से भी सस्ती मिलती हैं, और मोल-तोल में ठगे जाने का डर नहीं। परिणाम यह हुआ, कि महेशपुरा की दूकान खूब चल निकली। सूद और व्यापार का नफ़ा पाप की कमाई है, यह तो रामदीनजी को मालूम नहीं था, इसलिए उनकी श्रीवृद्धि धर्म की कमाई से ही हुई कहना चाहिए।

रामदीनजी के दो लड़के, तीन या चार लड़कियाँ हुई। लड़कियों की शिक्षा के बारे में आर्यसमाज जोर तो देता था, लेकिन महेशपुरा जैसे गाँव में इसका इन्तिजाम करना मुश्किल था। पुत्रों की शिक्षा—विशेषकर संस्कृत शिक्षा—की ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने फर्रुखाबाद के एक पंडित को अपने यहाँ बुलाकर रखा। गाँव से बाहर अपने बाग में आश्रम बनवा वहीं लड़कों की पढ़ाई शुरू कराई। बड़े लड़के श्री पन्नालाल की संस्कृत में अच्छी गति हुई, और यदि पढ़ाई कुछ दिन और वैसे ही चलती, तो वह अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय से अच्छे पंडित होते। छोटे ने पढ़ाई पीछे शुरू की, और उसमें बड़े भाई जैसी प्रतिभा भी नहीं थी।

लड़कों की पढ़ाई समाप्त करा उन्हें ब्याहा जा चुका था, एक को छोड़ बाकी कन्याओं का भी ब्याह हो गया था। घर का काम-काज लड़कों ने संभाल लिया था, तब रामदीन पहाड़िया को खयाल आया—'गृह कारज नाना जंजाला' को छोड़कर सन्यास ग्रहण किया जाये, और उन्होंने सन्यासी हो स्वामी ब्रह्मानन्द नाम धारण किया। स्वामी ब्रह्मानन्द को घर से बाहर घूमने का मौका नहीं मिला था। किसी के सामने उन्होंने हाथ पसारा नहीं था, इसलिए सन्यासी होने पर भी वह भोजन वस्त्र के लिए अपने परिवार के ही परतन्त्र रहना चाहते थे। उनकी ही प्रेरणा से लड़कों ने चार हजार रुपये विद्यालय के लिए देने स्वीकार किये थे—रुपये एकमुश्त न दे उसके सूद के तौर पर प्रति मास चालीस-पैंतालीस रुपया देना तै हुआ था।

इतने रुपये से विद्यालय का काम नहीं चल सकता, इसलिए महेशपुरा पहुँचने पर मेरी और स्वामी ब्रह्मानन्दजी की सलाह हुई, कि विद्यालय के लिए एक डेढ़ महीने घूमकर चन्दे का वचन लिया जावे। अयोध्या के तजर्बे के अनुसार मैं समझता था, काफी पैसों का वचन मिल जाने ही पर हमें विद्यालय खोलने का साहस करना चाहिए।

महेशपुरा से राव साहेब के बगरा, जालौन, आदि घूमते हम पैदल ही महेशपुरा लौट आये। स्वामी ब्रह्मानन्दजी अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के लिए काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, जगह-जगह उनके जान-पहिचान के लोग भी थे, इसलिए चन्दे का वचन हर जगह हमें आसानी से मिलता गया। हम दिन में तीन-चार गाँव में जाते। विद्यालय किस तरह धर्म, विद्याप्रसार, और देशोन्नति के लिए प्रयत्नशील होगा, इसे हम समझाते, इसके बाद चन्दा लिखवाने के लिए अपील करते। लोग नकद या अनाज की तौल में चन्दा लिखाते। स्वामीजी अपनी बुंदेलखंडी भाषा में बोलते, और भाषण प्रभावशाली रहता। चन्दे की सूची पर जिस तरह गाँव के पीछे गाँव और नाम के पीछे नाम दर्ज होते जा रहे थे, उन्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई—कम से कम खाने-कपड़े के लिए तो हम अब निश्चिन्त रहेंगे।

मेरे आने से पहिले भगवती भाई यहाँ पहुँचे थे, और उन्होंने जिले तथा ग्वालियर रियासत के बहुत-से गाँवों में घूमकर खूब प्रचार किया था। मेरी तरह वह परिवार के बोझ से मुक्त न थे, इसलिए अब वह रह नहीं सकते थे, और विद्यार्थियों के साथ एक और अध्यापक की भी जरूरत थी। पत्रों में विज्ञापन देने पर पानीपत के मुकुन्दलाल, अजमेर के रामसहाय, मथुरा के यशवन्त, एक सन्यासी तथा पुराने परिचितों में महादेवप्रसादजी, योगेश, माणिक महेशपुरा पहुँच गये। गर्मियों से पहिले ही महेशपुरा में वैदिक-विद्यालय आरम्भ हो गया। पढ़ाई बैठक में होती, और भोजन बनाने-खाने का इन्तिजाम था श्री पन्नालालजी की गोशाला में। किसी को वेतन देना नहीं था, सिर्फ आठ-दस आदमियों के खाने-कपड़े का इन्तिजाम करना था। फसल कटने पर जब हमने चन्दा वसूल करना चाहा,

तो पता लग गया कि सूची पर नाम लिखने से चन्दे की रकम का वसूल करना कितना मुश्किल है। वचन देनेवाले लोगो मे से बहुत कम ने चन्दे दिये, और वसूली मे जो समय लगता था, उससे वसूल हुए चन्दे की मात्रा को देखने पर हर चन्दादाता के यहाँ जाने का खयाल ही हमने छोड दिया। चैत-वैशाख मे महेशपुरा के ही आसपास हम लोगो ने कुछ घूम दिया, खाने के लिए काफी अनाज मिल गया।

यहाँ भी पढाई करीब-करीब मुसाफिर विद्यालय जैसी थी। अरबी, सस्कृत मुख्य तौर से पढाई जाती थी। व्याख्यान और शास्त्रार्थ होते। तीन-चार हिन्दी-उर्दू के आर्यसमाजी पत्र आते, 'प्रताप' तो उस वक्त के राष्ट्रीय विचारवाले तरुणों के लिए अनिवार्य चीज थी। रामसहायजी पहिले आनेवाले विद्यार्थियो मे थे। उनको सस्कृत पढने की बहुत इच्छा थी, किन्तु दो-तीन बार प्रयत्न करने के बाद वह हताश हो चुके थे। लखनऊ मे उन्होने मुझसे अपनी चिन्ता बतलाई थी, मैंने उन्हे प्रोत्साहन देते हुए कहा था, यदि कही एक जगह मुझे रहने का मौका मिला तो सिखूँगा। रामसहायजी बच्चे नही थे। बचपन मे रमशा बादशाह के नाम से अजमेर का वह मुहल्ला काँपता था, जिसमे वह रहते थे। मुहल्ले की सारी बालसेना रमशा बादशाह की अवैतनिक सेवा के लिए तैयार थी। उस वक्त भी कोई अध्यापक भय दिखलाकर रमशा बादशाह को नही पढा सकता था। खैर, मैंने उन्हे स्वाभाविक ढग से सस्कृत पढाना शुरू किया। कथा मे आये हुए सजीव शब्दो मे परिचय कराया। इसमे पडित सातवलेकर का 'सस्कृत स्वयशिक्षक' बडा सहायक साबित हुआ। रामसहायजी का आत्मविश्वास बढ चला, किन्तु उन्हे पूरा सन्तोष तब हुआ, जब ग्वालियर जिले के एक गाँव मे उन्होने पाणिनीय व्याकरण (सिद्धान्त कौमुदी) पढनेवाले एक पडित को सस्कृत बोलने मे परास्त कर दिया।

वह महायुद्ध का जमाना था। चीजो का भाव बहुत चढ गया था, तो भी लोगो को विश्वास नही था, कि ब्रिटिश साम्राज्य को कोई भारी क्षति होगी या कम से कम भारत के भाग्य मे पलटा खाने की बात को तो कोई सोचता भी नही था। राजनीतिक चेतना शिक्षितो मे से भी बहुत कम मे थी। सौ वर्ष से अधिक हो गया, अंग्रेजी शासन अपने हर एक विरोध को दबाते हुए जिस तरह दृढ होता गया, उसमे स्वतन्त्रता का स्वप्न देखना लोगो के लिए असम्भव मालूम होता था। महेशपुरा रहते वक्त 'प्रताप' मे राष्ट्रीय प्रगति का कुछ-कुछ अनुभव होने लगा। रूस की फरवरी की क्रान्ति की बहुत क्षीण खबरें भारत मे पहुँची। वस्तुत. हमे खबरें भी तो उतनी ही मिलने पाती थी, जिनके आने की हमारे अग्रेज प्रभु इजाजत देते थे। अग्रेज हार रहे है—हमारी यह धारणा समाचारो के आधार पर उतनी नही थी, जितनी कि मनोकामना पर।

1917 ई. मे कोच के मन्नू महाराज के डाकू गिरोह का आसपास के इलाके पर भारी आतक था। वह कई जगह खबर देकर डाका मारने जाता था। कोई गिरोह और उसके सरदार की बहादुरी और गरीबपरवरी की तारीफ करते थे, कोई उन्हे अत्याचारी बतलाते थे। जाडो मे कितने ही दिनो तक तो महेशपुरा मे बहुत आतक छा गया था, यद्यपि महेशपुरा उतना निहत्था न था। रियासत की सरहद पर रहने के कारण गैरकानूनी टोपीदार बन्दूके वहाँ दर्जनो थी, किन्तु चुरा-छिपाकर रखी दर्जनो बन्दूको को जमा कर मरने-मारने के लिए तैयार होकर आये डाकुओं का मुकाबिला करना आसान काम न था। खैर, महेशपुरा मे डाका पड़ने की नौबत नहीं आई।

गाँव के एक ठाकुर के लड़के का ब्याह ग्वालियर रियासत के एक गाँव में होनेवाला था। बारात में ऊँट और बहली की सवारी थी। मैं एक साँडनी (ऊँटनी) पर चढ़कर गया था। बारात बाग मे ठहरी थी, नाच नही था, नहीं तो मैं न गया होता। बारातियो के पास काफी बन्दूकें थी। ब्याह दिन में हो रहा था, जो मेरे लिए नई-सी बात थी। लडकी की बात नहीं कह सकता, लड़का 9, 10 वर्ष से ज्यादा का न था, और दोपहर के वक्त, जिस वक्त कि ब्याहमन्त्र पढे जा रहे थे, नीद से उसकी आँखें झँपी जाती थीं। दोपहर बाद बारात खाने के लिए चली तो गाँव के शरारती लडकों ने रास्ते के एक महुवे के दरख्त पर, बडे बीहड़ स्थानों मे मिट्टी की कुल्हिया, लाल मिर्चें और क्या-क्या चीजे टाँग रखी थीं। बिना इन लक्ष्यों को बेधे खाने जाना बारातियों के लिए शरम की बात थी। लोगो ने अपनी-अपनी बन्दूके उठाईं, और निशाना दागना शुरू किया। और सब तो गिर गये, किन्तु एक कुल्हिया दरख्त के शिखर पर ऐसी जगह टँगी हुई थी, कि किसी का निशाना ही नहीं लग रहा था। भोजन

के लिए पंगत बैठने मे देर हो रही थी। शाम आती देख बारातियों ने बेईमानी से लक्ष्यवेध करना चाहा, और एक आदमी अपनी बन्दूक की नली मे गोली की जगह रस्सी भरने लगा था। मैं सब देख रहा था, मैंने कहा—जरा-सा बन्दूक मुझे तो दो। एक भरी हुई बन्दूक मेरे हाथ में थमाई गई, और लोग पंडितजी की ढिठाई देखने को खड़े हो गये। मैने निशाना लिया, बन्दूक की कन्नी, कोये को कुल्हिया की सीध में मिलाया, और घोड़ा दाब दिया। धड़ाके की आवाज हुई, और कुल्हिया चकनाचूर। यदि किसी राजकन्या का स्वयंवर होता, तो जयमाला मेरे गले में पड़ती। खैर, लोगों की वाह वाह में जयमाला पड़ने से कम खुशी मुझे नहीं हुई, वहाँ वह बात संयोग से भी हुई हो, किन्तु निशाना मेरा वैसे अच्छा लगता था। आसपास बन्दूकों की इफरात देखकर निशाना लगाने का मुझे शौक लग गया था। यदि किसी खुफिया पुलिसवाले को पता लगा होता, तो मुझे बम्ब-पार्टी का आदमी समझता। इसी बारात की एक और घटना है। एक साँड़नी का एक छोटा सा बच्चा था। कुछ शरारती लड़के थे, वे उस बच्चे तथा उसकी माँ—जिसका भी कद छोटा था—की पीठ पर चढ़ा करते, और वे मा-बेटे बैठने नही पाते। पास में एक बड़ी ऊँटनी थी, जिस पर मै चढ़कर आया था। वह बड़ी शैतान ऊँटनी थी। वह पास बँधी हुई थी, और लड़कों की गुस्ताखी से मन ही मन कुढ़ रही थी। घुमाते-घुमाते एक बार उसने अपनी नकेल छुड़ा पाई, फिर एक शैतान लड़के के पीछे लपकी। बाग के दरख्तों में चक्कर काटता आगे आगे वह बारह-तेरह वर्ष का लड़का दौड़ रहा था, और पीछे-पीछे ऊँटनी। बाराती अधिकांश खाना खाने गये थे। मेरी और दूसरे जो चन्द आदमी थे, उनकी अकल काम नहीं करती थी। यदि दरख्त न होते तो ऊँटनी ने कब न लड़के को पकड़ लिया होता, किन्तु लड़का दरख्तों में फुरती से घुस पड़ता, ऊँटनी को वैसा करने में देर लगती। लड़का बदहवास था, और किसी वक्त भी गिर जानेवाला था, इसी समय हमारे पास खड़े एक लड़के ने ईंट का टुकड़ा साधकर मारा। ऊँटनी रुक गई, देखा उसकी एक आँख से खून की धार बह रही है।

अपनी ऊँटनी को कानी देखकर मालिक लड़के पर बहुत नाराज होने लगा। मैंने समझाया—आज यह एक आँख न जाती, तो इस लड़के का प्राण जाना निश्चित था। बेचारे शान्त हुए। ऊँटनी का क्रोध देखने का मुझे यहाँ मौका मिला था।

महेशपुरा अच्छा खासा बड़ा गाँव है। जमींदार ठाकुर (राजपूत) लोग हैं, और मारपीट तथा राजपूती शान भी कुछ रखते हैं। उनमें से किसी किसी का पन्नालालजी के घर से कुछ वैमनस्य भी कभी रहता, किन्तु हम लोग सबसे अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते थे, और उसमें काफी सफलता भी मिलती थी। गाँव के आसपास अब बड़े जंगल नही थे, किन्तु बुंदेलखंड की और नदियों की भाँति महेशपुरा के पास की नदी भी बहुत नीचे बहती थी, जिससे आसपास की कड़ी जमीन सदियों से कटते कटते बड़े-बड़े कगारों और खड्डों के रूप मे परिणत हो गई थी, जिनमे भेड़िये, लकड़बग्घे रहा करते थे। मैं अक्सर शाम को नदी पर शौच आदि के लिए जाता, लौटते हुए किसी मिट्टी की पहाड़ी के शिखर पर बैठकर सन्ध्या करता, चाँदनी में खासकर अधिक देर लगती। इस प्रकार मैं अपनी वाचनिक आस्तिकता को वास्तविक रूप देने के प्रयत्न मे था। आर्यसमाज के गर्म-पक्ष का समर्थक होने से अक्सर मैं जाति-पाँत की कड़ी आलोचना करते हुए स्वामी ब्रह्मानन्द आदि को भी लताड़ देता। वे कह देते—यदि आपको लड़की-लड़के ब्याहने होते, तब न मालूम होता।

बरसात के दिनो में महेशपुरा से बहुत कम लोग कहीं आते-जाते हैं। काली मिट्टी पानी पड़ते ही जोर से सट जानेवाली लेई की गहरी तह के रूप मे परिणत हो जाती, और फिर उसमें जूता भी पहिनकर चलना असम्भव होता। कीचड़ की मोटी तह मे लिपटे पहियोवाली गाड़ी को बैल खींच न सकते थे। साँड़नी तो बरसात मे सिर्फ रेगिस्तान ही में चल सकती है, इसलिए पन्नालालजी की साँड़नी भी बेकार थी। बरसात के चार महीनो में कैलिया से हमें अपनी डाक मिल जाया करती थी। कैलिया के दारोगा उस वक्त भूत-प्रेत झाड़ने मे बड़ी ख्याति प्राप्त कर रहे थे। जुमा के दिन (?) वहाँ मेला-सा लगने लगा था। दारोगा साहेब को पुलिस के काम के लिए फुर्सत कहाँ थी ? ऊपरवाले अफ़सरो को मालूम हुआ, तो उन्होंने उन्हे लाईन हाजिर करा लिया। दारोगाजी की दुआ से फायदा उठानेवाले स्त्री-पुरुषों को बहुत असन्तोष हुआ, किन्तु सरकार उनकी कब सुननेवाली थी ?

महेशपुरा मे रहते ही वक्त अखबारो से रूसी-क्रान्ति की खबरों ने मेरे ऊपर एक नया प्रभाव जमाना शुरू

किया। इन खबरो से मालूम होता था, कि वहाँ गरीबों-मजदूरों, किसानो—की भी एक पार्टी है, जो गरीबो के हक के लिए लड़ रही है, वह भोग और श्रम के समान विभाजन का प्रचार करती है। मुझे ये खयाल अखबारो के बहुत से अको को पढ़ते हुए सिर्फ़ बीज रूप मे मालूम हुए। मैंने उस वक्त तक हिन्दी या उर्दू मे साम्यवाद पर कोई पुस्तक पढ़ी न थी, शायद वह मौजूद भी न थी। किसी जानकार से इस बारे मे वार्तालाप भी नही किया था, तो भी भोग-श्रम-साम्य का सिद्धान्त बहुत जल्दी से मेरे स्वभाव का एक अग बन गया। मालूम होता है—कोई आदमी अनजान किसी ऐसी चीज की खोज मे हो जिसकी आकृति और नाम को भी वह भूल गया हो, और वह चीज एक दिन अकस्मात् उमे मिल जावे। मैंने उस बीज को अपने आप मोचकर विकसित किया। आसपास के लोगो को मै उसके गुणो को ममझाता, और साथ ही आर्य-सामाजिक मिद्धान्तो तथा साम्यवाद मे समन्वय करने की कोशिश करता।

स्वामी बोधानन्द ने मुझे पाली त्रिपिटक के बारे मे अनागरिक धर्मपाल का पता दिया था। उनको लिखने पर उन्होने वर्मी, सिहली, स्यामी अक्षरो मे छपे त्रिपिटक ग्रथो के प्राप्तिस्थान लिखे, जिनमे से सिहल और वर्मी लिपि मे छप कुछ पालि ग्रथ मैंने मँगा भी लिये। महाबोधि-सोसाइटी से डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण का अग्रेजी-अनुवाद-सहित नागरी अक्षरो मे छपा 'कच्चान' व्याकरण मैंने मँगाया, जिससे सिहली, स्यामी, वर्मी लिपियाँ सीखना आसान हो गया। वहाँ पढानेवाला तो कोई था नही, किन्तु फ़ुरसत के वक्त मैं स्वय कुछ पन्ना को पढ़ता।

बरसात (1917) के अन्त होते-होते यह पता लग गया, कि यदि विद्यालय को चलाना है, तो उस गाँव से हटाकर रेल के किनारे किसी बड़े स्थान पर ले जाना चाहिए। मै अभी तक इस बात पर जोर नही देता था क्योकि इससे पन्नालालजी आदि को कष्ट होता। लेकिन धीरे-धीरे यह बात उन्हे भी स्पष्ट होने लगी, खासकर स्वामी ब्रह्मानन्दजी को। एक बार शायद भगवती प्रसाद या किसी और के साथ वह काल्पी गये, वहाँ से लौटने पर उन्होने कहा—विद्यालय के लिए उपयुक्त स्थान, बस, काल्पी ही है।

बरसात के बाद बचे-खुच अनाज को हमने गदहो पर लादा, और कोच के लिए रवाना हुए। महेशपुरावालो को और हमे भी एक दूसरे से अलग होने का रज हुआ, किन्तु यदि वियोग न हो तो नये स्नेहसूत्र भी तो पैदा नही हो सकते।

रेल से हम काल्पी पहुँचे। हमारे साथी पहिले ही आकर वहाँ की ठाकुरानी की एक लम्बी-चौड़ी हवेली—नीचे ऊपर के मकान तथा अलग बैठके के साथ किराया कर लिया था। मकान काफी हवादार, पक्का, साफ़-सुथरा था। हम लोग रोज सबेरे यमुनाजी स्नान करने जाते, शाम को दो-ढाई मील टहलते—कभी रेल की सड़क के साथ पुल पार तक, कभी काल्पी के वीराने की ओर। काल्पी मे एक पुराना आर्यसमाज था, जिसका अपना मन्दिर था, और उसके कुछ उत्साही सदस्य थे। पडित शिवचरणलाल 'आर्यपुरोहित' बहुत पुराने आर्यसमाजी थे, और हम लोगो की तरह सामाजिक सुधार मे उग्रतावादी न होते हुए भी आर्यसमाज के प्रबल पक्षपाती थे। वह सारस्वत ब्राह्मण थे, इसलिए खत्री यजमानो के बिना काल्पी मे उनका आना हो ही नही सकता था।

काल्पी आने के पहिले महेशपुरा मे जमा हुई जमाअत मे से भगवती भाई अब घर जा रहे थे। योगेश अपने साथ मेरे सबसे छोटे भाई श्रीनाथ को भी लेते आये थे। मैंने सोचा था, अभी उसकी पढ़ने की उम्र है, इसलिए कुछ पढ़ जाये तो अच्छा; किन्तु उसका मन पढ़ाई मे लग नही रहा था; दूसरे मैं विद्यालय पर उन्ही लोगो का भार देने के लिए तैयार था, जो मिशनरी काम के लिए तैयार होनेवाले थे; श्रीनाथ की सिर्फ़ इतनी ही योग्यता थी, कि वह मेरा भाई था। उसे भगवती भाई के साथ सिकन्दराबाद भेजते हुए मैंने रास्ते के खर्च के लिए उसके हाथ के चाँदी के कड़े बेचवा दिये, जिस पर मेरे कुछ साथियो ने टिप्पणी भी की—"छोटे लड़के के हाथ का जेवर नहीं बेचवाना चाहिए था।' किन्तु मैं कोई वेतन तो लेता नहीं था, फिर किस फ़ंड से उसे सफ़र-खर्च देता। श्रीनाथ सिकन्दराबाद भी नहीं ठहरा, और पढ़ने-लिखने, खाने-पीने का ठीक प्रबन्ध हो जाने पर भी झूठी तकलीफ़ो को लिखकर उसने श्यामलाल को बुलवाया और घर लौट गया।

काल्पी मे बाजार के दिन हम लोग धर्मप्रचार करने जाते। मुकुन्दलाल और यशवन्त के हारमोनियम पर

भजन होते, तथा हम लोगों मे से कितनो के व्याख्यान—व्याख्यान आर्यसमाजी ढग के, जिसमें बीच-बीच में राष्ट्रीयता की पुट भी रहती। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कभी बाहर घूमने जाते, नही तो वही रहते। 1917 के आखिरी महीनो मे होमरूल का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था। ऐनी बेसट, और आरुडल की नजरबन्दी से सनसनी फैली हुई थी, और लोकमान्य तिलक की मुक्ति से गर्मदली अंश मुल्क मे जोर पकड रहा था। होमरूल आन्दोलन को जनता में फैलाने के लिए पडित वेकटेशनारायण तिवारी के सम्पादकत्व मे कितनी ही छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ निकली थीं, जिनमें जालौन जिले के एक राष्ट्रीय कर्मी का आल्हा भी था। 'भारत-भारती' पहिले ही से हिन्दीभाषी जनता में प्रिय हो रही थी, किन्तु अब उसने राष्ट्रीय सगीत-पुस्तक का रूप धारण कर लिया था। मेरे कोंच के एक ब्राह्मण मित्र ने तो अपने बच्चो तक को उसके बहुत से अंश कठस्थ करा दिये थे। 'प्रताप' को मैं उसके आरंभिक समय से ही पढ़ने लगा था, किन्तु पहिले-पहिल काल्पी मे ही वहाँ की एक धर्मशाला में मैंने श्री गणेशशकर विद्यार्थी का व्याख्यान सुना। उनके निर्मासल मुख पर चश्म लगी ऑखे असाधारण तौर से चमकीली मालूम होती थीं।

जाड़े मे कुछ समय बीतने पर मालूम हुआ, पोखरायाँ (कानपुर-जिले) में प्लेग जोर पकड़े हुए है, लोग बहुत मर रहे हैं। आरम्भिक युग के आर्यसमाजियों में निर्भय हो बीमारों, अनाथों, गरीबों की सेवा करनेवाले वीरो की कितनी ही कहानियाँ मुझे सुनने को मिली थी। पडित रलाराम बेजवाडिया—रेलवे के साधारण पैटमेन—अपनी ऐसी ही सेवाओ से आर्यसमाज के एक श्रद्धेय पुरुष बन गये थे। अपनी सात-आठ रुपये की तनख्वाह मे से भी बचाकर वह कुछ पुस्तके बाँटते, कुछ दवाइयाँ ले प्लेग के दिनों मे—और उस समय सारे उत्तरीय भारत में प्लेग का भारी प्रकोप था—रोगियों की सेवा करते। एक जैन-परिवार के बारे मे कहा जाता है, वह आर्यसमाजियों से बहुत चिढ़ता था। एक बार उसके घर के सभी लोग बीमार पड गये, कुछ मर गये, बाकी को पानी तक देनेवाला कोई न था। पडित रलाराम वहाँ पहुँचे। एक-दो दिन वे लोग पतित समझकर उनके हाथ की दवा नही पीते। घर के तरुण लडके की गिल्टी पक गई थी। उस वक्त डाक्टर कहाँ मिलते। पडित रलाराम ने चीरने के लिए अपना चाकू निकाला, किन्तु उसमें मोर्चा लगा था। उन्होंने गिल्टी मे मुँह लगाकर पीव को चूसकर फेंक दिया। घरवालों पर असाधारण प्रभाव पडा, और तब से वह पडित रलाराम को देवता-सा मानने लगे। राजपूताने के अकाल में सेवा करते, बाँटने के लिए झोले मे डाल चने के बोझ से कैसे एक बार महात्मा हसराज गिर गये थे, यह कथा भी मैंने सुनी थी। मेरे रहने से कुछ ही वर्ष पहिले आगरे में प्लेग से मरे तीन दिन के सडे मुर्दे को निकालकर फूँकने का साहस कर कैसे एक आर्यसमाजी ने जान-बूझकर मृत्यु को निमन्त्रण दिया था, यह मेरे लिए ताजी घटना थी। इस प्रकार आर्यसमाज ने सिर्फ जबानी जमाखर्च ही नही प्राणों की आहुति और पीड़ितो की सेवा करके अपने लिए एक आकर्षक इतिहास तैयार किया था। मैं कितने दिनों से लालसा रखता था, ऐसी सेवा के लिए।

मैं और योगेश पोखरायाँ गये। हमने अपने दोस्तों से चन्द रुपये माँग लिये थे। पोखरायाँ के डिस्पेन्सरी के डाक्टर बड़े सज्जन थे। वह स्वयं तो मरीजों के घर नही जा सकते थे, किन्तु उन्होने हमसे कह दिया कि जितनी दवा की जरूरत हो हमसे ले जावे। दूध-साबूदाने का इन्तिजाम हमने अपने रुपयो से कर लिया। बाजार के बहुत लोग घर छोड गये थे, और बहुत से किस्मत पर सब कुछ छोड़ घर में ही पडे हुए थे। हम लोग एक खाली गोले मे ठहरे। मरीजो का टेम्परेचर लेना, दवा देना, और बैठकर कुछ सेवा-सुश्रूषा करना हमारा काम था। किसी-किसी की गम्भीर बीमारी के बारे मे डाक्टर से भी सलाह लेते। हम लोग नगे पैर थे, प्लेग का कोई टीका-वीका नहीं लिया था, मौत हमारे लिए डर की बात न थी, इसलिए हम लोग निधड़क रात-दिन घूमते थे। एक दिन—पता लगा, कि सराय में एक भठिहारा बीमार पड़ा है। देखा, घर के कच्चे ओसारे मे नीचे धँसी खाट पर एक 24, 25 साल का साँवला नौजवान पड़ा है। घर मे क्या सराय में भी कोई नही था। शायद दो दिन से उसे पानी भी देने कोई नहीं आया। जब धनियो को भी उस बीमारी में पानी देने वाले दुर्लभ थे, तो हाथ-पैर चलाकर शाम की रोजी चलानेवाले भठिहारे की कौन सुध लेता? शायद हमने अन्त तक उसे बेहोश ही देखा। हमने उसके पास रहने की अपनी ड्युटी बाँध ली। रात को लालटेन लिये उसके पास पड़े रहते। डाक्टर साहेब के थर्मामीटर को लालटेन के पास से देखते हुए मैंने उसे गर्मशीशे से सटा दिया, और देखा पारा थर्मामीटर तोड़कर उड गया।

डाक्टर साहेब ने उसके लिए कुछ नही कहा। दो या तीन दिन की लगातार सेवाओ के बाद भी भठिहारा बचा नही। हमें इस बात का सन्तोष रहा, कि हमने हिन्दू-मुसल्मान का जरा भी खयाल किये बगैर उस गरीब की सेवा की। एक और शोचनीय मृत्यु, एक खाते-पीते अच्छे घर के नौजवान लड़के की हुई, जिसकी तरुण स्त्री हमेशा के लिए विधवा बनने को मौजूद थी। जब हम उस घर मे जाते, तो घरवालो को बड़ी सान्त्वना होती। हम कुछ आशा और ढारस दिलाते। वह देखते थे, हम जान की परवाह न कर उस आग मे रात-दिन विचर रहे हैं। दूध-साबूदाने के पैसों की हमे कमी नही थी। हमारे भीतर एक तरह का अजीब उत्साह था।

लडाई और गम्भीर हो चली थी। काल्पी के मारवाडी सेठ की गिरनी-फैक्टरी (रुई की गॉट बाँधने का कारखाना) अब भुस की गॉटे बॉधकर लडाई के मैदान मे भेज रही थी। काल्पी के तहसीलदार साहेब आर्यसमाज से कुछ सहानुभूति रखते थे, और हमारे साथ भी उनका सम्बन्ध अच्छा था। गिरनी फैक्टरी मे एक से अधिक बार ब्रिटिश विजयकामना के लिए भगवान से प्रार्थना की गई थी, जिसमे एकाध प्रार्थना कराने का भार मेरे ऊपर पडा। मेरी प्रार्थना मे ब्रिटिश का नाम भी नही आता, और मैं सत्य और न्याय पर आरूढ़ शक्तियो की विजय की कामना करता—कुछ लोगो ने इस बात को खासतौर से मार्क किया था।

जाडे के दिनो मे कभी-कभी जिले के भिन्न-भिन्न भागो मे मुझे व्याख्यान देने के लिए जाना पडता। उरई के तरुण आर्यसमाजियो ने पोखरे पर के एक शिवालय को ही आर्यसमाज और उसके पुस्तकालय के रूप मे परिणत कर दिया था। वहाँ मैं अक्सर व्याख्यान देने जाता। राय साहब पडित गोपालदास आर्यसमाज के एक श्रद्धालु भक्त थे, किन्तु उनकी सरकारपरस्ती के कारण मैं उनसे नफरत करता। जालोन की डिस्पेन्सरी के डाक्टर वहाँ के आर्यसमाज के कामो मे बहुत भाग लेते, सरकारी नौकर होने से उनकी मजबूरी को हम जानते थे, और इसलिए उनसे हमारी पटरी अच्छी जमती। वहाँ के आर्यसमाज के जल्सो मे स्थानीय पादरी जानसन (दर्याविसिह) बराबर शका-समाधान करने आते, और शका-समाधान के लिए मुझमे एक खास प्रतिभा थी, जिसका लोहा सबको मानना पडता। कई साल बाद पादरी जानसन का तबादला एकमा मे हो गया। मैं उनसे बडे प्रेम से मिलता, और हमारा बरताव गहरे दोस्त की तरह का होता, हालाँकि राजनीतिक क्षेत्र मे काफी ख्याति प्राप्त हो जाने तथा हिन्दूसभा के जोर के जमाने मे ईसाई बनानेवाले आदमी के प्रति सहानुभूति की उस समय आशा नही रखी जाती थी। मिशन के पास पीछे पैसा नही रह गया, और पादरी जानसन को होमियोपैथी की दवा करके बडी गरीबी मे दिन गुजारा करना पडता। उनकी उस अवस्था को भी जब मैं जालौनवाली पोशाक से मुकाबिला करता, तो मुझे बहुत दुःख होता। काल्पी मे भी मेथोडिस्ट मिशन के एक पादरी रहते थे। उनसे हमारी बड़ी दोस्ती हो गई थी। बहस के वक्त कडी से कडी आलोचना करनेवाले हम लोगो को जब वे अपने साथ बिना शुद्धि के बिठलाकर रोटी दाल खिलाते देखते, तो उनको पहिले तो इसका अर्थ समझना मुश्किल था।

धौलपुर मे आर्यसमाज के मन्दिर को तोडकर राज्य ने घोड़साल बनाई थी। इसकी खबर जब बाहर के आर्यसमाजियो को लगी, तो हल्ला मचा। सत्याग्रह की तैयारी शुरू हुई। कितने ही आर्यसमाजी धौलपुर पहुँचे, जिनमे मैं और भाई साहेब भी थे। पीछे स्वामी श्रद्धानन्द के बीच मे पड़ने से मामला तै हो गया।

1917 समाप्त हो रहा था, जबकि एक दिन स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने प्रस्ताव किया, और मैंने भी हल्के दिल से एक पोस्टकार्ड लिखकर परसा भेज दिया। तीसरे ही चौथे दिन महन्तजी का तार पहुँचा, कि सर्वे के काम मे मठ की जमीदारी की देखभाल करने के लिए तुम्हारी बडी जरूरत है, तुरन्त चले आओ। शायद तार के साथ कुछ रुपये भी थे। मैंने तो साधारण कुशल-प्रसन्न तथा वरदराज के बारे मे कुछ जानने के लिए पत्र लिखा था, मैं इसकी आशा नही रखता था। स्वामीजी जोर देने लगे—जाओ। मैंने कहा—मैं आर्यसमाजी हूँ, अब वैष्णव-मठ से मेरा सम्बन्ध क्या ? वह जोर देते ही रहे, मैं हिला नही। इसी बीच मे महन्तजी का विस्तृत पत्र पहुँचा। इतने दिनो मे मेरी कोई खबर न पाने से वे कितने चिन्तित थे। वृद्धावस्था के कारण वह कैसे कुछ दिनो के मेहमान हैं। यदि मठ की सम्पत्ति को अब न सँभाला, तो इसका खमारा पीछे तुम्हे भी भोगना पड़ेगा आदि। वह पत्र उनकी असमर्थता और सहायता के लिए दयनीय पुकार से भरा हुआ था। अब की बार स्वामी ब्रह्मानन्दजी का जोर लगाना व्यर्थ नही गया। मठ की सम्पत्ति की रक्षा तथा बूढ़े महन्तजी की थोडी-सी सहायता कर देने मे क्या

हर्ज है—सोचकर मैं परसा जाने के लिए तैयार हो गया।

रेल पर सवार होने पर दिमाग में आया, कि वैरागी बाने मे चलना होगा। मन में हिचकिचाहट होने लगी, लेकिन अब तो कदम उठ चुका था। रास्ते में कहीं से कंठी ले गले में बाँधी, शिर मुँह के बाल साफ किये और बनारस होते परसा पहुँचा। उस वक्त परसा, बहरोली, और जानकीनगर में सर्वे का काम चल रहा था—कहीं खाना पूरी हो रही थी, कहीं तसदीक। सर्वे के अमीन अलग अपनी कमाई के लिए कागज पर झूठ इन्दराज कर रहे थे, और मठ के दीवान पटवारी अलग। मठ के सबसे बड़े गाँव बहरोली में बहुत से तनाजे पड़े थे। किसान डटे हुए थे, और महन्तजी भी घबराये हुए थे। मेरे आने पर उन्हें बड़ी खुशी हुई। जाड़ा शुरू हो रहा था। महन्तजी ने फलालैन की चौबन्दी बनाने का प्रस्ताव किया। मैंने मोटिया (खद्दर) की मिर्जई के लिए कहा। महन्तजी ने कहा—ऐसा करने से मेरी बदनामी होगी, लोग कहेंगे कंजूसी के खयाल से अपने पट्टशिष्य को महन्तजी मोटिया का कपड़ा पहनाते हैं। अन्त में स्वदेशी ऊनी कपड़े पर समझौता हुआ। मोटिया की मिर्जई को भी मैंने अलग से बनवा ही लिया। शौकीनी, नौकर चाकरों के साथ बरताव सबसे मेरा तरीका बदला हुआ था। जब जमींदारी के गाँव में पहुँचा, और मैंने कह दिया कि न एक छटाँक तरकारी मुफ्त ली जावेगी न चुल्लूभर दूध, तो नौकरों से बढ़कर आश्चर्य और आपत्ति असामियों ने की। कहने लगे—आप साधु महात्मा हैं। मैं उत्तर देता—ठीक, किन्तु जब मैं साधु महात्मा के तौर पर आऊँ, तो मुझे खाने पीने की चीजें मुफ्त लेने में उज्र न होगा। इस वक्त तो मैं तुम्हारे जमींदार की तरह आया हूँ।

सर्वे के कागज जब मेरे सामने आये तो पहिले तो बिलकुल नई चीज तथा झगड़ों और सर्वे नम्बरों की भारी संख्या होने से मेरी अक्ल चकराई। लेकिन अब दूसरा चारा न था। कागज देखने लगा। मठ के दीवान, और गाँव के पटवारी मुझे कागज का रास्ता बतलाने की जगह उस जंगल में उलझा देने के लिए ज्यादा मुस्तैद थे। पुराने सर्वे के कागजों से नये कागजों का मुकाबिला शुरू किया। झगड़ालू खेतों पर पूछ ताछ शुरू की। और फिर जब मठ की तरफ से दिये गये झूठे तनाजों को हटाना शुरू किया तो मठ के अम्ला-लोग महन्तजी तक दौड़ गये—पुजारीजी तो हजारों की जायदाद को पानी में फेंक देना चाहते हैं। लेकिन मेरे तनाजों के हटाने पर असामियों की ओर से भी झूठे तनाजे हटाये जाने लगे। मैंने उन्हें दिखलाकर बतलाया कि झूठे तनाजों से हम ज्यादा लाभ में न रहेंगे। महन्तजी ने अम्लों को मुझसे ही आकर भुगतने के लिए कहा। मैंने दीवान की दी हुई कितनी ही रसीदें पकड़ीं, जो रिश्वत लेकर खेत पर असामी का कब्जा साबित करने के लिए लिखी गई थीं। ऐसी एक रसीद को एक जुलाहे ने डिप्टी के सामने पेश किया। दीवान ने उसे पहिले के पटवारी के नाम से लिखी थी। मैंने जाली बतलाकर रसीद को रख रखने के लिए कहा। डिप्टी मेरे बरताव से समझ गये थे, कि मैं सारी शक्ति लगाकर सच्चाई तक पहुँचने की उनसे भी ज्यादा कोशिश करता हूँ, इसलिए वह मेरी बातों का बहुत यकीन करते थे। जब रसीद रख ली गई, और जाली रसीद पर मुकदमा चल जाने का डौल मालूम होने लगा, तो बूढ़ा असामी मेरे पास दौड़ा आया और अपने जवान लड़के को लानत मलामत करते हुए बहुत विनती करने लगा। मैंने उसे छुड़वा दिया। दूसरी घटना बहरोली के पलक ओझा की है। उन्होंने सर्वे में रुपया देकर मालिक के गैरमजरूआ जमीन की सिसवानी (शीशम के झुर्मुट) को अपने नाम लिखवा लिया था। शीशम खुदरो दरख्त होते हैं, और जमीन मालिक की थी ही, फिर वह पलक ओझा का कैसे हो सकता था। मैंने उज्र किया। डिप्टी ने मेरी बात के औचित्य को देखा, किन्तु इधर कई उज्रदारियों में मेरे पक्ष में फैसला देते देते अब वह एकाध फैसला असामी के पक्ष में करना चाहते थे, वह उन तनाजों का खयाल नहीं कर रहे थे, जिन्हें कि मैंने वापस ले लिया था। खैर, उन्होंने मालिक की गैरमजरूआ जमीन में भी खुदरो दरख्त की लकड़ी का आधा असामी को लिख दिया। मैंने पलक ओझा को बहुत समझाने की कोशिश की, किन्तु वह 'घर आई लच्छिमी' को लौटाने को तैयार न हुए। मैंने उनके कागजों को फिर से देखना शुरू किया। देखा पुरानी ही मालगुजारी पर पुराने रकबे से आधा एकड़ अधिक जमीन हाल के सर्वे में उनके नाम दर्ज है। मैंने उस बढ़े रकबे की जमीन को पुरानी जमाबन्दी से अलग कर नई लगान बाँधने का दावा किया। डिप्टी उसे मानने के लिए तैयार थे क्योंकि पलक ओझा के पास कागज न था। इस प्रकार शीशम की लकड़ी उन्हें उतनी नहीं मिली, जितनी कि सालाना मालगुजारी उनके

शिर पर बँध गई। वस्तुतः आधा एकड़ अधिक जमीन मालिक ने उससे बेहतर जमीन लेकर बदले मे दिया था, किन्तु यह सब खानगी हुआ था, जिसका पलक ओझा के पास कोई सबूत न था। बहरौली के हजार एकड़ से अधिक की जमीन मे सैकडो असामियो से वास्ता पडा, लेकिन यही सिर्फ एक मामला था, जिसमे मैंने पलक ओझा के साथ अन्याय किया, लेकिन इसके कारण खुद वही थे। यदि शीशमो पर झूठा दावा न किये होते, तो मुझे जिद न होती।

जिन दिनो बहरौली मे सर्वे का काम हो रहा था, उसी वक्त जोर का इन्फ्लुयेजा भी चल रहा था। मुझे याद है, एक कोइरी भगत का। वह अनपढ मेहनती किसान था, किसी की सगत से राधास्वामी मत का अनुयायी बन गया था। मुझे मालूम हुआ। मैं उससे राधास्वामी मत पर बाते करता। आगरा और लाहौर मे रहते मुझे उसके बारे मे जितनी जानकारी थी, उतनी कोइरी भगत को कहाँ होती ? वह बड़ी दिलचस्पी से मेरी बाते सुनता, और मैं भी उससे राधास्वामी मत के कुछ भजन सुनता। एक शनिवार को सर्वे-कैम्प म मैंने उसे देखा था, और सोमवार को मालूम हुआ वह तो मर गया। तेज आँधी मे जैसे आम गिरकर जमीन पर पट जाते हैं, इन्फ्लुयेजा की बीमारी ने भी उसी तरह आदमियो की लाशो से धरती को पाट दिया था। कितनी ही नदियो के बारे म तो लोग कहते थे, कि आदमी की लाशे इतनी अधिक थी, कि उन्हे नभचर-जलचर भी नही खा सकने, और पानी पर आदमी के बदन की चर्बी तेल की तरह तैरती थी।

परसा मे महन्तजी जोतिसियो से पत्रे दिखला रहे थे—'अब मेरी जिन्दगी का कौन ठिकाना है। रामउदार के नाम लिख-पढ देना चाहिए।' मैंने महन्तजी को साफ तौर से समझाने की कोशिश की कि मैं महन्त हर्गिज नहीं बनूँगा। मैं मठ की सम्पत्ति की रक्षा के लिए आ गया हूँ। मुझे पढना है, और देश का काम करना है। आपको महन्त बनाना है, तो वरदराज को बनावे, वह बाकी शिष्यो मे सबसे काबिल भी हैं।

बहरौली का काम खतम होते ही मैंने जाने की इजाजत माँगी। कलकत्ता वेद-मध्यमा परीक्षा का फार्म मैं काल्पी म भर चुका था, यह वह जान गये थे, और मेरी पढ़ाई मे बाधा नहीं डालना चाहते थे, इसलिए उन्होने रुकावट नहीं की। वेद-मध्यमा परीक्षा देने के लिए मैंने काल्पी के एक विद्यार्थी हरदत्त—जो कितने ही वर्षों तक गुरुकुल काँगडी में पढते रहे थे—को उत्साहित किया था। उनके पढ़ाते वक्त अपने लिए भी तैयारी हो ही जाती थी, इसलिए मैंने किसी दूसरे गुरु के नाम से और हरदत्तजी ने मेरे नाम से जबलपुर-केन्द्र मे परीक्षा का फार्म भरा। जबलपुर रवाना होते वक्त एक दिन पहिले मीठी पावरोटी पाथेय के लिए बनाई जाने लगी। पावरोटी तो नहीं बन सकी, हाँ, उसका मीठा परावठा बन गया। हम लोगो ने जबलपुर मे जा परीक्षा दी। दोनो ही पास हुए, मैं प्रथम श्रेणी मे और शायद हरदत्तजी भी प्रथम ही श्रेणी मे।

परसा फिर भूल गया। मैं काल्पी मे पढने-पढ़ाने के काम मे लग गया। 1918 के प्रथम पाद तक छन छनकर काफी खबरे रूसी मजदूर क्रान्ति की मेरे कानो तक पहुँची थी। काल्पी म उर्दू-हिन्दी-अंग्रेजी के अखबार मिल जाया करते थे, और तीन पक्ति की रूस-सम्बन्धी खबर भी मुझे काफी चिन्तन का मसाला दे देती। मैंने इन उड़ती खबरो, और जब-तब समाचारो स सुन लिये साम्यवाद के विकृत आकार का अपनी समझ से सुलझाकर एक साम्यवादी जगत् की कल्पना करने लगा। 1918 के आदिम महीनो ही मे मैंने इस विषय पर एक पुस्तक लिखनी चाही थी, और उसका खाका बना लिया था, किन्तु विद्यालय बन्द करन के बाद वह खाका मेरी नोटबुक के साथ योगेश के पास रहा, और पीछे गुम हो गया। उस पुस्तक को एक दूसरे ढग से सस्कृत पद्यो मे 1922 मे मैंने लिखना चाहा, किन्तु वह भी कुछ सर्गों तक ही रह गई, और अन्त मे वह काम 'बाईसवी सदी' के नाम से 1923-24 ई मे हजारीबाग जेल मे पूरा हुआ।

महेशपुरा मे ही विद्यालय का रग होनहार जैसा नहीं मालूम होता था। काल्पी मे हम अच्छे दिनो की आशा से आये थे, किन्तु यहाँ भी अवस्था सुधरी नही। आर्थिक अवस्था दिन पर दिन गिरती गई। श्री पन्नालाल का ही दान स्थायी था, बाकी दिशाओ से हमे प्रोत्साहन नहीं मिला। मकान मे हमने पहिले बैठक को छोडा, पीछे कोठे के आधे भाग को भी छोड दिया। रसोइया हटाया गया, और हम लोग खुद बारी बाँधकर रसोई बनाने लगे। खाने मे कमी होते-होते जौ-चने की रोटी और दाल या आलू की तरकारी मे मे एक बनाते, दोपहर के

भोजन में ही से थोड़ा शाम के लिए रख दिया जाता। मुझे अपने लिए तो खयाल न था, क्योंकि भ्रमण में कितनी ही बार इससे भी खराब खाने को खाता रहा; किन्तु अपने साथियों मुकन्दराम और यशवन्त को रोटी का टुकड़ा गिलास के पानी के सहारे गले से नीचे उतारते देख कभी-कभी दिल मे ठेस लगती, यद्यपि मैं बराबर हर बात में समभाग लेकर उन्हे उत्साहित करता रहता। रामसहायजी काल्पी आने से थोड़े ही समय पहिले चले गये थे, और तरुण संन्यासी स्वामी उनसे भी पहिले। यशवन्त के लिए चिट्ठी पर चिट्ठी आ रही थी और वह लौटने के पक्के इरादे से घर गया, किन्तु वह फिर नही लौट सका। अब वहाँ तीन ही चार मूर्त्तियाँ रह गई थी।

पढाने के अतिरिक्त मुझे कभी-कभी प्रचारार्थ बाहर भी (ज्यादातर जालौन जिले के भीतर ही) जाना पडता। दाताओ को प्रसन्न करने के लिए कभी कभी बारातों में भी जाता। एक बार का किस्सा याद है। बारात कई मील दूर गई थी। हम लोगो को बैलगाडियो मे जाना पड़ा। मेरे साथ विद्यालय की भजनमडली भी थी। वहाँ जाने पर मालूम हुआ, लडकीवालो ने वेश्या (बेड़िनी) की नाच अलग में कर रखी है। सयमवादी हम लोगो के लिए वहाँ रहना मुश्किल था, किन्तु चले आने का मतलब था भजनमडली को मिलनेवाले रुपये की हानि। भजनमडली को हर महीने हमें चालीस रुपये देने पड़ते थे। मै नाच मे जा ही कैसे सकता था, किन्तु जहाँ ठहरा था वहाँ से भी वेश्या का गाना सुनाई पडता था। वह एक स्थानीय भजन (शायद लेद) गा रही थी, जिसका राग मुझे पसन्द आ रहा था। जन सगीत की ओर मेरा स्नेह बढ़ता जा रहा था, यह शायद राजनीतिक चेतना और साम्यवाद की ओर बढती हुई रुचि के कारण हो रहा था। उसी गाँव में आजमगढ जिले का एक तरुण रहा करता था। यद्यपि मै अपने ही जन्मप्रान्त मे था, किन्तु जन्म जिला उससे भी नजदीक का सम्बन्ध रखता है, इसलिए तरुण से जब उसका गाँव मदुरी के पास सुना, तो मुझे एक अजब तरह का खिचाव मालूम हुआ। वह भी सैलानी तबियत का अल्हड जवान था। जोतिस से उसे कुछ पैसे मिल जाते थे। बढ़िया साफा जोधपुरी बिरजिस, कोट, बूट पहिनकर ठाटबाट मे रहता था, कुछ थोड़ा सगीत का भी शौक था, और घर मे हारमोनियम रख हुए था। कमाना और उड़ाना यही उसका आदर्श वाक्य था।

जालौन आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में इन्द्रवर्मा भी शामिल हुए थे। इन्द्रवर्मा का साल ही दो साल से मेरा परिचय हुआ था, किन्तु मै उन्हे स्वाभाविक वक्ता मानता था। विशालकाय के साथ, उनकी गम्भीर गर्जना खास चीज था ही, किन्तु जिस वक्त वह अपने विषय का सजीव चित्र खीचते, उस वक्त जनता को रुलाना, हँसाना उनके बाये हाथ का खेल होता। अभी हाल में उन्होंने महोबा मे कई व्याख्यान दिये थे, जिनमे सनातनियों और ईसाइयो का कुछ खडन भी हुआ था। सनातनी शास्त्रार्थ पर तुले हुए थे। नियम तै करने के लिए लिखा-पढ़ी हो रही थी। इन्द्रवर्मा मेरी बहस मुबाहिसा तथा सस्कृत की योग्यता से वाकिफ थे, इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि मै उनके साथ जरूर महोबा चलूँ। महोबा का ऐतिहासिक नाम कुछ आकर्षक था, और उससे भी आकर्षक था पादरी ज्वालासिह के साथ बहस करने का मौका। मै भी उनके साथ महोबा गया।

सनातनधर्मी शास्त्रार्थ के लिए हुज्जत कर रहे थे—'सस्कृत मे ही शास्त्रार्थ होना चाहिए।' हमने कहा—'फिर जनता क्या मल्लू बनकर बैठी रहेगी ? सस्कृत और हिन्दी दोनो मे शास्त्रार्थ हो।' आदि-आदि। ईसाइयो पर जो प्रहार हुआ था, उसका जवाब देने के लिए उन्होंने पादरी ज्वालासिह को बुलाया था। शाम के वक्त चिराग जलने के बाद खुली जगह में उनका व्याख्यान हुआ। व्याख्यान के बाद प्रश्न पूछने की उन्होंने घोषणा की। मैंने प्रश्न पूछने शुरू किये। प्रश्न करने के समय मुसाफिर विद्यालय में सुने स्वामी दर्शनानन्द के प्रतिद्वन्द्वी पादरी ज्वालासिह का काफी रोब मुझ पर गालिब था। किन्तु वह रोब एक ही दो बार के प्रश्नोत्तर मे जाता रहा। मैंने छिद्रान्वेषण की दृष्टि से बाइबिल का अच्छी तरह अध्ययन किया था, उसके पुराने भाग पर मेरे पास खतरनाक नोट थे। मैंने एतराज शुरू किये। पादरी साहेब एक का जवाब नही देने पाते, कि मै तीन नये सवाल जड़ देता। धीरे-धीरे जनता पर विदित होने लगा, कि पादरी जवाब नही दे पा रहे हैं। पादरी ज्वालासिह अपनी मन्तिक (तर्क) के लिए ही ईसाई सम्प्रदाय में सम्मानित तथा काफी वेतन पा रहे थे। एक छोकरे को इस प्रकार प्रहार कर अपनी प्रतिष्ठा को धूल में मिलाते देखना उनको सह्य नही मालूम हुआ, और सचमुच मेरे कानों को विश्वास नही हुआ, जब कि पादरी साहेब तैश में आ अपनी सच्चाई पर जोर देते हुए बोल उठे—'यदि मै गलती कर रहा हूँ, तो

हुक्के का पानी पिलाकर पाँच जूता मारे।' पादरी ज्वालासिंह का जो चित्र मेरे स्मृतिपटल पर अंकित था, वह अब चकनाचूर हो गया था। दूसरे दिन फिर मुबाहिसा का समय घोषित करके सभा समाप्त हुई।

सबेरे इन्द्रवर्मा को मिशन अस्पताल से दवा लेनी थी, उसी सिलसिले मे हम दोनो अमेरिकन पादरी के बँगले पर भी चले गये। पादरी ज्वालासिंह भी वहीं पर ठहरे हुए थे। वह बड़े प्रेम से मिले, और मालूम नहीं होता था, कि रात को हम दोनो उस तरह एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। मैंने तो खैर, अपने लिए धार्मिक वाद-विवाद तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध का एक मेयार मुकर्रर कर लिया था, किन्तु बूढ़े पादरी ज्वालासिंह के शिष्टाचार को देखकर मुझे बहुत खुशी हुई। अमेरिकन पादरी की मेम डाक्टर थी, उन्होने इन्द्रवर्मा के लिए दवा लिखकर पुर्जी को कम्पोंडर को देने के लिए हमारे हाथ में दे दी। दरवाजे से निकलते ही इन्द्रवर्मा ने कौतूहलवश कहा—जरा पढ़िए तो। मैंने खत को खोला। मेम देख रही थी, उसने डॉटकर कहा—यह चिट्ठी तुम्हारे लिए नहीं है। मैं लज्जित हो गया, यूरोपीय शिष्टाचार से अनभिज्ञ रहते भी साधारण बुद्धि से भी मैं अपनी चेष्टा के अनौचित्य को समझता था। इन्द्रवर्मा को यह बात ठीक नहीं जँची। दवा के लिए लिखे गये पुर्जे मे कौन-सी गोप्य बात हो सकती है ? उस दिन रात को वर्षा होने लगी, इसलिए मुबाहिसा का स्थान महोबा का विशाल गिरिजा हाल रखा गया। सारा हाल लोगों से भरा हुआ था, जिसमे काफी सख्या ईसाई महिलाओ की थी। कार्रवाई शुरू करते वक्त पादरी ज्वालासिंह ने महिलाओ की ओर लक्ष्य करके कहा—'बहस-मुबाहिसे मे किसी के मुँह से कोई अनुचित शब्द भी निकल सकता है, इसलिए, मैं समझता हूँ, अच्छा हो यदि महिलायें यहाँ रहना नापसन्द करें।'

धार्मिक साम्प्रदायिकता का ही पहिले मुझे पाठ ज्यादा मिला था, किन्तु इधर के दो तीन साल की आदर्शवादी शिक्षा ने भीतर ही भीतर अपना काफी असर डाला था। पादरी साहेब के ये वाक्य मेरे कान में वाण की तरह लगे, इसलिए नहीं कि वह झूठे थे—आर्यसमाजी उपदेशकों में ऐसो की सख्या काफी थी, जिनके लिए अश्लीलता की मर्यादा को अतिक्रमण करना साधारण बात थी; किन्तु मुझसे ऐसी आशा रखी जावे, यह बात असह्य थी। मैंने दिमाग को ठंढा रखते हुए कहा—हमारे लिए यह बड़े शर्म की बात होगी, यदि हम अपनी माँ-बहिनो के सामने भी अपनी जबान पर सयम नहीं रख सकते। मैं आशा रखता हूँ, कि महिलाओ को सभा से जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। तरुण प्रतिद्वन्द्वी दिल की लगी कह रहा था। शास्त्रार्थ सुनने का अवसर पा महिलायें सबसे ज्यादा खुश हुईं। दो तीन घटे हम दोनो में बहस होती रही। यद्यपि कल की तरह के 'हुक्के के पानी और पाँच जूते' की आज जरूरत नहीं पड़ी, तो भी मैंने कल की अपनी सफलता को आज भी कायम रखा।

दो तीन दिन बाद सनातनिया में भी शास्त्रार्थ हुआ। सनातन धर्म की ओर से शायद पंडित अखिलानन्द और आर्यसमाज की तरफ से युक्तप्रान्तीय प्रतिनिधि सभा के कोई उपदेशक थे। शास्त्रार्थ के पत्र-व्यवहार में मेरा खास हाथ था, और शास्त्रार्थ को पुस्तकाकार छपवाने का सारा सम्पादन कार्य, झाँसी में लाला लल्लूराम के घर पर रहकर मुझे ही करना पड़ा था।

काल्पी में लौटकर फिर विद्यालय की निर्बल तरी को खेने की कोशिश करने लगा। इसी समय मैंने साल भर के लिए संस्कृत में ही बोलने की प्रतिज्ञा की—बाकायदा हवनयज्ञ करने के साथ। यदि इस प्रतिज्ञा से मतलब (360x24) घंटे निद्रा था, तो जरूर पूरी हुई, नहीं तो यह उन प्रतिज्ञाओं में थी, जिन्हें आदमी तोड़ने के लिए ही किया करता है।

तीन आदमियों को लेकर विद्यालय के नाम पर अपने समय को बरबाद करना अब मुझे पसन्द न था। धीरे धीरे भाई साहब भी मेरी राय से सहमत हुए। तै हुआ कि विद्यालय को स्थगित करके मैं फिर अपनी पढ़ाई शुरू कर दूँ। स्वामी ब्रह्मानन्द और श्री पन्नालाल को यह बात दुःखद मालूम हुई—सचमुच ही काल्पी स्टेशन पर विदाई लेते वक्त हमारे हृदय भारी हो गये थे।

7

दुहरा धर्म (1918-19 ई.)

अब के साल मैंने शास्त्रि-परीक्षा में बैठने का निश्चय किया था। कानपुर में एक संस्कृत पाठशाला में गया, जिसमें उस वक्त पंडित शशिनाथ झा पढ़ा रहे थे, किन्तु वहाँ शास्त्रि परीक्षा के सभी पाठ्य ग्रंथों के पढ़ाने का प्रबन्ध नहीं हो सकता था; बनारस में कनैला के किसी आदमी से भेंट हो जाने पर डर था; इस प्रकार अन्त में मुझे अयोध्या जाने का निश्चय करना पड़ा। फिर आर्यसमाज के निराकारी बाने की जगह वैरागी साकार बाना सजाना पड़ा। पंडित वल्लभाशरण ने मेरा आना सुनकर बड़ी खुशी से अपने स्थान में जगह दी। न्याय-वात्स्यायन-भाष्य, निरुक्त, ऋग्वेद-सायण-भाष्य की भूमिका, नैषध और सिद्धान्तकौमुदी के अन्त के कुछ अंशों को विशेष तौर से पढ़ना था। नैषध पढ़ाने के लिए पंडित सूर्यनारायण शुक्ल मिल गये, उस वक्त वह व्याकरणाचार्य हो राजगोपाल पाठशाला में पढ़ाते तथा न्यायाचार्य-परीक्षा में बैठ रहे थे। तरुण होने पर भी उनकी प्रतिभा की अयोध्या में ख्याति थी। वह उस समय पतले दुबले और लम्बे मालूम होते थे। ऋग्वेद सायणभाष्य की भूमिका बहुत कुछ मीमांसाशास्त्र से सम्बन्ध रखती है, उसके लिए मैसूर के एक द्राविड़ वेदान्ती पंडित मिल गये, जो हमारी उसी प्राचीन वेदान्त पाठशाला में अध्यापक होकर आये थे, जो अब बड़ी जगह के हाथ में चली गई थी। वह भी अपने विषय के अच्छे विद्वान थे और चाव से पढ़ाते थे। सिद्धान्त कौमुदी के लिए पंडित सत्यदासजी मौजूद ही थे; किन्तु निरुक्त और न्यायभाष्य के लिए बड़ी दिक्कत पेश आई। बहुत खोज खाज करने पर गोलाघाट पर एक ब्रह्मचारी मिले, जो थे तो काशी के न्यायोपाध्याय (न्यायाचार्य), किन्तु नव्यन्याय के और वह भी बहुत दिनों से पठन पाठन छोड़ चुके थे। प्राचीन न्याय की पठन-पाठन प्रणाली सदियों से छूट चुकी है, इसलिए उस समय तो उसके पढ़ानेवाले बनारस में भी नहीं मिलते थे, अयोध्या जैसी छोटी जगह की तो बात ही क्या? ब्रह्मचारीजी उतना ही बतला सकते थे, जितना कि मैं खुद भी पुस्तक के सहारे जान सकता था। ब्रह्मचारी अब गृहस्थ थे, उनके गुरु एक बहुत वृद्ध ब्रह्मचारी थे, जिनसे किसी समय स्वामी दयानन्द से साक्षात्कार, और कुछ दिनों का सहयात्रा भी हुई थी। उस वक्त स्वामी दयानन्द अभी उतने प्रख्यात नहीं हुए थे। ब्रह्मचारीजी मतभेद रखते भी स्वामी दयानन्द की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। निरुक्त पढ़ानेवाला मिलना और भी मुश्किल हुआ। बहुत पीछे— मैं अयोध्या छोड़नेवाला था, नव-ब्रह्मचारी भगवद्दास का नाम मालूम हुआ। वह वेदतीर्थ हो चुके थे और अब बड़ी जगह के महन्त के शिष्य हो इसी नाम से वहाँ रहते थे। ब्रह्मचारी भगवद्दासजी की वह पतली दुबली सांवली सूरत मुझे याद थी, जो 1914 में पहिले-पहिल दिव्य-देश की वेदान्त पाठशाला में दृष्टिगोचर हुई थी। वैसे उन्होंने मँगनी की कंठी, और नासिका से हाथों में सफेद रेखाओं में एक-सौ-एक नम्बर शिर में अंकित कर दाढ़ी नदारद मूछों के साथ वैरागी बाना बना अपने को पंजाब का एक वैरागी बतलाया था, जिस पर मेरे सहपाठियों ने प्रश्नों की बौछार शुरू कर दी, और मैं ही था, जिसने कि देश-काल आदि के नाम पर व्याख्या कर उनका समर्थन करना चाहा। उस वक्त आर्यसमाज में मेरा कोई स्पर्श भी न था, तो भी कोई बात थी, जिससे मेरी सहानुभूति उस अजनबी तरुण के प्रति हो गई थी। ब्रह्मचारी भगवद्दास अब पंडित, बड़े महन्त के चेले तथा आचार-व्यवहार में निखालिस वैरागी साधु थे। मुझे उड़ती खबर मिल चुकी थी, कि उनके विचार भीतर से आर्यसमाजी हैं, इसीलिए बड़ी जगह के महन्त के उत्तराधिकारी होकर भी उस बाने में उनका रहना मुझे नापसन्द मालूम होता था। निरुक्त के पाठ के लिए दो ही चार बार मैं उनके यहाँ जा सका।

अयोध्या से किसी ने परसा लिख दिया, कि मैं आजकल वहाँ पंडित वल्लभाशरण के स्थान में ठहरा हूँ। फिर क्या था, महन्तजी का एक पत्र मेरे पास, दूसरा बड़ा-सा पत्र पंडित वल्लभाशरण के पास पहुँचा। सबे का संकट था। मठ की सम्पत्ति के नाश की दुहाई दे पंडित वल्लभाशरण को मुझे समझाकर भेजने के लिए कहा गया था। पढ़ने की दिक्कतें भी बतला रही थीं, कि परीक्षा की तैयारी लाहौर ही में ठीक से हो सकेगी, फिर परसा जा वहाँ का काम खतम कर क्यों न उधर बढ़ा जाये—यह ख्याल करके मैंने परसा जाना स्वीकार किया।

लकडमंडी घाट मे गाडी पर चढ़ते वक्त देखा, पंडित सरयूदासजी भी उसी ट्रेन से चल रहे हैं। उनकी माता का देहान्त हो गया था, श्राद्ध में जा रहे हैं। मनकापुर में गाड़ी आने में देर थी, इसलिए उन्होंने कुछ पद्य बना देने के लिए कहा—मैंने 'माता मानकरी गता हतसुखा हा हन्त ! वर्तामहे !' आदि कई तुकबंदियाँ बनाकर दे दीं। परसा पहुँचने पर सस्कृत-भाषण की प्रतिज्ञा छोड़नी पडी।

अब की मामला जानकी नगर का था। महन्तजी ने अपने मामले की पैरवी के लिए गोरखपुर के एक तरुण ब्राह्मण को अमीन रखा था। उसने झूठे-सच्चे दो-तीन सौ तनाजे दे डाले थे। असामी इस अन्याय को कैसे बर्दाश्त करते ? पहिले उन्होंने महन्तजी के पास फरयाद की, किन्तु वहाँ कागज समझने की शक्ति कहाँ ? चौकी तोड़ते, दो-चार खरी-खोटी सुना उन्हे भगा दिया गया। नतीजा यह हुआ, कि रियाया ने भी जमीदार के दरख्तों, खेतों और परती तक पर तनाजे दे दिये। मैंने आकर कागज-पत्र देखा। बहरौली के भारी जगल को जब पिछले साल सर कर चुका था, तो उसके सामने जानकी नगर का छोटा-सा गाँव क्या था ? कागज देखकर, मैंने रैयतों को बुलाकर पता लगाया, और सौ में पचहत्तर तनाजे झूठे मालूम हुए। मैंने डिप्टी साहेब से कहकर उन तनाजों को हटा लिया। उनको बल्कि तअज्जुब हुआ, कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने बतलाया, कि मठ के अम्ला लोग किसानों से रुपया वसूल करने के लिए ये झूठे तनाजे दे रहे हैं। अमीन साहेब दौड़े-दौड़े परसा गये। महन्तजी ने उन्हे खूब फटकारा, और वही काम से जवाब भी दे दिया। मेरे तनाजो के उठाते ही, गाँव के सारे तनाजे उठ गये। मुझे याद नही कि बहरौली की भाँति यहाँ एक भी तनाजे में कोई परेशानी हुई हो। डिप्टी साहेब के लिए मेरा वाक्य सच्चाई की कसौटी था।

यह वह वक्त था, जब कि चम्पारन मे गाँधीजी के काम की चारो ओर धूम थी। जानकी नगर के किसान भी जब-तब गाडी में शकरकन्द भर धान से बदलने के लिए चम्पारन जाया करते थे। उन्हे यह खबरे खूब मालूम थी। वह बतलाते थे, कि कैसे चम्पारन में निलहे गोरो की इज्जत कौडी की तीन हो गई है ? कैसे अब वहाँ बैलगाडी को बीच सड़क मे चलाने मे कोई रोक-टोक नही डाल सकता ? कैसे हरी-बेगारी गाँधी साहेब ने उठा दी—तब न आज की भाँति वह महात्मा गाँधी थे, न उस समय के अर्धशिक्षितों में प्रसिद्ध कर्मवीर गाँधी, बल्कि गाँधी साहब के ही नाम से चम्पारन और सारन के किसान उन्हे जानते थे। जानकी नगर के किसान, 'कचहरी' (जमींदार की छावनी) में बराबर ही आते-जाते रहते। रात को तो खास तौर से भीड़ रहती। पुजारीजी की (मेरी) न्यायप्रियता, ईमानदारी की धाक थी—वह दूध और तरकारी तक बिना पैसे दिये नही लेते; किसी से एक पैसा भी भेंट-पूजा लेना हराम समझते हैं; मिलनसार इतने कि छोटे छोटे बच्चो से बातें करते हैं; उन्होंने रैयतो के हक में हजारों रुपयों के घाटे की कुछ भी परवाह न कर सारे तनाजो को उठा लिया।

रात को जानकी नगर के पँवारा गानेवाले बुलाये जाते थे। कभी 'कुँअर-विजयी' होती, कभी 'सोभनयका' कभी 'सोरठी' तो कभी 'लोरकाइन'। 'पुजारीजी' की इस ग्रामीण रुचि का 'शिक्षितों' पर तो जरूर बुरा प्रभाव पडता, किन्तु सौभाग्य से जानकी नगर में एक भी शिक्षित न था। साधारण जनता को विचित्रता जरूर मालूम होती थी, किन्तु इसे वह अनुचित कहने के लिए तैयार न थी। मैंने एकाध अच्छे गानेवालों को गाँधीजी की जीवनी सुनाकर उसे पद्यबद्ध कर 'सोरठी' की तरह गाने की प्रेरणा की, किन्तु उसमें मुझे सफलता नहीं हुई, शायद यह समय-साध्य बात थी, और मेरे पास उतना समय न था।

परसा-मठ की थोड़ी-सी जमीन भुन्नीपुर गाँव मे पडती थी। किसी ने उस थोड़ी सी जमीन का खयाल नहीं किया था, इसलिए पिछले सर्वे ही में वह हथुआ-राज में लिख दी गई थी। मठवालों ने हाकिम-हुकुम सबको मेरी बात मानने के लिए तैयार देखकर उस गड़े मुर्दे को भी उखाडा। मैं उस इलाके के असिस्टेंट सेटलमेंट आफिसर के पास गया। वह मुन्सिफ थे, सर्वे का काम सीखने आये थे—नाम शायद अजनी कुमार था। मेरी हिन्दी साफ शुद्ध युक्तप्रान्तीय हिन्दी थी, बोलचाल में कहीं झिझक का नाम न था। ऊपर से शायद गुरुकुल हरपुरजान के किसी उपदेशक की मार्फत उन्हें पता लग गया था, कि मेरे विचार आर्यसमाजी हैं। वह और उनके मुसलमान पेशकार अब्दुर्रहीम दोनो आर्यसमाज के अनुरागी थे। मेरी बडी खातिर हुई। गड़े मुर्दे के बारे में मालूम हुआ कि यदि हथुआ-राज के अम्ले को स्वीकार हो, तो पिछले सर्वे के इन्दराज को ऊपर से हुकम मँगाकर दुरुस्त किया

जा सकता है। हथुआ-राज के अम्लों ने खुशी-खुशी स्वीकार किया कि यह जमीन परसा मठ की है, और गलती से राज के नाम दर्ज हुई है। एक दिन बा. अंजनी कुमार के आग्रह पर उन्हीं की अध्यक्षता में समाज-सुधार पर मैंने वहीं कैम्प में व्याख्यान भी दिया।

सर्वे का काम खतम हो रहा था, लेकिन महन्तजी ने अब फिर महन्ती की लिखा-पढ़ी का सवाल उठाया। मैंने फिर अपनी बात दुहराई—मैं महन्ती कभी नहीं लूँगा, यदि वरदराज को महन्त बनावें, तो वह अपने को उसके योग्य साबित करेंगे। नौकर-चाकर घेरे रहते थे, इसलिए निकल भागने में फिर दिक्कतें होने लगीं। एक दिन सिर्फ एक नौकर के साथ मैं छपरा आया। किसी काम के बहाने नौकर को परसा भेजा, और उसी दिन प्रयाग और लाहौर का टिकट कटा वहाँ जा पहुँचा।

छपरा छोड़ते ही संस्कृत-भाषण की प्रतिज्ञा फिर जारी हो गई।

डी. ए. वी. कालेज का संस्कृत-विभाग अब (1919 के आरम्भ में) वैदिक आश्रम में चला आया था, यहीं पढ़ाई के भी कमरे बन गये थे। प्रधानाध्यापक अब भी पंडित भक्तराम थे, किन्तु पंडित नृसिंहदेव ओरियंटल कालेज में चले गये थे, और उनकी जगह युक्तप्रान्त के एक पंडित थे, जो वर्ण व्यवस्था तथा जातिवाद पर तीखे प्रहारों को सुनकर तिलमिला उठते थे। शास्त्री श्रेणी में भरती हो गया, और परीक्षा का फार्म भी भरकर चला गया। अन्य विषय साध्य मालूम होते थे, किन्तु न्यायभाष्य और व्याकरण—कक्षा में सबसे तीव्र होने पर भी—मुझे असाध्य मालूम होने लगे। न्यायभाष्य तो पढ़ानेवाले अध्यापक के अभाव में और व्याकरण कंठस्थ करने के समय और रुचि के अभाव में। पंडित नृसिंहदेव शास्त्री को दर्शन ज्ञान का बहुत अभिमान था, किन्तु जब मैंने उनसे पढ़ने की इच्छा प्रकट की, तो एक दो बार बुलाया, और कुछ श्रम भी किया, किन्तु पीछे समयाभाव कहकर टाल दिया। मुझे मालूम हो गया, कि इसमें पढ़ाने की असमर्थता ही कारण है।

मेरे विशारदवाले साथी अब शास्त्री के साथी थे। वर्षों बाद साथी टाम को एक जगह देखकर विद्यार्थी को सन्तोष होता है, और उनमें से यदि कुछ आगे बढ़ गये हों, तो उसे कष्ट भी बहुत होता है। रामप्रताप की चुटकियाँ अब भी वैसी ही सजीव थीं। देवदत्त हृदय अब भी वैसे ही मनोरञ्जक थे। गन्धपाल अब भी वैसा ही बेफिक्र तरुण शाहजादा था। कक्षा से बाहर के साथियों में 'खुर्सन्द'जी अब भी 'आर्यगजट' की कुर्सी पर थे। भाई साहब 'मौलवी आलिम' होकर 'मौलवी फाजिल' की तैयारी कर रहे थे। भाई रामगोपाल ट्यूशन और, भाई साहब की सहायता करते कुछ पढ़ रहे थे। मुंशी मुरारीलाल वहाँ प्रतिनिधि सभा की उपदेशकी करते थे, इसलिए समय-समय पर मिल जाया करते थे। बलदेवजी और सोमदत्तजी दर्शीलाल के मन्दिर में अब भी डटे हुए थे, और दोनों क्रमशः एफ. ए. और बी. ए. की अन्तिम परीक्षाओं की तैयारी कर रहे थे।

रहने का स्थान ढूँढ़ने पर मच्छी-बाजार में जगह मिली। कुछ तरुणों ने वहाँ एक छोटा-सा आर्यसमाज खोला था। सादगी रखते हुए भी कुछ कीमती स्वदेशी कपड़े परसा में मेरे पास आ गये थे, जो यहाँ भी मौजूद थे। रेशमी चादरें, अधिक कीमत के पट्टू की बगलबन्दियाँ, बेशकीमती सफेद आलवान, और रेशमी साफ़ें बाँधना परसा ही में किसी वक्त क्षम्य हो सकते थे, मैंने उनमें से कुछ को बाँट दिया, कुछ के पैसे कर लिये, और कुछ ऐसे ही पास में रख रखे।

अखबारों को पढ़ना, देश-विदेश की राजनीतिक खबरों को गौर से देखना, भारत में राजनीतिक क्रान्ति की चाह, रूसी क्रान्ति और साम्यवाद—ये मेरे प्रिय विषय थे। साम्यवाद पर किसी ग्रंथ के पढ़ने का अब भी अवसर न मिला था, किन्तु उस पर काफी चिन्तन और तर्क वितर्क किया करता था, तो भी अभी मेरा साम्यवाद आर्यसमाज के धर्म की एक उदार व्याख्या में सम्मिलित होने लायक था। कुछ सालों तक अच्छी तरह पढ़ाई करके पूर्वीय देशों—चीन या जापान—में वैदिक धर्म प्रचार के लिए जाना, बस यही धुन थी। अपने इस प्रोग्राम में जब मुझी को सन्देह नहीं था, तो दूसरे को सन्देह कैसे होता। नये तजर्बों के बिना पर आदमी बदलता रहता है—इस तत्त्व पर मेरा विचार अभी नहीं गया था।

महायुद्ध के आखिरी दो वर्षों में होम-रूल के लिए आन्दोलन शुरू हुआ था, यद्यपि अभी वह साधारण जनता तक नहीं पहुँचा था, तो भी वह नरमदली कांग्रेस की तरह उच्च मध्यम श्रेणी के पठितों तक ही सीमित नहीं

रहा। लड़ाई के समय लोगों को अखबारों की चाट लगी, अखबारों की संख्या बढ़ी, साथ ही उनमें गर्मी भी आई। लोगों में कुछ निर्भीकता-सी आती दिखाई पड़ी। अंग्रेजी सरकार ने स्वायत्तशासन की घोषणा की, और भारतमंत्री मिस्टर माण्टेगु स्वयं भारत की राजनीतिक अवस्था के अध्ययन के लिए आये। लड़ाई की खबरों से मालूम होने लगा, कि संसार मे अग्रेज ही सर्वशक्तिमान नहीं हैं, जर्मनी भी इनके मुकाबिले की शक्ति है, और अमेरिका के मुँह की तो बाट जोही जाती है।

1918 के अन्त के साथ लड़ाई का भी अन्त हुआ, किन्तु लड़ाई ने लोगो के मनोभाव में जो परिवर्तन किये, उनका अन्त नहीं हुआ। जब तक शिर पर संकट था, अंग्रेज-शासक तरह-तरह की चिकनी-चुपड़ी बातें करते थे, किन्तु लड़ाई समाप्त होते ही नवभारत के रुख से उनके मन में तरह-तरह की शकाएँ उत्पन्न होने लगीं। लड़ाई के समय के लिए तो भारत-रक्षा कानून बनाकर उन्होंने अपने विरुद्ध किसी भी हलचल को दवा देने का बन्दोबस्त कर लिया था, किन्तु लड़ाई के बाद भारत-रक्षा कानून हट जाता। उधर लड़ाई के दिनो मे भी आतकवादी क्रान्तिकारियों का काम बन्द नहीं हुआ था, बल्कि जहाँ पहिले उसका क्षेत्र सिर्फ बंगाल तक था, वहाँ अब वह युक्तप्रान्त और पजाब तक पहुँच गया था। सरकार ने जस्टिस रोलट की अध्यक्षता मे आतकवाद के जाँच के लिए कमेटी बनाई, जिसकी रिपोर्ट पर भारत की हर स्वतंत्र आवाज को दबाने के लिए, हर उग्र राजनीतिक सगठन को कुचलने के लिए रोलट-कानून तैयार किया। जनता के प्रतिनिधियों ने विरोध किया, किन्तु विजय के नशे में उन्मत्त सरकार उसकी क्या परवाह करने लगी ? कानून पास हो गया।

अपनी भीतरी-बाहरी पढ़ाई के साथ राजनीतिक घटनाओं पर मेरी खूब नजर रहती थी। जब हम लोग वंशीधर के मन्दिर या लाहौरी-दरवाजे के बगल के बाग मे जमा होते तो राजनीतिक परिस्थिति पर भी घंटों बात होतीं।—हाँ, मेरी सस्कृत बोलने की प्रतिज्ञा चल रही थी। पडित भगवद्दत्त के अन्वेषण-विभाग मे कभी कभी जाता, और अन्वेषण-सम्बन्धी पत्रिकाओं और पुस्तको से अन्वेषको की विस्तृत दुनिया से भी परिचित हो रहा था। पडित भगवद्दत्तजी सभी विज्ञानो और आविष्कारों को वेद से निकालकर दिखलाते तो नहीं थे, किन्तु उन्हें स्वामी दयानन्द के इस सिद्धान्त पर सन्देह नहीं था; बहुतो को वह निश्चित तौर पर वेद मे प्राप्त कर चुके थे, और बाकी भी पूरी गवेषणा करने में जरूर वेदों मे से निकल आयेंगे—यह उन्हें विश्वास था। लाहौर मे मुझे याद नहीं, पहिले किसी सभा में व्याख्यान दिया था। अब के कालेज (अंग्रेजी-विभाग) की सस्कृत-परिषद् में व्याख्यान देने के लिए कहा गया, और मुझे उसमें कोई हिचक तो थी नही। उर्दू लेख तो लाहौर की पहिली ही यात्रा में 'आर्यगजट' मे ही लिखता रहता था।

बहिन महादेवी को पढ़ने के लिए कानपुर लाने का निश्चय मेरी सम्मति के अनुसार हुआ था। अब कानपुर की उस सस्था में जितना पढ़ना हो सकता था, वह समाप्त हो चुका था, और बहिनजी आगे पढ़ना चाहती थीं। इसी बीच पडित मन्तरामजी आ गये। वह उस वक्त कन्या महाविद्यालय जालन्धर मे हिन्दी के अध्यापक थे। उन्होंने कहा—भेज दीजिए, वहाँ कोई छात्रवृत्ति भी मिल जायेगी। बलदेवजी के बड़े भाई जो पहिले सिंगापुर में काम करते थे, लड़ाई में ड्राइवर होकर मेसोपोतामिया चले गये थे और बलदेवजी को समय-समय पर रुपया भेजते रहते थे, इसलिए उन्हें इतमीनान था, कि जरूरत पड़ने पर वह बहिनजी की भी मदद कर सकेंगे। रामगोपालजी ने अपनी स्त्री को शिक्षा के लिए ही हमीरपुर आर्यसमाज के प्राण पंडित रामप्रसाद के यहाँ रखा था, और उनको भी लाहौर बुलाकर आगे पढ़ाने की हम लोगों की सलाह थी। तै हुआ, कि परीक्षापत्र समाप्त होते ही मैं कानपुर-हमीरपुर चला जाऊँ और बहिनजी तथा भाभी (रामगोपालजी की स्त्री) को लिवा लाऊँ।

गृह-परीक्षा में सभी विद्यार्थियों में मैं प्रथम रहा, यद्यपि व्याकरण कमजोर था, तो भी पास होने में कोई दिक्कत न हुई। यही आशा युनिवर्सिटी की परीक्षा से भी हो सकती थी। जैसे-जैसे अप्रैल का महीना और परीक्षा-दिन नजदीक आता जाता था, वैसे ही वैसे देश का राजनीतिक वायुमंडल भी गर्म होता जा रहा था। चम्पारन और खेड़ा के आन्दोलनों से दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह-विजेता कर्मवीर गाँधी का यश और प्रभाव भारत में भी बढ़ रहा था। जब तक कौंसिल-मंच पर रोलट बिल का विरोध मंच-शूर नेता कर रहे थे, तब तक लोगों में कोई खास

जागृति नहीं आई; किन्तु जैसे ही मालूम हुआ कि गांधीजी स्वयं रौलट-एक्ट का विरोध संगठित करने जा रहे हैं, तो अवस्था बहुत शीघ्रता से बदलने लगी। लाहौर में कालेज के विद्यार्थी, शिक्षित मध्यमवर्ग ही नहीं दूकानदार तक भी इधर दिलचस्पी लेने लगे। 'पैसा-अखबार' वाली सड़क पर अनारकली के पास के होटल में उस वक्त मैं खाना खाया करता था। उसी वक्त मैंने पहिले-पहिल उस श्रेणी के होटल में भी मालिक की ओर से दैनिक अखबार रखने का आयोजन देखा।—अखबार के पढ़ने के लालच में कितने ही लोग उस होटल में खाना खाना पसन्द करते।

मेरी परीक्षा 31 मार्च को शुरू हुई और 5 अप्रैल (शनिवार) को समाप्त हुई। पर्चे उतने बुरे नहीं किये थे, किन्तु जब होड़ लगाकर परीक्षक विद्यार्थियों को फेल करने को तुले बैठे थे, तो इसका क्या जवाब। उस साल डी. ए. वी. कालेज से शास्त्री में एक भी विद्यार्थी पास नहीं हुआ।

छः अप्रैल (1919 ई.) को रविवार था, इसी दिन सारे भारत में रौलट एक्ट विरोधी दिवस मनाने की गाँधीजी ने घोषणा की थी। उस दिन के लाहौर के नजारे के बारे में क्या कहना है। सारी अनारकली सड़क ओर से छोर तक नंगे काले शिरों से भरी हुई थी। लोग तरह-तरह के नारे लगा रहे थे। जुलूस घूमते-घूमते चार बजे के बाद ब्रेडला-हॉल पहुँचा। गर्मी काफी थी। लोगों को पानी पिलाने के लिए बहुत सी सबील लगी हुई थी। वहाँ, हिन्दू मुसलमान का कोई फर्क न था। एक ही गिलास से दोनों पानी पी रहे थे। राष्ट्रीयता की पहिली बाढ़ ने छुआछूत को बहा फेंका—यद्यपि वह बहा फेंकना स्थायी नहीं था, तो भी उसमें कितनी ताकत है, इसका तो पता लग सकता था। ब्रेडला हॉल के विशाल हॉल में सारी जनता नहीं आ सकती थी, इसलिए बाहर हाते में भी चार-पाँच जगह सभाएँ की गई। उस वक्त अभी लाउड स्पीकर का युग आरम्भ नहीं हुआ था, तो भी वक्ताओं ने किसी तरह अपने शब्दों को जनता तक पहुँचाया ही।

छः अप्रैल के स्मरणीय दिवस की उस स्मृति को लिये सात अप्रैल को मैं लाहौर से रवाना हुआ। माणिकचन्द (भगवती प्रसाद के भाई) ज्वालापुर महाविद्यालय में संस्कृत पढ़ रहे थे, भाई भगवती भी कोई काम लेकर हरद्वार में रहते थे। पहिले मैं हरिद्वार गया, फिर ज्वालापुर, और फिर गुरुकुलकाँगड़ी भी (उसके पुराने स्थान में)। बढ़ती हुई गर्मी, गंगा का बर्फीला पानी दो ही चीजें उस समय की याद हैं। हरिद्वार से रवाना हो लिन्हर-स्टेशन उतर ढकिया बरा, अभिलाषचन्द्र के घर गया। अभिलाषचन्द्र से मिलकर मुझे हमेशा खुशी होती, उसमें कुछ ऐसी सजीवता, ऐसी साहसिकता थी, जिसकी मैं बड़ी कद्र करता था। अभिलाष ने मोटर-ड्राइवरी पास कर ली थी। फोटोग्राफी भी अच्छी तरह जानता था। उसने बैठके में बहुत से देवी-देवताओं की तसवीरें लगा रखी थीं, वहाँ शराब की बोतल और गिलास भी जमा थे। मालूम हुआ—हजरत आगे बढ़ते बढ़ते खुफिया विभाग के आँख के काँटे बन गये थे, और अब अपने पतन को प्रकट करने, तथा इसके द्वारा खुफिया विभाग की आँखों में धूल झोंकने के लिए यह ढोंग रचा गया था। लेकिन कोई भी पार्ट जब निर्दोष होता है, तभी असर पैदा करता है। यहाँ अभी भी छः गोलियों का रिवाल्वर उनके पास था, आतंकवादियों से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें मौजूद थीं। गर्म राजनीतिक विचार रखने पर भी मेरी इच्छा अभी आतंकवाद में जाने की न थी। शायद भीतर से साम्यवाद का असर इसका कारण हो, शायद विदेश में धर्मप्रचार की लालसा उसमें बाधक हो। अभिलाष ने हाल में शादी की थी, और उसने बतलाया किस तरह पिस्तौल के सहारे मैं स्त्री को निष्ठुरों की कैद से निकाल लाया। उनकी स्त्री ज्यादा पर्दा नहीं करती थी, और मुझे भाभी का रिश्ता लगाने में देर न लगी। ढकिया बरा की जिस चीज ने सबसे ज्यादा प्रभाव डाला, वह था अभिलाष की माँ का वात्सल्यपूर्ण बर्ताव। माँ के स्नेह से मैं बचपन ही में वंचित हो गया था, एक तरह बल्कि माँ का स्नेह क्या होता है, इसे देखने का मुझे मौका ही नहीं मिला। अभिलाष की माँ हमारे आपस के स्नेह को जानती थीं, इसलिए खिलाने-पिलाने, बातचीत करने में मुझे उनमें माँ का हृदय झलकता था। थी वह गाँव की अनपढ़ स्त्री, और यद्यपि अभिलाष के दादा साधारण चौकीदार से तरक्की करके इन्स्पेक्टर-पुलिस हुए थे, तो भी पिता की ओर नजर डालने पर माँ से उस तरह के विनीत, गम्भीर, परिष्कृत व्यवहार की आशा नहीं हो सकती थी। यागेश की माँ भी अपने पुत्र के सम्बन्ध से मेरे प्रति स्नेह प्रदर्शन करती थी, किन्तु वह अधिकतर भय के कारण होता था—कहीं यह मेरे बेटे को दुनिया के दूसरे छोर पर न ले भागे; किन्तु यहाँ भय कारण न

था, बल्कि कारण थे परिष्कृत हृदय और मस्तिष्क। बेटे की बातो का उन्हे पता था—वह सरकार के खिलाफ बाते करता है, वह पिस्तौल और बम्ब का मसाला लिये फिरता है, वह ऐसी जमात का साथ दे रहा है, जो पकड़ी जाने पर यदि फाँसी से बची, तो कालापानी ही की सजा पायेगी; हो सकता है, एक दिन वह हमेशा के लिए घर से गायब भी हो जावे। उनको अभिलाष के विवाहित जीवन से बड़ी प्रसन्नता थी, और समझती थी कि हवा के हिलोरे मे उडती-फिरती सूखी पत्ती पर थोडा भार रख दिया गया है। मुझे अभिलाष का ब्याह पसन्द नही आया। मैं चाहता था, अभिलाष सूखी पत्तियो की भाँति ही हलका रहे, जिसमे उसकी उडान मे कोई बाधा न हो। अभिलाष का ब्याह के बाद का वह मधुमास था—तरुण नागरिक सुन्दरी के समागम का मधुमास। उस समय उसे कहाँ खयाल था कि वह कितनी कीमत पर इन सुनहली बेडियो को खरीद रहा है? अब कुछ समझाना बेकार था। मैंने उसके सामने प्रस्ताव रखा, कि धीरे-धीरे युक्तप्रान्तीय सरकार की मकेनिकल इजीनियरिंग परीक्षा पास कर लो, उसने इसे स्वीकार किया, और माँ ने भी समर्थन किया। आखिर, कमाई का कोई उपाय कि बिना अभिलाष और उनकी पत्नी का जीवन भी तो चल नही सकता था।

ढकिया-बराह स्टेशन से काफी दूर है, फिर एक से अधिक नदी-नालो का पार कर जाना पड़ता है गाव के पास भी नदी है। हम लोग ठंडा होने पर शाम को नदी के किनारे दूर तक टहलने जाया करते थे। मेरा स्वप्नलोक तो ओज पर था, और अभिलाष भी अभी अपने को पहिले ही जैसा समझते थे। अब भी हमारी बाते लम्बी उडान के बारे मे ही हुआ करती थी। शाम के वक्त लाल चकवा-चकई नदी के किनारे चर रहे थे मैंने नाम सुना था किन्तु उन्हे देखा न था। अभिलाष ने जब इसे बतलाया, तो मैंने गम्भीर हो पूछा—'क्या सचमुच रात को यह जोडा अलग-अलग हो जाता है? एक नदी के उस पार और एक नदी के इस पार?' मालूम नही अभिलाष ने इसका क्या उत्तर दिया।

दो-चार दिन बाद (12 अप्रेल को) मैं स्टेशन को लौटा। अभिलाष भी मेरे साथ तिलहर आये। कस्बे से थोडा पहिले ही अभिलाष के एक परिचित बहली पर जा रहे थे, उन्होंने बतलाया कि अमृतसर मे गोली चल गई। जलियाँवाला का भीषण हत्याकाड उन शब्दो से प्रकट नही हो रहा था, क्योंकि उन्होने खबर को ताजे अखबार मे पढ़ा था। तो भी खबर काफी सगीन मालूम हुई।

खरवा के रावसाहेब उस समय तिलहर के डाकबंगले मे नजरबन्द थे। अभिलाष उनसे एकाध बार मिले थे। मुझे मालूम होने पर मैं भी मुलाकात करने का इच्छुक हो गया। हम दोनो रावसाहब के बंगले पर गये अभिलाष ने अपना साथी नौजवान कहकर मेरा परिचय दिया। रावसाहब ने हिम्मत की परीक्षा करने के लिए पूछा—"आपको कोई उज्र तो नही होगा, यदि मैं पुलिस को बतलाने के लिए आपका नाम नोट कर लूं। नजरबन्द होने से मेरे लिए यह पाबन्दी है।" मैंने स्वाभाविक तौर से कहा—"नही, कोई उज्र नही, आप जरूर नोट कर ले, केदारनाथ।" रावसाहेब की बातो मे अंग्रेजो के प्रति भयकर विद्वेष भरा था। उन्होने कुछ स्वरचित कविताएँ सुनाईं, जिनमे से एक का एक अश अब भी याद है—'गौरागगण के रक्त मे निज पितृगण तर्पण करूँ।"

तिलहर से कानपुर आया। अखबारो मे अमृतसर गोलीकाड की कुछ और खबरे मालूम हुई। किन्तु, अव्वल तो 'एसोशियेटेड प्रेस' जैसी अर्द्धसरकारी समाचार-एजेन्सी छोड खबर पाने का दूसरा कोई जरिया नही था, होने पर भी सरकार के डर मे उन्हे छापने की कितनो की हिम्मत होती। कानपुर मे छोटेलाल-गयाप्रसाद ट्रस्ट के महिलाश्रम मे मैं बहिन महादेवी से मिला। तै पाया, कि हमीरपुर मे रामगोपालजी की पत्नी जानकीदेवी को भी लाकर यहाँ से पजाब चला जावे।

13 अप्रेल को हमीरपुर स्टेशन पर पहुँचा। हमीरपुर-रोड से हमीरपुर काफी दूर है। शायद मैं ऊँटगाडी से गया था। शहर के पास नावो के पुल से यमुना पार करनी पडी। उस साल फसल मारी गई थी, अकाल* था और लोग पशुओं को दरख्तो के पत्ते खिला रहे थे। जानकीदेवी गाँव से निकलकर पहिले-पहिल शहर मे आई थीं। पति के लिखने पर आने के लिए 'हूँ' तो कर दिया था, किन्तु अब मेरे पहुँचने पर लज्जा ने उन पर फिर

* गेहूँ रुपये का 5 सेर और चना 6।। सेर था।

जोर मारा। यद्यपि अपने पति से मेरे और उनके भ्रातृत्व को वह अच्छी तरह सुन चुकी थी, तो भी लज्जा पर विजय पाना उनके लिए असम्भव मालूम हुआ, और उन्होंने चलने से इन्कार कर दिया।

8

मार्शल लॉ के दिन (अप्रैल-मई 1919 ई.)

कानपुर लौटा। बहिनजी के चलने का तो सब इन्तिजाम हो गया, किन्तु स्टेशन में पूछने पर मालूम हुआ, जलन्धर का टिकट ही नहीं मिल रहा है, पंजाब में मार्शल ला जारी हो गया है। इस अनिश्चित स्थिति में कानपुर में रहना, खासकर मेरी जैसी तबियत के आदमी के लिए मुश्किल था। पंजाब के नर नारियों पर—जिनमें लाहौर के मेरे कितने ही साथी भी थे—जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें देखने और हो सके तो उसमें से कुछ को अपने शिर पर भी लेने के लिए मैं उत्सुक हो गया। बहिनजी भी आश्रम से विदा हो आई थीं। पूछने पर वह भी साथ ही चलना चाहती थीं। पूछ ताछ करने पर मालूम हुआ, पंजाब में चलनेवाली ट्रेनों के टाइमटेबुल रद्द हो चुके हैं, कानपुर से गाजियाबाद तक का टिकट मिल सकता है। (16 अप्रैल को) मैंने गाजियाबाद के दो टिकट लिये। शायद ट्रेन में ज्यादा भीड़ न थी।

जिस वक्त हमारी ट्रेन गाजियाबाद पहुँची, उस वक्त अभी रात का अँधेरा था। स्टेशन पर सशस्त्र पहरा था, और बालू की बोरियों को रखकर मोर्चाबन्दी की गई थी। साहब साहबिन शॉकिन-में एक जगह खड़े या बैठे थे। महायुद्ध के समय हम ऐसा दृश्य देखने में नहीं आया था।

पता लगाने पर मालूम हुआ, सहारनपुर के रास्ते अम्बाला छावनी का टिकट अब भी मिल रहा है। बिना जरा भी देरी किये (17 अप्रैल को) फिर दो टिकट कटाये, और अम्बाला के लिए रवाना हुआ। सहारनपुर से हमारी गाड़ी में बड़ी भीड़ थी। हरिद्वार से बैशाखी स्नान कर बहुत से नर नारी लौट रहे थे।

अम्बाला छावनी में मालूम हुआ—आगे का टिकट बन्द है। बहिनजी को साथ लिये अम्बाला-छावनी के आर्यसमाज में पहुँचा। रहने के लिए ठीक जगह मिल गई। दस पन्द्रह दिन भी रहना होता, तो खाने रहने की हमें कोई तकलीफ न होती; किन्तु इस प्रकार रास्ते में—और फिर लाहौर के अपने साथियों से दूर रहना मुझे असह्य मालूम होता था। लाहौर में भी गोली चली है, इसकी भी खबर मिल चुकी थी, और पंजाब में होने से यहाँ अफ़वाहें भी बहुत ज्यादा उड़ रही थीं। मैं दिन में कई बार स्टेशन जा जलन्धर की ट्रेन के बारे में पूछता रहा। (18 अप्रैल ही को) मालूम हुआ, कि पहिले दूसरे दर्जे के डाकगाड़ी टिकट जलन्धर के लिए मिल रहे हैं। भीड़ का मत पूछिए। बहिनजी को तो गठरी मोटरी दे जनाने दूसरे दर्जे में किसी तरह बैठा दिया, और मैं अपने डब्बे में घुसने में इसीलिए सफल हुआ, कि मेरे पास कोई सामान न था, मैं अभी छब्बीस साल का छरहरा जवान था। अप्रैल की दोपहर की गर्मी में, बैठे और खड़े आदमियों से खचाखच उस भरी गाड़ी में हवा के बिना दम घुट रहा था। तो भी गाड़ी में जगह मिल जाने को मैं गनीमत समझ रहा था। निःशस्त्र साधारण-सा आन्दोलन, जलियाँवाला-बाग का रोमांचक नर संहार, मार्शल ला, और रेलों तथा यातायात के साधनों की यह अव्यवस्था—इन्हें देख मैं युद्ध के दिनों के यूरोपीय जीवन का कुछ अनुभव कर रहा था। सदियों से चले जाते देश के निर्जीव शान्त जीवन को मैं बिलकुल पसन्द नहीं करता था। अशान्त जीवन में मेरा पार्ट क्या होना चाहिए, इसे मैं निश्चय नहीं कर पाया था; तो भी मैं उसे पसन्द करता था। उसी में परिवर्तन की आशा थी, और ऐसे जीवन के लिए कीमत चुकाने को मैं तैयार था।

जलन्धर-छावनी पर उतर जाने पर मालूम हुआ, कन्या महाविद्यालय जलन्धर शहर से नजदीक है। खैर दूसरी ट्रेन के लिए चौबीस घंटे की प्रतीक्षा और गाड़ी में घुसने की वह यन्त्रणा अब सोचने की भी बात न थी। मैंने आर्यसमाज (गुरुकुल-विभाग) के लिए एक तांगा किया, और बहिनजी को लिये चल पड़ा। कानपुर

से ही मैं अपनी मानसिक उत्तेजनाओं मे व्यस्त था। एकाध बार जब आगे के टिकट के बारे में मैं बहिनजी से कुछ पूछता, तो वह 'हाँ' कर देतीं। मैंने उनके मानसिक भावों के जानने की कभी कोशिश न की। मार्शल-ला के दिनों में, गोरों और सैनिको के राज्य में इस तरह चलना मेरे अपने लिए कोई परवाह की बात न थी, किन्तु जिस तरह बहिनजी को लिये मैं बेतकल्लुफी से सैर-सपाटे के भाव मे यात्रा कर रहा था, वह कभी वाछनीय नही समझा जा सकता था। तो भी बहिनजी जरा भी भयभीत नही थीं, शायद खतरे का उन्हें उतना ज्ञान न था।

ताँगेवाला पूरबिया निकला। बलिया या आरा जिले से उसके बाप-दादा यहाँ छावनी में साईसी करने आये थे, और एक तरह से यहीं बस गये थे। मुझे मालूम था, कि इन पूरबियो मे शिवनारायणीपन्थ का बहुत प्रचार है। मैंने उससे जमात के 'लिखनीचद', 'प्रधान' आदि के बारे मे पूछा। ताँगेवाला समझ गया मै भी शिवनारायणी हूँ, क्योंकि बिना शिवनारायणी हुए कोई उन गुप्त शब्दो को जान नही सकता। उसने अपने यहाँ आने का आग्रह किया। मुझे उस वक्त खयाल आ रहा था, कनैला की बूढ़ी चमारिन गरिबिया का। सन् चार के अकाल में उसका घर उजड गया। सिर्फ एक लड़की बची थी, जिसका ब्याह पजाब की ऐसी ही किसी छावनी के आदमी से हुआ था, जिसे कभी-कभी मैंने कनैला मे देखा था।

हम आर्यसमाज मे ठहरे। मन्तरामजी से मुलाकात हुई, और बहिनजी के आश्रम मे दाखिल होने मे कोई दिक्कत नहीं हुई। लाहौर का रास्ता बन्द था। मार्शल-ला चल रहा था, किन्तु अब गोलियाँ नही चल रही थी। अमृतसर नजदीक होने से वहा के बारे मे लोग बतला रहे थे—डायर ओडायर की गोली के निशाना कुछ सौ नही, हजार से कही ज्यादा स्त्री-पुरुष-बच्चे बने। डाक्टर सत्यपाल, डाक्टर किचलू के नेतृत्व मे अमृतसर की जनता ने कितनी निर्भीकता प्रदर्शित की, इसकी बहुत-सी अतिरंजित खबरें हमें मिलने लगीं।

लाहोर अब दूर की बात थी। बलदेवजी या रामगोपालजी के पत्र से यह खबर मिली, कि हमारे सभी परिचित बच गये हैं। अब जलन्धर मे किसी तरह दिन काटना था। मन्तरामजी से पहिले कई बार बातचीत करने का मौका मिला था, किन्तु साथ रहने का यह पहिला मौका था। हमारी तबियत कुछ एक दूसरे सी मिलती है, इसका भी हमें आभास था। मन्तरामजी ने रहने के लिए मकान तो ले लिया था किन्तु अभी खाना पकाने का कोई इन्तिजाम न था। शाम के वक्त रोज हम स्टेशन पर तन्दूर की रोटी खाने जाते थे। तन्दूर से निकलती गरमा-गरम करारी रोटी, प्याज की चटनी के साथ कितनी मीठी लगती है, इसका अनुमान खानेवाले ही लगा सकते हैं। स्वाद और स्वास्थ्य दोनों की दृष्टि से ऐसा अच्छा भोजन ससार मे मिलना मुश्किल है।

जलन्धर के अस्थायी निवास मे कई नये परिचित बने। हमारे लाहौर के पुराने दोस्त रामदेवजी इस वक्त यहाँ के नये खुले डी. ए. वी. इटरमीजियट कालेज में प्रोफेसर थे, और अपने दूसरे साथी प्रोफेसर ज्ञानचन्द के साथ एक ही मकान मे रहते थे। वहाँ प्याज डालकर तन्दूर में पकी रोटियाँ मक्खन-सहित मट्ठे के साथ खाने में ही 'मज़ा' नही मालूम होती थी, बल्कि प्रोफेसर-द्वय के योग-ध्यान-सम्बन्धी नये एड्वेंचर की कथा बड़ मनोरजन की बात रही। योग, मन्त्र, देवता के आकर्षणों से मैं पहिले ही गुजर चुका था, इसलिए मेरे लिए उनमे कोई खिचाव न था; किन्तु मैं देखता था, बिना स्वय भुक्तभोगी बने लोग इन आकर्षणों के खिलाफ कुछ भी सुनने के लिए तैयार नही होते। प्रोफेसर रामदेव बी. ए. (आनर्स, पीछे एम. ए. भी) और प्रोफेसर ज्ञानचन्द एम. ए. होकर स्वामी दयानन्द के ग्रथों में योग की महिमा पढ़ उस महान् साधना की ओर प्रेरित हुए। कानों-कान उड़ती खबर उन तक पहुँची—'आजकल स्वामी सियाराम नाम के एक महान् योगी हृषिकेश के आसपास रहते हैं। वह सिद्ध-पुरुष हैं, विरले ही वैसे महापुरुष ससार में पैदा होकर माता की कोख को पवित्र करते हैं। वह एम. ए. हैं, प्रोफेसर रह चुके हैं।'

दोनो तरुण चुम्बक से खिंचे लोहे की भाँति दौड़कर स्वामी सियाराम के पास पहुँचे। स्वामी सियाराम ने पहिले तो कितने ही दिनो तक शिष्यों की श्रद्धा की परीक्षा की। अधिकारी पा, योग प्रारम्भ करने से पहिले की साधनाएँ शुरू कराईं। महीनों मूँग के रस और निराहार का सेवन कराया। और भी क्या-क्या व्रत रखवाये। और योगध्यान क्या बतलाते, दोनो प्रोफेसरों के कथनानुसार—अपने में अटल श्रद्धा का उपदेश करते,

योग की जगह वह यमराज के समीप हमें पहुँचाना चाहते थे। खैर ! समय से पहिले दोनों जने की आँखें खुल गई। सियाराम और योग के फंदे से बचकर वे सही-सलामत लौट आये, और अब वे कालेज में प्रोफेसरी कर रहे थे।

लाला देवराज के पास भी हम अक्सर जाते थे, उनकी बातें मनोरंजक होती थीं; किन्तु हमारी आयुओं में युगों का अन्तर था, इसलिए वहाँ वह मनोरंजन नहीं होता था, जो कि प्रोफेसर-द्वय के यहाँ। हाँ, उस वक्त हमारी ही समवयस्का एक और मूर्ति जलन्धर में विद्यमान थी, जिसने यौवन के सरोवर को सुखाकर, सजीवता के उद्यान को जलाकर, ब्रह्मचर्य के कठोर पुरातन-पथ को अपनाया था। मैं भी ऋषि दयानन्द का भक्त था, विदेश में धर्मप्रचार के लिए ही अपने को तैयार कर रहा था, किन्तु जिन्दगी भर मन की ताजियादारी करना मुझे पसन्द नहीं था। सन्तरामजी भी मजाकपसन्द आदमी थे। हमें ब्रह्मचारीजी का व्यवहार उपहासास्पद-सा मालूम होता था, यद्यपि हम उनकी नीयत पर हमला करने के लिए बिलकुल तैयार न थे; बल्कि उनके त्याग की दाद देते थे। ब्रह्मचारीजी मुजफ्फरनगर जिले के रहनेवाले तरुण थे। वह स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की पुस्तकों को पढ़कर आर्यसमाजी हो गए, फिर आर्यसमाज के आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करने तथा स्वामी दयानन्द की शिक्षा के अनुसार वेदविद्या पढ़ने के लिए, वह घर से निकल पड़े। घर से निकलने से पहिले अपनी सारी सम्पत्ति को—जो कि उनके जीवन के लिए काफी थी—दान कर दिया। जहाँ-तहाँ घूमते-घामते वह जलन्धर पहुँचे। वह दस आर्यसमाजी गृहस्थों के घरों से मधुकरी माँगकर भोजन किया करते, ब्रह्मचारियों जैसा तहमद और लँगोट पहनते, लकड़ी के खड़ाऊँ पर चलते। पढ़ने में भी ऋषि दयानन्द के बताये अनुसार ही पढ़ते, सिद्धान्तकौमुदी आदि सभी अनार्षग्रंथों की छाया से भी परहेज करते। उस समय अष्टाध्यायी और महाभाष्य जैसे आर्ष ग्रंथों के पढ़ानेवाले पंडित दुर्लभ थे, इसलिए वह स्वयं ग्रंथों का स्वाध्याय करते। कन्या-महाविद्यालय के धर्मशिक्षक भक्त रैमलजी आर्यसमाज के मंत्री, तथा बहुत से श्रद्धालु आर्यसमाजी ब्रह्मचारीजी को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। हम भी उनसे सर्वथा वीतश्रद्ध न थे, तो भी कुछ बातें हमें अवश्य बहुत पुरानी मालूम होती, और यदि गाँव-भर की स्त्रियाँ 'भवह' (अनुजवधू) मान ली जाय, तो आखिर मजाक किनसे किया जाय ?

ब्रह्मचारीजी गर्मियों में काँगड़ा-पहाड़ के लिए रवाना होनेवाले थे। सन्तरामजी और मेरी सलाह हुई कि ब्रह्मचारीजी को एक विदाई-भोज, तथा अभिनन्दन पत्र दिया जाये। भक्त रमल को शामिल नहीं किया था। आर्यसमाज के मन्त्री को सिर्फ संख्या बढ़ाने के ख्याल से शामिल किया। हम दोनों ने मिलकर एक अभिनन्दन पत्र तैयार किया। भोज के लिए तेल में तली सिर्फ प्याज की पकौड़ियाँ दोनों में रखी गई। ब्रह्मचारीजी खड़ाऊँ पर, अचला पहने, चादर ओढ़े, नंगे शिर आकर कुर्सी पर बैठे। सब मिलाकर पाँच से ज्यादा आदमी वहाँ मौजूद न थे। कार्रवाई शुरू करते हुए मैंने कहा—इस सभा में मुझसे योग्य कोई व्यक्ति इस पद के लिए नहीं है, इसलिए मैं सभापति के आसन को शोभित करता हूँ। चार कान कुछ खड़े तो जरूर हुए, किन्तु अभी वह उतनी दूर तक सोचने के लिए तैयार न थे। फिर पंडित सन्तरामजी ने अभिनन्दन पत्र पढ़ना शुरू किया—

"... हम याद करके तड़प-तड़पकर मरेंगे, जब आपकी खड़ाऊँ पर खट-खट करती सूरत स्मरण होगी।... जब आपकी गगनचुम्बिनी शिखा... "

ब्रह्मचारीजी कुर्सी से उठकर भागने लगे। सभापति और अभिनन्दन-वाचक ने मिन्नतें कर-करके ब्रह्मचारी को तो रोका, किन्तु मन्त्रीजी अलग आँखें लाल पीली कर रहे थे—'ब्रह्मचारी को तेल की पकौड़ी खिलाना किस शास्त्र में लिखा है ?'

फिर अभिनन्दन पत्र शुरू हुआ, फिर अनुप्रासों की छटा और नखशिख-वर्णन। फिर ब्रह्मचारी भागने लगे। याद नहीं, तीसरी बार हम लोग ब्रह्मचारी को लौटाने में समर्थ हुए या नहीं। अभिनन्दन पत्र शायद ही समाप्त हुआ हो। मन्त्रीजी तो पहिले ही सटक गये।

उस दिन बड़ा मजा रहा। दूसरे दिन भगत रैमलजी को जब यह खबर मिली, तो उन्होंने हमें फटकारना शुरू किया—'ब्रह्मचारी से मजाक ?' 'मजाक नहीं बसरो-सामानी के साथ भोज-अभिनन्दन पत्र का दान था।' 'तेल

की पकौडी ब्रह्मचारी को ?" 'किस शास्त्र मे ?' हम लोग ज्यादातर शिर नीचे गाड़कर सुनते ही रहे। इस घटना के बाद मन्त्रीजी और भक्त रैमलजी ने निश्चित कर लिया, कि मैं विदेश में क्या देश मे भी धर्मप्रचार करने लायक नही हूँ।

कई दिन के इन्तिजार के बाद भी जब लाहौर का रास्ता न खुला, तो सन्तरामजी की सलाह हुई घर हो आने की। हम लोग रेल से जा होशियारपुर मे उतरे। पुरानी बस्ती वहाँ से बहुत दूर नही है। सन्तरामजी गाँव मे न रह अपने बागवाले मकान म रहा करते थे। बाग मे आड़ू, लुकाट आदि के कितने ही दरख्त थे, जिनमे एक यारकन्दी तुर्क माली काम कर रहा था। सन्तरामजी की स्त्री (पहिली पत्नी) घर का काम-काज करने मे असाधारण क्षमता रखनेवाली स्त्रियो मे थी। वह रोज हमे नाश्ता, मध्याह्न भोजन, साय भोजन बनाकर खिलाती। एक दिन सबेरे बरतन ले दूध दूहने गई, दोपहर को मालूम हुआ—लडकी पैदा हुई है। मुझे विश्वास नही हुआ, किन्तु बात सच थी। हवन कराने म व्यास मैं था, और बच्ची का गार्गी जैसा वैदिक नाम चुनना भी मेरा ही काम था। उसके बाद हम खाना खाने गाँव में जाया करते।

सन्तराम के भाई-बन्द पचासो बरसो स चीनी तुर्किस्तान के व्यापारी है। उनके परिवार मे दर्जनो एस थे, जो यारकन्द, खोतन, लदाख मे बरसो रह आये थे, और फिर जाने के लिए तैयार बैठे थे, वे तुर्की और तिब्बती भाषाएँ फरफर बोलते थे। दूर देश का नाम, वहाँ के घर, गाँव, शहर, वहाँ के रीति रवाज की कथा चल रही हो और 'सैर कर दुनिया की' ऋचा मेरे कानो मे न गूँजने लगे। रायसाहेब (सन्तरामजी के चचा) ने बतलाया—जाना मुश्किल नही, पासपोर्ट (?) लेना होगा, उसके बाद का इन्तिजाम हम लोग कर देंगे। खोतन से वहाँ का काला किन्तु मिश्री के दानो की तरह चमकते दानोवाला गुड़ दही के साथ खाने म बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता था। और सरसो का सूखा साग इतना स्वादिष्ट हो सकता है, इसका मुझे कभी खयाल भी न आया था मुझे इस वक्त हलायुध का यह श्लोक बार-बार याद आता था—

"नूतनसर्षपशाक पिच्छलानि च दधीनि।
अल्पव्ययेन स्वादु ग्राम्यजना मिष्टमश्नन्ति।"

सन्तरामजी के दो या तीन भतीजे और भतीजियो के गोर गुलाबी रग को देखकर मुझे यही ख्याल आया कि यूरोपीय जातियो का-सा सुन्दर रग भारत म भी देखा जा सकता है। अभी तक कश्मीर के पण्डितो को मैंने नही देखा था।

पुरानी बस्ती मे हम लोग होशियारपुर पैदल आये, और फिर ताँगा बदलते जलन्धर शहर आ गये। थोड़े ही दिनो बाद टिकट मिलने लगा, और मैं लाहौर पहुँच गया।

लाहौर म भी लाहौरी दरवाजे पर गोली चली थी, जहाँ मरनेवालो मे मुशीराम शास्त्री एक तरुण विद्यार्थी था। इसी साल उसने शास्त्री परीक्षा दी थी, और परिणाम के इतना खराब निकलने पर भी वह पास देखा गया, यद्यपि उस वक्त वह उसे सुनने के लिए मौजूद न था। मुशीराम अनाथालय मे पला था, और एक होनहार नौजवान था।—'हसरत उन गुचो पै है, जो बिन खिले मुर्झा गये।' उसे कई गोलियाँ लगी थीं, देखनेवाले साथियो ने बतलाया, कि सभी गोलियाँ सामने से उसकी छाती, बाँहो और जाँघो में घुसी थी। मुशीराम जैसे कितने बहादुरो ने मार्शल-ला के हाथो—क्रोधान्ध ब्रिटिश शासको के हाथो—अपनी जाने गँवाई।

अभी मार्शल ला जारी ही था, जब कि मैं लाहौर पहुँचा। अखबार पढने को बहुत कम मिलते थे। जगह-जगह फौजी आज्ञाएँ चस्पाँ थीं—लोगो को कब चलना चाहिए, कब सोना चाहिए, दूकानदारो को चीजे किस भाव बेचनी चाहिए नही तो क्या दड होगा। इस वक्त पजाब के लेफ्टिनेंट-गवर्नर ओडायर को अपनी हृदयहीनता का पूरा परिचय देने का मौका मिला था। सेना ने निहत्थे स्त्री-पुरुषो, बाल वृद्धो पर जो अत्याचार किये थे, उनकी कथाएँ सुनकर खून खौलने लगता था। म्युजियम की ओर मार्शल-ला की अदालतें बैठती थी। पकड़े हुए लोगो के भाग्य का निबटारा देखने के लिए उनके सम्बन्धी सहस्रो नर-नारी जमा रहते थे, और बेगुनाहो की फाँसी लम्बी-लम्बी सजाएँ सुन-सुनकर हमारे जैसो को अपनी बेबसी पर गुस्सा और ग्लानि होती थी। भगवान मे मेरा

विश्वास अभी टूटा नहीं था, तो भी सोचता—उनका न्याय आज क्यों नहीं होता ? आज इन अदालतों पर बिजली क्यों नहीं गिरती ? पहिले गोले-गोलियो, हवाई-जहाजों से नन्हे-नन्हे बच्चों के खून मे हाथ रँग के पीछे फाँसी-डामिल का हुक्म सुनानेवाले इन आततातियों की जीभ कट हजार टुकडे हो क्यों नहीं गिरती ? ऐसी अत्याचारी कौम का बेड़ा महायुद्ध में क्यों नहीं हमेशा के लिए गर्क हो गया ?

गर्मियों में पंजाब में लहस्सी (मट्ठा) पीने का बहुत रवाज था, किन्तु दही नौ बजते-बजते साफ हो जाती थी। फौजी अफ़सर ने दर मुकर्रर कर दी थी, उससे बेशी दाम पर बेचने पर कड़ी सजा और जुर्माना होता। लोग सबेरे ही दही की दूकान पर भीड़ लगा देते थे। हाँ, केसरीदास का लेमनेड, लाइम-जूस इसी वक्त सारे नगर में प्रसिद्ध हुआ था। यह दूकान वंशीधर के मन्दिर से बिलकुल पास थी, इसलिए हम लोग अक्सर वहाँ पहुँच जाते थे।

रौलट-एक्ट के विरुद्ध जो भारी विद्रोह की यह भावना पैदा हुई थी, उसने बहुत से मुर्दों में रूह डाल दी थी, किन्तु मार्शल-ला के दिनों ने इनमें से कितनों को सड़ी लाशों में परिणत कर दिया। कल के रँगे सिह आज अपने असली रूप मे दिखलाई देने लगे। कल जिनके नाम जोशीली नोटिसो पर छपते थे, आज वह सरकार की फरमाबरदारी के लिए नोटिसें निकाल रहे थे। वे ओडायरशाही की खुशामद के लिए रास्ते में पड़ी अपने शहीदों की लाशों पर से पैर रखकर जाने में जरा भी आनाकानी नहीं करते थे। पंजाब ने इन्हें 'कुत्ते', 'झोली चुक्क' के खिताब दिये, जिसकी चोट से उन्हें बचाने में मार्शल ला भी असमर्थ रहा। उस वक्त के इन 'झोली-चुक्कों' पर पीछे सरकार की पूरी कृपा होना स्वाभाविक था और उसने उन्हें सर, मिनिस्टर और क्या क्या नहीं बनाये। किन्तु देश क्या उनके गुनाहों को भूला देगा ? जो देश अपने विश्वासघातियों को उनके किये का मजा नहीं चखाता, वह अपनी इज्जत और स्वतन्त्रता को कभी नहीं कायम रख सकता।

मार्शल-ला का लोगों पर आतंक छा गया था, किन्तु उस आतंक का जरा भी असर हमारे जैसों पर नहीं था। जासूसों का जाल बिछा रहने पर भी मित्रमण्डली में अंग्रेजी शासन के खिलाफ हमारी टिप्पणियाँ उसी तरह होती थीं। अंग्रेजी शासन के प्रति हमारी घृणा कई गुना बढ़ गई थी, और 'झोली चुक्क' हमारे मानसिक कोप की आग में बुरी तरह भस्म हो रहे थे। पंजाब के अखबार करीब-करीब बन्द थे, हम खबरों के लिए दूसरे प्रान्तों के पत्रों का इन्तिजार करते। दिल्ली के 'विजय' (सम्पादक इन्द्र) की कापियाँ आने के साथ बिक जाती थीं। कुछ ही दिनों बाद जब मालूम हुआ कि दिल्ली के एक संस्कृत के पंडित—खुशामद के बल पर महामहोपाध्याय—विजय की खबरों और लेखों को छाँटने के लिए सेन्सर बने हैं, तो वैसे पंडितों के खिलाफ हमारी घृणा की सीमा नहीं रह गई। मैं सोचा करता—आखिर किस स्वार्थी लाभ के लिए ये लोग इतने नीचे गिरते हैं ? पेट तब भी उनका चल रहा था। कुछ पैसे ज्यादा मिल गये, किन्तु वह तो सदा के लिए नहीं मिलते रहेंगे। उस वक्त देशद्रोह से हजारों रुपये पैदा करनेवाले कितने ही पीछे दाने दाने को तरसते देखे गये।

मार्शल ला हटा, किन्तु इसी समय अफगानिस्तान अंग्रेज युद्ध की खबर आने लगी। सारे बेल्जियम, आधे फ्रांस, तथा उनके दोस्तो की बहुत सी भूमि पर बढ़ते चले जाने पर भी जब अंग्रेज दुनिया भर में अपनी ही जीत की खबरे फैला रहे थे, तो अफगानिस्तान के युद्ध के बारे में हम सच्ची खबरें मिलने पायेंगी, इसकी तो सम्भावना ही न थी। तो भी हम लोगों का दिया फैसला सदा अंग्रेजों के खिलाफ रहता।

घटनाओं की गर्मी के बीच में हमें लाहौर की उस साल की गर्मी बीतते मालूम न हुई। बलदेव और सोमराजुलू घर चले गये थे, और परीक्षा परिणाम की खबर देने को कह गये थे। क्रमशः परिणाम निकले। मैं अपनी सारी शास्त्री-जमाअत के साथ अनुत्तीर्ण, बलदेव पास, सोमयाजुलू फेल। बरसात शुरू होना चाहती थी, पढ़ाई के शुरू होने में अभी दो महीने की देर थी। पसीनों के बाद बदन में छोटी-छोटी फुन्सियाँ शुरू हुई, मुझे लाहौर में उदासी मालूम होने लगी। उसी समय पंडित गोविन्ददास को मैंने एक पत्र लिखा, उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक चले आने के लिए लिख भेजा।

9

चित्रकूट की छाया में (1919-20 ई.)

जूही से जब मैं बाँदा की लाइन पर चल रहा था, तो देखा ताल तलैया भरी हुई है। ढाई मास पहिले यही मैंने लोगों को दरख्तों के पत्तों से पशुओं की प्राण-रक्षा करते देखा था। महोबा स्टेशन पार होते वक्त मुझे पादरी ज्वालासिंह के मुबाहिसे की बात याद आई; किन्तु इस बार मैं वहाँ के किसी परिचित आर्यसमाजी से भेंट करने की चाह नहीं रखता था। कर्वी में स्टेशन से उतरकर—महन्त जयदेवदास के मठ में पहुँचा। अयोध्या के परिचित मित्रों में मिले सिर्फ व्याकरणाचार्य पंडित गोविन्ददास पाठशाला के प्रधानाध्यापक।

महन्त जयदेवदास चित्रकूट-मंडल के वैरागी महन्तों में सबसे अधिक धनी और प्रतिष्ठित महन्त थे। धनी होने पर भी उनको अभिमान न छू गया था। वेष-भूषा से तो मालूम होता, कि कोई मामूली रमता साधु हैं। खाने-पीने का भी उन्हें शौक न था। यद्यपि वह मामूली हिन्दी-भर जानते थे, किन्तु विद्या के प्रति उनका स्नेह था, इसीलिए तो उन्होंने संस्कृत की एक बड़ी पाठशाला खोल रखी थी। श्रावण में रामलीला और संस्कृत पाठशाला ये दो उनके शौक की चीज थी। दोनों के लिए उन्होंने कुछ जायदाद अलग कर दी थी। रामलीला के लिए पत्थर के खम्भों की एक खुली बारादरी बनवाई थी, जो पाठशाला के क्लास रूम का भी काम देती थी। विद्यार्थियों के रहने के लिए मठ के बाहरी ओर भी बरांडेसहित कितनी ही कोठरियाँ थीं, जिनमें मठ और आश्रमों में न आ सकनेवाले साधुविद्यार्थी रहते थे, इन्हीं कोठरियों में बारादरी से तीसरी या चौथी कोठरी में मेरा आसन था। गृहस्थ (ब्राह्मण) विद्यार्थियों के रहने के लिए बारादरी से दक्खिन एक मकान था। उस वक्त पंडित गोविन्ददास के अतिरिक्त पंडित जगदीश त्रिपाठी और पंडित शिवनारायण शुक्ल दो और अध्यापक थे।

मेरा इरादा कलकत्ता की किसी परीक्षा में बैठने का था। वेदमध्यमा पास हो गया था, इसलिए वेदतीर्थ में मैं बैठ सकता था, किन्तु यहाँ उसके किसी ग्रंथ का कोई अध्यापक न था। पाठशाला के विद्यार्थी अधिकतर काशी की सरकारी परीक्षा देते थे। पंडितजी की राय हुई, कि मैं सम्पूर्ण न्यायमध्यमा में बैठूँ। स्मरणशक्ति अब भी मेरी क्षीण न थी, किन्तु रटने को मैं बड़ी नफरत की निगाह से देखता था, इसलिए सफलता में सन्देह था। आगे चलकर सांख्य मध्यमा (बिहार), साधारण दर्शन मध्यमा (कलकत्ता), मीमांसा प्रथमा (कलकत्ता) के लिए भी फार्म भरे, जिनमें बिहार की परीक्षा में तो दूसरी परीक्षा के उसी समय पड़ जाने से बैठ नहीं सका। उसी विषय की प्रथमा जिसने पास नहीं की है, वह मध्यमा में नहीं बैठ सकता, इस नियम के अनुसार साधारणदर्शन मध्यमा में मुझे बैठने की इजाजत नहीं मिली।

सावन में रामलीला शुरू होने से पहिले ही मैं कर्वी पहुँच गया था। रामलीला तो पहिले भी कितनी ही बार देख चुका था, किन्तु रामलीला देखने का यह पहिला मौका था। रात को दर्शक नर नारियों की बड़ी भीड़ लगती थी। मथुरा की मंडली थी और पारखी लोग बड़ी तारीफ कर रहे थे। मुझे तो उनके संलाप अस्वाभाविक, वेष बेहूदे, गान अश्लील मालूम होते थे। मैं तो इस बात के लिए ताज्जुब करता था, कि मंडली का अध्यक्ष अपने बेटे भतीजे में से एक को राधा और दूसरे को कृष्ण का वह प्रेमाभिनय नाट्य करने की इजाजत कैसे देता है? किन्तु ऐसा भाव प्रकट करते हुए मैं यह भूल जाता, कि मैं वैरागी ऊपर से दिखलाने भर के लिए था, और भीतर से आर्यसमाज के विचार उन बातों का विरोध कर रहे थे।

न्याय के दो एक ग्रंथों को मैंने पंडित गोविन्ददासजी के पास पढ़ा, और योग सूत्र, सांख्यकारिका को याद किया। शास्त्री में फेल होकर आया था, किन्तु पाठशाला में विद्यार्थियों और साधुओं की ओर से मुझे शास्त्री की आनरेरी उपाधि मिली थी। महन्तजी को अंग्रेजी का कागज-पत्र जब पढ़ाना होता, तो मेरी खोज करते, और सिर्फ उसी वक्त मैं उनके पास जाता, बाकी वक्त उनके उत्तर कोने के दोमहलावाली बैठके पर मुझे जाते किसी ने कभी नहीं देखा। महन्तजी शायद इसे विद्या तथा परसा जैसे बड़े मठ के उत्तराधिकारी होने के कारण मेरा अभिमान समझते हों; किन्तु सहवासी विद्यार्थी, अध्यापक और साधारण साधु भी वैसा समझने की गलती

नहीं कर सकते थे। मैं सबसे मिलता, सबसे बात-चीत करता, काम पड़ने पर सबकी सेवा के लिए तैयार रहता। क्वार का महीना था, दोपहर को हरिनारायणदास—एक तरुण साधु—का शिर बहुत जोर से दर्द करने लगा। लोग उसे पकड़े हुए थे, और वह पक्के फर्श पर अपना शिर पटकने की कोशिश करता था। लोग जिस किसी की दवा का उपचार करना चाहते थे। मैंने कहा—डाक्टर बुलाना चाहिए। डाक्टर बुलाने कौन जावे ? मैं तैयार हो गया, इस पर फर्रुखाबाद जिले का एक तरुण साधु भी मेरे साथ हो लिया। कर्वी में एक बंगाली डाक्टर प्राइवेट प्रैक्टिस करते थे, उन्हें हम बुला लाये। उन्होंने कई घड़ा ठंडा पानी हरिनारायण के शिर पर उड़ेलवाया। धीरे धीरे दर्द जाता रहा। उस वक्त मुझे यह नहीं मालूम था, कि क्वार की वह कड़कती धूप इतनी भयंकर साबित होगी। उसी दिन अयोध्या से मीमांसकजी (मयूरवाले तामिल पंडित) आ गये, और उनके साथ मैं तो भरतकूप आदि की ओर उन्हें दर्शन कराने चला गया, किन्तु इधर फर्रुखाबादी साथी सख्त बीमार हो गया। तीसरे या चौथे दिन 9 बजे दोपहर को मैं जब लौटकर आया, तो यह बात मालूम हुई। उसकी कोठरी की ओर जाने पर यह देखकर मुझे खुशी हुई, कि उस दिन के बाद आज बिछौने से उठकर वह बाहर दातुवन कर रहा है। मैंने जाकर ललाट पर हाथ रखा, वह बर्फ की तरह ठंडा था, हाथ भी शीतल। खैर, उठकर बाहर बैठे दातुवन करते देख, तथा 'बड़े जोर की भूख लगी है'—कहते सुन मैंने उसके बदन के ठंडे होने की कोई चिन्ता न की। लौटकर अभी अपनी कोठरी में पहुँचा ही था कि खिचड़ी पकाने में लगा साथी दौड़ा हुआ आया—'देखिए, वह तो गिर गए।' जाकर देखा, हमारा वह निर्भीक साथी बिछौने पर मुँह के बल गिरा है, उसके मुँह से निकले रक्तमिश्रित कफ से दो अंगुल कपड़ा भीग गया है, उसका शरीर ठंडा हो गया है, नाड़ी और हृदय की गति बन्द हो गई है। क्वार की उस खतरनाक दोपहरी में मैं उसे क्यों लिवा गया—इस पछतावे से अब होनेवाला ही क्या था ? जिस वक्त सभी सहवासी साधुओं में से एक भी डाक्टर को बुलाने के वास्ते मेरे साथ जाने के लिए तैयार न हुआ था, उस वक्त वह स्वयं तैयार हुआ। उसने अपने छोटे-से स्थान में महन्त होकर सार्वजनिक काम करने के बारे में मुझसे कितनी ही बार बात की थी—ये सब बातें जल्दी भूल जानेवाली न थीं। अब उस साथी के शव के जलाने का प्रश्न था। मुझे वहाँ के साधुओं के व्यवहार को देखकर क्रोध और घृणा पैदा हो गई। त्याग और वैराग्य के ठेकेदार, भक्त और भगवान के ये दीनहारी सेवक अपने एक साथी के शव को मठ के पास नदी पर ले जाकर फूँक आने के लिए भी तैयार नहीं थे। लकड़ी तो खैर, मठ से मिल गई। बहुत कहने सुनने पर एक दो साधु मिले। शव को ले जा, नौसिखिये हाथों से मैंने चिता चुनी, और उस पर अन्तर्लीन नई उमंगवाले उस तरुण निश्चेतन शरीर को रखकर जला दिया।

कर्वी से चित्रकूट, तथा आसपास के पहाड़ और साधुओं के आश्रम नजदीक हैं। मैं कई बार चित्रकूट-पर्वत की परिक्रमा करने गया।—तीर्थ का भाव तो आर्यसमाज ने हृदय से हटा दिया था। वाल्मीकि काल के एक ऐतिहासिक स्थान के तौर पर अभी उसके प्रति सम्मान नहीं पैदा हुआ था, किन्तु प्रकृति देवी की एक विचित्रता का आकर्षण जरूर था, यद्यपि हिमालय के दर्शन के कारण यह परिमित सीमा ही तक हो सकता था। चित्रकूट पहाड़ की परिक्रमा में बने सैकड़ों मन्दिर, मठ और उनकी दूकानदारी, उनका बाह्य ढोंग और अन्तर भोग मुझे अब उतना विकल नहीं करते थे, क्योंकि मैं धार्मिक जगत् के 'खाने के दाँत और दिखाने के और' से पूरा वाकिफ था। चित्रकूट के शिखर पर चढ़ने में मुझे आनन्द आता था। परिक्रमा के बहुत से स्थान परिचित हो गये थे, इसलिए कहीं दो गिलास पानी पीते, कहीं मध्याह्न भोजन करते, कहीं आध घंटा गप करते परिक्रमा सबेरे से शाम तक पूरी हो जाती थी।

यद्यपि यहाँ भी वही नदी थी, जो कर्वी में हमारी पाठशाला की बगल में बहती थी, किन्तु वहाँ हम 'चित्रकूट के घाट पर भई सन्तन की भीड़' याद न आती थी। नदी के और ऊपर चित्रकूट से कुछ मील पर जानकीकुंड था। यहाँ नदी पथरीली जमीन पर कल-कल करती बह रही थी। पानी स्वच्छ, जिसमें झुंड की झुंड मछलियाँ तैरती थीं। साधुओं ने यहाँ एक अपना गाँव ही बसा लिया था। कुटियाँ अधिकतर मिट्टी के भिंडों को खोदकर बनाई गई थी, जो भीतर से ठंडी मालूम होती थी। ऐसी ही कुटियों को देखकर तुलसीदास ने अपने ऋषि-आश्रमों

का चित्रण किया होगा। जानकीकुंड के 'ऋषि' कितनी ही बातों मे भेद रखते हुए भी, बहुत-सी बातो मे अपने पूर्वजों से समानता रखते थे। पहिले के ऋषियो की भाँति ये सकलत्र न थे, किन्तु ये उन्ही की भाँति सपरिग्रह थे। पहिले के ऋषियो की भाँति ये सिर्फ वन्य कन्दमूल पर गुजारा नहीं करते थे, किन्तु थे ये उन्ही की तरह यूथ बाँध अरण्य में बसे। इगुदी के तेल को यहाँ कोई नही पूछता था, यहाँ तो हमारे रसिक सन्तो (सखी लोगों) के दीर्घ केशो से चमेली और गुलरोगन चुआ करते थे। आखिर जिस सगुण पूजा को एक मात्र ये पूजा मानते थे, उसमे तारुण्य का आनन्द लेनेवाले सीताराम को उनके अनुरूप ही तो भोग-सामग्री जुटानी चाहिए थी। जानकी घाट मे जब-तब सीतारामदास नामक एक युवक से मिलकर बडी प्रसन्नता होती। वह अच्छे प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। सिद्धान्तकौमुदी प्रायः समाप्त कर चुके थे। पढाई से वैराग्य हुआ था, किन्तु अब आसपास के जगलो, राजापुर, बाँदा आदि स्थानो मे पैदल बे-सरोसामान घूमने मे उन्हे आनन्द आता था। सगुण उपासना और सखीमार्ग से उन्हे भी मेरी ही तरह बहुत घृणा थी; सन्तो महन्तो की मुसाहिबी से उन्हे भी विरक्ति थी। कर्वी के गोले मे (किराना-बाजार) एक रसिक साधु आये हुए थे, रसिक होते हुए भी वह कुछ पढे-लिखे थे, इसलिए पढे-लिखे साधुओं का सम्मान करते थे। सीतारामजी के साथ मुझे भी कई बार वहाँ जाना पड़ा। क्या सत्सग होता था, याद नही, हाँ, जाने पर भोजन वही करके आते थे। सीतारामजी के साथ एक बार राजापुर भी गया। यमुना का स्नान तथा "गोस्वामीजी के हाथ" की लिखी रामायण का दर्शन किया। कई पर्त कपडा को हटाकर पुजारी ने हाथ के कागज पर लिखी खुले पन्ने की पुस्तक को दिखलाकर बतलाया—'कोई साधु इसे चुराये लिये जाता था। पकडे जाने के डर से उसने नदी मे फेंक दिया, उसी से ये पानी के दाग हैं।' मुझे उस वक्त कनैला की कैथी मे लिखी रामायण-पोथी याद आ रही थी, जो मेरे बचपन में ज्यादा नही तो सो डेढ सौ वर्ष पुरानी तो जरूर रही होगी, और जिस पर ही लोग 'गोविन्द-साहेब' के नीचे रामायण गाया करते थे।

कर्वी के पूरब कुछ दूर पर एक गाँव में एक ब्रह्मचारी की कुटिया थी। एक दिन सीतारामदासजी के साथ हम लोग वहाँ गये। कुटिया की दीवार और फर्श कच्चे थे, किन्तु वह बहुत साफ सुथरी गेरू से रँगी हुई थी। कुछ फूल के पौधे, स्वच्छ छोटा सा आँगन बहुत सुन्दर मालूम होते थे। वैष्णव वैरागियो के मुल्क में यह गरुआधारी ब्रह्मचारी कहाँ से ? ब्रह्मचारी, सीतारामजी के दोस्त थे, शायद उस दिन हम उनसे मिल न सके। रास्ते मे हमने बाजरे का हाला खाया और आगे पहाड की किसी गुफा मे गये। बतलाते थे, रात को यहाँ बाघ आया करता है। पहाड ही पहाड मे हम जानकीकुड की ओर गये। रास्ते मे इगुदी, चिरौंजी और दूसरे कई प्रकार के जगली फलदार दरख्त मिले। शायद पहाड के अन्त पर एक कुटी मिली, जिसे किसी एकान्तप्रिय योगी ने बनवाई थी। योगी के विचार ने पलटा खाया, और वह राम के जमाने के ऋषियो की तरह सदारा बन गया, किन्तु आज दूसरी या तीसरी पीढी के गृहवासियों ने उसे साधारण दरिद्र गृहस्थ का घर बना दिया था, जिसके आँगन मे नंगे बच्चो तथा फटे कपडोवाली स्त्रियो के साथ दारिद्र्य और दैन्य डोलते फिरते दीख रहे थे।

चित्रकूट से दडकारण्य के रास्ते की ओर जाने का आकर्षण मेरे लिए बहुत था, किन्तु इतनी बडी मुहिम के लिए वहाँ समय कहाँ था ? अनुसूया के आश्रम पर हम एक बार गये थे। पहाड और घना जगल, जगली जानवरो की हर जगह सम्भावना थी, तो भी इन जंगली गाँवो मे गायें-भैंसे बहुत दिखाई पडती थी—चरागाह काफी रहे, तो बाघ-बघेरे गायो की सख्या को कम नही कर सकते। विध्याटवी मे घुसने पर बाण के हर्षचरित मे बहिन की खोज मे भटकते हर्ष और दिवाकर मित्र का आश्रम स्मरण आने लगता, और जंगल में किसी कृष्णकाय ब्राह्मण को देखकर कादम्बरी का जरद्-द्रविड धार्मिक याद हो आता। 'आश्रम' नदी के बायें किनारे था। वहाँ एक धर्मशाला थी। हम लोग खाना बनाने की तैयारी करने लगे, धुआँ आसमान में मेघ चित्र बनाने लगा, तब हमें पिछवारे के पहाड के पाषाण पार्श्व पर काले-काले बड़े-बड़े मधुच्छत्र लटकते दिखलाई पडे। समय से पहिले हम सजग हो गये, और आग को दूसरी ओर ले गये, नहीं तो वह लम्बी मधुमक्खियाँ यदि एक बार हमारी गुस्ताखी को अपनी शान के खिलाफ समझ जाती, तो हमारा वहाँ से बचकर निकलना मुश्किल था। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ, कि ग्रामीण लोग रात को मशाल बाले, बाँस या रस्से के सहारे सैकडो हाथ

ऊँची आगे की ओर लटकती हुई इन चट्टानों पर पहुँच मधु जमा करते हैं। मेरे दिल में तो यही ख्याल आने पर तलवा पसीजने लगता था। भालू भी इन छत्तों की मधु को खाता है, यह मेरे लिए नई जानकारी हुई, जिससे पीछे उसका रूसी नाम मेद्वेद (मधु अर) के समझने में आसानी हुई।

कर्वी में रहते ही वक्त जानकीघाट (अयोध्या) के एक साधु एक हस्तलिखित पुस्तक लाये। कह रहे थे, इसके ग्रन्थ के परिचयवाले अंश को छोड़कर उतारें, हम लोग इसे वेदान्तसूत्रों पर रामानन्दभाष्य कहकर इसे प्रकाशित करेंगे। मैंने उसके कितने ही अंशों को पढ़ा। वह किसी महात्मा तुलसीदास का बनाया वेदान्तभाष्य था, जिसमें अद्वैत वेदान्त का खंडन करते हुए द्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया था। आर्यसामाजिक विचारों के ग्रहण के साथ मैं शंकर के अद्वैत वेदान्त को छोड़ द्वैतवादी हो गया था, इस दृष्टि से मुझे इस भाष्य या टीका की बातें पसन्द थीं, किन्तु तुलसीदास का नाम हटाकर इसे रामानन्द के नाम से प्रकाशित करना मुझे अनुचित मालूम हुआ, इसलिए मैंने वैसा करने से इनकार कर दिया। पीछे मालूम हुआ कि वह काम किसी दूसरे ने किया।

कर्वी के साथियों में पंडित इन्दिरारमण की ओर मेरा विशेष ध्यान आकर्षित हुआ था। व्यवहार बुद्धि में उनकी कमियों को जानते हुए भी उनकी अध्ययन सम्बन्धी प्रतिभा का मैं कायल था। इसके अतिरिक्त एक और बात थी जिसने मुझे उनका अज्ञात पक्षपाती बना दिया था। इन्दिरारमणजी छपरा जिले के एक गोसाईं वंश में पैदा हुए थे। गोसाईं जाति का हिन्दुओं में कितना ऊँचा स्थान है, यह इसी से स्पष्ट है कि बड़ी से बड़ी उम्र का ब्राह्मण भी एक छोटे से गोसाईं [illegible] के सामने सिर नवाता है। पन्दहा में मेरे नाना के एक दोस्त गोसाईं आया करते थे उनका काला वेश, बड़ा जटाजूट तथा गले में सूत में लिपटा एकहरा रुद्राक्ष मुझे अब भी याद आता था। उनको देखते ही नानाजी के रिवाज के अनुसार मैं 'नम्मो नरायन' (नमो नारायण) कह उठता। मेरे लिए बहुत पहिले भी यह विश्वास करना असम्भव बात थी कि गोसाईं छोटी जाति है। और अब तो मैं भीतर से पक्का आर्यसमाजी था। साधुओं को गुसाईं कहकर उनको नीची दृष्टि से देखने की बात मेरे लिए असह्य थी। शायद वैरागी वैष्णवों को अन्य जाति [illegible] शंकर मतानुयायी होने से भी गोस्वामी गृहस्थों के साथ इस तरह का विरोध हो। इन्दिरारमणजी के दोस्त [illegible] ब्राह्मणवंशीय कहते थे, मैं भी ब्राह्मण कहकर उनके प्रतिद्वन्द्वियों को फटकारता। मैं चूँकि स्वयं छपरा जिले के एक प्रतिष्ठित मठ का उत्तराधिकारी था इसलिए मेरी बात का उनके पास जवाब न होता। यह देखकर मुझे कभी कभी चिन्ता होती थी कि इन्दिरारमणजी को जब तब ऐसी बातें चुभती हैं, लेकिन उस वक्त यह ख्याल न आता था कि यह अपमान उन्हें साधु का स्वतन्त्र जीवन—जो कि साधकावस्था में अपने को तैयार करने के लिए बहुत सहायक हो सकता है—छुड़ा गृहस्थी के जंजाल में फँसा देगा। छपरा में राजनीतिक कार्य करते समय जब पीछे पहिले मुझे यह खबर लगी तो मुझे बहुत भारी धक्का सा लगा। गृहस्थ होने पर आदमी को नोन-तेल-लकड़ी से ही छुट्टी नहीं मिलती, वह अपने जीवन को ध्येय कार्य के योग्य कैसे बना सकता है?

कर्वी के साथियों में एक और सीतारामदास (मिथिलावासी) थे। वह पढ़ने में दुर्बल थे किन्तु उनका हृदय बहुत मृदुल था। सार्वजनिक सेवा के बारे में उनसे बराबर बात होती थी। बीमार साधुओं को कैसे अनाथ छोड़ दिया जाता है, इसका अनुभव मुझसे भी ज्यादा उनको था। मैंने उनसे कहा—आप कोई ऐसा स्थान बनावें जहाँ बीमार साधुओं की पूरी तौर से सेवा सुश्रूषा होवे। उन्होंने उसके लिए योजना बनानी और तैयारी करनी भी शुरू की। अपने हृदय से मैं उनके बारे में भी समझ गया था कि देशाटन की साध पहले न पूरी करने पर शायद पीछे उन्हें अपना काम बन्द करके निकलना पड़े, इसलिए पहिले इस साध को पूरा कर लेने के लिए मैंने सलाह दी। एकाध बार प्रयाग, बनारस और शायद जबलपुर तक हम साथ घूम भी आये। कर्वी के आखिरी दिनों में मेरे पास दो लँगोटी, एक अँचला (जो पीछे एक कम्बल की अल्फी के रूप में परिणत हो गया), एक अँगोछी और एक लौकी का कमण्डलू मात्र रहता था। मैंने अपने साथी को कहा—बस यही बाना लो और बिना एक भी पैसा-कौड़ी के 'चारों मुल्क जागीरी में' समझो। पीछे की यात्राओं में एक जगह सीतारामदासजी का सिर्फ एक बार पता लगा था, किन्तु भेंट फिर कभी नहीं हुई।

न्यायमध्यमा परीक्षा मे सिद्धान्तलक्षण और 'सिहव्याघ्रलक्षण' पर जागदीशी टीका भी थी। उसके पढ़ने के लिए मुझे बनारस जाना पड़ा। स्वामी वेदानन्दजी के यहाँ नन्दनसाहु की गली मे ठहरा, और पढने के लिए रणवीर-पाठशाला (हिन्दू विश्वविद्यालय) मे उत्कल पडित श्रीकर शास्त्री के यहाँ जाया करते थे। श्रीकर शास्त्री पुरानी पीढ़ी के उन पडितो के अवशेष थे, जिन्हें पुत्र और शिष्य के स्नेह मे भारी अन्तर नही मालूम होता था। पाठ हो जाने के बाद बाते शुरू होती। वे काशी पढने आये थे, शिक्षा समाप्ति के बाद यही रह गए। काशी का कोई भी प्रकाड पडित पैसो के लोभ से काशी छोड बाहर नही जाना चाहता। श्रीकर शास्त्री की भाँति ही मेरे मोतीराम के बगीचे मे रहने के समय अस्सी पर एक वैयाकरण पडित रहा करते थे। उन्हे रोज भाँग का गोला छानने के लिए चाहिए था। व्याकरण के अच्छे पडितो मे से थे, और नगवा मे 10 या 12 रुपया महीने पर पढाते थे। एक बार एक रानी ने उन्हें साठ या सत्तर रुपया मासिक तथा खाना कपडा पर अपनी राजधानी की पाठशाला मे पढाने के लिए भेजा। पडितजी महीने के भीतर ही लौटकर फिर अस्सी सगम पर भग छानते दिखाई पडे। कह रहे थे—साठ रुपल्लियो के लिए क्या मै सारी पढी पढाई विद्या को भुलवा देने के लिए वहाँ रहता ? वहाँ तो लघुकौमुदी के ऊपर के विद्यार्थी ही नही मिलते, फिर मेरे 'परिष्कार', और फक्किका-विमर्श तो धरे ही रह जाते। श्रीकर शास्त्री की इसके सिवा और कोई कामना न थी, कि काशी म अपना एक मकान हो जाय। मैं एक-दो महीने उनके पास पढता रहा किन्तु इतने ही मे मैं उनके प्रिय शिष्यो मे हो गया था।

काशी मे आने से भी मैं डरता था, फिर रहने की तो बात ही क्या ? क्योकि, वहाँ कनैला के आस पास के किसी आदमी से भेट हो जाने का डर था। एक दिन टाउनहाल के हाते मे आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव मे गया। देखा, मेरे पीछे की पाँती की एक कुर्सी पर रामाधीन पाडे बैठ हुए हैं। मेरी नजर उधर फिरते ही हमारी चार आँख हुईं। उन्होंने पूछा—'घर नही चलोगे ?' क्या जवाब दिया, मालूम नही, किन्तु खतरे का डका बज गया, यह समझने मे तो कोई सन्देह नही रह गया। सौभाग्य से मेरी पाठ्यपुस्तके समाप्त हो चुकी थी।

कर्वी मे लौटकर फिर परीक्षा की तैयारी करने लगा, लेकिन सम्पूर्ण न्यायमध्यमा मे जितने ग्रंथों को रटना था, वह उतने थोडे समय मे साध्य नही था।

जाडो म कर्वी के ज्वायट-मजिस्ट्रेट मिस्टर खरेघाट शादी करके लौटे थे। उस समय क बड़े आदमी किसी उपलक्ष्य मे बडे हाकिमो को दावत देना अपना फर्ज समझते थे, इन बातो की परम्परा और कायदा बन चुका था। इधर महन्त जयदेवदासजी हाल ही मे अनारी-मजिस्ट्रेट बने थे। अभिज्ञो ने सलाह दी, ज्वायट मजिस्ट्रेट तथा कलेक्टर साहेब को दावत देनी चाहिए। दावत की तैयारियाँ होने लगी। छपरा आने जानेवाले एक साधु महन्तजी के मुसाहिबो मे थे। जब उनसे मालूम हुआ, कि प्रयाग की एक अग्रेज-कम्पनी (किल्नर ?) को दावत की चीजो के इन्तिजाम का भार दिया जा रहा है, तो मैंने समझ लिया, उसमे गोमास भी आयेगा। उधर बगल के मठ रामबाग के महन्त के साथ हमारे महन्त की बहुत चल रही थी। मैंने सोचा, इसकी खबर उन्हे लग के रहेगी, फिर यह बात वह समाचार पत्रों म छपवा देगे। यद्यपि अब मैं सोलहो आने गरम राष्ट्रीयतावादी था, और इस प्रकार अग्रेजो तथा उनके खुशामदियों स चिढ़-सी रखता था, किन्तु महन्त जयदेवदासजी म बहुत से गुण थे, जिनके कारण मैं उनकी इस एक कमजोरी का खयाल नही रखता था; इसलिए मैंने सद्भावना स ही प्रेरित होकर उनके मुसाहिब से कहा—'अग्रेज लोग गोमास को अनिवार्य भोजन नही समझते। खासकर महन्तजी जैसे धार्मिक व्यक्ति की ओर से उसके प्रस्तुत होने पर तो भीतर ही भीतर वह घृणा करेगे, इसलिए खाद्यसामग्री मे उसे छोड देना चाहिए।' महन्तजी को दुविधा मे पडे देख, उनके 'राजभक्त' दोस्तो ने—जिन्हे खुद ऐसी दावतें करके धन्य-धन्य होने का मौका मिल चुका था—उन्हे यह कहकर डरा दिया, कि वैसा करने पर तो कलेक्टर साहेब अपनी तौहीनी समझेंगे। फिर जिस देवता के मृदुहास की प्रतीक्षा हो, उसी की आँखे लाल कराने कौन जावे। महन्तजी ने कह दिया—'हम जमींदार हैं, हमे सरकार-दरबार से भी काम पडता है, इसलिए दावत मे जो चीजे लगती हैं, वह आवेगी।' मेरे मन पर इसका बुरा प्रभाव पडा। हिन्दुओ मे गो-भक्ति कितनी मौखिक इसका यह एक ज्वलन्त उदाहरण था।

दावत यद्यपि खरेघाट साहेब के ब्याह के उपलक्ष्य मे हो रही थी, किन्तु उसमें निहित था बादा के कलेक्टर (अंग्रेज) को अनारी-मजिस्ट्रेटी देने के लिए धन्यवाद देना। तो भी खरेघाट-दम्पत्ति के नाम मे ही अभिनन्दन आदि तैयार करना था। पडित गोविन्ददास और पडित जगदीश त्रिपाठी की राय हुई, कि इस समय कुछ संस्कृत-पद्य खरेघाट साहेब को प्रदान किये जावे। महन्तजी ने इसमें अपनी पाठशाला की भी सार्थकता समझी, और पंडितों के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए, उस पर बडी प्रसन्नता प्रकट की। और लोगों ने पद्य बाँधना शुरू किया, किन्तु उसमें उन्हें सफलता नही दीख पडी। फिर वह भार 'शास्त्री'जी (मुझ) पर डाला गया। याद नही कितने पद्य बनाये, लेकिन वे पाँच-छै पत्रो से कम पर नही लिखे गये थे। सुलेखक होने से कवि और लेखक दोनों का काम मुझे ही करना पडा। सस्कृत कविताओ मे गोमूत्रिका, मृदग, पद्य आदि कई बन्ध आये थे, एक गीतिका भी थी, और एक शब्दालकार तथा अर्थालकार मिश्रित कोई रचना। एक हिन्दी की भी तुकबन्दी किसी संस्कृत छन्द मे थी, जिसमे खरेघाट के पारसी-वश की प्रशसा करते हुए मैंने दादाभाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, और सर दीनशा वाचा का गुणानुवाद किया था। लाल-काली स्याही से सफेद चिकने मोटे कागज पर लिखकर तैयार हो जाने पर, बिना अर्थ समझे भी देखनेवाले को वे पत्र अच्छे लगते थे। इसी वक्त किसी ने महन्तजी से जाकर कह दिया, कि एक कविता में दादाभाई नौरोजी आदि सरकार-विरोधियों का नाम आया है। 'झांनी-चुक्कों' की गुट ने महन्तजी को सलाह दी—तब तो 'पूत माँगने गई पति खा आई,' की मिसाल होगी। महन्तजी ने पडित जगदीश तिवारी से कहा कि कविता मे से वह अश निकाल दिया जावे। मुझे यह सुनकर बडा क्षोभ हुआ, क्योंकि मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध सिर्फ महन्तजी की लालसा पूरी करने के खयाल से यह सब कर रहा था। मैंने त्रिपाठीजी को कह दिया, कि महन्तजी नाहक इन खुशामदी टट्टुओ के फेर मे पडे हैं, यदि स्वय खरेघाट साहेब से आप पूछेगे, तो वह अपने सम्बन्ध मे दादाभाई आदि का नाम गौरव की चीज समझेंगे। उस कविता के छोड देने का रुख देखकर मैंने कह दिया—'फिर मै अपने एक भी पत्र को नहीं दूँगा।' उन्हे मालूम था, कि मैं कर्वी मे अपने मित्र पडित गोविन्ददासजी के बुलाने से आया हूँ, मैं किसी की प्रसन्नता के लिए इतनी दूर तक न जाऊँगा। दावत के दिन खरेघाट-दम्पति एक-डेढ घटे पहिले आये। जगदीश पडित उन्हे मठ के कितने ही भागो को दिखलाने ले गये। उसी समय उन्होंने दादाभाई शब्दवाली कविता का जिक्र कर दिया। खरेघाट ने बडे उत्साह से कहा—'कोई हर्ज नही है। कलेक्टर क्या नाराज होगा ?'

कविताएँ पढी गईं। दूसरे दिन हमें उसका अर्थ समझाने के लिए खरेघाट ने अपने बँगले पर बुलवाया।

काशी न्यायमध्यमा की परीक्षा देने प्रयाग जाना पड़ा और कलकत्ता की मीमासा प्रथमा के लिए जबलपुर। मध्यमा मे अनुत्तीर्ण, मीमासाप्रथमा मे प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण।

मार्च के अन्त मे हम जगल की सैर के लिए गये थे, वहाँ से लौटने पर बुखार आने लगा। इधर भाई साहेब ने लाहौर मे शास्त्री की फीस दाखिल करा दी थी। साल-भर पुस्तको के पढने का मौका ही नही मिला था, फिर फार्म भर देने भर से परीक्षा कैसे पास की जा सकती है ? किन्तु, अब के एक लम्बी यात्रा पर निकलने का इरादा था, साथ ही लाहौर के दोस्तों से भेंट का अवसर भी था।

10

फिर घुमक्कड़ी का भूत (1920 ई.)

कर्वी छोडते वक्त भी अभी बुखार ने मुझे छोड़ा न था। पैसा पास न था, इसलिए सारी यात्रा 'दस-आने-छै-आने' मे करनी थी। 'दस-आना-छै-आना' बिना टिकट की रेलयात्रा का नाम था; समझा जाता है हर सम्पत्ति मे छै आना शाही-अंश होता है, और रेल मे सफर करते वक्त हम उसी अपने छै आनेवाले हक को ले रहे हैं। सारी यात्रा में किसी स्टेशन पर भी मैंने छिपकर जाने की कोशिश नही की, और न टिकटचेकर से ही कहीं बचना

चाहा। दिल्ली मे लाहौरवाली डाक पर जाने से रोका, लेकिन फिर क्या समझकर टिकट कलेक्टर ने छोड दिया।

बुखार रहते भी परीक्षा मे बैठा, बस परीक्षा के बारे मे इतना ही याद है। बलदेव, रामगोपाल, भाई साहेब से मुलाकात हुई। कई सालो से जमा होते भावो ने बुद्ध के प्रति मेरे दिल मे परम श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। इधर उनकी जीवनियों के पढ़ने से बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानो के दर्शन के लिए उत्सुकता बढी थी, अब के तै किया उन्हे देखने का। लौटते वक्त जलन्धर उतरा। सन्तरामजी ने इरादे को सुना तो कहा–स्थानों के बारे मे 'भारती' (कन्या महाविद्यालय की मुखपत्रिका) के लिए लेख लिख देगे–'भास्कर' के बाद यही हिन्दी मे मेरे प्रथम लेख थे, और यात्रा सम्बन्धी तो सबसे पहिले लेख।

मुझे खयाल नही, जलन्धर के बाद और कहीं रास्ते मे उतरा या नही। बनारस पहुँचने पर अब भी बुखार ने पिंड नही छोड़ा था। स्वामी वेदानन्दजी पंडित छन्नूलाल वैद्य के यहाँ ले गये, और उनकी दवा ने फायदा जरूर किया, क्योंकि आगे ज्वर की याद नही।

सारनाथ एक बार फिर गया। उस वक्त पुराने ध्वस, अशोकस्तम्भ ही वहाँ की मुख्य दर्शनीय चीज थी। महाबोधिसभा का एक छोटा सा मकान और उसमे छोटी-सी पाठशाला थी। सारनाथ से सीधे तहसील-देवरिया होकर कसया जाने मे आजमगढ का जिला पड़ता है, इसलिए मुझे छपरा का रास्ता लेना पड़ा, और मार्ग मे थान से एक-दो दिन के लिए परसा मे ठहरा। महन्तजी ने मुझसे निराश हो उत्तराधिकार देने के लिए अपने भतीजे को चेला बना लिया था, यह सिर्फ इतने ही अश मे मुझे बुरा लगा, कि वरदराज और वीरराघव जैसे महन्त के योग्य उनके दो शिष्य पहिले ही से मौजूद थे, मेरे अस्वीकार करने पर उनमे से किसी का उत्तराधिकारी बनाना वाजिब था। किन्तु, जिस राजनीतिक आदर्शवाद की ओर मैंने कदम बढ़ाया था उसमे परसा मठ के कुप्रबन्ध या सुप्रबन्ध मे बहुत अन्तर पड़नेवाला नही था।

शाम के वक्त मैं तहसील-देवरिया स्टेशन पर उतरा। रात को बाजार से बाहर किसी मन्दिर मे ठहरा सबेरे वहाँ से कसया की सड़क पकड़ी। अप्रैल का अन्त या मई का शुरू था। धूप और बोझ यात्रा मे मेरे सबसे जबर्दस्त शत्रु है।-बोझ से तो मैं निश्चिन्त था, एक पतले कम्बल मे घुटने से थोडा नीचे तक की अल्फी दो लँगोटिया के अतिरिक्त एक गमछा-बस इतने ही कपड़े थे। पानी पीने के लिए लोटा का एक कमण्डल था। पैर और सिर नगे। शायद एक या दो किताबे थी। हाँ, धूप का डर जरूर था और उसकी दवा यही थी, कि नौ बजे से चार बजे शाम तक चला ही फिरा न जाय। दोपहर को मैं रास्ते के किसी मदरसे मे ठहरा। वहाँ गोरखपुर जिले का नक्शा देखने गया, पीछे अध्यापक ने खाने का निमन्त्रण दे दिया। शाम को सड़क की बाईं ओर एक नया आमो का बगीचा मिला। कुआँ था और शायद एक पक्का चबूतरा भी। जमींदार का पक्का घर और गाँव थोड़ा हटकर था, मुझे खाने की इच्छा न थी, इसलिए गाँव मे जाने की जरूरत नही थी। वहाँ चबूतरे पर पड़े मुझे शाम की ठडी हवा के झोके बहुत अच्छे मालूम होते थे।

सबेरे चलते वक्त भूख नजदीक मालूम होती थी, इसलिए सड़क पर बाईं ओर के गाँव मे जब एक वैरागी मठ का पता लगा, तो मैंने वहाँ जाकर पहिले भोजन से निवृत्त हो लेना जरूरी समझा।

गाँव मे रामाभार ('मुकुटबन्धन'–बुद्ध शवदाह) का ताल नजदीक ही था, शायद मठ के कुछ मकानो मे किसी पुराने ध्वस की ईंटे भी लगी हुई थी। साधु बतला रहे थे, कि माथाकुँअर राजकुमार थे, उनकी बहिन का नाम रामा था। कुशीनगर मे काले पत्थर की बुद्धमूर्ति राजकुमार माथाकुँअर थे, और बुद्ध का चितास्थान राजकन्या (रामाभार) का स्थान। 'मुझे माथाकुँअर (कुशीनगर) जाना है'–कहने पर बोल उठे–क्या बर्मावाले के देवता का दर्शन करने जाओगे।

कसया मे भी किसी वैरागी मठ मे ठहरा। उसमे तहसीली स्कूल के मिडल क्लास के कुछ लड़के भी रहते थे। मैंने मनोरजन के लिए कुछ प्रश्न पूछे, जिससे उन्होने समझ लिया, मैं स्कूल का पढ़ा-लिखा हूँ, और इससे मेरी कद्र बढ गई।

शाम को पाँच बजे बाद मैं बुद्ध के निर्वाणस्थान (माथाकुँअर) पर गया। दिन की दहकती धूप अपनी तेजी से वचित हो सुनहले रंग मे परिणत हो गई थी, और भूमि मेरे नगे पैरो के लिए सह्य थी। नये निकले

कोमल पत्तोंवाले शीशम दूर तक भूमि को अपनी छाया से ढाँक रहे थे। मैंने बुद्ध की जीवनियाँ पढ़ी थी, यद्यपि मूल प्राचीन भाषा में नहीं। उस भूमि के भीतर प्रविष्ट होते वक्त मेरा हृदय ढाई हजार वर्ष पहिले के उस महान् भारतीय की ओर खिचा हुआ था, जिसने अपनी जन्मभूमि का नाम संसार भर मे फैला दिया, और संसार के एक तृतीयांश के मनुष्यों के लिए भारत को पुण्यभूमि बना दिया।

ध्वंस के बाहर शीशमों के पास एक चिता की सफेद-सफेद राख, बिना छुई-छाई देखी। पूछने पर मालूम हुआ, महावीर महास्थविर अभी-अभी मरे हैं, उन्हीं का यहाँ दाहसंस्कार हुआ है। मुझे महावीर स्वामी से न मिल पाने का अफसोस हुआ। सदियो बाद वही पहिले उत्तर भारतीय थे, जो कि भिक्षुसंघ मे प्रविष्ट हुए थे। महावीरसिंह, कुँअरसिंह के रिश्तेदारों में पड़ते थे, और 1857 के स्वातन्त्र्य युद्ध में उन्होंने भी कुँअरसिंह का साथ दिया था। पीछे अपने जैसे दूसरे वीरों की तरह उन्हें भी भेष बदलकर मारा-मारा फिरना पड़ा। वह पहलवान थे, इसलिए राजाओं के यहाँ कुश्ती का करतब दिखलाते थे। इसी तरह भटकते भटकते वह लंका (सीलोन) पहुँचे। बीमार पड़ जाने पर एक भिक्षु ने उनकी सेवा सुश्रूषा की, और उसी के सम्पर्क से उनका बौद्धधर्म से परिचय हुआ। बर्मा के पतन से पहिले ही वह वहां जाकर भिक्षु बन गये थे। बौद्धधर्म की शिक्षा ने महावीर स्वामी को अपना भक्त बना लिया, और वह उसके भव्य इतिहास को सुनकर एक बार फिर इस भूले देश में बुद्ध की स्मृति लाने के लिए उत्सुक हो गये। उन्होंने इसी अभिप्राय से कुशीनगर में मठ की स्थापना की, और अपने शेष जीवन को यहीं बिताया।

महास्थविर चन्द्रमणि अभी उतने बूढ़े नहीं हुए थे। महावीर बाबा के वह सहायक और उत्तराधिकारी थे। उनसे मिलकर मुझे बुद्ध की जीवनी, तथा कुशीनारा के मल्लों के बारे में और भी कितनी ही बातें मालूम हुई। उन्होंने द्वार खोलकर सोई हुई विशाल मूर्ति को दिखलाया, जिसको पूजने से मेरे शिर, हृदय और हाथों को आर्यसमाजी विचार भी नहीं रोक सके। मैंने व्याख्या कर दी—मैं ईश्वर की मूर्ति की तो पूजा नहीं कर रहा हूँ, यह एक ऋषि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना है।

कसया में रात को रहकर सबेरे फिर मैं देवरिया के लिए रवाना हुआ। दोपहर तरकुलहवा में बीता। कर्वीवाले मेरे एक दोस्त का जन्मस्थान इसी के आसपास किसी गाँव में था। मैं उन्हें चिढ़ाया करता—रामसुन्दरदास, तरकुलहिया भवानी के बनाये ब्राह्मण हैं। आसपास के कितने लोग जिनके पास घर में यज्ञोपवीत-संस्कार कराने के लिए न पैसा है, और जो न विन्ध्याचल ही जा सकते हैं, तथा माँ बाप ने जिनके लिए मानता मान दी है, वे तरकुलहिया भवानी के नाबदान में ही डुबोकर जनेऊ पहिन लेते हैं। रामसुन्दरदास को क्या मालूम था, कि जो उनके जनेऊ के लिए मजाक करता है, उसे गाढ़ विन्ध्यवासिनी के नाबदान में डुबोकर जनेऊ पहनाया गया था। रामसुन्दरदास के लिए मेरे दिल में अच्छा स्थान था, क्योंकि कर्वी में वही थे, जो कि इन्दिरारमणजी के पक्ष का खुल्लमखुल्ला समर्थन करते थे।

देवरिया से गोरखपुर स्टेशन पर उतरकर जब मैं बाहर निकलने लगा, तो टिकट-कलक्टर ने टिकट के बारे में तो कोई खासतौर से नहीं पूछा, किन्तु उसने निवास-स्थान के बारे में पूछना चाहा। मैंने जब 'रमता साधु' कहा, तो उसे और दृढ़ हो गया कि मैं खुफिया पुलिस का कोई अफसर हूँ। उसने बड़ी नर्मी से कहा नहीं मैं आपको दिक नहीं करना चाहता, किन्तु आप यह न समझें कि मैं आपको पहिचानता नहीं। शायद मेरा लम्बा चौड़ा कद तथा शुद्ध साहित्यिक भाषा इस भ्रम का कारण हुई हो।

गोरखपुर में किसी वैष्णवमठ में ठहरा। दूसरे दिन जब नवगढरोड स्टेशन पर उतरा, तो गर्मी दूर हो चुकी थी, किन्तु साथ ही दिन भी बहुत कम रह गया था। पूछने पर रुम्मिनदेई (लुम्बिनी) बहुत दूर मालूम हुई। ककरहवा बाजार की ओर घूमनेवाली सड़क पर न जा मैं थोड़ी दूर और आगे सड़क के बाईं ओर के गाँव में गया। शायद कुर्मी लोगो का गांव था। रात को अनिच्छा प्रकट करने पर भी उन्होंने गुड़ खिलाया। ककरहवा बाजार पहुँचा, तो अभी बहुत सबेरा था। लोगो ने भगवानपुर होते रुम्मिनदेई जाने का रास्ता बतलाया।

भगवानपुर नेपाल की सीमा के भीतर शायद पहिला ही गाँव था। नेपाल का अभी तक सिर्फ मैंने नाम और गुणगान तक सुन रखा था, अब साक्षात उसकी शासित भूमि में पैर रख रहा था। भगवानपुर कुछ वर्षों

पहिले गोर्खा-अफसरो का हेडक्वार्टर था। अब भी वहाँ नेपाली ढग के बने कितने ही घर मौजूद थे, लेकिन अफसरों के चले जाने से गाँव श्रीहीन तथा बनिये आश्रयविहीन बन गये थे। पूछने पर उत्तर ओर के आमो के बाग मे एक साधुनी की कुटिया का पता लगा। छोटी-सी कुटिया थी, और दरख्तो की घनी छाया। अब धूप तेज हो चली थी, इस वक्त लुम्बिनी जाने का सवाल नहीं था। साधुनी प्रौढ़ा थी। उनका लम्बा कद, गोरा शरीर, दीर्घ कृष्ण केश यौवन के अपराम्न को बहुत देर से गिरा नही बतलाते थे, और चेहरे की रेखाएँ तो साक्षी दे रही थी, कि यह सौन्दर्य तरुणाई मे अनाकर्षक नही रहा होगा। प्रौढ़ा योगिनी आचारी वैष्णव थी, तो भी किसी काम से वहाँ ठहरे नेपाली ब्राह्मण के हाथ का बनाया खाने मे आनाकानी नही करती थी। मुझसे पूछने पर मैंने भी अपने को परमहस कह दिया। उस गर्मी मे चूल्हा फूँकने के लिए कोई भारी बेवकूफ ही तैयार हो सकता था।

दिन जब खूब ठढा हो गया, तो मै लुम्बिनी पहुँचा। एक छोटी पोखरी के भिंडो पर बहुत सी कँटीली झाड़ियाँ, तथा बेल और दूसरे वृक्ष थे। एक छोटा-सा मन्दिर था, जिसके आँगन मे बकरा, मुर्गा आदि बलि प्राणियो के खून का रग लगा हुआ था। मन्दिर के भीतर की मूर्त्ति अस्पष्ट थी। मन्दिर के पिछवाडे कुछ पक्तियो के लेख के साथ अशोक का शिलास्तम्भ था। जीवदया पर इतना जोर देनेवाले गौतम बुद्ध के जन्म स्थान पर यह पशु-बलि, रुधिर-रक्त-प्रागण—सचमुच इससे दिल पर एक धक्का लगा। वहाँ कोई न था। कुछ देर बैठकर इस स्थान के अतीत पर सोचता रहा। वहाँ से उत्तर दूर दिखाई देते हिमालय के श्वेत शृगो पर नजर पड़ते ही, वह मुझे 'आओ' 'आओ' कहकर बुलाते से जान पडे। एक बार खयाल आया, यहाँ से उधर ही बुटवल को चल दूँ, किन्तु अब सूर्यास्त नजदीक था, बुटवल पहुँचने-भर के लिए समय न था। शाम को फिर योगिनी की कुटिया पर चला आया। नेपाली ब्राह्मण थोडा बहुत सस्कृत भी जानते थे, इसलिए उन्होने मेरी कद्र की। उनसे नेपाल और हिमालय के तीर्थो, बस्तियो, रास्तो के बारे मे पूछता रहा।

कपिलवस्तु का दर्शन बाकी था, इसलिए मुझे बुटवल की यात्रा स्थगित करनी पड़ी। सबेरे तिलौराकोट (कपिलवस्तु) की ओर चला। बदन पर बोझ नहीं था, तो भी मन्द-मन्द चल रहा था। नौ से ऊपर बज रहे थे, एक छोटे से गाँव को पार हो, एक पीपल की छाया मे मैं सुस्ताने लगा। कुछ ही देर बाद एक मुसलमान किसान आ गया। उससे दो-चार बाते हुई। उसने कहा—धूप बहुत हो गई, चलें आज इसी बस्ती मे दोपहर बितावे। अपनी गोशाला मे उसने चारपाई बिछा दी। मालूम हुआ, गाँव के अधिकाश बाशिन्दे मुसलमान है। रसोई बनाने के लिए उन्होंने एक हिन्दू बुला दिया। रसोई उधर बनती रही, और हमारी बातचीत भी जारी रही। कुछ बेला ढलने पर एक 'मौलवी' साहेब भी आ गये। वह गाँववालो को नमाज-रोजा सिखलाते थे। कुरान कुछ टो टाकर पढ़ लेते थे। मेरे सामने जब कुरान रखी गई, तो मैं फरफर पढ़ने ही नही लगा, बल्कि आयतो के अर्थ भी करने लगा। मौलवी साहेब पर खूब धाक जमी, और गाँव के साधारण अनपढ़ मुसलमान तो साधु बाबा की अल्फी-कमडलू से पहिले ही से प्रभावित थे।

पिपरहवा के नजदीक होने की बात सुन मैंने तिलौराकोट से पहिले वहा जाना पसन्द किया। वहाँ की खुदाई मे निकली डिबिया, पत्थर का सन्दूक और दूसरी चीजो का फोटो जितना सुन्दर मालूम होता था, उतना वहाँ का ध्वस नही था। ध्वस तो पहिले से पढ़ा-सुना न होता, तो मालूम ही नहीं होता। नेपाल की सीमा से थोड़ा-सा हटकर खेतो और दरख्तो के किनारे जरा-सी ऊँची जमीन थी, जिसमे कुछ टूटी-फूटी ईंटे और छोटे से गड्हे की सूरत मे खुदाई का निशान था। शाक्यो ने अपने वश के श्रेष्ठ पुरुष (बुद्ध) की धातुओ (हड्डियो) के ऊपर यहाँ कोई स्मृतिचिह्न बनाया था, जिसके अभिलेख को भारत की ब्राह्मी लिपि का सबसे पुरातन नमूना होने का सौभाग्य प्राप्त है, यह बात स्थान देखने से नहीं झलकती थी।

अभी दिन था, इसलिए मैंने तौलिहवा बाजार की ओर तिलौराकोट के रास्ते में कुछ और चलना पसन्द किया। शाम को एक समृद्ध ब्राह्मण के घर पर पहुँचा। उसके पास काफी गाये, कितने ही धान के 'बखार' (ठेक) तथा बडा सारा घर था। ब्राह्मण देवता ने भोजन कराया। आसपास पुरानी ईंटोंवाले भिंडो के स्थानों के बारे में बतलाते रहे, और सबेरे ले जाकर अपने गाँव मे ही कुछ प्राचीन ध्वस्त कोठरियों की नींवें दिखलाईं,

जिन्हे शायद पुरातत्त्व विभाग ने खुदवाया था।

तौलिहवा बाजार में बड़ा-अफ़सर और उनकी कचहरी है, लेकिन मैं अफसर और उनकी कचहरी को देखने नहीं गया था। दोपहर को किसी जगह भोजन विश्राम कर जब तिलौराकोट पहुँचा, तो पाँच से ज्यादा नहीं बजा था। दूर तक फैले उस गढ़–जहाँ बहुत पीछे तक के बस्ती के चिह्न ईंटों, तालाबों, खाइयों, भीटों के रूप में मौजूद थे–में बुद्ध के बाल्य गृह और शुद्धोधन का प्रासाद ढूँढ़ना सम्भव न था। मेरे लिए इतना ही सन्तोष देने के लिए काफी था, कि इन रजकणों में बुद्ध की चरणधूलि भी है।

उसी शाम को निगलिहवा के तालाब पर खंडित अशोकस्तम्भ और उसके अभिलेख को देखा। रात को पास के गाँव में ठहर गया। अब मेरा ध्यान हिमालय की सफ़ेद चोटियों की ओर लगा था, लेकिन उधर जाने से पहिले रास्ते के बारे मे और जानकारी पैदा करने की जरूरत थी।–नेपाल के पहाड़ों के भीतर मनमाना नहीं घूमा जा सकता। वहाँ हर जगह टोकनेवाले मौजूद हैं।

सबेरे सात-आठ बजे बाणगंगा (तिलौराकोट के पास भी यही नदी है) के किनारे बस्ती से दूर आम के बागों मे एक पक्का बिना शिखरवाला मन्दिर दिखलाई पड़ा। वहाँ गया। वह एक वैरागी का स्थान था। मन्दिर मे शायद राम लक्ष्मण सीता की मूर्तियाँ थीं। बाहर छोटा बराडा या जगमोहन था। मन्दिर के पूरब एक मकान और पश्चिम एक फूस की झोपड़ी थी। मन्दिर के अध्यक्ष एक वृद्ध वैरागी थे, जिनकी आँखे, चेहरा बिना पूछे ही उनके गोरखा होने की गवाही दे रहे थे। उन्होंने स्थान आदि के बारे में पूछा फिर पच्छिमवाली झोपड़ी मे–धुनी के पास–आसन लगवाया। आने वक्त पूजा पाठ के लिए आये हुए कई और व्यक्ति भी थे, जिनमें से एक खाली पटवारी ने उर्दू पढ़वाकर देखा और फिर मेरी विद्वता का जबर्दस्त सर्टीफिकेट महन्त के सामने पेश किया। भक्तों, दर्शकों के चले जाने पर मालूम हुआ, कि स्थान में वृद्ध महन्तजी के अतिरिक्त उनकी अतिप्रौढ़ा योगिनी तथा एक गूँगी वृद्धा दासी तीन व्यक्ति रहते हैं। योगिनी के हाथ का बनाया मैं खा लेता हूँ–महन्त के यह कहने पर, मैंने भी उसके पक्ष में अपनी सम्मति दी। योगिनी के हाथ की भाजी बहुत स्वादिष्ट थी, यह तो पहिली ही बार मालूम हो गया, किन्तु इसका कारण पीछे मालूम हुआ जब मिट्टी में दबाकर सड़ाये-सुखाये कटहल तथा मूली के टुकड़ों को देखा। तौलिहवा के छोटे-बड़े सभी ही नेपाली महन्तजी को मानते थे, और जब वह वहाँ जाते तो हफ्ते भर की खर्ची उठा लाते। महन्तजी भारत के बड़े-बड़े तीर्थों में हो आये थे, इस बात में मैं भी उनसे बहुत पीछे नहीं था, किन्तु जिस वक्त वह उत्तराखंड और नेपाल की बात करते, तो मुझे शिर झुका लेना पड़ता।

धीरे-धीरे महन्तजी का अभ्यागत के प्रति स्नेह उत्तराधिकारी के स्नेह में परिणत होने लगा। उनके कोई शिष्य न था, मैं भी उनका शिष्य न था, किन्तु एक सम्प्रदाय का होने से उत्तराधिकारी हो सकता था, मठ को डूबने से बचा सकता था। उन्होंने अपने पचासों आमों के दरख्त, कुछ हटकर धान के कितने ही एकड़ खेत दिखलाये। मठ की और भी स्थावर सम्पत्ति बतलाई, जो सब मिलकर दस-पन्द्रह एकड़ से ज्यादा नहीं रही होगी, जंगम सम्पत्ति तो थी ही नहीं। वह बड़े अभिमान से कह रहे थे–मेरे गुरु ने आकर यहाँ यह स्थान बनाया। पहले चोर-बदमाश लोग नहीं चाहते थे, कि साधु यहाँ बसने पावे, और उनके अपने व्यवसाय में बाधा पड़े; किन्तु गुरुजी बड़े लम्बे-तगड़े जवान थे, साथ में और साधु रखते थे, यह मन्दिर के भीतर रखी बन्दूक और तलवार तभी की है। रात को महन्तजी मन्दिर की छत पर सोया करते, जहाँ बन्दूक और भाले के अतिरिक्त काफी ईंटों का ढेर रहता। उनकी योगिनी और दासी पूरबवाले रसोई के घर में ताला-बन्द हो सोतीं, और मैं पच्छिमवाली झोपड़ी में खुला ही, आखिर डाकू आकर मेरा लेते ही क्या ?

धीरे-धीरे अपने विश्वास को बढ़ाते अपनी विवशता को दिखलाते, जब कोई व्यक्ति स्नेह का फंदा फैलाता है, तो उसे तोड़कर निकलना–साफ नहीं कह देना–बहुत मुश्किल होता है। महन्तजी ने धीरे-धीरे 'यही मुश्किल' मेरे सामने पेश की। महन्ती लेना यह तो उपहास की बात थी। 'अर्धजरती योगिनी को रॉड बाभनी टूटा पीपल इनमें हक फकीरों का है' के नियमानुसार उन्होंने अपनाया था–ब्राह्मणी न होने पर भी अतिथिनी होने से वह एक दर्जा ऊपर ही थी। वह भी मेरे खाने-पीने का बहुत ध्यान रखती थी। भाँग-गाँजों पर यहाँ कोई रुकावट

न थी, इसलिए ये वहाँ घास के मोल थे, और पढ़ने-लिखने से मुक्त होने के कारण महन्तजी की गोष्ठी में सम्मिलित हो समय काटने में मेरे भी ये बड़े सहायक बन गये थे। एक दिन घास काटने के लिए एक प्रौढ़ा ब्राह्मण-विधवा आई। अर्धजरती योगिनी ने, उसके बारे में बतलाया—महन्तजी ने एक नौजवान साधु को अपना उत्तराधिकारी बनाकर रखा था, इस कलमुखी की सनीचर-दृष्टि उस पर बस गई, और आज वह इसके घर सानी-पानी करता है।

साफ इनकार करते न देख महन्तजी की लालसा दृढ़ होती जा रही थी, उस वक्त मैंने कहा—आपका स्थान मुझे पसन्द आया है सही, किन्तु अभी मुझे उत्तराखंड जाना है, मैं भोटियों के मुल्क तक जाना चाहता हूँ। वहाँ तक हो आने दीजिए, तब फिर आपके साथ रहूँगा। इस उत्तर से उन्हें सन्तोष तो नहीं हुआ, किन्तु साथ ही आशा भी बिलकुल विच्छिन्न नहीं हुई। उनसे पूछकर मैंने रास्ते के पते लिखे। पहिले मुझे तराई पार कर डाँग-देवखुर जाना होगा। वहाँ के किसी सिद्ध महात्मा का उन्होंने नाम बतलाया। फिर किन-किन गाँवों और नदियों से होते मैं भोटिया लोगों की आबादी में पहुँचूँगा। 'हला डोगो ?' (ग-ला डो-गी ?—कहाँ जाना ?) जैसे बिलकुल अशुद्ध चालीस-पचास भोटिया शब्द भी उन्होंने लिखवा दिये।

एक दिन सबेरे उठकर मैं नदी पार हो उत्तर की ओर चल दिया। मील-दो मील गया होऊँगा, खरबूजों का खेत आया। कुछ लड़के रखवाली कर रहे थे। दो-चार पैसे दे उनसे कुछ खरबूजे लिये। खाते वक्त मेरा दिमाग आगे की योजना पर विचार करने में तन्मय था।—'यह बिलकुल ऊटपटाँग-सा रास्ता है। रास्ता बतलानेवाला शायद कोई आदमी भी नहीं मिलेगा—पता मिल जाने पर नेपाल-सरकार पकड़ लेगी। इधर से जाना अच्छा नहीं। जेतवनविहार और लौरिया नन्दनगढ़ का अशोकस्तम्भ भी नहीं देखा है, उसे देखकर रक्सौल के रास्ते जाने की कोशिश करनी चाहिए।' मैं वहीं से लौट पड़ा।

महन्तजी का स्थान बचाते हुए तौलिहवा बाजार के पास के एक दूसरे स्थान में कुछ देर विश्राम किया। यहाँ भी साधु के साथ योगिनी ! हिन्दू राज्य होने से, मैं समझता था, कि वहाँ धर्म-पालन में ज्यादा कड़ाई होगी; किन्तु हर जगह योगी-योगिनी को संयुक्त आश्रम चलाते देख, मुझे यह कुछ अजीब-सी बातें मालूम हुई। रात को शोहरतगंज में आसन पड़ा।

सबेरे जानेवाली गाड़ी से मैं बलरामपुर पहुँचा। कुशीनारा में ही वहाँ रहनेवाले भिक्षु वरसम्बोधि का पता लग गया था। उस वक्त वह धर्मशाला बनवा रहे थे। अभी दीवारें भर खड़ी हो पाई थीं और वह काम की देख-भाल कर रहे थे। एक अर्द्धनिर्मित कोठरी में ईंटों पर बैठे हम बात करते रहे। वरसम्बोधिजी अपना पाइप खींचते जा रहे थे। इसी बीच उनका नौकर आकर बोला—'मछली आध सेर ले ली।'

'ठीक से देख लिया न ?'

'हाँ, कोई जिन्दा नहीं।'

जिन्दा होने पर मछली को तालाब में डलवाना पड़ता, और यह पैसे का नुकसान था।

वहाँ से रेल की दूसरी तरफ एक उदासी मठ में गया। महन्त ने रसोई बनाने के लिए कहा। मैंने रोटी बनाई, उन्होंने दूध दिया, जब रसोई अपनी हो और अपने मत्थे पड़े, तो मैं कम से कम श्रम और समय का पक्षपाती हूँ।

सहेट-महेट के लिए ठंडे में ही चला। उस वक्त देवीपाटन के मेले के लिए बहुत से नर-नारी पैदल जा रहे थे, यात्री सड़क पर सभी जगह मिलते थे। शाम आती देख सड़क से दाहिने थोड़ा हटकर एक गाँव दिखलाई पड़ा। वहाँ पहुँचने पर घर ब्राह्मणों के मालूम हुए। उनके यहाँ एक अवधूतिनी रहती थी, जो बहुत तीर्थाटन कर चुकी थी। उससे तीर्थों के बारे में बातचीत हुई, और संस्कृत का क-ख जाननेवाले एक व्यक्ति से संस्कृत के बारे में। फिर अल्फी-कमडलूधारी महात्यागी साधु की आवभगत क्यों न बढ़ जाये।

सबेरे ही मैं सहेट-महेट पहुँचा। जेतवन श्रावस्ती का कोई बहुत ऐतिहासिक ज्ञान तो उस वक्त मुझे था नहीं। सरसरी तौर से जेतवन की कुटियों-कुओं को देख श्रावस्ती के ध्वंस में गया, और जंगल की खाक छान उत्तर तरफ के एक गाँव में पहुँचा। वहाँ प्राइमरी स्कूल था, वहीं मास्टर साहेब का बनाया भोजन और दोपहर

का विश्राम हुआ।

दिन ढलने पर जब मैं बलरामपुर को लौट रहा था, तो एक वैरागी साधु रास्ते में मिले। वेशभूषा से—लेकिन ललाट में चन्दन शायद ही कभी लगाता था, क्योंकि वैरागी, आर्यसमाजी कई पार्ट मुझे एक साथ अदा करने थे—उन्हें वैष्णव साधु होने का सन्देह हुआ। दण्डवत प्रणाम किया, और आज अपनी कुटिया पर विश्राम करने के लिए बहुत आग्रहपूर्वक वचन लिया। वह, किसी दूसरे काम से जा रहे थे, उन्होंने गाँव और कुटिया का पता दिया। वहाँ जा कुछ प्रतीक्षा के बाद स्थानधारी महात्मा आये। गाँव में जितना अच्छा आतिथ्य-सत्कार होता है, किया।

दूसरे दिन बलरामपुर से रेल पकड़ी। गोरखपुर से नरकटियागंज जरूर गया, किन्तु जहाँ तक स्मरण है, छितौनी घाट में पैदल नहीं चलना पड़ा था, अर्थात् रेल का पुल मौजूद था। नरकटियागंज की संस्कृत पाठशाला के संस्थापक ब्रह्मचारीजी ने बहुत रुकने के लिए कहा, जब कि अपने अध्यापक से उन्होंने मेरी संस्कृत के बारे में सुना, किन्तु मैं लौरिया नन्दनगढ़ के लिए चल पड़ा। जब धूप नहीं होती तो खाली हाथों पैदल चलने में बहुत मजा आता है। सड़क से दीखते विशाल शिलास्तम्भ और उसके सिंह को देखते ही, बिना किसी से पूछे मुझे अशोकस्तम्भ मालूम हो गया। इस यात्रा से पहिले मैंने इस सम्बन्ध के कुछ ग्रंथ पढ़े जरूर थे, तभी तो 'लौरिया' (यष्टी पाषाणयष्टी) देखकर ही नहीं लौट पड़ा, बल्कि नन्दनगढ़ भी देखने गया। गढ़ के पास ही एक छोटा सा वैरागी मठ है। संन्यासियों से कई शताब्दी बाद पैदा होने पर भी वैरागी मठ इतने अधिक क्यों है? इस पर सोचने पर मुझे तो मालूम होता है, इसमें कारण उनकी सगुणोपासना (साकार ईश्वर की पूजा) ही है। वेदान्तप्रेमी संन्यासी का बिना मूर्ति की पूजा के भी काम चल सकता है, किन्तु वैरागी के लिए मूर्ति चाहिए, महावीरजी चाहिए, और नहीं तो शालिग्राम ही चाहिए। फिर उनकी पूजा के लिए कुछ धूप-दीप, कुछ बालभोग (नाश्ता), राजभोग (मध्याह्न भोजन) और ब्यालू भी चाहिए। पूजा की पूजा खाद्य भोज्य-पेय-चोष्य का संचय। इस संचय में से थोड़ा सा उपस्थित भक्तों को दिया जा सकता है, जिसे देखकर मुझे बचपन में रानी की सराय के लड़कों की होशियारी याद आती। आम पकने के समय लड़के आम की गुठली किसी बन्दर के पास फेंक देते, बन्दर चाटता, फिर डालियों पर चढ़कर हिलाता, कई पके आम जमीन पर आ पड़ते। वैरागियों की पूजा, उनके राग भोग साधारण जनता की समझ की बात थी, इसीलिए उन्हें अधिक सफलता मिली।

नन्दनगढ़ के उस मठ में शायद एक दो साधु थे। 'दर्शनीय त्यागी' के रूप का उन्होंने सत्कार किया। नेपाली बाबा ने लत लगा दी थी, और अब 'नवाजिन्दा' मुझ पर सवार था, इसलिए भाँग-गाँजे का स्वागत हो रहा था। स्थानीय साधु ने जब गाँजे की चिलम चढ़ाकर आदर के साथ मेरी ओर बढ़ाई, तो मैं उसका तिरस्कार नहीं कर सकता था। 'दम' (पीना) अभी मालूम नहीं हुआ था, कि एक प्रौढ़ा वैरागिन आ पहुँची। बहुत रमी फिरी मालूम होती थी, वह निस्संकोच बात करने लगी। उसने दो चिलम गाँजे के फूँके। चिलम तैयार होने लगी और गप जारी रही। मालूम हुआ, वह नेपाल की तराई में तौलिहवा के पास कहीं रहती है। तौलिहवा के आसपास मैंने योग-भोग का संग्रह कई मठों में देखा था, इसलिए इस अवधूतिनी की बातों और उसके स्थान की समृद्धि के बारे में कोई सन्देह नहीं हुआ। मुझे तो अब नेपाल का ही तरीका अच्छा मालूम होने लगा—योगियों को योगिनियों के साथ रहने की इजाजत देकर वहाँ का समाज साधुओं को कई खतरों से बचा लेता है, यदि उसमें कहीं सन्तति-निग्रह भी शामिल होता, तो सोने में सुगन्ध। मठ में कच्चे बच्चों के रहने से उसका महत्त्व नष्ट हो जाता है। अवधूतिनी दम लगाने में स्पष्ट वैरागियों का भी कान काटती थी।

चला तो था मैं बौद्ध पुनीत स्थानों को देखने, किन्तु नवाजिन्दा जब सीधे रास्ते चलने दे तब न? नन्दनगढ़ से मुझे स्टेशन हो रक्सौल जाना था, किन्तु नहीं समझता मैं दो दिन से कम में किसी स्टेशन पर पहुँचा। एक दिन तो सूर्यास्त के समय एक कबीरपंथी कुटी पर पहुँचा। बाहर महुआ के वृक्ष के नीचे चटाई ले आसन जमाया। कुटी में एक अधेड़ महात्मा और उनकी अधेजरनी योगिनी रहती थी। मैं शायद कुछ ज्यादा चल के आया था और थककर लेट गया था। योगिनी मुझे देख सारे वैरागियों पर टिप्पणी कर रही थी—'इन लोगों का बहुत मोटा ज्ञान है। पाथर पूजते-पूजते बुद्धि ही पथरा गई है।' उनको कबीर साहेब के निर्गुण का अभिमान था।

मैं थकावट के मारे उनके 'शब्द' 'सुरत' के सतसग मे शामिल नहीं हुआ, इसीलिए उस टिप्पणी की जरूरत पड़ी।

रक्सौल उतरने पर मालूम हुआ, वीरगज के रास्ते पर नेपाली पुलिस रहती है, बाहरी आदमी को भीतर जाने नही देती। मैं पुल पार हो सडक मे प्रब, नदी तट पर अवस्थित वैरागी-स्थान मे चला गया। घर तो काफी थे, किन्तु एक पुजारी और एक रमता साधु के अतिरिक्त वहाँ कोई न था। पुजारी ने कहा—यदि आप दो दिन पहिले आये होते, तो थापाथल्ली के महन्त ऊपर गये, उन्ही के साथ चले गये होते; अब तो कोई वैसा ही प्रभावशाली आदमी हो तभी राहदारी (पास) मिल सकती है। रमता साधु बहुत घूमा-फिरा था। उसकी और बाते तो मैं बडी दिलचस्पी से सुनता था, किन्तु जब वह रूस देश की ज्वालामाई के बारे में कहने लगा, तो मुझे बुखार चढ आया—"ज्वालामाई, आपरूपी ज्वालाई। भोग-राग रख दिया जाता है, माई स्वय अपनी जीभ से उन्हें ग्रहण करती हैं।" वह बतला रहा था कि मैं उसी ज्वालामाई से कश्मीर के रास्ते पहाड ही पहाड नेपाल आया। मुझे उसकी यह सारी बाते झूठ मालूम होती थी। यद्यपि वह असम्भव न थी, रूस से बोलशेविक क्रान्ति के बाद चलते गृहयुद्ध के समय वह बाकू मे मध्य-एसिया और वहा से चीनी तुर्किस्तान के रास्ते या सीधे ही कश्मीर हो जम्मू, चम्बा, कुल्लू होते अथवा लदाख से मानसरोवर होते नेपाल पहुँच सकता था।

दो-चार दिन की प्रतीक्षा मे नेपाल जाने का कोई रास्ता निकलता नही दीख पडा, इसलिए मैं वहाँ से पूरब की ओर चला। कुछ दूर पगडडी, फिर रेल की सडक पकडी और अन्त में रेल से घोडासाहन उतरा। पैसा एक भी पास में नही रहता था, तो भी कभी खाने-पीने का कष्ट नही हुआ, और प्रशसा तथा सन्मान टोकरी के टोकरी प्रायः रोज ही मिलते रहते।

नेपाल के अन्तिम नेवार-राजाओ के पूर्वज कभी सेमरौनगढ मे राज्य करते थे, पहिले वे कर्नाटक से भागकर यहाँ आये थे, यह बात मुझे मालूम थी। इतिहास का अध्ययन और ऐतिहासिक चीजो का प्रेम मुझे धीरे-धीरे आर्यसमाज मे आगे ले जा रहा है, इसका उस वक्त मुझे भी पता नही था, लेकिन बात ऐसी ही थी। डी. ए. वी. कालेज के पुस्तकालय मे मैं अक्सर ऐसी पुस्तके पढता, और पुरातन वस्तुओ की वैज्ञानिक खोजो पर वहाँ काफी पुस्तके आया करती थी। पडित भगवद्दत्त के सम्पर्क मे मेरा उधर झुकाव हुआ था किन्तु वह ले जा रहा था बिलकुल उलटी दिशा की ओर। जहाँ पडित भगवद्दत्तजी इतिहास की अपेक्षा गाइड़ से वेद की विभूति समझने का प्रयत्न कर रहे थे, वहाँ मैं ऐसे रास्ते पर आरूढ था, जो मुझे 'नैरुक्त' से ऐतिहासिक ही बनाकर छोडनेवाला था।

घोडासाहन से मैं पैदल ही खेतो से होते सेमरौनगढ की ओर चला, उसी वक्त कोई बनिया भी एक घोड़े पर सौदा लादे चल रहा था। दिमाग मे ख्याल आया इसीलिए तो घोडासाहन कहते है।

सेमरौनगढ मे तालाब पर देवीस्थान में ठहरा। मठ वहाँ से पच्छिम था। आम अब एकाध पकने लगे थे, शायद मई का उत्तरार्द्ध चल रहा था। देवीस्थान मे कुछ मूर्तियाँ थी, किन्तु मूर्ति विद्या और मूर्ति कला से मेरा अभी परिचय नहीं हुआ था। मठ के बड़े आँगन में नेपाली ढग का एक मन्दिर खड़ा था, आँगन के चारो ओर बराडे और शायद बहुत से मकान और कोठरियाँ थी। पहिले थापाथल्ली (नेपाल) और सेमरौनगढ के एक ही महन्त होते थे, किन्तु किसी शिकायत के कारण बूढ़े महन्त निकाल दिये गये, उन्हे मैंने 1913 ई. मे शोलापुर मे और उसके एक साल बाद अयोध्या मे देखा था। इस वक्त सेमरौनगढ मे उनके शिष्य महन्त थे। बडी सी जटा और लम्बे-चौडे शरीर का भक्तो पर काफी प्रभाव पडता है। मठ की आमदनी का ठीक से व्यय हो इसके लिए नेपाल-सरकार का एक अफसर—डीठा (द्रष्टा)—वहाँ बराबर रहता था। खाने-पीने का अच्छा इन्तिजाम था। साधुओ की सख्या अधिक न थी। डीठा साहेब से बातचीत हुई। उन्होने रहने के लिए बहुत आग्रह किया। उनकी इच्छा थी, कि मैं उनके लडके को पढाऊँ। मन्दिर मे राणा जगबहादुर या उनके पुत्र गोरा जर्नेल मे से एक वा दोनो की मूर्तियाँ भी थीं।

दो-चार मील दूर एक गाँव से शिष्य बनाने के लिए महन्तजी के पास, एक सोनारभगत का निमन्त्रण आया। लोग बतला रहे थे, यह चौथी या पाँचवी बार बूढ़ा कंठीमन्त्र ले रहा है। बेचारा कठी-मन्त्र लेता, मछली का दिन आता और जब घरवाले तेल में भून हल्दी सरसों डाल मछली पकाते, उसकी सुगन्ध घर के हर एक

कोने में व्याप्त हो स्वर्ग के देवताओं तक को अपने पास खींच लाने मे समर्थ होती, तो दरवाजे पर बैठे ठुकुच-ठुकुच करते बूढ़े सोनार का मन कैसे अपने हाथ मे रहता ? वह कठी को गले से निकालकर खूँटी पर रखते हुए बोल उठता—"लाओ, आज तो मनछरी (मन हरनेवाली) खा लें।" मुझे इस वक्त जानकीनगर (परसा मठ के गाँव) के प्रदीपसाहु की बात याद आई। 1857 के गदर में वह और रेखा महतो पूरे जवान थे, और प्रदीप के मोटे-तगड़े शरीर को देखकर तो एक बार उसे 'बागी' सेना में ले जाने की बात तै पाई थी। परसा के तत्कालीन बूढ़े अधिकारी (मैनेजर) ने प्रदीप को कठीमन्त्र दिया था। एक से अधिक बार मनछरी के आकर्षण में पड़ प्रदीप ने कठी तोड़ डाली थी। अबकी बार जब किसी ने इसकी खबर अधिकारीजी को दी, तो उन्होंने तुरन्त दोहा कहा—

> 'कठीमाला तोरिके, गर दियो दहवाय।
> अधिकारीजी के · में, परदिपवा मछरी खाय।।'

सोनारभगत को फिर कठी-मन्तर दिया गया। महन्तजी को पूजा और साधुओं को भी कुछ बिदाई मिली। और लोग तो मठ में चले गये, किन्तु एक जटाधारी साधु के साथ पर्यटन की योजना बनाने तथा गाँजा पीने में दो तीन दिन इधर उधर घूमता रहा। जिस दिन मैं सेमरौनगढ़ लौट रहा था, उस दिन देखा, पोखरे से थोड़ा पूरब एक गाँव में आग लग गई है। यहाँ गाँव फूस की छतवाले घरों का होता है; हवा न भी बहे, तो भी एक छत से सटी हुई दूसरी छत में आग लग जाना आसान है। देख रहा था, कुछ लोग अपनी-अपनी छतों पर घड़े में पानी लेकर बैठे थे, और कुछ लोग—जिनमें स्त्रियाँ अधिक थीं—चिल्लाती हुई पशुओं, पिटारियों तथा दूसरी चीजों को घर से निकाल गाँव के बाहर रख रही थीं। सौभाग्य से हवा उस दिन बन्द थी।

घोड़ासाहन से मैं सीतामढ़ी गया। शायद उसी दिन, मेरी उमर का एक घुमक्कड़ साधु भी स्टेशन से उतरकर वहाँ पहुँचा। अब मारवाड़ी भक्तों का पूड़ी हलवे का भोजन किसको अच्छा लगता। तरुण आसाम से तुरन्त आ रहा था। उसने अपनी झोली से निकालकर गाँजे की पीली पत्तियाँ दिखलाई। भीतर से 'नवाजिन्दा' बोलने लगा। कहीं यह जवान तौलिहवा बाजार में मिला होता, तो हम अब तक डाग देवखुर से बहुत आगे भोटियों के देश में पहुँच गये होते। हमारी सलाह हुई, जनकपुर चलने की।

पुपरी रोड पर जब उतरे तो अभी दिन बाकी था। शाम तक हम लोग चोरउत मठ में पहुँचे। काशी में विद्यार्थी-अवस्था में मैंने चोरउत के महन्त को बड़े विशाल श्वेतच्छत्र (मेघडबर) के नीचे गंगा में अर्घ देते देखा था, उनकी अन्यत्र बात करती तथा अन्यत्र देखती आँखें मुझे याद थीं। हम दोनों ही टकसाली साधु थे, अर्थात् पन्थ के कायदा कानून से पूरे वाकिफ तथा देश देखे। हमारे पास कम से कम सामान था। तिरहुत के मठों में खवासों (खिदमतगारों) का राज होता है। महन्तों के उत्तराधिकारी उनके भतीजे हुआ करते हैं, इस प्रकार मठ की सम्पत्ति का अधिक भाग एक परिवार की सम्पत्ति सा बन जाता है। गद्दी निश्चित रहने से महन्त होने से पहिले उन्हें तीर्थाटन आदि का तजरबा नहीं रहता, वे बड़े ही कूप-मंडूक तथा अभिमानी होते हैं। भेष और मठ की आमदनी देख वे आदमी की इज्जत करते हैं। हम दोनों को जहाँ आसन के लिए जगह दी गई, वह महन्तजी के अस्तबल से बेहतर न थी। रात के ब्यालू को देखकर तो हमारा मुँहफट साधु कड़ी नुक्ताचीनी कर बैठा। हमने खयाल किया, ऐसे नालायक महन्त के हाथ से मटिहानी की सत्तर पचहत्तर हजार की आमदनी को छीनकर नेपाल-सरकार ने अच्छा ही किया।

चोरउत ब्रिटिश इलाके में मुजफ्फरपुर जिले में है, और मटिहानी नेपाल राज्य में। दोनों में तीन-चार कोस से ज्यादा का फर्क नहीं है। दूसरे दिन हम मटिहानी पहुँचे। यहाँ साधुओं की संख्या पचास-साठ से ऊपर थी। मुझे देखकर प्रसन्नता हुई, कि उनमें कुछ पढ़ने-लिखनेवाले भी हैं। नेपाल सरकार ने पिछले महन्तों की बदचलनी और कुन्बापरवरी की शिकायतें सुनकर मठ से महन्त को निकाल दिया था। एक नये महन्त थे, जिनके ऊपर देख भाल के लिए एक 'डीठा' रहता था। इन्तिजाम अच्छा करने की पूरी कोशिश की गई थी। चार या पाँच अच्छे-अच्छे पंडित पाठशाला में पढ़ाते थे। विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति, साधु-विद्यार्थियों को भोजन-वस्त्र-पुस्तक मिलने

का प्रबन्ध किया गया था। दिन को कच्ची रसोई और रात को पक्की रसोई–खीर-पूरी–की व्यवस्था थी। चोरउत जैसा साधुओं को अपमान भी सहना नहीं पड़ता था। तो भी विद्यार्थी सन्तुष्ट न थे। उनमें से एक कर्वी के 'शास्त्री'जी के बारे में सुन चुका था, इसलिए सबने शास्त्रीजी का गहरा स्वागत किया। अपनी शिकायतों को मेरे सामने रखा। शाम के ब्यालू में मैंने खुद देखा कि उन पूरियों को खाने के लिए लोहे के दाँत चाहिए। भोजन-सामग्री से महन्त, डीठा और रसोइयों का काम बनता था, और साधुओं तथा दूसरों के पास यह पथरीली पूरियाँ पहुँचती थीं। पूरी में कम से कम घी डालने का परिणाम ही यह पत्थर की पूरियाँ थीं। खीर में कम से कम दूध-चीनी डालने का परिणाम वह गीला फीका भात था। महन्तजी पैसे जमा करके ब्रिटिश भारत में एक स्थान बनाने की तैयारी में थे। 'नेपाल में महन्ती का क्या ठिकाना। वहाँ के अधिकारियों के पास तो आँख है नहीं, वह तो सिर्फ़ कान से सुनते हैं'–यह बात आमतौर से कही जाती थी। मटिहानी की आमदनी काफ़ी थी, इसलिए उसकी लूट में डीठा और स्थानीय अफ़सर तक शामिल बतलाये जाते थे। मैंने विद्यार्थियों से इतना ही कहा, कि यदि नेपाल जाने का मौका मिला, तो मैं इन शिकायतों को उच्च-अधिकारियों के सामने रखूँगा।

जनकपुर में हम टीकमगढ़ की किलानुमा ठाकुरबाड़ी–जानकीभवन या जानकीमन्दिर–में ठहरे। यहाँ के महन्त के शिष्य कर्वी में मिल चुके थे, इसलिए हमें बड़े सम्मान के साथ रखा गया। शायद यहाँ स्थान में गाँजा चिलम नहीं चलती थी, इसलिए हमारे साथी को गाँजा का बहुत आदी होने से दूसरे मठों में आना-जाना पड़ता था। मेरे लिए गाँजा अनिवार्य चीज न थी, किन्तु टीम के भाव को तो दृढ़ में दृढ़तर बनाना ज़रूरी था।

जनकपुर में बहुत से मठ हैं और जानकी से सम्बन्ध रहने से उनमें अधिकांश वैरागियों के हैं। सिर्फ राममन्दिर संन्यासी-मठ है, उसकी भी आमदनी काफ़ी है, और महन्त को निकालकर नेपाल-राज्य की ओर से वहाँ एक अच्छी पाठशाला और छात्रावास बनाया गया है। यहाँ के विद्यार्थियों के साथ नजदीक से मिलने का मौका नहीं मिला, इसलिए वहाँ की शिकायतों के बारे में नहीं जान सका।

दो-तीन दिन के बाद हम 'धनुषा' की ओर चले। जंगल में वृक्षों की मोटी जड़ों की तरह की कोई पत्थर-सी चीज है, इसी को लोग रामजी द्वारा तोड़ा गया सीता स्वयंवरवाला धनुष कहते हैं। धनुषा से अब हमने पैदल ही पहाड़ नेपाल पहुँचने का इरादा किया। इधर जंगल काटकर नई बसाई आबादियाँ ज्यादा थीं, जिनमें ज्यादातर थारू लोग बसते थे। उनकी मुखमुद्रा मंगोल थी। जंगल में धोबी के अभाव में भी स्त्रियों के साफ़ धुले कपड़े उनकी सुरुचि को प्रकट कर रहे थे। उस रात को हम एक साधु की कुटिया में ठहरे। पहाड़ की जड़ में कितने दिनों में पहुँचे, यह मुझे याद नहीं। हम सिर्फ शाम-सबेरे ठंडे में कुछ घंटे चला करते थे। गाँजे की इफरात थी, इसलिए 'दम' बराबर ही लगती रहती थी। कमला पार होने से पहिले सबेरे आठ-नौ बजे हम गोर्खों के एक गाँव में गये। ये नये आकर बसे थे। खाने के लिए हमें मक्के का भात मिला। मेरी संगत से या पहिले ही से सीखा-समझा होने से मेरे साथी ने भी गोर्खों के हाथ के भात में कोई एतराज नहीं किया। कमला का पानी ठंडा था और उस गर्मी में अच्छा लगता था। धार गहरी न थी। उस दिन खड़ी दोपहरी में हम चलते ही चले गये, इसलिए बहुत तकलीफ़ हुई। पहाड़ की जड़ में एक कुटिया है, यह हमें पहिले से मालूम था। लिपी-पुती खूब साफ कुटिया, धूप से बचाव फिर हल्की बहती बयार–थके-माँदे आदमियों को और दूसरी बात ही क्या याद आती? हम लोग लेटे और जल्दी ही नींद में गर्क हो गये।

नींद खुली तो देखा, एक अधेड़ साधु, कमर में अँगोछे का तहमद लपेटे आँगन बहार रहे हैं। हमें जगा देखकर वह पास आये, बोले–"यहाँ तो सब चीज पड़ी थी। मैं तो किसी घर में ताला नहीं लगाता, इसीलिए कि कोई साधु-अभ्यागत आवे, तो बनावे खावे। मैं गायों की सेवा में बाहर चला जाता हूँ, कभी-कभी देर से आना होता है। आपने क्यों नहीं भोजन बनाया-खाया?"

हमने सच्ची-सच्ची बात कह सुनाई–"उस अवस्था में हमारे लिए फिर लेटने से प्यारी कोई चीज न थी।"

सबेरे भी साथी को मक्के का भात अच्छा न लगा था, और अब भी उसी को पकाकर खाने के लिए पेश किया गया। साथी आनाकानी कर रहा था, किन्तु मक्के का भात पकाना भी एक नई चीज है, समझकर

मैंने उसका स्वागत किया। महात्मा ने इतना ही बतलाया था, कि पानी गर्म करके उसमें मक्के की दलिया को डालना। कितने पानी में कितनी दलिया डालनी चाहिए, इसको न हम पता था, न महात्मा ने ही बताया। हमने दलिया डाल दी। फूलकर उसने सारे बरतन को भर दिया और अभी वह पकी न थी। कुछ निकालकर गमले में रखा। पानी डाला, कुछ देर में फिर बरतन भर गया। फिर कुछ उसमें से निकाला और अपने जान काफी, किन्तु पानी डालकर पकाने पर फिर बरतन भर गया। अभी भी चावल पका नहीं था। अन्त में भूख से उकताकर हमने अधपका ही उसे नीचे उतारा। दूध या दही से हम मैंने तो पेट भर खाया, किन्तु साथी आधा पेट भी न खा सका।

हमने कुटी से नीचे गोशाला में रसोई बनाई थी। हम लोग के खाना खा चुकते ही गायें आ गईं और सभी घरों में भर गईं। गोशाला की छतों और दीवारों में नजदीक-नजदीक मजबूत लकड़ियों की डाट बँधी हुई थी। गोपालों ने बतलाया, यहां बाघ के आने का डर रहता है, इसीलिए उससे बचाने का यह प्रबन्ध है। रात को गोशाला ही में किसी मचान पर सो गये। साथी के रुख से मालूम तो हो रहा था कि वह हिम्मत हार रहा है, किन्तु यात्रा बन्द करने का निर्णय उसने रात को नहीं सुनाया।

सबेरे साथी के निर्णय को सुनकर मैंने भी कदम को पीछे हटाना ही पसन्द किया, क्योंकि लोग बतला रहे थे, आगे पहाड़ में पहरा है, बिना गद्दारी के आगे बढ़ने नहीं दिया जाता।

फिर धनुषा और फिर जनकपुर। जनकपुर से साथी तो स्टेशन को चले गये और मैं एकाध दिन रहकर बनाही (जि. मुजफ्फरपुर) मठ की ओर चला।

यहाँ के महन्त यद्यपि तिरहुत के दूसरे महन्तों की भाँति चेला भतीजे की परम्परा में पले थे, किन्तु उनके विचार कुछ उन्नत थे। उन्होंने अपनी सारी आय को खवासों और खवासिनों पर खर्च करने की जगह उसे सविद्या और साधु सेवा पर खर्च करना पसन्द किया था। स्थान में एक अच्छी संस्कृत पाठशाला थी, जिसमें तीन चार अच्छे अच्छे पंडित पढ़ाते थे। पढ़नेवाले साधुओं की अच्छी कद्र थी। महन्तजी स्वयं सबके साथ पंक्ति में बैठकर भोजन करते और साधुओं की आवश्यकताओं का ध्यान रखते थे। वह स्वयं कोई पढ़े लिखे विद्वान नहीं थे और न उनके आसपास के तिरहुत के स्थानों में ही कोई ऐसी परम्परा थी। ऐसी अवस्था में उनके कार्य को मैंने बहुत प्रशंसनीय समझा था।

यहाँ के भी किसी विद्यार्थी को मेरा नाम मालूम था, इसलिए आने के साथ ही महन्तजी जान गये और मेरा आसन एक अच्छे कमरे में लगवाया गया, जिसमें नेवार का पलंग पड़ा और सार्मेजों पड़ी हुई थी। भोजन के बाद महन्तजी पाठशाला, मठों के सुधार आदि के बारे में बातचीत करते रहे। समय की गति कुछ कुछ उन्हें मालूम होने लगी थी, इसलिए वह उसके अनुसार कुछ चलना चाहते थे। किन्तु अपने लिए उत्तराधिकारी उन्होंने भतीजे को ही चुना था। कुछ ही सालों बाद महन्तजी के मर [illegible] न जाने किसकी दोहाई दे उसके संरक्षक बन गये।

चलते वक्त महन्तजी ने बीस या पच्चीस रुपये और स्टेशन तक के लिए हाथी की सवारी दी। हाथी पर बैठने में मैंने एक गलती भी की और दुम की तरफ मुँह कर रस्से को उलटा पकड़ा, जिससे भ्रम में जमीन पर आ पड़ा। खैर, चोट नहीं लगी। लोगों ने समझा होगा, हाथी पर बैठना नहीं जानते।

सुरसंड का गढ़ रास्ते से दूर न था, तो भी मेरा वहाँ कोई काम न था। शाम को विडरख में ठहर गया और हाथी को लौटा दिया। अब आमों की फसल जोर शोर से शुरू हो गई थी।

विडरख तक मुझे मालूम हो गया था कि मेरी यात्रा का अन्त तिरुमिशी में होगा, इसीलिए पुपरी रोड से मैंने अपनी पुस्तकों—जो 3, 4 छोटी पुस्तकों से ज्यादा न थीं—को तिरुमिशी में हरिप्रपन्न स्वामी के पास भेज दिया।

अब मेरे पास रुपया था, इसलिए दस आना से आना में चलना पाप था। मैंने टिकट खरीदा और दरभंगा गया। राज लाइब्रेरी देखी और शहर के कुछ हिस्से को भी। रात को किसी मठ में न ठहर स्टेशन पर चला आया।

रास्ते मे पातेपुर-जैतपूरा स्थानो मे एक-दो दिन मैंने बिताये। परसा मठ मे इनका नजदीक का सम्बन्ध था, और रामानन्द स्वामी से अब तक की परम्परा पर मैं कुछ थोडा-सा मसाला जमा कर रहा था, इसीलिए मैं इन स्थानो मे गया। किन्तु वहाँ कोई नई चीज नही मिली, और चैनपुरा मठ के धरनीदास की परम्परा मे होने की धारणा पर भी धक्का लगा।

पातेपुर से मैंने बसाढ़ का रास्ता लिया। बसाढ पहुँचने से पहिले एक बुढिया भक्तिन ने खाने-पीने का इन्तिजाम किया था। दोपहर को सडक पर अवस्थित एक अग्रेजी स्कूल के अध्यापक ने—जो शायद पोस्टमास्टर भी थे—भोजन के लिए बहुत आग्रह किया। कवीं छोडने पर अब कभी कभी दिन रात सिर्फ सस्कृत बोलने का सनक चढ जाया करती। इस दिन मैं उसी सनक मे था। अध्यापक पर सस्कृत भाषण की धाक भी रही होगी। उनसे बसाढ के किले के बारे मे तो पता लगा, किन्तु अशोक-स्तम्भ के बारे में शायद मैंने पूछा ही नही या क्या, ठीक से मालूम न हो सका।

बसाढ के गढ को देखा। वज्जी गणतन्त्र का जो अपूर्ण स्वरूप चित्त पर अंकित था, उस पर एक दृष्टि डाली। अशोक स्तम्भ के बारे मे कई तरह की बाते सुनकर मैं भ्रम मे पड गया। रात को गढ से पच्छिम एक ठाकुरबाडी मे ठहरा, जिसमे कितनी ही पुरातन खडित मूर्त्तियाँ भी मौजूद थी। मन्दिर के पुजारी एक वृद्ध राजपूत थे। अयोध्या के बारे मे बात करते वक्त उन्होने अपने को पडित रघुबरदास का पिता बतलाया। मैंने कुछ आश्चर्य-सा प्रकट किया। उन्होंने बडे करुण स्वर मे कहा—यदि उन्हे इस सम्बन्ध का प्रकट करने मे लज्जा मालूम होती है, तो खोलने की क्या आवश्यकता, यह तो मैंने प्रसगवश कह दिया।

बसाढ़ मे मुझे पटना आना था। मैंने रास्ते को नकशे मे देखकर नही निश्चित किया था। रास्ते मे दस पाँच मील इधर-उधर हो जाने की कोई परवाह नही थी, क्योकि किसी जगह पहुँचने की कोई खास तिथि तो निश्चित कर नही रखी थी।

गडक का घाट पार हो मकेर, परसा (थाना) होते शीतलपुर मे रेल द्वारा दिघवारा आया। पटना कभी आया न था, और न जाने कौन से सस्कारवश मैंने समझा कि दिघवारा मे नदी पार होने पर पटना पहुँच जाते हैं। स्टेशन के सामनेवाले हलवाई से चटाई लेकर रात को वही सो रहा। इधर जो गाँजा चिलम की कुछ मश्क हुई थी, तो देखा-देखी सिगरेट का डब्बा खरीदकर सीखने के लिए सिरहाने रखा हुआ था। सबेरे किसी धार्मिक आदमी की उस पर नजर पडी, तो उसने फटकारा—'कैसे साधु हो, सिगरेट पीते हो?' सचमुच ही साधु के लिए शकर की बूटी गाँजा भाँग ही शोभा देती है, सिगरेट का फूँकना मैं धर्ममर्यादा तोड रहा था। सिगरेट पीने की एकाध बार मैंने कोशिश जरूर की, किन्तु उसके धुएँ मे मुँह का स्वाद और शिर की अवस्था जैसी हो जाती है उसे बर्दाश्त नही कर सका। बिना शागिर्दी की सटक बर्दाश्त किये कोई उस्ताद थोडे ही होता है?

नाव मे जब मैं गगा पार हुआ, तो काफी धूप थी। अभी दियारा ही दियारा था दानापुर बहुत दूर था। अन्तिम रेती मे पहुँचते वक्त वह खूब तप गई थी, और मैंने दौडकर जलते तलवो मे बडे कष्ट के साथ उसे पार किया। छाले पडने का पूरा अन्देशा था, किन्तु बच गया।

दानापुर मे किसी उदासी साधु की कुटिया मे ठहरा। दूसरे दिन बाँकीपुर मे भीखमदास की ठाकुरबाडी मे रुका। उस समय ठाकुरबाडी में रोज माल्दा आम आते थे। यह आमो का राजा पटना की खास चीज है यह मुझे नही मालूम था। मैं दो या तीन दिन पटना मे रहा। साधुओ का जहाँ तक हो सके पायखाने का बायकाट कर शहर के आसपास के खेतो मे खुली हवा—खुली जमीन का इस्तेमाल करना चाहिए—इस शास्त्र के अनुसार वह बगीची के आसपास के उन खेतो मे डोल-डाल (पायखाने) जाया करते थे, जहाँ अब नया कदमकुआँ बसा हुआ है।

पटना से बख्तियारपुर होते बिहारशरीफ कचहरी उतरा। डाकबँगले के हाते मे गुप्तकालीन पाषाणस्तम्भ और उसके शिलालेख को देखते-पढते नही, क्योकि अभी पुरालिपि का परिचय नहीं था—कस्बे में किसी ठाकुरबाडी मे रात को ठहरा।

आगे नालन्दा पैदल ही गया। उस वक्त खुदाई तो हुई थी, किन्तु इतने अधिक बिहार उद्‌घाटित नही हुए थे। चीनी यात्रियों–फाहियान, स्वेनचाग, इत्सिग को मैंने ध्यान से पढ़ा था–काल्पी मे रहते फाहियान की यात्रा का आधा बल्कि अनुवाद कर डाला था, जिसे कि ओंकार प्रेस (प्रयाग) वालो ने लेकर कहीं गुम कर दिया–इसी से बौद्ध स्थानों की मेरी यात्रा बडी अन्तर्दृष्टि के साथ हो रही थी। अब तक एक से अधिक लेख मैं 'भारती' को लिख चुका था। उस वक्त नालन्दा के पास के विशाल ह्रद लाल कमलो से बिछे सचमुच ही पद्मक्षेत्र से दीखते थे। म्युजियम देखने के लिए गया। उस वक्त पडित (डाक्टर) हीरानन्द शास्त्री नालन्दा मे खुदाई कर रहे थे। म्युजियम देखने के इच्छुक एक साधु आये हैं–सुनते ही वे चले आये, और खुदाई से निकली चीजों को दिखलाते रहे। मैंने स्थान की गर्मी के बारे मे पूछा, उन्होंने बतलाया–गर्मी तो है, किन्तु स्वास्थ्य के लिए कोई हानि नही करती। मैं एकाध साल कश्मीर म रहकर आया हू, किन्तु यहा आने पर मेरे बच्चो को कोई खास शिकायत नहीं।

नालन्दा से राजगिर गया। (ब्रह्मकुड-वैभार पर्वत) के पास की वैष्णव मठिया मे ठहरा। उस वक्त वहाँ एक बूढ़ साधु रहते थे। राजगिर मे इतने मकान या धर्मशालाए नही बनी थी। न वर्मी (?), जापानी विहार ही थे। मठ मे एक और तरुण साधु थे, जो कुछ पढ़े-लिखे भी थे। मेरे पहाड़ो पर घूमने और दर्शनीय स्थानो के देखने में उन्होने बड़ी सहायता की। मै फाहियान-स्वेनचाग की यात्राओं को पढकर निकला था, यह अब खूब याद आ रहा है, इसीलिए यात्रा मे मजा आ रहा था।

गया जाने के लिए मैंने सीधा रास्ता पूछा। यदि बुद्ध की बोधगया से राजगिर आने की यात्रा का पता होता–जिसे कि मैंने अपनी 'बुद्धचर्या' मे दिया है–तो मैं उसी रास्ते चलता। मुझे पहाड़ का वह रास्ता बतलाया गया, जो कि राजगिर से नवादा की ओर जाता है। पहाड मे एक जगह रास्ता भूलने पर जैन मन्दिरों के एक पुजारी ने बतलाया–पहाड़ो पर जहाँ तहाँ बिखरे हुए जैनमन्दिरो की पूजा के लिए ऐसे कुछ पुजारी गाँव के पड़ो मे से रखे गये हैं। पहाड़ो को पार कर, और कितनी ही दूर चलकर शाम को मै किसी स्टेशन पर पहुँचा। वहाँ से गया, गोलपत्थर के पास एक वैरागी स्थान मे ठहरा।

बोधगया जाने के लिए दो एक वैरागी साथी भी मिले। हम लोगो ने पैदल ही उस रास्ते को तै किया। पीछे दर्जनो बार गया जाने का मौका मिला, इसलिए उस आरम्भिक साक्षात्कार की छाप बहुत कुछ मिट गई है। तो भी बुद्ध के प्रति मेरी भक्ति दयानन्द से भी बढ़कर थी–हाँ उस वक्त मै यह समझने की भी गलती कर रहा था, कि बुद्ध दयानन्द ही की भाति वैदिक धर्मप्रचारक ईश्वरविश्वासी ऋषि थे। गर्मी के दिन थे, इसलिए उस वक्त वहाँ कोई विदेशी बौद्ध नही मिला। मेरे साथियों ने बोधगया महन्त के यहा से सदावर्त ली, निरजना के किनारे की ओर एक धर्मशाला मे रसोई बनाई, और दोपहर का भोजन वही हुआ।

गया से रेल द्वारा मैं भागलपुर पहुँचा। कालेज की पुरानी इमारत के पास एक वैरागी-स्थान मे ठहरा। महन्त पतले-दुबले बूढ़े ब्रजवासी थे। अब एकाध झोंके वर्षा के आ चुके थे। आम खाने को खूब मिल रहे थे। महन्तजी का रहने का आग्रह हुआ, और मैंने भी सोचा, आमो की फसल बिताकर यहाँ से आगे चलना चाहिए। मठ के बाहर की फुलवारी मे कई हरे भरे नारियल थे, जिनको देखकर मुझे भ्रम होने लगा था, कि मैं बगाल की भूमि मे पहुँच गया हूँ। मठ की एक शाखा ... नगर नाले के उस पार गगा के किनारे के किसी गाँव मे थी। उस वक्त गंगा की धार गाँव को काट रही थी, इसलिए लोगो ने लकडी के लोभ से कितने ही आम के दरख्तो को कटवा लिया था। वर्षा से गाँववालो को कुछ आशा बँधी थी, कि शायद घर बच जावे। महन्तजी गाँजा-भाँग का नियम से सेवन करते थे, और अब मैं भी उसमे शामिल था। नाच नाचकर 'हरे राम' कहते हरिकीर्तन करना मुझे यही देखने मे आया। भागलपुर के (तथा बिहार के भी) विख्यात कीर्तनाचार्य क्रिस्टो बाबू कीर्तन के लिए आये हुए थे। दर्शको की बडी भीड थी। कीर्तन का समय रात को था। महन्तजी ने गोली कुछ बढ़ाकर शर्बत में घोली थी, इसलिए मुझे नशा ज्यादा चढ गया, और क्रिस्टो बाबू के कीर्तन का मजा नही उठा सका।

भागलपुर के मठ में महीने-भर से कुछ ही कम दिन रहा हूँगा। यहाँ, मठ के दरवाजे पर सडक की दूसरी

ओर एक पुस्तकालय था, जहाँ पुस्तक और अखबार पढ़ने का भी कुछ सुभीता था।

भागलपुर से मेरा इरादा हुआ मुर्शिदाबाद चलने का। पैसा खतम हो जाने से अब "दस-आने-छै-आने" मे चलना था। रात की गाड़ी मे सवार हुआ। सो गया, जब नीद खुली तो देखा सबेरा हो रहा है, और मै मुर्शिदाबादवाले जकशन मे बहुत आगे चला आया हूँ। बगाल मे कुछ पैदल चलने का इरादा था, इसलिए वहीं उतर पड़ा। पास का गाँव कासिम-बाजार के राजा साहेब का था, वहाँ उनकी ओर से एक हाई स्कूल भी था। मुझे भूख लगी थी। एक ब्राह्मण की कुटिया मे जाकर पूछा—माई, कुछ खाना देगी ? ब्राह्मणी ने फूस के सुन्दर छतवाले साधारण किन्तु स्वच्छ घर के लटकते ओसारे के नीचे सीमेट के फर्श पर चटाई दे बैठा दिया। खाना बनाने में देर होती, इसलिए मैंने गुड़ की मुरी (लाई) को ही पसन्द किया। घर में कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति पैदा हुआ था, उसने अभी-अभी कमाई शुरू की थी, और सीमेंट के फर्श तथा कुछ और सुधार घर में किए थे, कि मौत ने आ घेरा। अब घर मे दो प्रौढ़ा और वृद्धा विधवाएँ रह गई थी।

भागीरथी की किसी धारा को पार कर फिर सड़क पकड़ी। अब मै ठेठ बगाल मे था। लोगों के तेल चूते सँवारे हुए केश, पान से काले पड़ गये दाँत, मलेरिया का मारा स्वास्थ्य। कितनी ही जगह गृहस्थ धान के खेतो की निराई करते थे। शाम से पहिले ही मैं पलासी या उसके पास के स्टेशन पर पहुँचा। मालूम हुआ मुर्शिदाबाद दूर छूट गया, आगे थोड़ी ही दूर पर रानाघाट आयेगा। मैंने सोचा, अच्छा है, आसाम भी हो आऊ। स्टेशन के छोटे-छोटे नौकरों मे कुछ बिहारी थे। उन्होंने रात को भोजन कराया।

सबेरे सात या आठ बजे मैं रानाघाट उतरा। किसी से पूछ-ताछ नहीं की, स्वयं तै कर लिया कि रानाघाट ब्रह्मपुत्र के किनारे है, और ब्रह्मपुत्र पार से आसामवाली रेल को पकड़ना अच्छा होगा। अभी मुँह-हाथ धोना भी था, इसलिए मैंने 'गंगाधारे' का रास्ता पूछा। लोगो ने एक सड़क बतला दी। आगे जाने पर देखा, वहाँ ब्रह्मपुत्र कहाँ, वहाँ तो एक छोटी-सी नदी है, जिस पर नावों का पुल बँधा है। सड़क शान्तिपुर को जा रही थी। कहा—चलो, इधर भी यजमानी है। नदी किनारे मुँह-हाथ धो आगे बढ़ा। धूप नहीं थी। आसमान में बादल घिरे हुए थे। चारों ओर हरे भरे खेत या वृक्ष दिखलाई पड़ते थे। शस्य श्यामला वगभूमि की मनोहारिणी छवि वर्षा के कारण अपने यौवन पर थी। बगला तो कुछ पढ़ लेता था, किन्तु अभी तक बाकिमचन्द्र या किसी दूसरे महान् उपन्यासकार के बँगला ग्रन्थ पढ़े नहीं थे, नही तो शायद उस प्रकृति अवलोकन मे और भी मजा आता।

दस या ग्यारह बजे भूख मालूम हुई। एक पक्के किन्तु बेमरम्मत घर मे गया तो मालूम हुआ उसमे उपस्थित पुरुष कुछ पागल-सा है। वहाँ से आगे शायद उसी गाँव में एक दूसरा बँगलानुमा घर मिला। भिखमगे से बिलकुल उलटे स्वर मे मैंने वृद्ध गृहपति से पूछा—'क्या कुछ भोजन देंगे ?' वृद्ध ने तुरन्त उत्तर दिया—'हाँ, जरूर, आइए।

उन्होंने बैठक मे एक आरामकुर्सी पर बैठाया। वहाँ कुर्सी मेज काफी थे। दीवारो पर तसवीरे भी थी, किन्तु उनकी अवस्था से मालूम होता था, कोई उनकी कदर करनेवाला नहीं है। रसोई तयार होने मे जरा सी देर थी। वृद्ध ने एक आठ-दस वर्ष के बच्चे को बुलाकर प्रणाम करवाया। फिर एक बड़े फोटो को दिखलाकर कहा—"यही इसके बाप थे, मेरे एक मात्र पुत्र; वकील हुए थे, अभी काम चल ही निकला था, कि भगवान ने बुला लिया। अब यही एक पौत्र हमारे वश का अवलम्ब है। मैं स्टेशन मास्टर था, इससे कुछ पेंशन (?) मिलती है। कुछ खेत-पात भी हैं। खाने का भगवान् की दया से कोई दुःख नहीं। किन्तु पुत्र-वियोग, पुत्रवधू का वैधव्य बराबर सताता रहता है।" मालूम नहीं, मैंने कुछ वैराग्य का उपदेश दे, उन्हे सान्त्वना दी, या किसी दूसरी तरह से। गृहस्थ के घर मे बगाली-भोजन का शायद पहिला मौका था। कटहल के कोये जो सेर सेर डेढ़-डेढ़ सेर बगैर हिचकिचाहट के खा जाये, उसके सामने यहाँ पर डरते-डरते दो-तीन कोयें का रस गारकर कटोरी मे रखना क्या मजाक नहीं था ? भोजन स्वादिष्ट मालूम हुआ, उसमे नारगी रग का एक अचार तो और भी, जिसे दो-तीन बार काटकर खा लेने के बाद मैं जान सका कि यह बड़ा झींगा है। खैर, "हरेरिच्छाबलीयसी" वही मत्स्यावतार धारण कर यदि हर जगह पहुँचे रहते हैं, तो मैं निर्बल मनुष्य क्या कर सकता।

भोजन के बाद जब मैं चलने लगा, तो गृहपति ने एकाध दिन रहने का बहुत आग्रह किया, किन्तु अकृत्रिम ढग से उसे अस्वीकृत कर मैं आगे चलता बना। शायद उसी दिन शाम को शान्तिपुर पहुँचा। साधु का स्थान

पूछने पर कस्बे से बाहर तालाब के भीटे पर एक साधु का पता लगा। वह एक पंजाबी उदासी थे। लाल लँगोटा, पीली खुली जटायें, गले में काले ऊन की माला, तरुण दीर्घ देह में अखंड भभूती। भाषा से अनजान तथा बहुत कुछ निरक्षर होते हुए भी साधु ने हाल ही में आकर वहाँ अच्छा सिलसिला जमा लिया था। गाजे की कमी नहीं रहती थी, और गाजे की महक पर तो गृहस्थ भी मधुमक्खियों की तरह टूटते हैं। मछली-मांस के कारण महात्मा छूत-छात का बहुत ख्याल करते थे। बस, धुनी पर ही एक बड़ा-सा टिक्कर लगा लेते, तथा बराबर के घी-चीनी-दूध से भोजन होता। धोती के शान्तिपुरी पाढ़ को मैं बहुत सुन चुका था, किन्तु यह जानकर अफसोस हुआ, कि अब वह पाढ़ अधिकतर मान्चेस्टर से बनकर आते हैं।

रात को मैं स्टेशन पर जा रहा था, उस वक्त कुछ मनचले गाना गाते जा रहे थे। सुर गजल का किन्तु भाषा बंगला थी, मैंने कहा—चलो एक बात में तो बंगालियों ने कुछ हमसे लिया। रेल से रवाना तो हुआ, किन्तु कितनी दूर इसका खयाल नहीं। एक रात कृष्णनगर में ठहरा था, शहर से बाहर सड़क पर के एक पान-सिगरेट वाले तरुण की दूकान पर। रात को उसने मछली-भात खिलाया। बचपन के मत्स्यप्रेम को आज के झींगा के अचार ने जगा दिया था।

गंगा पार उतरने पर जब मैंने पैसा देना चाहा, तो घटवार ने टूटी-फूटी बोली में बोलते हुए कहा—'नहीं, बाबा, हम तुमसे पैसा नहीं लेंगे।' यहाँ, इतनी दूर रूपग के नागों का घाट का टीका।

नदिया (नवद्वीप) में एक गौड़िया साधु के स्थान में आसन रखा। न्यायशास्त्र में नदिया की कीर्ति काशी और दूर तक पहुँची हुई थी। वहाँ कुछ बिहारी संस्कृत छात्र भी मिले। उनसे संस्कृत में बातचीत हुई। मैंने हाल में ही नव्यन्याय के कुछ ग्रंथ पढ़े थे। इसलिए न्याय के उन विद्यार्थियों को भी अपना परिचय देने में मुझे दिक्कत न हुई। हिन्दी भाषाभाषी छात्रों की संख्या बहुत कम थी, उन्होंने मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, और वहीं रहकर पढ़ने के लिए आग्रह किया। महामहोपाध्याय कामाख्यानाथ तर्कवागीश के बारे में मैं काफी सुन चुका था। न्यायवात्स्यायनभाष्य पढ़ने की जब दिक्कत हो रही थी, तो उनका नाम कई बार मेरे सामने आया था। उनके चेहरे की बहुत क्षीण स्मृति रह गई है, शायद वह महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य की भाँति दुबले पतले मझोले कद के वृद्ध थे। उनके हाथ में नारियल और मुँह से निकलता धुँआ मुझे अब भी याद है। वह चारपाई या कुर्सी पर नहीं बैठे थे। विद्यार्थियों ने मेरा परिचय उत्तर-भारत के नये विद्यार्थी के तौर पर कराया। मैंने श्रवण से सुने हुए विद्या वैभव को आँखों से देखकर अपने को धन्य धन्य समझा। शायद नदिया में विद्यार्थियों की कमी रहती है, इसीलिए महामहोपाध्यायजी ने मुझे आग्रहपूर्वक रहने के लिए कहा। बनारस में निश्चय ही मध्यमा और आचार्य के एकाध खड़वाल विद्यार्थी को कामाख्यानाथ की कोटि के पंडित उतना आग्रह नहीं करते, विशेषकर प्रथम दर्शन में। आखिर, काशी के लिए सारे भारत से विद्यार्थी धाराएँ आती हैं, और नदिया में सिर्फ बंगाल से, जहाँ भी कलकत्ता में एक प्रतिद्वन्द्वी संस्था संस्कृत कालेज है। संस्कृत के विद्वानों की कठिनाइयाँ छात्रावस्था के साथ खतम नहीं हो जातीं। पंडितावस्था में भी यदि योग्य विद्यार्थी नहीं मिले, तो पढ़ी-पढ़ाई विद्या भूल भुलाकर साफ होने का डर रहता है।

नवद्वीप के कई मन्दिरों को देखा। उस मठ को भी देखा, जिसका सम्बन्ध गौरांग महाप्रभु (चैतन्य) से है ? एक भजनाश्रम में पचासों विधवा स्त्रियों को आधसेर चावल के लिए घंटा 'हरे राम' 'हरे राम' करते देखा। भजनाश्रम की लोग बड़ी शिकायत कर रहे थे। जैसे उत्तर भारत की कुलीन तरुण विधवाओं का निस्तार काशी में होता है, वैसे ही बंगाल का नवद्वीप में, फिर भजनाश्रम बेचारा बदनामी से क्यों बचता ? शाम को ढूढ़ने पर उत्तर भारतीय वैरागी स्थान भी मिला। मैंने तो तै किया—दक्षिण में पढ़ने जाने की जगह यहीं पढ़ा जावे, न्याय-मीमांसा ही सही।

रात को जब मच्छरों की फौज ने हमला शुरू किया, तो शाम का निश्चय जवाब देने लगा। किसी तरह रात काटी। सबेरे सारे बदन में मच्छरों की चोट के दाग थे, दाहिने हाथ की तर्जनी के मध्य में तो खूब खुजली हो रही थी।

सबेरे उठते ही मैंने स्टेशन का रास्ता लिया, किसी से विदाई भी लेने नहीं गया।

कलकत्ता मे अब के जगन्नाथ मन्दिर (जगन्नाथ घाट) मे ठहरा। कलकत्ता महीनों रह चुका था, इसलिए देखने-सुनने की कोई खास चीज बाकी बची न थी।

सोचा, समय की बचत का भी खयाल रखना जरूरी है, तो भी अधिक से अधिक स्थानो और प्रान्तो को देखते चलना चाहिए।

हवड़ा से मैंने बी. एन आर. की लाइन पकडी। पहिली रात एक गाँव मे ठहरा, जहाँ यात्रा (रासलीला) हो रही थी। खड्गपुर कितने दिनो मे पहुँचा, याद नही। आखिरी दिन दोपहर को एक गाँव मे एक ब्राह्मण ने छोटी मछली के साथ भात खिलाया। खड्गपुर से खुर्दा रेल से गया, और आगे पुरी तक पैदल। उडिया दीहात की दरिद्रता देखी। एक बडे जमीदार के यहाँ सदावर्त मिलती थी। कई साधुओ के साथ मैं भी वहाँ गया। उनके यहाँ एक अच्छा शिखरदार मन्दिर था। जिस वक्त साधुओ को सदावर्त दिलवा रहे थे, उसी वक्त किसी रैयत ने कई जीती मॉगुर मछलियाँ भेंट मे पेश की। मुझे याद आया–'माँगुर माछेर झोल। तरुणी मेयेर कोल। बोल हरी बोल।' रामकृष्ण परमहंस भी रंगीला रहा होगा।

साखी गोपाल मे रात को ठहरा था, किन्तु अब उसका नाम-भर याद रह गया, सो भी पीछे हजारीबाग जेल मे पंडित गोपबन्धुदास के दर्शन करने तथा उनके द्वारा स्थापित विद्यालय के बारे मे सुनने पर। पुरी मे अब के डाडिया जगन्नाथदास के स्थान मे ठहरा। डाडिया जगन्नाथ की हजारों की जमात मद्रास, महाराष्ट्र छोड़ बाकी सारे भारत मे, धूमधाम से घूमने के लिए मशहूर थी। वह बराबर चलती ही रहती, सिर्फ बरसात के तीन महीने किसी बडे शहर को देख चातुर्मासा करती। जगन्नाथदास इस जमात के बड़े महन्त थे, और उनके नीचे ग्यारह और महन्त–जिसमें उन्हे बारह भाई डाडिया कहा जाता था। हर कुम्भ पर डाडियों की जमात जाती, और उस वक्त इनकी संख्या कई हजार पहुँच जाती थी। जमात मे कपड़े के चलते-फिरते मन्दिर (तम्बू) साधुओं के रहने के लिए बडे-बडे छाते, छोलदारिया और शामियाने रहते। इतनी बडी जमात मे व्यवस्था कायम रखना, तथा बिना पैसे के सारा खाने-पीने का प्रबन्ध करना आसान काम न था। महन्त जगन्नाथदास 'चेलान' मे बहुत सिद्धहस्त थे। उनकी मीठी बाते, विशाल जटाओं को देखकर कौन प्रभावित हुए बिना न रहता। उनकी जमात पैदल चलती थी। एक-दो दिन पहिले अगले मुकाम पर खबर चली जाती–कि जमाअत आ रही है फिर उस कस्बे या शहर के गृहस्थ घी, आटा, चीनी, रुपया जमा करने मे लग जाते। एक साथ हजार हजार जटा-भभूत-धारी सन्तों को देखकर गृहस्थ गद्‌गद हो जाते, फिर खाने-पीने की तकलीफ कैसे हो सकती थी ? पूजा के रुपये मे महन्तो का भाग काफी रहता। महन्त जगन्नाथदास ने अपने उन्ही रुपयो से यह स्थान बनवाया था, जो अभी पूरा नही हो पाया था। वैरागी लोग वैसे छुआछूत, और जूठ-मीठ का बहुत विचार रखते हैं, किन्तु जिस तरह जगन्नाथजी (पुरी) मे एकादशी को उलटी बाँधकर टाँग दिया गया है, उसी तरह छुआछूत को भी। मठ मे जगन्नाथजी के चढ़े कुछ हटके भी आया करते थे। परोसनेवाले साधु परोसते हुए, बीच मे गप्फा भी लगाते जाते थे। मुझे खयाल आता था–सारा भारत ही पुरी हो जाता तो कैसा अच्छा रहता।

पुरी मे नदिया के मच्छरो की मलाई अंगुली कुछ पक आई, किन्तु मैंने उसकी परवाह नही की। आन्ध्र मे दो या तीन जगह दीहात के स्टेशनों मे उतर कुछ पैदल चला था। राजमहेन्द्री मे गोदावरी तीर पर उस वक्त एक भारी मेला लगा हुआ था। गृहस्थो के अतिरिक्त ज्यादातर दक्षिण के साधु थे और उत्तर के साधुओ से तुलना करने पर वे निरे भिखमंगे जँचते थे। उत्तरीय साधुओं मे आचार-विचार के कितने ही अलिखित नियम हैं, वेषधारी साधु उनकी अवहेलना खुल्लम-खुल्ला करने की हिम्मत नही रखता; किन्तु यहाँ सभी अपने आप अपने आचार्य। मेले मे कुछ उत्तर भारतीय साधु भी थे, जिनके यहाँ मैं ठहर गया। दो-एक दिन अस्पताल मे अंगुली धुलाने गया किन्तु अभी वह अच्छी नही हुई थी। विजाग मे भी दो-एक दिन रहकर अँगुली धुलवाई, फिर तिरुपती पहुँच गया।

तिरुपती मठ मे अब के कुछ नये नियम बर्ते जा रहे थे। साधु को मठ से बाहर रहना पड़ता, जब वह बालाजी से हो आता, तो मठ के भीतर आसन दिया जाता। मैं भी पिछवाड़े के एक बराडे मे ठहरा। संयोग से दारागंज (प्रयाग) के तुलसीदास के स्थान के बाबा रामटहलदास (सितारची) भीतर ठहरे हुए थे, उन्होंने मुझे

देख लिया—'शास्त्रीजी ! आप कहाँ ?' फिर मठ के किसी अधिकारी से कहकर मुझे भीतर लिवा गया। उस वक्त जलगोविन्द (?) स्थान में एक परमहंस वैरागी साधु—जो जन्म से बंगाली थे—ठहरे हुए थे, उनके साथ चन्द्रनगर (फ्रेंच) का एक लड़का था। महन्तजी ने चेला बनाने के लिए एक लड़का खोज लाने के लिए कहा था, इसीलिए परमहंसजी इस लड़के को लाये थे। लड़का मिडल तक पढ़ा हुआ था। हमारे पुराने परिचितों में अब कोई न था। तिरुपती संस्था ने एक संस्कृत-कालेज खोला है, सुनकर मैं उसे देखने गया। प्रधानाचार्य श्री देशिकाचार्य से मिला। देशिकाचार्य दक्षिण के प्रकाड पंडित थे, उनके पाण्डित्य के बारे में मैं पहिले ही से सुन चुका था। उन्होंने पाठशाला दिखलाई, और वेदान्त मीमांसा की पढ़ाई की बात चलने पर वहीं रहकर पढ़ने के लिए कहा। वह सब तरह से सहायता देने को तैयार थे। ऐसे गुरु से पढ़ने के लिए मैं कम लालायित न था, और बालाजी से लौटने पर पढ़ाई आरम्भ करने की बात कहकर चला आया। यहीं लोकमान्य तिलक की मृत्यु की खबर मिली, और शोकसभा देखी।

बालाजी में अब के वह मस्ताना बाबा 'कृष्ण कन्हैया तुम्हीं तो हो' नहीं मिले। बतास-पंछी कहीं एक जगह रहा करते हैं ? रघुबरदास (?) पिछली बार जो लघुकौमुदी के कुछ पन्ने घोखते मिले थे, अब वह बड़े हो गये थे, और योग्यता से भी अधिक अपने पाण्डित्य का अभिमान रखते थे। छपरा जिला में उनका जन्म हुआ था, इस खयाल से तथा पहिले के परिचय के कारण भी मैंने कुछ अधिक नजदीकीपन से बात शुरू की; किन्तु तुरन्त ही मालूम हो गया, कि हमारे दोस्त कई ताड़ ऊँचे से बात कर रहे है। इसे सहन करना मेरी प्रकृति के विरुद्ध था, किन्तु साथ ही उसके लिए झगड़ा मोल लेने को भी मैं भारी मूर्खता समझता था। रघुबरदासजी (या जो उनका नाम रहा हो) को हाल में कुछ बुखार-सा आया था, और महन्तजी ने डाक्टर बुला दिया था। कह रहे थे—"बड़ी गर्मी थी, सोडावाटर और बर्फ कितना ही पीता, कुछ असर नहीं होता।" सोडावाटर और बर्फ को ऐसे ढंग से कहते, मानो वह इन्द्रपुरी का दुर्लभ अमृत कलश है। उनके बदन पर साधुओं का साधारण अँचला नहीं बल्कि अच्छे कपड़ों का किन्तु जगह-जगह सिकुड़ा हुआ कमीज था। अपने उस सम्भ्रान्त वेष के सामने मेरी कम्बल की अल्फी की वह क्या गिनती करते ? संस्कृत कालेज की बात चलाने पर, वह इस तरह बाते करने लगे, मानों उसके कर्ता-धर्ता सब कुछ वे ही है। मैंने यह तो देखा, कि पिछले सात वर्षों को इस पुरुष ने खोया नहीं है, किन्तु उसका विद्याभिमान 'जस थोरे धन··· बौराई' वाली बात थी। मैंने वहीं तै किया, कि तिरुपती में रहने पर इनसे अपनी इन्द्रगद्दी छिन जाने का डर रहेगा, इसलिए सीधे तिरुमिशी चलना ही अच्छा है।

पहाड़ से उतरकर मैं सीधे स्टेशन पर पहुँचा। मठ में जाने की जरूरत न थी, फिर जलगोविन्द के परमहंस से भेंट होती, और महन्त के आये होने पर उनसे बातचीत करनी पड़ती।

अब न मुझे दिव्य देशों के देखने की इच्छा थी, न पर्यटन की लालसा। तिरुपती में अँगुली धुलवाने अस्पताल जाना पड़ा था। बीच में कई दिन न धोने से वह ज्यादा पक गई थी। मैंने तो डाक्टर की कैंची के सामने भीतर से शकित रहते भी बाहर से मुस्कराते अँगुली बढ़ा दी, किन्तु रामटहलदास वहाँ से भाग गये। बालाजी में दो-तीन दिन अँगुली न धुली, उसी से मवाद फिर बढ़ गया था। अब कहीं भी बिना ठहरे मैं सीधा तिरुमिशी पहुँचा

11

दुबारा तिरुमिशी में (1920-21 ई.)

स्वामी हरिप्रपन्नाचार्य अब कुछ ज्यादा मोटे हो गये थे, और बाहर से स्वस्थ दीखते हुए भी भीतर से अधिक जीने की आशा नहीं रखते थे। कर्वी से भेजे एक पत्र के उत्तर में उन्होंने जीवन की अस्थिरता के साथ मुझे

शीघ्र आने के लिए लिखा था। मैं स्थान से पढ़ने मे सहायता जरूर चाहता था, किन्तु महन्त बनने के लिए तैयार न था। आषाढ़ महीने मे अपने नये मन्दिर में उन्होने नई मूर्तियो की स्थापना की, और उसी वक्त उत्तराधिकारी भी घोषित कर देना चाहते थे, मेरे न आने पर उन्होने बदायूँ या बिजनौर जिले के एक ब्राह्मण-लड़के को उत्तराधिकारी शिष्य बनाया। उन्होने देर से आने के कारण उक्त व्यवस्था कर डालने के लिए अफसोस जाहिर किया। मैंने उसके लिए प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"महन्त दूसरा हो, यही तो मुझे पसन्द है। मै चाहता हूँ विद्या पढ़ना, बस इसी मे आपके आतिथ्य को चाहता हूँ।" उन्होने बड़े प्रेम से मेरे रहने का अच्छा प्रबन्ध कर दिया। पहिले का एकमहला पच्छिमवाला मकान अब दोमहला हो गया था। ऊपर सफेद सीमेंट के फर्श और दीवारो की कई पक्की कोठरियाँ थी, उन्ही मे से एक मे मेरे लिए स्थान दिया गया। देवराजजी अब भी हरिप्रपन्नाचार्य के विश्वासपात्र तथा भगवान की पूजा-रसोई मे निरत थे। उनके रीवाँवाले गुरुभाई मद्रास मे किसी वेश्या के फन्दे मे पड़े, और अब सदा के लिए आतशक लेकर बैठे हुए थे. उनकी जबान ऐंठ गई थी—अक्षरो को ऐंठकर बोलते थे।

पिछले सात वर्षो मे मठ की काफी उन्नति हुई थी। सिर्फ दोनो घर ही अच्छे नही बन गये थे, बल्कि मद्रास मे मासिक चन्दे की आमदनी भी प्रतिमास डेढ़ सौ से ऊपर हो गई थी। उगाहने के तरद्दुद से बचने के लिए हरिप्रपन्न स्वामी उसे और बढ़ा नही रहे थे, नही तो और दाता भी मिलने को तैयार थे। पचीस-तीस हजार से अधिक रुपया सूद पर दिया हुआ था, और कितने ही धान के खेत भी खरीद लिये गये थे। मठ की सारी सम्पत्ति साठ हजार से ऊपर की थी।

महन्ती का उम्मीदवार दूसरा है, इसे जानते भी मैंने जिस तरह अपना भाव दिखलाया, उससे हरिप्रपन्न स्वामी भी प्रभावित हुए। दूसरे दिन से वड (बेल-ताँग) पर मैं पुन्नमल्ले अँगरखी धुलाने जाता। और आठ दस दिन बाद नदिया के मच्छरों की चोट लगी हुई, निशान तो खैर सारी जिन्दगी के लिए दे गये।

मेरी इच्छा वेदान्त और मीमासा पढ़ने की थी। स्वामी हरिप्रपन्न की इच्छा हुई कि, 'अष्टादशरहस्य' ग्रंथो को भी द्रविड भाषा मे पढ़ूं। वेदान्त पढ़ाना मेरे पुराने सहपाठी भक्ति—अब टी. वेंकटाचार्य—के पिता श्री निवासाचार्य ने स्वीकार किया। भक्ति स्वय अब 'मीमासाशिरोमणि' हो गये थे, इसलिए उनके साथ शास्त्रदीपिका आदि का पढ़ना तै हुआ। मैं रोज 'भक्ति' के घर पढ़ने जाया करता। ब्याह का कुछ विरोधी होने के कारण 'भक्ति' के ब्याह की खबर मुझे कुछ प्रसन्नतादायक नही मालूम हुई—इस ब्याह मे उनकी अपनी सगी फूफी ही सास हुई थी। पडित भागवताचार्य का मेरे आने की खबर लगी तो बहुत खुश हुए और उन्होंने श्री निवासाचार्य के पास मेरे लिए पत्र लिखा। मै मन लगाकर पढ़ने लगा। रामानुजभाष्य—श्रुतप्रकाशिका के कुछ अंशों का टखते हुए,—तथा शास्त्र-दीपिका का पाठ खूब जोर से चलने लगा। 'भक्ति' वेदान्त, मीमासा अच्छी तरह पढ़े थे। पिछले वर्षो मे इसके लिए वह अधिकतर मैनापुर विद्यालय मे रहे थे। किन्तु, आर्यसमाज—और बाहर की हवा लगने से मेरे तर्क सिर्फ पुस्तको के सुझाव तक ही महदूद न रहते थे। कितनी ही बार हम दोनो साथ रामानुजभाष्य पढ़ते। पहिले रामानुज से श्रीनिवास तक की गुरु परम्परा के श्लोको को पढ़कर दंडवत् करते फिर पाठारम्भ होता। रामानुज का द्वैत-सिद्धान्त इस वक्त मेरा अपना सिद्धान्त था, क्योंकि वह आर्यसमाजी सिद्धान्तो से मिलता-जुलता था, तो भी और बातो मे मैं कितनी ही बार रामानुज पर आक्षेप कर बैठता। एक बार भक्ति उत्तर देते-देते अन्त मे निरुत्तर हो गये। मुझे बड़ा आश्चर्य और करुणा आई, जब मैंने देखा कि उनकी आँखो मे आँसू भर आये हैं और वह भर्राई आवाज मे कह रहे थे—"आचार्य का प्रश्न कमजोर नहीं हो सकता, नही हो सकता"। मेरी उम्र के जवान को इतनी धर्मभीरुता ! तब से मैं प्रश्नो को एकाध कोटि तक ही ले जाता। कितने ही प्रश्नो को सिर्फ पुस्तक पर लिख लेता। हाँ, तर्कपाद (शास्त्रदीपिका) के तर्क को हम दोनो निर्दयता से प्रश्नोत्तर का विषय बनाते।

सितम्बर के शुरू में ही मैं तिरुमिशी पहुँचा था। जाड़े के आने से उसका असर क्या होता, वहाँ तो काठ पर की कोठरी मे पसीने के मारे मेरी गत बनने लगी। इसी बीच हरिप्रपन्नाचार्य का मन नये उत्तराधिकारी से ऊब गया, और वे फिर अस्पष्ट रूप मे मेरी ओर रुजू होने लगे। पहिले मेरे चौके मे खाने के लिए पंडित

भागवताचार्य से कहा गया। उन्होने पढने मे विघ्न समझ पहिले मना किया, पीछे स्वामी हरिप्रपन्न के कहने पर आज्ञा दे दी। फिर मन्दिर के पीछे की कोठरी मे दो बडे बडे जगले बनवा उस हवादार घर मे मुझे उतर आने के लिए कहा गया, इसका तो खैर, मैने हृदय से स्वागत किया। हरिप्रपन्न स्वामी अब मुझे अपने उत्तराधिकारी की भावना से मानने लगे। मैंने रूसी क्रान्ति की उड़ती खबरो के बल पर क्रान्तिप्रसूत ससार का एक नकशा अपने मन पर अंकित किया था, कभी कभी महन्तो, जमींदारो की सम्पत्ति का क्या हसर होगा, इसे मैं महन्तजी के सामने चित्रित कर देता–इसका ध्यान रखते हुए कि अपने विचारो को नहीं बल्कि वस्तुस्थिति को रख रहा हू–तो बेचारे हरिप्रपन्नाचार्य घबरा उठते। आखिर, पैसा पैसा जोडकर उन्होंने यह सम्पत्ति और नई ठाकुरवाडी बनाई थी।

तिरुमिशी का सस्कृत विद्यालय अब उत्तरार्द्धि मठ मे दो घर पूरब अपने घर मे आ गया था। वहाँ के बूढे अध्यापक से मैं 'अष्टदश रहस्य' पढने जाता। रामानुज सम्प्रदाय की दो शाखाओं–तिगला और बळहलो–मे से तिगल-शाखा के 'अष्टादश रहस्य' पुस्तिकाओ के निर्माता पिल्ल लोकाचार्य थे जो रामानुजीयो के सर्वश्रेष्ठ विद्वान वेदान्ताचार्य के प्रतिद्वन्द्वी थे। ये रहस्य ग्रथ सूत्र-रूप मे 'मणिप्रवाल' भाषा मे लिखे गये है। 'मणि-प्रवाल' (मणि मूँगा) ऐसी तमिल भाषा का नाम है जिसमे सत्तर-अस्सी फीसदी तक शुद्ध सस्कृत के शब्द हो। रहस्यो मे ऐसी ही भाषा का प्रयोग है। मैं रहस्यो को शुरू करने से पूर्व तीन-चार तमिल-रीडरो को समाप्त कर चुका था, इसलिए भाषा समझने मे आसानी थी। बीच बीच मे आये तमिल शब्दो का ही समझना पडता था। रहस्य के अध्यापक को साधारण अध्यापक से अधिक धर्मगुरु की तरह माना जाता है। मेरी योग्यता को जानते हुए, गुरुजी खुश हो तत्परता से पढाते थे। 'रहस्य' गोप्य ग्रथ है–यद्यपि सब ही तमिल और तलगु अक्षरो मे छपे मिलते हैं–इसलिए बहुत देख सुनकर पढाने का विधान है तो भी तमिल प्रान्त के ब्राह्मण उस पर उतना ध्यान नही देते। मेरी वे पुस्तकें उत्तर भारत मे आते ही गुम हो गई, इसलिए फिर एक दृष्टि से देखने का अवसर नही मिला, किन्तु दो बाते अब भी याद है। रामानुज सम्प्रदाय के कितने ही परमपूज्य आळवार (ऋषि) और महात्मा तथा स्वय रामानुज के गुरु शूद्र और महाशूद्र जातियो मे पैदा हुए थे। इस पर वर्णाश्रमियो का आक्षेप होता था और पीछे के रामानुजीय ब्राह्मण भी जाति पाँत मे दूसरो से दस कदम आगे हो गये, इसलिए उनके मन मे सन्देह होता था। इसके समाधान मे कहा गया था–गुरु की जाति का खोज-खाज करना मातृ-योनि-परीक्षा जैसी है, इसी तरह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणम् व्रज' (सारे धर्मो को छोड अकेले मेरी शरण में चले आओ। मै तुझे सारे पापो से छुडाऊँगा, शोक मत कर।) इस भगवद्गीता के वाक्य मे धर्म-कर्म की आशा छोड सिर्फ भगवान् की शरण में जाने मात्र से मुक्ति बतलाई है; इस बात को अति तक ले जाते हुए रहस्यो मे भक्ति से भी बढ़कर प्रपत्ति (निश्चेष्ट हो इष्टदेव की दया पर एक मात्र भरोसा) पर जोर दिया गया है। इससे वर्णाश्रम-धर्म तथा ब्राह्मणों की सभी धार्मिक रूढियो का प्रत्याख्यान हो जाता है, तो भी हिन्दुओ के सम्प्रदाय 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और' मे तो एक दूसरे का कान काटते है। शकराचार्य ने भी 'न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः' कहा, किन्तु अन्त मे 'व्यवहारे भाट्टनय' से सारे ढागो को रहने दिया। रामानुजानुयायी शकर मतानुयायियो से भी अपने को ज्यादा आस्तिक साबित करते हैं।

("वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः,
प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते,
यूयं च बौद्धाश्च समानससदः।।")

खैर! शंकरवेदान्त के साधारण ग्रथ ही मैने पढे थे, किन्तु रामानुजभाष्य और उसकी टीका श्रुतिप्रकाशिका के पढते वक्त शंकरवेदान्त के और ग्रंथों को देखने का मौका मिला। आर्यसमाज का प्रभाव रहने से सिद्धान्त मे मै द्वैतवादी हो रामानुज का समर्थक रहा। उसके कितने ही महीनो बाद कुर्ग से मैंने गुरुकुल कागडी से निकलनेवाली अंग्रेजी पत्रिका 'वैदिक मेगजीन' मे व्यास और उपनिषद् को शकरीय अद्वैत के विरुद्ध साबित करते हुए दो लेख लिखे। इसी दार्शनिक ऊहापोह मे बौद्धदर्शन के लिए अधिक जिज्ञासा उत्पन्न हो गई, रामानुज

और शकर की ओर से, अन्ततः वर्णाश्रम धर्म का श्राद्ध करके दार्शनिक खडन द्वारा ही बौद्धो का विरोध किया जाता था। और दार्शनिक सिद्धान्तो मे रामानुजीय शकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे, फिर बौद्धदर्शन क्या है इधर ध्यान जाना जरूरी था, और पूर्वपक्ष के तौर पर उद्धृत कुछ वाक्यो से मेरी तृप्ति नही हो सकती थी। किन्तु और कामो–विशेषकर राजनीतिक परिस्थिति–ने जो मेरा ध्यान आकर्षित किया था, उसके कारण मैं ज्यादा समय इधर दे नही सकता था।

तिरुमिशी से महीने मे एकाध बार मद्रास जाता था। मेरे साथी वेकटाचार्य और दूसरे तरुण दोस्त वहा के उत्तर भारतीय होटल आनन्दभवन की मिठाइया को छिपकर चख आये थे, और उन्ही से मालूम हुआ कि मद्रास मे एक नास्तिक समाज–आर्यसमाज–का प्रचार हो रहा है। मद्रास मे पता लगाने पर मालूम हुआ कि वहा आर्यसमाज के प्रचारक मेरे परिचित मित्र पडित ऋषिरामजी (लाहौर) हैं। अब तो जब भी मद्रास जाना उनसे भेट होती। वह प्रचार का काम हाथ मे लेने पर जोर देते, मैंने भी अभी वैदिक-प्रचारक बनने के मसूबे को छोडा नही था, तो भी आज-कल करता रहा। पडित ऋषिरामजी के यहा से आर्यसमाज सम्बन्धी अग्रेजी पुस्तको–गुरुदत्त-ग्रथावली आदि–को ले जाता, और एक तीर्थवासी दीवालिया बूढे सेठ (चेट्टी) के साथ उन्हे पढता। सेठजी उसके तर्कों की दाद देते।

माघ महीने के आस-पास तिरुमिशी दिव्य देश का वार्षिक महोत्सव आया। स्वामी हरिप्रपन्न का कैकर्य (सेवा) अब बहुत आगे बढ चुका था। उत्सव के तीन-चार दिनो के लिए उनका मठ एक बडी अतिथिशाला का रूप धारण करता। सभी घर, कोठरियाँ, मद्रास और दूसरी जगहो के यात्रियो से भर जाती, यात्रियो मे अधिकाश अब्राह्मण होते। यह दोनो के लिए अच्छा था, उत्तरभारत के भुक्तभोगी होने से हरिप्रपन्न स्वामी सभी अब्राह्मणो को खान-पान मे बिलकुल अछूत जैसा नही मान सकते थे और उधर अब्राह्मण चेट्टी, नायडू, मुदलियार आदि ही तो धनिक तथा धर्मविश्वासी होते है, इसलिए धन की आय के रास्ते भी वही हैं। जो गृहस्थ उत्सव के दिनो मे एक बार हरिप्रपन्न स्वामी के मठ के 'भुज्यता' 'पीयता' को देख गया, वह भला हरिप्रपन्न स्वामी को क्या कभी खाली हाथ लौटा सकता था ?

उत्सव से एक-दो सप्ताह पहिले हरिप्रपन्न स्वामी मद्रास डट जाते। अब के अपने सेवको का दिग्दर्शन के लिए वह मुझे ले गये। बडी सख्त मेहनत थी। धूप में मद्रास के दूर-दूर के मुहल्लो मे दौडते फिरना भारी मेहनत की बात थी। हरिप्रपन्न स्वामी रिक्शा या बग्घी पर एक भी पैसा खर्च करना पसन्द न करते थे। सुबह से शाम तक घूमते-घूमते मैं तो थक जाता। कही से दो बोरा नीलौरी चावल मिलता, कही से एक टीन घी कोई कुछ हजार पत्तले देता, और कोई इमली और मिर्च। तेलगू भाषाभाषिणी चेटियाइनो का इस विषय मे अनुराग मारवाडी सेठानियो की तरह था। मुझे चिढ यही थी कि हरिप्रपन्न स्वामी उनके सामने अपने भाषण को छोटा क्यो नही करते। खाने के इतने पदार्थ जमा करते भी भूख-प्यास के मारे हम मरे जाते थे, क्योकि अब्राह्मण घर का अन्न-जल तो छू भी नही सकते थे। हरिप्रपन्न स्वामी के दायको मे एक वेश्या भी थी। वह हर साल बडी श्रद्धा से, अपनी शक्ति से अधिक मिर्च-मसाला या कोई और चीज देती थी। वह तिरुमिशी के भगवान् की देवदासी थी; उत्सवो पर वहाँ पहुँचती, किन्तु बाकी समय व्यवसाय के सुभीते के लिए मद्रास मे रहती। वेश्यावृत्ति एक व्यवसाय था, इसीलिए उसकी धार्मिक भावना क्षीण नही हुई थी।

उत्सव के वक्त आनेवालो मे कितने ही उत्तरभारतीय तीर्थवासी आचारी तथा आचारिने भी थी, और एक मद्रास का गृहस्थ परिवार भी। हरिप्रपन्न स्वामी के एक शिष्य उस घर मे आते-जाते थे। सैकड़ो वर्षो से उत्तरभारतीय पुरुषो ने इधर की स्त्रियों से शादी करके अपने अलग परिवार बना लिये हैं, जो हिन्दुओं के पारम्परिक धर्म के अनुसार एक स्वतन्त्र जाति मे परिणत हो गये हैं। ये परिवार बराबर कोशिश मे रहते हैं कि उनकी सन्तानो की शादी हिन्दी-भाषाभाषियो में ही हो। हमारे आचारी भी इसी फेर में पड़कर उस घर मे शादी कर बैठे और अब घर-जमाई बने हुए थे। स्त्री के सामने रूप और आयु दोनो मे वे जँचते नहीं थे, किन्तु कुल का खयाल कर माँ-बाप ने लड़की दे दी थी। घुमक्कड़ तरुण साधुओं के रास्ते मे एक नही सैकड़ों बाधाएँ हैं। जब कभी मैं अपने अतीत जीवन पर नजर डालता हूँ, तो एक बात साफ मालूम होती है–मेरी जीवन की

सफलताएँ निर्भर थीं मेरे विवाह-बन्धन-मुक्त, स्त्री-स्नेह से स्वतन्त्र रहने पर। मैंने यही एक नहीं, पचीसों उदाहरण देखे, जिसमें स्त्री-स्नेह ने तरुणों की उमंगों पर पानी फेर दिया। तिरुपती में कानपुर की एक प्रौढ़ा सेठानी आई थीं, वह एक साधु को अपना 'पुजारी' बनाकर ले गई। हमारे एक साथी ने प्रेमिका के पाने में आल्हा-ऊदल-सा पराक्रम दिखलाया, किन्तु अन्त में उसकी उन्नति वहीं खतम हो गई। लंका में एक जम्मू-वासी को देखा, एक काली तमिल स्त्री के लिए उसने अपने पर कटा लिये। जब तक उड़ान की चाह है, जब तक अपने आदर्श के सहायक साधनों को आदमी जमा नहीं कर सका है, तब तक उसका दोपाया रहना सबसे जरूरी चीज है, इस तत्त्व को मैं कुछ समझ गया था जरूर; किन्तु सिर्फ इतने के बल पर मैं दोपाया रहने में सफल न होता। आखिर, मैं स्वस्थ तरुण था, देखने-सुनने में कुरूप नहीं था, बल्कि लोगों के कथनानुसार सुन्दर था। मेरे पढ़ने लिखने, सैर-तजर्बे का प्रभाव भी आदमी पर पड़ जाता था। धन का उपयोग तत्कालीन आवश्यकताओं तक ही मैं परिमित समझता था, इसलिए धनिक होने के फन्दे में बचना कुछ आसान था, किन्तु सबसे ज्यादा जिस बात ने मुझे मुक्त रहने में मदद दी, वह थी लज्जा और संकोच। यदि लोगों की दृष्टि में गिरने का मुझे डर न होता, यदि स्त्रियों के सामने बोलने चालने में—विशेषकर प्रेमालाप की दिशा में ले जानेवाले वार्तालाप में—संकोच न होता, तो सिर्फ आदर्श के लिए द्विपाद रहने की अनिवार्यता, या सिर्फ ज्ञान से मैं बच न सकता; क्योंकि काम-वेग खास-खास अवस्था में ज्ञान-विवेक को तिनके के तौर पर बहा ले जाता है। जीवन की दो-चार घटनाएँ हैं, जिनमें मैं इसलिए बच गया कि काम की सांकेतिक भाषा के प्रयोग से अपरिचित और समझने में मैं सन्देहयुक्त था। इस जीवनी में जीवन के इस अंश पर भी मैं और लिखता, क्योंकि व्यक्ति-पूजा को तोड़ने के लिए मेरा दिल बाज वक्त वैसे ही चुलबुला उठता है, जैसे हाथ में पत्थर लिये छोटे लड़कों को मिट्टी के बरतनों को देखकर खन-खन चर-चर करके टूटते बरतन अच्छे मालूम होते हैं। समाज के ढोंग मुझे क्रोधान्ध बना देते हैं। मेरा विश्वास है—या तो ये ढोंग ही रहेंगे या समाज का अस्तित्व ही। इसलिए समाज के ढोंगों के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व को भी चूर-चूर करने में मुझे प्रसन्नता होती। इसके लिए आज के कितने ही लोग मेरे साथ अन्याय भी करते, किन्तु भविष्य के कद्रदानों की संख्या के सामने वह नगण्य-से होते। तो भी इस विषय में कलम रोकने में मुझे अपने मित्रों और स्नेहियों के आग्रह को भी पालन करना पड़ता है। संक्षेप में पिछले 30 साल के स्वच्छन्द जीवन में मुझे सिर्फ एक स्त्री के साथ घनिष्ठता पैदा करने का मौका आया, कुछ घटनाएँ रेत के पद-चिह्न के तौर पर उस वक्त भी घटित हुई थी, और उनको यदि उन सिद्धों और महात्माओं के जीवन-घटनाओं से मुकाबिला किया जावे, जिनके भीतरी जीवन को जानने का मुझे मौका मिला था, तो वह नगण्य साबित होगी। मद्रास, पंजाब, बुंदेलखंड के चिरनिवासियों में ऐसे खतरे आये थे, किन्तु आदर्श प्रेम के साथ लज्जा और संकोच ने मुझे उनसे बचाया।

तिरुमिशी में सारा समय पढ़ने में लगता था। टी. वेंकटाचार्य, उनके पिता टी. श्री निवासाचार्य तथा 'रहस्य'-अध्यापक बिना संकोच के अपना समय देने में बड़ी उदारता दिखलाते थे। भाई साहेब, रामगोपाल और बलदेवजी के पत्र समय-समय पर आते रहते थे। 'प्रताप' (कानपुर) और एकाध दूसरे उत्तरभारतीय अखबार भी मैं मँगाया करता था। पुस्तक के अतिरिक्त देश-विदेश की बातों, भारत की राजनीतिक प्रगति के साथ-साथ साम्यवाद द्वारा संसार की उलट-फेर के संबंध में मेरी बातें अक्सर हुआ करती थीं। सुनते-सुनते जमींदारों और महन्तों की सम्पत्ति निकल जाने का तो स्वामी हरिप्रपन्न को इतना विश्वास हो गया था कि वह कलियुग की भाँति इसे भी अवश्यंभावी समझ आँख मूँदकर सन्तोष कर लेना चाहते थे। आर्यसमाज के बारे में 'अन्यपुरुष' के तौर पर उनसे बातें करता, क्योंकि आर्यसमाज को वह नास्तिकवाद कह बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते, और मेरे आर्यसमाजीपन को सुनकर उनके दिल पर भारी धक्का लगता। वेंकटाचार्य तथा दूसरे जवान एनी बेसेंट के होमरूल तथा हाल की राजनीतिक प्रगति का धुँधला-सा ज्ञान रखते थे, जिससे उन्हें मालूम था कि समाज में कोई क्रान्ति होना चाहती है, और आर्यसमाज के उदार विचारों को उसी का एक अंग समझकर वे विशेष क्षुब्ध नहीं होते थे।

मीमांसा, वेदान्त और रहस्यग्रंथ अब समाप्ति पर आ रहे थे। स्वामी हरिप्रपन्नजी को भी मैं बतला रहा

था कि इस मठ का संचालन मेरे वश की बात नही है। उन्हें मैं यह भी समझाने में सफल हुआ कि मैं यह बात परसा की महन्ती के लालच से नही कर रहा हूँ। मेरे राजनीतिक उग्र विचारों का उन्हे पता लग गया था, इसलिए वह समझने लगे थे–यह जेलखानो और कालापानी मे ठूसा जानेवाला आदमी है। इस तरह शनैः-शनैः जब विदाई की बात उनके सामने रखी गई तो उन्हे इतना दुःख न हुआ। 'भक्ति' के साथ मेरा 'नर्मसचिव' का सम्बन्ध था। 1913 ही मे हम मित्र बन गये थे, जब कि हमने एक साथ न जाने कितने काव्य, नाटक और चम्पू समाप्त किये। 'मालती माधव' मे वातायनस्था मालती द्वारा रथ्या मे घूमते माधव के अवलोकन को हम बडे राग से पढा करते, सात वर्ष बाद अब हम 19-20 के वे नवतरुण नही रह गये थे, तो भी हमारा स्नेह प्ररूढ हो चुका था। सबसे ज्यादा अफसोस मुझे 'भक्ति' (टी. वेकटाचार्य) से विदाई लेते वक्त हुआ।

12

कुर्ग में चार मास (1921 ई.)

तिरुमिशी छोडने से पहिले ही पडित ऋषिराम कुर्ग मे जाने के लिए मुझे तैयार कर चुके थे। कर्वी मे एक बार 'मिस्टर' सोमयाजुलू का पत्र मुझे मलबार से मिला था। उसमे उन्होंने केरल के नारियल सोपारी की सुन्दर वृक्ष-पक्तियो मे छायाकृत तथा पुष्करिणियो और जलाशयो से आच्छादित केरल भूमि का सुन्दर वर्णन किया था। सोमयाजुलू वैदिक मिशनरी बनकर कुछ दिनो कुर्ग मे रह चुके थे, और अब वहा के नौजवान किसी उपदेशक को भेजने का लगातार आग्रह कर रहे थे। मित्र की तैयार की गई भूमि पर जाने का भी एक आकर्षण था, और दूसरा आकर्षण था नये देश के देखने का। ऋषिरामजी ने मडिकेरि (मर्कारा, कुर्ग) पत्र लिख दिया, और एक दिन मैं मद्रास से रवाना हो गया।

बगलौर मे स्नातक सत्यव्रत और उनके साथी एक दूसरे स्नातक गुरुकुल पार्टी की ओर से आर्यसमाज का प्रचार कर रहे थे, कालेज-पार्टी ने जब मद्रास मे ऋषिरामजी को भेजा, तो गुरुकुल पार्टी क्यो पीछे रहती ? वे लोग बगलोर शहर मे एक किराये के मकान मे रहते थे। सत्यव्रतजी के सहकारी विदेश जाने के लिए अत्यन्त लालायित थे। उनसे मैसूर के कुछ आर्यसमाजियो का पता लगा। खिलाफत के दखान्त के बाद गाँधी भारत के सर्वमान्य नेता बन चुके थे। नागपुर-काग्रेस ने, असहयोग का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया था। मैसूर मे आर्यसमाज ने धर्मप्रचार के साथ हिन्दी प्रचार को भी अपने हाथ मे लिया था। स्वामी पूर्णानन्द (यदि मेरी स्मृति गलती नही करती तो यही उनका नाम था) और युक्तप्रान्तीय एक काव्यतीर्थ पडित वहाँ आर्यसमाज की ओर से काम करते थे। स्वामीजी तो सिर्फ हिन्दी-भर जानते थे, किन्तु उनके साथी सस्कृतज्ञ थे। मैसूर की भाषा कन्नड (कर्नाटकी) है जिसमे पचास साठ सैकडे सस्कृत के शब्द हैं, इसलिए वहाँ के लोगो को सस्कृत-मिश्रित हिन्दी पढने मे बहुत सुभीता था। कालेजो, स्कूलो के कितने ही विद्यार्थी हिन्दी सीखते तथा हिन्दी प्रचार कर रहे थे, वह इसे राजनीतिक आन्दोलन का एक अग समझते थे। मैसूर-शहर मे हिन्दी भाषा भाषी बहुत से हिन्दू-परिवार थे, जो या तो उत्तरभारत से आये थे, या मिश्रित ब्याह से पैदा हुए थे। युक्तप्रान्त के एक अच्छे व्यापारी थे, जिन्होंने यहीं की दो बहिनो से शादी कर ली थी। उनकी जेठी औरत नागपुर जाकर गाँधीजी का दर्शन कर आई थी, और राजनीतिक कार्यों के लिए उनमे बड़ा उत्साह था।

मैसूर टाउनहाल मे तीन-चार दिन के लिए एक व्याख्यानमाला रखी गई, जिसमे भिन्न-भिन्न आर्यसामाजिक विचारो पर मुझे हिन्दी मे और काव्यतीर्थजी को सस्कृत मे बोलना था। पहिला व्याख्यान तो समाप्त हुआ, किन्तु दूसरे के वक्त मेरे साथी बीमार हो गये, इसलिए मुझे ही सस्कृत मे बोलना पडा। सभापति एक सस्कृतज्ञ इजीनियर थे। उन्हे मेरे सस्कृत भाषण की स्वाभाविकता और शब्दकोष ज्यादा पसन्द आये, और कहा–कल भी आपने ही क्यों नहीं सस्कृत मे भाषण दिया ? वैसे भी संस्कृत भाषण-लेखन में मेरी कुछ अच्छी प्रगति

थी, किन्तु एक वर्ष की भाषण-प्रतिज्ञा, तथा दो बार के दीर्घ मद्रास-प्रवासो के अनवरत सस्कृत भाषण ने बहुत सुभीता पैदा कर दिया था। मैसूर की राजकीय पाठशाला के पडितों से भी विचार विनिमय करता रहा, किन्तु उनके लिए आर्यसमाज के पास कोई आकर्षक साहित्य-दार्शनिक या शुद्ध साहित्यिक-मौजूद न था। उसकी समाज-सुधार की बातो को वह अतिलौकिक, स्थूल, शिष्टाचार बहिष्कृत कहकर टाल देते, और उसके द्वैतवादी वदान्त को माध्वो और रामानुजीयों की कच्ची नकल बतलाते।

मैसूर से मडिकेरि के लिए मोटर-लारी मिली। पहिले तो दक्षिण-भारतीय साधारण पाण्डु भूमि रही, किन्तु जब पहाड की चढाई शुरू हुई तो दृश्य मेरे मन को अपनी ओर आकर्षित करने लगा। कही छायादार रौप्यवृक्षों (सिल्वर ट्री) के नीचे बेले जैसी चाय की झाड़ियाँ दूर तक चली गई थी। कही दीर्घकाय वृक्षों पर काली मिर्च की हरी लताएँ चढी हुई थी। कही-कही स्वाभाविक आरण्य गिरिवक्ष को घेर हुए थ। पानी के झरने जगह-जगह थे। ऊँचाई के साथ-साथ हवा शीतल होती जा रही थी। अब तक जितने पहाड पार किय थे, सभी को पैदल चलकर किया था। लडाई के बाद मोटरलारिया चलने लगी थी, और तिरुमिशी से मद्रास जाते वक्त पुन्नमली स स्टेशन तक कितनी ही बार मोटरबस म मैं गया था, किन्तु अब यह पहिला मौका था जब कि मुझे पर्वत यात्रा में बस की सवारी मिली थी।

शाम के वक्त हमारी बस मडिकेरि पहुँची। पुरय्या, उनप्पा, मन्डन्ना की लॉज का पता लगाने मे दिक्कत न हुई।

लॉज (वासा) एक बंगला म थी, जिस चार पॉच तरुणो ने किराये पर ले रखा था। बॅगले की चारों ओर कॉफी और चाय का बाग था। यहाँ खुली हवा म ही नही बल्कि खुले समाज मे भी साम लेने ताजगी, एक अजाब तरह की प्रसन्नता मालूम होती थी। लॉजवाले सभी कुर्ग तरुण थे, उनमें छुआछूत का नाम नही था। आर्यसमाजी उपदेशक होने से मेरा निरामिषाहारी होना जरूरी था लॉज के तरुणों मे भी अधिकाश निरामिषाहारी थ और रसोई खाने मे तो मास-मछली पकती नही थी। प्याज-लहसुन के लिए कोई रुकावट न थी। खाना मेज पर हिन्दुस्तानी-अग्रेजी मिले-जुले ढग स खाया जाता। मडिकेरि मे बरफ नही पडती, किन्तु वह दक्षिण के दार्जिलिंग और नैनीताल जैसे सुन्दर पार्वत्य शीत निवासो में से है। ऐसे स्थानों पर चाय-कॉफी पीने में आनन्द आता है। यहाँ आकर मैंने पहिले-पहिल कॉफी देखी। कॉफी का पौधा बढकर ऊँचा हो जाने पर फल तोडने म दिक्कत तथा फलो की सख्या और आकार की कमी होती है, इसलिए हाथ-[illegible] हाथ पर उसे छाँटकर झाडी की शक्ल मे रखा जाता है। उसके बेले जैसे सफेद फूल और डाली मे लाल बेर जैसे गोल-गोल फलो की लम्बी लडी देखने में बहुत सुन्दर मालूम होती है। हमारे पीने के लिए अक्सर कॉफी के फल अधजले करके भूने, फिर पीसकर चूर्ण बनाये जाते थे।

लॉज (वासा) के साथियों मे पी एम उत्तप्पा ग्रेजुएट थे, बाकी सभी प्राय मैट्रिक पास थे, और सरकारी कचहरी मे क्लर्क का काम करते थे। उनके चेहरो के देखने ही से मालूम होता था कि मद्रासियों से भिन्न हम एक दूसरी जाति के देश मे आ गये हैं। जहाँ पहाड से नीचे तथा यहाँ के प्रवासियो मे अस्सी-अस्सी, नब्बे-नब्बे फीसदी स्त्री-पुरुष काले और नाटे होते थे, वहा ये सभी गहुँआ रंग के अपेक्षाकृत लम्बे पुरुष थे। पोशाक अग्रेजी भी पहनते थे, किन्तु आफिस जाते वक्त या विशेष समय पर वे उसके ऊपर अपना जातीय चोगा, कमरबन्द और उसमे बँधी पेशकब्ज लगाते थे। वे हिन्दुत्व के लिए चोटी की अनिवार्यता को कबूल नही करते थे। उनकी स्त्रियो को पहिले-पहिल जब मैंने गढवाली स्त्रियों की भाँति दाहिने कन्धे पर सूई के सहारे नत्थी करके चादर को पहनते देखा, तो मुझे मालूम हुआ, हिमालय का एक टुकडा सिर्फ अपने वनपर्वतो के साथ ही उठकर नही चला आया है, बल्कि वहाँ के समाज के आधे अग को भी लेता आया है। आसपास से भिन्नता रखते हुए भी कुर्गी भाषा द्रविड-वश से सम्बन्ध रखती है तो भी कुर्ग लोग अपने को उत्तर भारत से आया बतलाते हैं। उनका रग, डील-डौल, स्त्रियो का साडी पहिनने का ढग, शिर मे बँधी रूमाल, घर के इस्तेमाल के बरतन तथा मकानों की बनावट तो जरूर उन्हें हिमालय-विशेषकर गढवाल या कुल्लू-से सम्बद्ध करते हैं। मडिकेरि हाई स्कूल के हाते में छात्रों को ड्रिल की तरह बाजे पर नाचते देख मैंने उस वक्त तो उतना

पसन्द नही किया, किन्तु कुछ ही वर्षों बाद मुझे वह भारतीय स्कूलो के लिए एक अनुकरणीय चीज जँचने लगी।

सोमयाजुलू ने यहाँ के कुछ नौजवानो मे आर्यसमाज के विचारो का प्रचार किया था। इनके अतिरिक्त शहर के एक वकील कोई पिल्ले पहिले से ही कुछ आर्यसमाजी विचार रखते थे, यद्यपि अब ये विचार कुछ बूढे होते जा रहे थे। पिल्ले महाशय के हाते मे ही सडक पर एक कमरा हमने सस्कृत-क्लास और आर्यसमाज के व्याख्यान के लिए ले रखा था। उस वक्त तिलक स्वराज्य फड के चन्दो तथा असहयोग की तैयारी की मुल्क मे इतनी धूम थी कि मुझे व्याख्यानो की जरूरत नही महसूस हुई। हाँ, सस्कृत क्लास और सत्सग नियमपूर्वक लगता है। मडन्ना आदि 4, 5, तरुण पढने आते। आर्यसामाजिक विचारो पर चर्चा यहाँ और लॉज मे भी बराबर रहती। मडिकेरि मे रामकृष्ण-मिशन की एक शाखा थी। मद्रास मे रामकृष्ण-मिशन ने एक अच्छा छात्रागार ही नही खोल रखा था: बल्कि वहाँ से 'बेदान्तकेसरी' नामक एक अग्रेजी मासिक पत्र भी निकलता था। इस तरह जिन तरुणो को स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ की 'अमेरिका विजय' और वेदान्त की बारीकी का कुछ पता लग गया हो, उन्हे आर्यसमाज मे लाना मुश्किल था। यही मैने स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द के सारे ग्रथो को पढा। मुझे रामतीर्थ ठीक वेदान्ती किन्तु पागल मालूम पडे, और विवेकानन्द गलत वेदान्ती किन्तु चालाक। लॉज के एक सदस्य श्री पुवैय्या रामकृष्ण-विवेकानन्द के बडे भक्त थे, और उनसे अक्सर गर्मागर्म बहस हो जाती, तो भी वह हमारे स्नेह-सम्बन्ध पर बुरा असर नही डाल सकती थी। यही मैंने शकर के वेदान्त को व्यास और उपनिषद् के मत से विरुद्ध साबित करने के लिए 'वैदिक मैगजीन' मे दो लेख लिखे।

मडिकेरि मे एक अच्छा बाजार है। कुर्ग लोगो मे शिक्षा बहुत है, लडको ही मे नही लडकियो मे भी। रोमन कैथलिक साधुनियो ने उनके लिए कान्वेट कायम किये हैं, अपने भीतर छुआछूत का खयाल न होने के कारण कुर्ग लडकियाँ वहाँ बहुत पढने जाती थी, यद्यपि उनमे से किसी के ईसाई होने की बात मैंने नही सुनी। पास में कालेज न रहने से भी लडकियो को ग्रेजुएट होने का कम मौका था। उस वक्त एक ही कुर्ग तरुणी ग्रेजुएट थी कुमारी पुवय्या, जो कि कन्या-महाविद्यालय जलन्धर मे पढाती थी, उनके बारे मे मेरे मित्र सन्तरामजी ने लिखा था।

इतनी शिक्षा होने पर भी कुर्ग लोगो का ध्यान सिर्फ क्लर्की की ओर था। वे सरकारी दफ्तरो या चाय के प्लाटरो के यहाँ लिखने-पढने का काम करते थे। व्यापार सारा कुर्ग से बाहर के लोगो—कोकणी मुसल्मानो कर्नाटक जगमो तथा दूसरो के हाथ मे था। वहाँ के एक अच्छे दूकानदार एक कोकणी मुसलमान से मेरी घनिष्ठता बहुत बढ गई थी। उन्होंने मुझसे हिन्दी पढनी सीखी थी, और उनकी दूकान तो मेरे राजनीतिक क्लास का एक मजबूत अड्डा बन गई थी। अब तक के अर्जित अपने प्रगतिशील ज्ञान का मैं वहाँ खुलकर प्रचार करता था। जबानी जमाखर्च से बढकर जब वे मुझे अपने साथ रोटी-तरकारी एक दस्तरख्वान पर खाते देखते तो उनका मेरे प्रति खास भाव पैदा होना जरूरी था। चलते वक्त जीवन मे पहिला अभिनन्दनपत्र इन्ही मुसलमान दोस्तो ने मुझे दिया था।

मडिकेरि मे आते ही मैंने कन्नड सीखनी शुरू की। तेलुगु अक्षरों से परिचित होने से अक्षर-परिचय आसान था। भाषा में मैंने देख लिया था कि सस्कृत के शब्द अधिक हैं, इसलिए यहाँ पहुँचने के दूसरे या तीसरे ही दिन मैं अपने कुर्ग-अध्यापक के साथ होड लगा बैठा—'लैंड होल्डर' एसोसियेशन (जमीदार सभा) की कान्फ्रेस के कन्नड़ भाषणों का मैं आपको साराश सुना दूँगा। कान्फ्रेस बीस-बाईस दिन बाद हुई और मैंने वैसा करके दिखाया, वस्तुतः इसका अधिक श्रेय मेरे भाषाध्ययनपाटव को नहीं, बल्कि कन्नड़ के 'मणिप्रवालत्व' को है। कान्फ्रेस में कितने ही कुर्ग और कन्नड़ नेताओ के भाषण हुए, भाषण देनेवालों में एक अंग्रेज प्लान्टर मिस्टर ग्रीनूप्राइस भी थे। कान्फ्रेस ने कुर्ग के लिए एक निर्वाचित कौंसिल की स्थापना का 'गर्म प्रस्ताव'—उस वक्त के कुर्गियों के लिए यह दरअसल गर्म प्रस्ताव था—पास किया। गाँधीजी की भी दुहाई दी गई—और यह पहिला समय था, जब मुझे उसके सुनने का मौका मिला। 6 अप्रेल 1919 में ब्रेड-ला हाल की सभाओं में उनके नाम के साथ वह प्रभामडल न था, क्योंकि उस वक्त भारत के बूढ़े चाणक्य बाल गंगाधर तिलक जीवित थे।

वैसे तो सारा कुर्ग पार्वत्य दृश्यों से भरा है, किन्तु दोदाबेटा तथा कावेरी-स्रोत दर्शनीय स्थान हैं।

कावेरी दक्षिण की गंगा है। गंगोत्री यमुनोत्री की भाँति इसके स्रोत को भी पवित्र माना जा सकता है। यद्यपि कावेरी-स्रोत कुर्ग का सबसे ऊँचा पहाड नहीं है, तो भी वह ऊँचे पर्वतों में है। लेकिन, हिमालय की नदियों के स्रोतों की बहार यहाँ कहाँ ? हिमालय की सनातन श्वेत हिमानियाँ शुरू ही में उन्हें पिघली रौप्यधार प्रदान करती हैं, और यहाँ नदियो के उद्गम है, जहाँ-तहाँ के झरने और कुंड। हरे-हरे जंगलों और विशाल वृक्षों से आच्छादित होने पर भी सदा हरित वृक्षराज देवदार के अभाव में ये पहाड नगाधिराज हिमालय का मुकाबिला नहीं कर सकते। कावेरी-स्रोत पर्वत के पास छोटी इलायची के 'जंगल' मिले। इलायची के पौधे कचूर या हल्दी की तरह के होते हैं। पौधे से निकली पतली जड या प्ररोह (वरोह) मे इलायचियाँ गुँथी-सी रहती हैं। कुर्ग में एक वक्त कॉफ़ी बहुत होती थी, किन्तु किसी बीमारी ने जब उसके बगीचों को नष्ट कर दिया, तो उन्हें चाय के बगीचों में परिणत कर दिया गया। प्रायः सारे चाय के बगीचे अंग्रजों के हाथ में हैं। चन्दन यहां राजवृक्ष है। आमतौर से चन्दन जंगल मे होते हैं, किन्तु यदि किसी के खेत में भी कोई दरख्त उग आये तो मालिक न उसे काट सकता है, न पीछे उसकी लकड़ी पा सकता है। इलायची के बगीचों पर भी कुर्ग लोगों का कम ही अधिकार है। जंगल-विभाग सरकार के हाथ मे है ही इस प्रकार कुर्गवासियों का इस सारी प्राकृतिक सम्पत्ति से वास्ता नही, उन्हे तो गुजारे के लिए वही पहाडी खेती मिली है।

दोदाबेटा कुर्ग का और शायद सारे मद्रास प्रान्त का सबसे ऊँचा पर्वत-शिखर है। एक तरुण के साथ मै उसे देखने गया। ऊँचाई पर लाल फूलों की वही कँटीली झाड़ियाँ मिलीं जो हिमालय में तीन-चार हजार फीट के ऊपर मिलती हैं। जाते हुए एक दिन साथी के घर मे ठहरा। यहाँ खेती चावल की ही होती है, तो भी कुर्ग लोगों को रोटी से बहुत प्रेम है, हमें चाय के साथ चावल की रोटी जरूर मिलती थी। दोदाबेटा सात हजार फ़ीट से अधिक ऊँचा है। ऊपरी जगलो मे, बडी जोंके रहती हैं। आदमी के पैर की आहट पाते ही ये हजारों अन्धे प्राणी अपने सुई जैसे पतले मुह को उस दिशा मे हिलाने लगते हैं। हमने इसके लिए बहुत से नीबू ले लिये थे, और बीच-बीच में उसके रस से पैरो को चुपड़ लेते थे। खैरियत यह थी कि उस दिन वर्षा नहीं हुई, नहीं तो जोंके कई गुना बढ़ जाती, और नीबू का रस भी धुलता जाता। दोदाबेटा कोई विचित्र शिखर नही है, यह समरस पर्वत पर एक मामूली चट्टान-सी है। हमने उस पर चढ़कर दूसरी तरफ़ की निम्न विस्तृत वनस्थली को देखा।

कुर्ग-प्रान्त, वहाँ के लोग, पर्वत और वन की ठीक समानता पीछे मुझे लका के कांडी प्रान्त से मिली,—जहाँ काडीवाले सिंहल हिन्दी-आर्य भाषा बोलते हैं, वहाँ ये एक द्राविडी भाषा को।

कुर्ग को अंग्रेजों के हाथ मे आये सौ ही वर्ष के करीब हुए हैं। अपने राजवंश की भ्रातृ-हत्याओं तथा कुप्रबन्ध से तंग आकर यहाँ के लोगों ने स्वय अपने शासन को कम्पनी के हाथों में सौंपा था। इसके पारितोषिक-स्वरूप कुर्गवालो से हथियार छीने नहीं गये, और लका की तरह वहाँ भी बन्दूक रखने में रोक-टोक नही है। राजा का प्रासाद मडिकेरि मे है, किन्तु उसका एक उद्यानप्रासाद मडिकेरि से कुछ हटकर भी है। दोनों प्रासादों के अब सिर्फ़ मन्दिर आबाद हैं, बाकी को सरकार ने मरम्मत करके देखने के लिए रख छोड़ा है। कुर्ग लोग जहाँ हिन्दू होते हुए भी उदार विचार के हैं, वहाँ पुराना राजवश लिंगायत (वीरशैव) था, जो अपनी कट्टरता के लिए विख्यात है। सम्भव है, कुर्ग के लोगो ने लिंगायतो को अन्य जातीय समझकर भी शासन-परिवर्तन स्वीकार किया हो।

कुर्ग (कोड़गु) लोगों में दो शाखाएँ हैं—'अमा' कोडगु और साधारण कोडगु। अपने दूसरे भाइयों के विरुद्ध अमा कोड़गु लोगों में विधवा ब्याह नहीं होता, वह सुअर नहीं पालते, और परिणामतः उन्हें ऊँचा माना जाता है। उस वक्त मानव तत्त्व मेरे अध्ययन का विषय नही हुआ था, किन्तु मैं समझता हूं, कोड़गु लोगों के आचार-व्यवहार आसपास के लोगों से प्रभावित होते हुए भी बहुत-सी अपनी पुरानी विशेषताओं को रखे हुए हैं।

मेरे देखते-देखते असहयोग-आन्दोलन का असर धीरे-धीरे कुर्ग पर पड़ना शुरू हुआ। सभाएँ होने लगीं,

जिनमें कोड़गु लोग भी सम्मिलित होने लगे। मेरे ही सामने उन्होंने 'कोड़गु' नाम से एक साप्ताहिक पत्र कन्नड (?) भाषा में निकाला।

बलदेवजी का पत्र बराबर आता रहता था। अब के उनका और मोहनलालजी का पत्र आया कि अब हम असहयोग करने जा रहे हैं। मैंने जल्दी-जल्दी दो पत्र लिखे, और कहा—आप लोगों की बी. ए. की परीक्षा के दो-तीन महीने रहते हैं, परीक्षा खतम करके असहयोग कीजिए। किन्तु, वहाँ कौन माननेवाला था, गाँधीजी ने जो 'साल-भर में स्वराज' देने का ठीका ले लिया था। स्कूलों-कालेजो को शैतानी शिक्षणालय समझ उनसे असहयोग, तथा साल-भर में स्वराज—इन दो बातो का शुरू से ही मैं विरोधी रहा, यद्यपि दूसरे तौर से राजनीतिक जागृति और संघर्ष का मैं जबर्दस्त पक्षपाती था। कुर्ग में अपने साथियों से मेरे वार्तालाप का काफ़ी समय राजनीतिक चर्चा में बीतता था।

धर्म प्रचार की भावना के साथ-साथ अब मेरी अन्तर्निहित राजनीतिक भावनाएँ बाहरी वायुमडल की अनुकूलता पा उभड़ने लगीं। यद्यपि कुर्ग में गाँधी की आँधी उतनी जबर्दस्त नहीं आई थी, तो भी वह उससे अछूता न था, और फिर मैं तो दैनिक 'हिन्दू' और दूसरे अखबारो का नियमपूर्वक रोज पारायण करता रहता था। तो भी कुर्ग को तुरन्त छोड़कर चल देना मैं उचित नहीं समझता था, क्योकि पंडित ऋषिरामजी को मैंने इसके लिए वचन दिया था। इसी वक्त यागेश की चिट्ठी आई, जिसमें पिताजी के मरने की खबर थी। मै कुछ स्तब्ध-सा हो गया, किन्तु मेरी आँखों मे आँसू का पता न था। लॉज के साथी वहाँ बैठे थे। जब मैंने साधारण तौर से पिता की मृत्यु की बात उनसे कही, तो दूसरे तो नही किन्तु मिस्टर पुवैया ने फटकारा—"कैसा हृदय है, बाप की मृत्यु के लिए तो आँसू भी नही हैं।"—वे मुझे पंडितजी कहते थे, मैं वहाँ साधु सन्यासी के वेष मे न था, नहीं तो शायद ऐसा न कहते।

पिताजी की मृत्यु सुन छुट्टी लेने का बहाना मिला, और मैंने राजनीतिक जीवन मे प्रवेश करने का निश्चय कर लिया।

राजनीति-प्रवेश : 1921-27 ई.

छपरा के लिए प्रस्थान (जून 1921 ई.)

इस वक्त तक असहयोग-आन्दोलन कार्यरूप में परिणत हो चुका था। हजारों हजार विद्यार्थी कालेज-स्कूल छोड़ चुके थे। कितने ही वकील, बैरिस्टर अपनी प्रैक्टिस बन्द कर चुके थे। गाँधीजी तिलक-स्वराजफंड के एक करोड़ रुपये जमा कर चुके थे। राजनीति में प्रवेश करना यह तो ते कर लिया, किन्तु कहाँ का प्रश्न हल करने मे दो चार दिन लगे। आजमगढ़ मे जा नहीं सकता था। बाकी स्थानों मे जालौन जिला और छपरा दो ही मेरे सामने थे, मैंने छपरा के पक्ष में फैसला किया।

मेरी किताबें मद्रास मे पंडित ऋषिरामजी के पास थीं, उन्हें बंगलोर भेजने के लिए लिख दिया और मडिकेरि के मित्रों से शोकपूर्ण हृदय के साथ विदाई ली। पुस्तकों को बंगलोर में कोंच श्री पन्नालालजी के पास भेज दिया और पत्र छपरा जिला-कांग्रेस-कमेटी के मंत्री के पास अपने आने तथा [illegible] सेवा करने के बारे मे लिख दिया।

असहयोग-आन्दोलन के फलस्वरूप शोलापुर में अभी हाल ही में गोली चली थी, इसलिए गोली चलने के स्थान को देखने के लिए मैं वहाँ उतरा। उस वक्त गाँधीजी महात्मा गाँधी तो बन गये थे, किन्तु अभी वह गाँधी टोपी तथा एक-बटन-खुले-गले के कुर्ते मे रहते थे। बम्बई में उनके इस वेष के फोटो बहुत प्रचलित थे। बम्बई में मैं दो-तीन दिन ठहरा। चौपाटी की कुछ सभाओं में सम्मिलित हुआ। एक सभा मे कोटगढ़ के स्टोक साहेब बोल रहे थे—हिमालय से कुमारी तक की सारी भारत भूमि को हिमशुभ्र खादी से ढाक देना चाहिए। लोगों ने गम्भीर करतल ध्वनि से वक्ता का स्वागत किया था।

खडुआ मे एक गोशाला मे ठहरा। लोगों ने बाजार-चौक में मेरा व्याख्यान रखा। यह था मेरा पहिला राजनीतिक व्याख्यान। क्या कहा यह मुझे याद नहीं, किन्तु कहने के लिए तब तक मेरे पास काफी सामग्री थी, इसमें सन्देह नहीं।

कोंच (जालौन) में श्री पन्नालालजी के यहाँ ठहरा। अब उनका परिवार महेशपुरा छोड़ यहाँ चला आया था, और स्त्रियों के झगड़े के मारे दोनों भाई दो घरों मे रहने थे। चार सालों के अन्तर की छाप तो चेहरे-चेहरे पर होनी ही चाहिए थी। यहाँ चौरस्ते पर एक राजनीतिक व्याख्यानमाला ही शुरू हो गई, जो तीन या चार रातों चलती रही। मैंने मडिकेरि मे खद्दर का कुर्ता सिलवाया था, यहाँ मैंने खद्दर का अँचला (साधुओं की धोती) प्राप्त किया।

बनारस में स्वामी वेदानन्दजी अभी मौजूद थे। उनसे मिलता सीधा छपरा पहुंचा।

सलेमपुर का वह पक्का मकान अब भी मौजूद है, जिसमें उस वक्त जिला कांग्रेस कमेटी का दफ्तर था। मैं अपने उसी अचल मे एक कमडलू लिये नगे शिर, नगे पैर दफ्तर मे पहुँचा, वहाँ भरतमिश्र ही मेरे परिचित थे। सब लोग दरी पर बैठे थे, मैं भी एक ओर बैठ गया। मेरा पत्र पहुँच गया था, किन्तु कुछ दोस्तो ने इसे एक गुमनाम साधु की गुस्ताखी समझा—वह पत्र द्वारा अपनी विशेषता को सूचित करना चाहता है। मुझे राजनीतिक कार्यों के बारे मे कुछ पूछ-ताछ करनी थी। जिले में तिलक-स्वराजफड के सग्रह का काम खतम हो चुका था। मालूम हुआ इस वक्त चर्खा-खद्दर और मादक-द्रव्य-निषेध पर जोर लगाया जा रहा है। अपने काम को गाव के छोटे से स्थान से शुरू करने के बारे मे मैंने तै कर लिया था, और इसके लिए परसा से बढकर दूसरी जगह मेरे लिए कौन होती ? पूछने पर मैंने परसा जाने का अपना निश्चय सुनाया। कुछ साथियो को सन्तोष हुआ कि साधु ने जिला केन्द्र मे काम करने की गुस्ताखी नही की। मेरी अनिच्छा पर भी एकमा थाना कांग्रेस कमेटी के मन्त्री बाबू प्रभुनाथ सिह को आफिस की ओर से एक परिचय पत्र लिख दिया गया। रात के वक्त मैं एकमा स्टेशन पर उतरा। उस वक्त आश्रम मे जाकर लोगो को उठाना अच्छा न समझ पत्र को तो मैंने आदमी के हाथ वहा भेज दिया, और खुद सीधे परसा मठ गया।

भादो की कृष्ण जन्माष्टमी नजदीक थी, इसलिए तब तक परसा से बाहर जाने का सवाल ही नही था। मठ मे ठहरना छोड कोई दिलचस्पी न थी। मालूम हुआ, वरदराज कुछ मास पहिले यहाँ थे, उस वक्त उन्होंने आन्दोलन मे कुछ काम किया था। परसा के कुछ नौजवान सेवासमिति मे शामिल हुए थे, और आखिर महीना मे उन्होंने लालटेन हाथ मे ले पहरा देने का भी काम किया था, किन्तु अब वह उत्साह मन्द हो चुका था। छः ही महीने पहिले गुजरी बाते युगबीती-सी मालूम होती थी। बारात के लौट जाने के बाद जैसा अवसाद मालूम होता है, वैसा ही उस वक्त मालूम हो रहा था, किन्तु अभी भी चेतना बिलकुल खतम नही हुई थी। स्वराज और गाँधी बाबा की चारो ओर धूम थी। परसा का एक तरुण बडे उत्साह के साथ कह रहा था—गाजा-शराब-बलिदान-लोग छोड नही रहे थे। मैंने एक दिन देवता आने का नाट्य किया, देवता ने मेरे शिर पर आकर घोषित किया—"हम सभी देवता गाँधी बाबा के साथ हैं, न हमें बलि चाहिए, न गाँजा, न शराब गाधी बाबा के हुक्म के खिलाफ जो इन चीजो को चढ़ावेगा, उसका हम नाश कर देंगे।" और इसका बहुत अच्छा असर हुआ।

जन्माष्टमी के दूसरे या तीसरे दिन परसा में बाबूलाल के नये बन गोले मे गाँववालो की सभा हुई। थाना के तरुण कार्यकर्ता भी आये, और रामउदार बाबा के (मेरे) सभापतित्व मे व्याख्यान हुआ। परसावालो का 'पुजारीजी' का व्याख्यान यह पहिले पहिल सुनने को मिला। महन्त के प्रमुख शिष्य होने के कारण परसा मे मेरी धाक थी। भाषण सुनकर थाना के तरुण कार्यकर्ताओ पर भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने एकमा में ही रहने का आग्रह किया। यह अभी नीचे से ही काम करने के ढग मे शामिल था, इसलिए मैंने इनकार नही किया। एकमा मे उस वक्त शराब गाँजे की दूकान पर धरना चल रहा था। कुछ निर्लज्ज ही लोग दूकान पर खरीदने जाते थे। ठीकेदार शराब को पीनेवालो के पास पहुँचाने की कोशिश करता था।

एकमा में स्कूल छोडकर आये तरुणो की एक अच्छी जमात के साथ मुझे काम करने का मौका मिला। प्रभुनाथ और लक्ष्मीनारायण मैट्रिक से असहयोग करके आये थे। गिरीश अपने स्कूल के तेज विद्यार्थी थे, और मैट्रिक पास कर उन्होंने स्कूल छोडा था। फुलनदेव ने कालेज के प्रथम वर्ष से पढाई छोडी थी। हरिहर, रामबहादुर, और वासुदेव भी हाई स्कूल से निकल आये थे। साठ-सत्तर हजार आबादी के थाने के लिए ऐसे आधे दर्जन से अधिक तरुण कार्यकर्ताओ का मिलना सौभाग्य की बात थी। पढाई छोड़कर आये विद्यार्थियों के अतिरिक्त पडित नरनारायण तिवारी (रसूलपुर), पडित ऋषिदेव ओझा (हूसेपुर), रामनरेशसिह (अतरसन) उस समय अपने सारे समय को राजनीतिक कार्य में लगाते थे। अभी साथियों से परिचय प्राप्त करने तथा दो-चार सभाओ मे—जिनमे अतरसन की सभा भी थी—बोलने ही का मौका मिला था कि एक गाँव की सभा में भरतजी आये। जिले के नेताओ में प्रोग्राम तोडने में वह भी काफी ख्याति पा चुके थे, इसलिए उनके आ जाने से कार्यकर्ताओ को सन्तोष हुआ। वे पकडकर मुझे छपरा ले गये। शराब की दूकानो पर धरना दिया जा रहा था, मैं भी एक

दूकान पर जा खड़ा हुआ, एक शराबी मेरे अनुनय-विनय की कोई परवाह न कर भीतर चला गया। उसके दूसरे दिन बाढ़ में वह घर गिर गया, लोगों ने अफवाह उड़ाई, साधु-महात्मा को धक्का देकर जाने का यही फल होता है।

भरतमिश्र ने सोनपुर में सभा का प्रोग्राम दिया था, अपने वह जाना नहीं चाहते थे, इसलिए काम का बहाना बना मुझे वहाँ भेजा, शायद इसीलिए वह मुझे पकड़ भी लाये थे।

शाम को थाने के एक गाँव··· मे मही के रेल के पुल के पास छोटी-सी सभा हुई। दूसरे दिन की सभा के लिए मैं स्वराज्य आश्रम में प्रतीक्षा कर रहा था—स्वराज्य आश्रम इसी जगह उस समय भी था, किन्तु उसका मुह सडक की ओर न था। सबेरे आठ या नौ बजे किसी ने आकर कहा—भारी बाढ़ आ गई है, छपरा तो डूबना चाहता है। ऐसे वक्त मे चुस्त सेवकों की कितनी आवश्यकता होती है, इसे मैं जानता था। साथियो से इजाजत ले मैं तुरन्त छपरा की ओर रवाना हुआ।

बाढ़-पीड़ितों की सेवा (सितम्बर 1921 ई.)

लोग प्लेटफार्म और रेलवे सडक पर थोड़ा बहुत सामान लिये बैठे थे। कचहरी स्टेशन से भगवान बाजार (छपरा) स्टेशन तक रेलवे सडक की एक ओर पानी ऊपर तक पहुँच चुका था, कुछ अगुल और बढने पर वह सडक की दूसरी तरफ गिरने लगता, और फिर छपरा शहर के लिए कोई आशा न रह जाती। भगवान बाजार स्टेशन पर भी घर से भागकर आये नर-नारियों की भीड़ थी। मैंने बाढ़ की भीषणता का कुछ नजारा तो देख लिया, अब सहायता कैसे की जाये, इसकी जानकारी के लिए कांग्रेस आफिस का रास्ता लिया। स्टेशन से भगवान बाजारवाली सडक पकड, जेलखाना, जिलास्कूल, इलियट तालाब, म्युनिसिपैलिटी होता आफिस में पहुँचा। छपरा की सड़कों ने छोटी-मोटी नदियो का रूप धारण किया था। जेल के आस पास से मुझे कमर-भर पानी से चलना पड़ा। कच्ची दीवारोंवाले मकान गिर गये थे। पक्की दीवारों के मकानों में भी पानी घुस गया था, और लोग भाग गये थे। जनशून्य महल्लो की निस्तब्धता डरावनी-सी मालूम होती थी। मकानो की खपरैलो पर एकाध बिल्लियाँ और कहीं-कही भूखे कुत्तों का करुण क्रन्दन हो रहा था।

आफिस में उस वक्त एक या दो आदमी थे। शाम को बरांडे के बाहर सीढ़ियों पर हमारी नजर थी। दो सीढ़ियाँ डूब चुकी थी, चाँदनी रात में हम धड़कते दिल से तीसरी की ओर शनैः-शनैः पानी को बढते देख रहे थे। पानी का जब बढना रुक गया तो हमारी जान में जान आई।

मै अभी बिलकुल अपरिचित-सा आदमी था, इसलिए उस वक्त पीडितों की सहायता के लिए क्या विशेष प्रबन्ध करता, तो भी चुप बैठना मेरे बस की बात न थी। कांग्रेसवालों को कुछ नावे मिल गई थी। हमे मालूम हुआ, कचहरी-स्टेशन के पच्छिम के कितने ही गाव डूब रहे है। एक नाव ले मै उधर रवाना हुआ। एक गाँव मे जाने पर मालूम हुआ, लोग पोखरे के भीटे पर पशुप्राणी लेकर चले आये है, और अभी उन्हे खतरा नहीं। दूसरे कुछ गाँवों के आदमियों को ढो-ढोकर हम रेलवे लाइन पर पहुँचाने लगे। एक आदमी को गाँव के लोगों को निकाल लाने के लिए एक नाव सुपुर्द कर दी थी। उसने उसे अपनी निजी सम्पत्ति समझ ली, और घर के आदमियो और पेटी सन्दूक को ढोने के बाद अब वह भुस ढोने लगा था। गाँव के कितने स्त्री-बच्चे-बूढे अपनी खपरैलो पर भयभीत बैठे हैं, छत के नीचे तीन तीन चार-चार हाथ पानी है, और अभी वह बढ रहा है। दीवार किसी वक्त भी बैठ जानेवाली है, और उस रात को डूबने से बचने की बहुत कम को आशा है, ऐसी भीषण अवस्था में एक आदमी जान बचाने के लिए मिली नाव से अपना भुस ढो रहा है !! मुझे बड़ा गुस्सा आया, और जैसे ही स्टेशन से आती नाव को देखा, अपनी नाव ले जा उस पर कूद पडा। उस हृदयहीन

आदमी को बुरा-भला कह उससे नाव छीनी। दूसरे साथी के जिम्मे पहिली नाव लगाई। काम काम को सिखलाता है, चार-पाँच घंटे मेरे साथ काम करते साथी को भी ढंग मालूम हो गया, आखिर मैं भी तो यही काम और उसके तजरबे को सीख रहा था। गाँव में पहुँचकर मैंने लोगों को नाव पर चढ़ने के लिए कहा। जितने लोग आ सकते थे उतने बैठे। एक स्त्री को लोग आने के लिए कह रहे थे, किन्तु वह छत पर से कहती थी—घर के भीतर से सन्दूक बिना लिये मैं नाव में नहीं चढ़ने की। छतों पर बैठे लोगों की जान अभी भी खतरे में थी, रेलवे लाइन पर उतारकर उन्हें लेने के लिए हमें फिर आना था, और यह औरत छाती-भर पानी में जा घर के भीतर से सन्दूक लाने के लिए कह रही थी। यदि कहीं इसी बीच में दीवार भसक गई, तो सन्दूक लानेवाला भी भीतर ही रह जायेगा, इसकी भी उसे परवाह नहीं। लेकिन क्या करते? उसका देवर या कोई कन्धे-भर पानी में घुसकर गया। सन्दूक लाकर नाव में रखी गई, तब हम रवाना हुए।

बाढ़ की खबर सुनकर देहात से कार्यकर्त्ता आने लगे। एकमा की तो सारी जमात पहुँच गई। सहायता के लिए सत्तू, चना, चूरा, चावल आदि चारों ओर से आने लगा। कितनों जगह से लोग पूड़ी भी भेजते थे। इलियट तालाब के पास रेलवे लाइन की बगल में कांग्रेस-सहायता-केम्प खुला, जो कि छपरा क्या बिहार के इतिहास में अपनी तरह का पहिला प्रयत्न था। कार्यकर्त्ता जरूरत से अधिक थे, किन्तु उनका कोई संगठन नहीं। गैरजिम्मेवार लोगों की संख्या अधिक थी। मौलवी सालेह, सर्वश्री मथुराप्रसाद, नारायणप्रसाद, हरिनन्दन सहाय, गोरखनाथ, जलेश्वरप्रसाद, विन्ध्येश्वरीप्रसाद आदि जिले के प्रधान कार्यकर्त्ता मौजूद थे, और इनमें जो वहाँ साथ थे, वह काम में डटे हुए थे। मैं रात दिन नाव लेकर दौड़-धूप में लगा था। शायद दूसरे दिन की बात है ... रात को मालूम हुआ मसरख लाइन के बगल के एक गाँव में लोग दरख्तों पर भूखे बैठे हैं। मैं एकमा के अपने एक या दो साथियों (जिनमें रामबहादुरलाल भी थे) के साथ कुछ सत्तू, भूँजा, चावल ले रवाना हुआ। कमता, 'सखीजी' एक और साधु के साथ दो वृक्षों पर रखे बाँसों के ठाट पर बैठी थी। सत्तू-भूँजा लेने के लिए कहने पर उन्होंने अपने साथी साधु को पूछकर दे देने के लिए कहा। मसरखवाली रेलवे लाइन टूट गई थी। पानी के गिरने की आवाज दाहिनी ओर जोर से सुनाई दे रही थी। नजदीक में जाने पर नाव के उधर खिंच जाने का डर था, किन्तु हम एक दूसरी ही नशा में थे। सावधानी रखते थे, किन्तु मृत्यु से भयभीत होते नहीं। उस गाँव में पहुँचे। लोग रेलवे लाइन पर गुमटी के नजदीक पड़े थे। दो-चार प्रतिष्ठित आदमियों को बुलवाया, और उनके समर्थन के अनुसार खाने-पीने की चीजें बाँटी।

वहीं मालूम हुआ, सड़क की दूसरी ओर का गाँव सड़क के टूटने से खतरे में पड़ गया है। लेकिन नाव तो हमारी इस पार थी? उन लोगों ने केले के स्तम्भों का ठाट बनाया था। एक पथप्रदर्शक ले मैं उसी पर बैठ गया। गाँव कुछ ऊँचे पर था, और लोगों ने पानी के भीतर घुसने के रास्तों पर मिट्टी डाल रखी थी। पानी के लिए आगे का रास्ता रुका हुआ था, इसलिए तुरन्त कोई उतना खतरा नहीं था। किसी को नाव की जरूरत हो तो, आओ—कहकर कुछ आदमियों को लिये मैं फिर नाव की जगह पहुँचा। उस दिन रात को तीन बजे के बाद कचहरी स्टेशन से पश्चिम एक ताड़ के दरख्त में नाव को बाँधकर हम सोये।

काम के वक्त सुस्ती मुझे असह्य मालूम होती है। अनिच्छावश भी मैं ऐसे वक्त आगे आ जाता हूँ और हो सकता है, ऐसे समय मेरे साथियों को गलतफहमी हो जावे। इस बाढ़-सहायता काल में भी ऐसे मौके आये, किन्तु मुझे खुशी रही कि किसी साथी को गलतफहमी नहीं हुई। कचहरी स्टेशन के पास चार पाँच हाथ पानी के बाद एक नाव खड़ी थी। सभी बाबू लोग कह रहे थे—नाव आनी चाहिए, किन्तु नाव तो मानव भाषाभिज्ञ प्राणी नहीं है। मैं कपड़ों की बिना परवाह किये कूद पड़ा। नाव पकड़ लाया। बाबू लोग शर्मिन्दा हुए, एक ने साधुवाद दिया।

आफिस में काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओं में कौड़िया के एक तरुण कायस्थ की मुस्तैदी का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। यदि वैसे आधे दर्जन भी लोग होते, तो कितना सुव्यवस्थित रूप से काम चलता। वह सरकारी कचहरी की कोई नौकरी छोड़कर आये थे। पीछे बी. एन. डब्ल्यू. आर. में गार्ड हो गये थे। उनसे कभी कभी फिर मिलने का मौका मिला, और उस वक्त खयाल आता—कभी फिर उसी तरह तन्मय हो हमें साथ काम

करने का मौका मिलता।

बाढ़ का पानी बढ़ना रुक गया। रेलवे लाइन के टूटने से पानी भी कम होने लगा, इस प्रकार डूबने का खतरा जाता रहा; किन्तु लोगों के कष्टों की कमी नहीं हुई थी। शहर में गल्लेदारों के गल्ले बोरों में ही सड़ गये थे। भगवान बाजार के माल गोदाम के पास से गुजरने में नाक फटती थी, सड़े हुए अनाज से सख्त बदबू निकल रही थी। सिवाय मसरख के सभी लाइनें चल रही थीं, इसलिए बाहर से खाने पीने का सामान आ रहा था। शहर में काम करनेवालों की कमी न थी, इसलिए मैंने गाँवों की सहायता का भार अपने जिम्मे लिया। लोगों ने भूगोल पढ़े थे, नकशे देखे थे, किन्तु उससे फायदा उठाने की बात अभी नहीं सोची थी। एक रात जब मैं नकशा उतार रहा था, तो कितने साथी इसे फजूल की सनक समझते थे। गाँवों में चावल दाल, सत्तू, भूंजा, चना के अतिरिक्त मिट्टी का तेल, नमक भी बाँटना पड़ता था। कितने लोग जरूरत होने पर भी लज्जावश मुफ्त लेना स्वीकार नहीं करते थे।

इस बाढ़ का असर एकमा, सिसवन और रघुनाथपुर थानों के कुछ भागों पर भी पड़ा था। वहाँ की खड़ी फसल मारी गई थी और काम न मिलने से गरीबों की हालत खराब थी। छपरा में और कार्यकर्ताओं के आ जाने पर मैं एकमा चला आया। उधर के थानों में बाँटने के लिए दो एक बोरा लाई भूजा ले गये। जब हम एकमा पहुँचे, आसपास के साथी हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने वहाँ [illegible] में लाई का बोरा सिर पर रखा। प्रभुनाथ ने कहा—बाबा [illegible]। [illegible] दिन में [illegible] कार्यकर्ताओं ने बाबा [illegible] सिर पर [illegible]। [illegible] काम में [illegible] के साथ काम करने में मजा आता है। एकमा के सभी साथी मेरा [illegible] के साथ काम करने के लिए तैयार थे। सिसवन थाने में पीड़ित सहायता की ज्यादा आवश्यकता थी, इसलिए मैंने गिरीश को वहाँ जाने के लिए कहा। उसी सिलसिले में बागदेवसिंह ने रघुनाथपुर थाने में [illegible] किया। एकमा के लिए प्रभुनाथ, लक्ष्मीनारायण तथा दूसरे सभी कार्यकर्ता मौजूद थे। मैंने खुद नाव पर खाने पीने की [illegible] बहुत से गाँवों का दौरा किया।

पीड़ितों की सहायता का काम समाप्त हो [illegible]। [illegible] अपने [illegible] और सारन की जनता ने [illegible] में खूब सहायता [illegible] सहायता [illegible] के लिए [illegible] जरूरत [illegible]।

कार्तिक के महीने में [illegible] भी आया। [illegible] और सर्दियाँ [illegible] की दुर्दशा [illegible] हम [illegible] के लिए [illegible] से कम्बल कपड़े [illegible] रुईवाली [illegible] जाड़ों आदि। [illegible] में हम सहायता नहीं पहुँचा सकते, इसलिए मैंने सोचा [illegible] हो सकता है। [illegible] एकमा के [illegible] में रखा था, किन्तु अब वह 4X4 [illegible] सामान [illegible]। मैंने [illegible] गाँवों में सूत कतवाया जाये, और [illegible] लोगों को [illegible] सहायता मिल सकता है। गिरीश ने मेरे [illegible] का काम दे दिया। रामपुर (बिन्दालाल के) में [illegible] पुरानी [illegible] में पड़ी [illegible] की लकड़ियाँ देख मैंने दस बारह रुपये में सौ करघों के बनाने भर की लकड़ियाँ खरीदीं। [illegible] पहुँचाई [illegible] जमीन पर [illegible] चलानेवाले फ्लाई शटल करघा बनाने का [illegible] अमानत छोड़ दिया। सैकड़ों चर्खे बने, और बाँटे गये [illegible]। [illegible] लगाकर एक खद्दर डिपो खोला, जिसके [illegible] बने। [illegible] सूत आया, उससे कुछ कपड़ा भी बना। आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय की लिखी '[illegible] पुस्तक' से मैंने कुछ [illegible] भी [illegible] किया। किन्तु डिपो में आये कपड़े की बिक्री बहुत कम होती। फिर नये चर्खों और करघों को बाँटने से फायदा? करघे, चर्खे और सैकड़ों [illegible] वैसे ही पड़े रहे। अमानत पड़ी लकड़ी को [illegible] ने अपनी सम्पत्ति समझ ली। [illegible] अर्थशास्त्र यहीं समाप्त हो गया।

सहायता के लिए मिली चीजों में से कुछ का दुरुपयोग भी हुआ, और [illegible] में से कुछ का ईमान

डिग गया, किन्तु ऐसो की सख्या बहुत कम थी और दुरुपयुक्त सामग्री का परिमाण भी बहुत कम था, तो भी जनता पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा, और उनसे भी ज्यादा बुरा असर पड़ा लगनवाले ईमानदार कार्यकर्त्ताओ पर। ऐसा विचारते वक्त अक्सर हम भूल जाते हैं कि हम जिस पूँजीवादी व्यवस्था मे जी रहे हैं उसकी बुनियाद ही अपहरण और बेईमानी पर है, जब तक मूल का उच्छेद नही होगा, तब तक इन त्रुटियों के लिए हमे तैयार रहना चाहिए। मेरे जिम्मेवार साथियो मे सबने अपने कर्त्तव्य को बड़ी तत्परता और ईमानदारी से साथ निबाहा।

3

सत्याग्रह की तैयारी (1921 ई.)

जलियाँवाला बाग और मार्शल ला के अत्याचारो को सुनकर सारे भारत मे रोष का तूफान फूट निकला। जलियाँवाला बाग की महती सभा और 6 अप्रैल 1919 के प्रदर्शन ने बतला दिया कि देश महायुद्ध के बाद कहाँ चला गया है। आत्मग्लानि और प्रतिशोध की भावना देश मे इतनी उग्र हो गई थी कि यदि कोई विश्वासपात्र नेता आगे बढ़ता, तो जनता उसका साथ देने के लिए तैयार थी। दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन के बारे मे गांधीजी को भारत की शिक्षित जनता जानती थी। चम्पारन और खेड़ा के आन्दोलनो ने उन्हे भारत की साधारण जनता में प्रसिद्धि और सर्वप्रियता प्रदान की। रोलट एक्ट के विरोध को लेकर गांधीजी का आगे आना ठीक समय पर हुआ। जनता–विशेषकर किसान और निम्न मध्यम शिक्षित जनता–को अपनी ओर आकर्षित करने का तरीका गांधीजी अपने समय के सभी भारतीय नेताओ मे–तिलक को छोड़ते हुए–अधिक जानते थे। इस प्रकार भारतव्यापी आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए उन्होने अपने को योग्य साबित कर दिया। अमृतसर (1920), कलकत्ता (1921), नागपुर (1921) काग्रेसो मे गांधी का सितारा ऊँचे से ऊँचा चढ़ता हो गया और 1921 सरकार के साथ सघर्ष लेने मे उन्ही को आगे बढ़ देख जनता ने असहयोग और सत्याग्रह का स्वागत किया छ महीने के भीतर तिलक स्वराजफण्ड के लिए एक करोड़ की भारी रकम जमा कर देना, भारतीय जनता के लिए पहिली बात थी।

'साल भर मे स्वराज' की बात पर विश्वास तो जादू मन्तर पर विश्वास रखनेवाली अशिक्षित ग्रामीण जनता के लिए कोई मुश्किल न था, किन्तु मुझे तो आश्चर्य आता था उन शिक्षितो की अक्ल पर, जिनमे से जेल मे पड़े कितने ही 31 दिसम्बर 1921 को आधी रात को स्वराज सरकार द्वारा जेल के फाटक के खुल जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

जुलाई (1921) मे जब मैं बिहार मे आया, तो उस वक्त जोश ढीला पड़ने लगा था, किन्तु यह सिर्फ इसी अर्थ मे कि लोगो ने अतिरिक्त प्रोग्रामो–रात को पहरा देना, हुक्का तम्बाकू मछली मास छोड़ देना पंचायत द्वारा मुकदमो का फैसला कराना, मुठिया (प्रतिदिन मुट्ठीभर अन्न) निकालना, आदि–का भूलना शुरू किया था।

एकमा मे सौभाग्य से मुझे बहुत अच्छे साथी मिले। मुझे जीवन के वे दिन बड़े मधुर मालूम होते हैं जब कि प्रभुनाथ, गिरीश, लक्ष्मीनारायण, हरिहर मधुसूदन, रामबहादुर, छबीला, वासुदेव जैसे एक दर्जन शिक्षित तरुण कष्टो और कठिनाइयों की बिलकुल परवाह न कर चौबीसो घटे राष्ट्रीय काम के लिए दे रहे थे। हमने एकमा थाने के कोने कोने को छान डाला था। जिले के और स्थानो मे आन्दोलन शिथिल-सा पड़ गया था मुठिया बन्द हो गई थी, किन्तु एकमा में जागृति थी। यहाँ मुठिया निकालने मे लोगो को उज्र न था। (उज्र तो शायद कहीं नही होता)–और हम उसी को जमा करा स्वराज आश्रम एकमा का खर्च चलाते। एकमा मे एक गांधी विद्यालय खोला गया था। करघा और चर्खे भी रखे गये थे। पढ़ाने मे रामउदारराय, रामबहादुर और हममे से भी जो समय पाता, पढ़ाते। विद्यालय के लिए हम इतने ही पर सन्तोष कर सकते थे कि विद्यार्थियो

का समय बरबाद नहीं होने पाता था। विद्यालय में रामदास गौड़ की हिन्दी पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं, जो कि उस समय की सरकारी पाठ्य पुस्तकों से कहीं अच्छी थीं। अंग्रेजी पढ़ने के लिए लड़कों को पहिले दूर जाना पड़ता था, किन्तु यहाँ हमारे विद्यालय में उसका भी प्रबन्ध था। रामदास गौड़ की पुस्तकों और खलीलदास के भजन "भारत जननि तेरी जय तेरी जय हो" के अतिरिक्त और पाठ्य विषयों में दूसरे सरकारी स्कूलों से कोई अन्तर नहीं था, तो भी हम 'बागियों के स्कूल में पढ़ते हैं' इसका असर लड़कों पर होना जरूरी था। एक बार हमारे विद्यालय के दो छोटे छोटे लड़के रामचन्द्र और मगन अपने गाँव (एकमा) में झुंड के साथ 'गाँधी महात्मा की जय', 'भारत माता की जय' आदि नारों के साथ जुलूस निकालकर 6 से 12 वर्ष के लड़कों की सभा कर रहे थे। सभापति रामचन्द्र बने और मगन ने व्याख्यान देना शुरू किया। सामने पन्द्रह बीस की 'जनता' बैठी थी। अभी व्याख्यान शुरू ही हुआ था कि रामचन्द्र की माँ को खबर लग गई। वह सुन चुकी थी, पुलिस इसके लिए धर पकड़ करती है। दौड़कर आईं और मुँह से बात निकालने के पहिले ही सभापति रामचन्द्र की पीठ पर दो तीन थप्पड़ लगे। सभा तितर बितर हो गई। बच्चों तक में इस तरह के जोश लाने में गाँधी विद्यालय जैसे विद्यालयों का हाथ कम न था।

मुझे एक दिन की बात याद है। हम लोग शायद अन्दरमन की सभा से रात को लौट रहे थे। खेत में हरे हरे धान खड़े थे। चाँदनी रात के निरभ्र आकाश में चमकते तारे और क्षितिज पर कज्जली पुंज से वृक्ष बगीचे दिखाई पड़ रहे थे। हम जल्दी में नहीं थे। रास्ते में एक अकेले पीपल के पास बैठे या खड़े हमारे वार्तालाप का रुख भूतों की ओर चला गया। [illegible] किन्तु गिरीश जरूर थे। आर्यसमाज के प्रभाव के कारण भूतप्रेत से मेरा विश्वास [illegible] किन्तु भूतों की कथाओं को कहने सुनने में मुझे बड़ा मजा आता था। कथा मैंने शुरू की, किन्तु गिरीश ने अपनी कथाओं द्वारा मुझे भी मात कर दिया। उन्होंने राकस (राक्षस), ब्रह्मपिशाच, जिन्न, ईंटकसवा ([illegible]), चुड़ैल, बूड़ा (पानी में डूबकर मरा), नटिनिया, मशान, सैयद, दैत (दैत्य) आदि कितने ही भूतों की किस्में गिनाईं, फिर उनमें से बहुतों की कथा भी कही। बहुत रात गये हम एकमा पहुँचे। [illegible] थाना (नैनपुर के [illegible]) में एकमा के [illegible] हुई थी। सभा समाप्त कर भोजन करते करते काफी रात हो गई थी, [illegible] प्रोग्राम के ख्याल से हम रात को वहाँ रह न सकते थे। उस दिन [illegible] मुझे तो मालूम होता [illegible] चल रहा हूँ। बाढ़ के बाद मेरे साथियों ने एकमा के अतिरिक्त [illegible] सिसवन थाना को [illegible] सभाला था तथा एकमा के पास वाले माझी थाने के गाँव में काम करना भी हमने अपने ऊपर लिया था। वस्तुतः मेरी दृष्टि तो सारे जिले पर थी किन्तु संगठन टूट चुके थे। [illegible] में मुझे यही समझ में आता था कि एक शिक्षित चतुर तरुण जिसे रात में चौबीस घंटे काम करने को नहीं मिलता [illegible] काम [illegible] नहीं हो सकता। इसी ख्याल से गिरीश और वासुदेव को मैंने दो थानों में भेजा था। एक थाने से दूसरे थाने के गाँवों में पैदल पहुँचना मुश्किल था, इसलिए एक एक्का घोड़ा रखना पड़ा। [illegible] पंडित नारायण तिवारी भी रहते। वह हमारी थाना कांग्रेस कमेटी के सभापति ही नहीं थे, [illegible] जनभाषा के कवि थे। मैंने छपरा में पहुँचते ही नियम कर लिया था कि छपरा की भाषा (मल्ली या भोजपुरी) में ही भाषण दूँगा। इसका असर मेरे साथियों पर भी पड़ा था। पंडित नारायण की आवाज भी [illegible] बोलने का ढंग भी अच्छा। कुछ वर्षों पहिले उनकी आँखें जाती रही थीं, किन्तु [illegible] सभाओं में काम करने में कम न थे। भोजपुरी (मल्ली) भाषा की बहुत सी गीतें उन्होंने बनाई थीं जिनमें कुछ स्त्रियों की भी थीं। इन्हें वे सभाओं में गाया करते। दिन में दो सभाएँ—शाम और रात को होतीं, कभी कभी तीन भी। हम लोग सिसवन थाने में होते रघुनाथपुर निकल गये थे। इसी थाने के ब्राह्मणों के एक गाँव में कार्तिक बदी छठ की रात को हम ठहरे थे। रात को छठ पूजा के लिए स्त्रियाँ पोखर पर जमा हुई थीं। नारायणजी ऐसे मौके को क्यों खाली जाने देते? उन्होंने अपनी गीतों द्वारा विदेशी माल और शासन के बहिष्कार की बात समझाई। रात में अक्सर स्त्रियों की पर्दा सभाएँ होती थीं। छपरा की भाषा में बोलने के कारण मेरे शब्द तो वे समझ जाती होंगी, किन्तु वे इस किस लोक की बात समझती होंगी, जब मैं कहता—तुम्हें राज [illegible] होगा। मर्दों के जूते खाना

छोड़, अपने बराबर हक के लिए लड़ना होगा। तुमको जज और मजिस्ट्रेट बनना होगा।' मेरे व्याख्यान म चर्खा-करघा-प्रचार मादक-द्रव्य-निषेध का अंश बहुत कम रहता। मैं तो विदेशी शासन के शोषण-अन्याचार, और देश के लिए सगठन और कुरबानी पर ज्यादा जोर देता।

बाढ़ के बाद जिला के अन्य नेताओ ने मुझे भी अपनी बिरादरी मे शामिल कर लिया, और तीन-चार थानों के सगठन का काम मैंने अपने जिम्मे लिया। गाँधीजी ने सत्याग्रह की तैयारी शुरू की थी। बिहार प्रान्त मे स्वयसेवक-बोर्ड बना था; और सत्याग्रही स्वयसेवको की भरती का आदेश मिला था। हमने तै किया एकमा सिसवन, रघुनाथपुर मे चार-चार सौ वर्दीधारी स्वयसेवक तैयार होने चाहिए। एकमा में तो हम सभी थे। सिसवन में गिरीश ने तैयारी की। बाढ़ की सेवाओ, तथा अपनी कार्यक्षमता के कारण गिरीश का वहाँ बहुत प्रभाव था। आश्रम (हेड-क्वार्टर) उन्होने चैनपुर मे रखा था। थाने भर के वर्दीधारी स्वयसेवको और जनता की एक बड़ी सभा बुलाई गई, जिसमे मेरे अतिरिक्त जिला के भी कितने ही नेता आये। पहिला मौका था, इसलिए मन का शकित होना स्वाभाविक था, किन्तु जब हमने खद्दर की जाँघिया, खद्दर के कुर्ते, गाँधी टोपी झण्डे और लाठी के साथ चार सौ से अधिक स्वयसेवको को पाँती से खड़े देखा, तो प्रसन्नता का ठिकाना नही रहा। कई हजार की जनता म विना लाउडस्पीकर के बोलना असम्भव होता, यदि लोग स्वय शान्त रह सुनने के लिए तैयार न होते। शायद वर्दी का रग पीला रामरज का था।

मुरारपट्टी के बाग मे रघुनाथपुर की बड़ी सभा और चार सौ स्वयसेवको का जत्था जमा हुआ था।—यहाँ भी काम मे सफल साबित हुए, और मेरी खुशी के लिए इतना ही कहना काफी होगा कि जिन्दगी भर म पहिले इसी सभा मे मैंने भावावेश मे आ स्वर के उतार चढ़ाव के साथ जोशीला व्याख्यान दिया था। मुझे छपरा की भाषा मे बोलते देख, बाबू मथुराप्रसाद ने भी कोशिश की, किन्तु बीच बीच में उर्दू के शब्दो को डालने से वह बाज न आ सके। चार सौ से अधिक रगीन वर्दीधारी स्वयसेवको को देखकर इन थानो की ओर जिला के नेताओं का ध्यान विशेष तौर से आकर्षित होना जरूरी था।

एकमा का स्वयसेवक सम्मेलन और भी जबर्दस्त रहा। एकमा म आकर मिलनेवाली चार सड़को से गाज बाजा के जुलूस आये। फिर एक विराट जुलूस की शकल मे बीस-पच्चीस हाथियो, सैकड़ो हजारो झण्डे पताका के साथ वह पाँचवी सड़क से माधवपुर को गया। एक विशाल जनप्रवाह हजारो पैरो म चलता, हजारो कठो से गगनभेदी नारे लगाता जनशक्ति का परिचय दे रहा था। निर्दिष्ट स्थान पर बीस हजार मुड एकत्रित दिखाई पड़ रहे थे। जलेश्वर बाबू जिले से खास तौर से व्याख्यान देने आये थे। उन्होने थाने के कार्यकर्ताओं और जनता के उत्साह की सराहना की। चार सौ से अधिक वर्दीधारी स्वयसेवकों को उन्होंने शायद पहिले-पहिल देखा था इसलिए उन पर इसका खास प्रभाव पड़ा; किन्तु मैंने सिसवन और रघुनाथपुर के रगीन वर्दीवाले स्वयसेवको को देखा था, इसलिए गिरीश और वासुदेव की स्वयसेवक सेना से अपनी सफेद वर्दीवाली यह सेना कुछ कम जँची, तो भी और बातो में एकमा बढ़ा चढ़ा था।

स्वयसेवक दल को सरकार ने क्रिमिनल ला-सुधार कानून द्वारा गैरकानूनी करार दे दिया। उसकी अवहेलना म जिला कमेटी की बैठक के वक्त छपरा म रामलीला की मठिया (जेलखाने के पास) मे एक सभा हुई, जिसमे के प्रमुख कर्मियो ने स्वयसेवको मे अपना नाम लिखाना शुरू किया, और पुलिस ने गिरफ्तारी शुरू की। भरतसिंह गिरफ्तार हुए, वा. माधवसिह वकील, और कितने ही और नेता तथा कार्यकर्त्ता गिरफ्तार हुए; किन्तु छपरा के तत्कालीन कलेक्टर मिस्टर लूइस होशियार आदमी थे, उन्होंने मुजफ्फरपुर के कलेक्टर की भाँति सैकड़ो को पकड़कर जेल मे भेजना पसन्द नहीं किया। आठ-दस आदमियों की गिरफ्तारी के बाद स्वयंसेवक घोषित करनेवालो का नाम भर पुलिस नोट करने लगी। घोषित करनेवालों में मैं और बाबू नारायण प्रसाद भी थे।

दिसम्बर (1921) मे जिले के कितने ही प्रतिनिधि अहमदाबाद-कांग्रेस मे गये। मैंने गिरफ्तारी से पहिले जिले म घूमकर जागृति पैदा करने में अपना समय देना पसन्द किया—आखिर मेरे लिए अहमदाबाद और दूसरे शहर कोई आकर्षण नही रखते थे, कांग्रेस देखने के और भी अवसर आनेवाले थे। अपना एक्का-टमटम ले मैं एकमा से निकला। पचरुखी मे उस वक्त चीनी की मिल नही बनी थी, बाजार मे भाषण दिया। सीवान

मीरगंज में व्याख्यान देते हथुआ पहुँचा। वहाँ कॉलेज छोड़कर आये एक तरुण—जगन्नारायण—बड़ी लगन से काम कर रहे थे। भोरे थाना में भी स्कूल त्यागी एक ब्राह्मण तरुण काम करता था, इसलिए वहाँ भी छोटे मोटे कार्यकर्त्ताओं को लेकर वह थाने की जागृति को सँभाले हुए था। [illegible] में महेन्द्रसिंह के चले जाने से कुछ शिथिलता थी, किन्तु कार्यकर्त्ता वहाँ भी थे। कुचायकोट में जलालपुर का आश्रम काम कर रहा था और वहाँ भी एक उत्साही नवयुवक तथा थाने के प्रधान बाबू भूलनशाही उत्साहपूर्वक काम कर रहे थे। बाबू भूलनशाही के सीधे सादे अशिक्षित, किन्तु भावुकतापूर्ण हृदय के लिए स्वराज आन्दोलन धार्मिक साधना सा मालूम होता था। स्वराज आश्रम पर आते वक्त वह कभी खाली हाथ नहीं आते थे। कई साल बाद जब मैं हजारीबाग से छूटकर वहाँ गया, तो भूलनशाही की [illegible] मूर्ति न देखकर मैंने उनके बारे में पूछा और उनकी मृत्यु की खबर सुनकर एक स्थायी शोक हुआ। अब कभी मैं जलालपुर जाता [illegible] भूलनशाही का स्मरण बिना आये नहीं रहता। उसी यात्रा में मैं गोपालगंज, बरौली [illegible] बसन्तपुर भी गया। बरौली में कॉलेज के विद्यार्थी बा० शिवप्रसाद सिंह बहुत अच्छी तरह काम सँभाले हुए थे। मीरगंज और कुचायकोट, गोपालगंज, बरौली के सिवाय बाकी थानों में ज्यादा शिथिलता थी।

एकमा आने पर मालूम हुआ, मेरी गिरफ्तारी का वारंट निकला है। [illegible] नाम के साधु भी गिरफ्तार कर लिये गये थे। लोगों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि रामोदारदास ने [illegible] में नाम नहीं लिखाया था। पुलिस को भी गलती का सन्देह हुआ, इस प्रकार उन्हें छोड़ दिया और वारंट रामोदारदास के नाम से दर्ज हुआ। [illegible] (प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का मुखपत्र) में मैं उसी दिन छपने पहले [illegible] और जिला कांग्रेस कमेटी की बैठक 31 जनवरी 1922 को मेरे सभापतित्व में होने वाली थी, [illegible] पुलिस मुझे गिरफ्तार करने आई।

जेल के फाटक को बाहर से मैं बराबर देखता था, जब कभी साहबगंज से भगवान बाजार (छपरा) स्टेशन जाता, किन्तु उस फाटक के भीतर एक दूसरी दुनिया बसती है, [illegible] बार है। डर और झिझक की बात नहीं थी। 1915 ही में मैं क्रान्तिकारियों की [illegible] उनकी [illegible] के बारे में बहुत पढ़-सुन चुका था और मुझे उनमें भय नहीं प्रलोभन मालूम होता था।

एकमा में काम शुरू करने से [illegible] दिनों बाद मैंने अपने [illegible] भेष को बदलकर फिर कम्बल की अल्फी पसन्द की। सोनपुर के मेले में एक सहारनपुरी [illegible] कम्बल [illegible] अल्फी में परिणत कर दिया। गिरफ्तारी के समय भी मैं [illegible] में था। दिन भर हवालात में रखने के बाद शाम को मुझे जेल में [illegible] बक्सर सेंट्रल जेल भेज दिये गये थे। नारायण बाबू अहमदाबाद [illegible] आने पर मुझसे दस दिन बाद (9 फरवरी को) वह भी [illegible] गिरफ्तार होकर [illegible] नहीं, मुझे एक [illegible] रात भर आटे, दाल और छिलके भरे [illegible] खाना पड़ा या नहीं। नारायण बाबू के आने पर हम दोनों को अपने हाथ से रसोई बनाने के लिए खाने का सामान मिलता था। मैंने परसों में पकवान पकाने के एकाध हाथ नारायण बाबू को भी सिखलाये। अकेला रहते भी मैं पढ़ने लिखने में लगा रहता था। यहीं टाल्स्टाय की [illegible] और [illegible] में पढ़ने को मिला। किसी वास्तविक [illegible] की यह पहिली पुस्तक थी। मैंने इस समय संस्कृत की तुकबन्दी में [illegible] जिनमें एक भजन शुरू होता था—'शृणु शृणु रे पान्थ अहमिह न [illegible]'। नारायण बाबू उन नेताओं में से थे, जिनका सार्वजनिक जीवन असहयोग और गांधी युग के साथ नहीं आरम्भ होता था। उन्होंने अंग्रेजी की शिक्षा न पाई थी और न देश भ्रमण का अवसर पाया था, तो भी मनुष्य का कर्तव्य खाने पीने सोने से कुछ ऊपर तक जाता है, इसे वह भली भाँति समझ गये थे। वे मध्यमवित्त के एक समृद्ध परिवार के मुखिया थे। बाप ने उनके लिए जमींदारी के अतिरिक्त कितना ही नकद रुपया भी छोड़ा था। यदि [illegible] धनसम्पत्ति प्रभाव उनके पास [illegible] भी साथ रहता, तो दूसरे बाबुओं की भाँति वह भी ऐश की जिन्दगी बिता सकते थे। किन्तु उसको छोड़ उन्होंने अपने जीवन को एक दूसरी ही ओर ढाला और सो भी बहुत कुछ सिर्फ अपनी सूझ के भरोसे। स्टेशन से बारह मील पर, शहर बाजार से बहुत दूर एक अत्यन्त देहाती गाँव [illegible] में उन्होंने एक अंग्रेजी स्कूल

स्थापित किया, और उस समय की प्रतिकूल तथा बहुव्ययसाध्य परिस्थिति में उसे हाई स्कूल तक पहुँचाया। छपरा ही नहीं, सारे बिहार में उस वक्त अपने ढंग का वह अकेला स्कूल था। नारायण बाबू हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों को बहुत पढ़ते थे, और लोकमान्य तिलक के बड़े भक्त थे। इस राष्ट्रीय तूफान से बच रहने, ऐसा हृदय उन्होंने नहीं पाया था, इसीलिए अत्यन्त परिश्रम से रोग और बढ़ाकर हाई स्कूल तक पहुँचाये अपने स्कूल को उन्होंने विश्वविद्यालय से सम्बन्ध-विच्छिन्न कर राष्ट्रीय बनाने में भी आनाकानी नहीं की। ऐसे आदमी के प्रति मेरी श्रद्धा शुरू से ही हो जावे, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। और अब संयोग से हमें साथ रहना पड़ा। वह उस समय जिला कांग्रेस के मंत्री थे।

दूसरे दिन (11 फरवरी को) हमारे मुकदमे का फैसला हुआ। हमने सरकारी इल्जाम को स्वीकार किया। मिस्टर लुई ने हम दोनों को छ मास की सादी सजा सुनाई। मैंने उन्हें 'धन्यवाद' कहा। तेरह दिन छपरा जेल में रहने के बाद, अब (12 फरवरी को) हम लोग दो कान्स्टेबलों के साथ बक्सर के लिए रवाना किये गये। कान्स्टेबलों के पास हथकड़ियाँ थीं, किन्तु उन्होंने हमारे हाथों में नहीं लगाया। क्रान्तिकारियों की कथाओं में हथकड़ियों और बेड़ियों की बात सुनकर क्षण भर के लिए भी हाथों में हथकड़ी डलवाने की मुझे लालसा हो आई। बहुत हिचकिचाहट के बाद सिपाही ने जरा देर के लिए उसे हाथ में डाला। मैंने लोहे के उन ककणों को देखकर कहा—नाना ने चाँदी के खड़ुवे जो लड़कपन में हाथों में डाले थे, उनसे यह बुरे नहीं मालूम होते, फर्क इतना ही है कि सिर्फ दोनों हाथ नजदीक नजदीक बँधे रहने से इनसे काम नहीं किया जा सकता।

रात को हम पटना होते दूसरे दिन चार बजे रात ही को बक्सर पहुँच गये थे। रामरेखाघाट पर गंगा में स्नान कर दस बजे के करीब बक्सर जेल में दाखिल हुए। छपरा जेल से यह कई गुना बड़ा था, किन्तु हमें जेल दिखलाने के लिए थोड़े ही लाया गया था। आफिस की मामूली कार्रवाई को समाप्त करने के बाद हम एक वार्ड में ले जाये गये। उस वक्त साढ़े तीन सौ के करीब स्वराजी कैदी बक्सर में रखे गये थे। कमरे से बाहर धूप और छाया में वहाँ सौ से ऊपर आदमी मौजूद थे। दरवाजे से भीतर होते ही उनकी नजर हम पर पड़ी। नये आगन्तुक को परलोक से लौटे आदमी की भाँति समझ स्वतन्त्रतार्थचिन्तित राजबन्दी आकर हमारे इर्द-गिर्द जमा हो गये। घनिष्ठ परिचयवालों ने आलिंगन किया, दूसरों ने अभिवादन। बाहर की आन्दोलन सम्बन्धी खबर पूछी। हम लोग स्वयं तीन हफ्ते से बन्द रखे गये थे, तो भी जो कुछ मालूम था, उसे बतलाया। हम छपरावालों को इस बात का क्षोभ था कि राष्ट्रीय संघर्ष में इतना आगे बढ़े हुए होने पर भी हमारे जिले की अपेक्षा ज्यादा बन्दी दूसरे गुमनाम जिलों ने दिये थे। लेकिन हमारे जिले का क्या कसूर? मुजफ्फरपुर वालों को बहुत नाज था कि उसके कैदी वहाँ सबसे ज्यादा थे। किन्तु इसमें नाज की क्या बात? यदि मुजफ्फरपुर के कलक्टर जैसा ओंढरदानी कलेक्टर किसी भी जिले को मिल जाता, तो दो सौ चार सौ बहादुरों को जेल में भेज देना मुश्किल न था।

मुजफ्फरपुर जिले तथा एकाध और जिलों से कुछ साधारण स्वयंसेवक आये थे, नहीं तो सभी राजबन्दी अपने जिले या थाने के प्रमुख नेता थे। मेरे साथियों में प्रभुनाथ यहाँ आ पहुँचे थे। माँझी की सभा में जिस जगह वह व्याख्यान देने गये थे, वहीं रमेश और बूढ़े चिरंजानन्द पंडित के साथ पकड़ लिये गये। प्रान्त के प्रमुख नेताओं में राजेन्द्र बाबू इसीलिए बच गये थे, कि गवर्नर की कार्यकारिणी के भारतीय सदस्य श्री सच्चिदानन्दसिंह उनकी गिरफ्तारी से असहमत थे। मौलवी शफी मुजफ्फरपुर के एक नामी वकील तथा प्रमुख नेता वहाँ मौजूद थे। उनके साथ मौलवी बदूद, तरुण मंजूर, गया के बाबू मथुराप्रसाद, बरुराज के राजमंगलशर्मा और ब्रजनन्दनशाही, ठाकुर रामनन्दनसिंह और दूसरे अनेक होनहार तरुण भविष्य की महत्त्वाकांक्षाओं को कालेज स्कूल की पढ़ाई के साथ विसर्जित करके पहुँचे हुए थे। वहाँ चम्पारन के बाबू देवीप्रसाद साहू, दरभंगा के मौलाना वहाब, और दूसरे जिलों के भी प्रमुख नेता थे।

4

बक्सर जेल में छः मास (13 फरवरी–9 अगस्त 1922 ई.)

इसमें तो शक नहीं कि इन राजबन्दियों में से अधिकांश ने राजबन्दी जीवन के लिए आवश्यक मानसिक शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, इसलिए उन्हें एकान्तता कुछ असह्य-सी मालूम होती थी। किन्तु सौभाग्य से सभी लोग एक जगह रख दिये गये थे। दिन में बाहर होने से वृक्षों के नीचे या धूप में साथ रहने, रात को कमरों में सत्ताईस-सत्ताईस की संख्या में (इकट्ठा बन्द होते) ताश, शतरंज खेलना, पढ़ना, बात करना। यहाँ नहीं मथुरा बाबू (गया) ने अपना अखाड़ा भी तैयार कर लिया था और सबेरे रोज दो-तीन घंटे कुश्ती होती थी। वही हमारे सबसे बड़े पहलवान और अखाड़े के खलीफा थे और लोगों को दाँव-पेंच बहुत करके जबानी और हाथ के इशारे से बतलाया करते थे। कुछ ही दिनों बाद हम लोगों ने सहभोजी ब्राह्मणों का चौका जारी कर दिया। जेल से मिली चीजों के अतिरिक्त घर से आई चीजों तथा पैसे से भी लोग मदद करते थे। मथुरा बाबू [illegible] में भी सिद्धहस्त साबित हुए। मथुरा बाबू हमारे कमरे में रहते थे। [illegible] उन्हें [illegible] के लिए कभी-कभी मैं उनके शरीर के [illegible] पर [illegible] कर बैठता और तब [illegible] मस्तिष्क पर [illegible] गर्मी आ जाती तो अपना सब गुस्सा [illegible] प्रकट करते। इसमें शक नहीं, यह मेरी अनाधिकार चेष्टा थी। मैं [illegible] भी नहीं सोचा था [illegible] हो गया था। [illegible] के नाम [illegible] मुझे याद नहीं, जिनकी [illegible] मथुरा बाबू [illegible] गायक थे, किन्तु [illegible] अच्छा [illegible] था। एक दिन [illegible] मनोरंजक गाने का [illegible] था। [illegible] और [illegible] के साथ नारायण बाबू भी [illegible] में थे। मैं [illegible] सब बातों को मानने के लिए तैयार हूँ किन्तु [illegible] असह्य [illegible] शान्ति [illegible] हूँ। [illegible] संगीत [illegible] शास्त्रीय मानने में भी [illegible] नहीं किन्तु [illegible] मालूम [illegible] सुनकर [illegible] व्यक्ति भी [illegible] हो जाए। मथुरा बाबू [illegible] में [illegible] बात कर [illegible] था। नारायण बाबू भी [illegible] मथुरा बाबू [illegible] हमारे [illegible] के अतिरिक्त मथुरा बाबू को ब्रजभाषा [illegible] था। उनके सौभाग्य से कुछ ही दिनों बाद गया के पण्डित [illegible] शर्मा [illegible] भी [illegible] नारायण [illegible] काफी समय लगता रहा।

मनोरंजन के लिए हमने कई तरह के आविष्कार किये थे। [illegible] सप्ताह में एक दिन शाम के वक्त स्नानवाली फाइल के सीमेंट की छत पर कविसम्मेलन होता। लोग अपनी-अपनी कविताएँ सुनाते। बाबा नरसिंहदास तो ब्रजभाषा भाषी ही थे। फिर ब्रजभाषा कविताओं में वह दिलचस्पी क्यों न लेते। एक दिन हम दोनों ने मिलकर फाइल (File) और [illegible] पर कविता बनाई जिसका कुछ अंश इस प्रकार था—

फाइल में बैठि [illegible] पानी भर माँगत है
फाइल-भर भात लोग करत [illegible] है।
कपड़े को फाइल कर्म कागज को फाइल होत
आप फेरि जेलर फाइल [illegible] है।।
फाइल में पानी अन्हाइबे [illegible] है
फाटक फटकारि फाइल बाँधि [illegible]।
भनत नरसिंह फकत फाइलहि [illegible]
फाइल बिनु फेल सारा फाइल को [illegible] है।।

कारी करीन मे है कुलतार औ कारोइ कम्बल चारि बिछावे।
कोयला कारो औ कारोहि साग, औ कारी कढ़ाई मे दारि सिझावे।
कारोहि खान औ कारोहि पान केवारन में रंग कारो लगावे।
कारो हि कारागार नृसिंह यो कारो को जन्म-स्थान कहावे।।

फाइल जेलखाने का बम्वर्थक शब्द है, जिसके पाँती, निर्दिष्ट परिमाण, कायदा आदि कितने ही अर्थ होते हैं।

एक दिन रात को अपने कमरे में हम लोगों ने पुलिस की धर पकड़, और असहयोगियों के मुकदमे में फंसने का अभिनय किया। कुछ मनोरंजन होता देख, दो चार दिन की तैयारी के बाद (४ जून को) भारतेन्दु की 'अन्धेर नगरी' का अभिनय दिन में ही किया गया। मैं उसके प्रबन्धकों ही में न था, बल्कि उसमें मैंने पार्ट भी लिया था। हमारे छपरा के मुन्मुन (देवनाथसहाय), और जगदीशपुर (शाहाबाद) के सोमेश्वरसिंह का पार्ट बहुत अच्छा रहा। सोमेश्वरसिंह में अभिनय की कुछ स्वाभाविक-सी प्रवृत्ति थी। वह कुँअरसिंह के वंशज थे, और रजिस्ट्रार पिता के रोने कलपने की कोई परवाह न कर कालेज छोड़ जेल में पहुँचे थे।

बाबू ब्रजनन्दनशाही ने एम. ए. में असहयोग किया था। वह बकराज के पुराने जमींदार घराने से सम्बन्ध रखते थे। लड़कपन में ऐसे घरों में फारसी पढ़ाने का रवाज बादशाही जमाने से चला आता है, उसी के अनुसार उन्होंने भी फारसी पढ़ी थी। मुझे भी फारसी का शौक हुआ, और ब्रजनन्दन बाबू ने शेख सादी के गुलिस्ताँ के बहुत से भाग को पढ़ाया। बरसात के दिनों में बाहर के पक्के चबूतरों पर काई जम जाती थी। पाखाने के पास के चबूतरे पर वह और भी ज्यादा थी। उस पर फिसलकर रोज ही एक दो आदमी गिरते थे, [illegible] उनका धोती-कुर्ता गन्दा होता, तथा लोग हँसकर निहाल होते। एक दिन ब्रजनन्दन बाबू के ऊपर भी [illegible]। वह अपेक्षाकृत ज्यादा मोटे थे, इसलिए लोगों का मनोरंजन भी ज्यादा हुआ।

फागुन के महीने में फाग गाने का उत्तरी बिहार में बहुत रवाज है। और इसमें शक नहीं, बहुत से गाँव के लोग पागल की भाँति सिर हाथ हिलाने गला फाड़ने में होड़ लगाना ही फाग गाना समझते हैं। तो भी यदि उनको उसी से मनोरंजन होता है, तो हम बुरा मानने का क्या हक है? हम नहीं पसन्द करते तो हम शामिल होने के लिए मजबूर नहीं किये जाते। एक दिन मुजफ्फरपुर के कुछ स्वयंसेवकों को फागुन का राग याद आया। उन्होंने 'महरवा (मेरवा) में हो! हो!' शुरू ही किया था कि पास के चबूतरे पर लेटे [illegible] ने डाँट दिया। मुझे यह बात बुरा लगा। इन बेचारों के लिए मनोरंजन की सामग्री हमसे भी कम थी, फिर उनको इस साधारण मनोरंजन के तरीके से भी वंचित रखना क्या कभी उचित कहा जा सकता है? [illegible] के निरसूलाल एक साधारण देहाती कार्यकर्ता थे। बाहर से चीज मँगाने का हमें हक था, किन्तु सब तो मँगाने की सामर्थ्य नहीं रखते थे; इसलिए जेल की चीजों से अधिक से अधिक पाने की लालसा कितनों को होती थी। निरसूलाल ने एक दिन कमी बेशी की शिकायत की। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, जब मैंने देखा, एक सम्भ्रान्त बी. ए. पठित व्यक्ति ने गुस्से में निरसू० के कन्धे में हाथ डाल ऐसा झटका दिया, कि वह गेंद की तरह लुढ़कता दस-बारह हाथ तक चला गया। सन्तोष यही हुआ कि शरीर उनका होने से चोट नहीं लगी। मुझे ढकेलनेवाले व्यक्ति की बुद्धि पर तरस आया।

वहाँ पढ़ने के लिए काफी किताबें थीं, क्योंकि पढ़े लिखे बहुत थे, और सभी अपने साथ कुछ न कुछ किताब लाये तथा मँगाते रहते थे। साधारण मनोरंजन के अतिरिक्त मैं अपने समय को पढ़ने लिखने में लगाता था। और जब जमात में पढ़ने लिखने का समय कम मिलते देखा, तो जेलर से माँगकर (26 फरवरी को) सेल में चला गया। उस वक्त गर्मी आ गई थी, और वार्ड के खुले कमरों तथा जगह जगह वृक्ष लगे होने की अपेक्षा वह सेल बहुत गरम था। उस वक्त भी पहिनने के लिए मेरे पास वही काले कम्बल की अल्फी थी। गर्मी को मैं तितिक्षा की चीज समझता था। कासी में रहते (1918 ई. में) मैंने साम्यवादी समाज को चित्रित करते हुए एक पुस्तक लिखनी चाही थी। उसका खाका जिस नोटबुक में था, उसे मैंने योगेश को दे दिया था, उनसे

यह नोटबुक गुम हो गई। अब फिर वैसी पुस्तक लिखने की इच्छा हुई और संस्कृत में। इस बेवकूफी के लिए आश्चर्य करने की जरूरत नहीं। आदमी में ज्ञान से अज्ञान कितना गुना ज्यादा है। यद्यपि नई बात सीखने के लिए मेरा दिल हर वक्त तैयार रहता था, किन्तु सीखने के साधन हर वक्त सुलभ तो नहीं रहते। मैं पुस्तक को साम्यवाद के प्रचार के लिए लिखना चाहता था, और यह निश्चय ही था कि संस्कृत पद्य में लिखी वैसी पुस्तक का कोई उपयोग न होता। मैंने अब तक साम्यवाद के विषय में 'प्रताप' आदि हिन्दी पत्रों में छपे कुछ लेखों—विशेषकर रूसी क्रान्ति के सम्बन्ध में अब तब निकली कुछ पंक्तियों या खबरों—के सिवाय एक तरह नहीं सा पढ़ा था। 'बाल्शेविकी और [illegible] शान्ति' में क्या ज्ञान प्राप्त किया था, यह भी नहीं कह सकता। किसी उटोपिया (Utopia) का तो नाम तक न सुना था। किन्तु 1917 ई. के आखीर में रूसी क्रान्ति की खबरें मैंने जो 'प्रताप' में पढ़ीं और आगे जो बातें मालूम होती गईं, उनके आधार पर मैंने एक समाज की कल्पना की थी, उसी को मैं इस पुस्तक में चित्रित करने जा रहा था। ख्याल आया, आज के समाज से उस समाज तक पहुँचने के रास्ते के साथ उसका निरूपण किया जाय। और ऐसा ही, तदनुसार एक युवा तपस्वी विश्वबन्धु को हिमालय की ओर भेजा। उसकी आकृति और निस्पृहता मैंने स्वामी रामतीर्थ से ली थी। 'विश्वबन्धुप्रदीप' को छन्दोबद्ध काव्य के रूप में लिखना शुरू किया, [illegible] भी किया। मात्रिक की गलतियों और दूसरी त्रुटियों को दूसरे वक्त सुधारने के लिए छोड़ मैं आगे बढ़ता गया। [illegible] में संस्कृत की असहायता का ज्ञान हुआ और आगे के [illegible] में साम्यवादी समाज के [illegible] विस्तार का डर हुआ, [illegible] मैंने उसे बाईसवीं सदी के रूप में लिखा। 'विश्वबन्धुप्रदीप' [illegible] संस्कृत में लिखना आरम्भ किया, [illegible] पूरा हो गया था, [illegible] में हिन्दी में [illegible]। तीसरा हिन्दी ग्रंथ वेदान्तसूत्रों की हिन्दी टीका [illegible] मैंने पढ़ाने [illegible] था। [illegible] बाबू आदि कई साथी वेदान्त प्रेमी थे, वेदान्त [illegible] पढ़ना चाहते थे। मैंने कहा तो उपनिषद् और* वेदान्तसूत्रों ही को क्यों न [illegible] पढ़ाते वक्त हिन्दी में टीका लिखता गया, यह टीका लिखनेवालों के पास रही। बक्सर जेल में [illegible] में लिखने पढ़ने का कार्यक्रम मेरा इतना ही रहा।

हम लोग राजनीतिक कैदी थे, किन्तु [illegible] में हमसे से [illegible] को [illegible] दिलचस्पी थी, [illegible] मालूम नहीं होता था कि वे राजनीति में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं। [illegible] स्वास्थ्य के लिए अच्छा है, और उनमें बूढ़े भी यदि [illegible] बनते थे तो वह स्वास्थ्य के लिए [illegible] [illegible] लोगों का पूजा पाठ और शामिल [illegible] में लगाना यह बतलाता था कि हमारे [illegible] राजनीति को कितनी हल्की दृष्टि से देख रहे थे। [illegible] समझते थे कि [illegible] ही [illegible] फिर [illegible] की चिन्ता समाप्त हो जायेगी, इसीलिए हम परलोक के लिए भी [illegible]। [illegible] के बाबू महेन्द्रसिंह का हाथ सदा [illegible] माला रखने [illegible] में [illegible] था। वह समझते थे कि हम हनुमान निवास (अयोध्या) के गुरुद्वारे ही में चले आये हैं। वो [illegible] और [illegible] के अध्यापक रह चुके थे, वह रामतीर्थ और रामकृष्ण परमहंस बनना चाहते थे। मौलाना [illegible] कुरान की तिलावत (पाठ) और नमाज के बड़े पाबन्द हो गये थे। [illegible] मौलाना वहाब अपनी दुग्गामिनी आवाज में अजान [illegible] (नमाज नींद से अच्छी है) यह बात सोनेवाले ही बतला सकते थे, लेकिन अल्ला के [illegible] और [illegible] जमात में [illegible] होने भी उस सबेरे की कड़वी नमाज में शामिल होना पड़ता। राजनीतिक साहित्य के अध्ययन की ओर दिलचस्पी रखनेवाला तो वहाँ मुझे कोई नहीं दीख पड़ता था।

जेल-अधिकारियों से एकाध बार खटपट भी हुई। [illegible] जहाँ तक जेल के भीतर का सम्बन्ध था। 24 मई को बिहार के जेलों के इन्सपेक्टर जेनरल [illegible] जेल के मुआयने के लिए आये। जेल के अधिकारियों ने हमारे साथियों की [illegible] ली। [illegible] बनानेवाला और [illegible]

* उपनिषद् आरम्भ, 20 जून वेदान्त सूत्र आरम्भ 10 जुलाई

ने अँगोछे फाड़-फाड़कर बिना सिली गाँधी टोपियाँ बना उन्हें लगा ली और शायद उनके सामने हम लोग कुछ भी न हुए। बनातवाले ने एक लेक्चर दिया, इन्स्पेक्टर-जेनरल हो जाने से, सरकार के इतने वर्षों के नमकख्वार होने से उन्हे अधिकार हो गया था, कि हमे सच्ची राजनीति का रास्ता बतलावें। मुझे तो वह आदमी बिलकुल ही रद्दी-सा जँचा। भारतीय होते हुए, उसे अपनी बेबसी को देखते जबान को रोककर बोलना चाहिए था किन्तु वह 'एका लज्जा परित्यज्य त्रैलोक्यविजयी भवेत्' का नाट्य कर रहा था।

चम्पारन जिला के एक मलंग (कबीरपंथी मुसलमान साधु कविलास) उसी जुर्म मे कैद हुए थे। किन्तु दूसरे स्वयंसेवकों के साथ से उन्हें अलग रखा गया था। वहाँ भी खटपट हुई। मलंग को खड़ी हथकड़ी (छः फुट ऊपर टँगी हथकड़ी मे दोनो हाथो को बाँध खड़ा रहना) की सजा हुई। और बढ़ते-बढ़ते मामला यहाँ तक पहुँचा कि उन पर खूब मार पड़ी। हम लोगों को खबर मालूम हो गई। मौलाना मजहरुलहक ने पटना से अपना दैनिक 'मदरलैंड' निकाला था। हमारे साथियों मे से कोई छूटकर गया। उसने हक साहब से कहा, और सारी खबर 'मदरलैंड' मे निकल गई। बड़ा तहलका मचा। 'मदरलैंड' पर मुकदमा चलाया गया, और हक साहब को सजा हुई। लेकिन साथ ही, अस्थायी जेलर सन्तोष कुमार की भी बदनामी हुई। उसके बाद तो उनका भाग्य ही खतम हो गया। कहाँ वह प्रथम श्रेणी के जेलर हो रहे थे, और कहाँ नौकरी या सबसे निचले [illegible] कर दिये गये। सन्तोष बाबू का मिजाज कड़ा था, कैदियो के साथ जैसा बरताव जेलों मे बरता जाता है, उससे किसी जेल-अधिकारी की मनोवृत्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। सन्तोष बाबू को पीछे हजारीबाग में भी मुझे देखने का मौका मिला। उनकी अब की अवस्था देखकर मेरी सहानुभूति उनकी ओर थी।

जेल चोरों को भलेमानुष बनाने के लिए ऐसा बतलाया जाता है, यदि वह सचमुच ऐसा होता तो उसके कर्मचारियो को तो चोरो से बेहतर होना चाहिए, किन्तु यहाँ तो छोटे-बड़े कर्मचारी सभी चोर थे। कैदियों के खाने की चीजों के साथ उनका वैसा ही बरताव था, जैसा राजा लोगों के पालतू पशुओं के साथ उनके नौकरों का। तरकारी में से अच्छी अच्छी चीज सुपरिटेंडेंट के पास जाती, फिर जेलर, असिस्टेंट जेलर, वार्डर, सिपाही। और मिल सका तो सिपाही के पास भी पहुँचती थी, फिर कैदियो को क्या न बाकी मिला? और कंकड़ मिली दाल चावल, साग की जगह लकड़ी घास मिले। बक्सर मे एक बूढ़े डाक्टर थे। अस्पताल की चीजें वह अपनी समझते थे। मरीजों के लिए आई एक मुर्गी को पाकेट मे लिए वह बाहर जा रहे थे। फाटक पर पहुँचे, तो सुपरिटेंडेंट आ गया। बात करने के लिए ठहरना पड़ा, उसी वक्त मुर्गी ने पाकेट के भीतर से [illegible] किया। सुपरिटेंडेंट ने मजाक करते हुए कहा—डाक्टर बाबू के पाकेट मे मुर्गी बोलती है।

10 अगस्त को पूरे छः महीने की सजा भुगतकर मैं और नारायण बाबू साथ ही छूटे।

5

जिला कांग्रेस का मंत्री (1922 ई.)

छपरा मे आने पर देखा चारों ओर शिथिलता है। इसका अनुमान हम जेल के भीतर ही से था, जब सुना कि चौरीचौरा कांड के बहाने से गाँधीजी ने आन्दोलन मे सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इतने बड़े देश मे कहीं भी कोई–पक्षी या विपक्षी भी–यदि हिंसा कर बैठे तो सत्याग्रह बन्द कर दिया जायगा, इस शर्त पर क्या कभी सत्याग्रह हो सकता है ? दूसरे जिलो की भाँति सारन (छपरा) जिले पर भी सत्याग्रह स्थगित होने का बुरा प्रभाव पड़ा। अब लोग किसके लिए तैयारी करें। गाँधीजी जेल के भीतर जाते वक्त कह गये–चर्खा-करघा चलाओ। मादक द्रव्य-सेवन बन्द करो, पंचायतो मे फैसला करवाओ, सरकारी शिक्षण संस्थाओं का बायकाट करो। इन सबको सरकार के साथ मोर्चा लेने की तैयारी समझकर लोगों ने बहुत कुछ किया था, किन्तु अब तो उस मोर्चे की आशा भी न थी, गाँधीजी जेल मे चले गये थे, फिर लोगो का उस प्रोग्राम पर मन क्यों लगे ? लेकिन

राजनीतिक स्वतन्त्रता हमारा स्थायी ध्येय था, हम गाँधीजी के चले जाने पर भी उसे छोड़ नहीं सकते थे, इस ध्येय के लिए संघर्ष करना अनिवार्य था। संघर्ष जनजागृति तथा संगठन बिना हो नहीं सकता था, इसलिए हमने उधर ध्यान दिया। जेल से आते ही त्यागी बरगाह में बाबू मायसिंह और मेरा प्रोग्राम कुआड़ी परगने (मीरगंज, भोरे, कटया, कुचायकोट के थाना) के लिए बना। मीरगंज भोरे खत्म कर हम (7 सितम्बर को) कटया की ओर चले। हम दोनों को दफा 144 के अनुसार भाषण निषेध की आज्ञा निकली है, यह हमें मालूम हो गया था। हमने तै किया था कि नोटिस मिलने से पहिले लोगों को कुछ कह दें। नोटिस की अवहेलना हम अभी नहीं करना चाहते थे। उपस्थित जनता को लिए हिंद कटया में पूरब एक तालाब के भीट पर पहुँचे और जो कहना था उसे संक्षेप में कह चुके तो थाने के सब इन्स्पेक्टर नन्दी पहुँचे। उन्होंने नोटिस तामील की। नन्दी ने पंचायत, मादकद्रव्य निषेध, स्वदेश के पक्ष में एक छोटी सी तकरीर की, यह कहते हुए कि सरकार इसका कहाँ विरोध करती है? आप इन्हें कीजिए न। दारोगा नन्दी उन पुलिस के नौकरों में थे जिन पर काजल की कोठरी में भी कालिख नहीं लगती। पुलिस में रहकर रिश्वत से बचे रहें यह नामुमकिन सी बात है किन्तु नन्दी ने इस नामुमकिन बात को मुमकिन कर दिया था। भोरे कटया के थाने गोरखपुर जिले के सरहद पर पड़ते हैं। जिले के पुलिस हेड क्वार्टर की निगाह का दायरा तो मालूम होगा कि ये ही इस जिले के सबसे [illegible] चार बदमाश थाने हैं। यहाँ जो कोई नया दारोगा आता वह ज्यादा प्राप्ति करता और दस-बीस नये 110 वाले बना जाता। इसका परिणाम और दूसरा तो कुछ नहीं हुआ सिवाय उसके कि जिला पुलिस [illegible] हर एक सब इन्स्पेक्टर इन दोनों थानों में जाने [illegible] ललायित रहता। [illegible] कटया या भोरे की थानेदारी [illegible] उसके भाग खुल समझिए। दो तीन साल में दस बीस हजार [illegible] बना उसके लिए बिलकुल आसान काम था। ऐसे थाने में इतने दिन [illegible] के साथ रहकर [illegible] की प्रतिज्ञा कितनी मुश्किल [illegible] आसानी से समझा जा सकता है और नन्दी ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरी तौर से निबाहा। इसीलिए सब [illegible] से योग्य होते हुए भी, नन्दी [illegible] सब इन्स्पेक्टर से ऊपर नहीं बढ़ सके। यदि प्रथम श्रेणी की प्रतिभा [illegible] प्रथम श्रेणी के रिश्वतखोर और बेईमान होते तो [illegible] सुपरिटेंडेंट नहीं सुपरिटेंडेंट होकर पेंशन [illegible]।

नये चुनाव में 29 अक्तूबर को छपरा में मैं जिला कांग्रेस का मन्त्री [illegible] मुझे कुछ कहने का भी [illegible] न दिया गया। पिछले साल पहिले जब मैं जिला कांग्रेस [illegible] आफिस में पहुँचा [illegible] वक्त कुर्सी को गुमान भी नहीं हो सकता था कि [illegible] भी प्रमुख कार्यकर्ता [illegible] है, किन्तु अब लोगों ने मन्त्री बनाया। [illegible] मैंने [illegible] निश्चय किया कि जिला कांग्रेस [illegible] को मजबूत करने के लिए पूरा परिश्रम करना [illegible]। जिला कांग्रेस [illegible] के पास आफिस के पत्र-व्यवहार के लिए भी पैसे नहीं रह गये थे। भाड़ा न दे सकने के कारण मकान छोड़ दिया गया था और कांग्रेस आफिस [illegible] बनाये किन्तु अब बन्द कालेजियट स्कूल के मकान में चला आया था। मैंने खूब घूमना शुरू किया। [illegible] और एकमा का संगठन मजबूत था और [illegible] थे। भोरे की हालत अच्छी थी। [illegible] के मन्त्री चले गये थे, और वहाँ के लिए मैंने रुद्रनारायण-मास्टर [illegible] एक उत्साही तरुण को [illegible] से भेजा। महाराजगंज में महेन्द्रनाथ सिंह—कालेज के असहयोगी विद्यार्थी को और मसरख में भी एक तरुण को भेजा। इसी तरह कुछ थानों में नये कार्यकर्ताओं के आने से जनता में स्फूर्ति आने लगी। वास्तविक अवस्था यह थी कि कितनी ही जगहों पर लोग तैयार थे किन्तु वहाँ मार्ग [illegible] मौजूद न थे और [illegible] कार्यकर्ता काम करने के लिए तैयार थे, किन्तु उनके लिए [illegible] और परामर्शदाता मौजूद न थे। मैंने इसका ध्यान रखते हुए काम शुरू किया और इसका फल [illegible] पड़ने लगा। जिला कांग्रेस के पास पैसे आने लगे। गाँवों में सभाएँ होने लगीं, सब नहीं किन्तु [illegible] थानों में फिर से जागृति हो गई [illegible] कुआड़ी के चार थाने तथा बरौली [illegible] सिवान, महाराजगंज, मसरख [illegible]।

अब के साल कांग्रेस गया में होनेवाली थी। 16 दिसम्बर को मैंने प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में प्रस्ताव [illegible]गया—बोधगया का महाबोधि मन्दिर बौद्धों का है, और उन्हें मिलना चाहिए। बहुत बहस के बाद गया की

बैठक मे प्रान्तीय कांग्रेस ने प्रस्ताव को स्वीकार करके गया कांग्रेस के पास भेजना मंजूर किया। बौद्धधर्म [illegible] साथ मेरी सहानुभूति एक कदम और आगे बढ़ी।

गया कांग्रेस के लिए खूब धूमधाम से तैयारी होने लगी। मथुरा बाबू, गोरखनाथ त्रिवेदी, हरिनन्दन [illegible] आदि हमारे जिले के कितने ही प्रमुख कर्मी स्वागतकारिणी के काम मे योग देने के लिए गया चले गये। [illegible] मे कांग्रेस के काम को आगे बढ़ाना बाकी लोगों के ऊपर था।

गांधीजी के सत्याग्रह के स्थगित करके जेल चले जाने पर जो शिथिलता आई, उससे कांग्रेस में दो दल हो गये। अपने को गांधीजी का पक्का अनुयायी कहनेवाले अपरिवर्तनवादी लोग कह रहे थे—"महात्माजी ने जो रचनात्मक कार्यक्रम हमारे सामने रखा है, उसी को हमें करते हुए महात्माजी के आने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।" इस दल के नेता श्री राजगोपालाचारी थे, जिन्हें गया कांग्रेस में डिपुटी-महात्मा की पदवी मिली। दूसरा दल परिस्थिति के अनुसार प्रोग्राम में परिवर्तन चाहता था, और कहता था,—"यदि हम बाहर से [illegible] नही कर सकते, तो नये सुधारों के अनुसार स्थापित एसेम्बली और कौंसिलों पर हमें अधिकार करना चाहिए और गवर्नमेंट के काम में बाधा तथा जनता को अपने पक्ष में जागृत करना चाहिए। हम छः वर्ष तक महात्मा [illegible] के बाहर आने की प्रतीक्षा में चुपचाप नहीं बैठ रह सकते।" इस परिवर्तनवादी दल या स्वराज पार्टी के नेता थे, पंडित मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल और देशबन्धु चित्तरंजनदास। देशबन्धुदास ही गया कांग्रेस के प्रा[illegible] चुने गये थे। गया कांग्रेस में दोनों दलों के संघर्ष के पूर्वलक्षण दिखलाई दे रहे थे। सारन जिले में [illegible] नारायण बाबू परिवर्तनवादी पक्ष के समर्थक थे। नारायण बाबू तो तिलकवाद से प्रभावित हो [illegible] थे, किन्तु मैं तिलकवादी नहीं था। मुझे यदि कोई वाद पसन्द था, तो वह साम्यवाद, किन्तु अभी [illegible] उसका बिलकुल अस्पष्ट सा ज्ञान था।

आर्यसमाज के प्रभाव से आने ही छुआछूत और जात-पांत का मैं विरोधी हो गया था। यद्यपि [illegible] रामउदार बाबा के तौर पर वैष्णव साधु समझा जाता था, किन्तु परसा से एकमा [illegible] खाने की छुआछूत छोड़ दी थी। परसा मठवाले वैष्णव ब्राह्मण के हाथ की भी कच्ची रसोई नहीं खाते [illegible] इस तरह करते देख महन्तजी को बुरा लगा। और लोगों ने तो 'परमहंस' है कहकर व्याख्या कर डाली [illegible] में, यह देखकर मुझे प्रसन्नता होती थी, सभी जाति के लोग—मुसलमान तक एक पाँत में खाते, यद्यपि [illegible] का छुआ खानेवाले बहुत कम हैं।

सोनपुर मेले में पिछले साल तो प्रिन्स राजकुमार के स्वागत-विरोध में हम लोगों ने काफी [illegible] था। स्वयंसेवकों का भारी जुलूस निकाला था। अब के मेले में एक दूसरी ही चहल पहल रही। [illegible] महम्मदअली शौकतअली के साथ शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ पर भी मुकदमा चला था, और इस [illegible] राजनीति में भाग लेनेवाले धार्मिक नेताओं में उनका नाम भी प्रसिद्ध हो गया था। अब की बार [illegible] क्षेत्र (सोनपुर) के मेले में आये। चाँदी का छत्र, स्वर्ण जटित रुद्राक्ष माला, चाँदी का खड़ाऊँ, और [illegible] की कितनी ही और चीजों के साथ कितने ही शिष्य और सेवक उनके पास [illegible]। सब[illegible] लोगों ने [illegible] उनका जबर्दस्त स्वागत किया गया। 3 नवम्बर (1922) को खूब अच्छी [illegible] में उनका घंटे भर [illegible] व्याख्यान हुआ। लोगों पर भारी असर पड़ा। उनके आने से पहिले ही एक महाराष्ट्र ब्राह्मण बैद्यजी गोरक्षा [illegible] भार लेकर सोनपुर में पहुँचे हुए थे। खिलाफत के आन्दोलन में हिन्दुओं के शरीक होने से हिन्दू मुसलमान सम्बन्ध बहुत अच्छा हो गया था, इसलिए यह गोरक्षा ज्यादातर दानापुर के गोरों के लिए खरीदी जानेवाली गायों के खिलाफ थी। महरापार के बाग में बैद्यजी ने गोवर्धनाश्रम खोला। कलकत्ता से एक दो अच्छी जाति के साँड मँगवाये। शंकराचार्य भी उसमें आनेवाले थे, इसलिए गोवर्धनाश्रम में बड़ी तैयारी हुई। जिले के हम सभी राष्ट्रकर्मियों ने इसमें भाग लिया। मैं और बाबू हरिनन्दनसहाय एक दिन बिहार-सरकार के एक मंत्री बाबू मधुसूदन दास के पास गोरक्षा का डेपुटेशन लेकर गये। वे बहुत भद्रता से हमें मिले, और गोरक्षा पर बातचीत करते रहे। उनका कहना था, गोरक्षा का असली मतलब अन्धी-लूली गायों को जमा करना नहीं बल्कि बेहतर नसल की वृद्धि करना होना चाहिए। हम लोग इसमें सहमत थे, किन्तु सभी गोरक्षावादी उसमें सहमत [illegible]

थोड़े ही होते।

गोबर्धनाश्रम मे स्वयंसेवकों और कार्यकर्ताओं के लिए जो भोजनालय बना था, उसमें छुआछूत हटाने का हमने प्रयत्न किया। रसोई के प्रबन्धक कई जातियों के लोग थे, जिनमें धर्म परगा के एक ब्राह्मण तरुण भी थे किन्तु किसी के पूछने पर हम उन्हे श्रीवास्तव ब्राह्मण कहते। लोग अकचका जाते; जब श्रीवास्तव (कायस्थ) ब्राह्मण का नाम सुनते, किन्तु भोजनालय का बायकाट करनेवाले हमे कोई दिखलाई नहीं पड़े। शंकराचार्य का ठाट शाहाना था, पद और प्रतिष्ठा के कम होने के डर से वह और दूसरा कर ही क्या सकते थे?

सोनपुर के भोजनालय के तजरबे से मैंने सोचा छुआछूत हटाने के लिए होटल की बड़ी जरूरत है। मांझी के सभापतिसिंह को सलाह दी कि अब की बार गया में तुम्हारा 'सुदामा भोजनालय' चले। सभापतिसिंह एक असाधारण तरुण था। असहयोग से पहिले की बात है। उस वक्त छपरा में एक गोरा पुलिस इन्स्पेक्टर आया था। उसका दिमाग बहुत चढ़ा हुआ था, सामने से आते जिसको नहीं तिसको ठोकर लगा देता। सभापति उस वक्त हाई स्कूल का विद्यार्थी था। वह अपने बड़े भाई की तरह पहलवान तो नहीं था, किन्तु उसका बदन अच्छा मजबूत गठीला था। उससे इन्स्पेक्टर का यह अत्याचार देखा नहीं गया। बरसात के दिन थे। एक दिन इन्स्पेक्टर साइकिल से आ रहा था, सभापति उसके सामने चल रहा था। इन्स्पेक्टर ने गाली निकाली। सभापति ने भी लौटा, और वहीं साइकिल से गिरा कर पीटना शुरू किया। उसकी साइकिल तोड़कर पानी भरी खंदक में फेंक दी, और उसे मारते मारते बेहोश कर छोड़ दिया। उस वक्त गोरे को मारना स्वयं इंग्लैंड के सम्राट पर हाथ छोड़ना था। सभापति भाग गया और किसी के परामर्श से चम्पारन में काम करते महात्मा गांधी के पास पहुँचा। मुकदमा में कुछ हुआ हवाया नहीं। सभापति ने सब लोगों के इलाज के लिए छपरा में एक 'स्पटपार्टी' कायम की। इस पार्टी में सिर्फ हट्टे-कट्टे तरुण भर्ती होते थे। जिनमें से कुछ का नाम किसी हाई स्कूल के रजिस्टर में भी होता। पर के लिए गुंडा होने पर छपरा का कोई गुंडा 'स्पटपार्टी को' 'नहीं' नहीं कर सकता था। ऐसे अत्याचारियों और अन्यायियों को दंड देना पार्टी का काम था, जो सरकार के कानून से बचकर निकल जाया करते थे। 'स्पटपार्टी' के पास अपना भोजनालय और अपना विश्रामगृह था, जहाँ पार्टी के सदस्य पड़े रहा करते। उसकी इतनी धाक थी कि पुलिस भी 'स्पटपार्टी' से छेड़खानी की हिम्मत नहीं करती थी। स्पटपार्टी का कृष्णपक्ष नहीं था यह बात नहीं। असहयोग और गया कांग्रेस के प्रारम्भ के समय पार्टी के संस्थापक और नेता सभापति पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने पार्टी को तोड़ दिया, और वह स्वयं भी राष्ट्रीय कार्य में लग गये, किन्तु उनको वह काम कभी नहीं मिला, जिसके कि वे योग्य थे। वह जो किसी सेना का लीडर सचालक बनता, आज एक देहाती पाठशाला का अध्यापक है। खैर, बाबू सभापतिसिंह का 'सुदामा भोजनालय' गया-कांग्रेस में गया। बाबू सभापतिसिंह ने अपने रसोइये को वहाँ भोजन बनाने के लिए दिया था, और तजरबे से देखा गया कि समाज सुधार के साथ भोजनालय घाटे का सौदा नहीं। मैंने सभापति से इस भोजनालय को प्रतिवर्ष सोनपुर मेले में ले जाने के लिए कहा था और अगले साल—जब कि मैं जेल में था—वह चला गया भी था। छपरा जिले में यह पहिला हिन्दू भोजनालय था। इसी साल सोनपुर में हमने एक बिहार प्रान्तीय किसान सभा कायम की।

गया कांग्रेस में दो बातों पर मेरी दिलचस्पी थी—एक स्पटपार्टी का प्रचार और दूसरी बोधगया मन्दिर को बौद्धों के देने के बारे में कांग्रेस का स्वीकार। पहिले के लिए मैंने भी बिहार प्रान्त के दौरा में काफी काम किया, व्याख्यान दिये, दूसरे बड़े नेताओं के व्याख्यान तो होते ही रहते थे। बोधगया मन्दिर के बारे में तो मेरा ही प्रस्ताव था, इसलिए, उसके बारे में खूब प्रचार करना मेरा आवश्यक कर्तव्य था। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी से प्रस्ताव की मंजूरी कराते वक्त मैंने कुछ बौद्ध भिक्षुओं को बुलाया था। उनके पाली के व्याख्यानों का अनुवाद मुझे ही करना पड़ा था। कांग्रेस के समय महाबोधि सभा के संस्थापक अनागारिक धर्मपाल ने भिक्षु श्रीनिवास के अतिरिक्त भिक्षु धर्मपाल को भी भेजा था, बर्मा के भी कई भिक्षु आये थे। आर्यसमाज के पंडाल में इस विषय में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें मेरे और कई अन्य बौद्ध तथा हिन्दू साधुओं के व्याख्यान हुए थे। पाली अंग्रेजी, संस्कृत के कितने ही व्याख्यानों के अनुवाद करने का भार मुझ पर पड़ा, जिसे देखकर लोगों ने मुझे

अनन्तभाषाज्ञ' बना डाला।

एक दिन ब्रजकिशोर बाबू और राजेन्द्र बाबू सभापति देशबन्धुदास के निवास स्थान से लौटकर आये। उन्होंने जोर देकर कहा—हमने दास साहेब से आपके बोधगया के प्रस्ताव के बारे में कहा है आपको [illegible] में भी कह आये हैं इसलिए उनसे जाकर मिलिए। कहीं ऐसा न हो कि परिवर्तनवाद अपरिवर्तनवाद के [illegible] में यह प्रस्ताव ऐसे ही खटाई में पड़ा रहे।

22 दिसम्बर को मैं उस बँगले में गया जहाँ दास साहेब ठहरे हुए थे। सूचना देने पर बैठने का [illegible] हुआ। बाहर बराडे में बैठ गया। आध घंटे बाद फिर सूचना दी फिर बैठने का हुक्म। तीस चालीस मिनट बाद फिर सूचना दी, फिर बैठने का हुक्म। भीतर कितने ही स्त्री पुरुष बैठे हाहा हीही कर रहे थे और [illegible] में व्यस्त' का बहाना करके मुझे बैठने की आज्ञा होती रही। मैं जल भुनकर खाक हो गया और वहाँ से [illegible] चला आया।

22 दिसम्बर 1922 की डायरी में मैंने लिखा- ब्रजकिशोरप्रेषितो[illegible] [illegible]महाशयसमीपं महता कृच्छ्रेण पद्मध्यामगच्छम् किन्तु हन्त ! धनिकसम्प्रदाय एव दोषी न कश्चित् [illegible]। निरर्थ[illegible] पश्चात् न मयम इत्युक्तम्। [illegible]धनिकेषु [illegible]नामिव दशा। मनस्यतीवानुताप। [illegible] स्थानं [illegible] तत्रागच्छम्। आढ्यसम्प्रदाय एवातीव हानिकर यन चित्तरञ्जनसदृशा जना अपि तथा [illegible] भवन्ति। [illegible] न आनधन अश्रमजीवी वा श्रमजीविना पक्ष ग्रहीतुं समर्थ। [illegible] वज्रेणैव [illegible]। [illegible] आर्दमित्र [illegible] रहना तथा दूसरे के दिल को और भी ख्याल करने की मुझे उस घटना से बड़ी शिक्षा हुई [illegible] वह आर्दमित्र मेरे हमेशा के लिए घृणा हो गई।

गया कांग्रेस में परिवर्तनवाद और अपरिवर्तनवाद का झगड़ा जोरों से रहा [illegible] प्रस्ताव आने ही नहीं पाया। उस सम्बन्ध में मुझे जो बौद्ध भिक्षुओं के साथ काम करने का मौका मिला मैंने अपने को बौद्ध धर्म के नजदीक पाया।

20 जनवरी (1923 ई.) में जिला कांग्रेस कमेटी की बैठक [illegible] में [illegible] कांग्रेस के बाद परिवर्तनवादी होने से मैंने [illegible] कांग्रेस कमेटी के मात्र [illegible] तो मुझे उसे ही करना था। बछवारा के चार थानों के संगठन में [illegible] प्रधान [illegible]। [illegible] में खूब काम किया था और उन्हीं के उत्साह से जिला सभा की बैठक [illegible] में बुलाई गई थी। [illegible] का अभी कुछ समय था इसलिए मैं मकर संक्रान्ति को त्रिवेणी (नेपाल) देखा गया। [illegible] स्टेशन से उतरकर कुछ दूर बैलगाड़ी पर जा हम—मेरे साथी रूपनारायण और मैं—पैदल त्रिवेणी पहुँचे। [illegible] गंगाद्वार (हरिद्वार) की भाँति गंडक द्वार है। गंडक यहीं पहाड़ों से नीचे उतरती है। रास्ते में तराई के [illegible] बहुत से कटकर आबाद हो गये हैं। त्रिवेणी में चारों ओर जंगल है। इसी जंगल में तथा गंडक के दोनों पर मेला लगता है जिसमें गोरखपुर चम्पारन के जिलों तथा नेपाल के पहाड़ों के बहुत से नरनारी आते हैं। मेले का प्रधान भाग गंडक के दाहिने तट पर रहता है। बायें तट पर एक छोटी सी पहाड़ी नदी आकर मिलती है जिसके कारण इसे त्रिवेणी (त्रिगंगा) कहते हैं। छोटी नदी नेपाल और ब्रिटिश सीमा को अलग करती है और ब्रिटिश सीमा के भीतर की सारी भूमि [illegible] की जमींदारी है।

मेले में बिकने के लिए आई चीजों में नेपाली नारंगी और केले बहुत मीठे और सस्ते थे। नेपाली [illegible] कम्बल गुदड़ी तथा कुछ और चीजें बिक रही थीं। गंडक का पानी यहाँ बहुत स्वच्छ और नीला था। मैं किनारे किनारे दो तीन मील तक ऊपर की ओर गया किन्तु मुझे तो जलालपुर लौटना था इसलिए बहुत आगे कैसे बढ़ सकता था। बायें तट पर बनिया के जंगल में कई मील तक गया। एक-दो साधुओं के स्थान मिले और जंगल में होने के कारण मुझे बड़े आकर्षक मालूम हुए। एक पुराने मन्दिर में बतिया के किसी पुराने महाराज का शिलालेख देखा।

लौटते वक्त पैदल चलकर स्टेशन आने की जगह हमने नाव से बगहा तक आना पसन्द किया। नौका माल लेकर बहुत सी नाव त्रिवेणी पहुँची थी। सस्ते में ही हमें जगह मिल गई। (17 जनवरी को) दोपहर

बाद हमारी नाव रवाना हुई। हम गंडक की तेज धार में नीचे की ओर जा रहे थे, इसलिए मल्लाहों को बहुत मेहनत नहीं करनी थी, हाँ, जहाँ भेंड़िया (उठती लहर) लग रही थी वहाँ उन्हें नाव को सावधानी से बढ़ाना पड़ता था। त्रिवेणी से थोड़े ही नीचे बाईं तरफ से बेतिया की नहर निकली थी, इस पानी का सुन्दर उपयोग हो रहा था। उधर मेल की जगह मैंने एक उजड़ा हुआ लकड़ी चीरने का कारखाना और उसकी परित्यक्त मशीनें देखीं जिन्हें काफी रुपया लगाकर किसी समय नेपाल सरकार ने खड़ा किया होगा। रात को नदी तट पर बालू की रेती में हम लोग उतरे। वहीं किसी कँवरथु (महादेव के ऊपर चढ़ाने के लिए गंगाजल भरकर काँवर में लानेवाले) ने हमारे लिए भी खाना बना दिया। तराई का जंगल बहुत दूर नहीं था, किन्तु दो तीन नावों के आदमियों तथा जलती आग के सामने हमला करना शायद बाघ का काम न था—रेती में ऊपर से बहकर आये सूखे वृक्षों और लकड़ियों की कमी न थी। [illegible] दिन हम बगहा पहुँचे। यात्रा बड़ी मनोरंजक रही। कभी हम आसपास के [illegible] कभी रेती में धूप लेते नाकों और घड़ियालों को सोया देखते। कँवरथु लोग पुराने पुराने गीत गाकर और भगवान की प्रशंसा में लगे रहते थे। जाड़ों का दिन था, इसलिए धूप असह्य न मालूम होती थी।

बगहा से रेल पकड़कर (19 जनवरी को) हम [illegible] आये। [illegible] कमेटी की बैठक के साथ एक जुलूस और बड़ी सार्वजनिक सभा का प्रबन्ध किया गया था। [illegible] में [illegible] और भारी जनता शामिल थी। सभा भी शानदार हुई। [illegible] स्वागत हुआ। [illegible] के लिए विशेष अपनापा [illegible] था। [illegible] सभा में परिवर्तनवादी होने के कारण मेरे [illegible] नहीं थे [illegible] देकर मैंने इस्तीफा [illegible]।

26 जनवरी को प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में मैं भी पटना गया था। उस वक्त प्रान्तीय कांग्रेस का ऑफिस गुलाबबाग में था। बैठक के बाद एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें [illegible] बाबू और दूसरे नेता [illegible] मुझे भी कुछ बोलने के लिए कहा गया। [illegible] कितने ही [illegible] सुनाई [illegible] था। मुझे अपने [illegible] कहा था—देश की आज़ादी के लिए इस तरह के [illegible] होगा। [illegible] आदि में सारी [illegible] और [illegible] समय समय पर [illegible] मेरा [illegible] में नेपाल [illegible] के लिए [illegible] महीने को [illegible]।

6

नेपाल में डेढ़ मास (मार्च-अप्रैल 1923 ई.)

यात्रा में दो साथी होना अच्छा है, बशर्ते कि दोनों का मन मिलता हो। नेपाल यात्रा के लिए मैंने महेन्द्रनाथ सिंह को साथी चुना। वह कालेज छोड़कर आये एक उत्साही [illegible] मेरे कहने पर [illegible] थाने में काम करने गये थे। 7 फरवरी को रक्सौल पहुँचकर खाना बनाने के लिए हमने कुछ [illegible] खरीदा। उस वक्त रेल वहीं समाप्त होती थी, और आगे पैदल जाना पड़ता था। शिवरात्रि मेले के वक्त राहदारी (पास) मिलना आसान होता है। यही समय है, जब कि नेपाल से बाहर के हिन्दुओं को बेरोकटोक राजधानी में जाने का मौका मिलता है इसलिए भारी तादाद में लोग भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों से जाते हैं। रक्सौल में एक डाक्टर नब्ज दबाता जाता था, फिर नेपाली हाकिम के सामने से सारी गुजरते और उन्हें कागज की एक छोटी सी चिट—राहदारी—मिल जाती। लोटा तसला और एकाध दूसरे बर्तनों के अतिरिक्त हमारे पास और ज्यादा सामान

नही था, इसलिए चलने मे कोई दिक्कत न थी। पहिले ही दिन हम जगल मे पहुँच गये। दूसरे दिन चुरियाघाट को पार कर बहुत आगे बढे। चुरियाघाटी की चढाई कुछ मुश्किल थी। सारा मेला ही साथ चल रहा था, इसलिए उस जगली पहाडी रास्ते मे हम अकेले चलनेवाले नही थे।

भीमफेरी मे खासी भीड थी। सारी धर्मशालाएँ और दूकान भी भरी हुई था। सीसागढी (चीसापानी) के लिए उस वक्त आज ऐसी अच्छी सड़क न बनी थी। और जो थी उसे भी न ले हमने पगडडी का रास्ता पकड़ा था। महेन्दनाथ चलने मे मुझसे ज्यादा मजबूत निकले। उसी रात को जब हम शिइ निट मे ठहरे तो महेन्द्रनाथ के गाँव (सिताबदियर) के एक साधु कृष्णदास मिले। रसोई बनाना हमारे लिए बडी कवाहट की बात थी, कृष्णदास के साथी बनने से हमारी वह दिक्कत जाती रही। मैं तो वही कालीकमलीवाला था, और कृष्णदास थे भूरी किन्तु छोटी-छोटी जटा और भभूतवाले तपसी।

चन्दागढी की चढाई उतनी कठिन नही मालूम हुई और सबेरे 9 बजे के करीब हम नीचे उतर गये। हम रास्ते से जा रहे थे, तो एक आदमी ने आकर मालपुए की सदावर्त लेकर जाने के लिए कहा। जलपान करके हम वैरागी साधुओ के स्थान थापाथल्ली मे पहुँचे। आसन बगलवाले चौक के बरांडे मे लगा। कृष्णदास ने लकडी लेकर धुनी लगा दी, और नेपाल के माघ के जाड़े मे भी हम आराम से उसके गिर्द जमे रहे।

मुझे यह विश्वास नही था कि यहाँ भी परिचित निकल आवेगे। गया मे काग्रेस के वक्त आर्यसमाज के पडाल मे मेरे व्याख्यान तथा पाली, संस्कृत, अंग्रेजी के भाषान्तरों को सुननेवाले साधुओ मे दो चेतन्य साधु यहाँ पहुँचे हुए थे, उनमे से एक तो स्थान ही मे महन्तजी पर प्रभाव जमाए ठहरे थे, दूसरे ... तीन सरकार के साले एक राजकुमार के मेहमान थे। उन्होने बढा-चढाकर मेरी प्रशसा करनी शुरू की। थापाथल्ली मठ पहिले मेमरोनगढ के महन्त के हाथ मे था, महन्त के निकालने पर रामतारनदास भी यहाँ ... बैठा दिया गया, और ऐसे ही एक रमता साधु को महन्त बना दिया गया था। किसी वक्त शिकायत होने पर वह भी निकाले जा सकते थे, इसलिए उन्हे बहुत फूंक-फूंककर कदम रखना पडता था। उन्होने मेरे बारे मे जो सुना, तो बिना माँगे ही घी, आटा, चीनी तथा दूसरी खाने की चीजे जरूरत से अधिक हमारे ठहरने की जगह पर भिजवाना शुरू किया, और इस प्रकार हम वैरागियो का ... (भोजन पाकर) ... की जरूरत न थी। कृष्णदास भोजन बना दिया करते और खाना खा घूमकर हम पशुपतिनाथ गुह्येश्वरी मन्दिर ही नही काठमाडो और पाटन के अनेक दर्शनीय स्थानो को देखने जाते। एक दिन (16 फरवरी) हम ... के पश्चिम बूढा नीलकठ देखने जा रहे थे, जहाँ कुड मे विष्णु की बडी सी शिलामूर्ति पडी हुई थी, और ... से पानी का नल काठमाडो शहर मे आया था। रास्ते मे नदी के किनारे एक जगह से लोग काली सी ... चीज उठा-उठाकर खेतो मे डालने के लिए ले जा रहे थे। उसे देखकर मुझे नर्म पत्थर के कोयले का भ्रम हुआ, दो-चार टुकडे पास मे रख लिये। लौटकर धुनी मे रखने पर मेरा शक दुरुस्त निकला—वह वस्तुत नरम कोयला (Peat) था। उसी शाम को राजपुत्र एक और राजवंशिक के साथ मिलने आये—दूसरे सन्यासी ने अनेक भाषाविद् कहकर मेरी प्रसिद्धि वहाँ कर दी थी। मैंने वार्तालाप मे जब नेपाल उपत्यका मे कोयले की बात कही, तो उन्होने कहा—हम तो इसका पता नही। मैंने एक टुकडा धुनी मे जलाकर दिखलाया, और वह बहुत विस्मित हुए। उस वक्त तक लोग इसे खेतो की प्राकृतिक खाद मात्र समझते थे।

शिवरात्रि मेले मे भारत से आये विद्वान् तपस्वी योगी साधु-महात्माओ के दर्शन के लिए नगर के सभी श्रेणी के व्यक्ति मठो मे आया-जाया करते है। सरकारी अधिकारी, विशेष व्यक्तियों के लिए खास प्रबन्ध करते हैं। उस वक्त स्वामी सच्चिदानन्द एक विद्वान सन्यासी आये थे, जिन्हे राज के अतिथिभवन मे ठहराया गया था। मेरे बारे मे तो एक जगह ठहर जाने पर मालूम हुआ था, तो भी अन्यत्र रहने के लिए जोर दिया गया किन्तु मैने वही रहना पसन्द किया। मिलनेवाले व्यक्तियों मे राजगुरु पडित हेमराज शर्मा भी थे। वह (15 फरवरी को) शाम को आये थे, और हमारा वार्तालाप शास्त्रीय विषय था। सन्ध्योपासन का समय होने पर जब राजगुरु ने उसका सकेत किया, तो मैंने उदयनाचार्य का यह श्लोक (कुसुमांजलि मे) "उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता" कहा। उस वक्त मैंने राजगुरु को एक अच्छे पडित के रूप मे देखा, किन्तु नेपाल की राजनीति मे उनके स्थान

तथा धन-वैभव के बारे में नहीं जान पाया था।

शिवरात्रि में पशुपति दर्शन की भीड़, सेना प्रदर्शन आदि के बारे में मैंने अपनी दूसरी नेपाल यात्रा* (1929 ई.) में लिखा है, इसलिए मैं कुछ खास बातों को ही यहाँ लिखना चाहता हूँ। शिवरात्रि के दिन (13 फरवरी को) प्रधान-मन्त्री महाराजा चन्द्रशमशेर की सवारी घूमते सामने थापाथली भी पहुँची। उन्हें अपने सम्बन्धी से मेरे बारे में मालूम हुआ था। गाड़ी दरवाजे पर खड़ी हुई, और मुझे बुलाने के लिए आदमी गया। एक बूढ़ा किन्तु स्वस्थ आदमी सफ़ेद दाढ़ी और साफ़ा बाँधे गाड़ी में बैठा हुआ था। गाड़ी के आगे पीछे कितने ही सशस्त्र पुलिस और सैनिक अफ़सर थे। उन्होंने प्रणाम करते हुए रहन सहन के बारे में पूछा। फिर उस समय के जबर्दस्त भारतीय उथल-पुथल असहयोग के बारे में पूछा, और अन्त में हमें क्या करना चाहिए इसके बारे में भी कहा। वहाँ खड़े-खड़े इन बातों पर अपने विचार प्रकट करना मुझे उचित मालूम नहीं हुआ, और न उसकी मेरे मन में चाह ही थी—इसीलिए कई बार कहने पर भी मैं महाराजा के यहाँ जाने का तैयार नहीं हुआ था। मैंने दो चार शब्दों में जवाब देकर छुट्टी ले ली। मैं अपने आसन पर चला आया और सवारी आगे बढ़ गई।

मुझे मालूम था कि शिवरात्रि के बाद आगन्तुकों को लौट जाने के लिए पुलिस पीछे पड़ जाती है, और मुझे एक डेढ़ महीना रहना था, इसलिए मैंने पहिले ही से उस पाँच मील दूर के कई स्थानों के बारे में पूछ ताछ कर ली थी, और देवकाली स्थान को रहने के लिए उपयुक्त समझा था। शिवरात्रि के सप्ताह भर बाद 20 फरवरी को मैं और महेन्द्र दक्षिण काली की ओर चले—कृष्णदास मेरे के साथ भारत की ओर लौट गये थे। दक्षिण काली के आसपास की पार्वत्य भूमि तो अच्छी थी—चारों ओर हरा भरा जंगल, कलकल करके बहती नदी, पक्षियों का कर्ण मधुर कलरव। किन्तु जब हमने पाँच मिनट में पाँच भेड़ों के सिर को धड़ से अलग हो काली देवी पर चढ़ते देखा, और भैंसे, बकरे, मुर्गे के रक्त से रंजित सारा आँगन हमारी नजरों के सामने पड़ा, तो हमारा विचार बदल गया। पूछने पर फर्पिङ के पास शिखरनारायण का पता लगा। हम वहाँ पहुँचे।

✓ यह स्थान हमें रमणीय जँचा। नीचे से ऊपर तक जंगल से लदा था एक बड़ा पहाड़। इसकी लकड़ी काटनी मना थी, इसलिए आसपास के कितने ही और पहाड़ों की भाँति यह चटियल नहीं पड़ गया था। पर्वतपाद से स्वच्छ शीतल जल का एक मोटा झरना निकला था। यह पानी नल से शहर के पास फर्पिङ, पावर स्टेशन के लिए ले जाया जा रहा था, जंगल काटने से झरने के सूखने का डर रहता है, शायद इसीलिए इस पर्वत के वृक्षों को काटने की सख्त मनाही थी। महन्तजी को नागरकोट गायों को गर्मी के लिए जहाँ पास सात हड़िया (सात व्यक्ति की खाद्यसामग्री) को राज की ओर से बंधान था वहाँ उपयुक्त लकड़ी काटने का भी अधिकार था। पर्वत वृक्ष से आगे की ओर झुकी एक चट्टान थी, जिसकी आकृति सर्पाकार है, इसीलिए यहाँ की विष्णु मूर्ति को शिखरनारायण कहा जाता है। उक्त चट्टान की एक ओर एक छोटी सी गुफा थी, सामने पत्थर का फर्श। चन्द सीढ़ियाँ नीचे उतरकर पुल से झरने के जल को पार कर धर्मशाला—एक दोतल्ला नेपाली ढंग की इमारत—थी। मैंने गुफा में रहना पसन्द किया, और महेन्द्र को धर्मशाला के कोठे में रहने को कहा। भोजन की समस्या पास के गाँव के एक ब्राह्मण गृहस्थ ने हल कर दी। वह बना बनाया भोजन रोज हमारे पास पहुँचाने लगा। मैंने कुछ दिनो तक एक दिन छोड़कर अन्न खाने का नियम किया था, किन्तु जब उसे प्रसिद्ध होते देखा, तो रोज खाने लगा।

हम लोग इस स्थान पर दो सप्ताह ठहरे। अपने से संस्कृत और अंग्रेजी की पाँच-सात पुस्तकें ले गये थे, उन्हें पढ़ना, आपस मे बातचीत करना और इससे जो बचता था उस समय को मैं चिन्तन और मनन में लगाता था। लोग बतला रहे थे कि आँगन में कभी कभी भालू आता है, किन्तु मैंने उसे किसी दिन नहीं देखा, हाँ, रात को जानवरों की कुछ अपरिचित आवाजें जरूर सुनने में आती थी। यदि कोई जानवर मेरी गुफा की ओर आता तो वहाँ मेरे पास रक्षा का कोई साधन नहीं था धुएँ के डर से उस छोटी सी गुफा में मैं आग भी बहुत कम जलाता था। महेन्द्र के पास एक कम्बल था, सर्दी ज्यादा तेज नहीं थी, ब्राह्मण ने रजाई बिछौना

'तिब्बत में सवा वर्ष'।

भेज दिया। एक दिन लकड़ी जलाकर सो गये, कहीं से कपडे पर आग पड़ गई, सब जल गया, समय पर नींद खुल गई इसलिए खुद तथा वह लकडी का घर भी बच गया।

शिखरनारायण हिन्दुओं और बौद्धों का सम्मिलित तीर्थ है, इसलिए कभी-कभी वहाँ तिब्बती लामा भी आते थे। एक दो नेवार बौद्ध तो रोज ही पूजा के लिए आते। उनसे मैंने किसी बौद्ध पंडित का नाम पूछा, तो उन्होंने पाटन के वज्रदत्त वैद्य का नाम बतलाया। शिखरनारायण मे काफी देवोत्तर सम्पत्ति लगी मालूम होती है। सबेरे ही बाजा लेकर कुछ गानेवाले चले आया करते, और अधिकतर विनय-पत्रिका से, पराती (प्रातः गान) गाया करते।

शिखरनारायण का पानी पावर-स्टेशन पर जाता है, एक बार वहाँ काम करनेवाले दो पंजाबी सज्जन (प. प्यारेलाल और ठाकुर लालसिंह) हमारे यहाँ तक पहुँचे, और अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दे गये। 6 मार्च को स्थान छोड़ने पर हम पावर-स्टेशन गये। इसके ऊपरवाले गावों की हालत बहुत बुरी थी। खेत बनाने के लिए लोगों ने चोटी तक पर वृक्ष नहीं रहने दिये। झरनों का वृक्षों और उनकी जड़ों से खास सम्बन्ध होता है, इसलिए वृक्षों के अभाव मे वैसे ही झरने बहुत से सूख गये थे। अब रहा सहा पानी पावर स्टेशन में बिजली तैयार करने के लिए जा रहा था, जिससे खेती सिर्फ वर्षा के भरोसे ही हो सकती थी, और इन गाँवों की अवस्था बदतर हो गई थी। पावर स्टेशन में हम लोग दोपहर तक रहे। दोनों परिचित सज्जन ओवरसियर थे, बड़ा इंजीनियर एक अंग्रेज था, जिसे मुफ्त में एक हजार रुपया दिया जाता था, यद्यपि उससे कम पर भारतीय इंजीनियर मिल सकता था। वहाँ एक कप्तान साहेब भी रहते थे, जो शायद पुलिस का काम करने के लिए।

वहाँ से हम पाटन पहुँचे। वज्रदत्त वैद्य का पता आसानी से लग गया। वह एक 'विहार' (गृहसमूह में) मे कई और गुभाजू परिवारों के साथ रहते थे, उम्र साठ से ऊपर होगी। नेपाली बौद्धों की परम्परा तथा पूजापाठ के बारे में उनको कुछ ज्ञान था, किन्तु संस्कृत सिर्फ पढ़ लेना-भर जानते थे, और बौद्ध-धर्म के परिचय में वे सहायक न हो सके। उन्होंने नेवार और रंजन अक्षर मे लिखी कुछ पुस्तकें दिखलाईं। मेरे ज्ञान में तो वह वृद्धि नहीं करा सके, किन्तु उनका बर्ताव बहुत अच्छा रहा। रात को अपने यहाँ ही रखा। शाम को जब पुलिस का आदमी हम लोगों का नाम धाम लिखने आया, तब हमें नेपाली पुलिस की तत्परता का पता लगा। वज्रदत्तजी पाटन के एक अच्छे वैद्य थे, वैद्यक उनका खान्दानी पेशा था। उनका लड़का भी वैद्य था। पहिली स्त्री के मरने पर पिता ने नई शादी की थी, इसलिए पिता पुत्र में बनती न थी। नेपाल के बौद्धों में आम तौर से विधवा विवाह हो जाता है, और प्रौढ़ या वृद्ध विधुर को शादी करने मे कोई दिक्कत नहीं होती। यहाँ मुझे एक दूसरे बौद्ध पंडित रत्नबहादुर से भेंट हुई। वह सिद्धान्तकौमुदी कुछ पढ़े हुए थे, किन्तु साहित्य में प्रगति न होने से संस्कृत भाषा समझने बोलने में दिक्कत अनुभव करते थे। बौद्ध-साहित्य के कुछ ग्रंथो को उन्होंने दिखलाया, और कुछ बातें भी बतलाईं। तिब्बत में वह रह चुके थे, और तिब्बती कन्जूर के कुछ ग्रंथों की सूची भी उन्होंने बनाई थी। मैं ज्यादा रह नहीं सकता था, इसलिए भी रत्नबहादुर पंडित के ज्ञान से ज्यादा फायदा नहीं उठा सका। दोपहर का भोजन उनके मित्र एक बड़े सौदागर ने कराया, इनकी कई कोठियाँ तिब्बत में हैं, और कह रहे थे—यदि आप चलना चाहें तो हम आपको तिब्बत भेज सकते हैं। महेन्द्र की तबियत ठीक हो गई थी, किन्तु मैं डेढ़ मास बाद छपरा लौटने की बात कहकर आया था।

हम थापाथल्ली में फिर तीन चार दिन ठहरे। एक दिन (10 मार्च) राजगुरु हेमराज शर्मा के यहाँ गये—पुस्तकागार के वही प्रधानाधिकारी थे। बड़ा महल, ड्योढ़ी-पहरेदार सभी, बाकायदा राजसी इन्तजाम था। उस दिन शाम को ऊनी चद्दर, नेपाली पायजामा और सादी टोपी पहिने हुए व्यक्ति को देखकर उसके उस वैभव का अनुमान नहीं हो सकता था। सूचना देने पर उन्होंने भीतर बुलाया, और दरवाजे तक स्वागतार्थ आये। देखा एक बड़े सजे हुए हाल में फर्श के कालीन पर बहुत-सी संस्कृत पुस्तकें पड़ी हुई हैं, कितने ही और पंडित बैठे हुए हैं। वज्रदत्त वैद्य से मुझे मालूम हो गया था कि मध्यदेश से आये स्वामी सच्चिदानन्द पशुबलि का बड़े जोर शोर से खंडन कर रहे हैं, और कह रहे हैं कि यह वेद-विरुद्ध और धर्म विरुद्ध है; जिसके मारे ब्राह्मण पंडित परेशान हैं, महाराज भी पशुबलि के विरुद्ध होते जा रहे हैं। यहाँ इन किताबों को देखने से वैद्य का

बात स्मरण हो आई, और गुरुजी से बात करने पर तो वह और स्पष्ट हो गई। पशुबलि के लिए यहाँ शास्त्रीय प्रमाण ढूँढे जा रहे थे। स्वामी सच्चिदानन्द अपने पक्ष की पुष्टि में वृद्ध वाक्य भी उद्धृत किया करते थे। मुझे उस वक्त कुमारिल (श्लोकवार्तिक) का एक श्लोक याद आया जिसमें कहा गया है कि वृद्ध आदि वेदबाह्यों का वाक्य उचित होने पर भी 'कुत्ते के चमड़े में रखे गाय के दूध' ('[illegible]') की तरह त्याज्य है। गुरुजी ने श्लोक का पता पूछा। मैंने निकालकर दिखला दिया। उन्होंने आग्रह किया कि मैं भी इस विवाद में स्वामी सच्चिदानन्द के विरुद्ध भाग लूँ, किन्तु भीतर से तो मैं अभी आर्यसमाजी विचारों को मानता था जिसमें स्वामी सच्चिदानन्द के पक्ष ही की पुष्टि हो रही है।

एक बार फिर हम महाबौद्ध गये। वहाँ चीनिया लामा से मिले। चीनिया लामा उस वक्त हवन में लगे हुए थे, तो भी उन्होंने बैठाकर थोड़ी देर तक बातचीत की। [illegible] का मन नहीं लगा था. हाँ उनकी एक लड़की वहाँ जरूर थी [illegible] कर्णफूल था। चीनिया लामा बूढ़े थे, उनके गले में घेघ था।

नेपाल से लौटने के लिए राहदारी की जरूरत होती है और हमें उसके मिलने में दिक्कत नहीं हुई। पावर स्टेशन के पंजाबी भाइयों ने उधर ही से जाने के लिए आग्रह किया था। इस प्रकार हम चन्द्रागिरि की चढ़ाई से भी बच सकते थे, इसलिए हम उसी रास्ते लौटे। तीन दिन वहाँ रहे। वहाँ से भीमफेदी तक के लिए एक भरिया (भारवाहक) और पाथेय मिल गया और १४ मार्च को हम भीमफेदी के लिए रवाना हुए। हमारे रास्ते के पास से बिजली के खम्भे गये हुए थे। [illegible]। भीमफेदी से [illegible] तक मोटर सड़क तैयार की जा रही थी, उसी के लिए [illegible]।

भीमफेदी से आगे के पड़ाव [illegible] हो गया, और चलना मुश्किल मालूम होने लगा। [illegible] मेरे पास एक पैसा भी नहीं था, (सिर्फ एक दो बरतन रह गये थे)। [illegible] गाड़ीवान ने चढ़ा लिया। रात को हम चुरियाघाटी में आग [illegible] में रहे। इधर बाघ होते रहते हैं। उनसे बचने के लिए पचीस-तीस गाड़ीवानों ने अपनी गाड़ियों को [illegible] और वहाँ बड़े बड़े कुन्दों की आग जला दी गई। [illegible] पूरा विश्राम था।

बैलगाड़ी सामान्त के पास [illegible] मैंने बचपन में [illegible] में आये साधु को देखा था, किन्तु मैं वहाँ ठहरा नहीं। मुझे क्या मालूम [illegible] कर रहे हैं। रक्सौल में उसी दूकानदार [illegible] (22 मार्च को) गाड़ी छपरा के लिए रवाना हो गया।

7

हजारीबाग जेल में (1923 अप्रैल से 1925 ई.)

बाबू माधवसिंह के घर पर पहुँचते ही मालूम हुआ कि [illegible] ऊपर वारंट निकला है। साथियों ने परामर्श दिया—बैठे [illegible] अच्छा है कि मैं इस वक्त हट जाऊँ। किसी ने वारंट के बारे में मेरे पास [illegible] भी भेजी थी, किन्तु वह मुझे मिल न सकी। यदि मिल गई होती तो [illegible] और महेन्द्र भी इतना जोर दे रहे थे कि हम उधर को ही चल दिये होते [illegible] इस तरह छिपकर चला जाना मैंने पसन्द नहीं किया। मैंने गिरफ्तार होने का निश्चय किया और [illegible] पुलिस को सूचना दे दी—श्री राजगोपालाचारी के व्याख्यान के समय उसी सभा में मैं मौजूद रहूँगा, आप वहीं मुझे गिरफ्तार कर सकते हैं।

कालेजियट स्कूल (वर्तमान विश्वेश्वर-सेमिनरी) के हाते में बड़ी सभा थी, हजारों लोग जमा थे; इसलिए पुलिस ने उतने बड़े मजमे में मुझे गिरफ्तार करना पसन्द नहीं किया। पहिली जेलयात्रा से आने के बाद छपरा मे बाबू माधवसिंह का घर ही मेरा निवासस्थान बना था। शाम को पुलिस-आफिसर ने आकर कहा—पटना जाना होगा, और जिस वक्त आपको सुभीता हो, हम उसी वक्त गिरफ्तार करेंगे। मैंने अपने को तैयार बतलाया, और उसी रात को दो सिपाही मुझे ले पटना पहुँचे। रात को बाकीपुर कोतवाली की हवालात में बन्द रहा। दूसरे दिन रविवार था, इसलिए वे घूमते-घामते एस. डी. ओ. के बँगले पर ले गये। धूप तेज मालूम होती थी, ऊपर से ज्वर की कमजोरी भी थी, इसलिए एक्के पर भी इतनी दौड़-धूप मुझे पसन्द न लग रही थी। दोपहर को बाँकीपुर (पटना) जेल के तनहाई-सेल मे पहुँचा दिया गया।

जाड़े ही जाड़े मे मैं नेपाल चला गया, और अभी तुरन्त ठंडी जगह से गर्म जगह में आने के कारण मुझे गर्मी और भी असह्य हो रही थी। उसके ऊपर सेल में बन्द किया गया, जहाँ हवा का रास्ता ही न था और पटना के मच्छरों के आक्रमण की तो बात ही न पूछिए। पंडित वासुदेव पांडे उस वक्त जेलर थे। उनका बरताव अच्छा था। उन्होंने स्कूलों के लिए एक वर्णमाला की पुस्तक लिखी थी। मेरे बारे मे विशेष जानने पर उनका आग्रह हुआ कि मै उनके लिए भारत का एक इतिहास लिख दूँ। मैंने शुरू भी किया, किन्तु आधी दूर तक पहुँचने से पहिले ही सजा हो गई। हफ्ते या अधिक की गामन के बाद मुझे एक वार्ड मे तबदील किया गया। यहाँ रात को कुछ हवा आती थी, किन्तु जमीन पर कम्बल बिछाकर लेटे लेटे मच्छरो के मारे सोना हराम था।

मुझ पर भारतीय दंडविधान की धारा 124 (ए) के अनुसार राजद्रोह का मुकदमा चला था। पुलिस की दो या तीन रिपोर्टें—जो शार्टहैंड में नहीं थी—तथा कुछ गवाह सरकार की ओर से मेरे विरुद्ध पेश किये गये थे। सरकार मुकदमा चलावे और सरकार के ही प्रबन्ध-विभाग का एक नौकर—सब-डिविजनल मजिस्ट्रेट—न्यायाधीश बने, फिर वहाँ दंड छोड़ दूसरे फँसने की उम्मीद ही क्या हो सकती है? सफाई मैंने नहीं दी, सिर्फ एक लिखित वक्तव्य दिया जिसमें भाषण की रिपोर्ट से भी ज्यादा कड़ा कह, इलजाम को स्वीकार किया, शायद भाषण 'देश' (पटना) में छपा था। मजिस्ट्रेट ने दो साल की सादी कैद दी। धन्यवाद दे मैं जेल चला आया, और दो साल जेल में बन्द होने के लिए मुझे जरा भी अफसोस नहीं हुआ। उसका कारण था। राजनीति में भाग लेने पर बाहर काम में फँसे रहने के कारण कोई गम्भीर अध्ययन हो नहीं सकता था, इधर देश में भी राजनीतिक शिथिलता आ गई थी, जिससे बाहर रहकर ज्यादा काम करने की आशा तो थी नहीं, जेल में पढ़ना लिखना तो अच्छी तरह होगा, यही खयाल मेरे दिमाग में उस वक्त काम कर रहा था।

सजा के एक दो ही दिन बाद मुझे बक्सर जेल भेज दिया गया। स्टेशन पर मैंने कई पोस्टकार्ड लिखे जिनमें एक नेपाल के अल्प परिचित उस राजकुमार को भी लिखा था। जेल में पुस्तकों की आवश्यकता होगी, और उसके लिए कुछ रुपये भी चाहिए—यह सोचना ठीक था, किन्तु उसके लिए एक साधारण से परिचय के बल पर किसी से रुपये माँग बैठना बुद्धिमानी नहीं समझी जा सकती। किन्तु, यह खयाल चिट्ठी डाल देने पर आया। पछताने से क्या फायदा? आदमी में, आखिर बुद्धिमानी से बेवकूफी का माद्दा ज्यादा होता है।

जेल में हम पिछली बार जिस वार्ड में थे, उसी की एक कोठरी में—कमरे में नहीं—रखा गया। मालूम हुआ, शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ भी यहीं अपने मुंगेर के भाषण के लिए साल-भर की सजा भुगत रहे हैं, किन्तु वह अलग रखे गये थे। सुपरिंटेंडेंट कप्तान बर्क जब मेरी कोठरी के सामने आया, तो मैं खड़ा तो हो गया, किन्तु 'सरकार सलाम' की आवाज पर मैंने सलाम नहीं किया। बर्क आग-बगूला हो गया, और सजा देने की धमकी देकर चला गया। मुझे उसकी परवाह नहीं थी। पीछे जेलर ने आकर समझाना शुरू किया। मैंने सलाम करने से जब बिलकुल इनकार किया, तो उन्होंने कहा—किन्तु शंकराचार्यजी भी तो सलाम करते हैं, यदि वह कह दें तब तो एतराज नहीं होगा? और उन्होंने शंकराचार्यजी की राय मँगवा दी। मुझे अब झगड़ा मोल लेना पसन्द नहीं आया।

पिछली जेलयात्रा में मैंने 'कुरानसार' को संस्कृत में लिखा था। अब के, पटना ही में उसका हिन्दी-अनुवाद

शुरू किया, और यहाँ आने पर पहिले उसी काम को खतम किया। मुश्किल से हफ्ते भर बीते थे कि सरकारी हुकुम आया कि सभी सादी कैदवाले राजनीतिक कैदियों को हजारीबाग भेज दिया जाय, और इस प्रकार स्वामी शंकराचार्य, मेरा—और शायद मदनलाल [illegible] तथा रामविहारीलाल भी तब तक बक्सर पहुँचे हुए थे—हजारीबाग के लिए तबादला हो गया।

पटना जंकशन पर आने पर मालूम हुआ कि गया की ट्रेन में बहुत देर है। शंकराचार्यजी ने गंगास्नान का प्रस्ताव रखा। सिपाही भी राजी हो गए, सामान स्टेशन पर छोड़ा, सिपाहियों ने वर्दी पेटी उतार डाली, [illegible] हाथ में लिया; हम बाँकीपुर मैदान होते गंगा की तरफ जा रहे थे, इसी समय किसी परिचित आदमी ने उस तरह मुक्त हो साथियों के साथ जाते देख इतनी जल्दी छूट जाने के लिए मुझे बधाई दी। उन्हें आश्चर्य हुआ, जब मैंने असली बात बतलाई।

गया में भी हजारीबाग रोड की गाड़ी के लिए हमें काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी। स्वामी शंकराचार्य का कोई आदमी बाहर से उनके फलाहार आदि का इन्तजाम करने के लिए बक्सर में रहता था, वह यहाँ भी साथ था, इसलिए हमें सरकार की दी हुई [illegible] रकम पर गुजारा करने की नौबत न आई।

हमारी मोटरबस सबेरे हजारीबाग जेल के फाटक पर पहुँची। फाटक पर हमारी सब चीजों की जाँच हुई। मेरी पुस्तकों में सिंहली अक्षर में पाली मज्झिमनिकाय [illegible] जिसे मैं [illegible] रोज नियम से एक घंटा पढ़ता था। जेलर ने लिपि, भाषा और विषय [illegible] पता न पाने से [illegible] नहीं दिया। मैंने इस पर अनशन कर दिया। बक्सर जेल में पहिली बार [illegible] दिन अनशन करना पड़ा था, किन्तु उस वक्त जेलवालों के दुर्व्यवहार के विरुद्ध सारी कमाण्ड ने अनशन शुरू किया था। यहाँ मैं अकेला था। जेल के गोरे जेलर मिस्टर मीक की सख्तियों के बारे में मैं काफी सुन चुका था। उसने आकर धमकी दी और अनशन छोड़ने के लिए कहा, किन्तु मैंने उसे नहीं माना। स्वामी शंकराचार्य से कहने पर उन्होंने कह दिया—उनकी बौद्धधर्म पर श्रद्धा है, यह उनकी धार्मिक पुस्तक है, इसलिए हम मजबूर नहीं कर सकते। [illegible] में मज्झिम निकाय मेरे पास चला आया। [illegible] मैंने [illegible] नहीं किया।

जेल लाइब्रेरी में पुस्तकें नहीं [illegible]। [illegible] कागज, कलम, पेंसिल रखने का हमें अधिकार न था। तो भी [illegible] स्वामीजी को [illegible] में भिन्न भिन्न राजनीतिक विषयों पर [illegible]। [illegible] पूजापाठ का सरंजाम करने की जिम्मेवारी मैंने अपने ऊपर ली थी। [illegible] करने का और भी ज्यादा मौका था। पहिले हम दो नम्बर में रखे गये। उस वक्त हमारे [illegible] पिछला पाउन्ड-वार्ड नम्बर एक- में उड़ीसा के पंडित गोपबन्धुदास, भगीरथ महापात्र आदि रहते थे। हमें [illegible] से मिलने की इजाजत नहीं थी, और दीवार के ठोस रहने से [illegible] लिया था। स्वामीजी रोज कुछ संस्कृत [illegible] कागज के टुकड़ों तथा पेंसिल का 'जोगाड़' करना पड़ता था। [illegible] स्थापित होने की बात मालूम हो गई या क्या, थोड़े ही समय बाद हमें [illegible] में भेज दिया गया। इस वक्त तक भागलपुरवाले गांधी छूट चुके थे। युद्ध के समय लाहौर षड्यन्त्र में सजा पाये सिक्खों को [illegible] हजारीबाग जेल में भेजा गया था—स्टेशन से चालीस मील दूर [illegible] राजनीतिक जागृति से वंचित यह स्थान उस वक्त इसके लिए उपयुक्त भी था। उन्हीं पंजाबी कैदियों [illegible] के लिए ये सेल बनाये गये थे, इसीलिए इन्हें पंजाबी सेल कहा जाता था। चार सेल [illegible] सामने हर सेल का [illegible] हाथ लम्बा चौड़ा आँगन, फिर 4 हाथ चौड़ा एक लम्बा सा सम्मिलित आँगन था। शाम होते ही हम सेल में बन्द कर दिये जाते, दिन में सम्मिलित आँगन तक और पेशाब पाखाने के लिए उसके बाहर [illegible] भी जा सकते थे। दूसरे कैदियों को हमारे सामने तक आने नहीं दिया जाता था।

जेलर मिस्टर मीक से पहिले ही चख-चख हो गई थी, इसलिए पहिले तो वह नाराज रहा, पीछे उसे जब मालूम हो गया कि मैं पढ़ने-लिखने में लगा रहनेवाला आदमी हूँ, [illegible] और दूसरा

को हैरान करना पसन्द नही। फिर वह नर्म पड़ गया। पहिले उसने अपनी निजी पुस्तकों में से कितनी ही मुझे पढ़ने को दीं। पंजाबी मेल में मुझे ख्याल हुआ—पढ़ने-लिखने का और साधन तो है नहीं, क्यों न इस समय को गणित के अध्ययन में बिताया जाये। लड़कपन में मैं गणित में बहुत तेज था, दयानन्द—स्कूल (बनारस) में सातवीं क्लास में जितना अल्जबरा पढ़ा था, उससे आगे नहीं बढ़ सका। स्वामी शंकराचार्य जहाँ संस्कृत भाषा, साहित्य, दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् थे, वहाँ अंग्रेजी और गणित के भी चतुर पंडित थे। उन्होंने इस राय को पसन्द किया। मौक से कहने पर उसने तुरन्त स्लेट-पेंसिल मुझे दे दी। अब मैं गणित में लग गया। बीजगणित त्रिकोणमिति, क्वार्डिनेट ज्यामिति मुझे तो बहुत दिलचस्प मालूम होती थी। महीने पर महीने बीतते गये और मैं सारा समय गणित में लगाने लगा; यह सिलसिला तभी टूटता, जब मुझे पेचिश हो जाती, और उसके लिए अस्पताल जाना पड़ता। प्रारम्भिक तीन-चार महीनों में मुझे बराबर पेचिश हो जाया करती। अस्पताल में रेंड़ी का तेल पी-पीकर चंगा हो लौटता और चन्द दिनों बाद फिर वही बात। तब सुपरिटेंडेंट मेजर ली—जो हजारीबाग के सिविल सर्जन भी थे—ने दो पावरोटी, दही और चीनी हमेशा के लिए बाँध दी। सवेरे मैं दूध खाता, दोपहर को रसोइया डेढ़ पाव आटे का एक मोटा-सा टिक्कर बनाकर लाता, और उसके बाद मैं खाना नहीं खाता। हजारीबाग जेल के सारे निवास में खाने का यही नियम रहा।

मेरे कुछ रुपये जमा थे, मैंने उनसे अपने लिए कुछ पुस्तकें मँगवाईं। पीछे मोर साहब ने कागज और स्याही की भी सुपरिटेंडेंट से इजाजत दिलवा दी, किन्तु यह स्वामीजी के छूटने से थोड़ा ही पहिले। तब तक मैं बीजगणित सरल त्रिकोणमिति, ऑपटिक्स (दृष्टिशास्त्र) आदि को समाप्त कर, गोल त्रिकोणमिति पढ़ रहा था और ज्योतिष शास्त्र का आरम्भ हो गया था, जब स्वामी शंकराचार्य छूटकर चले गये। मुझे उनके जाने का बड़ा अफसोस हुआ, किन्तु उनका जेल में रहना भी तो वांछनीय नहीं समझा जा सकता। मैंने उनसे खूब ही फायदा उठाया। और कोई काम न रहने से, पाठ पूजा से बचा समय—जो दिन में कई घंटा होता—वह मुझे देते। वह बड़े प्रेम से पढ़ाते, उनके पढ़ाने का ढंग बड़ा आकर्षक था। बीजगणित के सूत्रों को रटवाने की जगह उन्हें वह मुझसे सिद्ध करवाते। बीजगणित में अंकगणित अन्तर्हित है, इसे उन्होंने शुरू के ही पाठों में बतला दिया। पढ़ाते वक्त पश्चिम के कितने ही प्रकांड गणितज्ञों, दार्शनिकों की कथायें सुनाते। कभी-कभी हम भारत की राजनीतिक, सामाजिक अवस्थाओं पर भी बहस करते। सामाजिक बातों में वह बहुत अनुदार थे। मलाबार के नम्बूदरी ब्राह्मणों के छोटे पुत्रों का जाति में विवाह अधिकार से वंचित हो, नायर कन्याओं के साथ 'मुंड सम्बन्ध' (चार हाथ का नायर द्वारा कन्या को अपनी एक मात्र रक्षिता बनाना) करने पर जब मैं आक्षेप करता, तो वह उत्तेजित हो कह उठते—तुम्हें वास्तविकता मालूम नहीं, इस प्रथा को, वहाँ जाकर देखो वे कितना पसन्द करते हैं। वह यह समझने की तकलीफ गवारा नहीं करते थे कि स्त्री को ब्राह्मणपुत्र को पति मानने के लिए बाध्य की जाय, और पुरुष अपने को सर्वबन्धनमुक्त समझे और स्त्री को नीच समझ उसके हाथ का पानी तक न स्वीकार करे। मैं इसे मलाबार के ब्राह्मणों की पर-वंचना का उदाहरण देते हुए कहता—'कनिष्ठ पुत्रों को तो इन नम्बूदरीपादों ने दायभाग का अनधिकारी बनाया, साथ ही नायरों में सम्पत्ति का स्वामिनी सिर्फ कन्याओं को माना, जिससे उनके कनिष्ठ पुत्र नायरों के सुख का भी भोग और स्त्री के भरण पोषण की जरा चिन्ता भी न करनी पड़े।' उस समय उनके कान लाल हो जाते। किन्तु यह सब कोप उनका बहुत ही वात्सल्यपूर्ण होता। एक बार मैंने उलटा पक्ष ले वर्णव्यवस्था को जन्मगत साबित करते हुए सत्यकाम जाबाल की जबाला ब्राह्मणी तथा एक ब्रह्मर्षि की सन्तान बनाने की खींचातानी शुरू की। स्वामीजी हँसते हुए बोले—क्यों मुझे चकमा देते हो, मैं जानता हूँ, तुम्हारा क्या विचार है। उनका स्नेहपूर्ण बर्ताव, उनका विद्या के प्रति अनुराग पैदा करने का तरीका ऐसा था, जिसे भूलना मेरे लिए असम्भव था।

स्वामीजी के जाने के बाद; मैं अस्पताल में शायद पेचिश लेकर चला गया था, जब कि 'बाईसवीं सदी' को लिख डालने का ख्याल आया, और लिखने में इतना तन्मय रहता, कि कई रातों को भिनसार हो जाने या पौ फट जाने पर ही कलम रुकती थी। दिन को लिखने का काम कम, पढ़ने का ज्यादा करता था। इन में कभी-कभी कैदियों के आत्मचरितों को भी सुनता। अमृतसर जिले का एक डाकू बुढ़सिंह पाँच साल की सजा

लेकर आया था। वह अपनी डकैतियों, अपनी प्रणयलीलाओं तथा उदारताओं के बारे में बतलाता था। उसका छोटा भाई—वह सिक्ख नहीं था—तातानगर में काम करता था [illegible] नहीं [illegible] था। बूटासिंह कह रहा था—भाव (चाहे) चूढ़ी (महतरानी) [illegible] मिले [illegible] छोड़ूँगा। बूटासिंह के कोई सन्तान न थी। शाहाबाद का देवनन्दन एक गँवार अहीर था [illegible] पहिले [illegible] पहुँचा था। किन्तु वहाँ गुंडों का संसर्ग हुआ। उसने इक्का और [illegible] चलाना, [illegible] सीखी, अच्छे कपड़े-खाने की आदत डाली [illegible] गँवार देवनन्दन [illegible] एक नागरिक आदमी बन गया। वह दो सालों के लिए आया था।

अस्पताल से छूटने पर मुझे पहिले [illegible] में रखा गया। [illegible] पाण्डेय पारसनाथ त्रिपाठी [illegible] के सम्पादक दो साल की सजा भुगतने [illegible] आए थे। वह हिन्दी [illegible] लेखक और अनुवादक थे और अंग्रेजी में अनभिज्ञ होना [illegible] मानते थे। [illegible] कठिनाई [illegible] पर भय प्रकट किया। मैंने कहा—मैं आपको [illegible] अंग्रेजी पढ़ा [illegible] देता [illegible] मास में आप साधारण अंग्रेजी पुस्तकों को समझने [illegible] पहिले [illegible] का खयाल छोड़कर सिर्फ अर्थ समझने [illegible] आपको [illegible] बोलना [illegible] हमारे यहाँ के पन्द्रह पन्द्रह सत्रह सत्रह वर्ष [illegible] लोगों को नहीं आता तो आपको उसके लिए चिन्तित होने की [illegible] पीछे मैंने अपनी [illegible] को भेज दिया और [illegible] में [illegible] पढ़ने [illegible] से पहिले एक बार पाठ [illegible] और रूसी जापानी युद्ध के सम्बन्ध में [illegible] समाप्त कर ली तो उन्हें भी [illegible] भाषा या साहित्य जहाँ तक पढ़ने समझने का सम्बन्ध है—समुद्र मालूम [illegible]।

एक नम्बर की एक घटना है। [illegible] पहला नहीं हुआ था और समय की बर्बादी मुझे [illegible] साल की सजा काट रहे थे और साधारण [illegible] मालूम [illegible] दिन बिना पूछे ही मेरे भर [illegible] में [illegible] (जमादार) सरदार कृपालसिंह [illegible] मेरा मन विचलित होने लगा। [illegible] कृपालसिंह से [illegible] लिए। मुझे दृढ़ होना चाहिए। [illegible]

युद्ध के दिनों में जब कि हजारीबाग में [illegible] पुलिस इन्सपेक्टर साहब का [illegible] गया। [illegible] इसका तो यही उदाहरण है कि सब पहरा चौकी रहने [illegible] समर्थ हुए। हजारीबाग जेल में [illegible] इन्तजाम करना पड़ता है जिसमें लाखों रुपया सालाना का खर्च होता है। [illegible] हड़प किया जा सके उतना हड़प किया जाये [illegible] धर्म [illegible] प्रलोभन में न बच सकें और आगे तो सारा [illegible] निर्भीक हो [illegible] साधारण हड़प तो उन्होंने जारी ही रखा [illegible] हजारीबाग में [illegible] ईंट बनती थी, सुर्खी कूटी जाती थी [illegible] सामान [illegible] दरवाजे, ईंट, पत्थर, दो दो तीन तीन सौ में [illegible]

---

* हजारीबाग जेल के अधिकांश कार्यों [illegible] के लिए किया गया था।

पुरानी मोटर लेते। जेल के कैदी मिस्त्री और मैकेनिक से मदद ले मरम्मत करके उसे ठीक कर लेते। फिर दुगुना तिगुना दाम पर बेच देते। उस वक्त हजारीबाग के सिविल सर्जन ही जेल के भी सुपरिंटेंडेंट होते थे। उन्हे जेल मे ज्यादा समय देने की फुरसत ही कहाँ थी। एकाध घंटे के लिए आने पर मीक साहब जो दिखलाना चाहते, वही देखते। हिन्दुस्तानी सिविल सर्जन गोरा होने से उनसे डरते, अंग्रेज सिविल सर्जन की दृष्टि मे मीक जैसा निर्मल आदमी कोई और जँचता ही नहीं था। धनवान कैदियो की बुरी दशा थी। उन्हे कोल्हू या चक्की मे दिया जाता। अपने खीचकर कोल्हू मे तेल पेलना सिर्फ जोर का काम ही नहीं, बल्कि थोड़े से घेरे मे घूमने के कारण अस्वास्थ्यकर भी है। कैदी इस आफत मे बचने के लिए घर से रुपया मँगाकर जमादार और दूसरो को देते। भागलपुर के कुछ अहीर मारपीट मे कैद होकर आये थे। उनमे एक बहुत हट्टा-कट्टा पहलवान जैसा आदमी था। हम लोग उस वक्त (सितम्बर अक्तूबर 1924 ई. मे) मलेरिया मे बीमार हो अस्पताल गये थे। वह आदमी अस्पताल के बरांडे मे बैठा हुआ था। उठते वक्त जब उसने दोनो हाथो से जमीन का सहारा लिया तो हमे सन्देह हुआ। पूछने पर मालूम हुआ कि उसे तेल के कोल्हू मे काम दिया गया था, वहीं उस पर मार पड़ी है। मारते वक्त जेल अधिकारी इस बात का ख्याल रखते कि, कोई निशान न पड़ने पाये, इसके लिए कम्बल ओढ़ाकर, भोथी चीजो से मारा जाता था। ऐसी मार मारी जाती, जिसमे पीड़ा ज्यादा होती, किन्तु घाव न लगता। दूसरे ही दिन सुना कि वह अहीर मर गया। चाईबासा की तरफ से एक बंगाली बाबू रुपये के मामले मे सजा पाकर आये थे। तोंद निकली थी। बरसो का बहुत दूर तक चलना फिरना भी नहीं था। उस पर से उन्हे भी कोल्हू दे दिया गया। काम क्या होना? मार पड़ती। वह भी दो तीन बार अस्पताल मे आ चुके थे। पीछे क्या हालत हुई, इसका मुझे पता नहीं।

ऐसे लिखने, अत्याचार मे उस वक्त का हजारीबाग जेल अपना सानी नहीं रखता था। एक बंगाली तरुण जमशेदपुर मे मजदूर-आन्दोलन के सम्बन्ध मे कैद होकर आया था। उस पर न जाने कितनी बार मार पड़ी, हथकड़ी बेड़ी जैसी सजाओ की तो बात ही क्या? अन्त मे वह पागल हो गया था।

हजारीबाग मे आने पर मैंने सबसे पहिले एक अंग्रेजी पुस्तक के आधार पर ज्योतिष लिखना शुरू किया। बच्चो के लिए कहानी के रूप मे एक छोटी सी पुस्तक लिखी, जिसे ... बाहर भेजा, ... मिल-जुलकर जाने लगे तो बन गये, किन्तु वह पुस्तक मुझे फिर नहीं मिली। बक्सर जेल से आने के बाद मैंने ... समय को ज्योतिष के एक बड़े ग्रंथ और खगोल चित्र बनाने मे लगाया। मैंने संस्कृत ज्योतिष ... सहायता ली और अंग्रेजी की भी। पारिभाषिक शब्द कुछ पुराने लिये, कुछ नये बनाये, और ग्रंथ लिखना शुरू किया। इसमे ग्रहगणित, नक्षत्र, नीहारिका, धूमकेतु आदि पर काफी लिखा गया था। साथ मे तीन बड़े-बड़े खगोल चित्र ... दिये। दो मे तो उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्ध मे नक्षत्रमण्डल के ... और तीसरे मे पटना के अक्षांश पर दिखलाई देनेवाले तारे थे। 90 से ऊपर के नक्षत्रमण्डलों मे ध्रुवतारा के आसपास ही ... के नाम संस्कृत मे मिल सके थे। बहुत से नक्षत्र-पुंज भारत के दक्षिणान्त से भी नहीं दिखाई देते, उनका नाम वहाँ कैसे मिलता? मैंने सबके नाम रखे। अंग्रेजी मे छोटे बड़े आकारवाले तारो के गिनने मे अल्फा, बीटा, गामा आदि यूनानी और दूसरे अक्षर व्यवहार किये जाते है। मैंने उनकी जगह ग्राम्ही आदि अक्षरो का प्रयोग किया। ग्रंथ का बहुत सा अंश अनुवाद मात्र था, प्रथम प्रयास होने से लिखने के ढंग मे भी ज्यादा त्रुटि रही होगी। किन्तु मुझे उसके लिखने से नकद फायदा हो रहा था—मालूम ही नहीं पड़ता था कि मै जेल मे हूँ। पेंसिल, परकार ले चित्र बनाते देख लोग जान गये कि मै ज्योतिष पर कोई ग्रंथ लिख रहा हूँ। सिपाही बेचारे जोतिस (गणित ज्योतिष) और जोतिस (फलित ज्योतिष) का अन्तर क्या समझें? वह समझते थे जोतिस ही लिख रहे है। हिन्दुओ की ऊँची जातियो मे जहाँ धनियो के बच्चो की छोटी ही उम्र मे शादी करने के लिए लोग दौड़ पड़ते हैं, वहाँ गरीब लोग मुश्किल से घर जमीन बेच रुपये से छोटी बच्ची को खरीद ब्याह करते है। उनमे कितने बिन ब्याह ही रह जाते है, इसे देखना हो तो पुलिस और जेल के सिपाहियो को जाकर देखो। एक दिन शाम को एक अस्थायी जमादार आकर बड़ी नम्रतापूर्वक पूछने लगे— बाबा, ये दो तारे जो इकट्ठे दिखलाई दे रहे हैं, इसका क्या फल है?" मैंने जब अपना अज्ञान प्रकट किया, तो उनको विश्वास नहीं हुआ, और कहा— लोग

तो कहते हैं, अबके बड़े जोर की लगन है [illegible] बहुत ज्यादा [illegible]। [illegible] पर ब्याह की कोशिश करते करते बेचारे हार गये थे, इसलिए उनकी नजर अब आकाश के तारों [illegible] थी।

मिस्टर मीक ने मेरे पढ़ने के लिए कुछ उपन्यास दिये थे। शायद इस वक्त ज्योतिष ग्रंथ लिखने का काम खतम हो चुका था। मैंने समय काटने के लिए [illegible] उपन्यासों का हिन्दी में स्वतन्त्र परिवर्तन कर डाला, जो पीछे [illegible] नाम से छपे।

1924 ई० के किसी महीने में तरुण भारत (हिन्दी साप्ताहिक पटना) के [illegible] और [illegible] मुद्रक हनुमान पंडित भी किसी [illegible]। बाहर [illegible] की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठकों में देखा था [illegible]। यह [illegible] (पटना) के एक धनिक परिवार के व्यक्ति थे और [illegible] नहीं करते थे। उनके सरल उदार हृदय को [illegible] मालूम नहीं होने पाती थी और इसलिए पिछले तजरबे से [illegible] नहीं [illegible]। मुझसे वह अपनी उमंगों और कठिनाइयों के बारे में कहते और मैं भी [illegible] करता था। किन्तु इसमें सन्देह [illegible] कि बाहर फिर खुशामदियों [illegible] वार्तालाप में नोट की हुई हिदायतों को वह याद रखते। [illegible] मनमोहन [illegible] [illegible] [illegible] बेचारे हनुमान [illegible] [illegible] और यहाँ [illegible] तरुण भारत पर मुद्रक में उनका नाम छपना इतना जोखिम [illegible] है। [illegible] खान पान में [illegible] वह [illegible] की चिन्ता में न पड़ [illegible] रखने की कोशिश करते थे।

[illegible] कार्तिक के महीने में [illegible] त्रिपाठी [illegible] हनुमान पंडित [illegible] बीमार होकर अस्पताल गये। हम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] खान पान की बदपरहेजी से [illegible] अस्पताल में रहना [illegible]। अस्पताल [illegible] आदमी से [illegible] [illegible] यह [illegible] स्वस्थ बलिष्ठ [illegible] हो [illegible] मनोरंजन का [illegible]।

पंडित पारसनाथ त्रिपाठी का मन [illegible]। कहाँ वह पूजा पाठ [illegible] कट्टर विरोधी। मैं खूब मीठी चुटकियाँ [illegible] किन्तु वह उसे कभी बुरा न मानते। बरस भर के करीब हम साथ [illegible] हममें कभी मनमुटाव हुआ हो। उनके घर पर बड़े भाई परिवार [illegible] कोई सन्तान न थी और छोटे भाई (पारसनाथ) पर [illegible] शाहपुर पट्टी (आरा जिला) से हजारीबाग जेल पहुँचते [illegible] पराठी और [illegible] क्या क्या लिवाये आते। भाभी के हाथ की [illegible] होती थी। हमें सिर्के में डाली प्याज बहुत अच्छी [illegible] बराबर इसके लिए फँसाये रहते। लिखने पढ़ने के हमारे [illegible] हमारा समय वार्तालाप और मनोविनोद में बीतता, वह अच्छी बात [illegible]।

मुझे हजारीबाग जेल में आये साल भर [illegible] सुपरिटेंडेंट रखने की बात सरकार ने तै [illegible] साप्ताहिक परेड में

एक बार उनको देखता, किन्तु किसी वक्त कोई बातचीत का काम नहीं पड़ा। उनके आने पर जेल के कैदियों को बहुत खुशी हुई, खासकर यह सुनकर कि वह मीक के परामर्श से स्वतन्त्र बुद्धि रखते हैं। कैदियों का चावल अच्छा बनने लगा, तरकारियों में से घास अन्तर्धान हो गई, रोटी का रंग-रूप और परिमाण बढ़ गया। अपनी धाक कायम रखने के लिए मीक साहेब और उनके अनुचर हर सप्ताह जो दो तीन को बेंत की सजा दिलवाते उसमें भी कमी हुई। कई बार अगर साहेब चुपके से और यकायक भीतर आ जेल के काम की देखभाल करते। मीक साहेब भी बहुत जागरूक रहने लगे। तीन-चार महीने बीतते-बीतते अगर साहेब की पहिलेवाली तन्दही कम हो गई। कैदी कहने लगे—अगर साहेब की मेम अंग्रेज है, मीक साहेब की मेम और लड़की (पत्नी की लड़की) अगर की पत्नी की खुशामद में पहुँचने लगी है मीक के मायाजाल से कौन निकल सकता है? जेल में उस वक्त सचमुच ही मुझे विश्वास न था, कि अगर साहेब जेल के रहस्य को समझकर समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं, और कुछ ही महीनों में मीक को ऐसा पकड़ेंगे, कि उन्हें गोली मारकर आत्महत्या करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।

हजारीबाग जेल में मेरे कुछ दिन कम दो वर्ष इतनी जल्दी बीत गये कि मुझे मालूम न हुआ। [illegible] पहिले जिन्दगी के किन्हीं दो वर्षों में दिनोंदिन हो पढ़ने लिखने में इतना व्यस्त नहीं रहा। लिखने पढ़ने के अतिरिक्त कुछ फ्रेंच और अवेस्ता का भी मैंने अभ्यास किया। वैज्ञानिक दृष्टि और विस्तृत हुई। आर्यसमाज के प्रति की कट्टरता कम होने लगी, और बौद्ध धर्म की ओर झुकाव बढ़ा। वेद की निभ्रान्तता पर सन्देह होने लगा, किन्तु ईश्वर पर विश्वास अब भी था। भाई रामगोपाल के पत्र आते रहते थे और जेल से छूटने [illegible] बड़े उत्साह से उनके पास लाहौर में एक पत्र लिखा। कुछ दिनों बाद जब वह पत्र—रामगोपालजी मर गये—लिखा हुआ लौट आया, तो कई दिनों तक मेरा किसी काम में मन न लगता था।

18 अप्रैल (1925 ई.) को दो वर्ष की सारी सजा भुगतने के बाद हजारीबाग जेल से मैं छोड़ दिया गया।

8

राजनीतिक शिथिलता (1925 ई.)

छपरा में मैं दो साल बाद पहुँचा। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, जिला कांग्रेस कमेटी के मानपत्रों से मुझे प्रसन्नता नहीं [illegible] जब देखा, कि चारों ओर राजनीतिक शिथिलता है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड कांग्रेस के हाथ में था, मौलाना मजहरुल हक जैसा उसका चेयरमैन था, और इसमें शक नहीं कि हक साहेब की प्रेरणा तथा डिप्टी इन्सपेक्टर बाबू [illegible] के सहयोग से शिक्षा में सारन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड बहुत आगे बढ़ा। मातृभाषा की शिक्षा सारे जिले में निःशुल्क कर दी गई थी, और जिले में शायद ही कोई जगह थी, जहाँ के लड़कों को पाठशाला में जाने के लिए एक मील से अधिक जाने की जरूरत पड़ती हो। इतना होने पर भी वैयक्तिक स्वार्थ के लिए—अपने सम्बन्धियों और मित्रों को ठीकेदारी या दूसरा आर्थिक सुभीता दिलाने के लिए मेम्बर लोग आपस में झगड़ते थे। (28 अप्रैल के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मानपत्र के उत्तर में मैंने सदस्यों की इस मनोवृत्ति के लिए फटकारा और कुछ धमकी भी दी, जो हक साहेब जैसे वयोवृद्ध के सामने उचित न था। उन्होंने बहुत मीठे शब्दों में इस अनधिकार चर्चा की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। साधारण अज्ञान के अतिरिक्त इसमें दो वर्ष का जेल का एकान्तवास भी कारण था।

पुराने कार्यकर्त्ताओं में बहुत से काम छोड़कर बैठ गये थे। पंडित गोरखनाथ त्रिवेदी जैसे वकालत और पढ़ाई छोड़कर चले आये कितने ही लोगों ने परीक्षा पास कर वकालत शुरू की थी। बा. विश्वेश्वरप्रसाद, शिवप्रसाद सिंह, महेन्द्रनाथ जैसे कितने ही असहयोगी विद्यार्थियों ने फिर से कालेज की पढ़ाई शुरू कर दी थी। देश में जहाँ-तहाँ हिन्दू मुस्लिम झगड़े शुरू हो गये थे, और मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर हटते जा रहे थे। जहाँ [illegible]

हिन्दू सभाएँ कायम होने लगी थीं। सारन जिला हिन्दूसभा भी मुझे मानपत्र देनेवाली संस्थाओं में थी, किन्तु मैंने उसे निराश किया। मेरे दोस्तों ने प्रान्तीय हिन्दूसभा का मुझे उपसभापति चुन दिया था, किन्तु मैं शायद एकाध ही बार उसकी बैठकों में गया होऊँगा।

पहिले जिले का दौरा करना जरूरी था, इसलिए गर्मी की कोई परवाह न कर मैं निकल पड़ा। एकमा, सिसवन में अब भी कार्यकर्त्ता मौजूद थे और काम चला जा रहा था। मारगंज और थानों की कई सभाओं में व्याख्यान देते मैं कटया पहुँचा। वैशाख पूर्णिमा नजदीक थी, इसलिए बुद्धनिर्वाण के दिन बुद्ध निर्वाण स्थान कसया जाने की इच्छा हुई। खुरहुरिया के बाबू महादेव राय ने अपना हाथी दिया, और 13 मई की रात को मैं कसया के लिए रवाना हुआ। अभी दो पहर रात बाकी थी कि चाँदनी रात में कुछ दूर पर हम एक हाथी आता दिखाई पड़ा। उस पर हाथीवान तो दिखलाई नहीं पड़ रहा था, किन्तु हाथी का आकार असाधारण और गति तीव्र थी। हमारा हाथीवान डरने लगा, यदि उसने देख लिया तो हम यदि उतरकर भागने में समर्थ भी हुए तो भी हाथी को मारकर तो वह जरूर खराब कर देगा। थोड़ी देर हमारी ओर आकर हाथी दूसरी ओर मुड़ गया, उस वक्त उस पर बैठा सवार भी दिखलाई पड़ा, तब हमारी जान में जान आई। कसया में एक ही दो वर्ष से वैशाख पूर्णिमा (बुद्ध निर्वाण दिन) का मेला लगने लगा था। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि जहाँ 1920 ई. में लोग यहाँ की बुद्धमूर्ति या धर्मवालों से इतना समझ किसी तरह की श्रद्धा की तो बात ही क्या, एक प्रकार की घृणा प्रदर्शित करते थे, वहाँ अब पुजारियों का भाव के मारे मन्दिर में घुसना मुश्किल था। मन्दिर के द्वार के बाहर दोनों ओर से माला फूल बेचनेवाले बैठे रहते थे। महास्थविर चन्द्रमणि से भेंट हुई। पाँच वर्ष बाद अब वह बूढ़े मालूम होते थे। उनके एक तरुण धर्मभिक्षु (वामव) ठहरा हुआ था। मैंने चन्दा बाबा (महाचन्द्रमणि) से कहा कि उसे संस्कृत पढ़ाकर भारत में बौद्धधर्म का प्रचार करना चाहिए। तो उन्होंने उसे संस्कृत पढ़ने का इन्तिजाम करने के लिए मेरे साथ कर दिया। कसया से हम जलालपुर (कचायकोट) आये। रुद्रनारायण सूबे कचहरी में काम करते थे, और थाने ने चुनकर उन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में भेजा था। बरौली में पहुँचे तो उस समय शिवप्रसाद बाबू स्कूल पास कर चुके थे, यद्यपि कालेज की पढ़ाई पूरी कर आने की उनकी इच्छा थी, और राजनीति को पैसा जरूर कर देना चाहिए—इस धारणा के कारण मैंने भी उन्हें उत्साहित किया। सीवान से आगे दिघवा में मैंने रोलन्द्र दास के प्रसिद्ध तामपत्र को मँगवाकर पढ़ने की कोशिश की। ब्राह्मी लिपि का अभ्यास तो मैंने उसी समय से किया। वनात वर्षन कर लिया, किन्तु वह नाम लेख दूसरी लिपि में था। गुरुजी ने हथुआ में संस्कृत पाठशाला के अध्यापक स्वामी रामेश्वराचार्य ठहरे हुए थे। वे बड़े आग्रहपूर्वक धर्मभिक्षु को अपने साथ संस्कृत पढ़ाने के लिए ले गये। उसने ने संस्कृत की प्रथमा परीक्षा पास कर ली थी, और फिर बीमार होकर घर लौटने के रास्ते में ही मर गया, जिससे बेचारे तरुण के प्राण न बचे।

'हमसरे तन ग्लाप है तो। इन गाँव मुझे गये।

15 अगस्त को मैं एकमा से रेल पर बैठकर छपरा की ओर जा रहा था। उसी ट्रेन से पचानन तिवारी हजारीबाग जेल से छूटकर आ रहे थे। उनसे मैंने सीधे ही काम करने की बात करने लगा। मारगंज (छपरा) स्टेशन पर उतरने पर मालूम हुआ कि यहाँ महावीरी झंडा निकल रहा है। बाजार में होकर जब सीवान से आनेवाली सड़क पर पहुँचा, तो झंडे का जुलूस नजदीक आता दिखलाई पड़ा। कस्बे में बड़ी सनसनी थी कि आज हिन्दू-मुसल्मानों का झगड़ा होगा। मस्जिद के सामने बाजा न बजना चाहिए—यह मुसल्मानों की माँग थी, उधर हिन्दू इसे अपने धर्म की तौहीनी समझते थे। महावीरी झंडे का सार्वजनिक प्रचार अभी नया नया होने लगा था, और उसमें बहुत कुछ मुसल्मानों को अपनी शक्ति दिखाने का भाव काम कर रहा था। जुलूस में सबसे आगे आगे मेरे परिचित एक पंजाबी स्वामी गाढ़े गेरुआ कपड़ा पहने चल रहे हैं। उन्होंने ही झंडा निकालने की प्ररणा दी और उसका संगठन किया था। सड़क से एक छोटी सड़क जहाँ बाजार की ओर घूमती है और फिर आगे मस्जिद पर पहुँचती है, वहाँ आकर उत्तेजित जनता में से कुछ लोग बाजार की ओर मुड़ पड़े। मैं

जब उधर चलने लगा, तो स्वामीजी ने मेरा हाथ पकड़कर उधर जाने से मना किया। मैंने कहा—इस वक्त उत्तेजित भीड को शान्त रखने की आवश्यकता है। किन्तु स्वामीजी ने आग तो लगा दी, अब मार खाने के डर से थर-थर काँपते थे। हाथ न छोड़ने पर मुझे उनकी कायरता पर बहुत क्रोध और घृणा आई, और जबर्दस्ती हाथ को खींचकर इधर चल पड़ा। भीड के कुछ आदमी आगे चले गये थे। सामने से जब वे गुजरे, तो मस्जिद से ईंटे बरसने लगीं। फिर क्रुद्ध हो जुलूस के लठधरों ने लाठी चलानी शुरू की। हिन्दू ज्यादा थे, और मुसलमान कम, इसलिए उन्हें भागना पड़ा। अब लोगों ने खदेड़कर मारना शुरू किया। कस्बे के हर हिस्से में मैं अकेला कैसे पहुँचता, किन्तु मैंने कई मुसलमानों के शरीर को अपने शरीर से ढाँककर बचाया। उत्तेजित लठधारी हिन्दू दाँत पीसते हुए मुझे हट जाने के लिए कहते, किन्तु मुझ पर एक नशा चढ़ा हुआ था और मरने पिटने का जरा भी भय दिल में न रखते हुए मैं निःशस्त्र मुसलमानों को बचा रहा था। मेरी काली अल्फी, मेरा नाम, और मेरा राष्ट्रीय-कार्य लोगों को मालूम था, इसलिए किसी ने मेरे शरीर में हाथ लगाने की हिम्मत न की। जहाँ तहाँ छिपे मुसलमानों को पकड़कर सुरक्षित स्थान में ले जाना, उनकी रक्षा और गाँव की शान्ति के लिए भी अत्यन्त जरूरी था। पुलिस को डर था कि किसी मुसलमान को पकड़कर थाने में भेजने से बीच ही में हिन्दू लाठियों से मारने लगेंगे। उसी वक्त उन्हें मेरी उपस्थिति और बचाव के काम का पता लगा। दारोगा ने गलियों—स्थानों—विशेषकर मस्जिद के पास के घरों से निकालकर मुसलमानों को थाने में भेजने में मेरी सहायता माँगी। आगे आगे मुझे चलते देख, किसी हिन्दू ने मारपीट करने का साहस नहीं किया। शाम तक मार पीट शान्त हो गई, किन्तु अभी भी उत्तेजना दूर न हुई थी। तब तक प्रान्तीय कांग्रेस के [illegible] भी पहुँचे। हिन्दुओं को झगड़ा के लिए तैयार करने में उन स्वामीजी का जितना हाथ था, उतना ही, लोग कह रहे थे, मुसलमानों को तैयार करने में इनका हाथ है; किन्तु मुझे इस पर विश्वास न था। गनी साहब मेरे साथ के कांग्रेस के सहकारी थे, और इधर के दो वर्षों के तूफान का मुझे कोई पता न था। मैं उन्हें साथ ले घूमते हुए बाजार के उस चौरस्ते पर पहुँचा, जहाँ से सड़क उक्त मस्जिद की ओर गई है। हम दोनों चारपाई पर बैठ लोगों को समझा रहे थे, और मुझे उस वक्त पता नहीं था, कि कुछ हिन्दू मौलवी गनी पर अपना क्रोध उतारना चाहते हैं। मगर मुझे साथ में देख उन्होंने वैसा करना पसन्द न किया। चाहे मौलाना गनी मुसलमानों को झगड़े के लिए तैयार करनेवाले न हों, किन्तु पृथक् निर्वाचन में कांग्रेस चुनाव की सफलता के लिए अपने को सबसे भारी मुस्लिम-हितैषी साबित करना जरूरी था, और शायद इसीलिए वैसा समझा जाता था।

हिन्दूपन को तो उस वक्त तक मुझसे निकल गए था, यह तो नहीं कह सकता, किन्तु हिन्दू मुसलमानों की एक रोटी बेटी, एक जातीयता का पक्षपाती तो मैं इससे पहिले ही 'बाईसवीं सदी' लिखते वक्त हो गया था। इस प्रकार मारगंज में मैंने जो कुछ देखा, उससे मुझे लड़ानेवाले हिन्दू, मुसलमान अगुओं से घृणा हो गई। एक ओर यदि मैं उस कायर स्वामी को देखता था, तो दूसरी ओर मस्जिद के पास के घर में भागकर छिपे एक हट्टे-कट्टे मुसलमान लड़के की सूरत को देख रहा था, जो ललकारकर मारपीट कराने में आगे था, और जब घर से निकालकर सुरक्षित स्थान पर चलने के लिए कहा गया, तो सन्त्रस्त पशु की भाँति [illegible] न भेजने के लिए गिड़गिड़ा रहा था।

असहयोग और राष्ट्रीय आन्दोलन की तेजी के समय गोरे कप्तान की पुलिस कुछ नर्म पड़ गई थी, किन्तु अब राजनीतिक शिथिलता के समय उसने फिर जुल्म ढाना शुरू किया था। नये चुनाव में मैंने जिला कांग्रेस के उपसभापति का पद स्वीकार किया, और हमने हाल ही में छपरा में प्रैक्टिस शुरू किये हुए डाक्टर महमूद को सभापति बनाया। असहयोगी पुलिस सब इन्स्पेक्टर बाबू रामानन्दनसिंह हमारे मन्त्री थे। जिला कांग्रेस का सारा काम रामानन्द बाबू और मुझ पर आ पड़ा था। पंडित गोरखनाथ त्रिवेदी अब वकालत कर रहे थे। छपरा में पहिले-पहिल जिस दिन मैं राजनीतिक कार्य में भाग लेने आया, उसी दिन से हम दोनों में घनिष्टता बढ़ती ही गई; और अब वकील होकर यहाँ बस जाने पर तो उनका घर मेरे लिए छपरा का स्थायी निवास बन गया। त्रिवेदीजी ने हजारीबाग में गणित की पुस्तकें भिजवाने में बड़ी मदद की थी। वह खुद गणित के एक अच्छे विद्यार्थी थे, और यदि भारत परतन्त्र न होता, तो विज्ञान या राष्ट्रीय उद्योग निर्माण के किसी क्षेत्र के एक

प्रमुख कार्यकर्त्ता होते। किसी चीज को स्थायी और पवित्र न मानते हुए उसकी कड़ी से कड़ी आलोचना और निर्माण में हम दोनों एक-सी प्रवृत्ति रखते थे। रातों हमने राजनीतिक, सामाजिक विषयों पर बहस की, और कभी-कभी तो सुननेवालों को संदेह हो सकता था, कि हम वस्तुतः झगड़ रहे हैं, किन्तु हमारा दिमाग कभी गरम नहीं होने पाता। हम लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध सगे भाई से भी बढ़कर प्रेम का रहा और यह सम्बन्ध उनकी माता और स्त्री को भी इतना मालूम हो गया था, कि मैं हमेशा उनके परिवार का एक व्यक्ति समझा जाता रहा।

भोर के दारोगा के अत्याचारों को सुनकर जिला कांग्रेस की ओर से मैं और बाबू रामानन्दसिंह जाँच करने गये। रिश्वत लेने के लिए पुलिस ने क्या क्या नहीं अत्याचार किये थे। किसी की हथेली पर खाट का पावा रख आदमी बैठाये गये थे, किसी को थाने पर बुलाकर पीटा गया था, किसी पर झूठे गवाह तैयार कर मारपीट के मुकदमे तैयार किये गये थे, किसी को झूठमूठ दफा 110 में फँसाने का उद्योग किया गया था। वर्षा के दिनों में पानी-बूँदी में, और कहीं कहीं घुटने-भर पानी में चलकर 27-31 अगस्त के पाँच दिनों में हमने हस्ताक्षर या अँगूठे की निशानी के साथ पुलिस की रिश्वत, उसके अत्याचारों के सम्बन्ध में वक्तव्य जमा किये। लोग पहिले कुछ कहने से डरते थे, किन्तु हम लोगों पर विश्वास था, इसलिए उन्हें वक्तव्य देने की हिम्मत हुई। हमने रिपोर्ट लिखी, और हमारे सभापति डाक्टर महमूद ने जिला मजिस्ट्रेट से स्वयं बातचीत की, और रिपोर्ट दे दी। मजिस्ट्रेट ने कार्रवाई करने के लिए वचन दिया, किन्तु वह आज तक हो रही है। इससे पता लगता है कि ब्रिटिश सरकार का एक पैर पुलिस–जिसके अवलम्ब पर वह भारत में कायम है–कितना गन्दा, कितना अपराधपूर्ण है; और उसके दोषों को किस तरह सरकार और उसके उच्च अधिकारी ढाक देते हैं।

मेरे जेल में रहते मुजफ्फरपुर में हिन्दू महासभा हुई, जिसने बोधगया मन्दिर के बारे में एक कमेटी बनाई। उधर कांग्रेस ने भी उसके बारे में एक कमेटी बनाई, दोनों ने उन्हीं सातों सदस्यों को रखा। सदस्यों में मैं, बा. राजेन्द्रप्रसाद और जायसवालजी भी थे; राजेन्द्र बाबू सभापति थे। जाड़ों में (नवम्बर-दिसम्बर 1925 ई.) कमेटी की बैठक गया, पटना में हुई। बोधगया भी हम गये। महन्त ने सीधे कोई सम्बन्ध रखना नहीं चाहा, किन्तु अपने एक वकील को कार्रवाई को देखते रहने के लिए भेजा। बहुत से गवाह गुजरे। महाबोधि मन्दिर के बारे में पुराने और नये साहित्य को देखा। जिस जगह बुद्ध ने अपने मुख्य सिद्धान्त-अनात्मवाद (आत्मा–ईश्वर या जीव जैसी दुनिया में कोई चीज नहीं) और मध्यम मार्ग (भोग और विराग की पराकाष्ठा का रास्ता छोड़ना)–खोज निकाले थे; जो स्थान ढाई हजार वर्षों से दुनिया के बौद्धों के लिए परम पुनीत है, जिसके प्रति उनका उससे भी अधिक सम्मान है, जितना कि ईसाई यहूदियों का योरोशलम से मुसलमानों का मक्का से; आज वह स्थान एक सम्प्रदाय के महन्त के हाथ में है जो यह अभिमानपूर्वक कहता है–हमारे आचार्य शंकराचार्य ने बौद्धों को भारत से निकाल भगाया।

लेकिन महाबोधि मन्दिर को बौद्धों के हाथ में न जाने देने में सबसे बड़ा हाथ अंग्रेजी सरकार का है। उसी ने टेकारी के गाँव से निकालकर उसे महन्त बोधगया के गाँव में डलवाया–सर्वे के कागजों और नक्शे में जालसाजी की गई। बर्मा के राजा ने मन्दिर की मरम्मत शुरू करवाई, पूजा के लिए भिक्षु रखे। बर्मी युद्ध में जब राजवंश का खात्मा हो गया, और बर्मा ब्रिटिश सरकार के हाथों में आ गया, तो उसने खुद एक लाख रुपये लगाकर उसकी मरम्मत करवाई। जब देश विदेश के बौद्ध और उनसे सहानुभूति रखनेवाले महाबोधि मन्दिर का प्रश्न उठाने लगे, तो एक दिन सरकार के स्थानीय बड़े अफसर, गया के जिला मजिस्ट्रेट ने मन्दिर को महन्त के हाथ सौंप दिया। अब वही सरकार वैयक्तिक सम्पत्ति, दूसरे का चिर से चला आता अधिकार कहकर उसमें अड़गा लगाती है। कितने ही बौद्ध देश अब भी स्वतन्त्र हैं। वहाँ के लोगों का बोधगया अड्डा बन जावेगा, जो कि भारत में ब्रिटिश-शासन के लिए खतरनाक साबित होगा–शायद यह डर बात है, जिसने ब्रिटिश सरकार को बौद्धों के साथ न्याय करने नहीं दिया।

कमेटी के एक सदस्य श्री काशीप्रसाद जायसवाल भी थे, किन्तु वह गया और बोधगया नहीं जा सके रिपोर्ट तैयार हो जाने पर उसमें उन्होंने कुछ परामर्श दिया। इसी समय पहिले पहिल मुझे उनको देखने का मौका

मिला। अनागरिक धर्मपाल भी एक सदस्य थे, उन्होंने अपनी अनुपस्थिति में ब्रह्मचारी देवप्रिय वलीसिंह को भेजा था। कमेटी के अधिकांश सदस्यों की राय हुइ, कि मन्दिर का प्रबन्ध बौद्धों और हिन्दुओं की एक संयुक्त कमेटी को दे दिया जावे, जिसमें महन्त और एक सरकारी मन्त्री रहे। मेरी राय थी, मन्दिर बौद्धों के सुपुर्द कर दिया जाये, किन्तु एक मत के खयाल से मैंने रिपोर्ट में अपने विचारों को पृथक नहीं दर्ज किया।

रिपोर्ट का काम खतम होने के बाद कानपुर कांग्रेस का समय भी नजदीक आ गया। मैं शायद पटना ही से सीधे कानपुर गया। राष्ट्रीय आन्दोलन बिलकुल शिथिल था। कोई खास काम नहीं हो रहा था, इसलिए कानपुर कांग्रेस के बाद मैंने कुछ महीनों के भ्रमण का भी निश्चय कर लिया।

9

फिर हिमालय में (1926 ई.)

मैं कानपुर कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि तथा आल इंडिया कांग्रेस कमेटी का सदस्य था। वहाँ विषय निर्धारिणी और खुले अधिवेशन के निर्जीव व्याख्यानों को सुनता रहा। बलदेव चौबे भी आये थे और एक दो बार मिले थे। अधिवेशन के समाप्त होते ही हम दोनों भाई रामगोपाल की विधवा पत्नी श्री जानकीदेवी से मिलने उनके नैहर हमीरपुर जिले में गये। जिस वक्त लाहौर में रामगोपालजी प्लेग के शिकार हुए, उस वक्त जानकीदेवी लाहौर में थे, और उन्होंने उनकी बड़ी सेवा की थी। जानकीदेवी की भी खोज खबर वह और भाई महेशप्रसादजी अक्सर लिया करते थे। हम चाहते थे, जानकीदेवी कहीं शहर में पढ़ावें और कुछ स्वतंत्र भी आगे पढ़ें। बलदेवजी ने दिल्ली में उनके लिए स्थान भी ठीक कर रखा था, किन्तु छोटे से बड़े तक के सम्बन्ध [illegible] के व्यवहार से समस्या वह उस वक्त जाने को तैयार नहीं हुई।

बलदेवजी ने मेरे लिखने पर भी बी. ए. की परीक्षा नहीं दी और कालेज छोड़ दिया, यह मैं पहिले ही लिख चुका हूँ। मेरा उनका प्रथम परिचय मुसाफिर विद्यालय आगरा में 1915 के अन्त में हुआ था, जो पीछे लाहौर में 1916 में मिलने के बाद और घनिष्ठ होता गया। अपने आदर्शों को मजबूत करने और उन पर चलने के लिए हमारे संकल्प को दृढ़ करने में उस समय के हमारे पारस्परिक विचार विमर्श बहुत सहायक हुए। बलदेवजी का मुझ पर बहुत स्नेह और विश्वास था, अंत में उन्हें कुछ थोड़े-से सिद्धान्तों में भी मैं समझाता रहा। बलदेवजी असहयोग करके अहमदाबाद साबरमती आश्रम को चले गये। पहिली जेलयात्रा के बाद लाहौर के कौमी विद्यालय से उन्होंने बी. ए. परीक्षा पास की। जब लाला लाजपतराय ने अपनी लोकसेवक समाज कायम की, तो बलदेवजी उसके सदस्य बन गये और आजकल मेरठ में अछूतोद्धार तथा राष्ट्रीय कार्य कर रहे थे।

बलदेवजी के साथ मैं भी मेरठ चला आया। शहर के बाहर उनका 'कुमार आश्रम' था, जिसमें [illegible] जाति के कुछ लड़कों के रहने का इन्तिजाम था। बहिन महादेवीजी आर्यसमाज की कन्या पाठशाला में पढ़ाती थीं। मेरठ जिला उस क्षेत्र में है, जहाँ की ग्रामीण भाषा ही साहित्यिक हिन्दी और उर्दू की बुनियाद है किन्तु अभी भाषा तत्त्व से उस पर विवेचन करने के लिए मैंने अपने को तैयार नहीं किया था। हाँ, बलदेवजी के साथ बैलगाड़ी पर मवाना, हस्तिनापुर, परीक्षितगढ़ और कितने ही स्थानों को देखने का मुझे अवसर मिला। हस्तिनापुर में दूर तक फैली गंगा की कछार और कुछ ऊँचे-ऊँचे टीले देखने को मिले. परीक्षितगढ़ एक अच्छा खासा गाँव था। सबसे अधिक प्रभाव मेरे मन पर ईसाई मिशनरियों के एक कन्या विद्यालय को देखकर पड़ा जिसमें अछूत जाति की लड़कियों को पढ़ाने का इन्तिजाम था। पढ़ाई के साथ-साथ उन्हें वैयक्तिक सफाई घर के कामकाज को सिखलाया जाता था। मुझे तो हिन्दू होते मनुष्यता के अधिकार से वंचित रहने की जगह उनका यह जीवन अधिक अच्छा मालूम होता था।

मेरठ में ही पहिले पहिल श्री हरिनामदास—आज के भिक्षु आनन्द कौसल्यायन—से भेंट हुई। दो-तीन दिन

साथ रहने से बातचीत का भी मौका मिला, किन्तु उस वक्त मालूम नहीं हुआ था, कि यह बातचीत हममें चिर-भ्रातृत्व कायम करने जा रही है। उनका शरीर उस वक्त भी दुबला पतला था, मानसिक शारीरिक स्वच्छन्दता का उस वक्त भी आभास मिलता था। उन्होंने कोई आदर्श वाक्य बनाने के लिए मुझसे कहा था, जिस पर मैंने लिख दिया था–'असिना गीतया चैव जयिष्ये भुवनत्रयम्'। अभी ईश्वर विश्वास डिगा नहीं था, किसी वक्त पढे तिलक के गीतारहस्य का भी असर नहीं गया था। असि (तलवार) के सिद्धान्त पर आस्था रहने से ही मालूम होगा, कि सारे गाँधी युग ने मेरे ऊपर कितना कम असर किया था।

भाई भगवती और अभिलाषचन्द्र आजकल इसी जिले में रहते थे। अभिलाष ने मेकेनिकल इंजीनियरिंग की परीक्षा पास कर ली थी; किन्तु उसका सारा समय एक धनिक की मोटरलारियों की देखभाल में लगता था। जिस स्त्री के लिए उसने 'नैनागढ' जीता था, वह अब उसके पैरों की बेड़ी हो गई थी, अब अपनी अगली उमंगों को पूरा करने के लिए उसके पर कट गये थे। उसकी बड़ी इच्छा थी, वायुयान संचालक बनने की, और उसके लिए वह सबसे योग्य आदमी था किन्तु उसके बाहर मौका निकालना अब उसके वश से बाहर की बात थी। यदि स्वच्छन्द एकाकी होता, तो उसी के फेर में आवारागर्दी करता देश विदेश की खाक छानते कहीं न-कहीं अवसर मिल ही जाता, किन्तु स्त्री और लड़की या बच्चों का क्या होता, उसका दाम्पत्य जीवन भी सुखमय नहीं था। स्त्री से बहुत खटपट रहती थी तो भी वह सदा पत्नी के साथ एक थाली में भोजन करता। मुझे अभिलाष की इस अवस्था और उसके भीतर निहित ज्वाला को देखकर बहुत अफसोस हुआ। मैंने इसका जिक्र बलदेवजी से किया। उस वक्त उनकी धर्मपत्नी और बहिनजी भी मौजूद थीं। मुझे यह मालूम नहीं था, कि वह इस बिना पर दूसरे दिन आनेवाला अभिलाष की स्त्री को उपदेश देने लगेंगी। उपदेश को सुनकर स्त्री अभिलाष पर बहुत नाराज हुई। अभिलाष को इसके लिए मेरे कहे बात में उलाहना देना मेरे लिए उतना दुःखकर नहीं हुआ, जितना यह खयाल कर कि अभिलाष को मेरी सहानुभूति से सान्त्वना मिलनी तो दूर, मैं उलटा उसके चित्त की व्यथा को बढाने में कारण बना।

बलदेवजी का गृहस्थ जीवन भी सुखमय न था। ब्याह करना तो माँ बाप का कर्तव्य था और उन्होंने दस ही बारह की अवस्था में उस कर्तव्य को पूरा कर दिया था। अब उसके परिणाम को सारे जीवन भर भोगना था सन्तान को। उनकी पत्नी बुद्धिहीन और कलहप्रिय थी और रात दिन ऐसे किसी उचित अनुचित अवसर को हाथ से जाने नहीं देती थी। बलदेवजी का स्वभाव गम्भीर उतना ही शान्त था, किन्तु चौबीस घंटे की किचकिच का असर न पड़े, यह हो ही नहीं सकता था। मैं उनके रात दिन की उलझनों में पड़नेवाला नहीं समझता था, किन्तु मानसिक सहानुभूति–जिसे अपने साथ प्रकट करने में भी मैं हिचकिचाता था–के सिवाय और मैं कर ही क्या सकता था।

मेरठ से जनवरी (1926 ई.) के अन्त में दिल्ली पहुँचा। सैलानीपन फिर सिर पर सवार था। दिन में शहर में घूमता, और एक-दो रात जमना के किनारे बिता दिये। एक कम्बल था, जाड़े का भी कोट छोड़कर उसी के बराबर कर लिया था। लाल किला, जामा मस्जिद, तुगलकाबाद के किले पर अशोक की लाट, नई दिल्ली कुतुबमीनार आदि दर्शनीय स्थानों को देखता रहा। उस वक्त तक फीरोजशाह का किला सैरगाह के रूप में परिणत नहीं किया गया था। कुतुबमीनार को देखकर रात को वहीं धर्मशाला में रह गया। एसेम्बली के अधिवेशन में शामिल होने के लिए मुजफ्फरपुर के मौलाना शफी दाऊदी आजकल दिल्ली ही में थे। एक दिन उनका भी मेहमान रहा और एसेम्बली के उद्घाटन के समय वाइसराय लार्ड रीडिंग के छत्रचंवर के अभिनय को भी देखा। एक दिन शहर से गुजरते वक्त देखा एक जुलूस आ रहा है, फिर घोड़ागाड़ी पर शंकराचार्य श्री भारती कृष्णतीर्थ स्वामी को देखा। जाकर चरण छू प्रणाम किया। उन्होंने मिलकर बहुत प्रसन्नता प्रकट की, और निवास स्थान पर आने के लिए कहा। अब हिन्दू-संगठन, मुस्लिम तन्जीम का जमाना शुरू हो चुका था, इसलिए उनका समय उसी काम में लग रहा था। आजकल वह नई दिल्ली की सनातन धर्मसभा के वार्षिकोत्सव में आये हुए थे। अधिवेशन में उनके साथ मैं भी गया, किन्तु व्याख्यान देना स्वीकार नहीं किया भीतर से आर्यसमाजी विचार रखते, सिर्फ चुप्पी से ही मैं सनातनधर्मियों का मूक नाट्य कर सकता था।

स्वामी वेदानन्दजी बनारस छोड़ अब लाहौर चले आये थे, और गुरुदत्तभवन मे दयानन्द-उपदेशक-विद्यालय मे अध्यापक थे, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द उसके आचार्य थे। मैं भी गुरुदत्तभवन मे ठहरा। पुराने दोस्तों के परिचय को फिर जागृत करने का अवसर मिला। पंडित भगवद्दत्तजी ने डी. ए. वी. कालेज की लाइब्रेरी को अब बहुत उन्नत कर लिया था। भारतीय संस्कृति के अनुसंधान-सम्बन्धी छपे हुए देशी-विदेशी साहित्य के अतिरिक्त उन्होंने बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ जमा कर लिये थे; और जमा करते जा रहे थे। उनका अध्ययन-अध्यापन, उनका दयानन्द के पथ पर अनुराग पहिले ही जैसा दृढ़ था। मेरे शास्त्री के वक्त के प्रतिभाशाली छात्र श्री चिम्मनलाल अब पंडित विश्वबन्धु शास्त्री आजीवन सदस्य हो कालेज की सेवा कर रहे थे। विश्वबन्धुजी ने एम. ए. में विश्वविद्यालय के रिकार्ड को तोड़ा था। उन्हें विदेश मे पढ़ने के लिए सरकारी छात्रवृत्ति मिल रही थी, किन्तु उसे उन्होंने स्वीकार नही किया। डाक्टर हो लौटने पर वह पंजाब विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो जाते, और हजारों रुपये मासिक कमाते हुए आराम का जीवन व्यतीत करते, किन्तु उन्होंने उस सुखमय जीवन पर लात मारा, और तपस्या के जीवन को स्वीकार किया। लाला खुशालचन्द 'खुर्सन्द' का रोजाना 'मिलाप' बड़े जोरशोर से निकल रहा था, और अब वह शहर के सम्मानित प्रभावशाली पत्रकार तथा आर्यसमाज के प्रमुख नेता थे। मेरे लिए अब भी वह वही 'खुर्सन्द' थे, जिन्हें 1916 मे मैंने 'आर्यगजट' के मुख्तसर से आफिस में अपने साथ मित्र के तौर पर अकेले बात करते हुए बीसियों बार पाया था। वह अब भी उसी तरह अकृत्रिम रूप से मिले। उस समय वह 'आर्यगजट' के लिए लेख की मांग करते थे, और अब उन्होंने 'मिलाप' के लिए कुछ लिखने को कहा। मैंने 'बाईसवीं सदी' के कुछ अध्याय उर्दू में अनुवाद कर 'मिलाप' को दिये जो क्रमशः कई दिनों तक छपते रहे।

गुरुदत्तभवन, आर्यसमाज बच्छोवाली तथा दूसरी जगह मैंने कई व्याख्यान दिये जो आर्यसमाजी ढंग के थे किन्तु उनमें बुद्ध की बहुत अधिक प्रशंसा होती थी। जाति-पाँति के विरुद्ध हर व्याख्यान में कुछ जरूर रहा करता था। पिछले लाहौर के निवासों में मैं पंजाब के भिन्न-भिन्न भागों के देखने की लालसा को पूरा नहीं कर सका था, इसलिए अबकी बार जब आर्यप्रतिनिधि सभा—जिसका कार्यालय गुरुदत्तभवन में ही था—वालों ने बाहर की आर्यसमाजों में कुछ समय देने के लिए कहा, तो मैंने उसे स्वीकार किया। एक बार—और शायद सबसे पहिले—(उर्दू) 'प्रताप' के सम्पादक महाशय कृष्ण के साथ नई दिल्ली के आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में व्याख्यान देने गया। उस समय कन्या गुरुकुल दिल्ली ही में था, महाशय कृष्ण के साथ मैं भी उसे देखने गया। आर्यसमाज की शिक्षा सम्बन्धी पुराणपंथिता से मैं पहिले भी सहमत न था, किन्तु उनके उत्साह की तो सराहना ही करनी पड़ती।

पंजाब और सीमान्त के भिन्न-भिन्न स्थानों के भ्रमण को वहाँ से लिखकर पटना से निकलनेवाले बाबू जगतनारायणलाल के पत्र 'महावीर' में भेजता रहा, जिसमें कुछ को छोड़कर बाकी अप्रकाशित रहे, और पीछे मैंने उन्हें 'मेरी लद्दाखयात्रा' में संगृहीत कर दिया। यात्रा का अपेक्षित अंश वहाँ दिया ही जा रहा है, किन्तु वहाँ आर्यसमाज के अपने सम्बन्ध को मैंने गुप्त रखा था, क्योंकि बिहार में मुझे लोग वैरागी वैष्णव समझते थे, इसलिए उसी छूटे अंश के बारे में यहाँ कुछ कहता हूँ। कैम्बलपुर, रावलपिंडी, मुल्तान से लेकर पेशावर तक में बहुत कुछ आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों में व्याख्यान देने गया था। रावलपिंडी के उत्सव के समय शंका-समाधान का काम मुझको दिया गया, और जवाबों से मालूम हुआ, कि महोबा में अन्तिम बार उपयुक्त की गई वाद-विवाद की मेरी प्रतिभा कुंठित नहीं हुई है। आर्यसमाजी ही स्वामी रामोदार—यही नाम वहाँ प्रसिद्ध था—की तर्कशक्ति की दाद नहीं देते थे, बल्कि प्रश्न करनेवाले कादियानी मौलवी ने भी मेरी हाजिरजवाबी की तारीफ की।

उस वक्त के लिखे लेखों से मालूम होगा, कि आर्यसमाज का असर और कुछ-कुछ हिन्दू मुस्लिम सघर्ष का असर भी मुझ पर पड़ा था।

इस यात्रा में खैबर में लंडीकोतल तक जाने का अवसर मिला, और आर्यसमाज के किसी प्रभावशाली नेता की सिफारिश पर ही। यदि पुलिस को मालूम होता, कि मैं दो दो बार राजनीतिक अभियोगों में कैद काट चुका हूँ, तो न खैबर के भीतर ही घूमने का मौका मिलता, न लद्दाख जाने का ही परमिट (आज्ञापत्र) पाता।

रावलपिंडी के कुछ दोस्तों ने तो विश्वास दिलाया कि पासपोर्ट भी यहाँ से आसानी से मिल सकता है। मैंने उसके लिए दर्ख्वास्त भी दे दी, निकट भविष्य में विदेश जाने की मेरी उत्कट इच्छा थी, किन्तु पासपोर्ट बहुत छान बीन कर दिया जाता है। पुलिस ने शायद [illegible] में जाँच पड़ताल की होगी और उसे मेरे बिहार के राजनीतिक जीवन का पता लग गया होगा। कुछ भी हो, पासपोर्ट नहीं मिला।

इस वक्त मैं गेरुआ लुंगी और चद्दर में रहता था। सर्दी के वक्त गर्म चादर ओढ़ता, जैसा कि पेशावर में लिये गये फोटो से मालूम होगा। कर्वी में मुझे पहिले पहिल पता लगा था कि मैं दुबला पतला नहीं हूँ, जैसा कि लड़कपन से चला आता था। हजारीबाग में मेरा वजन 151 पौंड तक गया (आजकल मई 1940 ई. में 183 पौंड है), तो भी उस वक्त मुझे मोटा नहीं कहा जा सकता था।

श्रीनगर में आर्यसमाज मन्दिर में ठहरा। भोजन के लिए अक्सर डाक्टर कुलभूषण के घर जाता। डाक्टर कुलभूषण ही की सहायता से मुझे लदाख का परमिट मिला था और उन्होंने ही लदाख के इंजीनियर लाला रामरखामल को पत्र लिखकर मेरी [illegible] की यात्रा का प्रबन्ध कर दिया था।

करगिल में लाला रामरखामल मिले। [illegible] हो गया और वहाँ से लदाख हेमिस तक की यात्रा उनके साथ [illegible]। [illegible] पंजाबी [illegible] भोजन करते-हो उस वक्त में [illegible] यद्यपि [illegible] जा रहा था।

लाला रामरखामल ने [illegible] पंडित मस्तरामजी के [illegible] भाई तथा लेह के बहुत प्रभावशाली [illegible] से परिचय करा दिया। मैं स्वामी भी [illegible] इसका भी प्रभाव कम न था [illegible] कर दिया। लेह में होशियारपुर जिले के बहुत से व्यापारियों की दुकान थी [illegible] की दुकान चीनी तुर्किस्तान के [illegible] यारकन्द [illegible] में भी [illegible] तुर्किस्तान [illegible] की मेरी बड़ी इच्छा थी किन्तु चीन में सवाल था पासपोर्ट का। [illegible] लाला शिवराम [illegible] आदि ने पूरा प्रबन्ध करने के [illegible]।

हेमिस में लाला रामरखामल [illegible] रहा करता। हेमिस के लामा [illegible] उन्होंने मुझे अच्छा [illegible] और उन्होंने मेरा बड़ा ख्याल रखा। तिब्बती लोग (लदाखी लोग भी तिब्बती [illegible]), बिना माँस के भोजन को पसन्द नहीं करते इसलिए निरामिष भोजन को उतना स्वादिष्ट नहीं बना सकते [illegible] मक्खन [illegible] आदि आ जाते थे।

काल्पा में रहते हुए मैंने [illegible] अपनी [illegible] में। एक दिन लामा ने दिग्नाग [illegible] लड़के के साथ लामा के भीतरी कमरे में बुलाया। [illegible] सिन्दूर लगा दिया। फिर लड़के ने अपने [illegible] दूसरी चीजें स्थानों व्यक्तियों या शब्द चित्र बना [illegible] मन्दिर-जैसे जैसे मैं बतलाता-देखता गया। [illegible] लामा [illegible] जाकर [illegible] के बैठे आदमियों के बारे में पूछा, [illegible] आदमियों के नाम [illegible] आदमियों की आकृति और बैठने के स्थान को बतला दिया। दुभाषिया ने [illegible] थी। लड़का जिस वक्त उस कमरे में [illegible] गये थे और कुछ नये आदमी वहाँ आकर बैठे थे। दुभाषिया [illegible] लामा का हुआ। यह सब कुछ तब हुआ, जब कि मैं तिब्बती भाषा में [illegible] नहीं [illegible] सकता, मेरे सजेशन की भाषा को दुभाषिया [illegible]।

दोपहर बाद लामा ने अपने सामने इस प्रयोग को [illegible]। हम लोग [illegible] नीचे [illegible] के बाग में लामा (महन्त) के बंगले में गये। वहाँ भी प्रयोग सफल रहा। [illegible] में भी मैंने इसको तीन चार

प्रयोग किये थे, और तत्काल परोक्ष स्थान में बैठे आदमियों की पहिचान हर बार ठीक निकली थी, इसलिए सफलता के लिए मुझको अपने पर विश्वास था।

लेह से लौटकर खर्दोङ् पास के पार मैं नुब्रा उपत्यका देखने गया। खर्दोङ् की चढ़ाई और आगे की यात्रा का मैंने एक बड़ा सुन्दर वर्णन लिखा था, जिसे सुनकर राजेन्द्र बाबू इतने प्रभावित हुए, कि उन्होंने मेरी लदाख-यात्रा सम्बन्धी लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने के लिए बनारस के अपने एक मित्र को पत्र लिख डाला। यह लेख मैंने किसी पत्र को—शायद 'सरोज' (कलकत्ता) को भेज दिया था, किन्तु मूल या छपा लेख मुझे मिल नहीं सका।

लदाख के तहसीलदार साहेब ने मेहरबानी करके अपने चपरासी गंगाराम (लदाखी होते हुए महाराजा रणवीर सिंह की नीति के अनुसार यह नाम उसे दिया गया था) तथा एक मुहर्रिर को मेरे साथ कर दिया था। हम लोग घोड़े पर चढ़ शाम के वक्त खर्दोङ् की ओर चले। लदाख से चीनी तुर्किस्तान का रास्ता इधर ही से जाता है, इसलिए रास्ते की मरम्मत होती रहती है। जगह-जगह सराएँ भी मुसाफ़िरों के लिए हैं। रास्ते में ब्रिटिश सरकार के चरस-अफ़सर मिल गये—हिन्दुस्तान में खपत होनेवाली चरस या मुल्फ़ा करीब-करीब सारे चीनी तुर्किस्तान से इसी रास्ते आता है, और उस पर निगरानी के लिए सरकार का एक खास अफसर यहाँ रहता है। चरस-अफ़सर खाँ साहेब ने रात को साथ ही ठहरने का निमन्त्रण दिया। हम लोग गाँव से बहुत ऊपर जोत (पास) के 3, 4 मील रह जाने पर ठहरे। अब मैं दिल्ली की तरह एक कम्बल से जाड़े को नाप नहीं सकता था, इसलिए जाड़े के लिए श्रीनगर से लेकर चले ऊनी कपड़ो में भी यहाँ काफी वृद्धि कर ली थी। पैरों में यारकन्दी पप्पू जूता, और उसके भीतर नम्दे का मोजा सोते वक्त भी पड़ा था, नम्दे के भीतर मैं कनटोप के ऊपर ऊनी चादर से सारे मुँह-कान-शिर को ढाँके, देह पर चुकट्, लोई आदि ओढ़ सोया था, तो भी वहाँ जबर्दस्त सर्दी थी।

खाँ साहेब किसी नये रास्ते की टोह में गये थे, इसलिए यहाँ से उन्हें दूसरी जगह जाना था। मैं और दोनों साथी घोड़ों पर चढ़े, बेगारवाले किसानों के साथ दो बजे रात को ही चल पड़े। लदाख में बरफ की जोत को पार करने का यही उचित समय समझा जाता है, जिसमे कि धूप निकलने से पहिले बरफ का रास्ता खतम हो जावे। धूप चढ़ने पर बरफ के नरम होने से आदमियों और जानवरों के पैर धँसने लगते हैं, और उनके दरार में फँस जाने का डर रहता है, साथ ही आसपास की ऊँची जगहों से लाखों मन की हिमानियों के गिरने का डर रहता है। थोड़ी दूर तक नाले के किनारे से हमें साधारण चढ़ाई चढ़नी थी, किन्तु अब भी हम 14000 फीट से ऊपर चढ़ रहे थे, और यदि घोड़े पर न होते, तो आटा-चावल का भाव मालूम हुआ होता। फिर असली चढ़ाई शुरू हुई। घोड़े अब हर दस-दस कदम पर साँस लेने के लिए रुक जाते। थोड़ी दूर बाद हम श्वेत बर्फ के फ़र्श पर चलने लगे, चाँदनी रात में वह खूब चमक रही थी। पतली हवा के कारण साँस लेने और पग के उठाने में किसको बात करने की फ़ुरसत थी, और उस सन्नाटे में सिर्फ जानवरों की साँस की आवाज सुनाई देती थी। चढ़ाई के श्रम को हल्का करने के लिए घोड़े गोमूत्रिका बनाते हुए टेढ़े रास्ते से चल रहे थे, हाँफने से उनका पेट फूल-पचक रहा था, और पीठे का सारा शरीर मालूम होता था, मुँह को ढकेलकर पैरो से आगे खींच ले जावेगा। जानवरों के कष्ट को देखकर हम उन्हें अपने मन से चलने देते थे। आमतौर से थोड़ी देर रुकने के बाद वे खुद चल देते थे, नहीं तो जरा-सा लगाम का इशारा कर देना पड़ता था। घोड़े सभी बेगार के थे, इसलिए, लाला रामरखामल के मजबूत टाँघनो का मुकाबिला नहीं कर सकते थे। लदाखियों ने अपने कनटोप के ऊपर उठे हुए कनौटे को नीचे गिरा कानों को ढाँक लिया था। और मैं?—मैंने तो जो रात को मकी कैप से आँख-नाक छोड़कर सारे शिर और गर्दन को ढाँका था, और ऊपर से ऊनी चादर बाँधी थी, उसे जरा-सी भी हटाया न था। कश्मीर से आते वक्त तीन जोतो को पार करते हुए मैंने देख लिया था, कैसे इस ऊपरी हवा के कारण चेहरे का रंग झुलसकर काला हो जाता है, इसलिए अब नाक और उसके आसपास का जो थोड़ा-सा भाग खाली था, उस पर वेस्लीन मल ली थी। हाथों में दस्ताने थे, और बाकी सारा शरीर अनेक तह मोटे ऊनी कपड़ों से ढँका था। इतने पर भी सर्दी की शिकायत अनुचित होगी, तो भी मैं अनुमान कर

सकता था, कि यहाँ कितनी ठंडक पड़ रही है।

धीरे-धीरे पैरों से नापते, मालूम होता था, युगों में रास्ता कट रहा है। पन्द्रह हजार, सोलह हजार, सत्रह हजार, अठारह हजार फीट पर पहुँचना—कहने में आसान मालूम होता है, लेकिन ये हर एक हजार मनुष्य और पशुओं के फेफड़े, पैरों और पुट्ठों पर कितना असह्य भार, कितनी पीड़ा पैदा करते हैं, उसका आभास भी शब्दों द्वारा चित्रित करना मुश्किल है। खर्दोङ् ला (जोत) अठारह हजार फीट ऊँचा है, और तिब्बत के कठिन जोतों में गिना जाता है। ऊँचे स्थानों पर उषा और सूर्य की किरणें कुछ पहिले पहुँचती हैं, किन्तु हम अभी जोत से नीचे ही थे, तभी खूब सवेरा हो गया था। आज हवा और बादल नहीं थे, इसलिए यात्रा सुखपूर्वक हुई। लदाखी इसे देवता का प्रताप समझते थे।

जोत पर पहुँचकर हम घोड़ों से उतर गये। एक साथी ने अदरक का एक टुकड़ा देते हुए कहा—जोत पर इसका खाना अच्छा होता है, इससे विषैली भूमि का असर जाता रहता है। वहाँ पतली बीरी की शाखाओं में लाल पीली झंडियों से अलंकृत खर्दोङ् ला के देवता का स्थान था। लदाखी साथियों ने शो-शो कहा। हमने थोड़ा विश्राम किया, और घोड़ों को उनके मालिकों के हाथ में दे पैदल ही उतरना शुरू किया। मुझे यह पता न था, कि खर्दोङ् की उतराई चढ़ाई से भी मुश्किल है। उतराई में ऐसे भी सवारी पर चलना सवार और पशु दोनों के लिए कष्ट की चीज है। एक दो फर्लांग ही में जानवर की पीठ कट जाने का अन्देशा रहता है। और यहाँ की उतराई क्या, यह तो कहना चाहिए सीधी पीठ की ओर झुकी दीवार से उतरना था। कितनी ही जगह मुझे चतुष्पाद बनना पड़ा। इस तरफ [illegible] मील तक—परली तरफ से दूनी से भी अधिक दूर तक—बरफ थी। लेकिन सारी जगह सीधी उतराई नहीं थी। खर्दोङ् की इधर की बरफ कभी नहीं गलती, वह सनातन हिमानी है। ऊपर की बर्फ गल जाने पर जब निचली चिकनी चिरन्तन बर्फ ऊपर आ जाती है तो बोझा ले चलनेवाले पशुओं के लिए बहुत खतरा हो जाता है। सीधी उतराई में यदि पैर फिसला तो बगल में हजारों फीट नीचे अतलस्पर्श सरोवर में गिरकर फिर उसके जीवित निकलने की आशा नहीं की जा सकती। खैर, इस वक्त अभी यह बर्फ अर्वाचीन वर्षा से ढकी थी।

नौ दस बजे के करीब हम [illegible] गाँव में पहुँचे। यहाँ खाना पीना हुआ। खाने व विश्राम के बाद पशु प्राणी फिर कुछ ताजगी अनुभव करने लगे, और दोपहर बाद हमने फिर प्रस्थान किया। यहाँ के पहाड़ों के सानु अधिकतर मिट्टी से ढँके थे, और रूखे होने पर भी शताब्दियों से होती वर्षा के पानी ने उनको काट काटकर स्तम्भ, खड्ड और गुफाओं की शकल में परिणत कर दिया था। इधर बस्ती नहीं दिखाई पड़ती थी। खर्दोङ् से आते नाले के सहारे चलते-चलते बहुत समय बाद हम शियोक नदी की उपत्यका में पहुँचे। शियोक सिन्धुनद की दो प्रधान धाराओं में है, यद्यपि सिन्धु का नाम इसकी दूसरी वाहिनी को मिला है, जो मानसरोवर की ओर से आ लेह से 5, 6 मील नीचे से गुजरती है। तो भी सिन्धु में समय समय पर आनेवाली खतरनाक बाढ़ शियोक के कारण ही होती हैं। अक्षय सनातन शियोक हिमानी पिघलकर अपने भीतर से एक मोटी धार इस नदी के आदि स्रोत के रूप में फेंकती है। जब तक धार हिमानी के भीतर से बराबर बहती रहती है, तब तक खैरियत है, किन्तु, जहाँ सर्दी आदि के कारण पानी ने बरफ का रूप धारण कर धार का रास्ता रोका, वहाँ फिर पश्चिमी पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमान्त के सिन्धुतटवर्ती गाँवों और नगरों की खैर नहीं। सरकार की ओर से शियोक हिमानी पर चौकीदार रहते हैं। उनका काम है यह देखते रहना कि धार का मार्ग साफ है या नहीं। बरफ के भीतर से आती धार का रास्ता बन्द होते ही चौकीदार तहसीलदार के पास आदमी दौड़ाता है। अरबों मन पानी के जमा होकर काँच सदृश हिम प्राकार को तोड़ने में कुछ दिनों की देर लगती है, तब तक सावधानी करने पर खतरे की जगहों पर खबर दी जा सकती है। लेह का तहसीलदार जिस वक्त शियोक हिमानी के खतरे का तार देगा, बाकी सभी तार रोककर उसे दिल्ली, स्कर्दो और सीमाप्रान्त पंजाब भेजना होगा। चौकीदार वैसे भी हर सप्ताह नियमपूर्वक धार के पानी की गहराई आदि लिखकर भेजा करता है। एक बार गहराई कम होकर हिमानी का छिद्र बन्द होने लगा था। चौकीदार ने रिपोर्ट भेजी, किन्तु तहसीलदार ने उसे हमेशा जैसा कागज समझ रख छोड़ा। एक-दो दिन बाद जब उनकी नजर कागज पर पड़ी, तो परिस्थिति की गम्भीरता उनकी समझ

मे आई, किन्तु जिस वक्त वह तार भेज रहे थे, उस वक्त खबर आई कि पानी स्कर्दो के पास तक पहुँच गया है।

शियोक के बाएं तट पर धार से कुछ ऊपर के गाँव में हम रात को ठहरे। यहाँ सर्दी बहुत कम मालूम हो रही थी, शायद बहुत सर्द स्थान से आने के कारण। किन्तु ऐसे भी शियोक-उपत्यका गर्म है। गाँव मे खुबानी आदि के दरख्त है।

सबेरे चायपान के बाद हम फिर रवाना हुए, लोहे के झूलेवाले पुल से शियोक नदी पार की, फिर दाहिना ओर से आती अधिकांश सूखी एक नदी की उपत्यका में बायें से घुसे। हम नुब्रा मे रि जोङ् के लामा सस् कुशाक के पास जा रहे थे। रिजोङ् लामा लदाख के लामों में सबसे ज्यादा शिक्षित और सस्कृत थे, इसलिए उनसे मिलकर बौद्ध-धर्म के बारे में जानकारी प्राप्त करने की मुझे बड़ी इच्छा थी। लदाख के और स्थानो मे मै 1933 मे दुबारा गया था, किन्तु खर्दोङ् पार नुब्रा में 1926 के बाद फिर जाने का मौका नही मिला, और मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, वह स्मृति के सहारे ही। शायद नुब्रा मे पहिले कुछ झाड़ियाँ सी मिली थी। नुब्रा के चारो ओर हरे हरे गेहूँ के खेत लहरा रहे थे। कितने ही खुबानी, सफेदे और बीरी के वृक्षों के बाग थे। सरल रेखाओं मे बने लदाखी गाँव के सफेद घर दूर से बड़े सुन्दर मालूम होते थे।

हम लोग लामा (गुरु महन्त) के निवास स्थान में गये। दुभाषिया ने मेरा परिचय दिया। लामा ने अपनी बैठक में बुलाया। वह साफ हवादार ही नहीं, बल्कि उसके सजाने में काफी सुरुचि प्रदर्शित की गई थी। लामा स्वयं चित्रकार थे, और दीवारों पर उनके चित्रित किये गुलाब के फूल बहुत सुन्दर मालूम होते थे। खान-पान में छूत-छात का तो सवाल ही न था, किन्तु मेरा निरामिषाहारी होना दूसरों के लिए बला था। यहाँ साग सब्जी दाल सभी दुर्लभ थे। खैर, दूध के साथ पेटभर रोटी खा लेना मुश्किल नहीं था।

रिजोङ् लामा की उम्र उस वक्त साठ से ऊपर थी। वह बहुत सफाई-पसन्द आदमी थे। उनका बदन कुछ पतला-सा, रंग पीलापन लिये हुए गोरा, चेहरे पर कम मांस, नाक कम चिपटी—हमारे मान से भी वह जवानी में सुन्दर रहे होंगे। लदाख के पुराने राजवंश में पैदा होने से उन्हें सस् कुशाक (कुशाक लदाख में भद्र के महन्त भिक्षु को कहते हैं, यद्यपि मध्य तिब्बत में उसके लिए रिम्-पो-छे का व्यवहार होता है)—राजकुमार कुशाक—कहा जाता था। तिब्बती भाषा, उसके साहित्य पर घंटों हमारी बातचीत होती रही। उन्होंने कन्जूर से अनुवादित महायान महापरिनिर्वाण सूत्र का कुछ अंश अर्थ के साथ सुनाया—दुभाषिए ने उसका अनुवाद करके बतलाया। मैंने लामा से लदाखियों में कुछ सुधार करने की बात कही, जिन्हें कि हेमिस कुशाक के सामने भी मैं रख चुका था; उनमें मुख्य थी—सफाई के अभाव में सदा गन्दा रहनेवाले लम्बे लम्बे बालो को पुरुष कटवा दें। बहुपति विवाह के कारण पति न मिलने से लदाखी स्त्रियाँ दूसरे धर्मवालो के साथ ब्याह कर लेती है, जिससे लदाख में उनकी संख्या का ह्रास हो रहा है, इसलिए बहुपतिविवाह की प्रथा हटाकर हर भाई की अलग अलग शादी करने की रीति जारी करें। भिक्षुओं के पढ़ाने का समुचित प्रबन्ध करें। रिजोङ् ने मेरे सुझावों का स्वागत करते हुए कहा मैं भी इन बातो का अनुभव करता हूँ। लामा को सस्कृत से प्रेम था, कह रहे थे, अब तो बूढ़ा हो गया नहीं तो सस्कृत पढ़ता।

दो या तीन दिन रहने के बाद मैं नुब्रा से लेह की ओर रवाना हुआ। लामा ने अपने बनाये कुछ छोटे छोटे चित्र तथा लेख दिये। मैं फिर लेह लौट आया।

गये रास्ते से लौटने को मैं बिलकुल पसन्द नहीं करता। किस रास्ते लौटा जावे, इस पर मै विचार कर चुका था, और सन्-पङ् गोङ् झील देखते हन्ले, चुमुर्ति (तिब्बत), कनौर के रास्ते शिमला आने का निश्चय किया था। लाला शिवराम इसके लिए पैसे-कौड़ी का इन्तिजाम करने लगे। हेमिस लामा ने हन्ले के अपने मठ के प्रधान कर्मचारी, तथा कनौर के प्रथम बड़े गाँव के मुखिया के नाम परिचयपत्र लिख दिया।

हेमिस मे मैं मेले के वक्त गया था। साल में एक बार इस वक्त वहाँ धार्मिक नाट्य और नृत्य होता है, जिसे अंग्रेज डेविल-डेन्स (भूतनृत्य) कहकर पुकारते हैं, तरह तरह के चेहरे और पोशाक के साथ यह अभिनय होता है, और उस वक्त कितने ही यूरोपीय यात्री भी पहुँच जाते हैं। इन यात्रियों में पेरिस की एक चित्रकर्त्री

मदमोजिल् (कुमारी) लाफ़ुजी भी थी। वह फ्रेंच और इंग्लिश जानती थी और [illegible] के रुखसत हो जाने के बाद मैं ही ऐसा आदमी था, जो अंग्रेजी जानता था। इस प्रकार हेमिस में रहते हमारी घनिष्ठता बढ़ गई थी। नुब्रा जाते वक्त लेह में लाफ़ुजी को मैंने एक बाग में तम्बू के भीतर छोड़ा था। लौटकर आने पर मालूम हुआ वह डाकबंगले में चली गई है। उन्होंने कहा था कि लौटकर नुब्रा के बारे में मुझे जरूर बतलाइएगा, इसलिए एक दिन मैं शाम को डाकबंगले पहुँचा। लाफ़ुजी ने गुड इवनिंग (सुसाँझ) कहते [illegible] हाथ मिलाया। फिर अपने नये मित्र मेजर मेसन को मुझसे मिलने के लिए बुलाने गई। बेचारी को भारत में रहनेवाले अंग्रेजों की मनोवृत्ति का पता न था। मेजर मेसन आये तो सही और उन्होंने गुड इवनिंग कहकर हाथ भी मिलाया, किन्तु उनकी चेष्टा, तथा उनके चेहरे से साफ मालूम हो रहा था कि वह लाफ़ुजी के दबाव के कारण यह सब बर्दाश्त कर रहे थे। मेजर मेसन भारत सरकार के सर्वे विभाग के उच्च कर्मचारी थे। कराकोरम पर्वतमाला में खोज-यात्रा के लिए गये थे। लेह के नायब तहसीलदार [illegible] बारे में सुना [illegible] आगे जाने पर बर्फ ज्यादा होने से रास्ता बन्द है, इसलिए बेगार के [illegible] हम [illegible] नहीं कर सकते थे। एक दिन मेजर साहब लाल पीले होने लगे, तो मैंने कहा [illegible] आदमी [illegible] उनकी जान की जिम्मेवारी कौन लेगा [illegible] इस पर मेजर बहुत बिगड़े— [illegible] मालूम होता है। मेजर मेसन जैसे अंग्रेज कर्मचारी ही हैं, जिन्होंने भारत में अंग्रेजों को [illegible] हमारे लिए असह्य बना दिया। इससे ज्यादा मुझे उनसे सरोकार नहीं था। मैं इस [illegible] को सामना नहीं करना पड़ा, नहीं तो आत्मसम्मान [illegible] अनर्थ हो सकता था।

लदाख के राजा के प्रासाद [illegible] आसपास के दर्शनीय स्थानों को मैं देख चुका था। [illegible] आगे की यात्रा के लिए रवाना हुआ। तहसीलदार साहब ने [illegible] कर दिया। रास्ते में ठिकाने की [illegible] पुराने [illegible] के पास सरकारी सराय में ठहरा। [illegible] में मुझे कोई तकलीफ न होती थी। वह गोंपा (मठ) [illegible] आगे उसका अभाव था—न होता, यहीं [illegible] रहने का इन्तिजाम होता और पड़ाव पड़ाव पर बदलते जाते। खाने का सामान [illegible] निरामिषाहार नियम को जो नवद्वीप के रास्ते में [illegible] किन्तु अभी [illegible] नहीं कर रहा था [illegible] खानेवालों और मुझे भी तकलीफ हो रही थी। सराय में दो एक लदाखी अरगोन (क-मीरी मुसल्मान से लदाखी स्त्री का लड़का) मुसल्मान भी ठहरे हुए थे। [illegible] पूर्वी [illegible] मानसरोवर ब्रह्मपुत्र से उत्तर, मध्य एसिया तक फैला निर्जन प्रदेश) व्यापार के लिए जा रहे थे। उनके पास चाय, कपड़े, खाने के बरतन, तथा दूसरे कारखानों की बनी चीजें थीं। [illegible] खानाबदोशों (घुमन्तू) को वे इन चीजों को अगले साल ऊन, समूर, पट्टू आदि के [illegible] दूसरे साल फिर [illegible] पिछले साल की वसूली करेंगे। खानाबदोश [illegible] की भाँति बड़े ईमानदार होते हैं इसलिए दुगना तिगुना नफा होना निश्चित था। आजकल (जुलाई या अगस्त 1926 ई.) उनके व्यापार का समय था।

दूसरे दिन हम जोत की तरफ बढ़े। इस जोत का नाम [illegible] मैं पुराने स्मरण के सहारे कह रहा हूँ, हो सकता है इसमें गलती हो। यह लेह से पूरब तरफ है। यह भी खर्दोङ् की भाँति ही बहुत ऊँचा जोत (दर्रा) है किन्तु इसकी चढ़ाई-उतराई उतनी तीखी नहीं है। [illegible] पर दोनों तरफ—पहाड़ों पर और [illegible] तक बर्फ थी। शाम से बहुत पहिले हम उस पार के गाँव में पहुँचे। उस गाँव का इतना ही स्मरण है कि दूसरे दिन सवारी के लिए घोड़ा और सामान ले चलने के लिए दो या तीन औरतें मिली थीं। यह सभी एक उम्र की

तरुणियाँ थी। बूढे गगाराम को छग (कच्ची शराब) पीने और मजाक करने का बहुत शौक था। वे तिब्बती भाषा मे बोल रहे थे, इसलिए मैं तो समझ न पाता था, किन्तु बीच-बीच मे ठहाका खूब लगता था। वैसे तो जोजीला पार होते ही वनस्पति विशेषकर वृक्षो का दर्शन दुर्लभ हो जाता है, किन्तु इधर तो उसका बिलकुल ही अभाव था। कारण स्थान की ऊँचाई और सर्दी थी। नदी पतली थी, किन्तु उसकी उपत्यका बहुत चौड़ी थी, और चारों ओर के पहाड़ नगे थे। पश्चिमी हिमालय के रास्ते के सम्बन्ध में एक अंग्रेजी पुस्तक, सरकारी सर्वे विभाग से प्रकाशित, मुझे रावलपिंडी के एक कबाड़िये की दूकान मे मिल गई थी, इसलिए उससे रास्ते की जानकारी मे बडी मदद मिल रही थी। शायद दूसरे दिन हमे इस नदी को छोड़ दूसरी सूखी सी उपत्यका पकडनी पडी। रात को एक छोटे-से गाव मे ठहरे। वहा के घरो में लकडी का नाममात्र उपयोग होने से वे अनगढ पत्थरो के ढेर से मालूम पडते है। लोग मुश्किल से मनभर के लिए कुछ खेती कर लेते है, नहीं तो उनका गुजारा भेड और याक के दूध, मास पर होता है। आग के पास बैठ हम चाय पी रहे थे, पास मे घर की बूढी दादी घुमौआ मानी (प्रार्थनाचक्र) लिये घुमा रही थी। मैंने बातचीत में पूछा—'बूढी दादी! मरकर कहाँ जन्म लेने का मन है?' झट जवाब मिला—'ग्यगर दोर्जेदन् (भारत बोधगया)।' मैंने कहा—'तो अभी चलो न, मैं उधर ही जा रहा हूँ।' लेकिन जीतेजी दोर्जेदन् जाने के लिए बूढी दादी तैयार न थी।

आगे दो उपत्यकाएँ ऊपर उठती किसी पर्वत मेरु पर न मिलकर एक छोटे से तालाब का अपना जलविभाजक बनाती थी, चढाई-उतराई वहाँ इतनी कम थी, कि मालूम नहीं हुई। तालाब बहुत छोटा था और उसमें सेवार की तरह की कोई घास फैली हुई थी। पानी स्वच्छ नहीं था। पुस्तक मे इसका नाम चकर तालाब दिया है। हिन्दी नाम मुझे कुछ अजीब सा मालूम हुआ। गगाराम ने कहा—कोई साहब किसी पथ प्रदर्शक के साथ यहाँ आया। साहब के प्रत्येक प्रश्न का जवाब तुरन्त न दिया जाय, तो पथ प्रदर्शक अयोग्य समझा जाय। साहब ने पूछ दिया—'इस तालाब का नाम क्या है?' पथ प्रदर्शक बिना एक मिनट की देरी के बोल उठा—'चाकर हुजूर!' चा-कर (पक्षि-श्वेत) का अर्थ सफेद चिड़िया है। पथ प्रदर्शक की नजर उस पर पड़ी, और उसने यही नाम रख दिया।

मनु पङ् गोङ् झील के पास उपत्यका टेढी मेढी हो गई थी, और हम उसके बहुत पास आ गये तब इस झील पर हमारी नजर पडी। मनु पङ्-गोङ् झील पानी की पचासों मील तक फैली एक टेढी मेढी झील है, उसका आधे से अधिक भाग तिब्बत की सीमा के भीतर है। पानी स्वच्छ दीख पड़ता है, किन्तु उसमें कोई मछली नहीं। लोग कहते है, पानी मे जहर है, इसलिए मछली जी नही सकती। जाडो मे पानी जम जाता है उस वक्त आदमी उसके ऊपर से रास्ता बना लेते है।

हमे उस दिन जिस गाँव मे रहना था वह पश्चिम उत्तर के कोने पर था। शायद दो या तीन घर थे। जब सभी भाइयो के लिए एक ही स्त्री मिलनेवाली हो, तो एक से दो घर होने की वहाँ सम्भावना कहाँ, इसलिए ये दो घर 'सृष्टि की आदि' से चले आते समझिए। गाँव मे पहुँचने के बाद जो हवा शुरू हुई, तो वह रात तक चलती रही, जिसके कारण सर्दी और बढ गई थी। गगाराम ने रोटी बनाई, दूध के साथ भोजन किया। गगाराम को तो गाँव मे पहुँचने के साथ छग मिलनी जरूरी थी, और लदाख के गाँवों के लिए वह तहसीलदार साहब से कम न था। पहुँचते के साथ छग की मटकी उनके सामने आ उपस्थित होती।

दूसरे दिन हम पूरब की तरफ झील की ओर मुड़े। कल की उपत्यका का मुँह पार किया। आसपास के पहाड बहुत छोटे, टीले-से मालूम होते थे, जिनके सानुओ और कक्षो मे भारी बालुका राशि जमा थी। दोपहर की चाय हमने एक छोटे से गाँव मे पी। यहाँ खेतो मे सिर्फ छोटी मटर दिखलाई पडी। चौदह हजार फीट से ऊपर भी खेती हो सकती है, इसका नमूना यही देखा। छोटी मटर के अतिरिक्त शायद नगा जौ ही था जो यहाँ पक सकता था। आगे भी रास्ता झील के तट के पास से था। वहाँ जमीन से बड़े-बड़े वृक्षो के निम्न भाग खोदकर निकाले जाते थे। आज तो यहाँ बीरी जैसा बेशरम वृक्ष भी दातुवन लायक ही रह जाता है, किन्तु पहिले किसी युग में मालूम होता है, यहाँ की आबहवा इतनी सर्द न थी; हो सकता है, उस वक्त हिमालय की ऊँचाई भी इतनी न रही हो, जब कि यहाँ इस तरह के विशालकाय वृक्ष होते थे।

एक छोटी-सी मानी के पास से हमारा रास्ता दाहिनी ओर मुड़ा। शायद उधर से कोई छोटी सी नदी भी आ रही थी। आगे नई उपत्यका जो मिली, वह हरी घास का मैदान सा मालूम हो रही थी, जिसमें जहाँ तहाँ हजारों याक (चँवरी गायें) चर रही थीं। उसके किनारे किनारे हम घंटों चलते रहे, और चार बजे के करीब एक अपेक्षाकृत बड़े गाँव में पहुँचे। यहाँ एक छोटा सा तीरी का बाग था जो शायद राज की ओर से लगाया गया था। इसके वृक्ष बहुत छोटे छोटे थे। आगन्तुकों-विशेषकर सरकारी आदमियों के-ठहरने के लिए वहाँ एक छोटा सा घर था। चीनी, सूखा फल तो हमारे पास था, किन्तु यहाँ साग और तरकारी नहीं थी। श्रीनगर में मैंने एक कश्मीरी पंडित के यहाँ छेन (पनीर) की तरकारी खाई थी, जो स्वाद में बिलकुल मछली सी मालूम होती थी। दूध की वहाँ कमी न थी। मैंने गंगाराम से छेना से तरकारी बनाने के लिए कहा, खुद भी सहायता की, किन्तु छेने की टिकिया को घी में भूनकर बनाने की विधि से परिचित न होने से छेना टूट टाटकर खद्दी सा बन गया। शाम को मैं गाँव की गुम्बा (मठ) देखने गया। बुद्ध की मूर्ति के अतिरिक्त वहाँ कितनी ही युगनद्ध (यब युम् मैथुनासक्त) मूर्तियाँ थीं। ऐसी मूर्तियों को लद्दाख में पहिले पहिल देखकर मुझे तिब्बत के बौद्ध धर्म पर बहुत गुस्सा आता था, क्योंकि उस वक्त मैं यह न समझ पाया था कि यह भी भारत की देन है।

अगले दिन फिर हम नये घोड़े [illegible]। हम [illegible] की ओर बढ़े। रास्ते में दूसरे गाँव का स्मरण नहीं। जोत के देवता के स्थान पर झंडियाँ और [illegible] में पूजा में चढ़ाये याक [illegible] के अतिरिक्त जंगली भेड़ की मोटी मोटी सींगें भी थीं। [illegible] भी आसान थी। [illegible] हम खानाबदोशों के [illegible] तम्बुओं में पहुँचे। लद्दाख के कुत्ते भी बहुत [illegible] होते हैं, किन्तु यहाँ के [illegible] लम्बे बालों वाले विशाल कुत्ते तो बहुत खूँख्वार मालूम होते थे। [illegible] दूसरी जगह तो घोड़े के सवार को वे [illegible] किन्तु यहाँ वे [illegible] इसलिए मैं ज्यादा भयभीत रहता था। तम्बुओं के पास [illegible] पास दौड़ [illegible]। तम्बूवालों ने पहुँचकर उन्हें भगाया। गंगाराम से [illegible] (प्रणाम) होने लगा। एक तम्बू में हमारे ठहरने के लिए स्थान बनाया गया, और थोड़ी देर में [illegible] चाय खौलने लगी। [illegible] और [illegible] मक्खन वाली चाय तैयार हुई और मैंने अपनी प्यास बुझाई। [illegible]

तम्बुओं से सिन्धु के पारवाले पहाड़ हमें [illegible] साफ दिखलाई [illegible] किन्तु चलने पर हमें मालूम हुआ कि यहाँ के स्वच्छ वायुमंडल में दूरी नापने में दृष्टि बड़ी धोखा खाती है। [illegible] बजे के करीब हम रवाना हुए। सूर्यास्त हुआ, किन्तु अब भी वे पहाड़ उतनी ही दूर पर थे। [illegible] में [illegible] नहीं दीख रहा था, किन्तु अब भी सिन्धु का [illegible] पता नहीं था। हम दूर [illegible] दिखाई पड़ी। उसके पीछे भी घंटे बढ़ते गये [illegible]। [illegible] गंगाराम उधर ही जाना चाहते थे, और मैं निराश होकर चाहता था कहीं विश्राम करना। मैंने गंगाराम से कहा- [illegible] आग नहीं है। मालूम होता है, कोई भूत हमें [illegible] देना चाहता है। गंगाराम ने स्वीकार किया- इधर भूत बहुत हैं और कभी कभी वे मुसाफिरों के साथ ऐसा खेल खेलते हैं। [illegible] भूत की बात मुझे मालूम हुई और फिर अन्दाज से नदी की धार की ओर हम बढ़े। [illegible] बजे के करीब हम पानी के पास पहुँचे। गंगाराम का इरादा था रात ही को नदी पार कर जाना, किन्तु शाम को हिमानियों से [illegible] आया पानी कई गुना बढ़ जाता है। घोड़े की पीठ पर चढ़कर गंगाराम [illegible] पानी ज्यादा था। [illegible] पानी और न बढ़ आये इसलिए जल के किनारे से, कुछ हटकर हमने रात के विश्राम का इन्तिजाम किया। कपड़े हमारे पास काफी थे, इसलिए सर्दी के लिए बेफिक्र थे। [illegible] इन्तिजाम हो नहीं [illegible] इसलिए हम [illegible] बिना खाये पिये ही सो गये।

सबेरे गंगाराम घोड़े की नंगी पीठ पर चढ़कर [illegible]। सिन्धु यहाँ [illegible] बराबर पानी था। पहिले सामान फिर हम [illegible] पार उतरे। अब हम नदी के बायें किनारे से चल रहे थे। पहाड़ कहीं नजदीक और कहीं दूर हट जाते थे। इस तरफ से भी [illegible] पार पर नमक और दूसरा सामान लादे चले जा रहे थे। उनके साथ एक दो गदहे भी थे [illegible] पर [illegible]

लम्बा फोका) और दूसरा सामान लदा हुआ था। साथ में कुछ पुरुष और स्त्रियाँ थीं। उस वक्त मेरे दिल में एक जबर्दस्त लालसा पैदा हुई।—क्या ही अच्छा होता, कि मैं भी इसी तरह कुछ भेड़ों, एक दो गदहों, और एक तिब्बती तरुणी के साथ एक जगह से दूसरी जगह घूमता फिरता। जहाँ मन आता वहाँ तम्बू लगाता। तरुणी और मैं मिलकर गदहों और भेड़ों से सामान उतारते। दो बड़े कुत्ते हमारी चीजों की रखवाली करते। तरुणी चाय बनाती, फिर उस निर्जन निर्वृक्ष नंगी पार्वत्य उपत्यका में हम दोनों एक निर्द्वन्द्व विचित्र सा जीवन बिताते। जीविका के लिए हम कुछ विक्रेय चीजें रखते, जिन्हें एक जगह से दूसरी जगह बदला करते। इस प्रकार कभी लदाख, कभी मानसरोवर, कभी ब्रह्मपुत्र की उपत्यका में टशीलहुन्पो, कभी ल्हासा और कभी खम् (चीन के पास पूर्वीय तिब्बत का प्रान्त) हमारे पैरों के नीचे रहता। फिर सोचा मानसरोवर और तिब्बत के डाकुओं से हम दोनों बच कैसे निकलते? और जीवन की ओर भी तो बहुत सी लालसाएँ हैं, जवानी भी चिरस्थायी नहीं है, यह तो तब हो सकता था, जब कि जीवन हजार वर्ष का होता, जिसमें जवानी के [illegible] पाँच सौ साल होते। क्या लालसा मात्र से जीवन को बढ़ाया जा सकता है? यह समझने पर भी मेरी लालसा गई नहीं। उसने एक कोने में स्थायी स्थान ग्रहण किया।

कितने ही मील चलने के बाद हम बाईं ओर के एक नाले में मुड़े, यह हल्ले से आ रहा था। [illegible] गाँव तीन-चार घरों का था। सभी दरवाजे बन्द थे, किन्तु ताले उनमें न थे। ग्यागम ने आवाज दी कि यहाँ जब कोई हो, तब न बोले। पास के जौ के खेतों में हिरन चर रहे थे। ग्यागम ने [illegible] रह गये। घोड़े यहाँ बदलने थे, और भूख भी जोर की लगी हुई थी। नदी में दो तीन [illegible] घर के मालिकों को पकड़ लाये। यह वहाँ तम्बू में चलने के लिए कह रहा था, किन्तु हम [illegible]।

खाना खाने और विश्राम करने के बाद हम फिर नदी धारा पर रवाना हुए। आज हल्ले पहुँचने की [illegible] सम्भावना थी। गाँववालों के तम्बुओं को छोड़ आगे [illegible] एक विशाल [illegible] में [illegible] विचरते ही 'घोड़ों' को मैंने दूर से अपनी ओर घूमकर ताकते देखा। ग्यागम ने बतलाया ये घोड़े नहीं क्यङ् (जंगली गदहे) हैं। मैंने कहा इन्हें पकड़कर लाते क्यों नहीं। ग्यागम ने बतलाया — [illegible] ही आसान नहीं, यदि पकड़ भी लिया, तो ये पालतू नहीं बनाए [illegible] मरने से बचने पर भी भाग जाते हैं।' वे मझली [illegible] के घोड़ों के बराबर थे, पेट [illegible] और [illegible]। मुँह [illegible] जैसी दुम को छोड़ देने पर वे बिलकुल घोड़ा जैसे मालूम होते थे। शाम हो गई, अँधेरा हो गया, [illegible] रात भी बीत गई, तब ग्यागम ने आज ही हल्ले पहुँचने के इरादे को छोड़ दिया। हमारी बाईं तरफ कुछ तम्बू दिखलाई पड़े। हमने घोड़े उधर को मोड़े। दर्जनों कुत्तों की 'हाँव-हाँव' को सुनकर मैं तो डर गया और ग्यागम ने किसी आदमी को कुत्तों को खदेड़ने के लिए कहा। हल्ले के कुत्ते और भी खूंख्वार होते हैं, यह मैं हेमिस लामा से सुन चुका था।

याकों के बाल के एक काले तम्बू में हमें जगह मिली। तम्बू के बीच में आग जल रही थी, धुआँ निकलने के लिए ऊपर तम्बू थोड़ा कटा हुआ था। ग्यागर (भारत) लामा कहने पर घरवालों पर और भी प्रभाव पड़ा। गृहिणी ने नया पानी नया चाय डालकर देग्ची को आग पर रखा। मट्ठा से मुझे बहुत प्रेम है, और मेरे कहने पर गाढ़े मट्ठे का एक कटोरा भरकर चला आया। तम्बू के भीतर चारों ओर किनारे-किनारे चीजों की कतार लगी हुई थी। एक प्रधान स्थान पर चौकी के ऊपर कुछ मूर्तियाँ रखी थीं, जिनके सामने पीतल के चिराग में घी की बत्ती जल रही थी। पास के तम्बू में खबर लगने पर पायजामा और कोट पहिने कनटोप उलटकर बनी गोल टोपी दिये एक अधेड़ आदमी आया। उसने 'राम राम' कह हिन्दी में बातचीत शुरू की। वह कनौर (बुशहर-रियासत) से व्यापार के लिए आया हुआ था। देश की चीजों के बदले ऊन खरीदना बस यही उसका व्यापार था। उससे रास्ते के बारे में पूछा, और मालूम हुआ, कठिन रास्ता है, तिब्बत के इलाके तक में ही तकलीफ है, कनौर पहुँचने पर तो देश सा मालूम होने लगेगा।

सवेरे एकाध घंटे ही में हम हल्ले गुम्बा (मठ) में पहुँच गये। हल्ले गुम्बा हेमिस गुम्बा की शाखा है। हेमिस लामा ने मेरे बारे में पत्र लिखा था, और ऊपर से तहसीलदार का चपरासी मेरी अर्दली में था, फिर

खातिर के लिए क्या पूछना। गुम्बा एक छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है, नीचे रमशू की तरफ हरी घासों से ढकी उपत्यका है। आसमान में घिरे बादल, ज़मीन पर गिरी हुई ताज़ी बर्फ और स्थान की ऊँचाई ने मिलकर हवा को ज्यादा शीतल बना दिया था। लामा के खातिर करने की सबसे अच्छी चीज़ तो मांस है, किन्तु उस में रखा नहीं रहा था, इसलिए उन्होंने दही [illegible] से ही सत्कार किया। सबसे अच्छे घर में मुझे ठहराया गया। जम्बू से पैदल चलकर आनेवाले एक तरुण [illegible] ने [illegible] में कुत्ते से [illegible] आपबीती सुनाई थी, इसलिए लदाख पहुँचने से पहिले ही एक अच्छा कुत्ता साथ लेने का मैंने संकल्प कर लिया था। मैंने हेमिस लामा से एक कुत्ता माँगा, तो उन्होंने कहा—हेमिस के [illegible] में रहते और [illegible] हैं, मैं वहाँ चिट्ठी लिख देता हूँ, वहीं से आप कुत्ता ले लें। [illegible] करने लगा। फिर उसने एक पकिना (चीनी) कुत्ती मेरे सामने [illegible] यह कुत्ती हमारे पास ल्हासा से आई है। आप भारत के लामा हैं [illegible] बहुत सुन्दर थी। उसके बाल लाल थे। बड़ी-बड़ी आँखें [illegible] सुन्दर मालूम होती थी। स्वामी के इशारा करने पर कुत्ती अपने [illegible] की ओर भी चिपटी कर दिए, पैरों पर बैठ गई। मैंने बुलाया [illegible] दूसरे दिन [illegible] मेरे पास आकर घूमने लगी। मैंने उसे ही लेना स्वीकार किया।

आगे जोत पार तिब्बत की सीमा में [illegible] गंगाराम ने कहा—यहाँ से लौटकर गुम्बा के थोक रूप में [illegible] आगे से वह लौट जायगा। [illegible] से रवाना होते वक्त [illegible] मैंने अपने [illegible] पर बैठा लिया। [illegible] मैंने समझा [illegible] गुम्बा को भागना चाहती है [illegible] पहिले [illegible] ज़मीन पर रख दिया तो वह हमारे पीछे-पीछे चलने लगी [illegible] जगह [illegible] छोड़ दिया गया। [illegible] को चाय हमने [illegible] में [illegible] के रूप में पहुँच गए। यहाँ गुम्बा की सफ़ेदी [illegible] रही थी। [illegible] में [illegible] के सामने [illegible] में बन्द मक्खन [illegible] बड़ी [illegible] पूरा [illegible] गुम्बा [illegible] साधु [illegible] में [illegible] आयेंगे [illegible] हमने [illegible] चराना [illegible] मक्खन बिलोना [illegible] रवाना करना। [illegible] हम पहुँचे [illegible] स्त्रियाँ दानवों की तरह [illegible] मिट्टी के [illegible] में [illegible] गोलाई के बीच में थी—जहाँ [illegible] हिलाकर मक्खन बिलो रही थीं। मक्खन [illegible] पानी [illegible] फिर मक्खन अलग करती। [illegible] बहुत [illegible] पानी [illegible] जाने पर [illegible] गाढ़े भाग को बर्फी की तरह [illegible] में [illegible] जाता, वही सुखाकर [illegible] होता। छुरा बहुत चिमड़ा [illegible] में [illegible] है [illegible] मानने में वह बहुत सहायक होता है।

गंगाराम को अब लौटना था। [illegible] मुझे बहुत आराम रहा [illegible] लिए, मैंने उनसे शब्दों में ही नहीं [illegible] रूप में भी कृतज्ञता प्रकट की। गंगाराम बहुत [illegible] हुए और तहसीलदार साहब को एक चिट्ठी लिखने [illegible] कहा। मैंने [illegible] की चिट्ठी लिख दी, लाला शिवराम को भी एक पत्र लिखा।

दूसरे दिन दो घोड़ों और एक आदमी के साथ मैं आगे के लिए रवाना हुआ। [illegible] पहुँचने में कई [illegible] लगे। चढ़ाई शुरू होने पर मैंने [illegible] अपने सामने घोड़े पर रख लिया लेकिन वह बार-बार उतरकर पैदल चलने के लिए छटपटाती थी, मैंने उसे [illegible] दिया। चढ़ाई [illegible] लम्बी थी [illegible] 18,000 फीट से कम ऊँची न रही होगी। [illegible] के साथ चलती रही। बर्फ सब गल गई थी, और मेरु पर से बहुत दूर तक हिमाच्छादित [illegible] दिखलाई पड़ रहे थे। उतराई

भी काफी थी, और हम उसे पूरा तै किये बिना ही पानी के पास-पास एक-दो तम्बुओ को देखकर रात के विश्राम के लिए ठहर गये।

सेङ्-टुक को सत्तू की गोली दी। उसने नही खाया। वह चुपचाप अत्यन्त शान्त हो मेरे बिछौने पर पड़ी थी। आदमी ने मट्ठा दिया, उसे भी नही पिया। फिर पडोसी से गोश्त मागकर दिया, उसकी एकाध टुकड़िया को खाकर उसने छोड दिया। शाम को उसे खाँसी आने लगी। रात को कितनी ही बार बिछौने से उठ उठकर वह पाखाना-पेशाब के लिए जाती रही, और मुझे मालूम हो गया उसे बहुत तकलीफ हो रही है। सवेरे जब मैं नदी-किनारे हाथ-मुँह धोने गया, तो उसने मेरा अनुगमन किया। चाय पीकर जब मैं चलने के लिए घोड़े पर सवार हुआ, तो सेङ्-टुक खडी होकर मेरे मुँह की ओर कातर दृष्टि से देखने लगी। उसकी सुदीर्घ काली काली आँखो मे अपार करुणा भरी हुई थी, मैं समझ गया, अब उसमे पैदल चलने की शक्ति नही है। मैंने उसे अपनी गोद मे ले लिया। उसके शिथिल होते शरीर को देखकर, मैंने समझा, कल की चढाई और रात की थकान मे यह शिथिल पड रही है। दो-तीन मील चलने पर पहिला घर मिला, मैंने एक कटोरी दूध लाने के लिए आदमी को भेजा। गृहपति को कलछी-भर दूध लेकर आते देख, मैंने सेङ्-टुक को उठाया। उसका शिर लटक गया। मैंने धडकते हुए हृदय से उसके शरीर, मुँह, हृदय की गति को टटोला, वह निष्प्राण थी। मैंने इतनी मात्रा मे और अचानक पीडा कभी नही अनुभव की थी। असली मानी मे मैं उस वक्त विचार-शून्य हो गया। मुझे सिर्फ एक तीव्र वेदना-मात्र कलेजे मे अनुभव हो रहा थी। मन मसोसकर मैंने सेङ्-टुक के मृत शरीर को वहीं छोड दिया, और घोड़े को आगे बढाया। थोड़ा चलने पर अगले गाँव मे पहुँचकर मुझे खयाल आया—मैंने सेङ्-टुक के शव के प्रति श्रद्धा नही दिखलाई, उसे एक जगह गाड़ तो देना चाहिए था। मैंने आदमी को कुछ पैसे दिये और बहुत प्रार्थना करके वचन लिया, कि वह उसे गाड़ देगा। मेरे मन की पीड़ा बढ़ती ही जाती थी। कितनी ही बार मेरी आँखो मे आँसू निकल आये। माता और पिता के मरने पर, तथा मेरे लिए प्राण देनेवाले नाना-नानी के मरने पर भी जो आँखे नही पसीजी उनमे आज छल छल आँसू उमड आ रहे थे। रास्ते ही मे मैंने सेङ्-टुक की मृत्यु के कारण अतिसन्तप्त हृदय से आठ श्लोक (सेङ्-टुकाष्टक) लिखे, जिनका अन्त होता था—'सेङ्-टुके! त्वत्प्रयाणे'।

मुझे मालूम होता था उस सुन्दर चीज की हत्या मेरे इन दोनो हाथो ने की।

तिब्बत में—जोत पार कर अब मैं पश्चिमी तिब्बत के भू-मूर्ति इलाके मे था। प्राकृतिक दृश्यो मे तो कोई अन्तर नही पड़ा था। स्त्री-पुरुषो की पोशाक मे कुछ विशेष तिब्बतीपन झलक रहा था। गाव के मुखिया के घर मे छोडकर घोड़ेवाला चला गया। उस वक्त मुझे यह मालूम नही था, कि आगे के लिए सवारी का इन्तिजाम करना यहा इतना मुश्किल होगा। मुखिया कही बाहर गया हुआ था। गृहिणी ने बतलाया, कि अभी उसके आने की जल्दी उम्मीद नही है। ऊपर के कोठे पर एक अँधेरे से मकान मे मुझे ठहराया गया। मैं साँझ दिन रहते पहुँचा था। दिन तो छत से विस्तृत उपत्यका को देखने, और अर्धमूक वार्तालाप मे बीत गया। रात आने पिस्सुओं की पलटन ने जब ताबड़ तोड़ हमले शुरू किये, तो परेशानी बढ़ी। रात के बीतने के साथ उनकी संख्या और चोट बढ चली, उस वक्त नींद कहाँ लग सकती थी? सारे बदन मे आग, और काटने की जगह पर चकत्ते पड गये। मुझे वह रात आसपास के पहाडो से भी बहुत बड़ी मालूम हुई।

पैसे मेरे पास थे, और खाने की चीजो मे कुछ चीनी और सूखे फल थे। सत्तू और आटा गाँव मे भी मिलता था, किन्तु तरकारी के स्थान पर दूध भर का बन्दोबस्त हो सकता था। गृहिणी अधेड स्त्री थी, घर मे एक-दो नौकर, एक-दो बच्चों के सिवाय और कोई न था। भाषा की बड़ी दिक्कत थी, तो भी जहाँ तक घर की मालकिन का सम्बन्ध था, उनका बर्ताव रूखा न था। दूसरे दिन को भी किसी तरह बिताया, और पिस्सुओं से बचने के लिए मैंने आँगन में बिस्तरा किया। तीसरे दिन मुखिया का बड़ा लडका भेडो में से आया। उसने बतलाया, घोड़े नही मिल सकते। मुझे ठीक से याद नही, उस गाँव मे कितने दिन रहने पडे। किन्तु पिस्सुओं और आगे चलने की चिन्ता इतनी अधिक थी, कि मालूम होता था, महीनों नही तो हफ्तो रहने पडे।

घोडो से निराश होकर मैंने सामान ले चलने के लिए आदमी मागा, और उसका मिलना भी आसान न

था। लदाख में तो तहसील की सहायता थी, नामा (महन्त) लोग भी परिचित हो गये थे, किन्तु यहाँ मेरे पास कोई सरकारी परिचय पत्र न था। इसलिए नामा ने एक साधारण पत्र दिया था, जिसकी वे लोग उतनी ही कद्र कर सकते थे, जितने में उन्हें कोई तरद्दुद न उठाना पड़े। आखिर एक आदमी दूना तिब्बती मजदूरी पर मिला और मैं उन भिक्षुओं को याद करते वहाँ से रवाना हुआ। गाँव में ठहरने की तकलीफ इतनी थी कि [illegible] सेड्दुक की मृत्यु का धक्का दिल पर अब कम रह गया था।

गाँव से निकलने पर बहुत सी भेड़ों पर सामान लादे कनौर का एक व्यापारी चाँग पर चढ़ा आता मिला। उसने रास्ते को अच्छा बतलाया। स्पिती की नदी और रास्ते को पार कर शाम को [illegible] गाँव में पहले ही भेड़वालों के एक अड्डे पर पहुँचे। [illegible] पानी है—पाँच मन लकड़ी दीवार के भीतर न जा बाहर ही भेड़ों के बैठने की जगह में बिस्तरा बिछाया। [illegible] मालूम होता है भिक्षुओं के पास उनके भाइयों का तार आ गया था। दो एक और जगह बदलने के बाद मैंने भेड़ों की जगह छोड़ दी। मालूम होता है, भेड़ें भी भिक्षुओं की [illegible]।

बुशहर-रियासत—रात के स्थान से गाँव बहुत दूर न था। चढ़ाई भी उतनी मुश्किल न थी, हाँ उतराई कुछ कठिन जरूर थी। अगला गाँव [illegible] हम दोपहर को पहुँच गये। गाँव को लाँघते ही मैं बुशहर रियासत में आ गया था। [illegible] प्रधान के [illegible] साफ [illegible] भद्राचरण पोशाक को देखकर मुझे [illegible] आशा बँधी। [illegible] प्रधान के नाम [illegible] एक खास पत्र दिया था, किन्तु उस पत्र पर मुखिया के ऊपर अच्छा असर [illegible] पर [illegible] हो गया। उसने कहा—यहाँ [illegible] कहाँ मिलेगा। मैंने कहा [illegible] अच्छा हो तो दो। उसने कहा—मिलना मुश्किल है।

छत पर बाहर ही मेरा सामान रखवाया गया था। लेकिन पानी के इन्तजाम का होना मुश्किल था। मुझे पिछले तिब्बती गाँव की तरह भी [illegible] न था [illegible] वहाँ [illegible] की स्थिति में रहना नहीं चाहता था। [illegible] यह थी कि भाषा के [illegible] में [illegible] हिन्दी समझते थे। मैंने सामान को वहीं [illegible] खाने के प्रबन्ध के लिए गाँव में निकल पड़ा। एक जगह तम्बू तान [illegible]। मैं उनके पास गया। वे लोग [illegible] घूम रहे थे। [illegible] और वहाँ के मुझे हरे गेहूँ का होला भूनकर प्रधान के [illegible] दी। [illegible] प्रधान के बताने से मालूम हुआ, कि वह इन स्पितीवाले [illegible] को नीच जाति का समझता है। मगर मुझे उसकी क्या परवाह थी, मैंने होला लेकर खाया। इसी बीच गाँव में घूमने पर एक तरुण व्यापारी से भेंट हुई। वह हिन्दी [illegible] बोल लेता था। उसने बड़ी खातिर से बैठाया, चाय पिलाई। मैंने अपना [illegible] कहा तो उसने उत्साहित करते हुए समझाया—इधर के लोग [illegible] होते हैं, किन्तु अब आप [illegible] आ गए हैं। आगे आपको कष्ट नहीं होगा। [illegible] आदमी मिल जायेंगे। मेरा यह गाँव नहीं है, तो भी मैं [illegible]। [illegible] मैं अपना सामान उठवाकर उस तरुण के ठहरने की जगह में चला आया। यह ऐसी जगह थी कि यदि [illegible] दिन रहना भी पड़ता, तो मुझे बुरा न मालूम होता।

दूसरे दिन तरुण ने मुझे एक नौजवान जो पहाड़ में नीचे समझी जानेवाली लोहार जाति का था—भरिया दे दिया। उसकी पीठ पर सामान रखे मैंने [illegible] के दूसरे [illegible] की तरह दो तीन जाड़े शिमले में मजदूरी करने में बिताए [illegible] वह देश देखा हुआ आदमी था। सिन्धु को जब से छोड़ा, तभी से रास्ता खराब मिलने लगा था, तो भी पहली जोत तक कोई दिक्कत न थी। दूसरी जोत का रास्ता भी कुछ सहल था, किन्तु अब रास्ता बहुत खराब, यद्यपि प्रदेश अपेक्षाकृत गरम था। हम एक कोने की तरफ मुड़ रहे थे, मैंने समझा यहीं किसी धार को पार करना होगा। किन्तु यकायक हमारे सामने एक दूसरी ही धार आ गई। तीन-चार सौ फीट ऊपर से नीचे हजार फीट तक 80 डिग्री के झुकाव पर—करीब करीब सीधी—एक [illegible] धार मन्दगति से गिर रही

थी। मैं तो समस्या पर विचार करने लगा, किन्तु नौजवान छलाँग मारते हुए एक पैर को धार में छुआते दूसरे पार चला गया। उस चल धूलि पर पैर रखते मुझे मालूम होता था, कि मैं धार के साथ हजार फीट नीचे गंगा में चला जाऊँगा। नौजवान समझा रहा था—डरिए मत, हलके से पैर रखते, बिना एक सेकंड की देर किये दूसरे पैर को इस पार रख दीजिए, किन्तु मेरी सारी तर्कशक्ति नौजवान की बात और उसके क्रियात्मक उदाहरण के पक्ष में नहीं हो रही थी। प्रश्न था—आगे चलना है, या फिर इसी प्रधान के गाँव की ओर लौटना है। अन्त में मैंने हिम्मत की। उतनी फुर्ती से तो पैर को मैं उठा न सका हूँगा, किन्तु जब दूसरा पैर सही सलामत पार की ठोस भूमि पर पड़ गया, तो जान में जान आई।

दोपहर को रास्ते में हमने चाय पी। पहाड़ी दृश्य यहाँ भी नंगा ही नंगा था, सिर्फ स्थान कुछ नीचा मालूम होता था। तरुण व्यापारी का गाँव काफी बड़ा था। उस वक्त वहाँ अभी गेहूँ के खेत बिल्कुल हरे थे, इसलिए मालूम होता था, हम अभी काफी ऊँचे हैं। पिछले गाँव से इस गाँव के स्त्री-पुरुषों की पोशाक में कुछ फर्क था, यहाँ के घरों में लकड़ी का व्यवहार कुछ ज्यादा था—यद्यपि भू-मूर्ति की अपेक्षा यहाँ घरों में लकड़ी का व्यवहार ज्यादा था, तो भी वहाँ सफेदे और वीरी के अतिरिक्त शायद खुबानी के पेड़ भी दिखलाई पड़े थे।

तरुण व्यापारी की चिट्ठी ने काम किया और दूसरे दिन आसानी से एक भरिया मुझे अगले गाँव तक पहुँचाने के लिए मिल गया। भरिया ने एक दो बालिश्त की लकड़ी तथा पाँच सात हाथ लम्बी रस्सी साथ ले ली थी, मैंने समझा शायद लौटते वक्त कुछ सामान उसे लाना होगा। रास्ता सारा उतराई ही उतराई था। नीचे हम घोर गर्जन करती एक नदी के किनारे पहुँचे। देखा, वहाँ नदी पार जाने के लिए सिर्फ एक मोटा लोहे का तार है, जिसके दोनों सिरे दोनों तटों के चट्टानों पर पाषाण-राशि में दबाये हुए हैं। भरिया ने सामान जमीन पर रख दिया। तार के बराबर गहरी रेखा खिंची लकड़ी के टुकड़े को उस पर रखा, फिर रस्सी को लकड़ी की पीठ पर बनी गहरी रेखाओं में लपेटकर नीचे दो फन्दे झुलाये। पीठ पर भार लिये भरिया ने अपने दोनों पैरों को दोनों फन्दों में जाँघ तक डाल दिया, और फिर तार को हाथ से खींचता सरसर पार होने लगा। धार काफी चौड़ी थी, और चट्टानों के बीच नीचे ही नीचे बहुत वेग से बहती हुई गम्भीर गर्जन करते खौलते पानी के रूप में जा रही थी। भरिया जाते वक्त मुझसे कहता गया, कि मैं सामान उस तरफ रखकर आता हूँ तो आपको भी ले चलता हूँ।

मैं कभी उस खौलते गरजते हुए पानी की ओर देखता, कभी उसमें फटे हाथ ऊपर लटकाये उस पतले तार पर नजर दौड़ाता। धूलि की नदी के पार करने में कुछ हिम्मत करनी थी, किन्तु वह इतनी न थी जितनी इस तार पर की यात्रा को आसान बना देती। भरिया इस तरफ लौट आया, उसने मेरे लिए भी एक वैसा ही फन्दा बनाया। जाँघ फँसाते वक्त मेरे कलेजे की धड़कन बहुत बढ़ गई थी, और जब पैरों ने चट्टान को छोड़ दिया तो उसका वेग कई गुना बढ़ गया। किन्तु जब भरिया ने ढकेलकर मुझे चट्टान से आगे तार पर ऊपर सरकाया, तो उस डर का कहीं पता न था। मालूम होता था, मैं लचलचाते हुए तार पर झूला झूल रहा हूँ। पार पहुँच जाने पर मन कहता था, एक बार फिर इस झूले का मजा लिया जाये, किन्तु भरिया के समय का भी खयाल करना था।

यहाँ काफी गर्मी मालूम हो रही थी। नदी से कुछ आगे जाने पर खेत मिले, जिनकी फसल कट रही थी। ऊँचाई के लिहाज से एक ही पहाड़ पर कहीं गेहूँ कट गया, कहीं हाल के लिए तैयार, और कहीं बिल्कुल कच्चा हरा देखना हिमालय में मामूली बात है, इसलिए दो तीन घंटे ही बाद हरे गेहूँओं की जगह उन्हें खलिहान में रखा देखना मेरे लिए आश्चर्य की चीज न थी। गाँव के पास बहुत से खुबानी के वृक्ष मिले, जिन पर पीली पीली खुबानियाँ पककर लटक रही थीं। गाँव बहुत दूर न था, और वहाँ पहुँचने पर जब भरिया ने सामान उठाने को आदमी के लिए कहा, तो वहाँवालों को जल्दी-सी पड़ गई। मैंने ढूँढ़कर दो गिलास मट्ठा पिया—दूध पीने से मुझे जितनी चिढ़ है, उतना ही मट्ठे से प्रेम। अब के भार ढोने के लिए एक बुढ़िया मिली।

चढ़ाई कुछ थी, किन्तु रास्ता मुश्किल न था। शायद अगस्त बीत चुका था, कहीं बरफ का नाम न था

न था। सुम्नम्-जोत के पहिले अन्तिम गाँव तक पहुँचते पहुँचते आसमान में बादल घिर आये थे। गाँव छोटा था, किन्तु लकड़ी के इस्तेमाल में काफी सास्वर्ची दिखलाई गई थी और मकान साफ और बेहतर किस्म के थे। रहनेवाले ज्यादातर सुम्नम् के लोग थे, जो अब तक के लोगों से ज्यादा साफ और सभ्य थे। गाँव के आसपास के खेतो मे हरे-हरे गेहूँ और ग्रिम (नगे जौ) लहरा रहे थे। रात को शायद कुछ वर्षा भी हुई थी। यहाँ भी आगे के लिए भरिया मिलने में दिक्कत न हुई।

सुम्नम्–दूसरी चढाई मालूम न हुई। कई दिन पैदल चलते चलते अब चलने की मेरी आदत भी पड़ गई थी, और खाली बदन चलने में रास्ते का मजा आने लगा था। जोत पार कर उतराई आई और वह भी आसान थी। अब तक पायजामा पहिने मैली कुचैली [illegible] देखते देखते बहुत दिन हो गये थे। इसलिए जब मैंने पहिले पहल पानी की तरह [illegible] ऊनी साड़ी को काँटे के सहारे कन्धे पर बाँधे सुम्नम् की स्त्रियों [illegible] सुडौल नाक और गोरे शरीर को देखा, तो मुझे मालूम हुआ कि मैं [illegible] देश में आ गया हूँ। [illegible] संगीत को सुनकर तो संस्कृत साहित्य [illegible] किन्नर का [illegible] है। इधर हम अब देवदार [illegible] मिलने लगे। [illegible] को देखने के लिए [illegible]।

गाँव के [illegible] [illegible] इस्तेमाल में कंजूसी की [illegible] पता लगता था कि [illegible] और शायद पानी की तरह उन्हीं के लिए [illegible] साफ घर में ठहराया गया। लोग सभी बड़े मिलनसार मालूम [illegible]। घर की मालकिन [illegible] बिलकुल अपने [illegible] मालूम हुआ। गाँव में [illegible] किन्ने ही आदमी [illegible] पास लाहौर को कोट [illegible] अखबार–शायद 'प्रकाश'– आता है [illegible] इसलिए चार पाँच [illegible] के अंकों को ले [illegible] आदमी की जिज्ञासा [illegible] कहीं आने-जाने के लिए कोई भी [illegible] था। [illegible] के साथ बात करने और [illegible] के साथ व्यापार का भी काम करते हैं। [illegible] की चादर बनाने में यहाँ की स्त्रियाँ [illegible] है।

यद्यपि जोत के इधर प्रकृति और मनुष्यों [illegible] प्रकार [illegible] में [illegible] परिवर्तन था–[illegible] पार के लोगों को जाट कहकर नीची निगाह से देखते [illegible] भाइयों से सम्मिलित ब्याह [illegible] विवाह को वर्जित कर दिया था [illegible] को राजपूत कहते हैं–के अतिरिक्त यहीं [illegible] समझा जाता है। [illegible] का भी काम करते हैं। मैं एक लोहार [illegible] जब मैं जाकर उसके पास बैठ गया [illegible] के आदमी का अछूत के पास बैठना कोई मामूली बात [illegible] आर्यसमाजी [illegible] पहाड़ में जहाँ तहाँ आर्यसमाजी मिलते हैं, इसलिए [illegible]।

सुम्नम् मे एक दिन मैं अधिक रहा। [illegible] और एक [illegible] की चादर खरीदी। कनम के लिए वहाँ से एक [illegible]

पहाड की चढ़ाई पार करने के लिए मुझे उत्साह न था, यद्यपि वहाँ लिप्पे के जोतिसी के लिए हेमिस लामा ने खास तौर से पत्र लिख दिया। दूसरा रास्ता सुम्नम् की धार के साथ नीचे की ओर जाकर सतलज पर तिब्बत-हिन्दुस्तान की प्रधान सडक से मिल जाता था। मैंने 'बरम दिन' के रास्ते को पसन्द किया। आदमी कनम् तक के लिए मिला था। उतराई मे खाली हाथ चलना, सो भी सुधरी सडक पर, वस्तुतः शौक की चीज थी। रास्ते मे एक गाँव मे थोडी देर के लिए पानी के डर से रुकना पडा। यहाँ खूबानी के अतिरिक्त सेब के वृक्ष और अंगूर की लताएँ भी थी, किन्तु अभी फल तैयार नही थे। यही पहिले-पहिल दूकानदार देखने को मिला। उसके पास तेल, नमक, सिगरेट, दियासलाई जैसी कुछ चीजें थी। आगे नदी पर एक पुल मिला, उसके इस पार से ऊपर की ओर एक सडक जा रही थी, यही शिमला से जानेवाली तिब्बत हिन्दुस्तान रोड, सैनिक महत्त्व की सडक है, जिस पर भारत सरकार काफी रुपया खर्च करती है। इस पर हर जगह मजबूत पत्थर या लोहे के पुल हैं, थोडी-थोडी दूर पर डाकबँगले हैं, और सडक इतनी चौडी है कि थोडा सा बढाने या इतने से भी बेबी आस्टिन जैसी कार आ जा सकती थी।

पुल से थोडा आगे चलकर हम साक्षात् सतलज के दाहिने तट पर, किन्तु धार से काफी ऊँचाई पर पहुँच गये। जितना ही हम आगे बढ रहे थे, उतने ही देवदार के दरख्त ऊँचे तथा हरियाली घनी होती जाती थी। इन तनकर सीधे खडे, हाथ की तरह अपनी फैली शाखाओं से शिखर की ओर गावदुम बनते सदा हरित विशाल वृक्षों से ढँके हिमालय को जिसने देख लिया, उसने अपने नेत्रों को सफल कर लिया और जिस जगह मैं देख रहा था, उस उपत्यका का एक महत्त्व यह भी है, कि सारे हिमालय में इतना लम्बा देवदार का वन नही मिलता; काफी जगहों मे वह दस, पन्द्रह या बीस मील तक पहुँचकर रह जाता है, किन्तु यहाँ वह गानम के सामने से सराहन के करीब तक चला आता है। इस उपत्यका—मध्य सतलज उपत्यका—को प्राकृतिक सौन्दर्य की रानी कहना चाहिए।

आगे सडक की मरम्मत में कुछ बस्ती मजदूर लगे हुए थे। वहीं एक नौजवान सज्जन भी अधिकारी थे। उन्होंने मेरे सफर के बारे में पूछा और हम परिचित तौर पर यहाँ से कनम तक साथ रवाना हुए। उन का नाम बेनीराम था, और वह सडक के इन्स्पेक्टर थे। मुझे उस वक्त तिब्बत व डोंग्राग, उसकी भाषा का कोई परिचय न था, इसलिए बेनीराम के गाँव कनम और उसके निकट के स्थानों का महत्त्व मालूम न था। हेमिस लामा ने बतलाया था, कि कनम मे एक पुराना मठ है, जिसका सम्बन्ध एक बडे लामा से जो छेन् रिन्-पोछे में है। बेनीराम के घर में न ठहरकर मैंने मठ में ही रहना पसन्द किया, क्योंकि मैं मठ को कोई बडा मठ समझकर उसे देखना चाहता था। मठ गाँव के भीतर, आसपास के घरों से बहुत विशाल नहीं, कुछ असाधारण-सा मकान था। वहाँ कन्जुर की पुस्तकें रखी थी। मठ में एक दो आदमी थे, किन्तु कोई भिक्षु नही था। मेरे पहुँचने के बाद बगल की गली से रोशनचौकी की सुरीली आवाज कानों में पडी। देखा, लाल कपडा पहने कुछ भिक्षु सत्तू के बलिपिंड को पानी में बहाने के लिए ले जा रहे हैं, शायद किसी के घर से भूत को भगाने मे वे लगे हुए थे। श्रीनगर का लिया बूट अब जवाब दे रहा था, मैंने गाँव के मोची के पास जाकर उसकी मरम्मत कराई।

कनम् बडे सुन्दर स्थान मे है, उसके चारों ओर विशाल देवदारों का वन है। कई सौ फीट नीचे सतलज—जिसे यहाँ के लोग 'समुन्दर' कहते हैं—की धार बहती है, किन्तु दूर होने के कारण उसकी गम्भीर ध्वनि गाँव तक पहुँचने नहीं पाती। गाँव के एक कोने में एक विशाल घर को दिखलाकर बेनीराम ने बतलाया, इस घर में हाल में कई अंग्रेजी और तिब्बती के विद्वान हो गये हैं, किन्तु वे सभी जवानी में मर गये, अब कुछ बच्चे रह गये हैं।

आगे भार ढोने के लिए बेनीरामजी ने एक या दो स्त्रियों को कर दिया। अब रास्ते के गाँवों मे दूकानें थीं। डाकबँगले तो हमें रहने को नहीं मिल सकते थे, क्योंकि उसके लिए पहिले से शिमले से इजाजत मँगानी पडती, किन्तु दूकानों, लोगों के घरों और कहीं कहीं बनी धर्मशालाओं में जगह मिल जाती थी। देवदारुओं की छाया में चलने से मालूम हो रहा था, मैं अपने प्राणों और आयु को बढ़ाता चल रहा हूँ। रास्ते में जहाँ तहाँ

सुस्ताने, पानी पीने या गप करने के लिए भार ढोनेवाली औरतें बैठ जाती थीं। याद नहीं उसी दिन या दूसरे दिन मैं चिनी पहुँचा।

चिनी—चिनी आखिरी डाकघर है। यहाँ बुशहर रियासत का तहसीलदार रहता है। यहाँ कई दूकानें, मिडिल स्कूल, देवी का मन्दिर और डाकबँगला है। बुशहर रियासत की वार्षिक आय तीन लाख के करीब है, किन्तु राजा को सबसे ज्यादा आमदनी इन देवदार के जंगलों से होती है, जो सत्रह अठारह लाख सालाना बतलाई जाती है। जंगलात-विभाग ने डाकबँगले, मुंशीखाने और मजदूरों के लिए दूकानें जगह-जगह बनवाई हैं। [illegible] ने जंगलात के डाकबँगले के मुंशी के नाम पत्र लिख दिया था। बँगले पर पहुँचने से पहिले रास्ते पर देखा कि कुछ स्त्री-पुरुष नाच रहे हैं। एक तरफ छै-सात औरतें हाथ बाँधे खड़ी थीं, दूसरी ओर पाँच-छै पुरुष। वह कुछ गाती थीं। पास में एक आदमी ढोलक पर ताल देता और उस पर पैर उठाते वे आमने-सामने से एक बार नजदीक आतीं और दूसरी बार पीछे हटकर चन्द्राकार पंक्ति बनातीं। मैं कुछ देर खड़ा होकर उनके नृत्य को देखता रहा। उनकी शिकायत थी—जब से राजा ने बेगार बंद करने का हुक्म दे दिया है, तब से नाच में पहिले जैसा रंग नहीं जमता।

डाकबँगले में जंगलात के कन्जर्वेटर एक [illegible] ठहरे हुए थे। मालूम नहीं कैसे उनसे परिचय हो गया, फिर तो उन्हीं की मेहमानदारी स्वीकार करनी पड़ी। बाजार और स्कूल देखने गया, तो मंदिर में एक जटाधारी वैष्णव साधु मिले। बेचारे मानसरोवर जा रहे थे, किन्तु दो दिन ऊपर जाने पर जब सर्दी और बर्फ से पाला पड़ा, साथ ही मार्ग [illegible] के विचार से [illegible] बेचारे लौट आये। हो सकता है रास्ते की कठिनाइयाँ भी [illegible] चिनी मुझे आदर्श ग्रीष्म आवास मालूम हुआ। चारों ओर देवदारों की सुषमा, [illegible] बाहर की दुनिया और अखबारों से सम्बन्ध रखने के लिए पास डाकखाना, [illegible] खाने-पीने की [illegible] के लिए दूकानें, खुबानी, अखरोट, सेब आदि के फलदार वृक्ष। [illegible] मिशन काम कर रहा था। [illegible] पादरी [illegible] और [illegible] हैं। बगीचे की गुजरी मुझे भी [illegible]।

राजकीय दफ्तर में क्लर्क का काम करनेवाले [illegible] यह किसी जाति के हों। उर्दू के अतिरिक्त एक और लिपि का भी [illegible] व्यवहार करते हैं, जो [illegible] शारदा या पुरानी गुप्तलिपि से ज्यादा मिलती है। तहसीलदार साहब बाहर गये हुए थे। [illegible] चिनी के [illegible] पर रास्ते में भेंट हुई और वेष-भूषा से शिक्षित संन्यासी देखकर [illegible] दिन रहने के लिए बहुत आग्रह किया, किन्तु चल देने पर लौटना मुझे पसन्द नहीं [illegible] था।

चिनी से सराहन मैं कितने दिनों में पहुँचा, यह याद नहीं, किन्तु रास्ते में जंगलात महकमे के कर्मचारियों से मुझे बहुत मदद मिली। मैं [illegible]। [illegible] में सस्ते सिगरेटों के बड़े-बड़े इश्तहार चिपके हुए थे। पहाड़ी लोग सिगरेट पीने में बड़े [illegible] होते हैं, [illegible] हिमालय में इन बड़े-बड़े कागजों का चिपकाना अकारथ नहीं था।

स्पिती की ओर जानेवाले रास्ते के पास पक्के [illegible] से सतलज पार [illegible] में हल्की-सी चढ़ाई को पार कर रहा था, तो दो एक ब्राह्मण-ब्राह्मणी ऊपर की ओर [illegible] मिले। पूछने पर मालूम हुआ, वे सराहन की ओर से आ रहे हैं, और यजमानी में जा रहे हैं। [illegible] ने अपने को [illegible] कहना शुरू किया, तो ब्राह्मणों का स्वीकार करना, और फिर नीच-ऊँच, छूत-छात की भावना की पराकाष्ठा पर पहुँचना उनके लिए लाजिमी था—मैं इसे बौद्धधर्म को छोड़कर पतन की ओर जाना सा समझता था।

जिस दिन मैं सराहन पहुँचनेवाला था, उस दिन जंगलात विभाग का एक तरुण [illegible] साथ हो गया था। नौजवान मैट्रिक पास और बातचीत में तेज मालूम होता था, नाम शायद प्रतापसिंह था। दूसरी देशी रियासतों की भाँति यहाँ भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता सिर्फ राजा और उनके कृपापात्रों को ही है। रियासत के अत्याचारों पर एकाध लेख लाहौर के उर्दू पत्रों में निकले। अधिकारियों को इसी नौजवान पर सन्देह हुआ और उस जल

मे डाल दिया। अपराध स्वीकार कराने की बड़ी कोशिश की गई, उसमे सफलता न मिलने, तथा इसकी भी खबर अखबारो मे छपने पर नौजवान को छोड दिया गया। प्रजा पर राज की ओर से होनेवाले अत्याचार के बारे मे उसने बहुत सी बातें बतलाई, किन्तु इतने लम्बे अरसे के बाद अब वह याद नही आते। सराहन के पासवाले घुमाव से पहिले ही देवदार कटिबन्ध खतम हो गया था, और उसका स्थान दूसरे बड़े बड़े दरख्तो और घने जंगल ने लिया था। इधर गाँव भी काफी थे।

सराहन मे मैं जंगलात के ओवसियर के यहाँ ठहरा, जिनके लिए किसी का परिचय पत्र था। सराहन बहुत कुछ खुले ढलुआँ भूमि मे बसा हुआ कस्बा नही एक बड़ा गाँव है, जिसमे राज्यश्री के बाह्य प्रदर्शन के रूप मे राजमहल, राजोद्यान और दो-एक मंदिर विद्यमान है। गर्मियो मे राजा साहब रामपुर से यहाँ चले आते हैं। तत्कालीन महाराज अंग्रेज अधिकारियो के कृपापात्र होने से गद्दी के मालिक माने गये, नही तो उत्तराधिकारी एक दूसरा ही राजकुमार था, जो अपनी शोखी और स्वतंत्रता के कारण राजगद्दी से महरूम कर दिया गया। कितने ही सालो तक वह दुर्गम पहाड़ी खाडो और जंगलो मे छिपकर लड़ता रहा, किन्तु अंग्रेजो की शक्ति का मुकाबिला क्या करता? इस राजकुमार के बहुत से पंवारे अब भी साधारण जनता मे मशहूर थे। जनता की दृष्टि मे नवीन राजा वंचक थे।

ओवसियर साहेब एक दिन मुझे भी राजा साहब के पास ले गये। [illegible] देखने और बातचीत करने मे वे सीधे सादे तथा नम्र मालूम होते थे, और सन्देह होता था [illegible] व्यक्ति के विरुद्ध प्रजा के साथ वे बरताव कैसे ठीक हो सकते हैं। [illegible] ऊपर उठना असाधारण व्यक्ति का ही काम हो सकता है और अंग्रेज रेजीडेंट की [illegible] करना भी आसान नही है। जन प्रिय राजा बनकर जैसी सीमान्त रियासत के लिए [illegible] मालूम होगा। सराहन से रामपुर तक टेलीफोन लगा हुआ है। राजप्रासाद के [illegible] कुटिया थी, उसकी सिद्धाई के बारे मे तरह तरह की खबर प्रसिद्ध थी। राजा साहब की [illegible] थी। गाली देने मे यह पागल बहुत मशहूर था [illegible] राजा साहब सबको हँसते हुए सुन जाते थे। राजा साहब के सिर्फ एक पुत्र [illegible] काम थोड़ा बहुत करते थे। कहते थे, पहले राजकुमार को वंचित करने तथा उसे जंगलो की खाक छानते हुए मरने के लिए मजबूर करने के पाप का यह परिणाम है और इसी से एक बार [illegible] एक दूसरे सज्जन ने कुछ साल बाद इसकी कथा इस प्रकार बतलाई।—तिब्बत के लामा [illegible] बार कनौर गये। उनकी करामात की खबर जनता से होकर राजा तक पहुँची। राजा ने अपने परिवार [illegible] भूतो की ओर से होती बाधा को शान्त करने के लिए [illegible] को बड़े आदर से बुलाया। लामा ने [illegible] किया, उसका शुभ परिणाम राजा ने देखा और उनकी आस्था लामा पर बहुत बढ़ गई। बिदाई के वक्त लामा ने कन्-जुर, तन्-जुर की एक एक प्रति राजप्रासाद में रखने के लिए कहा। राजा ने कई हजार रुपये खर्च कर तिब्बत से ये दोनों विशाल ग्रंथ संग्रह मँगवाये। किन्तु, परिणाम उलटा हुआ। एक को छोड़ सभी राजपुत्र मर गये, वही हालत रानियों की भी हुई। ब्राह्मण लामों के प्रभाव से शंकित थे, उन्होंने इस मौके को गनीमत समझ झट कहना शुरू किया—नास्तिको की पुस्तको के रखने से देवता लोग नाराज हो गये हैं। राजा ने कन्-जुर तन्-जुर दो राजप्रासाद से निकालकर एक दूसरे घर में रखवा दिया, और मैंने शायद उसी घर में उसे देखा था।

राजोद्यान में लाल-लाल सेब खूब फले हुए थे, किन्तु अभी उनके पकने में देर थी। मौसम में बहुत कम वर्षा होती है, कनम् और चिनी भी मानसून के छींट-भर पाने के अधिकारी हैं, किन्तु सराहन और उसके नीचे के इलाके मानसून के हलके में हैं। इस वक्त (सितम्बर में) पानी खूब बरस रहा था, और कश्मीर से खरीदकर लाई बरसाती का लाभ मुझे अब मिला। वर्षा के कारण रास्ते को कई जगह बरसाती नालों ने तोड़ दिया था। एक ऐसे ही टूटे स्थान पर देखा, पैर फिसलने से एक लदा हुआ खच्चर रास्ते से नीचे उतरकर बैठ गया है और यदि आगे जरा भी पैर विचलित होता, तो सामान लिये दिये वह कई सौ फीट नीचे खड्ड में चला जाता।

खच्चरवाला किराये पर किसी व्यापारी का माल शिमले में ला रहा था। खच्चर की काफ़ी कीमत होती है, बेचारा रो रहा था, और खच्चर को बचाने की कोशिश में लगा हुआ था। उसके साथ-साथ मुझे भी बड़ी खुशी हुई, जब कि खच्चर उठकर बाहर निकल आया। खच्चर पहाड़ी दुर्गम मार्गों में चलने में मजबूत ही नहीं बड़े सजग होते हैं, किन्तु उनसे भी खता हो ही जाती है।

रामपुर में राजा के कर्मचारी एक ब्राह्मण के लिए मेरे पास परिचयपत्र था, जिसे सराहन के पंजाबी ओवरसियर ने दिया था। ठहरने के लिए जगह आदि मिलने में दिक्कत न हुई। यहाँ नदी (सतलज) किनारे साधुओं के स्थान थे, वहाँ भी रहने का प्रबन्ध था। मैंने एक या दो दिन रह राजधानी, राजप्रासाद, बाजार आदि को देखा। ऊपर के प्राकृतिक सौन्दर्य के सामने यह प्रदेश मुझे दरिद्र-सा मालूम होता था। हाँ, अब दूकानों और बनियों का जोर सब जगह था।

ब्राह्मण ने राजसीमा के पास शिमला जिले के रास्ते पर के एक गाँव तक के लिए भरिया का इन्तिजाम कर दिया, और उस गाँव के एक साहूकार के नाम एक चिट्ठी लिख दी। मैं कृतज्ञता प्रकट कर रामपुर से रवाना हुआ। नहीं कह सकता उसी दिन या दूसरे दिन उक्त गाँव में पहुँचा। रास्ते में राज की ओर से ठहरने के लिए धर्मशालाएँ थीं, रियासत में सभी जगह नये आदमियों के मिलने में कोई दिक्कत न हुई, किन्तु इस गाँव में आकर सारी कमर निकल गई। साहूकार का मकान अम्बाला जिला में था, और उसने आसपास के भोले-भाले पहाड़ियों को ठगकर काफ़ी सम्पत्ति जमा कर ली थी। कपड़ा, नोन तेल-सिगरेट के अतिरिक्त वह लेन-देन का भी व्यवसाय करता था। गाहकों को अपनी ओर खींचने की विद्या उसे भली-भाँति मालूम थी। उनके लिए तम्बाकू हुक्का हर वक्त हाजिर रहता था। चिट्ठी और मुझे देखकर साहु का मुँह गिर गया। उसने बैठने के लिए भी नहीं कहा, और मुझे कुछ जवाब देने की जगह घर की एक तरुण स्त्री से उसके लिए लाये नापसन्द बूटों के बारे में बातें करता रहा; स्त्री उस बूट को पसन्द नहीं करती थी, जिसे साहु ने शिमला से उसके लिए मंगवाया था। मुझे उसके इस रूखे बरताव पर रंज सा हुआ, किन्तु यह देखकर कुछ प्रसन्नता हो रही थी, कि इस सूम के धन का सदुपयोग करनेवाली कोई स्त्री भी उसके घर में है।

साथ में आये आदमी के चले जाने पर साहु ने रूखे स्वर में कहा: यहाँ आदमी मिलना बहुत मुश्किल है। मुझे यह बहुत बुरा लगा, यदि यही उत्तर देना था, तो आये हुए आदमी के रहते-रहते क्यों नहीं दिया? मैं गाँव में किसी दूसरे घर की तलाश में निकला, थोड़ी ही दूर पर एक दूसरा गरीब बनिया रहता था। उसने रहने के लिए जगह दी, और आदमी खोज देने का भी वचन दिया। शायद वह फ़सल कटने का वक्त था, या क्या आदमी मिलना सचमुच ही मुश्किल था। इधर स्टोक साहेब ने जो बेगार के खिलाफ़ आन्दोलन किया था, उससे बेगार बन्द कर दी गई थी। मुझे इस आन्दोलन की खबरों को सहानुभूति के साथ पढ़ते वक्त यह क्या पता था, कि इसका परिणाम एक दिन मुझे खुद भोगना पड़ेगा। उक्त स्थान से कोटद्वार 3, 4 मील की चढ़ाई पर था। कोटद्वार में कुली मिलना आसान है, यह सभी बतला रहे थे किन्तु प्रश्न था वहाँ तक जाने का। अन्त में सवा या डेढ़ रुपये मजदूरी-सिर्फ 3, 4 मील के लिए-देकर एक आदमी ठीक हुआ और मैंने उस शतवार-संशप्त गाँव को छोड़ा।

रास्ता चढ़ाई का था, और चारों ओर पहाड़ खेतों से ढँका था। कोटद्वार में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की ओर से बना धर्मशाला में ठहरा, अपनी श्रेणी के घरों में वह काफ़ी अच्छी और साफ़ थी। यहाँ से शिमले के लिए भरिया हर वक्त मिल सकता है, यह सुनकर बड़ा इत्मीनान हुआ। पके सेबों की खबर पाकर मैंने दो-तीन सेर एक बगीचे से मँगवाये। खाने-पीने से निवृत्त हो स्टोक साहेब के बंगले पर गया। पहाड़ की पीठ पर सेब आदि फलदार वृक्षों से ढँकी एक विस्तृत भूमि के बीच उनका बंगला और कितने ही और घर थे। स्टोक अपने कुरते-धोती में बड़ी प्रसन्नता से मिले। उनकी स्त्री और एक 3, 4 वर्ष का बच्चा बीमार था-बच्चे को मेरे सामने उन्होंने गोद में उठाकर दूसरे बिस्तरे पर लिटाया-और इससे मेरे मन में थोड़ा संकोच होना स्वाभाविक था, तो भी उन्होंने मुझसे बहुत अच्छी तरह बातचीत की। अपने स्कूल के प्रधानाध्यापक एक मद्रासी तरुण को मुझे सब चीज दिखलाने के लिए कह दिया। स्कूल के मकान स्वच्छ, हवादार, और मजबूत थे। यहाँ

बालक-बालिकाएँ एक ही साथ शिक्षा पाती थी, पढ़ाई निःशुल्क थी।

भरिया पर सामान उठवाये उसी शाम को मैं शिमला पहुँच गया। वहाँ कोई परिचित तो था नहीं, इसलिए पहिले धर्मशाला में ठहरा, लेकिन पीछे देखा तो वह सनातन धर्मसभा भवन से सम्बद्ध थी, और उसके अपरिचित नियम-उपनियम से बचने के लिए मैं वहाँ से आर्यसमाज में चला गया। शिमला मे बहुत घूमने-घामने का विचार न था; राजनीतिक क्षेत्र से काफी समय तक अनुपस्थित रहने के कारण अब मुझे छपरा लौटने की जल्दी पड़ रही थी। एकाध दिन में सरसरी तौर से शिमला के बाजारो और सडको को देखकर मेरठ के लिए रवाना हो गया। बलदेवजी के पास दो-तीन दिन बिताये, और फिर छपरा चला आया।

10

1926 का कौंसिल चुनाव और बाढ़

शिमला में ही बाबू महेन्द्रप्रसाद से—जो कि कौंसिल आफ स्टेट के अधिवेशन मे शामिल होने के लिए गये हुए थे—मालूम हो गया था, कि छपरा के कार्यकर्ताओं में कौंसिल के उम्मीदवारों को लेकर मतभेद हो गया है। यह मतभेद मेरे घनिष्ट सहकारियों में पैदा हुआ था, अतः मेरे लिए खास तौर से तरद्दुद का कारण था। गिरीश बाढ़ के बाद सिमवन थाने में काम करने लगे थे, और अब भी एकमा के कार्यकर्ताओं पर उनका काफी प्रभाव था। मेरे दो साल के जेल के समय सिरौली के बाबू श्रीनन्दनप्रसाद नारायणसिंह कांग्रेस में शामिल हुए, तथा गिरीश की सहायता से डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में चुने जाकर वह सीवान लोकलबोर्ड के चेयरमैन भी हो चुके थे। अब वह प्रान्तीय कौंसिल के लिए उत्तरी सारन से उम्मीदवार थे. दूसरे उम्मीदवार बाबू जलेश्वरप्रसाद थे, जो इससे पहिले स्वराज पार्टी की ओर से कौंसिल में गये थे। जलेश्वर बाबू ने छपरा में वकालत शुरू कर दी थी, और आरम्भिक प्रैक्टिस होने से कार्यकर्ताओं के साथ सम्पर्क करने के लिए वह काफी समय दे नहीं सकते थे, जबकि श्रीनन्दन बाबू ने अपनी सहानुभूति और मिलनसारी से कार्यकर्ताओं पर पूरा असर जमा लिया था। सिर्फ एकमा के ही नहीं मीरगंज आदि के कार्यकर्ता भी उन्हीं के पोषक थे, और गिरीश तो उनके जबर्दस्त समर्थक थे। उन्हें पूरी उम्मीद थी कि मैं उनके पक्ष का समर्थन करूँगा, क्योंकि वह जानते थे, कि मैं हमेशा कार्यकर्ताओं के साथ रहता हूँ। कार्यकर्ताओं ने श्रीनन्दन बाबू की उम्मीदवारी का समर्थन करते हुए प्रान्तीय कांग्रेस के पास अपना प्रस्ताव ही नहीं भेज दिया था, बल्कि उनके पक्ष में उन्होंने कनवासिंग भी शुरू कर दी थी। मेरी स्थिति बड़ी विचित्र थी। कार्यकर्ताओं के इतने जबर्दस्त बहुमत की अवहेलना करना मुझे पसन्द न था, उधर प्रान्तीय कांग्रेस के निर्णय के विरुद्ध भी जाना उचित न दिखता था। मैंने एक ओर कार्यकर्ताओं को समझाना शुरू किया कि प्रान्तीय कांग्रेस के निर्णय के विरुद्ध न जावें, दूसरी ओर प्रान्तीय नेताओं पर भी जोर डाला, कि उम्मीदवार चुनने में कार्यकर्ताओं की इच्छा का भी खयाल करें। छपरा लौटने पर एक महीने से अधिक तटस्थ रहते मैं कोशिश करता रहा। प्रान्तीय कांग्रेस ने मेरे आने से पहिले ही जलेश्वर बाबू को अपना उम्मीदवार चुन लिया था, किन्तु मुझे विश्वास था, कि सब बातों पर विचार करने के बाद वह अपना निर्णय बदलकर श्रीनन्दन बाबू को अपना उम्मीदवार बनायेंगे। जलेश्वर बाबू से मेरी ज्यादा घनिष्ठता थी, और उधर श्रीनन्दन बाबू जिसके बल पर खड़े हो रहे थे वह गिरीश मेरे प्रिय सहकर्मी थे। मैंने कह दिया था, कि उम्मीदवारी बदलने का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ, किन्तु अन्त में मुझे उधर ही रहना होगा, जिधर कांग्रेस का निर्णय होगा। मुझे यह देखकर बड़ा अफसोस हुआ, कि प्रान्त के नेता स्थानीय कार्यकर्ताओं और स्थिति का बिलकुल न खयाल कर पूर्व निर्णय ही पर कायम रहे।

कनवासिंग जोर शोर से शुरू हुई। एकमा के प्रायः सारे कार्यकर्ताओं ने तो मेरी वजह से श्रीनन्दन बाबू का साथ छोड़ दिया, किन्तु गिरीश और दूसरे कितने ही वचनबद्ध हो चुके थे, इसलिए उन्हें साथ छोड़ना विश्वासघात

मालूम होता था। सारे निर्वाचन क्षेत्र में व्याख्यानों और नाटिकों की धूम थी। कांग्रेस का समर्थन न पा श्रीनन्दन बाबू मालवीयजी की स्वतंत्र कांग्रेस पार्टी के उम्मीदवार बने। छितौनी के बड़े जमींदार होने से उनके पास रुपया और उसके खर्च करने के लिए दिल था। इस क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं की सहायता उन्हें प्राप्त थी और अपने व्यवहार से वह जनप्रिय भी थे। इस प्रकार उनकी सफलता का आभास शुरू ही से मालूम होता था, तो भी कांग्रेस का साथ देना छोड़ मेरे लिए कोई रास्ता न था। चुनाव की कनवासिंग में बहुत कड़वाहट पैदा हो जाती है, लोग एक दूसरे पर कीचड़ उछालने में कोई आनाकानी नहीं करते, किन्तु गिरीश के प्रभाव के कारण मेरे प्रति श्रीनन्दन बाबू के सहायकों ने भी सम्मान का भाव रखा। गिरीश से जब मुलाकात होती, तो वह एकसा के उसी पुराने भाव के साथ मिलते। यह आन्दोलन इतना भीतर तक चला गया था कि चुनाव की आँधी उस पर चोट पहुँचाने में असमर्थ थी। दक्षिणी सारन की ओर से बाबू निरसुनारायणसिंह कांग्रेस उम्मीदवार थे और उनके विरोध में खड़े हुए थे हथुआ के दामाद मांझा के बाबू साहब। इधर के कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं में कोई मतभेद न था, और मांझा के बाबू बड़े जमींदार और सरकारपरस्त होने से जनप्रिय भी न थे, इसलिए चुनाव में कांग्रेस की विजय निश्चित थी। महाराजगंज [illegible] से पत्र समाचार पाकर मैंने ध्रुपनाथ को उस थाने में स्थायी तौर से काम करने को भेजा। ध्रुपनाथ [illegible] के मेरे सहपाठी [illegible] के चचेरे भाई थे और एकाध बार उनसे भेंट हुई थी, किन्तु तब वह [illegible] थे। इस वक्त उनको वैराग्य आ गया था, नौकरी अपने छोटे भाई को [illegible] ब्रह्मज्ञान की तलाश में फिर रहे थे और इसी सिलसिले में वह मुझसे मिले थे। ब्रह्मज्ञान का महत्त्व [illegible] किन्तु [illegible] मैंने सार्वजनिक काम कराते हुए धीरे धीरे [illegible] । उस चुनाव में ध्रुपनाथ के रूप में मुझे एक स्थायी मित्र मिला।

छपरा में मैंने तब से [illegible] सभाओं में मेरा भाषण सदा वहाँ की भाषा (भोजपुरी मल्ला) में होता था। इस चुनाव के समय [illegible] के पक्ष में मैंने कई नाटक इसी भाषा में निकाले, जिनको पहिले तो [illegible] नहीं समझा, किन्तु जनता पर सीधी सादी गँवारी भाषा का असर देख उन्हें उसके महत्त्व को स्वीकार करना पड़ा। [illegible] करना पड़ा। मैं [illegible] नाम दे डाला।

वोट के दिन मैं भोर और [illegible] थानों में रहा। स्वामी सहजानन्दजी उस वक्त भूमिहार के प्रबल समर्थक और सम्माननीय नेता थे, अभी [illegible] । श्रीनन्दन बाबू के पक्ष में काम करने के लिए वह भी उस दिन इन दोनों थानों में [illegible] हम [illegible] विरोधी [illegible] में काम करते थे। किन्तु उनकी प्रतिभा, उनकी कर्मठता [illegible] मुझे पसन्द न आता था—यह इसलिए कि भीतर से मैं उनका प्रशंसक था। [illegible] की सभा में किसी [illegible] ने मेरे [illegible] पर आक्षेप किया था, जिसका उत्तर वहीं खड़ा होकर एक बूढ़े ब्राह्मण ने दिया—मैं बनारस जाते हुए उनके घर पर ठहरा हूँ, बड़ी सी हवेली है, खूब धनी ब्राह्मण [illegible] । [illegible] समझ सकता था, किन्तु बनी हवेली पर मुझे विश्वास नहीं पड़ा। मैं समझता था [illegible] जिसमें मैं [illegible] आया था। वोट की सभा में मेरे पक्ष में [illegible] किन्तु मुझे उस ब्राह्मण के झूठ पर मन ही मन बुरा सा लगा। किन्तु [illegible] (1930 के अन्त में) [illegible] जब मिले, तब उन्होंने बात ही बात में बतलाया कि मेरे [illegible] ने पुराने [illegible] के लिए एक अच्छा सा मकान बनाया है।

वोट देना समाप्त हुआ। कटेया में [illegible] बाबू का बहुमत रहा और [illegible] में भी। अधिकांश थानों में श्रीनन्दन बाबू को ज्यादा वोट मिले और वह इस [illegible] से मेम्बर चुने गये। दक्षिणी सारन में निरसु बाबू बहुत अधिक वोटों से विजयी हुए। केन्द्रीय एसेम्बली के लिए मेरे मित्र बाबू नारायणप्रसाद कांग्रेस उम्मीदवार थे, जिला कांग्रेस के एक प्रधान कर्मी के तौर पर उनके लिए भी काम करना पड़ा था। उनके प्रतिद्वन्द्वी भी बड़ी बुरी तरह से हारे। नारायण बाबू के बारे में मुझसे कई बार लोगों ने कहा [illegible] यह श्रीनन्दन बाबू को

समर्थन करते हैं, किन्तु मैंने इसे व्यक्तिगत द्वेष से कही गई बात समझी। हाँ, उत्तर सारन में उनके द्वारा कांग्रेस उम्मीदवार का खुल्लम-खुल्ला समर्थन न होना मुझे पसन्द नहीं था।

इस चुनाव के सिलसिले में सारन जिले से बाहर भी मुझे काम करना पड़ा था। दरभंगा के कांग्रेस-उम्मीदवार पंडित शिवशंकर झा और महन्त ईश्वरगिरि के चुनाव क्षेत्रों में मैंने कई व्याख्यान दिये। कांग्रेस-उम्मीदवार बाबू सत्यनारायणसिंह के पक्ष में प्रचार करने के लिए एक ही साथ मैं और राजेन्द्र बाबू दलसिंगसराय पहुँचे। धर्मशाला में सभा रखी गई। सारा आँगन लोगों से खचाखच भरा हुआ था। सभा में गोलमाल करने के लिए प्रतिद्वंद्वी उम्मीदवार एक बड़े जमींदार बाबू महेश्वर प्रसाद नारायणसिंह, नरहन के बाबू तथा कितने ही अनुयायियो के साथ पहुँच गये। उन्होंने झटपट नरहन के बाबू का नाम सभापति के लिए पेश कर दिया। राजेन्द्र बाबू ने कहा—रहने दो, वही सभापति रहे। मालूम नही मेरा व्याख्यान राजेन्द्र बाबू से पहिले हुआ या पीछे। मैंने छपरा की बोली मे भाषण शुरू किया। दो ही मिनट में किसानो के शिर हिलने लगे, फिर तो सभापति ने यह उज्र पेश कर हिन्दी मे भाषण देने के लिए जोर दिया, कि लोग छपरा की बोली नही समझते। मैंने जनता से पूछा—'यदि आप लोग मेरी भाषा नही समझते तो क्या करूँगा उर्दू-फ़ारसी मे बोलने की कोशिश करूँगा।' जनता ने एक स्वर से कहा—'नही, हम आपकी भाषा खूब समझते हैं। जिसमे हम समझ न पाये, इसके लिए यह चालाकी चली जा रही है।' सभापति अब क्या बोलते, जनता मेरे साथ थी। मैंने अपने भाषण को जारी रखते हुए कहा—'जमीदारों के स्वार्थ और किसानो के स्वार्थ एक नही हैं। किसानो का खयाल करने पर जमीदार कहा रहेंगे ?...' सभापति और महेश्वर बाबू ने राजेन्द्र बाबू से कहा—'आप कहें, कि यह कांग्रेस के मत के विरुद्ध बोल रहे हैं, क्योंकि कांग्रेस मे जमीदार भी हैं'।' मैंने कहा—'और कांग्रेस मे किसान सबसे ज्यादा हैं।' राजेन्द्र बाबू ने बीच मे दखल देने से इनकार कर दिया। सभापति ने मेरे भाषण मे कुछ दखल देना चाहा, मैंने जनता से कहा—'यदि आप कहे तो मै बोलना बन्द कर दूँ।' जनता की ओर से जोर की आवाज आई—'नही, हम आपका व्याख्यान सुनना चाहते हैं।' अब यदि सभापतिजी मुझे बोलने से रोकते, तो आँगन में वह, महेश्वर बाबू उनके दस-पाच अनुयायी रह जाते, और जनता मेरे साथ उठकर बाहर अलग व्याख्यान सुनती। मेरे व्याख्यान से जमींदारो और किसानो के परस्पर-विरोधी स्वार्थों का लोगों को इतना खयाल हो गया, कि दूसरे दल का व्याख्यान नहीं जमा।

उसी शाम को हमारा व्याख्यान समस्तीपुर मे हुआ। शहर की जनता थी, किन्तु यहाँ भी मै छपरा की बोली मे बोला। तिरहुत की म्युनिस्पैल्टियों मे रायबहादुर द्वारिकानाथ कांग्रेस-उम्मीदवार थे। व्याख्यान के बाद उन्होंने कहा—'राजेन्द्र बाबू, आप लोगों का व्याख्यान विद्वानों के लिए ठीक हो सकता है, किन्तु जहाँ तक जनता का सम्बन्ध है, वह तो रामउदार बाबा के ही व्याख्यान को समझ सकते हैं।'

सारे प्रान्त के चुनाव का परिणाम निकला। कौंसिल के भीतर सबसे बड़ा दल कांग्रेस पार्टी का था, किन्तु निर्वाचित और मनोनीत सदस्यो को मिला लेने पर उसका बहुमत न था। पार्टी के सदस्यो की पहिली बैठक के दिन मैं भी पटना पहुँचा, और किसानो के हित की कुछ बातो पर मैंने सदस्यों से बातचीत करके उनके हस्ताक्षर लिये। बहुतो ने हस्ताक्षर कर दिये, और कितनो ने बहुत हिचकिचाहट के बाद हस्ताक्षर किये। उस वक्त मुझे पता लगा, कि किसानो के हितो के लिए आधी दूर तक जाने के लिए भी बहुत से कांग्रेसी तैयार नहीं हैं।

इस साल (1926 ई.) कांग्रेस का अधिवेशन गोहाटी मे होनेवाला था। पटना मे मैं सुल्तानगंज गया। भूपनाथ से सलाह हुई थी, उधर ही से गोहाटी साथ चलने की। रामनरेशसिंह के बड़े भाई बाबू देवनारायणसिंह उस वक्त वहाँ बनैली राज के तहसीलदार थे। वैसे भी अतरसन के सम्बन्ध से मेरा काफी परिचय था, किन्तु अब तो भूपनाथ भी वहीं थे। भागलपुर मे गंगापार हो हमने छोटी लाइन की गाड़ी पकड़ी, और एक दिन सवेरे अमान गाँव पहुँचे। ब्रह्मपुत्र का यह पहिला दर्शन था। दिसम्बर का स्वच्छ जल गम्भीर ब्रह्मपुत्र को और काला

बना रहा था। दूसरे पार कुछ दूर पर कांग्रेस कैम्प था। हम लोग अपने एक परिचित मित्र—जो खद्दर डिपो के कार्यकर्त्ता थे—के साथ प्रदर्शनी में ठहरे।

स्थान दर्शनीय था, और पास का कामख्या पर्वत, हरे वृक्षों और झाड़ियों से लदा बहुत सुन्दर मालूम होता था। धूपनाथ के साथ एक से अधिक बार मैं वहाँ गया। कँवरू (कामरूप) कमच्छा (कामाख्या) के जादू के बारे में लड़कपन में मैंने बहुत-सी कथाएँ सुना थीं, किन्तु अब वह बच्चों की कहानी थी। हाँ, वहाँ की सुन्दर तरुण कन्याओं—जिनके चेहरे पर मंगोल मुख मुद्रा का हल्का सा असर तथा रंग पाडु था—को देखकर मुझे अपने मित्र इन्दिरारमणजी की बात याद आई। वह एक बार विचरण करते हुए कामाख्या पर्वत पर पहुँच गये। वहाँ किसी पंडे ने बड़े स्नेह के साथ उन्हें अपने यहाँ ठहराया। चन्द ही दिनों में उन्हें मालूम हो गया, कि गृहपति उन्हें अपनी तरुण कन्या के प्रेमपाश में बद्ध करना चाहता है। उन्होंने चुपके से भागकर अपनी जान बचाई। उन्होंने यह भी बतलाया था—बस यही कला, कँवरू कमच्छा का जादू है, इसी को रूपक के तौर पर 'आदमी को भेड़ा बना लेना' कहा जाता है। पहाड़ की स्वच्छ हवा में रहने, निर्द्वन्द्व खान-पीन और स्वच्छन्द विहरने से उन तरुणियों का रूप और स्वास्थ्य श्लाघनीय जरूर था, किन्तु मुझे तो रूपक के तौर पर भी वहाँ "भेड़ा बनानेवाली' कोई बात नहीं दीख पड़ी। पहाड़ पर ही मैंने कई करोड़ के मालिक एक धर्मप्राण धर्मध्वजी महाराजा की रखेली के लिए बना एक बँगला देखा, लेकिन कितने ही 'ऋषियों' और 'महात्माओं' के जीवन को भीतर से देखने और सुनने के कारण मेरे लिए वह कोई अचरज की चीज न थी।

वरदराज बहुत दिनों से नहीं मिले थे। मैंने सुना था वह आसाम में रहते हैं। किसी ने यह भी बतलाया कि उन पर कँवरू कमच्छा का जादू चल गया है, और वह अपने को किसी सुन्दरी के हाथ बेच चुके हैं। अपने बालमित्र से मिलने की मुझे बड़ी उत्सुकता थी। मैंने शहर के वैरागी स्थानों में जाकर कई बार पूछ-ताछ की, किन्तु उनका कोई पता न मिला। मेरठ में मिले बलदेवजी के सहपाठी (हरिनामदास)—जो कालेज जीवन में अपने रुग्ण शरीर के कारण साथियों द्वारा डाक्टर की उपाधि से भूषित किये गये थे—चुनाव के दिनों में ब्रह्मचारी विश्वनाथ के नाम से स्वामी सत्यदेवजी के प्राइवेट सेक्रेटरी के रूप में छपरा पहुँच गये थे। यहाँ फिर उनसे मुलाकात हुई। गजापुर (कटया थाना) के महन्त ने मुझे एक उत्तराधि[illegible] ढूँढ़ देने का भार सौंपा था। कुआड़ी में एक योग्य राष्ट्रीय कर्मी की मुझे भी जरूरत थी, इसलिए महन्तजी के [illegible] को मैंने स्वीकार किया। ब्रह्मचारी विश्वनाथ के साथ शुरू हुआ परिचय घनिष्ठता का रूप धारण कर चुका था। मैंने उनके सामने जब दोनों बातों को रखा तो उन्होंने पसन्द किया और तै हुआ कि यहाँ से वह छपरा चलें।

गोहाटी कांग्रेस का कोई खास असर मेरी स्मृति पर नहीं हुआ। अधिवेशन के समय स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या की खबर आई। लोगों में कुछ उत्तेजना फैली। मजहब भारी अशान्ति की जड़ है—इस धारणा की ओर मैं एक कदम और बढ़ा। इस वक्त भी मैं आल इंडिया कांग्रेस कमेटी का मेंबर था, किन्तु बहस-मुबाहिसों में मुझे कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। कानपुर कांग्रेस ने कौंसिल-प्रवेश स्वीकार कर लिया था, इसलिए किसी खास बात का विवाद भी न था।

स्टीमर से ब्रह्मपुत्र पार हो अमीन गाँव में रेल में बैठे। हम लोग डिब्बे के भीतर अभी आये ही थे, कि एक पतले-दुबले नौजवान को अपने साथ देखा। मेरे [illegible] साथी की छाती पर काँटा सा गड़ता दिखलाई पड़ा, देखा तो उनकी जेब कटी है। हमने उस तरुण को लापता पाया। कितनी ही जगह ढूँढ़ा किन्तु वह कहाँ मिलनेवाला था? उस जेबकट को तो इस सफाई के लिए इनाम देना चाहिए था। धूपनाथजी ने ब्र० विश्वनाथजी और मेरे किराये के रुपये दिये।

छपरा पहुँचकर (1927 ई.) सबसे जरूरी काम हमें करना था, गाँधीजी के सारन के दौरे का प्रबन्ध करना। सार्वजनिक सभा के स्थानों में एकमा भी था। प्रबन्ध करनेवालों में मैं मुखिया था, किन्तु गाँधीजी के साथ-साथ रहने की मुझे बिलकुल इच्छा न थी। जिन्हें लोग बड़ा आदमी समझते हैं, उनके गिर्द एक प्रभामंडल सा जाता है, उसमें रहते मुझे अपना दम घुटता-सा मालूम होता है। जीरादेई में मुझे राजेन्द्र बाबू गाँधीजी के पास ले गये, उस बार बस वही दो-एक मिनट मेरा उनके साथ साक्षात्कार हुआ। कौंसिल के चुनाव का मुझे अनुभव हो चुका था, अब डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का चुनाव होनेवाला था। कांग्रेस ने इसके लिए भी अपने उम्मीदवार खड़े

किये थे। हक साहेब ने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का तीन साल चेयरमैन रहकर शिक्षा मे सारन जिले को प्रान्त मे सबसे आगे बढ़ा दिया था। बोर्ड के हर एक विभाग में नई सजीवता दिखलाई पड़ती थी। हम चाहते थे, कि अबकी बार वह फिर बोर्ड में जावें और चेयरमैन बनें, किन्तु उन्होंने निर्विरोध स्थान पर खड़ा होना स्वीकार किया था। हमे बड़ा अफसोस हुआ, जब देखा कि उनके स्थान से एक दूसरे आदमी खड़े हो गये, और हक साहब ने अपना नाम हटा लिया। हक साहेब बड़े आदमी थे असली अर्थ में, तो भी मेरा उनकी ओर बड़ा आकर्षण था। उनके बरताव बातचीत में एक तरह की सादगी अकृत्रिमता होती थी, जो मेरे जैसों पर भारी असर किये बिना नही रह सकती थी। पहिली बार हक साहब के घर पर (फरीदपुर में) मै 1922 में गया था। हक साहब वहाँ न थे, उनकी बेगम साहबा ने चाय पिलायी। चाय बिस्कुट में कोई हर्ज नहीं—बाबू मथुराप्रसाद यह जानकर मुझे समझा रहे थे, कि मैं वैष्णव होने से छूत-छात में अभी संकीर्ण विचार रखता हूँ। उसके बाद हक साहब को कई बार देखा। दूसरी बार जेल से लौटने पर तो अनेक बार उनसे मुलाकात होती। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की उम्मीदवारी के सिलसिले मे मैं खास तौर से उन्हें मनाने में (20 मार्च 1927 ई०) फरीदपुर गया। उस वक्त मुझे पता न था, कि उस कर्पूर श्वेत दाढ़ी, उस भव्य गौर मुखमंडल—जिस पर बुढ़ापा अपना छाप सिर्फ बालों के रंग तक छोड़ने पाया था,—उस सीधे-सादे किन्तु मनमोहक बात करने के ढंग को मैं अन्तिम बार देख सुन रहा हूँ। दूसरी बातों के बाद मैं और मेरे साथी बा० रामानन्दसिंह (जिला कांग्रेस के मंत्री) आने बन गये। हक साहेब के सामने दो बड़ी-बड़ी आलमारियों में 'स्प्रिचुअलिज्म', और दर्शन की अंग्रेजी पुस्तकें भरी थीं, जिनमे से अधिकांश नई थीं, यह उनकी लाल-पीली जिल्दों से मालूम हो रहा था। उन्होंने उन किताबों की ओर इशारा करते हुए कहा—'रामउदार! क्या मारे मारे फिरते हो, यहाँ आकर बैठ जाओ इन पुस्तकों को पढ़ो। अध्यात्मवाद कोरी कल्पना की चीज नहीं है। परलोक और मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष सिद्ध होने की चीज है। [illegible] यूरोप मे आत्माओं का लोग साक्षात्कार करते हैं। [illegible] हमारे यहाँ उतने अच्छे माध्यम नहीं मिलते। [illegible] मजहबी झगड़े उन्हीं की तरफ से होते हैं, जो उन [illegible]ओं को तह में क्रियात्मक रूप में प्रविष्ट नहीं होना चाहते [illegible]।'

मैंने क्या उत्तर दिया, यह मालूम नहीं; किन्तु स्प्रिचुअलिज्म पर उस वक्त भी मेरा विश्वास न था। मैं यह भी जानता था, कि जब से उनका बड़ा लड़का बगल की नदी में तैरते हुए डूब गया तब से उनका ध्यान इस ओर ज्यादा हो गया है। तत्कालीन राजनीतिक नेताओं में जिस व्यक्ति के प्रति मेरी अपार श्रद्धा हुई, वह हक साहेब ही थे। कितनी ही बार मेरी इच्छा थी कि कुछ समय फरीदपुर में उनके पास रहूँ, किन्तु मेरा सारा समय कांग्रेस का काम ले लेता था। उनकी मृत्यु की खबर जब मैंने ल्हासा (?) में पढ़ी तो इस लालसा के अपूर्ण रहने का बहुत अफसोस हुआ। हक साहेब के व्यक्तित्व का मुझ पर क्या असर हुआ था, इसकी बानगी अपने एक-दो स्वप्नों में देता हूँ।—मैं चाहता था, कि छपरा में हक कालेज खोला जावे—उस वक्त राजेन्द्र कालेज का खयाल भी लोगों को नहीं आया था। छपरा में एक विस्तृत हक हाल बने, जिसमें उनकी मूर्ति रखी जावे। उनके प्रिय फरीदपुर के बगीचे को एक स्थायी स्मारक उद्यान, पुस्तकालय, कृषिविद्यालय के रूप में परिणत कर दिया जावे। उनका एक विस्तृत जीवन लिखा जावे।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चुनाव में भी काफी कटुता रही। उम्मीदवारों की संख्या, और क्षेत्र अधिक होने से एक तरह इस वक्त झगड़ा और व्यापक बन गया। पिछले कौंसिल चुनाव में जो कुछ कटुसंघर्ष रहा, वह उत्तर सारन में था किन्तु अबकी बार तो सारे जिले में आग लग गई थी। एकमा में लक्ष्मीनारायण खड़े हुए थे। कांग्रेस के नाते ही नहीं, अपने घनिष्ट सम्बन्ध के नाते भी उनकी सफलता के लिए प्रयत्न करना मेरे लिए जरूरी था। चुनाव के सम्बन्ध में सभा करने के लिए मैं 30 मार्च को परसा पहुँचा। बाजार में कुछ लोग जमा हो गये। लक्ष्मीनारायण के प्रतिद्वन्द्वी बाबू शिवजी (राजदेवप्रसाद नारायणसिंह) परसा के बड़े जमीदार थे। उनके आदमियों ने आकर मेरे व्याख्यान में विघ्न डालना, गाली-गलौज करना शुरू किया। उन आदमियों में मैंने दो-तीन आदमी ऐसे भी देखे, जो कांग्रेस के कामों मे भाग लेते थे, और जरूरत पड़ती, तो जेल और मारपीट सहने के लिए सबसे आगे रहते। मेरे दिल को भारी धक्का लगा इन 'अपने' आदमियों की इस चेष्टा से। मैंने सोचा—आखिर ऐसा हो क्यों रहा है ? और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचा, कि यदि बा० शिवजी गाँव के बड़े जमीदार

न होते, तो न उन्हें ऐसा करने का मौका मिलता, न वे लोग भय और प्रलोभन से ऐसा करने के लिए मजबूर होते। 30 मार्च 1927 ई. को वह मेरा अन्तिम बार परसा का दर्शन था। उसी दिन रात को मैंने प्रतिज्ञा की—जब तक जमींदारी-प्रथा रहेगी, मैं फिर परसा में पैर न रखूँगा।

महाराजगंज थाने में कांग्रेस उम्मीदवार के विरुद्ध एक दूसरे उम्मीदवार खड़े हुए थे। बा. नारायणप्रसाद कांग्रेस उम्मीदवार के विरुद्ध हो उनके लिए काम कर रहे थे। मुझे उसका अफसोस होना स्वाभाविक था, किन्तु जब एक घनिष्ठ मित्र के तौर पर वह (3 अप्रैल को) मिलने आये, तो चुनाव की बात छिड़ जाने पर मैंने उन्हें कुछ कड़े शब्द सुना दिये। चुनाव तो खतम हो गया, किन्तु उन शब्दों के इस्तेमाल के लिए मेरा अफसोस दिन पर दिन बढ़ता गया। मुझमें यह भारी दोष है कि किसी काम में आधे दिल से पड़ना जानता नहीं। उस पर सारा ध्यान मेरा एकमुख हो जाता है। [illegible] नारायण बाबू से बात करते वक्त भी अपने पर काबू न रख सका। किसी व्यक्ति के ऐसे दोष को उस वक्त मैं अक्सर उसकी दृष्टि से देखना चाहता हूँ, जिसमें दोषों का कम से कम आरोप रहे। मेरी एक स्वाभाविक कमजोरी है कि किसी व्यक्ति से घनिष्ठता हो जाने पर मैं उस मूर्ति पर [illegible] मानसिक पूजा करने लगता हूँ, और उस पूजा पर जरा भी आघात पड़ने से तिलमिला उठता हूँ। नारायण बाबू के प्रति मेरी श्रद्धा और स्नेह उसी तरह की पूजा थी। उस पर आघात करने के लिए मैं अपने को भी क्षमा नहीं कर सकता था। और वह दिल में लगी आग तब बुझी, जब 19[illegible] में मैंने ल्हासा से अपने [illegible] के लिखे पत्र द्वारा अफसोस जाहिर किया और नारायण बाबू का सहृदयतापूर्ण पत्र पा लिया।

बोर्ड का चुनाव समाप्त हुआ। कांग्रेसी [illegible] उम्मीदवारों की विजय हुई, पर सबसे [illegible] बात यह हुई कि बोर्ड की दलबन्दी भूमिहार, राजपूत, कायस्थ आदि जातियों के नाम पर हो गई। मेरे लिए यह सबसे अप्रिय बात थी।

कांग्रेस के सामने कोई नया कार्यक्रम न था। मेरे साम्यवादी विचार बाइसवीं सदी लिखकर रख रखने ही तक सीमित थे, और उनके प्रचार के लिए यहाँ कोई अनुकूल वातावरण नहीं था। उधर बौद्धधर्म के विशेष अध्ययन की मेरी इच्छा, जो लंकायात्रा में जग उठी थी, अब मुझ पर भारी होती जा रही थी। 22 फरवरी को सारनाथ जाने पर मैंने अपना विचार भिक्षु श्रीनिवासजी से कहा। उन्होंने मेरे विचारों का समर्थन करते हुए कहा—इस वक्त अच्छा अवसर भी है। लंका के विद्यालंकार विहार को एक संस्कृत अध्यापक की जरूरत है। आप वहाँ चले जायें, बड़ी अनुकूलता रहेगी।

X X X X

ब्रह्मचारी विश्वनाथ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन) राजापुर में तीन मास से अधिक रहे। महन्तजी उनको बहुत मानते थे, किन्तु वहाँ उस देहात में बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन का बिलकुल अभाव था। मैं देख रहा था, स्कूल सबइन्स्पेक्टर चौधरीजी जब राजापुर में आते, तो ब्रह्मचारीजी को कुछ सन्तोष होता, नहीं तो दिन काटना मुश्किल हो जाता। एक बार (6-8 फरवरी 1927) हम दोनों महन्तजी के हाथी पर कसया बुद्ध निर्वाण स्थान को देखने गये। भोरे में आगे चलने पर हमें हाथी की पूरी रफ्तार मालूम हुई, और हमने उसका नाम समय संहारक यन्त्र रख दिया। लेकिन महन्तजी के पास उससे अच्छा [illegible]। [illegible] दिन (9 फरवरी) राजापुर से छपरा आना था। खाना खा लेने के बाद [illegible] बरगद्दा में [illegible] और [illegible] तक मीरगंज पहुँच जावेंगे। नौ बजे रात को गाड़ी रवाना हुई। [illegible] बीच बीच में [illegible] गाड़ी चल रही है। सवेरा होते वक्त पूछा, तो मालूम हुआ, सारी रात में हम सिर्फ चार मील आ सके हैं। मैंने गाड़ी का पीछा छोड़ा और पैदल मीरगंज का रास्ता लिया। '[illegible] मन लग जायगा'—कहकर ब्र. विश्वनाथ को समझाता रहा। किन्तु अन्त में [illegible] में उनका रहना मुश्किल है, इसलिए मैं उनके स्थान छोड़ने में सहमत हो गया। 2 मार्च को हम [illegible] भी एकमा आये। भविष्य का प्रोग्राम बनाते मैंने उन्हें परामर्श दिया कि वह [illegible] कमण्डलु ले कुछ दिन घुमक्कड़ की जिन्दगी बितावें। एकमा से स्पष्ट [illegible] उन्होंने अपना [illegible] जीवन शुरू किया।

मई (2 मई) पहुँचते-पहुँचते मैंने भी लंका जाना तै कर लिया।

परिशिष्ट

1. सन् 1922 : डायरी से

सन् 1922 की पहिली जेलयात्रा में 13 फरवरी से 9 अगस्त तक मैं बक्सर जेल में रहा। उस समय डायरी में मैंने अपने उलझे-सुलझे विचारों तथा कितनी ही तुकबन्दियों को नोट किया था। उनको यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत करता हूँ, जिनसे तत्कालीन परिस्थिति में जीवनयात्रा का पता उसी व्यक्ति के मुँह से मालूम होगा। निश्चय है, कि अपने सदृश उत्तराधिकारी को छोड़कर वह व्यक्ति मर चुका है। डायरी संस्कृत में लिखी गई है, वह जैसी की तैसी उतारी जा रही है।–

17 मार्च– अस्मिन्नान्दोलनेन मनागपि सफलीभूता जनताऽग्रे भीष्मप्रयत्नेऽपि सफलितमनस्का न भविष्यति

28 मार्च– "धन्या जेतवनभूमिर्यत्र प्रभोस्तथागतस्य चरणधूलिः पतापन्त्। धन्यः कौशल्यश्च मातापित्रो द्वितीया वृद्ध परहितकामेन येन सर्वस्वमर्पितम्।"

31 मार्च– "उत्पातः संयमविषयेऽवश्यं चिन्तयितव्यम्। पैतृकशरीरेण सन्तानोत्पत्तिक्रमो न साधुः। नात्र सन्देहः। भौतिकनिर्बन्धप्रकार एवाश्रयणीयः। स्त्रीणां कथमपि सन्तानोत्पत्तिशक्तिहरणं स्यात्, परं पुरुषाणां कथं स्यात्? यदि कृतवन्ध्यासदृशा एव ते कृतव्याः तदा हीनचारित्र्यं विलासबाहुल्यं विषयतृष्णावृद्धिश्च स्युः। मनसा संयमस्यैव सन्ताननिरोधस्साधुः। परन्तु सर्वे योगिनो भवितुमर्हन्तीत्यपि निश्चितमिव। अत्रावश्यं किमपि निर्बन्धनम्।

6 अप्रैल– "1 सत्यवकाशे तदैव क्षेत्रं द्वितीयकृषिकृत्यर्थं सन्नद्धीकर्तुं (शक्यम्)। 2 कृषिप्राधान्यहानिरपि स्यादस्य देशस्य। 3 कार्यविराम एव गीतादिकलाभिर्मनोविनोदः। 4 आलस्यपरित्यागवत् जात्यभिमानहानिरपि स्यात्। 5. यन्त्रागाराणि राष्ट्रीयाण्यपि भवितुं शक्यन्ते। 6 कर्मकराधिक्ये व्यक्तिसेवा विना तत्कार्यसमयन्यूनता। 7 यन्त्रगृहाद् दूरस्थेषु गृहेषु यातायातम्। 8 यन्त्रमुक्तपयःप्रक्षालितमूत्रनलिका। 9. पुरीषोत्सर्गश्च बहिः मृत्तिकापिधानपूर्वं। 10. रुग्णसेवा व्यवस्था। 11. पृथक् पृथग् यन्त्रगृहनदपरिसरे। 12 स्त्रीपुंसोः कार्यपार्थक्यम्। 13 बालवर्धनशिक्षा रुग्णशुश्रूषाभोजनादि स्त्रीणाम्। 14 बहुपरिश्रमसाध्यं कार्यं पुंसामेव।"

16 अप्रैल– "स्वप्नेऽपश्यं–रूसबोल्शेविकसेना युद्धानन्तरं कृष्णपर्वतमुल्लंघ्या गता। यत्र यत्र सेना व्रजति जना साहाय्यपरा भवन्ति। विमानेन सूचनामपि यत्र तत्र निक्षिपन्ति–न वयं युष्मान् शासितुमागता परं पीडितानां भवतामुद्धारः एवास्माकं लक्ष्यम्। सैनिकापेक्षितविशेषाधिकारोऽस्मद्धस्ते तु यावच्चतुर्दश

अन्यत प्रबन्धादिकम वस्त्वेव तिष्ठतु इति। पञ्चनदाद् विद्राव्य शत्रु इन्द्रप्रस्थ अगनाया वाहिन्या लक्षशः पञ्चनदयोद्धारः स्वदेशगमनाया प्रविशन्ति। अन्यप्रान्तीया अपि तूष्णीं न किमपि आङ्ग्लेभ्यः साहाय्य दातुमुत्सुका। गतं इन्द्रप्रस्थ आङ्ग्ला उद्घायपर्यन्ति–भारतीया बान्धवाः युष्मत्सेवा साहाय्य चांगीकृत्य उपनिवेशस्वराज्य दीयते, आयान्तु गवर्नमेण्ट दश धन जनसाहाय्येन इति।"

22. अंग्रेज–

"किंचिन्न मेऽस्ति भगवन्! त्वयि चार्पणीयम्,
निर्लज्जता सपदि न करणा वदामि।
दीनार्तिहन्! प्रभुवरस्य गुणान् विसृज्य
प्रभावपटन निश्चित रुदन ममास्तु॥ १॥
मातः! सदा वहसि मर्त्यगि वैभव स्व
सन्तान पप वदव मम प्रयाति।
हा हन्त! पश्य विपदीवि ता पर न
स्पाक्ष प्रभा अद्यनाम्य नर्यन्ति॥ २॥

23. अंग्रेज–

"कौल हवग्राम महिब्बत स्यान।
कज्ला मन यहः वाद मान्दी॥
तिलकत् अर्कानां सार फिरत्मा।
बिलु हव्व मग्नलूफ व हक॥"
"दरदिलम इश्कं सदा वहर दना पेदा शुद।
दिलमन् पिदूमन आ हर गर ना दरक शवद्॥
हैफ मद् हैफ दिन्दगाना दू।
तू नरग्म वस्त वस्त शाव्द हद्॥
मलिक दर्-खल्क अदम वाबनवा।
हासिलमन् बजायद गेर बदल्।
दर रह इश्कश गर् बह् वरना।
व बवद् गम हवालत बदना॥

"मन तू मनको मति करै मनको मनको नाहि।
हित बिच हितसों हरि न नहि तामें कछु खोरि॥
हा! थी, हा! री सब कहै, भा कृश पाहू दै न।
हाथी हारी गव कहै आकश काहू दैन॥
जीते मीतं कित गये, जीमानं अब भाहि!
जीवं जातं हित धनहि मान मान मराहि॥
"मनमे तो पैनी छुरी, जिभ्या निमि रसमानि।
नहि उद्धार फन लाभ हो लाभ इन मित्रन पाहि॥
दिल खोलत खुलता नही, खुलत खुलत नहि जाट।
कृपा भई जब ईश की, आपुहि न खुलि जाइ।

24. अप्रेल—

"दोषा दोषयुता गता, दिवा हित नाकारि।
अहितहिते जानासि न, किं त्वं प्रिय ! भवितासि।।
जननी भूमि प्रभू पिता, भ्राता सब जग जान।
नतरु स्वर्गसम जग सबै, नरक दुःख की खान।।
श्रम करि थकि थकि कोउ मुवै, भोग करै कोउ आन।
को यह जग को न्याय है, करम बिना फलदान।।
रे बबूल ! को काम तुव, थकित पान्थ दुखदेत।
हरि रसाल भरु रस मटा, ना फल मीठा देत।।
काठ पात फल छाल तउ, जनहितमाधनमार।
काम बिगारन हितहरन, तुव बिच केतो जोर।।
धूली मग की धन्य तु, सबके चरनन लागु।
कबहुँक तरवर सिर धरे, सहनो ई बडभागु।।
काग कारा अब कहाँ, सन्त अंक है तासु।
जिनके पदरज परसि के, तीरथराज उजास।।
बहुश्रमते शुभ्रा भई, लोहा थालि परन्तु।
निज सुभाव छाड़त नहीं, बहुरि होत मलिवन्त।।"

25 अप्रेल—

"चन्द्र-चमत्कृत-शोभया, दाई नुमितस फंस।
मन चकोर ना मोह में, हूँ मज्नूं दर्वेश।।
नयना नय ना जानही, तीखो तिनको नैन।
सयना ने सयना लरै, हिय पर मैलत मैन।।
है नदी नहीं जलादि, है समीर ना सुबास।
दुर्शवंद मगर बे-आब, यौवने तथापि तात।।
तुग धवल हिमिगिरि शिखर, स्फटिक सरिता माल।
स्नेहतरंगित सिंधुपय, जननी लालित बाल।।
सीत रक्त सित कृष्ण सब, मम प्रिय तव शिशुजात।
शीत-उष्ण निम्नोन्नत, स्नेहमयी तव गात।।
चन्द्र हास इच्छा जलधि, ज्वालागिरि तव द्वेष।
क्रमण यत्न तनु कंप दुख, क्षितिचिन्तनि नव वेष।।
आर्य अनार्य विभेद नहि, नहि वर्णन को भूत।
देशभेदभेदक कहाँ, सब जननी के पूत।।
अज्ञ सुज्ञ निर्बल सबल, सुन्दर अवरकुरूप।
बन्धु स्नेह में मन हो, सजो सकल सुररूप।।"

26 अप्रेल—

"दिले-बेकार की यही आदत। न पकड़ता है यह कभी कामत।।
सैर करता है आस्माँ की कभी। नूर नज्मुल-फलक दिखाता सभी।
सदियों में पहुँचती जहाँ से शुआअ। हद्द-इश्कों नहीं है जिसकी रफाअ।।

तेज रफ्तार उसकी है ऐसी। दहर में तेज है न शै वैसी।।
क्या अजब का है रखता फर्राटा। काना कोनैन पहुँचे धर्राटा।।
इब्ने आदम के पास यह दौलत। हैफ दारद न इल्म ई सौलत।।
दर खलक ताकतें दुधारी तेग। यूज करना न उनका ला-तदीग।।
ताकत उसकी में मोजज्जात सभी। मल्क ताऊत हो विगड़ता जभी।।
नेक नेकी में करता इस्तेमाल। बद बदी उसके से हुआ पामाल।।
उसके हाथों में सारी ताकत है। उसकी बातों में सारी बाबत् है।।
सख्त आहनसा मोम-सा है नरम। बर्फ सा सर्द मिस्ल आग्श गरम।।
जुज खता (मन) न जुर्म ओ बीनम। मन नदानम कि चीस्त रह सिद्कम।।
दिल है मुहताज तेरे हुक्मा का। न सजावार तल्ख ज़ख्मा का।।
सोच कर ले तो होवे पल्ले पार। वर्न तहकीक डूबना है मंझार।।
न यह समझो कि वह हरीफ तेरा। गर् शवद् बाज बहर हुक्म तेरा।।
तेरे ताबे किया खुदा न उसे। दर् अदावत बयाफ्तश न कमे।।
क्या करे चश्मा ऐब चश्मी को। देना दुश्नाम् है अबस् उसको।।
तू ही फाअेल है वह है इक् आला। तू ही है साह वह फकत् हाला।।
फेले बदमें मुतीअ है जैसा। खैर में खैरख्वाह है वैसा।।
दिल की बातों को समझकर यारो। बना दिलदार तो न तुम हारो।।
कृपा क्रीडा तेरी प्रभु रहै सर्वस्व मेरी।
रहै चिन्ता चित्ते चिर मख स्नेहार्द्र तेरी।।
धनानन्दाब्धौ ते हृदयमामग्न भवतु मे।
जलप्लावे गंगा मम हृदयकुल्या ग्रसतु ते।।"

27. अप्रेल–
"वह ग्रीष्म की जलती तपन सनसन सनकती लू चलै।
वे अरर-विरहित जगले नहि ओट जिनसे कुछ मिलै।।
रज पत्र लेकर उष्ण वायू, धूलिधूसर तन करै।
परितः हरित सस्यानि ग्रीष्माक्रान्त जल बिन सज्वरै।।
पर्याप्त जल पानीय नहि स्नानीय की वैसिहि दशा।
अति मूत्रगन्ध असह्य जिसमें है भरी चारों दिशा।
अधिकारियों के नाज को जो थे न पूर्व उठा सके।
क्षुद्राधिकारीगण यहाँ अब सग्ध उनको पा सके।
जिसको समझते थे समुच्चय रत्न का भंडार है।
कहते यथा हैं सर्वजन वैसा नहीं ससार है।।
हाँ, पक्षिगण भी त्रास से इस घर्म के कुम्हला रहे।
विह्वल (विकल-से) लोक भी नहि वेश्म से हैं आ रहे।।
आधिक्य है ज्वरपीडितों का डाक्टर निश्चिन्त है।
नहिं पथ्य का कुछ है पता कुनैन कोरी किन्तु है।।
यदि साग आता है कभी नहि कोयले का है पता।
जब लवण आता तो पुनः अब तेल होता लापता।।
फूटी हुई चिमनी तथा दीपक बेचारा चुप्प है।

गृह भस्ममय अथवा कभी अतिशय भभकता पुष्प है ।।
सन्तापयुत गृह है अभी बाहर हुई कुछ शान्ति है ।
अब बन्द करने के लिए सरदार का आह्वान है ।।
एवमस्य विधेर्वाक्यं प्रत्यह प्रतिवर्त्तते ।
निजसिद्धान्तमाश्रित्य जनता नातिवर्त्तते ।।"

28 अप्रेल—

"हृदयेश ! तव विरहेऽतिकातर एष एकमना जनः ।
ताम्यति तलं सीदति शरीरं स्तम्भमेति तथा मनः ।।
शुश्रुम न-धन-धन हे प्रभो ! ते प्रेमपूर्णगुणावलीम् ।
अर्पितमखिलमात्मीयमित्थं पश्य पुण्यपदावलीम् ।।
माधुर्यमाविकसितमुपरितः क्रौर्यमविदितमाहितः ।
विकसितसरोजतले यथास्ते कण्टकमनन्तिकेदम् ।।
निष्करुण ! करुणापूरिता निस्पृह ! न ते स्पृहयालुता ।
पापाच्यमान परहृद परिपश्य ते प्रशयालुताम् ।।
निर्घृण ! घृणा मे हृदि सदा जागर्ति तेऽतिमृदुस्पृहा ।
अक्षम ! क्षमा क्व त्वयि गिरा गौरवभरे नृगम्यहे ।।
लाघवसदन ! गौरवगरिम्णा स्पर्धमिह विख्याय मे ।
क्षुद्रातिक्षुद्रहृदय ! महाशय एष किन्तु विभात्यसे ।।
विह्वल-विरह-दग्ध जन मत्रानुमस्ति न ते मनः ।
गुर्वी गुणैर्वद वीरुदेव क्वापि शीघ्र जहा मनः ।।
नहि हृदयहारि त्वद्वचो विश्वासंजुष्ट हे सर्वं ।
असकृत् परीक्ष्य कृत पुन हृदयेन तत्प्राप्तः सर्व ।।
हतहृदय ! हा ! दग्ध स्वयं किं क्रूरकर्माण व्रजेः ।
मृदुफलरसास्वादनमना कण्टकितरु न मृगा व्रजेः ।।
दत्त सकृद्धृदयं परावर्तितुमहो नाल त्वहम् ।
दुर्वृत्तिदुर्गुणापूर्ण तामपि हातुमसि नाल स्वयम् ।"

30 अप्रेल—

"खिले प्रसून प्रसन्न ह्वै कूजत विहग न थोर ।
अन्य अभ्युदय देखि कै, मन्न हृदय मुख शोर ।।
जीर्ण पत्र भूषा तजि, पहिरि हरित नव वास ।
त्यागु पुनः सुखसम्पदा, याको करत प्रकाश ।।
वायुवेग अति धर्मते, जग विह्वल करि देत ।
शीतल खस टट्टीन तें, गुण-अवगुण सँग हेत ।।
उपजि उपजि पुनि मरि गयो, चना बिना ऋतुकाल ।
काल पाय निर्बल सबल, जग बिच सबको हाल ।।
पुष्पवाटिका साजते, आल बाल खनि दीन ।
अस्थिर मन के कारणे, सूखे तोय विहीन ।।
बहुत भये बहुशक्ति नहिं, गल्ल एकता पुष्ट ।

मेरु भसकि मरुभूमि ह्वै, तृणते रज्जू पुष्ट।।
जनसंग जनसुख में पगे, मुनि मन होत कलेस।
व्यक्तिभेद ते एक ही, वस्तु कृशानु गणेश।।
जामें कोउ चित ना धरै, दूजो तजत पगन।
सबहि कुरूप सुरूप है, मानस बिन्दु प्रमान।।
अनुभव ते पंडित कहैं, एकहि वस्तु विभेद।
भाव साँच ही देखनो, शान्ति सोई मोद खेद।।
जगत निहोरा का करी, अपुन निहोरा साँच।
खुशी भइल जब आपनी, सब जग आपन जाँच।।

1 मई—

"गर सताता है कोई तो जुल्म को सहता रहे।
जुल्म सहने में मज़ा है जुल्म करने में न है।।
गर बहुत जीना भी होवे तो भी गहने कब्र का।
हिल्म में मिलता तुम्हें जो जुल्म में मिलती न है।।
दिल की ख्वाहिश के मुताबिक जब राह करता नहीं।
है सलामत टूट जाती लुत्फ फिर रहता न है।।
बाहरी चीजों में है ना लुत्फ हर्गिज़ ऐ जनाब।
लुत्फ उसमें क्या भला कि जो पसन्दे-दिल न है।।
रहम जौहर है बनी-आदम का मिस्ले नूर नार।
हो न रहम समुअब्र अह्ल पर गो कि वह मौफिक न है।।
हेच है दर नज़र अशरफ मखलूकात भी।
खैर खादिम के लिए मख्दूम कम मुनअम न है।।
नज़र हो कालिब अनासिर है इस फरिश्ता को दुइ,
खल्क की खिदमत में ना बेहतर फर्ज इससे न है।।
दर्द दिल हो और को पर आह सद भरता रहे।
जिन्दगी का यह मज़ा मकबूलतर किसको न है।
गैर की जलती में कूदे जिस्म दुश्मनी का लिए।
मर्द है आतिश व बादे-सद फहलंदह न है।।
खल्करा दर हकब वीनी हक्बरा दर खल्क वीं।
गर तूं [illegible] जीस्त ख्वाही हक्बरा दर दिल निहा।।"
"काँच आन बहुतै सहै निमल जल सब मोल।
कुह 'उदार' किमि आन बिन, मन मन [illegible] हाट।।
जामें जेतो श्रम लगै, वाको तेतो दाम।
मानिक मोल अमोल है गुंजा लहे न काम।।
थिर गुन गुनि को मोल बहु, अथिर थोरही पाट।
पीतल सुन्दर वरन रिमि, कंचन भाव बिकाट।।
खेत खेत जिन काटतो, तिनको करत न ख्याल।
जिनके धन पोषक भये, तिनहिं विनाशन ख्याल।।
सूत बहुत सन्तान ते, परहित करत पगान।
उपल गन्ध बारसान [illegible] [illegible] लगान।।

3 मई–

"न्याय सहायक और स्वै, जहाँ मिलत है न्याय।
झूठ ढिंढोरा न्याय का, तहाँ पिटावत धाय।।
सब पथन में ऊपरो, धर्माडंबर वेष।
दूरहि ढोल सुहावनी, यही सिद्ध अवशेष।।
धर्म दोहाई देइकरि, लूटि खात संसार।
सब ठगई के जानतेउ, बनत न नर हुसियार।।"

"बहिस्तनवृत्तोपासका लोका नान्तरनिरीक्षकाः। अध्यात्मवादव्याजेन कति न वञ्चका दृश्यन्ते। अध्यात्ममया अपि जना लोकमायाप्रलोभिताः तद्रागाक्रान्ताश्च।"

4 मई– "धर्ममय जगत्! अहो वञ्चना! यदि वञ्चना प्रकाशयेत् कश्चित्, सर्वे तत्पृष्ठलग्ना तत्प्रतारणपराः। तदनुसरणपरा एव तद्बहुमान्याः, महानुभावाः, योगीश्वराः, विद्वद्वरेण्याः, विरागवन्तः काकविष्ठावत्परित्यक्त सर्वपरिग्रहाः, ब्रह्मभूताः, सन्यासिप्रवरा इमे! हन्त!नैभ्यः परे वञ्चका दुःशीला, लम्पटाः, अविद्याग्रस्ताः, रागग्रस्ताः, लिप्तसर्वविषयाः, अज्ञानिनः स्युः।"

5 मई– "लोकाः! किं वो फलमेभिः पाषण्डैः? परस्पर वञ्चयन्तः किं तन्महत्त्व, यत्सान्नैकपरा अपि सर्वमन्यद् एव सत्यपराङ्मुखाः। अहो! आत्मवञ्चकाः, उपरि सुधालिप्तप्रासादा अन्तर्मलीमसा एव। सर्वोऽपि व्यवहारो जगति वञ्चनया प्रचलित।"

17 मई– "साम्यधर्मार्थं ग्रामं ग्रामं कृषकसंघाः, श्रमजीविसंघाः स्थापनीयाः। समर्थन कांग्रेस [illegible] स्यात्। कांग्रेससंस्थायामपि गच्छेयुः, कांग्रेसाभावे तादृश्यां सार्वजनिकप्रान्तीयसंस्था [illegible], स्वराज्यस्थापनानन्तरं यावद्बाह्यशत्रुभयं तावत्साम्यपेक्षा बृहदान्दोलनस्य।। [illegible] श्रमजीविना दशा सुधारणीया। स्वशासने पुष्टे सम्यग् आन्दोलन प्रचलेत्। [illegible] न स्यात् स्याद् भिन्नताकारणम्। धनिकनिर्धनभेद एव भेदहेतुः। धनिकान स्वस्वार्थ [illegible] निजं स्वभावः परिवर्तनीयः।। "

18 जून– "शैशव धन्यम्। आजन्मसंसृत शैशव कथं नाभूत्। वृद्धाना तत्कथाश्रावणम्। शैशवमेव [illegible] यत परोक्ष सर्व मनोरम तत्। शिक्षाप्रदाः कथाः कालान्तरे एव विस्मृताः स्युः। अन्या एव पुस्तके प्रचार्यन्ते। स्वतः कालान्तरे प्राचीनाना विनाशो ध्रुवम्। मनः भौतिकसामग्रीविरचितो न [illegible] वस्तु सन्नद्धः। असम्भवकथाप्रचारे को लाभः। बुद्धिहीनप्रलाप किंसारे किं सारइति।"

20 जून– "हन्त! लोके विचित्रा मौर्ख्यपरम्पराः। स्त्रैणाः केचन स्वजनान्तराचरणैरेव स्वर्गागारलुण्ठनरता कृतार्थम्मन्याः। घृणितक्रियाकलापैरन्ये निःश्रेयसमर्माधिजिगांसन्ते। आचारभ्रष्टाः कुटिलहृदयाः साम्प्रत जनैः पूजिता अवतारपदवीं यावद्भजमानास्तिष्ठन्ति, (तथैव) जीवनचरितेषु प्रकाश्यन्ते। कालान्तरे समसामयिकानामभावे ते तथैव स्वीकृताः स्युः। इदानीमेव यदा ईदृक् ख्यातिः अग्रे को रोद्धमलम्।

29 जून– "हन्त कीदृशं जीवनम्! क्षणे कटुमरीचिका आस्वादवती प्रतीयते, क्षणे सुमिष्टमोदकाः कटुता व्रजन्ति। दिनं कदाचिदुल्लासमय रजनी सुखरजनी, तत्परिवर्तनेऽपि न भवति चिरम्। अहो नास्ति वस्तु किमपि स्वादु नीरस वा, नास्ति कुरूपा सुरूपा वा काचित् सती, यामेव पति रविचक्षते सैव रूपराशिः। यत् स्वमनोनुकूलं तदेव समीचीन वस्तु।"

30 जून– "(यांत्रिक) व्यवसायः? महत्त्वाणा दारिद्र्यक्रोडगतानां श्रमजीविनां को महानुपकारः सति महति सुधारेऽपि। न साम्प्रत आढ्यानां क्षेत्रपानां चोन्मूलनमभिप्रेत"। कथं तर्हि सञ्जीवनम्? कलावृद्धौ महानुपकार आढ्यानामेव वाणिज्यवृद्धौ वणिजाम्। शिल्पवृद्धौ न शिल्पिना वराकाणाम्।"

5 जुलाई– "अभ्यासायैकान्तवासोऽपेक्ष्यते केषाञ्चिन्मामानाम्। न युक्तमस्मादृशां सर्वथा वसतिवासः। ज्ञानहानिः, आत्महानिः स्वभावहानिरिति सर्वतो हान्याधिक्य नाममात्रा स्वल्पीयसी। तथापि जनहितसाधनाय सर्वसहेन मया भवितव्यम्। न कस्य रागः न कस्य द्वेषः। मदीयं सर्वस्वं अखिलजगत्यै। न साधनापुष्टिर्भवेद् यथा तथा परिवर्तितव्यम्।"

14 जुलाई– "... जनहितविघातिका या का अपि संस्था तस्या भूतलाद् अत्यन्ताभाव एव वरं जातु ना ईश्वरवादिन्योऽनीश्वरवादिन्यो वा स्युः।"

20 जुलाई– "साहित्य एव शुद्धहिन्दीभाषायाः अवश्यं। [illegible] भाषा। लिपिभेदस्तु तिष्ठतु तावद्। काले स्वैरं राष्ट्रीयतायाः निर्माणे भविष्यति परिवर्तनम्। अन्यत्रापि साहित्यभाषा भिन्ना भवति। एवं उभयोर्मध्ये हिन्दी साहित्या [illegible] स्यात्। अन्यत्सर्व एकत्रैव भवितुं शक्यते। सर्वधर्मानुयानामैकस्मिन् [illegible] साध्य।

29 जुलाई–

"मान मिलता है [illegible] मान न रहा
जिन्दगी [illegible] है [illegible] है रहा।।
एक मर मर के भी मिट्टी में नहीं मिल [illegible] जाना।
चमन में [illegible] जाना।
लुत्फ दुनिया की हस्ती हो न [illegible] लुत्फ उसमें है।
बाग [illegible] बाग [illegible] में [illegible] फूल खिले।
[illegible] है [illegible]।
[illegible] में [illegible]।
[illegible] है हम [illegible] है [illegible]।
दिल में [illegible] है [illegible]।
चहकती बुलबुल [illegible] है [illegible]।
[illegible] है [illegible]।।
[illegible] है नहीं [illegible] है [illegible]।
[illegible] में [illegible] न [illegible]।।
है यह नफरत [illegible] तारी।
[illegible] दिल के [illegible] है [illegible]।।

1 अगस्त (1922)–

"बिम्बाविम्बोदकजकदन चन्द्रचक्रान्तहार
पद्मनन्दमोदुर्[illegible]।।
विश्वम्भृतेऽम्ब ! हृदि कलये सुप्रवाला [illegible]।
पादाम्भो[illegible]।।
"चूर्ण करके क्षोद मम उत्तुंग गिरि का [illegible]।
फूल करके [illegible] मम [illegible] गलना।।
सर्वमंगलमयि ! नशा [illegible] (मृदु) उद्यान का।
क्या कोई इसमें छिपा है [illegible] भी।।

(तिलक)–

"साल होता है तेरे जाने में। ख़याल तेरा है दाना दाने मे।।
बीज बोया था जिसका तूने यहाँ। खून से सींचं था जिसे तू यहाँ।।
फूल लगने का उस प वक्त आया। नजरें दौड़ी न तू नजर आया।।
जिन्दगी से पढाया था जो सबक। कौम के दिल प है जमा वह तबक।।
जाहिरी नजरों में न गो तू है। पर बहक सबका दिलनशीं तू है।
दिल यह कहता है देखूँ फिर वह जमाल। हैफ़ गो है यह मिन् अमूरे महाल।।
तिलक क्या फिर न तू अब आयेगा। मुंतज़िर नजरो मे समायेगा।।"

"अब्दौ जातौ द्वा इव मनसि प्रत्यन्ययस्त्वत्प्रयाणे।
आयतान्थि पदमु शुशुभे त्वद्वचस्त्वादधानाः।।
दृष्टेर्वृष्टिः शिशुषु पतति क्वास्ति ते विग्रहार्हः।
हन्तात्माते स्थित इत इव प्रार्थयामः शरीरम्।।
आपाद्य स्वायुरखिलरसैः स्वक्षितेरुर्वरात्वम्।
उप्त बीज च रुधिरपयोभिर्वर्द्धितः पादपस्ते।।
काले पुष्पोद्गम इह विभो ! दृष्टयस्त्वद्दिशीकाः।
आमोदास्त्वद्विरहविधुरा न प्रमोदावहाः स्युः।।
दिव्यावाणी हृदयकुहरान् पावयन्ती सदा ते।
सौम्याचाराः मृतिषु सकलान् माधरी मादयन्ते।।
निर्भीकास्ते गमनमरणी सारथी सारथीनाम्।
एकैकस्ते गुण उपकृतस्म्यक्षमो वान सूरे।।
कुर्वन्नस्तं हितयुतवचः पालन प्राञ्जलान्ता।
धर्मेणैव जननि सितपादाम्बुज सेवमाना।।
क्लेशाश्लेषान विवृतहृदया आदरादाददानाः।
शत्रुश्रीणा मुखमर्मसितमाधाय चाग्रे सरन्ति।।
वर्षस्यैक स्मरणनटना त्वन्मता स्यान्न मन्ये।
आजन्मार्च्य प्रणतिविरहा स्वार्चना स्यादिता ते।।
वाणी भाणप्रहितनुतिनः पाणिमुकस्त्वयस्ते।
प्रेयः सर्वान् मग्लमुग्म कर्मयोगो यतस्ते।।
दोषादोषे दनुजहृदयाम्लादकल्हारचन्द्र।
क्षीणार्थीनाकुंचित जनतापद्मिनी पद्मिनीश।।
ज्वालामाला उर्वि निशिभीः भीमनृश्वापदानाम्।
नाकालोकस्तिलक ! जगतां जीवन जीवन ते।।"

4 अगस्त– " आजन्मन. किलाध्ययनाध्यापनपर्यटनानि हि मे कार्याणि ।"

8 अगस्त– " अस्माभिः स्वकर्तव्यमेवानुसर्तव्यम्। प्रदानेन न क्वचित् केनचित् स्वातन्त्र्यमधिगतम्। जगति स्वार्थान्धा धूर्ता चागलजातिः, न प्रसन्नतया किमपि सुकृत्यमनुतिष्ठति। अमेरिका स्वय स्वतन्त्रतामध्यगात्, आयर्लेण्डोऽप्येवम्।"

9 अगस्त–

"जाता हूँ तेरी गोद म सूर्यमिन के विदा। ए जेल मेरे गोशये तस्कीन अलविदा।।
पाबन्द था आ तुझमें मैं आजाद हुआ। आजाद फरिश्तों की जगह-पाक विदा।।

उलमा व रहीमों के हुए दर्स यहाँ। माजी के वह हाल के सबके ही विदा।।
खल्वत को फ़रिश्तों की यहाँ करते हैं मात। कम है न मगर कोई भी महरम है विदा।।
कुछ कम नहीं छः माह तेरी गोद पले। दिल होता है मुज्तर फिराक तेरे विदा।
औरों के कुतुब-दीन रहे तुझमें खुले। ओराक-खलक खालिक-ताना भी विदा।।
कुल्फत में तेरी था वह हलावत का मज़ा। एहसास है होता नहीं इज़हार विदा।।
दीवार व दर तेरे थे महबूब अगर। अहबाब हकीकी थे तेरे सब्जा विदा।।
होता हूँ जुदा पर न हमेशा की उमीद। मिलन की रियाजत में रहूँगा ही विदा।।
है हल्कये एराफ अगर ख़ुल्द नहीं। दोज़ख व अदन आते नजर तुझमें विदा।।"

"शयन भोजन साथ था होता यहाँ पर इस तरह।
भाई भाई बालापन में साथ क्रीड़ा जिस तरह।।
पढ़ने लिखने के लिए माना सर्वार्थ समर है।
बैठे हैं आचार्य ऋषियों के चरणतल में सभी।।
दूर गये जिनके शरीर पवित्र विग्रह हो गये।
उनके अनुपम आत्मविग्रह दर्श में दुख मिट गये।।
साथ रह जड़ जन्तु का भी प्रेमपथ होता प्रशस्त।
फिर न प्रेमागार मानवहृदय क्या हो प्रेम मस्त।।
सन्त सन्त वियोग दुख दारुण सहे बुधजन कहें।
हम अनन्त वियोग दुख गम्भीर धारा में बहें।
चिर प्रतीक्षित कर्मपथ आह्वान यद्यपि कर रहा।
स्नेहबन्धन बन्धुओं का मुक्त पर नहिं कर रहा।
इतने दिन निश्चिन्त हो थे प्रेम से रहते रहे।
हा प्रसन्न विद्यार्थियों का साथ [illegible] सहते रहे।।
इस नगर में जानेवाले को यद्यपि दर्शन नहीं।
पर भविष्य स्वप्न में भी होना अनाश्वासन नहीं।।
बन्धुओ! आजन्म यह मिलना न भूलेगा कभी।
स्मरण होवेगा तभी स्वर्गीय सुख होगा तभी।।
कर्म में जा अपने अपने लग्न हो जाना अभी।
भूल जाना अपने इन लघु [illegible] को फिर न पर।।"

2. साकृत्यायन वंश*

(सरयूपारीण मलाँव-शाखा)

(क) वैदिक काल

उत्तरी भारत के ब्राह्मणों में सरयूपारीण या सरवरिया ब्राह्मणों का एक खास स्थान है। इनकी बस्ती अधिकतर फैजाबाद, बनारस और गोरखपुर की कमिश्नरियों (बनारस, मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, आजमगढ़, गोरखपुर, बस्ती, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, प्रतापगढ़, सुलतानपुर के जिलों) तथा बिहार के सारन, चम्पारन,

* 1939 में लिखित।

शाहाबाद के जिलों में है। इन जिलों के पड़ोसी जिलों मे भी इनकी काफी संख्या है। वैसे विस्तार तो मध्यप्रदेश तक चला गया है। इसी प्रदेश में काशी नगरी जैसा संस्कृत विद्या का केन्द्र होने के कारण इनके भीतर संस्कृत का गंभीर पाण्डित्य होना स्वाभाविक ही है। साथ ही इनमें सामाजिक सकीर्णता यहाँ तक रही है, कि अभी तीन-चार वर्ष पहिले तक कोई भी सरयूपारी किसी विलायती विश्वविद्यालय का ग्रेजुएट नही था। सरवरिया ब्राह्मणों के प्रधान 16 गोत्रों में साकृत्य गोत्र भी एक है। गोरखपुर जिले का मनाँव गाँव (गोरखपुर से 14 मील दक्खिन अक्षाश 26°/32' उ., देशातर 83°/25') इनका मूल स्थान है; इसीलिए पदवी के साथ मिलाकर इन्हे मलाँव-पाडे भी कहा जाता है।

भरद्वाज, कश्यप, गोतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि और वशिष्ट—ये सात वैदिक ऋषि सप्त-ऋषियों के नाम से विख्यात हैं।[1] ऋग्वेद के दो सूक्तों (9/67; 10/137) में इन सातों[2] ऋषियों की बराबर सख्या में कुछ ऋचाएँ एकत्रित की गई हैं। पहिले सूक्त मे तीन-तीन और दूसरे मे एक-एक ऋचाएँ है, और दोनो जगह सर्वप्रथम भरद्वाज की ऋचाएँ हैं, जो अभ्यर्हित पूर्वं (पूज्य को पहिले) के नियमानुसार भरद्वाज की प्रधानता सिद्ध करता है। ऋग्वेद के 1017 सूक्तो मे से 36 मे अधिक[3] भरद्वाज रचित है, यह भी भरद्वाज की विशेषता को बतलाते हैं। भरद्वाज वार्हस्पत्य का वंश-वृक्ष इस प्रकार है—



1. "विश्वामित्रोऽथ जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गोतम
अत्रिर्वशिष्ट कश्यप इत्येत सप्तर्षय ।।" (बौधायन-सूत्र, प्रवराध्याय)
विश्वामित्रोऽसित कण्वो दुर्वासा भृगुरंगिरा वसिष्ठो वामदेवो त्रिमाया गर्गर्षयोऽमला ।। (अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड)
कहीं कहीं आठ ऋषि भी मिलते है-भृगु अंगिरा मरीचि, अत्रि वसिष्ठ पुलस्त्य पुलह और क्रतु (वायु-पु 10/68/9 मत्स्य पु 171/28)

2. बाकी छ ऋषियो के सात-सात सहिता म निम्न प्रकार पाठ आते है —
कश्यप मारीच 1/99, 8/29, 9/64, 9/67 4-6, 9/91 92, 113 114, 10/137 2। **गोतम राहूगण** 1/74-93, 9/31, 9/67 7-9 10/137 3/। **अत्रि भौम** 5/27 37-43 76 77 83-86, 9/67/10-12, 9/86 41-45, 10/137, 4/। **विश्वामित्र गाथिन** 3/1-12 24, 25, 26 (1-6, 8 9), 27-32, 33 (1-3 5, 7, 9, 11-13), 34, 35, 36 (1-9, 11), 37-53, 57-62; 9/67/13-15, 10/137 5; 10/167/। **जमदग्नि भार्गव** 3/62/16-18 8/101, 9/62, 65, 67 (15-18), 10/110, 137 (6), 167/4 **वसिष्ठ मैत्रावरुणि** 7/1-32, 33 (1-9), 34-104, 9/67 (19-32), 90, 97 (1-3), 10/137/7/ 3-**ऋक्** 6/1-14, 16-33, 37-43, **और** 9/67 **तथा** 10/137 **के सप्तमांश**। 4-**संवर्त आंगीरस ऋग्** 10/172/। 5-**उचथ्य आंगीरस ऋग्** 9/50-52/। 6-**बृहस्पति आंगीरस** 10/71,72 7-**दीर्घतमा औचथ्य ऋग्** 1/140-164/। 8-**सुहोत्र भारद्वाज** 6/31,32/। 9-**शुनहोत्र भारद्वाज** 6/33,34/। 10-**नर भारद्वाज** 6/35,36/। 11-**गर्ग भारद्वाज** 6/47/। 12-**ऋजिश्वा भारद्वाज ऋग्** 6/49-52, 9/98, 108,7। 13-**आजमीढ़ सौहोत्र ऋग्** 4/43,44। 14-**गृत्समद आंगिरस शौनहोत्र पश्चाद् गृत्समद भार्गव शौनक ऋग्** 2/1-3, 8-43; 9/86/46-48।

कात्यायनकृत ऋग्वेद के सर्वानुक्रम में[1] वितथ या विदथी के सुहोत्र आदि पांच पुत्र लिखे हैं, किन्तु महाभारत[2] आदि में शुनहोत्र को छोड़ बाकी चार वितथ के पौत्र और भुवमन्यु के पुत्र कहे गये हैं।

संकृति ऋषि का काल–भरद्वाज के चचेरे भाई तथा उचथ्य के पुत्र दीर्घतमा–जो पीछे गौतम के नाम से प्रसिद्ध हुए–ने दुष्यन्त के पुत्र शाकुन्तलेय भरत का अभिषेक[3] कराया था और भरत ने सन्तानों के मर जाने पर दीर्घतमा की प्रेरणा से भरद्वाज को गोद लिया। भरद्वाज ने स्वयं गद्दी न ले अपने पुत्र वितथ या विदथी को राज्यसिंहासन दिया।[4] इस प्रकार भरद्वाज की सन्तान आगे चलकर भरत के वंश और राज्य की उत्तराधिकारी हुई, और इसीलिए महाभारत ने "भरद्वाजो ब्राह्मण्यात् क्षत्रियोऽभवत्" लिखा। नीचे दिये भरद्वाज के वंशवृक्ष से पता लगेगा, कि कौरव-पाण्डव स्वयं भरद्वाज के पुत्र विदथी की सन्तान थे, और उन्हीं के दूसरे पुत्र नर से संकृति पैदा हुए–

1. दुष्यन्त
2. भरत[5]
3. भरद्वाज (1500 ईसा पूर्व)
4. विदथी (वितथ)
5. सुहोत्र — शुनहोत्र — नर
6. अजमीढ, पुरुमीढ, गृत्समद — संकृति
7. ऋक्ष — रन्तिदेव
8. संवरण (1400 ई. पू.)
9. कुरु (1380 ई. पू.)
10. चित्ररथ
11. जह्नु
12. सुरथ
13. विदूरथ (1300 ई. पू.)
14. सार्वभौम (1280 ई. पू.)
15. जयत्सेन
16. अपराचीन
17. अरिह
18. महाभौम (1200 ई. पू.)
19. अयुतनायी
20. अक्रोधन
21. देवातिथि
22. ऋच (अरिह)
23. ऋक्ष (2) (1100 ई. पू.)
24. भीमसेन
25. दिलीप
26. प्रतीप
27. शन्तनु
28. विचित्रवीर्य (1000 ई. पू.)

1 सर्वानुक्रम (कात्यायन) और वेदार्थदीपिका ... 6.52A

2 दायादो वितथस्यासीद् भुवमन्युर्महायशाः
महाभूतोपमाः पुत्राश्चत्वारो भुवमन्यवः
बृहत्क्षत्रो महावीर्यो नरो गर्गश्च वीर्यवान्
नरस्य संकृतिः पुत्रस्तस्य पुत्रौ महौजसौ।।
गुरुधी रन्तिदेवश्च साङ्कृत्यौ तावुभौ स्मृतौ
गर्गात् संकृतेः काव्याः क्षत्रोपेता द्विजातयः ... (विष्णुपुराण ... ब्रह्माण्ड 3.66.56, महाभारत 1.? 4306 के आधार से)

3 ऐतरेय ब्राह्मण 8/23, 21

4 ततोऽनिन्त्युर्भरद्वाज पुत्रार्थं भरताय वै।
दायादोऽभीरस पुनुरीरगम्यं बृहस्पते।।
भरतस्तु भरद्वाज पुत्रं प्राप्य विभुर्ब्रवीत्।
प्रजायां संहृतायां वै कृतार्थोऽहम् त्वया विभो।।
ततस्तु वितथो नाम भरद्वाजात् सुतोऽभवत्।
तस्मात् दिव्यो भरद्वाजो ब्राह्मण्यात् क्षत्रियोऽभवत्।।
ततोऽथ वितथे जाते भरतः स दिवं ययौ।
भरद्वाजो दिवं यातो ह्यभिषिच्य सुतं ऋषिः।। (महाभारत 1.94.? 10 ?)

5 Chronology of Ancient India (S N Pradhan) pp 79 80

29. पाण्डु
30. अर्जुन
31. अभिमन्यु
32. परिक्षित्
33. जनमेजय (900 ई. पू.)
34. शतानीक
35. अश्वमेधदत्त
36. अधिसीम कृष्ण
37. निचक्षु
38. उष्ण (भूरि) (800 ई. पू.)
39. चित्ररथ
40. शुचिरथ
41. वृष्णिमान
42. सुषेण
43. सुनीथ[1] (700 ई. पू.)
44. नृचक्षु (भिचक्षु)
45. सुखीबल
46. परिप्लुत
47. सुनय
48. मेधावी (600 ई. पू.)
49. नृपजय
50. तिग्म
51. बृहद्रथ
52. वसुदामा
53. शतानीक (500 ई. पू.)
54. उदयन (480 ई. पू.)

इस वंशावली[2] में भरद्वाज से उदयन (वत्सराज) तक 54 पीढ़ियाँ होती हैं। डाक्टर प्रधान ने प्रत्येक पीढ़ी के लिए 28 साल रखा है, किन्तु मेरी समझ में वह ज्यादा है, खासकर राजाओं और उनके दायादों के सम्बन्ध में, इसलिए प्रत्येक पीढ़ी के वास्ते 20 साल रखना ठीक होगा। उदयन वत्सराज, बुद्ध के निर्वाण के समय 487 ई. पू. में मौजूद था, और उतना वृद्ध न था। उसे 480 ई. पू. मानने पर भरद्वाज का समय 1500 ई. पू. और संकृति का 1440 ई. पू. होगा।

पचाल का प्रतापी राजा दिवोदास भरद्वाज ऋषि पर विशेष श्रद्धा रखता था, इसीलिए ऋषि ने दिवोदास की प्रशंसा ऋग्वेद[3] की, अपनी कई ऋचाओं में की है। किसी शम्बर (शबर या आर्यभिन्न)-राजा पर दिवोदास की विजय को इन्द्र के धन्यवाद के रूप में ऋषि ने इस प्रकार वर्णन किया है-

"हे इन्द्र ! तुम (शत्रु नि) बर्हण, प्रशंसायोग्य हो। तुमने सैकड़ों सहस्रों (असुर) शूरों का पराभव किया, तुमने पहाड़ से आये दास शम्बर को मारा, और विचित्र रक्षा प्रकार से दिवोदास की रक्षा की।"[4]

इसी दिवोदास की बहिन[5] अहल्या थी, जो दशरथ, वशिष्ठ और विश्वामित्रकालीन गोतम ऋषि की पत्नी थी। गोतम ऋषि कौन थे ? भरद्वाज की माता ममता और चचा उचथ्य (उतथ्य) के पुत्र जन्मान्ध दीर्घतमा ही पीछे आँख प्राप्त कर लेने पर गोतम कहे गये।[6] इस प्रकार भरद्वाज वैदिक काल के आरम्भ में पैदा हुए थे और ऋग्वेद के निर्माण में उनका काफी हाथ था। भरद्वाज से चौथी पीढ़ी अजमीढ, पुरुमीढ, गृत्समद के बाद वेद-ऋचाओं के निर्माण का काम बहुत कुछ समाप्त हो जाता है।

ऋग्वेद के मंत्र-कर्ताओं को जब हम देखते हैं, तो मालूम होता है, कि अभी आर्यों में क्षत्रिय, ब्राह्मण जातियाँ अलग-अलग नहीं बनी थीं। भरतवंश के उत्तराधिकारी विदथी क्षत्रिय नृपति थे, और उनके पौत्र अजमीढ

1 Chronology of Ancient India (S N Pradhan) p 256
2 A I H T (Pargiter) p 112 A I H T (Pargiter) p 112 Chronology of Ancient India (S N Pradhan) pp 798 [illegible]
p 259
3 इयमददाद्रभसमृणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे।
या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति।। —ऋग् 6/26/2
4 त्वं तदुक्थमिन्द्र बर्हणा कः प्र यच्छता सहस्रा शूर दर्षि।
अव गिरेर्दासं शम्बरं हन् प्रावो दिवोदासं चित्राभिरूती।।। -(ऋग् 6/26/5)
5 वध्र्यश्वान्मिथुनं यज्ञे मेनकायामिति श्रुतिः।
दिवोदासश्च राजर्षिरहल्या च यशस्विनी।। —वायुपुराण 99/200 (मिलाओ, हरिवंश 1/32/70, विष्णुपुराण 4/19 16 [illegible]
6 वायुपुराण 99/26-34, 47-97, ब्रह्माण्डपुराण 3/74/25-34, 47-100, मत्स्य 48/23-29

सौनहोत्र से कुरु, उत्तर पचाल, दक्षिण पचाल के राजवंश पैदा हुए। पुराणों[1] के अनुसार शुनहोत्र के तृतीय पुत्र गृत्समद के वंशज शौनक ने ब्राह्मण क्षत्रिय आदि वर्णों को कायम किया। भारद्वाजगोत्री[2] शौनक का वंशवृक्ष डाक्टर प्रधान ने इस प्रकार दिया है[3]–

गृत्समद (1440 ई पू)
सवेता
वर्चा सावेतस
विहव्य (ऋग् 1/128)
वितस्त्य (वितन्य)
सत्य
शिवस्तमन्ता
शर्वा
तम
प्रकाश
वागीन्द्र
प्रमिति
रुरु
शुनक
शौनक (परीक्षित् 920 ई पू)

शौनक का समय महाभारत काल के करीब पड़ता है और उस समय तक वर्णव्यवस्था–खासकर ब्राह्मण क्षत्रिय वर्ण व्यवस्था–नहीं थी यह बात भी व्यास और धृतराष्ट्र तथा पाण्डु के उदाहरणों से भी सिद्ध होती है।

नर ऋषि (1460 ई पू)–राजा विदथी यावितथ के पुत्र नर ऋग्वेद के ऋषियों में से हैं। ऋग्वेद के छठे मण्डल के 35, 36 सूक्तों की दश ऋचाओं में उन्होंने इन्द्र की वीरता की स्तुति की है और अपने वंशजों–भरद्वाजों और आंगिरसों के लिए खासतौर से गोधन की याचना की है। समुद्र न सिन्धव (समुद्र में नदियां जैसे) ऋचाभाग से पता लगता है, कि नर का रहना अधिकतर पंजाब में रहा। नदी वाचक सिंधु शब्द कुरु पचाल या काशी कोसल में नहीं फैलने पाया था। दर्द भाषा में (गिलगित के पास) तो आज भी हर एक नदी को सिंधु कहा जाता है।

सकृति (1440 ई पू)–सकृति नर जैसे मंत्रकर्ता के पुत्र थे और गौरिवीति (गुरुधी गरवी) जैसे मंत्रकर्ता ऋषि तथा रन्तिदेव जैसे चक्रवर्ती राजा के पिता थे। सकृति के बारे में हम इससे अधिक नहीं जानते।

गौरिवीति साकृति (1420 ई पू)–ऋग्वेद में मंत्रकर्ता ऋषि गौरिवीति को शाक्त्य कहा गया है इसलिए भ्रम हो सकता है कि यह गौरिवीति शायद वशिष्टसुत शाक्त के पुत्र हो। लेकिन वशिष्ठ वंशज तो यह नहीं थे क्योंकि (1) इनके रचित एक सूक्त (5/29) मंत्र को वशिष्ठ के मण्डल (ऋग् 7) में न रखकर आत्रेय आंगिरस मण्डल (ऋग् 5) में रखा गया है (2) इनकी रचित दो ऋचाएं (9 108 1 2) जिस सूक्त में रखी गई हैं उनके ऋषि ऊरु आंगिरस, ऋजिश्वा भरद्वाज, ऊर्ध्वसद्मा आंगिरस कृतयशा आंगिरस–सकृति जैसे आंगिरस हैं (3) इनके दो सूक्त (10/73, 74) बृहस्पति आंगिरस के दो सूक्तों (ऋग् 10 71, 72) के बाद आते हैं (4) जैमिनीय ब्राह्मण ने[5] स (1) कृति गौरिवीति का जिक्र किया है वह गौरिवीति शाक्त्य और असित धान्य असुर की कुमारी कन्या से पैदा हुआ था। इस प्रकार गौरवीति का सम्बन्ध शाक्त वाशिष्ट से नहीं, बल्कि सकृति से स्थापित हो जाता है (5) अपने एक पद्य (ऋचा) में ऋषि ने अपने नाम के साथ वंश के पूर्वज ऋषियों

---

1 ब्रह्मपुराण 2/32 33 विष्णुपुराण 4 8 1 वायुपुराण 92 2 3 4 तथा Chronology of Ancient India (Dr S N Pradhan) P 28

2 ऋग् 6/31 32 (सुहोत्र) 6/33 34 (शुनहोत्र) [illegible] आंगिरस शौनहोत्रो भूत्वा भार्गव को अभवत् स गृत्समद [illegible] (सायण ऋग् 2/1)

3 Chronology of Ancient India pp 59 60

4 ऋग् 5/29, 9/108 (1-2) 10/73 74

5 गरयूपारीण-ब्राह्मण-वंशावली, पृष्ठ 82 में गौरिवीति

6 [illegible]

मे वैदथिन (नर,), ऋजिश्वा का जिक्र किया है।[1] (6) सकृति के पुत्र गौरिवीति के बारे मे पर्जिटर लिखते है—"The other Sankritis' name is given as गुरुवीर्य (वायु पु.), गुरुधी (मत्स्य पु.), गुरु (भागवत) and रुचिरधी (विष्णु पु.) I He is no doubt the same rishi who is named among the Angirasas as गुरुवीत and गौरवीति and the correct name is गौरिवीति" there was also a शक्ति among the Angirasas."[2] (7) साकृत्य मर्लाव पार लोगो के तीन प्रवर[3] हैं—अगिरा, सकृति और गौरवीति।

वैदिक ऋषि गौरवीति साकृत्य से ही मर्लाव की साकृत्य शाखा निकली है। गौरिवीति की बनाई और ऋग्वेद मे सुरक्षित 34 ऋचाओ मे 26 इन्द्र, 6 वसु, और 2 साम की प्रशसा मे हैं; वसु और सोम के वर्णना मे भी ऋषि ने इन्द्र[4] ही का जिक्र किया है।

रन्तिदेव सांकृति (1420 ई पू)—विदथी के बाद सुहोत्र और उनकी ज्येष्ठ सन्तानें अजमीढ, ऋक्ष और पौरवराज्य की स्वामी हुई। नर वैदिक ऋषि थे, वह कही के राजा थे या नहीं, यह पता नही लगता यही बात सकृति के लिए भी है, किन्तु रन्तिदेव को हम भारत के प्राग् महाभारतीय काल के 16 यशस्वी राजाओ[5]

1 स्तोमास त्वा गौरिवीते अवर्धन् नरन्धया वैदथिनाय पिप्रुम्।
आ त्वा ऋजिश्वा सख्याय चक्र पचन् पक्ती अपिब सोममस्य।। – ऋग् 5 29.11।

2 Ancient Indian Historical Tradition (F E Pargiter) p 249

3 सरयूपारीण ब्राह्मण वशावली (डाक्टर इन्द्रदेव प्रसाद चतुर्वेदी द्वितीय सस्करण, पृ 82) इसी वशावली मे अन्य [illegible] (पृष्ठ 9 और 34) मे तथा "सर्वार्य पक्ति ब्राह्मण वैभव" (पृष्ठ 28) मे साकृत्य के पाँच प्रवर कृष्णात्रेय, अर्चनानस [illegible] साख्यायन, सकृति लिखे हैं, जो कि साकृत्यो की त्रिप्रवरवाली सार्वजनीन परम्परा के विरुद्ध [illegible] है। कृष्णात्रेय [illegible] तीनो प्रवर-कृष्णात्रि, अर्चिमान, श्यावाश्व (कान्यकुब्जभास्कर, पृष्ठ 17) और आत्रेय आर्चनानस श्यावाश्व [illegible] पृष्ठ 27 स ब्रा वशावली पृष्ठ 9)—को साकृत्य प्रवर के साथ मालूम होता है [illegible] परम्परा मे साकृत्य के तीन प्रवरो की सख्या (कान्यकुब्जभास्कर पृष्ठ 14 साकृत [illegible] साकृत्यायन—वामन मध्यायन मौनस और पंडित दर्वादत्त शुक्ल सपादक सरस्वती [illegible] म—किलायन साख्यायान, साकृत) मे तीन सख्या तो ठीक रखी गई है, किन्तु नाम दूसरे है [illegible] एक ही है जहाँ तक गोत्र का सम्बन्ध है। गुणाख्य साख्यायन जनमेजय (900 ई पू) कालीन [illegible] और समसामयिक कहोलकौषीतकि के शिष्य थे (Chronology of Ancient India chart pp 1 46 77 और [illegible] सकृति (1440 ई पू) के बहुत पीछे हुए, वशवृक्ष मे उन्हे सकृत का पुर्वज बताना गलत है। [illegible] के तीन प्रवर [illegible] सकृति और गौरवीति ही ठीक हैं, जैसा कि

"सकृतिपूतिमाषतण्डिशम्बुशैवगवानामागिरस गौरिवीति साकृत्येति। [illegible] गौरवीति साकृत्येति।" आश्वलायनसूत्र 6 12 5 (Baptist Mission Press ? Calcutta)

'गोत्रप्रवरनिबन्धकदम्बक' (लक्ष्मीवेकटेश्वर प्रेस, बबई 1917 ई) मे साकृत्य गोत्र के तीन ही प्रवर मिलते हैं—

सकृतिप्रवरा आगिरस-गौरुवीत-साकृत्येति आगिरस साकृत्य गौरुवीतेति [illegible] गौरुवीत साकृत्येति (पृष्ठ 41) [illegible] पूतिमाष तण्डि साम्ब [illegible] आगिरस साकृत्यगौरिवीति आगिरवोत सकृति-वद् गुरुवीतवत्। (पृष्ठ 83-84, कात्यायनलौगाक्षिप्रणीत भरद्वाजगणप्रकाण्डम)

"सकृत्य मलका पौलम्तिण्डि शम्बुशैम्भवेय [illegible] आग्रायणा [illegible] पूतिमाषा इत्येत सकृतय। तेषा त्र्यार्षेय प्रवरा भवति आगिरस साकृत्य गौरुवीतेति [illegible]। गुरुवीतवद् सकृतिवदगिरोवदिति [illegible]" (पृष्ठ 55, बौधायनोक्त केवलांगिरस प्रवरकाण्ड) "आगिरस साकृत्य गौरुवीत इतीम प्रवर सकृतीना आपस्तम्ब बौधायन कात्यायन मत्स्या आहु आश्वलायनस्तु आगिरस गौरुवीत साकृत्य" (पृष्ठ 186-87)

4 पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मद। महिद्युक्षतमो मद।। यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीता स्वर्विद।

5 महाभारत, द्रोणपर्व 67 (षोडश राजकीय)। शान्तिपर्व 29 (षोडश राजकीय)।
ये सोलह राजा हैं—

(1) मरुत्त आवीक्षित	(5) भरत दौष्यन्ति	(9) मान्धाता यौवनाश्व	(13) आमूर्तरयस
(2) सुहोत्र आतिथिन	(6) राम दाशरथि	(10) ययाति नाहुष	(14) रन्तिदेव साकृति
(3) बृहद्रथ वीर (आग)	(7) भगीरथ	(11) अम्बरीष नाभागि	(15) सगर ऐक्ष्वाकु
(4) शिवि औशीनर	(8) दिलीप खट्वाग	(12) शशबिन्दु चैत्ररथ	(16) पृथु वैन्य

में पाते हैं। रन्तिदेव का राज्य चम्बल (चर्मण्वती)[1] के किनारे था। कालिदास की टीका करते मल्लिनाथ ने रन्तिदेव की राजधानी दशपुर[2] लिखी है। रन्तिदेव[3] सांकृति अपने दान और अतिथि सेवा के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। अतिथियो के भोजन के लिए उनके यहां रोज दो हजार गायों का मांस पकता था।[4] बल्कि महाभारत में दूसरे स्थानों पर[5] इक्कीस हजार, और बीस हजार एक सौ[6] गायों के मांस की बात बतलाई गयी है। मांस का खर्च इतना था कि उन गायों के ताजे चमड़े—जो महानस (रसोई) में रखे हुए थे—के पानी से एक नदी निकली, जिसे चर्मण्वती (वर्तमान चम्बल) कहा गया।[7] इतने भारी परिमाण में सामिष भोजन पकने पर भी राजा के मणिकुण्डलधारी दो सौ हजार (दो लाख ?) रसोइये अतिथियों से प्रार्थना करते थे[8]—"सूप (मांस-रस) अधिक ग्रहण करें, आज मांस कुछ कम है।" महाराज (?) रन्तिदेव सांकृति अपने भाई गौरिवीति की भांति

---

1. चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः।
   रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत्॥ — महाभारत, वनपर्व 82.54 (चित्रशाला प्रेस, पूना)
2. "तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
   पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
   कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
   पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥ — मेघदूत 1.47
   "रन्तिदेवस्य दशपुरपत्तनम्..." [illegible]
3. सांकृते रन्तिदेवस्य [illegible]
   ब्राह्मण्य [illegible] — [illegible] 29.17
4. राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज।
   अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा॥ — वन 208.8.9
5. सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमतिथिर्वसेत्।
   आलभ्यन्त तदा गावः सहस्राण्येकविंशतिः॥ — द्रोणपर्व 67.16.17
6. सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे।
   आलभ्यन्त शतं गवां सहस्राणि च विंशतिः॥ — शान्तिपर्व 29.27
7. "नदी महानसाद् यस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः।
   तस्माच्चर्मण्वती पूर्वमग्निहोत्रेऽभवत् पुरा॥ — द्रोण 67.5
   "महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् सुसृजे यतः।
   ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी॥ — शान्तिपर्व 29.23
   "अनसूयर्मण्वती राजन् [illegible] — अनुशासन 12.66.43
   "आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
   सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद् वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
   व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
   स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्॥45॥ — मेघदूत 1.45
   "सुरभितनयानां गवामालम्भेन [illegible] रन्तिदेवस्य दशपुरपतेर्महाराजस्य कीर्तिम् [illegible] रक्तनिष्यन्दाच्चर्मराशेः काचिन्नदी [illegible]
8. "समानं ददतो ह्यस्य रन्तिदेवस्य [illegible]
   अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम॥ — वनपर्व 208.9.10
   "सांकृतिं रन्तिदेवं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
   यस्य द्विशतसाहस्रा आसन् सूदा महात्मनः॥1॥
   गृहानभ्यागतान् विप्रानतिथीन् परिवेषकाः।
   पक्वापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम्॥2॥
   न्यायेनाधिगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत॥" — द्रोणपर्व 67
   "तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः।17
   सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा॥ — द्रोणपर्व 67.17 और शान्तिपर्व 29.28

चाहे मंत्रकर्ता न रहे हों, किन्तु वे वेदाध्यायी जरूर थे, और शत्रुओं को उन्होंने अपने वश मे किया था।[1] उनकी समृद्धि अतिमानुषी थी, और उनके दान मे चाँदी नहीं सोने की मुहरें (सौवर्ण निष्क) दी जाती थीं। रन्तिदेव सांकृति ने इन्द्र से वर लिया था–हमारे पास खूब अन्न हो, अतिथि हमारे पास आवें, हमारी श्रद्धा कम न होवे, और हमं किसी के सामने हाथ न पसारना पडे।[2]

सांकृत्य पाराशरी आचार्य (700 ई. पू.)–जनमेजय पारिक्षित (900 ई. पू. ?) के समकालीन वैशम्पायन के शिष्य याज्ञवल्क्य से पहिले किसी निवृत्तिप्रधान धार्मिक पाराशरी सम्प्रदाय के एक आचार्य साकृत्य का जिक्र वृहदारण्यक उपनिषद् (शतपथ ब्राह्मण) में आता है।[3]

सांकृति पार्थरश्म (700 ई. पू.)–जैमिनीय शाखा के आर्षेय ब्राह्मण में[4] इस वैदिक आचार्य का पता लगता है। ये दोनो ही आचार्य याज्ञवल्क्य (680 ई. पू.) से पूर्व हुए थे, और दोनों ही उपनिषद्-ज्ञान के प्रचारक थे।[5]

(ख) बौद्धकाल

कृश सांकृत्य (600 ई. पू.)–बुद्धकाल और उमसे पूर्व भारत के सभी महान विचारक उपनिषद् और वेद के तत्त्वज्ञान के ही प्रचारक नहीं थे, बल्कि जैसे राजतंत्र के साथ-साथ उस वक्त भारत म कितने ही अराजक गणतंत्र भी थे; वैसे ही कितने ही अध्यात्मज्ञान से पराङ्मुख अर्द्ध भौतिकवादी या पूर्ण भौतिकवादी आचार्य भी हुए थ गौतम बुद्ध पहिली श्रेणी के विचारक थे और कृश साकृत्य दूसरी तरह के। कृश साकृत्य का भौतिकवाद आजकल के वैज्ञानिक भौतिकवाद-सा नही था, और विज्ञानयुग से सहस्राब्दियों पूर्व वह हो भी कैसे सकता था; तो भी कृश साकृत्य आजीवक सम्प्रदाय के प्रधान तीन आचार्यों[6] –नन्द वात्स्य, कृश साकृत्य और मक्खलि गोसाल–मे मे एक थे; इन्हें आजीवकों का 'शास्ता' (उपदेशक) कहा गया है; और यह गौतम बुद्ध के समकालीन मक्खलि गोसाल से पहिले हुए थे, इसलिए इनका समय ईसा-पूर्व 600 के करीब होगा। ये आजीवक आचार्य अधिकतर काशी-कोसल, वज्जी-मगध मे घूमते थे, और यही उनकी प्रधानता थी, इसलिए बहुत सम्भव है कि प्राचीन काशी-कोसल ब्राह्मणों का स्थान लेनेवाले सरयूपारीण ब्राह्मण तथा तदन्तर्गत साकृत्यवंश मे ही यह कृश साकृत्य पैदा हुए थे।

1 "वेदानधीत्य धर्मेण यश्चक्रे द्विषतो वशे ।। 4
ब्राह्मणेभ्यो ददन्निष्कान् सौवर्णान् स प्रभावन
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति सम्म प्रभाषत ।। 6 ।।
तत्रास्य गाथा गायन्ति ये पुराणविदो जना ।
रन्तिदेवस्य तां दृष्ट्वा समृद्धिमतिमानुषीम् ।। 14 ।।
नैतादृशं दृष्टपूर्वं कुबेरसदनेष्वपि ।
धनं च पूर्यमाणं न कि पुनर्मानुषेष्विति ।। 15 ।।
रन्तिदेवस्य यत् किंचित् सौवर्णमभवत् तदा ।। 18 ।
तत् सर्वं वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत ।" -द्रोणपर्व 67
"नासीत् किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमत ।" शान्तिपर्व 29/26
2 "रन्तिदेव च साकृत्य मुन गुजय शुश्रुम
सम्यगाराध्य य शक्राद् वर लेभे महातपा ।। 20 ।।
अन्नं च नो बहु भवेद् अतिथींश्च लभेमहि ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् मा याचिष्म कञ्चन ।। 21 ।।" –शान्तिपर्व 29
3 शतपथ, 14 5/5/20, 14/7 3/26, बृहदारण्यक (माध्यन्दिनशाखीय) 2/5/20, 4/5/26
4 वैदिकपदानुक्रमकोश (विश्वबन्धुशास्त्री) में उद्धृत आर्षेय ब्राह्मण 2/20/3
5 निम्न श्लोक में भीष्म को साकृति-प्रवर कहा गया है, किन्तु हमें मालूम है, वह सकृति के चचा सुहोत्र के पुत्र अजमीढ की परम्परा में थे- "वैयाघ्रपद्यगोत्राय साकृतिप्रवराय च। अपुत्राय ददाम्येतम् सलिलं भीष्मवर्मणे।" (तिथितत्त्व, बंगला-विश्वकोष मे उद्धृत)
6 मज्झिमनिकाय 2/3/6 (पृष्ठ 304)

सांकृत्य श्रामणेर (500 ई. पू.)–श्रावस्ती में गौतम बुद्ध के चमत्कारी शिष्यों में श्रामणेर सांकृत्य का नाम आता है।[1] बहुत छोटी ही अवस्था में बुद्ध के प्रतिपादित दर्शन का इन्हें मर्मज्ञ समझा जाता था। श्रावस्ती (कोसल, आधुनिक सहेट-महेट, जिला गोंडा) के होने के कारण आज इनका वंश सरयूपारीण-सांकृत्यों के अन्तर्गत है, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं।

सांकृत्य अर्थशास्त्री (500 ई. पू. ?)–ऋग्वेदी आश्वलायन गृह्यसूत्र में एक 'शूलगव' प्रकरण है; जिसमें शूल (लोहे की तीली) पर भुने गव्य मांस के धार्मिक कृत्य की श्रौत-प्रक्रिया लिखी हुई है। उस वक्त गाय के चमड़े को अकसर लोग फेंक देते थे, और इस प्रकार वह बेकार जाता था। इसके विरुद्ध आचार्य शावव्य ने कलम उठाई, और कहा–उस चमड़े से जूता आदि उपभोग की चीज बनानी चाहिए।[2] शावव्य सांकृत्य गोत्र की एक शाखा है।

सांकृत्य वैयाकरण (400 ई. पू.)–तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[3] में संधि नियमों के सम्बन्ध में किसी सांकृत्य आचार्य के मत उद्धृत हैं, इनके समय और काल के बारे में हम निश्चित कुछ नहीं कह सकते। यद्यपि सरयूपारीण-सांकृत्य शुक्लयजुर्माध्यंदिनीय शाखा से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु संधि-नियमों में कृष्ण-शुक्ल का क्या भेद हो सकता है ?

(ग) मध्यकाल

सांकृत्यगोत्री (1093 ई.)–कृश सांकृत्य और श्रामणेर सांकृत्य के बाद एक प्रकार से काशी-कोसल या आधुनिक सरयूपारियों के प्रदेश में हमें करीब डेढ़ सहस्र वर्ष तक किसी सांकृत्य का पता नहीं लगता। प्रथम गहड़वार-नरेश चन्द्रदेव या चन्द्रादित्यदेव ने अपनी भुजा की प्रभुता से कान्यकुब्ज के विशाल राज्य को अर्जित किया।[4] पूर्वीय होने के कारण वे कन्नौज से कम काशी का प्रेम नहीं रखते थे, इसीलिए गहड़वार भूपाल कान्यकुब्जेश्वर की भाँति 'काशीश'[5] 'काशीराआ' भी कहे जाते थे। काशी को विद्या केन्द्र बनानेवाले चन्द्रदेव ने चन्द्रावतीवाले ताम्रपत्र में 'पञ्चशत' ब्राह्मणों को कटेहली पतला दान दिया, जिनमें 22 सांकृत्यगोत्री हैं–

1. गजपाल	(14)	9. गाग	(42)	17. [illegible]ट	(279)
2. माहव	(15)	10. दागे	(43)	18. नारायण	(281)
3. केशव	(17)	11. महेश्वर	(44)	19. ब्रह्मर्षि	(300)
4. आल्हण	(22)	12. ज्ञाने	(64)	20. देवशर्मा	(328)
5. अमृतधर	(23)	13. मलख्नु	(82)	21. महेश्वर	(364)
6. विठु	(37)	14. कड्आइच्च	(83)	22. छीटे	(384)
7. साहु	(40)	15. गाल्हे	(166)		
8. धरणीधर	(41)	16. तीती	(278)		

---

1 बुद्धचर्या (नामसूची)।

2 "भोगं चर्मणा कुर्वीतेति शावव्य।" (टीका में–) शावव्यस्त्वाचार्य चर्म्मणा भोगमुपानदादि कुर्वीतेति मन्यते। आश्व. 4/9/24

3 सांकृत्यस्योकारम् (तै. प्रा. 8/21)। एष्टरराय एष्टोराय (तै. प्रा. 1/2/11) वकारस्तु सांकृतस्य (तै. प्रा. 10/21)। वाय इन्द्र वायविष्टये (तै. संहिता 2/2/12)। अनाकारा ह्रस्व सांकृतस्य (तै. प्रा. 16/16)। सर्पीषि=सर्विषि (तै. स. 5/5/1)

4 "परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर निजभुजोपार्जितश्रीकान्यकुब्जाधिपत्य श्रीमच्चन्द्रादित्यदेव", Chandravati Plates of Chandradeve, Epi. Ind. vol. XIV, pp. 192-209

5 'काशीराआ' प्राकृत-पैंगल, Asiatic Soci. of Bengal, p. 180, 'काशीश जयचन्द्र' Indian Historical quarterly 1929, pp. 14-30

यह ताम्रपत्र संवत 1150 (1093 ई.) आश्विन बदी 15 रविवार को लिखा गया था। उस समय तक चतुर्वेदी, त्रिपाठी, द्विवेदी, मिश्र—यही चार पदवियाँ प्रचलित हुई मालूम होती हैं। यह पदवियाँ विशेष शिक्षित कुछ थोडे-से व्यक्तियों के नामों के साथ लगी है, जिससे मालूम होता है, तब तक उनका अधिक प्रचार नहीं हुआ था। ऊपर आये 22 साकृत्यगोत्रियों मे किसी के साथ ऐसी पदवी नही लगी है; आल्हण, विठु, गाग, गान सलखू, कडुआइच, गाल्हे, तीती, नांटे, छोटे जैसे सस्कृत प्राकृत दोनों से अछूते नाम बतला रहे हैं, कि उनके परिवार में विद्या—जो उस वक्त सस्कृत विद्या थी—का बहुत अभाव था।

चक्रपाणि[1] (1211 ई.)—यह मलॉव साकृत्य-वंश के बडे प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनके बारे में बहुत सी चमत्कारिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं—इनकी धोती आकाश मे सूखती थी, आदि। इनके बारे में ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम उपलब्ध है। इनके विषय मे आगे प्रसंगवश कुछ जिक्र किया जायेगा।

(घ) आधुनिक काल

साकृत्य-गोत्री ब्राह्मण उत्तरीय भारत के प्रायः सभी प्रधान विभागों—सरयूपारीण, कान्यकुब्ज, सारस्वत आदि में मिलते हैं। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के उत्तर भारत की राजधानी बनने के समय (ई. छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध) से पहिले कान्यकुब्ज ब्राह्मण, कान्यकुब्ज (कनौजिया) अहीर, कान्यकुब्ज कांदू, आदि भेद नही हो सकते। ये भेद मौखरियों के नायकत्व में कान्यकुब्ज-साम्राज्य की स्थापना के बाद हुए होंगे। अपने पूर्वीय सीमान्त पर—छपरा, आरा मे—सरयूपारीण भी अपने को कनौजिया कहते हैं। त्रिपाठी, पाठक पदवियाँ भी कनौजिया या सरवरिया ब्राह्मणों में कान्यकुब्ज-काल (छठी सदी के उत्तरार्द्ध से 12वीं सदी के अन्त) में प्रचलित हुईं। बुद्ध के समय (ईसा-पूर्व पाँचवी-छठी सदी में) ब्राह्मण अपने-अपने जनपदों के कारण कोसलक, मागधक, आदि नामों से विख्यात थे। उस समय ब्राह्मणों के भीतर सहभोज, अन्तर्विवाह का कोई प्रश्न ही न था, क्योंकि यह क्षत्रियों तक मे जायज समझा जाता था।[2] कान्यकुब्ज काल में कोसल, काशी, भर्ग (मिर्जापुर जिला), कारूष (शाहाबाद जिला) और मल्ल-शाक्य गणतन्त्रों (जो कि कोसल की प्रधानता के अन्तर्भुक्त थे) के ब्राह्मण ही पीछे होकर पीछे सरयूपारीण ब्राह्मणों के रूप में हमारे सामने आये। आज के सरयूपारीणों के प्रायः सारे ही ... गाँव सरयू के उत्तर और उसमें भी प्राय: सभी गोरखपुर जिले में हैं। उस समय सरयू पार ... ब्राह्मण नही रह गये थे, यह मानना मुश्किल है। मालूम होता है, गहड़वार काल में जब सरयूपारीणों की प्रधानता और पंक्तिबद्धता स्थापित हो गई, तभी से दूसरी जगह के ब्राह्मणों को भी उनके भीतर गोत्र के अनुसार स्थान लेना पड़ा।

सरयूपारीणों में साकृत्यगोत्रियों का मूलस्थान मलॉव है, कान्यकुब्जों में साकृत्यों के मूल ग्राम हैं, कौशिकपुर और पुरैनियाँ—पीछे जाजामऊ (रूपनवंशज तथा घनश्यामवंशज शुक्ल, घनश्यामवंशज मिश्र), गोरा (रूपनवंशज शुक्ल), कौशिकपुर (धनावंशज मिश्र और अवस्थी), बिजौली (धनावंशज दूबे), चचेंडी (घनश्यामवंशज मिश्र), ... (घनश्यामवंशज मिश्र)—कान्यकुब्जों की सर्वमान्य परम्परा के अनुसार ये लोग कान्यकुब्जों में सरयूपारीण या शाकद्वीपीय ब्राह्मणों में पीछे आकर शामिल हुए।[3] शाकद्वीपीय में उनका आना सम्भव नहीं मालूम होता, क्योंकि

1 चौदहवीं सदी के पहिले के इस नाम के ग्रन्थकार के नाम से निम्न ग्रंथ मिलते हैं —

[Catalogus Catalogorum (Th. Aufrecht)]

चक्रपाणि-पद्यावली। चक्रपाणि पंडित-कालकौमुदी-चम्पू। चक्रपाणि-ज्योतिर्भास्कर। चक्रपाणि-विजयकल्पलता।

2 दीघनिकाय, अम्बट्ठसुत्त (बुद्धचर्या, पृ. 215, 216)

3 "साकृत (? संकृति) जी के पुत्र सौवास्य (?) जी हुए और इस वंश में अनेक पीढ़ी बाद एक पृथ्वीधर नाम के पुरुष प्रसिद्ध हुए। इनको किसी-किसी ने सरवरिया ब्राह्मण तथा किसी-किसी ने शाकलद्वीपी ब्राह्मण बतलाया है—और यह बात प्रायः सर्वमान्य है कि यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण न थे और विवाह सम्बन्ध द्वारा कान्यकुब्ज जाति के अन्तर्गत हुए और यह वंश, विद्या और सत्कर्मों द्वारा जाति में प्रतिष्ठित हुए (।) पृथ्वीधर का निवास स्थान कुरहर ग्राम में था। इनको कौशिकपुर के राजा ने बुलाया और अवस्य यज्ञ किया तब पृथ्वीधरजी कौशिकपुर के अवस्थी प्रसिद्ध हुए। पृथ्वीधर के दो पुत्र महीधर, धरणीधर जिनसे ...

युक्तप्रान्त और बिहार मे यह गोत्र उनमे पाया नही जाता। साकृत्यों का आकर कान्यकुब्जों के सर्वश्रेष्ठ षट्कुलो में सम्मिलित होना बतलाता है, वे मलाव वश जैसे किसी प्रतिष्ठित कुल से सम्भवत. मलविध्वंस (पन्द्रहवी सदी) के समय आये हो।

-> महीधर कौशिकपुर के शुक्ल तथा धरणीधर (त्रिगुणायत) अवस्थी कौशिकपुर के कहाए। महीधर के पुत्र नाभूजी हुए। पृथ्वीधर ने अपने पौत्र को मनीराम वाजपेयी से शास्त्र पढ़वाया। तब मनीराम वाजपेयी ने इनको त्रिगुणायत की पदवी दी और पृथ्वीधर अवस्थी त्रिगुणायत कौशिकीवाले कहलाए। नाभूजी विद्या प्राप्त कर व्याकरण व न्यायशास्त्र मे बड़े पारगत हुए, और वैसे ही सुन्दर गौरवर्ण व सुशील भी थे, और उन पर मनीरामजी का बड़ा प्रेम था। इसी भांति मनीरामजी की कन्या भुवनेश्वरी नाम्नी भी परमसुन्दरी व पंडिता थी और उसके योग्य वर खोजने मे मनीरामजी नितान्त असमर्थ हुए। उनकी स्त्री का अनुरोध था कि भावी जामातृ नाभू की भाँति सर्वगुणालंकृत होना चाहिए। निदान मनीरामजी ने अपनी कन्या का विवाह नाभूजी के साथ कर दिया और इनको शुक्ल उपाधि देकर पूर्णिमाग्राम मे [illegible] बसा दिया। इस भांति नाभू की सन्तान शुक्ल नभल पुरैनिया प्रसिद्ध हुए। किसी किसी का मत है कि मनीरामजी की कन्या का नाम पूर्णिमा था और इस भांति नाभू और पूर्णिमा की सन्तान नभल पुरैनिया विख्यात है।

कान्यकुब्जभास्कर [illegible] त्रिपाठी कृत, पृ 78 ०

पंडित देवीदत्त शुक्ल द्वारा प्राप्त साकृत्यों के वंशवृक्ष मे नाभू को [illegible] पृथ्वीधर का पुत्र लिखा गया है उसके अनुसार पुराना भाग इस प्रकार है

1 पृथ्वीधर (अवस्थी कौशिकपुर)

2 [illegible] महीधर

3 नाभू शुक्ल (पुरैनिया)

4 बुजुर्गपति (गोपालपुर) — पुर्णपति (बहारपुर)

आनन्दघन शु (अकबरपुर) — कृष्ण शु (नभल) — [illegible]पति शु (नभल) — [illegible] [illegible] — रत्नमन — मेरा शु (गहरी)

6 रामचन्द्र शु (गहरी) — शालिग्राम (परवल 20) — गंगाराम (रामनगर) — माधव[illegible] ([illegible]) — [illegible] शु ([illegible]) — [illegible] शु ([illegible]) — हरिब्रह्म शु (20 विस्वा) — गणपति शु (20 विस्वा) — ईशदारी (भगरानी)

[illegible] शु ([illegible]) — [illegible] शु ([illegible]पुर) — जानकी शु (सम्बरपुर) — माधव शु (सम्बरपुर) — दरियाव शु (अवावा)

आज से एक पीढ़ी पहिले तक पृथ्वीधर को पन्द्रह से सत्रह पीढ़ियाँ होती है (शायद 1[illegible] ई के पूर्व शायद उजड़े मलाँव से भागे हो)

1 पृथ्वीधर (कौशिकपुर)

2 नाभू (पुरैनिया)

3 पूर्णपति (बहारपुर)

4 रत्नमन

5 हरिब्रह्म (अगाह शुक्ल) — गणपति शुक्ल

6 जयनारायण — [illegible]

7 रघुनन्दन — शीतलादास (पतुहा)

राधेलाल — केदलकृष्ण

चक्रपाणि-वंशज राजेन्द्रदत्त की 12 पीढ़ियों का हमें नाम-भर मालूम है। राजमणिदत्त[1] के दो पुत्रों मे अम्बिकादत्त तो पहाड़ी (जिला इलाहाबाद) मे रहे।

राजेन्द्रदत्त के समय मलाँव एक समृद्ध गाँव था। वह सम्राट् अकबर के शान्त और न्यायपूर्ण शासन का जमाना था। मलाँव के पांडे लोगों का रोबदाब मलाँव से बाहर आसपास के प्रदेश तक भी फैला हुआ था, बहुत सम्भव है मलाँव के अतिरिक्त कुछ और गाँव भी उनके अधीन रहे हों। विदथी, संकृति, रन्तिदेव का "क्षत्रोपेत द्विजातित्त्व" अब भी वहाँ से लुप्त नहीं हुआ था। मलाँव के एक कुएँ के बारे में ख्याति थी, कि उसका पानी पीनेवाली माता बंध्यात्व से ही मुक्त नहीं हो जाती, बल्कि वह मल्ल (मल्लग्राम=मलगाँव=मल्लाँव) पुत्र प्रसव करती है। राप्ती की दाहिनी ओर गोरखपुर से नातिदूर डोमिनगढ़[2] गाँव अब भी मौजूद है। उस समय वह एक डोमकटार राजपूत राजा की राजधानी थी। तत्कालीन राजा की रानी को कोई सन्तान न थी। रानी बनारस जा रही थी। बनारस का पथ अब भी गोरखपुर-बड़हलगंज दुहरी की पक्की सड़क के रूप में मौजूद है। शाम को रानी का डेरा मलाँव (उक्त पक्की सड़क से एक मील परे) मे पड़ा। मलाँव के वीर-प्रसवक कुएँ का पता रानी को लगा।[3] रानी ने पानी लाने के लिए आदमी भेजा। पानी पाना तो दूर रहा, उलटा रानी को बहुत

→ 8		देवदत्त		
9	काशीप्रसाद	बेनीप्रसाद	रामदीन	ठाकुरप्रसाद
10	छविनाथ	यशोगोपाल	गोविन्दप्रसाद	अयोध्याप्रसाद
11	हरिसेवक	अनन्तराम	जगनदेव	शिवप्रसाद (प्रयाग)
12	ठाकुरप्रसाद	गोकुलनाथ	रामगोपाल	देवकरन
13	छोटू	सूर्यप्रसाद	चन्द्रमौलि	कमलाकान्त
14	गणेशीप्रसाद	शिवसहाय	बृजभूषण	विद्याकान्त
15	गौरीशंकर	शिवसेवक	रामनारायण	सुन्दरीकान्त
16	केदारनाथ	भगवतीप्रसाद	सूर्यप्रसाद	
17		श्रीधर		

औसत 16 पीढ़ी लेने पर श्रीधर का समय होता है 17x26=442 वर्ष सन् 1947 ईसवी अर्थात् अनिरुद्ध 1575 में परित

दूसरे ब्राह्मणों में भी निम्न प्रकार से साकृत्य गोत्र पाया जाता है। (जाति भास्कर, प. ज्वालाप्रसाद मिश्र, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् 1983, पृष्ठ 76, 89, 95, 98, 109)–

पृष्ठ 76	पेडलवाल	गौड़
	खलंगिया	तिवाड़ी
	सिखरिया	पड्या
	हेरगदा	पड्या
	धामणोदरिया	पड्या
	नवसोग	पड्या
	बलायता	पड्या
	वणोयला	पड्या
	वेटला	पड्या
	मेहलाण	पड्या
	नलतड़ा कठगोला	पड्या

पृष्ठ 89 (महाराष्ट्र) सायधानी–3 प्रकार
पृष्ठ 95 (औदीच्य-सहस्र गुर्जर गोल) कृष्ण जोशी 3 प्रकार
पृष्ठ 109 (कड़ोल ब्राह्मण, गुजरात में)
साकृत पेडलवालों में साकृत्य गोत्र के साथ बहुतों की पदवी भी पड्या है, जो कि पांडे से मिलती जुलती है।

1 पंडित रामनाथ पांडे आचार्य, प्योरा, जिला बस्ती (रघुनाथ प्रिंटिंग प्रेस, बलरामपुर) द्वारा सम्पादित वंशवृक्ष में नागदत्त को चन्द्रमौलि का पुत्र लिखा गया है, अम्बिकादत्त को गुदरनाथ का पुत्र। हमने यहाँ नाउर-देउर (श्री ज्वालाप्रसाद पांडे) के वंशवृक्ष को मूलस्थानीय होने से प्रमाण माना है।

2. "Tharu...Mansen was overthrown in the tenth century by the Domkatars. These people had their chief stronghold at Domingarh near Gorakhpur." (Gorakhpur Gazetteer, 1909 ed. p. 259)

3. दूसरी जनश्रुति के अनुसार राजा ने पहिले उस कुएँ का जल माँगा, किन्तु बड़े तिरस्कार के साथ इनकार कर दिया गया।

अपमानित होकर मलाँव से जाना पड़ा। रानी बनारस से डोमिनगढ़ लौटी, और उन्होंने एक की जगह नौ लगाकर अपने अपमान की दुःखभरी गाथा राजा को कह सुनाई। राजा क्रोध से जल उठे। उन्होंने पानी लाने के लिए आदमी भेजे, न देने पर जबर्दस्ती लाने के लिए सैनिक भेजे, लेकिन मलाँव की तलवार में अभी जंग नहीं लगा था। राजा के सैनिकों को करारी हार खानी पड़ी। राजा ने कई बार कोशिश की किन्तु उन्हें सफलता न हुई।

राजा को पता लगा कि भादों शुक्ला (अनन्त) चतुर्दशी को मलाँव के पांडे लोगों के यहाँ शस्त्रपूजा होती है, उस दिन वे लोग हथियार नहीं धारण करते, और व्रत रखते हैं। राजा ने इसके लिए पूरी तैयारी कर ली। आज की तरह उस समय भी प्राचीन अचिरवती (राप्ती) मलाँव के पास से गुज़रती थी।[1] डोमिनगढ़ के सैनिक नावों से आकर पहिले ही से कुछ दूर पर छिप बैठे थे। अनन्तव्रत रखे मलाँव के पांडे तरुण वृद्ध सारे अचिरवती गंगा पर स्नान करने गये। उनके पास हथियार का नाम न था, न उन्हें उस दिन शत्रु से कोई भय था। राजा के सैनिक एक के-एक उन निहत्थों के ऊपर टूट पड़े। उनमें से एक ने भी प्राण बचाने के लिए पीठ न दिखाई, और वहीं एक-एक करके कट गये। राप्ती को साकृत्यों के खून से लाल कर सैनिक गाँव में पहुँचे, सभी बाल वृद्ध तरुण पुरुषों को तलवार के घाट उतारा[2] और मलाँव के कुओं को उनकी लाशों से पाट दिया। तभी से मलाँव के साकृत्यों के लिए अनन्तचतुर्दशी पर्व का दिन न रहा। लोग आज भी न अनन्तव्रत करते हैं, न 'अनन्त' बाँधते हैं। (मैं कलकत्ता की पहिली यात्रा में भादों का अनन्त पहिन आया था, जिसे घर पहुँचते ही उतारना पड़ा।)

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। डोमिनगढ़ मलाँव से छः सात कोस से ज्यादा नहीं है, और उस समय डोमिनगढ़ राज मलाँववालों का पड़ोसी था। सम्भवतः इस संहार के पीछे अधिकार की छीना झपटी काम कर रही थी।

अहिरुद्र पांडे (1575 ई.)–दूर के अपने (भरद्वाज) वंश के परीक्षित् की भाँति अहिरुद्र पांडे माता के गर्भ में थे, जब कि मलाँव का भीषण नर संहार हुआ। गजेन्द्रदत्त की पत्नी उस समय अपने पीहर प्रतापगढ़ जिले में थीं। दूसरी परम्परा बतलाती है कि उन्होंने हत्यारों के हाथ से पांडे वंश के अंकुर को बचाने के लिए एक धोबी के घर में शरण ली, और इसीलिए अहिरुद्र की सन्तान धोबियापांडे कहलाई। इस बात को बदनामी के डर से छिपाया जाता है। किन्तु यह भ्रम सरयूपारीणों के धोबियापांडे विभाग (पंक्ति) के नाम के कारण मालूम होता है, जिसमें कि मलाँव पांडे के अतिरिक्त सरिहन्ड के तिवारी, बृहद्ग्राम (सोहगौरा) के दूबे भी शामिल हैं।[3]

प्रतापगढ़ जिले में अपने नाना के घर अहिरुद्र का जन्म हुआ। वे वहीं पले और बढ़े। एक बार डोमिनगढ़ के राजा की रानी (मालूम नहीं वही या दूसरी) आसन्नप्रसवा थी। कई दिनों से मर्मान्तक पीड़ा से पीड़ित थी, किन्तु प्रसव नहीं हो रहा था। ज्योतिषियों ने बतलाया–बिना मलाँव वंश के किसी व्यक्ति को प्रसन्न किये क्षम

---

1 वर्तमान मलाँव के तीन ध्वंसावशेषों में से दो राप्ती के कारण ही नष्ट हुए मालूम होते हैं।

2 डोमिनगढ़ के राजा और कुएँ के पानी की कथा कोसलराज प्रसेनजित के प्रधान सेनापति बन्धुलमल्ल–जो स्वयं कुशीनगर का मल्ल क्षत्रिय था–के अपनी स्त्री के दोहद को पूरा करने के लिए वैशाली के गणतंत्री लिच्छवियों की अभिषेक-पुष्करिणी में जबर्दस्ती नहलाने की कथा से सादृश्य रखती है (धम्मपद अट्ठकथा 4.3 देखो मेरी बुद्धचर्या पृष्ठ 473-75) और मलाँव वंश का यह हत्याकांड कोसलराज विडूडभ द्वारा शाक्यों के संहार से मिलता मालूम होता है (देखो वही पृष्ठ 476)।

3 सरयूपारीण ब्राह्मणों में सोलह या 3+13 कुल सबसे अधिक प्रतिष्ठित माने जाते हैं। वे निम्न प्रकार पाँच पंक्तियों में बाँटे गये हैं–

"तिवारी, त्रिपाठी और सिरजाी। सायन पड़री गरगप्रकाशी॥
इन चारो के अग बनाय। धोबिया मिश्र पागथ सराय॥
सत्य नाम में करें सयोग। पक्ति कहें पांडे गया लोग॥"

–'सरवार्य-पंक्ति-ब्राह्मण वैभव' खंड 1, पृष्ठ ८ (पं. नन्दकुमार शर्मा, गंगा प्रिंटिंग वर्क्स प्रेस गोरखपुर सन् 1928 ई.)

आगे के पदों में इन पंक्तियों के इस प्रकार अन्तर्विभाग किये गये हैं–

(1) तिवारी गौ-ग-शा। (2) गाग मामा नारद सिरजाा (3) तीन वकारे चमरू।

(4) सायन पड़ी प-प-गा॥ (5) पाँच पवन गाँड़ा। –(वही पृष्ठ ८)

नही होगा, यह ब्रह्मदोष है। बहुत परिश्रमपूर्वक खोजने के बाद अहिरुद्र पाडे का पता लगा। राजा ने बड़ी प्रार्थना और सत्कारपूर्वक उन्हे बुलाया, भोजन कराया और शापानुग्रह के बदले मनौंव के साथ नाउर-देउर तथा डोमवार गाँवो का प्रदान किया।

अहिरुद्र पाडे अपने पूर्वजो के गाँव मे पहुँचे। मकान ढह गये थे। उन पर जगल जम आया था। [illegible]

→ विवरण इस प्रकार है–

पट्टी	मूलग्राम	पदवी	गोत्र
1 तिम्रायई	(1) भड़ी	*शुक्ल	गर्ग (गार्ग्य)
	(2) बड़गी	*मिश्र	गौतम
	(3) गोरखपुर (गारखी)	*त्रिपाठी (तिवारी)	शाण्डिल्य (श्रीमुख)
2 निराशा	(4) सोनौरा	पाठक	भारद्वाज
	(5) खोरी	उपाध्याय	भारद्वाज
	(6) त्रिफला	*पाडेय (पाडे)	काश्यप
3 चरम (चमक)	(7) नवपुरा	चतुर्वेदी (चौबे)	काश्यप
	(8) नागचौरी	*पाडेय (पाडे)	[illegible]
	(9) इटार	*पाडेय (पाडे)	सावर्ण्य
4 सायन	(10) परवा	द्विवेदी (दूबे)	काश्यप
	(11) पयासा	मिश्र	पराशर
	(12) ममदार	द्विवेदी (दूबे)	[illegible]
5 योतिया	(13) मलाव	*पाडेय (पाडे)	[illegible]
	(14) मणिकठ	त्रिपाठी (तिवारी)	शाण्डिल्य
	(15) वृन्दग्राम (साहगौरा)	*द्विवेदी (दूबे)	भारद्वाज
नामि	(16) पिडौरा	शुक्ल [illegible]	कृष्णात्रेय

* चिन्हांकित वर्गों मे अभी 'पक्तिवाले कुल हैं' इन सोलह कुलों (गिनम [illegible]) [illegible] पराशर, सकृति और कृष्णात्रि दस गोत्र तथा शुक्ल मिश्र तिवारी पाठक उपाध्याय पाडे चौबे और दूबे आठ [illegible] हैं) मे से दस गोत्रो का प्रधान तथा कौडागम के पाडे (कौडिन्य) एव [illegible] को लेकर बारह गोत्रों को महाराज जयचन्द्र ने पक्ति मे सम्मिलित किया था (वही पृ 217 [illegible]) मे नही गया था इसलिए उन्हे [illegible] के बाद भी लोग पक्ति [illegible] तिवारी (शाण्डिल्य) [illegible] मिश्र [illegible] मे पक्ति मे मिलाये गये इनमे से [illegible] मिश्र [illegible]।

पिंडी के तिवारियो के पक्ति मे लिये जाने के बारे मे [illegible] थे। वे वहाँ भीषण रोग से ग्रस्त हो गये। [illegible] पक्ति ब्राह्मण [illegible] कृतज्ञता प्रकट करते हुए [illegible] (वही पृ 196, 197)

गर्ग मिश्र के [illegible] और पक्तिबद्ध बनने के बारे मे कथा है–मनौव [illegible] आचार्य माधव [illegible] गहड़वार कृष्णदेव (?) के गुरु थे [illegible] गर्ग ब्राह्मण था [illegible] मिश्र [illegible] कर्मचारी थे। कृष्णदेव [illegible] पराजित करके अलाउद्दीन खिल्जी [illegible] ने [illegible] पर अधिकार [illegible] मिश्र गोरखपुर के [illegible] (जिला के प्रधान अधिकारी) बनाये गये। आचार्य माधव की [illegible] मिश्र [illegible] मे ले लिये गये। माधव की प्रेरणा से सब ब्राह्मणो ने [illegible] मिश्र के साथ [illegible] किया किन्तु [illegible] के [illegible] तिवारियों ने इनकार कर दिया [illegible] पर कहावत मशहूर हुई- 'बड़ बड़ और [illegible] जब भार्गव [illegible]' पीछे से पक्ति मे आये कुलों के बारे मे कहावत है–

'तीन गाँति भा पाडे तीन, [illegible] कैली पयासी तीन्ह।
तीन पाँति गगापारीण। [illegible] मवैयाँ तिवनी कीन्ह।'' (वही, पृ 185 188)

कोई आदमी न था, जो बतलाता कि उनके वंश ग्राम की सीमा क्या थी। वहाँ [illegible] उन्होंने प्रार्थना की—यदि मेरे कुल का कोई देवता हो तो वह सीमा निर्धारित करने में मेरी मदद करे। [illegible] कहती है—उसी वक्त आजकल सुअरहा के नाम से प्रसिद्ध स्थान से [illegible] सुअर निकला और [illegible] घूमकर उस सीमा को प्रकट कर दिया। यही सुअर मनाव वंश का [illegible] (मनसम्यार) है।

सबको मिलाने पर निम्न कुल भी [illegible]

मूलग्राम	[illegible]	[illegible]
(17) कोढीगाम	[illegible]	[illegible]
(18) पाडेसार	[illegible]	[illegible]
(19) गिरुनजारी	[illegible]	[illegible]
(20) [illegible] ([illegible])	[illegible]	[illegible]
(21) कौली	[illegible]	[illegible]
(22) [illegible]	[illegible]	[illegible]
(23) [illegible]	[illegible]	[illegible]
(24) [illegible]	[illegible]	[illegible]
(25) [illegible]	[illegible]	[illegible]
(26) [illegible]	[illegible]	[illegible]

[illegible] 26 [illegible]

[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]
	[illegible]	[illegible]
	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]

[illegible] I. Ind. [illegible] XIV [illegible]

[illegible] 16 [illegible]

1 श्रावण शुक्ला [illegible] ब्राह्मण भोजन [illegible] यज्ञोपवीत और ब्याह के लिए [illegible] बलि मिलकर और विधम [illegible] परिवार भी इस बलि का [illegible] वह उसकी [illegible] सुपारी या [illegible] ने [illegible]

[illegible] और हनुमानजी का [illegible] [illegible] →

अहिरुद्र पाडे के जन्म और मर्लाव के हत्याकाण्ड के समय को जानने के लिए, तब से अब तक पीढ़ियों को छोडकर और दूसरा साधन नहीं है। यहाँ हम ऐसे छः उदाहरण दे रहे हैं–

1. चक्रपाणि
2. सिद्धेश्वर
3. मातृदत्त
4. रमाकान्त
5. चन्द्रमौलि
6. राजमणि

7. गूदरनाथ — अम्बिकादत्त[1] (पहाड़ी)
8. प्रभुनाथ
9. मधुसूदन
10. भालचन्द्र
11. गजेन्द्र — दामोदर
12. राजेन्द्र — शिवेन्द्र[2]
13. अहिरुद्र

14 (2) रानबई (ज्येष्ठ)	अपठित कन्या - गयाधर		पठित कन्या		
15 (3) श्रीपति	नरेन्द्र	प्राण	(चकरपानपुर	प्रभाकर	(नागर टुण्ड)
16. (4) चतुर्भुज	बसन्त	सुग्ग	(शुक).	वासुदेव	
17. (5) जयराम	हरिराम		भांजू	रमानंद	
18. (6) जीवनराम	बिहारी		इजहार	शिवदास	
19 (7) यज्ञमणि	कमलापति		इच्छा (कनैला)	रघुनाथ	
20. (8) लोचनराम	रघुनाथ	घनश्याम	रामहित	गौरीदत्त	विष्णुदत्त
21. (9) हरिलाल	शिवनाथ	देवीदत्त	रामसहाय	गंगादत्त	गुरुप्रसाद

—→ कनैला (मेरे पितृग्राम) की इस पूजा में मलकर्वार की पूजा मौजूद है। कनैलावाले भी अनन्त के व्रत और साग का उपयोग नहीं करते।

मलकर्वार की पूजा, बड़े परिवारों में सूतक के कारण कभी कभी कई सालों की इकट्ठी पड़ती है। पूजा के दिन से कुछ रोज पहिले चावल का कोहबर (दीवार पर चित्रण) लिखा जाता है, जिसमें 'सिवना सिवनी' (अनेक मुखवाले स्त्री पुरुष) का चित्र होता है। बलि श्रावण शुक्ला सप्तमी के बादवाले मंगल को होती है। एक एक बलि के लिए दो-दो जौ की पूरियाँ (पूरी नहीं दालवाले सगेठे) बनाकर देहली के बाहर जोड़े जोड़ सजाई जाती हैं। वहीं सूअर के छौने को काट दिया जाता है। खून को दरवाजे के बगल में धरती में गाड़ दिया जाता है। इस प्रकार सूअर मर्लाव के साकृत्य वंशजों का टोटम और बलि पदार्थ, दोनों है।
मर्लाव और नाउर-देउर में एक और भी प्रथा है, यज्ञोपवीत होने से पहिले दिन बालक को कुर्मी के घर कच्ची रसोई खानी पड़ती है।

1 पंडित रामनाथ पांडे (भ्योरा) द्वारा प्रकाशित वंशवृक्ष में यहाँ भागदत्त और अम्बिकादत्त को गूदरनाथ का पुत्र लिखा है, हमने यहाँ नाउर-देउर (श्री ज्वालाप्रसाद पांडे) के वंशवृक्ष को प्रमाण माना है।
2. सुरेन्द्र-पंडित रामनाथ के वंशवृक्ष में।

22.	(10) विश्वेश्वर	हितराम	रामप्रसाद	गोपाल	जयगोपाल	यदुनाथ
23.	(11) जगतराम	अयोध्याप्रसाद	हर्षनाथ	जानकी	कमारदन	चन्द्रभूषण
24.	(12) घासीराम	रामसेवक	नन्द	गोवर्धन	मुरलीधर प्रसाद	शरत्सनप (सूरज)
25.	(13) रमणराम	बलिराम	सूर्यनारायण[1]	राजन	बलभद्र	(7 वर्ष)
26	(14) दूधनाथ	सत्यनारायण	शिवपूजन	उमाशंकर	रमापति (7 वर्ष)	
27.	(15) विश्वेश्वर	जगदीशनारायण	आनन्द			
28.	(16) मुना	शशिविन्द	अरविन्दकुमार (5 वर्ष)			
29	(17) रूपनारायण (बालक)					
30	(18) रामचन्द्र					

चक्रपाणि से आज तक अधिक से अधिक 30 और कम से कम 24 पीढ़ियाँ बीती हैं। [illegible] के बारे में लिखते हुए हमने प्रति पीढ़ी 20 [illegible] पीढ़ियाँ निश्चित हैं। [illegible] 1950 [illegible]

1 अयोध्याप्रसाद जन्म संवत् 1811 (1754 ई.) [illegible] 5 जगदीशनारायणसेवक 1950 (1893)

इस प्रकार पाँच पीढ़ियों में 130 [illegible] (7 वर्ष 1939) [illegible]

[illegible]

चक्रपाणि गहड़वार राजवंश के अन्तिम [illegible] के पराजित किये जाते समय मनौत [illegible] की संरक्षता में हुआ) और शायद इसी [illegible]

इस प्रकार मनौत हत्याकाण्ड 1575 [illegible]

अनिरुद्ध की सन्तान—

गोल्हई, पाड़े (ज्येष्ठ पुत्र 1600 ई.) [illegible]

1 पंडित सूर्यनारायण के तीन पुत्र हुए—[illegible]

2 Chronology of Ancient India pp. 170-74

3 चन्द्रदेव के महादान से पत्रिबद्ध हुआ 1093 ई. [illegible]

की भाँति यह भी अधिक शिक्षित नहीं मालूम होते। उनकी सन्तान ने आगे भी चलकर धन और विद्या में अधिक उन्नति नहीं की।

गयाधर पांडे–यह छोटे पुत्र थे। पंक्ति-नियमानुसार गयाधर का ब्याह पंक्तिकन्या से हुआ था, जिससे इनके एक पुत्र प्रभाकर हुए। यह नाम बतलाता है कि गयाधर अपने पिता से कुछ अधिक शिक्षित और संस्कृत थे। एक बार वह जलोदर रोग से ग्रस्त हुए। बहुत दवा-दारू की गई किन्तु कोई फायदा नहीं हुआ। मीठाबेल के कौशिक दूबे वैद्य ने कहा कि यदि आप मेरी कन्या से ब्याह कर लें, तो मैं आपके रोग को अच्छा कर दूँगा। 'पंक्ति' टूटने के डर से पहिले गयाधर ने इनकार कर दिया। रोग असाध्य होते देख उन्होंने काशी जाना तय किया; किन्तु अभी काशी मे मरकर मुक्ति प्राप्त करने से अधिक उन्हें इसी दुनिया में जीने की लालसा थी। फलतः मलाँव से निकलकर काशी की ओर न जा मीठाबेल पहुँचे। वैद्य पंक्ति-दामाद पाने के बड़े इच्छुक थे। उन्होंने कन्या को ब्याह दिया और गयाधर पंडित उनकी चिकित्सा से स्वस्थ भी हो गये। उसी कन्या से उनके एक पुत्र नरेन्द्र उत्पन्न हुआ। मलाँव मे दायभाग की आशा न देख नाना ने नाती के लिए एक गाँव दे दिया, जिसका नाम उसी के नाम पर नरेन्द्रपुर पड़ा। गयाधर पंडित पीछे वहाँ से काशी चले गये।

गयाधर कनैलावालों के पूर्वज–मलाँव की इस शाखा के बारे में रामधारी ने अपने पत्र में जनश्रुति को इस प्रकार लिखा है–

"सुना जाता है पंडित चक्रपाणि (?) जी मलाँव से काशी विद्याध्ययन के निमित्त गये। उनके साथ एक नाई और (एक) बारी भी सेवार्थ गये थे। वहाँ से लौटते समय जाटी ग्राम में ठहरे। ... वहाँ एक भूमिहार के यहाँ व्रतबन्ध हो रहा था। ...ये भी पहुँचे। ... वहाँ से दुर्गा पंडित के यहाँ आये। वहीं उनकी पंडित दुर्गा की लड़की से शादी हुई। उस... से 5 लड़के हुए, जो इस समय रानीपुर, बड़ौरा, टाटी, दिलमनपुर, सोंढा, उत्तमपुर इत्यादि मे फैले हैं। ... पहिली शादी से जो मलाँव में (रहते) हुई थी, **उनसे दो लड़के हुए थे** जो वहीं रह गये थे। और जब वह (मलाँववाली स्त्री) चकरपानपुर आई तो उनसे पाँच लड़के हुए। ... इन लड़कों से चकरपानपुर, कनैला, एकवना बसा है। चकरपानपुर से छिच्छा (इच्छा) पांडे कनैला में आकर बसे।"

यह बात रामधारी ने (नवम्बर 1939 में) कनैला में मलाँव की परम्परा का कुछ भी ज्ञान न रखते लिखा है। दोनों जगहों की परम्पराओं को मिलाने से मालूम होता है, कि कनैलावालों ने चकरपानपुर (चक्रपाणिपुर) नाम से भ्रम में पड़कर गयाधर पांडे की जगह बहुत पहिले के पूर्वज के नाम को रख दिया। शूकर बलि, अनन्त चतुर्दशी का वर्जन, तथा अब तक की बीती पीढ़ियों के साथ-साथ जब गयाधर पंडित के मीठाबेल से काशी-प्रस्थान मलाँव में उनकी दो सन्तानें आदि पर विचार करते हैं; तो सन्देह नहीं रह जाता, कि कनैला में जिन्हें चक्रपाणि कहा गया, वह चक्रपाणि-वंशज गयाधर पांडे ही थे। दुर्गा पंडित आजमगढ़ जिले के इस सुदूर दक्षिणी भाग के रहनेवाले थे, इसलिए उनकी कन्या उस सम्मान का पात्र नहीं हो सकती थी, जैसी कि सरयूपारवाली, चाहे वह मीठाबेल के अपंक्ति कौशिक दूबे की ही कन्या क्यों न हो ? मलाँव की परम्परा से मालूम होता है, गयाधर पांडे काफी प्रौढ़ हो चुके थे, जब कि वह प्रभाकर को मलाँव में छोड़ वहाँ से रवाना हुए, उस समय उनकी मीठाबेलवाली स्त्री अभी अल्पवयस्का रही होगी, इस प्रकार गयाधर की प्राग आदि सन्तानें प्रभाकर की माता से न होकर इन्हीं से हुई मालूम होती हैं।

सरयूपारवाली स्त्री की सन्तान होने के कारण चकरपानपुर-कनैलावाले अपने को दूसरों की अपेक्षा अधिक कुलीन मानते हैं, बल्कि कई पीढ़ियों तक तो वे अपनी कन्याओं का विवाह सरयूपार गोरखपुर जिले में ही किया करते थे, यह बात अब भी कुछ परिवारों में देखी जाती है।

गयाधर की छठी पीढ़ी में इच्छा पांडे हुए। जब वह चकरपानपुर छोड़कर कनैला आये, तो उस समय वह एक उजाड़ गाँव था। कनैला के पुराने पोखरे, जगह-जगह निकल पड़नेवाले कुएँ, पुराना कोट और उसपर सैय्यद, तथा 'बड़ी' पोखर में एक जगह प्राप्त होनेवाली सील-सी बड़ी-बड़ी ईंटें, कनैला को एक पुराना स्थान बतलाती हैं; इच्छा पांडे के वक्त में कनैला मे कुछ बस्ती चूड़ीवालों और भरों की जरूर थी, जिनकी सन्तान अब भी वहाँ मौजूद है। इच्छा पांडे पंडित न थे, और जहाँ तक मैंने सुना है, उनके वंश में सरस्वती की आग

मुँह करने का अपराध सबसे पहिले मैंने ही किया। 1730 के आस पास–जब कि शरशाह से औरंगजेब तक के दृढ़ शासन के विशृंखलित होने के कारण चारों ओर देश में अशान्ति का दौरदौरा था–के लिए इच्छा पांडे अनुकूल व्यक्ति थे। उन्होंने कनैला को दखल कर वहाँ अपना कच्चा कोट बनाया (चक्रपानपुर को अपना हिस्सा भी नहीं छोड़ा, उनके वंशज आज भी चक्रपानपुर कनैला के जमींदार किसान हैं)।

विदथी, संकृति, रन्तिदेव से चला आता क्षत्रापनन्य मनोव से वे नहीं भी पहुंचा था, और कनैला में अब भी बेलहा के बैसों तथा भदया के ठाकुरों से लोहा लेने की कितनी ही कहानियाँ मशहूर हैं। [illegible] वंश के बारे में मैंने सिर्फ विश्वेश्वर पांडे, रामेश्वर पांडे की बहादुरी की ही चमत्कार सुना। ऐसी परिस्थिति में कनैला के जवानों की बल में विशेषता रखना स्वाभाविक बात थी। कनैला का वंशवृक्ष इस प्रकार है–

(1) [illegible] (चक्रपाणि [illegible] चक्रपानपुर)

गिरना धर्मी मिठ्ठू किसुना (2) परान (प्राण)

(3) [illegible]

[illegible] (4) [illegible]

[illegible] (5) [illegible]

[illegible] माहन (6) इच्छा (कनैला) [illegible]

(7) [illegible] दीना [illegible]

रामजीवन (8) रामेश्वर [illegible]

रामजनन विश्वेश्वर (9) [illegible] [illegible]

(10) [illegible]

[illegible] (11) [illegible]

[illegible]नाथ रामधारी श्यामलाल (12) [illegible]

प्रभाकर-वंशज (नाउर देउर)–मलाँव पर [illegible] (मलाँव पांडे, रामदत्त पंक्ति से प्राप्ति[1]) का अधिकार हुआ। [illegible] पांडे [illegible] पंक्ति से परित्यक्त समझे [illegible] प्रभाकर [illegible] पंक्ति ब्राह्मणों की संख्या घटते घटते [illegible] पंक्ति भिन्न ब्राह्मण से ब्याह करने पर [illegible] सम्मान अधिक है। प्रभाकरवंशज नाउर देउर के [illegible]

1 पंक्ति मलाँव [illegible] आज की बस्ती [illegible] के थे, इसलिए उन्हें पूर्ववर्ती [illegible]

ब्याही जाती है। ब्याह हो जाने पर कन्या माता-पिता के भी हाथ की कच्ची रसोई नहीं खा सकती। साधारण सरयूपारीण ब्राह्मणों से रक्त-सम्बन्ध जोड़ने के लिए यही वश खिडकी का काम देता है। लेकिन नाउर-देउरवान पंक्तियों से कन्या पाने के अधिकारी नहीं हैं।

नरेन्द्र-वंशज–नरेन्द्र की मृत्यु के बाद ननिहालवालों ने उनके पुत्रों–उद्धव, माधव, वसन्त से नरेन्द्रपुर छीन लिया। इस पर उन लोगो ने मलॉव आकर अपना आधा हिस्सा जबर्दस्ती दखल किया। इसके कारण दोनों परिवारों मे वैमनस्य बहुत बढ़ गया। गोल्हई-पुत्र श्रीपति की सन्तान ने नरेन्द्र की सन्तान के जन्म के [illegible] मे झूठी बातें फैलानी शुरू की; जिससे उनकी ब्याह शादी रुक गई। अन्त में श्रीनगर राज्य के पूज्य (माकृतयगा [illegible]), सरया के तिवारी की सहायता से सोलहो कुलों की पचायत बैठी। पचायत ने दोनो तरफ की बाते सुनकर [illegible] साक्षी द्वारा इसका फैसला करने के लिए कहा–पीपल का पत्ता हाथ मे रख उस पर दहकते लाल लोहे के [illegible] को लेकर 21 कदम जाना था। ज्येष्ठ भाई उद्धव ने आगे बढ़कर कहा–मैं ज्येष्ठ हूं, मेरा अधिकार [illegible] है। कहते हैं, इक्कीस की जगह बयालिस कदम वे चले गये। पचों ने नरेन्द्र सन्तान का जाति मे मान [illegible] और गोल्हई-सन्तान की बडी भर्त्सना की। धीरे-धीरे इनका इतना अवसाद हुआ, कि जहाँ उन्होंने नरेन्द्र [illegible] का विवाह रोका था, वहाँ उन्हीं को प्रतापगढ़ आदि में ब्याह करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

माधव के वंशज नेत्रानद अमेठी (सुलतानपुर) के एक प्रसिद्ध तात्रिक हुए थे।

वसत के पौत्र बिहारी बडे उदार थे, एक बार मालगुजारी के दो सौ रुपये बाकी पड़ गये। [illegible] जमान छिनी जाती थी। उनके पुत्र कुलपति बनारस में अपनी धनाढ्य ससुराल गये। वहाँ बरतन भाँडे [illegible] उन्हे दो सौ रुपये मिले। घर लौटते, शाम को नैनीजोर (जिला आजमगढ़) मे ठहरे। वहाँ के [illegible] 200 रुपया हाथखर्च के लिए चाहिए था। राज्य के कर्मचारी उस दिन उतना रुपया वसूल नहीं कर पाये। कुलपति पाडे ने कर्मचारियो को भयत्रस्त देख अपने दो सौ रुपये दे दिये। बरतन भाँडा लिवाये जब [illegible] के वक्त मलॉव पहुंचे, तो बिहारी पाडे दातौन लिये बैठे दिखाई दिये। बोले–भले समय आ गये, [illegible] गरीब को दे दिया। बरतन लाओ, दातौन तो करें।

उन्हे जब पुत्र की उदारता का पता लगा, तो रुष्ट न होकर और प्रसन्न हो बोले- दूसरे की [illegible] धर्म है। इधर नैनीजोर मे सबेरे जब लोगो ने कुलपति को ढूँढा, तो वह तड़के ही विदा हो [illegible] स्वामी ने सातवें दिन दो सौ उधार के अतिरिक्त पाँच सौ रुपये विदाई के भी कुलपति के पास भे[illegible] से कुलपति के वश की समृद्धि शुरू होती है। 1700 ई. के आसपास पाँच सौ रुपयो का बहुत मूल्य था। [illegible] ने अपने पुत्र दोग्मणि को राजविद्या पढ़ाई, और वह पढ़ते-पढ़ते अपने समय के गोरखपुर जिले के [illegible] राज्य रुद्रपुर (सतासी) के दीवान हो गये। नदुआ, कटया, धनसड़ी, देवकली गाव उनकी मिल्कियत हुए। [illegible] की सन्तान मे कोई वैसा योग्य न था, इसलिए उनके भतीजे मनसाराम (घनश्याम के पुत्र) रुद्रपुर के [illegible] बने। मनसाराम के वक्त रुद्रपुर के राजा अस्सी साल से अधिक के हो चुके थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र लाल [illegible] उकता गये। उन्होंने बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु की भाँति पिता के खिलाफ बगावत का झंडा खड़ा [illegible] कहते हैं, यह पिता-पुत्र का झगड़ा बढ़ते बढ़ते रुद्रपुर के सतासी कोस के राज्य के प्रत्येक घर मे फैल [illegible] हर घर में पिता राजा का पक्ष लेता और पुत्र तरुण लाल साहब का। लाल के साथ सौ सिपाहियों ने [illegible] दिन मनसाराम को घेर लिया, और लाल न पहुँच गये होते तो शायद उनकी जान न बचती। मनसाराम [illegible] को समझाते रहे, और अन्त में राजा ने पुत्र को गद्दी देना स्वकार किया। इस खुशी में बाप बेटे दोनों ने मनसाराम को 52 गाँवो की माफी देनी चाही। मनसाराम ने यह कहकर उसे लेने से इनकार कर दिया–यदि हर दीवान को इस तरह गाँव दान दिये जाते रहे, तो चार पीढ़ी मे राज्य के पास रहेगा ही क्या? बहुत आग्रह [illegible] पर उन्होंने नौआ डुमरी, गोधवल, जद्दूपुर, तरवा और बधमौआ-पुरसौली गाँव स्वीकार किये। कुरुक्षेत्र के [illegible] के वक्त वृद्ध राजा ने विरैचा तप्पा मनसाराम को दान करना चाहा, जो उनके इनकार करने पर गोरखपुर [illegible] तिवारी लोगों को मिला।

गोरखपुर जिला उस समय नवाब-वजीर अवध के राज्य मे था। उसकी चकलेदारी (जिले के प्रधान [illegible]

के पद) के लिए एक लाख रुपये नकद की जमानत देनी पड़ती थी। मनसाराम बदले बदले गोरखपुर के चकलेदार हो गये। शोभामणि उपाध्याय (पिपरा [illegible] हाटा) उनके कारपर्दाज थे। मालगुजारी जमा करने वे ही लखनऊ जाते थे। वे रुपयों को अपने नाम जमा कराते गये और बाकी मनसाराम के चकलेदारी के नाम लिखता गये। लाख रुपये बाकी लग जाने पर चकलेदारी छिन गई, मनसाराम पकड़कर लखनऊ ले जाये गये। कुछ दिनों तक मार पड़ती रही। उनके भाई भवानीदत्त [illegible] रुपये इकट्ठा कर रहे थे। [illegible] मनसाराम को हुक्म [illegible] कि यदि सप्ताह के भीतर रुपये नहीं आये तो [illegible] खाल खिंचवा दी जायेगी। मनसाराम ने [illegible] का जहर खाकर अवधि से दो दिन पहले ही शरीर छोड़ दिया। भवानीदत्त रुपया लिये [illegible] पहुँचे तो भाई के निधन की खबर लगी, अफसोस के मारे वे वहीं मर गये। रुपये [illegible] उसने लूट लिये।

मनसाराम के रुपयों को अपने नाम से जमा कर शोभामणि उपाध्याय खुद चकलेदार बन गये। [illegible] के बकाये के बदले में नवाब ने यह कहकर लखनऊ से [illegible] कि मनसाराम के [illegible] (स्त्री) निकाल लाओ। मनसाराम के चचा के प्रपौत्र अयोध्याप्रसाद[1] और [illegible] के लिए यह असह्य बात थी। [illegible] घर की स्त्रियों को [illegible] में [illegible]। मनसाराम के [illegible] भाई मर [illegible] थे। अब [illegible] रामप्रसाद और फयादी के बच्चे बच रहे थे। [illegible] अयोध्याप्रसाद [illegible] ने [illegible] रुपयों का [illegible] कर दिया। दोनों भाइयों को पकड़कर [illegible]। [illegible] पर बास के [illegible] की मार पड़ती थी, तो भी उनको सन्तोष था कि [illegible]। [illegible] एक ज्योतिषी—[illegible] गोसाईं बाबा [illegible] का पता लगा। [illegible] नवाब [illegible] बहुत प्रसन्न हुए। गोसाईं बाबा ने अपने [illegible] भाइयों [illegible] मांगा। नवाब के [illegible] पर पाँच [illegible] जाने का नियम था। [illegible] नवाब के प्रधान [illegible] अयोध्याप्रसाद दोनों भाई [illegible]। [illegible] नवाब ने [illegible] फिर कुछ [illegible] आग्रह किया तो गोसाईं बाबा ने [illegible]। [illegible] यह वरदान [illegible]। गोसाईं बाबा को नवाब ने अपने बाग के आम भेजे थे। उनमें से [illegible] अयोध्याप्रसाद [illegible] को भी मिले। उन्होंने [illegible] दी।

अयोध्याप्रसाद दोनों भाई [illegible] में पड़े रहे। उनके खाये आम की गुठली के वृक्ष ने फल दिया। उन्होंने नवाब के पास [illegible]। नवाब को भ्रम हुआ कि आम उनके बाग [illegible] उस आम और [illegible] में नहीं है। दोनों भाई पकड़ मँगाये गये। पूछने पर पता लगा कि [illegible] भिखारी [illegible] लौटना नहीं चाहते। इस पर नवाब ने 12 सौ रुपये [illegible] का माफीनामा लिखकर दे दिया। कहते हैं अयोध्याप्रसाद ने उस पर [illegible] 12 [illegible] लिया, जिसमें 36 हजार बीघा जमीन मिली। [illegible] में आमघाट [illegible] है।

शोभामणि उपाध्याय चकलेदार के अत्याचारों से लोग [illegible] हो गये थे। ब्राह्मणों और राजपूतों की एक गुप्त सभा इस पर विचार करने के लिए बैठी। सलाह हुई कि शोभा [illegible] तमाम किये बिना लोगों का उद्धार नहीं हो सकता। खुटहना के सूर्यवंशी [illegible] ने शोभा के [illegible] करने का जिम्मा इस शर्त पर लेना स्वीकार किया, कि उन्हें ब्रह्महत्या का दोष न लगे। ब्राह्मणों ने [illegible] अपने ऊपर ली। [illegible] रात के वक्त शोभामणि के पुत्र [illegible] के रूप में महल में [illegible]। शोभा ने कहा—"मैं तुम्हारी गाय हूँ।" "मैं तुम्हारा बाघ हूँ"—वीरेन्द्र ने जवाब दिया [illegible] सभा के सामने उपस्थित किया। सभी ब्राह्मणों ने वीरेन्द्रसिंह के [illegible] ब्रह्महत्या के महापातक

---

1. जन्म वैशाख शुक्ल एकादशी भृगुवासर 18[illegible]

से मुक्त कर दिया।

अयोध्याप्रसाद त्रिभुवनदत्त फिर रुद्रपुर के दीवान बने और उन्हें "शाहआलम बादशाह गाजी (के) जगमा- वफादार सिपहसालार रुस्तमेगज शुजाउद्दौला यहिया खाँ आसफुद्दौला 1195 (हिजरी में)' एतमादुद्दौला आमफजार मदारुल्महाम, वजीरुल्मालिक"[1] ने गोरखपुर की चकलेदारी दी। रुद्रपुर के महाराज पहलवान सिंह उन्हें बहुत मानते थे। कितने ही दरबारी पाड़े-बन्धुओं से बड़ी डाह करते थे। उन्होंने षड्यन्त्र रचा, और राजा के दीवान को वेलीपार, कौड़ीराम, धसका, कर्णपुरा, दाढ़ा, कोनो, सेमरौना, भिसवा के गाँव दिलवा दिये। इनमें वेलीपार कौड़ीराम के गाँव पहिले ही से रुद्रपुर के वंशज पाडेपार के बाबू को 'खोरिश' (जीविका) में मिले थे। उन्होंने दीवान से अपनी जीविका के इन गाँवो को छोड़ देने के लिए बड़ी मिन्नत की, किन्तु दीवान साहब ने इस पर कुछ भी ध्यान न दे जबर्दस्ती गाँवो को दखल कर लिया। जीविका चली जाने पर जीवन रखना भार है यह समझ पाडेपार के बाबू ने भी जान पर खेलने की प्रतिज्ञा की। अयोध्याप्रसाद और त्रिभुवनदत्त का आपस में असाधारण प्रेम था। दोनों भाई एक दूसरे से अलग नहीं रहते थे। नवाब से फरमान लेते वक्त तक भी अयोध्याप्रसाद ने उसमे त्रिभुवनदत्त का नाम लिखवाना जरूरी समझा था। दोनों एक चारपाई पर सोते थे। पाण्डेपार के बाबू ताक मे लगे हुए थे और एक दिन गोरखपुर मे अपने मकान मे एक चारपाई पर जब दोनों भाई सोये हुए थे, उसी समय आकर रात को उन्होंने दोनों को काट दिया।

अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त ने सरकारी कागजो म मलाँव को अपने नाम लिखाया था। पूछने पर कहा था—कागज मे नाम न रहने से घबराना नहीं चाहिए मलाँव जैसे हम 'माफी' मिला है वैसे ही वह हमारे वंश से भाइयों को माफी रहेगा।

अयोध्याप्रसाद त्रिभुवनदत्त मर गये। लखनऊ के नवाब का राज्य भी टूट गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने राज सँभाला। बन्दोबस्त होने को आया। कम्पनी की सरकार मलाँव पर मालगुजारी बैठाने लगी। रामसेवक ने बड़ी कोशिश-पैरवी की। 500 रुपये और 10 घड़े घी लेकर माफी लिख देने के लिए बन्दोबस्त [illegible] अफसर तैयार था। रामसेवक ने चचेरे भाई हरिसेवक (त्रिभुवनदत्त के पुत्र) से कहा। [illegible] उलटी रहती थी। उन्होंने इनकार कर दिया। माफी टूट गई। मलाँव पर मालगुजारी लग गई।

अब भी मलाँव अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त के लड़कों के नाम रहा। गाँववाले पाड़े लोग अपने हिस्से के मुताबिक जमीन को मुफ्त जानते थे। हरिसेवक ने दुबौली के भूमिहार ब्राह्मण गुरुदत्तराय से 5000 रुपये [illegible] लिये। हरिसेवक की वही बेढंगी रफ्तार रही, वह कर्ज क्यों अदा करने लगे? गुरुदत्तराय ने इच्छा प्रकट की कि यदि पाडेजी आकर मुझे गुरुमंत्र दे दें, तो रुपये उन्हें भेंट चढ़ा दूँगा। हरिसेवक नहीं गये। गुरुदत्तराय बीमार पड़े, बोले—यदि पाडेजी आकर दर्शन दे जाते, तो मैं रुपये छोड़ देता। हरिसेवक फिर भी नहीं गये। गुरुदत्तराय मरते वक्त कह गये—यदि मरने के बाद पाडेजी पुछारी के लिए आवें, तो कर्ज छोड़ देना, नहीं तो नालिश करके वसूल करना। हरिसेवक अब भी नहीं गये।

महाजन ने नालिश करके हरिसेवक का आधा हिस्सा नीलाम करवाया। कटयावाले श्री उग्रदत्त भैरवदत्त (दीवान योगमणि पाडे के वंशज) ने पूर्वजों की समझ उसे खरीद लिया। गाँव के और लोग न लड़ सके, रामनाथ मथुरा पाडे ने आगरा हाई कोर्ट तक लड़ाई की, और अदालत से उनको अपना हिस्सा मिल गया। उन्होंने अपना आधा हिस्सा कटयावालों को देकर आधा अपने नाम लिखवाया।

कुलपति पाडे के दूसरे पुत्र घनश्याम के प्रप्रपौत्र नन्द पाडे बड़े अध्यवसायी व्यक्ति थे। उन्होंने एक बहुत भारी जंगल खरीदा। उनके पुत्र श्री सूर्यनारायण ने ऐश्वर्य को और बढ़ाया, और कटयावालो के खरीदे हिस्से को लौटा लिया।

16वीं सदी के उत्तरार्द्ध के अनिरुद्ध पाडे की सन्तान आज मलाँव में ही सौ घर में अधिक नहीं रह गई है, बल्कि वह बहुत दूर तक फैल गई है। बैकुंठपुर (देवरिया), पकड़ियार, फर्दहा, डाँगीपार, भिलौरा, नाउर [illegible]

1 दीवान अयोध्याप्रसाद पाडे के प्रपौत्र श्री जगदीशनारायण सेवक के यहाँ मौजूद आसान 1198 हिजरी मे लिखित नवाबी फरमान

कटया, नउआ, नदुआ, कसियार, रुद्रपुर आदि गाँव गोरखपुर जिले में ही है, जहाँ मलाँव के साकृत्य वंशज बसते हैं। आजमगढ़ में विक्रमपुर (घोसी), चकरपानपुर, कनेला, बड़ागाँव, टाँड़ी, दिलमनपुर, डीहा, जलालपुर आदि गाँवों में वे पाए जाते हैं। पनुलकी और वृन्दावन (प्रयाग), विजयमऊ (प्रतापगढ़), मथुरा शहर और कितने ही और स्थान हैं, जहाँ अनिरुद्ध पांडे के वंशज आज रहते हैं। पहाड़ी (प्रयाग) आदि में पहिलेवाली परम्परा के बहुत-से घर हैं।[1]

3. रामशरण पाठक[2] (नाना)

औरंगजेब की मृत्यु के साथ मुसलमानों के प्रभुत्व का पतन आरम्भ हुआ, लेकिन वही समय है, जब कि मुगलों के दृढ़ शासन के फलस्वरूप बढ़ी हुई जन-संख्या ने नये-नये गाँवों और बस्तियों को बसाना शुरू किया। पाठक जी के पूर्वज इसी प्रकार 18वीं शताब्दी के प्रथम पाद में पन्दहा गाँव में आकर बस गये। उस समय पन्दहा के आसपास घना जंगल था, जिसमें भेड़िये बहुतायत से रहा करते थे। पश्चिम ओर छोटे द्वीपवाली एक पुरातन विशाल पोखरी थी। इसका महामाई नाम शायद पाठक के पूर्वजों ने स्वयं रखा था। इसी पोखरी के पश्चिम तट पर बसई नाम का छोटा गाँव था, जिसमें खानदानी सैयद, कारीगर, जुलाहे, साग-भाजियाँ पैदा करनेवाले मेहनती कोइरी लोग निवास करते थे। वहाँ की अनेक ईंट-पत्थर की कब्रों से प्रकट होता था, कि कभी यह स्थान बहुत समृद्धिशाली था। पन्दहा के उत्तर तरफ भी पुराना बस्ती के कुछ चिह्न थे। लोग पूछने पर बतलाया करते थे—यहाँ कभी मिसिरी रहते थे, जो पीछे उजड़कर दूर देश में चले गये, अब भी उनके वंशज उस सुदूर देश से कभी-कभी आकर रात को बीजक की सहायता से अपने पूर्वजों के गड़े खजाने का पता लगाया करते हैं।

सवा सौ वर्ष बाद अपने प्रथम पूर्वज की 5वीं पीढ़ी में (1844 ई. में) रामशरण पाठक पैदा हुए। तब न्यारे और अंगरेजों का राज्य था। पन्दहा के एक छोर में ब्राह्मणों के 17 घर बन गये थे। उसके साथ आ बसे अहीरों और चमारों के भी कितने ही घर हो गये थे। यद्यपि अब जंगल काटकर बहुत-से खेत बना लिये गये थे, तो भी इतना जंगल आसपास में था, जिसमें भेड़िये गुजर कर सकते थे। रामशरण पाठक अपने पिता के तीन पुत्रों (शिवनंदन बड़े, रामबरन छोटे) में मझले थे। तीनों भाइयों में पाठक कम गोरे थे, तो भी उनका रंग गेहुँए से ज्यादा साफ था। तीनों ही भाई विशालकाय थे, जिनमें पाठक की शरीर-गठन बहुत ही अच्छी थी। पाठक के पिता के पास खेती के अतिरिक्त काफी गाय भैंसें थीं। लड़कपन में पाठक को उन्हीं के चराने का काम मिला था। जब पाठक 12-13 वर्ष के हुए, तभी माता-पिता ने शादी कर दी। पाठक अपनी भैंस-गायों के चराने में मस्त रहते थे। घर में दूध-घी का इफरात था। जवानी में पदार्पण के साथ पाठक के रग-पुट्ठों में असाधारण बल की झलक दिखाई पड़ने लगी। लड़के की रुचि कुश्ती की ओर देखकर पिता ने उस समय के रवाज के मुताबिक बरसात में कसरत कुश्ती सिखाने के लिए एक नट रखा। तीन महीने बाद नट को एक भैंस इनाम में मिली। पाठक ने और भी कुछ बरसातें अखाड़े में बिताईं।

पन्दहा का कोई आदमी नौकरी करने के लिए जिले से बाहर गया हो, इसका पता नहीं। यही नहीं, आसपास के गाँवों से भी शायद ही किसी ने प्रान्त से बाहर पैर रखा हो। पाठक की चरवाही की पाठशाला में भूपर्यटकों के ज्ञान का भाण्डार खुला रहता हो, इसकी सम्भावना नहीं थी, तो भी पाठक को कहीं से हवा लगी जरूर।

1. सांकृत्यगोत्री चौबे भीआसार, नगला, उजलली, इटावा, मरसैना, ओखलाबाद आदि में रहते हैं और इस गोत्र के तिवारी बारदोह, बिसुहिया, नयपुरा, मरया में।
2. यहाँ दिये सन् संदिग्ध हैं।

18 वर्ष की उम्र मे ही पिता के कही रखे हुए डेढ़ सौ रुपया को लेकर 1862 ईसवी म वे वैसे ही नाग॰- हुए जैसे 46 वर्ष बाद उनका नाती उनके रुपये लेकर। युक्त प्रान्त के इस पूर्वी छोर से सुदूर दक्षिण हैदराबा॰ को अभी रेल शायद न बनी थी। विदेश चलना इतना ही उन्हे घर छोड़ते समय खयाल आया था। चलकर हैदराबाद के जालना कस्बे के अँगरेजी पलटन म नौकरी लगेगी इसका उन्हे कुछ ख्याल भी न था। किन्तु रास्ते के ... के कारण आखिर वह एक दिन जालना पहुच गये। वहा उस समय एक पुरबिया फौज रहती थी जिसम ... के जिले के कितने ही राजपूत सिपाही भी थे। पलटन के सूबेदार मेजर रामसिंह भी उनके अपने ही ... थे।

पाठक भी अखाड़े पर गये। आज कुछ विशेष चहल पहल थी। कुश्ती देखने के लिए पलटन के अफसर भी कुर्सियो पर डटे थे। पाठक ने भी लड़ने की इच्छा प्रकट की। वे सबसे तगड़े आदमी से लड़े। 18-19 वर्ष के नवयुवक के लिए वह आदमी बहुत भारी मालूम होता था और लोग सन्देह म थे किन्तु कुछ ही मिनटो म पाठक ने उसे चित्त कर दिया। कर्नल साहब ने कूदकर तरुण की पीठ ठोकी कुछ इनाम भी मिला ... सबसे बड़ी बात यह हुई कि कर्नल साहब ने खुद सूबेदार मेजर से कहकर उसी दिन पाठक को फौज म भर्ती करा दिया। पाठक ने इनाम और अपने रुपयो म से सौ रुपये सूबेदार मेजर के हाथ म रखकर कहा—मै ... का एक कड़ा पहनना चाहता हूँ। उसी दिन वे रुपये जालना के मारवाड़ी सेठ के पास भेज गये और ... दिन बाद पाठक के हाथ म सात सेर का कड़ा पड़ गया।

पाठक शरीर म जैसे बलवान थे वैसे ही निशाने म भी सिद्धहस्त निकले। ... के बाद ही साहब ने उन्हे अपना अर्दली बना लिया। पलटन के अफसरो को हमेशा ... होता नहीं। जाड़ो म साहब बहादुर कभी हैदराबाद के जंगलो म कभी मालवा और नागपुर ... करते फिरते थे। पाठक भी उनके साथ रहते थे। कितने ही बाघ साहब मारते थे और कितने ही पाठक ... मार बाघ भी साहब के नाम दर्ज होते थे। हाँ बाघ मारने का सरकारी इनाम और ... साहब की ओर से भी कुछ इनाम पाठक को मिल जाया करता था।

इन शिकार यात्राओ की बाते बुढ़ापे म पाठक बड़ी रात बीते तक अपना सहृदय श्रोताओ को सुनाया करते थे। उस वक्त उनकी आँखो मे बड़ी ही गोद म लेटा आठ साल उम्र का उनका नाती उन बातो को सुन और आश्चर्य करता। कामठी, एलिचपुर, अमरावती, नासिक यद्यपि उस समय उस बच्चे को ... मालूम ... थे किन्तु उन्होने पाठक भुगोल और सवन्ध पढ़ने म बड़ी दिलचस्पी पैदा की। पाठक कहा करते थे—... म बिसकर्मा (विश्वकर्मा) के हाथ के बनाये बड़े बड़े महल हैं वे पहाड़ काटकर बनाये गये हैं। बिसकर्मा ने उन्हे बनाया तो था देवताओ के लिए किन्तु जब तक देवता आये तब तक राक्षसो ने उनमे बसेरा कर ... देवताओ को खबर देकर जब वे लौटे तो देखा कि नाच और बोतल खनखना रही है। बिसकर्मा ने शाप दिया—जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। पाठक बड़ी गम्भीरता से पत्थरो म कहते—आज भी वे राक्षस ... तो हाथ मे बोतल लिये हैं या नाचई नाचई नाचने या आँख मुँह बनाते दिखाई देते हैं; देखने म क्या मालूम होता है कि वे पत्थर हो गये है।

पाठक इसी प्रकार साहब के साथ जाड़ो म शिकार खेलते गर्मियो म शिमला और ठडे पहाड़ो पर घूमते मौज कर रहे थे। उन्हे नौकरी करते दस वर्ष हो गये थे और इसी बीच म उनके साथी—और कुछ तो साहब की सिफारिश पर—तरक्की करके नायक और जमादार बन गये थे किन्तु न उनको उसकी उतनी इच्छा थी और न साहब ही वैसा करना चाहते थे।

पिछले सात आठ वर्षो म पाठक ने कभी एक-आध चिट्ठी तो जरूर भेज दी थी, किन्तु घर आने के जिक्र तक न किया था। उड़ती हुई चिड़िया ने घर पर खबर दे दी थी कि पाठक ने वहीं शादी कर ली है। वस्तुत था भी ऐसा ही। जालना म कितने ही घर ऐसे भी थे जो पुरबिया सिपाहियो की मराठी स्त्रियो से सतान थे। ऐसे ही एक परिवार की स्त्री उनकी चिरसंगिनी हो गई थी। उससे उन्हे एक पुत्र भी हुआ था। पाठक ने उसके लिए घर भी बनवा दिया था। शायद पाठक का वह पुत्र या उसकी सन्तान अब भी जालना

मे हो, (यदि जालना की अँगरेजी छावनी के टूटने के साथ वे अन्तर्धान न हो गये हों)। आठ-नौ वर्ष बीत गये। पाठक के पिता भी मर गये। पाठक के भाइयों की अलग-अलग स्त्रियाँ थीं, साथ रहना बहुत अच्छा न था। [illegible] ने अपने भाई को हैदराबाद भेजा। पाठक [illegible] ने [illegible] पहले साले के हाथ स्त्री के लिए कुछ रुपये भेजे। साले ने उस रुपये को अपनी [illegible] बहन को देना पसन्द नहीं किया।

3-4 वर्ष और बीते इसी बीच पाठक [illegible] भी हो आये। [illegible] उनका जीवन शान्त [illegible] बह रहा था। बलजोर और देवन दो [illegible] नातेदारों में उनको घर भाइयों से भी ज्यादा मुहब्बत थी। [illegible] पूछिए तो अब उनके लिए जालना घर से [illegible] न था। [illegible] किन्तु एक दिन किसी ने पाठक से सूबेदार रामसिंह की [illegible] सुनाई। वह कई वर्ष पूर्व पेन्शन पाकर घर चले गये थे। रामसिंह ने पलटन में जब से नौकरी की थी तब से वह एक ही दो बार कुछ समय के लिए घर गये थे या शायद नहीं ही गये थे। पेन्शन के बाद एक बक्स में अशर्फियाँ भरकर वे घर पहुँचे। उनकी स्त्री अब बूढ़ी हो चुकी थी। बूढ़े सूबेदार मेजर ने अशर्फियों का बक्स उनके सामने खोल दिया। ख्याल किया होगा, स्त्री बहुत प्रसन्न होगी किन्तु प्रसन्नता का पता तो तब लगा जब सूबेदार मेजर ने [illegible] उत्तर मिला— इन अशर्फियों से [illegible]। तुमने तो जिन्दगी में अशर्फियाँ ही पैदा कीं, पानी देनेवाला [illegible] तो पैदा [illegible]। बेचारे सूबेदार पर क्या बीती [illegible] इसका तो पता नहीं किन्तु पाठक पर इस बात का बड़ा असर हुआ। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों के बाद सब के समझाने पर भी वह नाम कटाकर घर के लिए रवाना हो गये।

घर लौटने की सबसे अधिक प्रसन्नता पाठक की स्त्री (रामरानी) को होनी ही चाहिए। यद्यपि भाइयों के पास समय समय पर कुछ रुपया आया करता था, किन्तु उससे पाठक की स्त्री को उतना [illegible] न होती। पटवारिन में एक बड़ा गुण यह था कि वह [illegible] न थीं किन्तु [illegible] यह था कि दूसरों के प्रतिकूल व्यवहार को वे मन में रखती नहीं थीं। [illegible] में [illegible] के दुर्व्यवहार को फौरन मुँह से निकालकर भीतर बाहर [illegible] में [illegible] बारह वर्ष तक की उपेक्षाएँ [illegible] दिल में [illegible]। पाठक के आने के बाद वह एक एक कर खुलने लगीं। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय के बाद पाठक भाइयों से अलग हो गये।

अब उन्होंने अपने घर को कुछ अपने मन का बनाना चाहा। पहले तो उन्होंने द्वार पर पक्का कुआँ बनवाया और रहने के लिए ईंट का मकान। [illegible] यह पसन्द न था कि [illegible] दूसरों के कोल्हू में पेरने जायें। इसलिए बनारस जाकर एक [illegible] का कोल्हू ले आये। कोल्हू को अपने द्वार पर ही गाड़कर उन्होंने दो घर 'कुल्हाड़' के लिए भी बनवा दिये। उनके पास अपने पन्द्रह बीघे से ज्यादा न था। कुछ दिनों के बाद उनके एक समीपी बन्धु (महावीर पाठक) ने तीनों भाइयों से कहा [illegible] आवश्यकता है तुम लोग मेरे हिस्से का इतना खेत ले लो, नहीं तो मैं दूसरे को बेच दूँगा। तीनों भाइयों ने मिलकर खेत लिया तो लिया, किन्तु छोटा भाई दाम न दे सका। पाठक ने उस भाग को भी ले लिया। इस प्रकार अब पाठक के पास पाँच बीघे (तीन एकड़ से कुछ अधिक) के करीब जमीन हो गई। घर में दो प्राणी थे। एक लड़का हुआ, किन्तु कुछ ही समय बाद मर गया। 1870 ईसवी के करीब पाठक को एक लड़की कुलवन्ती पैदा हुई। कुलवती उनकी अन्तिम और एकमात्र जीवित सन्तान रही। घर में इकलौती लड़की होने से [illegible] लाड़ प्यार था और होना भी चाहिए था। 9-10 वर्ष की होने पर लड़की का ब्याह 10 मील दूर पन्दहा गाँव में कर दिया गया। लड़की अधिकतर मायके ही में रहती थी, ससुराल जाने पर [illegible] आदमी [illegible] पहुँचा रहता था। 1893 ईसवी में लड़की को एक पुत्र हुआ। नाती के जन्म से पाठक पटवारिन दोनों को अपार आनन्द हुआ। नाती (केदारनाथ) जब अपनी माँ से अलग रहने लायक हो गया, तब वह नाना का [illegible] हो गया। अब बेटी की ममता नाती पर चली आई, इससे अब उस [illegible] में [illegible] रहने का [illegible] हो गई।

पाठक के बड़े भाई के पाँच बेटे थे और छोटे के दो। इस [illegible] भी [illegible] बड़े भाई के उतने बड़े

परिवार का गुजर होना बहुत कठिन था। वे देखते थे कि जो जायदाद उनको मिलती, उसके लिए नाती तैयार किया जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ, कि दोनों परिवारों में अनबन रहने लगी। दिल में जलन तो थी ही, जरा-सा भी मौका मिलते आग भड़क उठती, दो-चार गाली-गलौज होती और फिर तीन चार मास के लिए दोनों ओर के गाल फूल जाते।

पाठक अपने हाथ से काम करना अच्छा न समझते थे, पलटन के तिलंगा जो रह चुके थे। घर में दूध देनेवाली एक भैंस वे जरूर रखा करते थे। बहुत पशुओं के शौकीन न थे, सिर्फ दो बैल और एक भैंस रखते थे। दूध और छाछ के बिना उनका काम न चल सकता था। पहले मछली मांस की भी खूब चाट थी; किन्तु पीछे खानदानी गुरु और अपनी स्त्री के बार बार कहने पर मजबूर हो बेचारे एक सौ ग्यारह नम्बरवाले राम के चेले हो गये। एक काठ की कंठी गले में डाल दी गई और पाठक को अपने प्रिय भोज्य से वंचित हो जाना पड़ा। तो भी जब उनका नाती कुछ खाने पीने लगा, कंठी और वैष्णवता के रहते भी यदि कहीं मछली मिल जाती, तो नाती के लिए लाये बिना नहीं रहते थे। जीती मछलियों को ला चार चार पाँच पाँच रोज तक वे एक नाद में पाल लेते थे, जिन्हें नाती निकाल निकाल भूनता तलता था। नाना नानी उसे बतलाते और हल्दी-मसाला पीसकर दे देने में कोई हिचकिचाहट नहीं रखते थे।

पाठक की थोड़ी भूमि उनकी परिमित आवश्यकता के लिए काफी थी। खेत से अनाज और भूसा से दोनों [illegible] उन्हें मिल जाया करता था। घर का काम काज बहुत कम था। बाहर का काम उनका हलवाहा या दूसरा [illegible] देता था और घर का उनकी स्त्री। बस पाठक का खाना, गाना और सबसे बड़ा काम गप्प मारना था। [illegible] समय पन्दहा के किसी बाग, कल्हाड़, या खलिहान में यदि आप पाँच सात आदमियों के बीच एक मोटे-[illegible] भव्य पुरुष को देखते, जो पैर और कमर को अँगोछे से बाँधकर कुर्सी बनाए बैठे बातें करता होता, तो समझ लीजिए—वह पाठक महोदय हैं। यद्यपि उन्होंने बारह-तेरह वर्षों में बहुत से देश और लोग देखे थे, तो भी [illegible] उन्हीं बातों को और उन्हीं आदमियों में रोज दो तीन घंटा कहा जाय, तो वह कितने दिनों तक नई रह सकती है? फलतः बाज श्रोता पाठक के बात आरम्भ करते ही कह देते—हाँ, यह सिंगापुर छावनी के [illegible] की कथा होगी। तो भी पाठक ऐसे जीव न थे, कि श्रोता की अनिच्छा के कारण अपनी कथा छोड़ देते।

पन्दहा में सरस्वती का सत्कार न था। पाठक के छोटे भतीजे रामदीन ने प्राइमरी तक पढ़ा था, फिर उनका नाती ही पहला आदमी था, जिसने मिडिल पास किया। पाठक स्वयं अनपढ़ रहते हुए भी विद्या के लाभ को जानते थे, इसीलिए अभी नाती जब पाँच ही वर्ष का था, तभी पास के रानी की सराय स्कूल में पढ़ने के लिए बैठा दिया। वह कहा करते थे—और नहीं तो बटना तो सीखेगा। पाठक के फुफेरे भाई सदर आला हो गए थे, वही ख्याल करके वह अपनी स्त्री से कहा करते थे—जरा मिडिल पास हो जाने दो, फिर मैं [illegible] एक दिन जाकर पादरी साहब के यहाँ जरी सलामी दूँगा, कि बच्चे को अंग्रेजी स्कूल में भर्ती कराकर ही आऊँगा। पाठक को इस बात से और भी बड़े बड़े मनसूबे बाँधने की उत्तेजना सबसे अधिक मिलती थी कि उनका नाती पाठशाला में अपने दर्जे में बराबर अव्वल रहा करता था।

पाठक ने नाती को अपने सुख के लिए ही इतने लाड़ प्यार से पाला था, किन्तु इसी प्रेम ने उनके जीवन की संध्या को दुःखान्धकारपूर्ण बना दिया। वस्तुतः यदि पाठक को अपने मन से करने दिया गया होता तो वे अपने भतीजों को दुश्मन न बनाते। अपने भाइयों के प्रति उनका बर्ताव हमेशा स्नेहपूर्ण रहता था। जिस वक्त वायुमंडल बिलकुल कड़वा हो जाता, उस वक्त भी सतह से जरा नीचे जाने पर पाठक के हृदय में भाइयों का स्नेह वैसा ही तर पाया जाता। ऐसे मौके आये, जिस वक्त ये तीनों वृद्ध भाई झगड़े के तूफान के बाद भी स्वच्छन्दतापूर्वक मिलने पर 'भैया' 'भैया' कहकर फूट फूटकर रोने लगते। तो क्या पाठक की स्त्री (जगरानी) को दोष दिया जा सकता है? उनका स्वभाव भी बहुत मधुर था। आदमी-जन, हित-पाहुना ही नहीं, रात को टिकनेवाले भिखमंगे भी उनकी तारीफ किया करते थे। अतिथियों को खिलाने-पिलाने में उनको बड़ा आनन्द

आता था। मधुरभाषिणी तो इतनी थीं कि सिवा अपनी जेठानी के (जिसका कारण और ही था) उन्होंने किसी को कभी कड़े शब्द न कहे होंगे। दया का उदाहरण लीजिए। वैसे पाठक के घर से कुत्ते-बिल्लियों का बिलकुल सम्बन्ध न था, किन्तु एक बार एक कुतिया ने आकर बाहर के घर के कोने में बच्चे जन दिये। फिर क्या था ? पठकाइन ने समझा—इस प्रसूता की परिचर्या का सारा भार उन्हीं पर है। कुतिया को प्रसूतों की तरह का खाना मिलने लगा। इस दया का फल तुरन्त ही यह हुआ कि कुतिया द्वार की मालकिन बन गई और उसने एक बुढ़िया भिखमंगिन को काट खाया। एक प्रकार से कहा जा सकता है—अपने दो शत्रुओं के सिवा वह अजातशत्रु थीं।

तो क्या उनकी जेठानी–देवरानी कसूरवार थीं ? देवरानी और पाठक के घर का विरोध तो हमेशा क्षीण रहा (न उन्हें कुछ आशा थी, न कुछ मिला)। हाँ, जेठानी उन सासों में थीं, जो कड़ाई के बिना अपनी बहुओं को शासन में रख सकती थीं। उनमें बहुत गम्भीरता थी। अनपढ़, अल्प-वित्त, बहु-सन्तान और ग्रामीण होते हुए भी उनमें व्यवस्था और परख करने का गुण था। वह उदारमना थीं, जो गुण उनकी परिस्थिति की स्त्रियों में बहुत कम पाया जाता था। उनके पति–पाठक के बड़े भाई [illegible]नन्दन पाठक–तो पूरे धृतराष्ट्र थे। लड़कों के मारे भाई का विरोध करते भी असमंजस में ही पड़े रहते। पाँच लड़के थे। इतने परिवार का उतनी थोड़ी भूमि से निर्वाह होना मुश्किल था। इसलिए होश सँभालते ही दो (बच्चा और [illegible]) कलकत्ता जाकर पुलिस में भर्ती हो गये। जब वे दो-चार वर्ष में छुट्टी में घर आते, तब चाहे चचा (पाठक) और अपने घर में बोलचाल भी न होती; भेंट की चीजें लेकर वह चचा के पास जरूर पहुँचते, भेंट सामने रखकर चरण छूकर चाचा-चाची को प्रणाम करते। एक बार एक पुलिसमैन भतीजा उस वक्त घर आया, जिस वक्त रूस-जापान की लड़ाई चल रही थी। आकर वह वहाँ पनडुब्बी, तारों और दूसरी खबरों—जिन्हें कि वह कलकत्ता में सुना करता था—का वर्णन करता रहा। सबसे छोटा भतीजा रामदीन असाधारण व्यवहारकुशल तथा प्रतिभाशाली था। यदि उसे शिक्षा का अच्छा अवसर मिला होता, तो वह एक विशेष आदमी हुआ होता। पाठक के नाती या अपने भांजे के साथ रामदीन का प्रेम था। उसी ने ले जाकर उसे अक्षरारम्भ करवाया था। घर पर रहते वक्त वह भांजे को कुछ काम की बातें बतलाकर उत्साहित करता रहता था। अपर प्राइमरी तक पढ़कर उसे चिट्ठीरसा की नौकरी कर लेनी पड़ी थी, इसलिए जिले में ही किन्तु बराबर बाहर ही रहना पड़ता था। बाकी दो भतीजे अपनी स्वतन्त्र बुद्धि न रखते थे। वस्तुतः यदि घर भाइयों की जमीन—जो सारी कड़वाहट की जड़ थी—का खयाल हटा दिया जाय, तो भतीजे बुरे नहीं, बहुत अच्छे थे। भतीजों की बहुएँ ? एक पाठक के साले की लड़की थी। दूसरी उनके ही कथनानुसार गौ थी। सबसे छोटी (रामदीन की) बहू को तो वह पसन्द करते न थकते थे। और बाकी दो बेचारी घर के भीतर चुपचाप रहनेवाली थीं, उनका झगड़ा-झंझट से कोई वास्ता नहीं था।

और नाती केदारनाथ ? वह तो लड़का था। वह सभी चीजें अपने [illegible] से देखता था। तो भी यदि उसके उस बाल-अनुभव—चौदह वर्ष की अवस्था के पूर्व के अनुभव—की कोई कीमत है, तो उसे सभी मामियाँ बड़ी ही मधुर मालूम होती थीं। छोटी मामी से उसे असाधारण प्रेम था। स्कूल से लौटते ही, जहाँ नानी ने कुछ खाना दिया नहीं, कि वह छोटी मामी के दरबार में हाजिर होता। इस मामी में असाधारण कोमलता थी। वह सुन्दर थी, स्वच्छ थी, शीघ्र बात समझनेवाली थी, और अपने भांजे को खुश करनेवाली मीठी बातें करना जानती थी। आने पर खाने को पूछना, पानी के लिए पूछना, फिर दिल खोलकर बात करना—एक बालक के लिए और चाहिए ही क्या ? सचमुच यदि उस लड़के से पूछा जाता, कि तुमको सिर्फ एक आदमी दुनिया में मिलेगा, चुन लो और हमेशा के लिए निर्जन वन में चले जाओ; तो वह अपना इसी छोटी मामी को चुनता। उसका बालक हृदय टूक-टूक हो गया, जब एक बार दोनों घरों की बोलचाल बन्द होने पर भी वह छोटी मामी के पास गया; और आते ही बड़े रूखे शब्दों में उससे कहा गया—तुमने बहू को गाली दी है, खबरदार ! अब इधर मत आना। मामी को भी इससे कम दुःख न हुआ होगा, क्योंकि उसे भी अपने भांजे को शाम-सवेरे देखे बिना चैन न आता था। बालक को क्या मालूम था, आज की दुनिया प्रेम और सद्भाव का स्रोत बहाने के लिए नहीं है। कुछ ही वर्षों बाद वह प्यारी मामी (दीपचन्द की माँ) मर गई।

व्यक्तियो मे अलग-अलग ढूँढने मे तो किसी को दोषी नही ठहराया जा सकता था, किन्तु समुदाय मे भयंकर कड़वाहट पैदा हो जाती थी।

1905 ईसवी मे पाठक की लड़की (कुलवन्ती) मर गई। अब पाठक के चार नाती थे, तीन छोटे अपने घर पर रहा करते थे। पठकाइन ने जोर दिया—नातियो के नाम लिखा पढ़ी कर देनी चाहिए, जिन्दगी का क्या ठिकाना है। 1906 मे पाठक ने अपनी जायदाद को नातियो के नाम लिख दिया।

युद्ध की घोषणा हो गई। किन्तु बेचारी पठकाइन उस युद्ध के प्रचंड होने से पूर्व ही प्लेग मे चल बसी। नाती अब गाँव से कुछ दूर निजामाबाद के मिडिल स्कूल मे पढ़ता था, जहाँ से छठे छमाहे ही आता था; और जब झगड़ा जोर पकड़ चुका, तब तो आता भी न था। लड़नेवाले थे, एक ओर पाठक के भतीजे और दूसरी ओर पाठक और उनका दामाद। अनुकूल-प्रतिकूल आदमी सभी जगह मिल जाते है। वही यहाँ भी हुआ। भतीजो ने पहिले तो हिब्बे को नाजायज करार दिलाने के लिए दीवानी मे मुकद्दमा दायर किया, किन्तु वह जानते थे कानून उनके विरुद्ध है। फिर उन्होंने फौजदारी मुकद्दमे और मारपीट शुरू कर दी। फौजदारी मे तो जो पुलिस को खूब रुपया दे, झूठे-सच्चे गवाह दे, उसी की जीत होती है। दोनो ओर से रुपया खर्च होने लगा। साल भर तक यह घमासान युद्ध होता रहा। जितनी की जायदाद नही थी, उतनी हानि और खर्च पाठक व दामाद को उठाना पड़ा। भतीजो को भी उससे कम खर्च नही करना पड़ा। दोनो को होश आने लगा। दामाद साहब (गोवर्धन पांडे) भी समझने लगे—दूसरे गाँव मे आकर लालच करने से हम नुकसान मे रहेंगे। उनके अपने घर का लेन-देन, खेतीबारी का काम बिगड़ रहा है। अन्त मे महादेव पंडित पंच माने गये। पंच ने नातो को ग्यारह बारह सौ रुपये दिलवाये। जमीन भतीजो की हुई।

भतीजे अब भी पाठक को रहने के लिए कह रहे थे, किन्तु पाठक समझते थे कि किसी समय भी उन्हे ताना मारा जा सकता है, यद्यपि वह अपने सबसे छोटे भतीजे को बहू (छोटी मामी सोनाओं की माँ) को देवता मानते थे। साथ ही पाठक को इससे भी कम ग्लानि न थी, कि जिस लड़की के गाँव तक मे हम लोग पानी पीना नही चाहते, वही अपरिचित मुखड़ो के बीच उन्हे अपनी जिन्दगी का अन्तिम समय बिताना पड़ेगा। साँप-छछुंदर की दशा थी। यदि पाठक ने पहिले इस परिणाम को जाना होता, तो अपने भतीजो को वह शिकार न बनाते। एक दिन पाठक इच्छा या अनिच्छा से दामाद के गाँव मे चले गये, साथ ही जवानी के साथी उस पत्थर के कोल्हू को भी लेते गये।

यद्यपि, जहाँ तक दामाद और सम्बन्धियो का सम्बन्ध था, उनका बर्ताव अच्छा था तो भी पाठक को वह स्थान अनुकूल नही, अपरिचित सा जान पड़ता था। अब भी वह अपने शिकार, अपनी यात्राओ की बाते सुनाते थे, और सुननेवाले भी होते थे, किन्तु उन्हे कहने मे वह रस न आता था। अब उनका अपना नाम चला गया था, और उसकी जगह वह अमुक के ससुर कहे जाते थे। पाठक का अपना मकान एक छोटे गाँव मे था, किन्तु वहाँ मील भर पर रानी की सराय अच्छा बाजार था और फेरीवाली खटकिने कोइरीन भी साग-भाजी लेकर आ जाया करती थी। इस झारखंड के गाँव मे खाने पीने की उन चीजो की सुविधा न थी। ऊपर से स्त्री वियोग और पुत्री-वियोग चित्त को खिन्न किये रहता था। अब एक और घटना हुई, जिसने उनके जीवन को बिलकुल ही नीरस बना दिया। पहिले तो नाना की विचित्र यात्राओं की बातो से प्रभावित नाती केदारनाथ एक वर्ष घुमक्कड़पन मे गवाँ आया। फिर मिडिल पास करने पर उस पर दूसरा खब्त सवार हुआ। कहने लगा—अँगरेजी म्लेच्छ भाषा है, मैं तो संस्कृत पढ़ूँगा, उसी मे स्वर्ग-मोक्ष का मार्ग रखा है। घरवालो के विरोध करने पर एक दिन वह चुपके से निकल भागा। पाठक के लिए यह बात असह्य थी। उनका सारा प्रेम उसी नाती मे केन्द्रित था। जब उन्हे पता लगा, कि नाती बदरीनारायण की ओर गया है, तो वह भी उधर चल पड़े, किन्तु उससे भेंट न हुई। पीछे नाती को बनारस मे रहकर संस्कृत पढ़ने की अनुमति हो गई। कुछ वर्षो तक वह बनारस मे संस्कृत पढ़ता रहा, किन्तु इसी बीच 1912 ईसवी मे पाठक ने सुना, कि नाती साधु होकर कही चला गया।

पाठक अब जीवन की अंतिम सीमा पर पहुँच चुके थे। उनका शरीर और हड्डियाँ जितनी दृढ़ थीं और जैसे वह नीरोग रहते आये थे, उससे अभी वह और जी सकते थे, किन्तु अब उन्हें जीने की चाह नहीं रह गई थी। 1913 में वह बीमार पड़े, जान गये अब चलना है। उस वक्त उनकी एक यही इच्छा थी, कि अन्तिम समय नाती को देख लें। किन्तु नाती उस समय डेढ़ हजार मील दूर मद्रास में था। वह जानता भी न था और यदि सुन भी पाता, तो कौन जानता है वह अपने वृद्ध नाना की आत्मशान्ति के लिए उनके पास आना पसन्द करता। रामशरण पाठक एक दिन चल बसे और उस प्रथा से गोद लेना हुआ जिसके द्वारा भतीजों को वंचित कर दूर गाँव के सम्बन्धियों को अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया जा सकता है।

4. गोवर्धन पांडे (पिता)

पुजारी—यह गोबर्धन पांडे का निजी नाम न था, किन्तु गाँववाले ज़माने से ही उन्हें इस नाम से पुकारते थे।

पुजारी का जन्म 1875 ईसवी में एक देहात के एक बहुत ही छोटे गाँव कनैला में हुआ था। उनके गाँव से कोस-कोस भर तक कोई कच्ची-पक्की सड़क न थी, डाकखाना चार मील दूर था और बाजार भी उतनी ही दूर। यही हाल पाठशाला या मदरसे का था।

पुजारी अपने पिता की ज्येष्ठ सन्तान थे। उनके पिता की अपने गाँव में ही प्रतिष्ठा न थी, बल्कि आसपास के कितने ही गाँवों में उनके बिना पंचायत न होती थी। ईमानदारी और विशालहृदयता उनकी पैतृक सम्पत्ति थी। पुजारी के पिता जानकी पांडे एक बड़े परिवार के प्रधान थे। यद्यपि जानकी पांडे अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे, तो भी अपने चचेरे तीन भाइयों के साथ उनका सगे भाई से भी अधिक प्रेम था। सबसे छोटे महादेव पांडे को तो उन्होंने दूर के गाँव में संस्कृत पढ़ने के लिए भी भेजा था। यद्यपि उनकी पढ़ाई 'सत्यनारायण' और 'शीघ्रबोध' से आगे नहीं बढ़ी, तो भी उन्हें गाँव में पंडित कहा जाता था, और यह भी उस गाँव के लिए बस थी।

पुजारी के पिता का देहान्त 45-46 वर्ष की ही उम्र में हो गया। उस वक्त पुजारी 15 वर्ष के हो पाये थे। उनसे छोटा एक भाई प्रताप और तीन बहनें [illegible] और महरानी थीं, जिनमें सबसे छोटी 6-7 वर्ष से अधिक की न थी। पिता ने रवाज के मुताबिक बड़े लड़के और बड़ी लड़की की शादी 10-12 वर्ष की ही अवस्था में कर दी थी। पिता के मरने के समय तीनों चचेरे चचा (मथुरा, गोकुल, महादेव) एक ही घर में रहते थे। तीनों ही भलेमानस और अपने भाई के प्रेमपूर्ण बर्ताव से कृतज्ञ थे। यदि उनकी चलती तो वह पुजारी को बाप के मरने का ख्याल भी न आने देते, किन्तु पुजारी की माँ लगभग दूसरी धातु की बनी थी। मीठी बोली तो मानो वह जानती ही न थी। जरा सी बात में चार सुना देना उनकी आदत में था। पति के जीते समय तो जबान पर भारी अंकुश था, किन्तु पीछे कोई रोकनेवाला न था। उनका हृदय बहुत संकीर्ण था। वह कुढ़ा करती—खेती और धन में हमारा आधा हिस्सा होता है, देवर और उनके लड़के-बाले हमारे धन को खा रहे हैं। जरा सी बात में वह ताना दे चलती थी। चचेरे देवर और देवरानियाँ पहले बहुत लिहाज करती रहीं, किन्तु आये दिन की किचकिच से उनका नाकों दम हो गया, और तीन वर्ष बाद पुजारी को उन्हें अलग हो जाना पड़ा।

पुजारी की माँ अब बहुत प्रसन्न थी। उन्होंने घर में ही नहीं, हर बात में अपना राज्य स्थापित किया था। खेत उनके पास काफी थे। काम करने के लिए कुछ चमार और हरवाह भी मिल गये। किन्तु पुजारी की रुचि खेती में

1. वंश के लिए देखो 'सांकृत्यायन वंश' परिशिष्ट।

हो सकती थी ? माँ के झगड़ालू स्वभाव के कारण 15 वर्ष की ही उम्र में परिवार का सारा बोझ उनके कंधे पर आ पड़ा था। कहाँ खाने-खेलने का समय और कहाँ यह जिम्मेवारी ! उन्हें खेती-बारी और परिवार को ही सँभालना न था, बल्कि छोटे भाई और दो बहिनों की शादी भी करनी थी। भाई-बंधु इच्छा रहते भी सहायता न कर सकते थे, क्योंकि पुजारी की माँ के स्वभाव से वे परिचित थे। कहावत थी–लखपती के मारे कुत्ते भी दरवाजे पर नहीं फटक सकते।

कनैला के आसपास पढ़ने का कहीं इन्तिजाम न था, यह कह आये हैं। किन्तु पिता के जीते समय–जब पुजारी तेरह-चौदह वर्ष के थे, तभी–कहीं से भूले-भटकते एक मुंशीजी उस झारखंड के गाँव में पहुँच गये। यद्यपि पीढ़ियों से उस गाँव के ब्राह्मणों ने विद्या से नाता तोड़ रखा था, तो भी अभी कुछ श्रद्धा बाकी थी, और मुंशीजी के पास आधे दर्जन से ऊपर लड़कों ने पढ़ाई शुरू कर दी। दो-ढाई सप्ताह के भीतर ही अधिकांश घर बैठ गये। डेढ़ महीने में मुंशीजी भी समझ गये–"धोबी बसिके का करे, दीगम्बर के गाँव।" मुंशीजी के चेलों में पुजारी ही थे, जो अन्त तक डटे रहे। कोदो देकर पढ़ने की कहावत बहुत मशहूर है; पुजारी ने कोदो तो नहीं दिया, किन्तु कहते हैं, दक्षिणा में मुंशीजी को कुछ धान ही मिला था।

इस प्रकार पन्द्रह वर्ष की उम्र, डेढ़ महीने की पढ़ाई और नीम से भी कड़वे जबानवाली माँ–इन तीनों साधनों के साथ पुजारी गृहस्थी सँभालने के काम में लग गये।

पुजारी गोबर्धन पांडे असाधारण मेधावी थे। बत्तीस वर्ष की उम्र में उनका जो ज्ञान था, उसे देखकर कोई नहीं कह सकता था कि उनकी पढ़ाई सिर्फ डेढ़ महीने की है। उनमें ज्ञान की बड़ी प्यास थी। अथवा ज्ञान कौन-कौन हैं, यह भी तो उन्हें मालूम नहीं था; फिर प्यास कहाँ से आती ? हाँ, काम में जिस ज्ञान की जब जब आवश्यकता होती, वह उसके पीछे पड जाते और न जाने कहाँ और किसके पास से सीखकर ही छोड़ते। उन्हें जोड़, बाकी, गुणा, भाग ही नहीं मालूम था, बल्कि भिन्न, त्रैराशिक और पंचराशिक भी लगा लेते थे। एक समय गाँव में सरकारी पैमाइश शुरू हुई। उस समय उन्होंने अमीनों के पास बैठकर पैमाइश का हिसाब भी सीख लिया।

गोवर्धन पांडे की पूजापाठ में बड़ी श्रद्धा थी, इसी से अठारह वर्ष की उम्र में ही वह पुजारी कहे जाने लगे। वह बिना स्नान-पूजा के पानी भी नहीं पीते थे। उनके पाठ में यद्यपि पहिले हनुमान चालीसा था, किन्तु धीरे-धीरे हनुमान-बाहुक, विनय-पत्रिका और रामायण भी शामिल हो गये। रामायण के उन्होंने बहुत पाठ किये थे, और उसके ज्ञानदीपक जैसे स्थलों का उनका किया अर्थ बहुत बुरा न होता था। हर एक धर्मभीरु ब्राह्मण को अच्छी-बुरी साइत का ज्ञान रखना जरूरी ठहरा। पुजारी के सारे गाँव के ब्राह्मणों के लिए कुल मिलाकर सिर्फ एक घर यजमान था। यदि यजमानी बड़ी होती तो शायद पुजारी को कुछ और पढ़ने का अवसर मिला होता। जब उनकी स्त्री (कुलवन्ती) बीमार पड़ी, उस समय उन्होंने 'रसराज महोदधि' को भी मँगा लिया, और यदि लोग कच्चे औषध की भयंकरता का डर न दिखलाते, तो शायद वह अपने बनाये मकूर से ही पत्नी की चिकित्सा करते। उस समय अखबार अभी गाँवों तक नहीं पहुँचे थे, तो भी जिन पुस्तकों का गाँवों में प्रवेश था, पुजारी उन्हें पढ़-समझ सकते थे।

एक ओर पुजारी कट्टर पुजारी थे, दूसरी ओर नई बातों के सीखने के लिए उनका दिमाग बिलकुल खुला था। पुजारी की बस्ती के भीतर सिर्फ एक कुआँ था, जिसके लम्बे चौड़े आकार और टूटी-फूटी हालत को देखकर लोग उसे सतयुग के आसपास का बना कहते थे। उसकी ईंटें एक ओर से पहिले ही गिर चुकी थीं। एक दिन वह सारा ही कुआँ बैठ गया। अब लोगों को दूर के कुएँ से पानी भरकर लाना पड़ता था। पुजारी उस समय 30-31 वर्ष के हो चुके थे। उनके पास धन भी था। उन्होंने अपने द्वार पर एक कुआँ बनवाना चाहा। उन्होंने अपने दिल में कुएँ का नक्शा खींचा–कुआँ ऐसा हो, जिसकी दीवार से घड़ा न टकराये; यदि नीचे की अपेक्षा कुएँ का ऊपरी भाग संकीर्ण कर दिया जाय, तो यह हो सकता है। ईंटों के भी प्रचलित आकार को छोड़कर उन्होंने अपने मन के आकार की ईंटों का साँचा बनवाया। उनमें कुछ तो डेढ़ फुट लम्बी और 6-7 इंच चौड़ी

थीं। अपने गाँव की 'बड़ी पोखर' की प्राचीन ईंटों को देखकर शायद उनको इतनी लम्बी ईंटों के बनवाने का साहस हुआ। उस काल की ही भाँति यदि ईंधन की इफरात होती और ईंधन ठीक तरह लगाया जाता, तो कदाचित वे पक जाती। किन्तु पुजारी का ध्यान इधर न गया, और ईंटे बहुत सी अधपकी रहकर टूट गई। तो भी उनके काम-भर के लिए ईंटें तैयार मिल सकीं। पुजारी के बुलाने पर उनके ससुर पाठकजी कुआँ बँधवाने के लिए राज लिवाकर आये। ईंटों के विचित्र आकार को ही देखकर ससुर और राज दोनों का माथा ठनका। उस पर पुजारी ने कुआँ बाँधने की अपनी योजना पेश की। राज चिल्ला उठा—अरे ! यह क्या कह रहे हो ? यदि कुएँ का मुँह सिकोड़ दिया जायगा, तो ईंटें कुछ ही दिनों में आगे की ओर गिर जायेंगी। पुजारी ने कहा—और मेहराब में ऐसा क्यों नहीं होता ?

खैर, पुजारी के आग्रह को देखकर राज ने उसी प्रकार कुएँ को बाँधना शुरू किया। कुछ दूर बाँधने और मिट्टी निकालने पर कुआँ भीतर से बहुत बालू फेंकने लगा। राज ने सारा दोष कुएँ की नई चिनाई के मत्थे मढ़ा और फिर से उधेड़कर पुरानी चाल से बाँधने के लिए कहा। किन्तु पुजारी कब माननेवाले थे। जब कुआँ सही-सलामत बनकर तैयार हो गया, तब पाठकजी कहने लगे—तैयार तो हो गया, किन्तु इसकी शक्ल कुईयाँ-सी है; पुराने ढंग से बनवाने पर यह एक अच्छा खासा कुआँ मालूम होता।

पुजारी ने छोटे भाई को अपने बहनोई महादेव पंडित (बछवल) के घर पढ़ने के लिए भेजा था, किन्तु उसने इतना ही पढ़ा—'ओनामासिधम, बाप पढ़े ना हम।' दो चार बार भाग आने पर पुजारी ने और जोर देना छोड़ दिया। दोनो बहिनों और भाई की भी शादी कर दी। अब दोनों भाई मिलकर खूब मेहनत करते थे। घर के प्रबंध में माँ बहुत दक्ष थी। हर साल हो खर्च करने के बाद कुछ पैसा और अनाज बचने लगा। पुजारी ने उसे सूद और सवाई पर देना शुरू किया। सूद और मूल में गाँव के कुछ लोगों के खेत भी अपने पास रेहन आये। यद्यपि गाँव में टोनागढ़ से छोटे जयपाल पांडे के पास सबसे अधिक खेत थे, किन्तु अगहन बीतते बीतते उनका घर अनाज से खाली हो जाता था, और उधार और खरीद की नौबत आती थी; इसीलिए पुजारी गाँव में सबसे अधिक धनी समझे जाते थे।

पुजारी का जीवन अब सेठ का जीवन था। यद्यपि मऊ के रोजगारियों और सौदागरों की भाँति तो नहीं, फिर भी पुजारी का धन प्रति वर्ष बढ़ रहा था। उन्हें अभी तक कचहरियों से वास्ता न पड़ा था, किन्तु इसी समय पुजारी के गाँव में पैमाइश होने लगी। अभी तक खेत, बाग, परती सभी का हिसाब पटवारी के यहाँ रहता था; किन्तु अमीनों ने पैमाइश के साथ उसका कब्जा पूछना शुरू किया। यही तो कमाने का समय होता है। यदि इधर की उधर और उधर की इधर न करे, तो खाक कोई अमीन को पूछेगा। हाँ, यह ऐसा भी समय है, जब पहिले की पैमाइश की बेईमानियाँ भी प्रकट होने लगती है। हम कह चुके है, पुजारी बड़े मेधावी पुरुष थे। गाँव मे आये हुए अमीन के पास जाकर वह कागज पत्र देखने लगे। उन्हें मालूम हुआ कि पहिले के कितने ही उनके खेत औरों के कब्जे में है। कुछ में इधर नये सिरे से गोलमाल हुआ है। पुजारी उन आदमियों में से थे, जिनका सिद्धान्त होता है- न अपना एक पैसा जाने देना और न दूसरों का एक पैसा लेना। अब पुजारी के लिए बन्दोबस्त के डिप्टी के पड़ावो और जिला तथा तहसील की कचहरियों पर धरना देना जरूरी हो गया। जिस पूजा के नियम के कारण उनका नाम पुजारी पड़ा था, वह छूटे कहाँ से ? उसमें तो कुछ वृद्धि भी हुई थी। यदि पहिले एकादशी का ही व्रत होता था, तो अब महीने के चार अलोने अतवार भी शामिल कर लिये गये थे। कचहरी का काम तो घर की तरह अपने वश का नही, और बिना पूजा-स्नान के पुजारी पानी भी नही पी सकते थे। फलतः कभी-कभी सूर्यास्त और पुजारी की स्नान पूजा साथ-साथ होती थी। उन्होंने गंगातट या काशी में बाल बनवाने का भी नियम कर लिया था, इसलिए उनके दाढ़ी बाल दो-दो, चार चार महीनो तक नहीं बन पाते थे।

पुजारी यद्यपि धार्मिक और श्रद्धालु आदमी थे, तो भी उनकी श्रद्धा अन्धश्रद्धा न थी। यही कारण था,

जहाँ गाँव के लोग सभी लम्बी दाढ़ी, भारी जटा, छोटी लँगोटी और सफेद भभूत को साष्टाग दडवत करना अपना धर्म समझते थे, वहाँ पुजारी बिना गुण की परख पाये ऐसे साधुओ की आवभगत से दूर रहते थे। हाँ, उनके गाँव से कुछ दूर उमरपुर के निर्जन स्थान मे एक वृद्ध परमहंस रहा करते थे, जिनकी आयु के बारे मे बूढ़े-बूढ़े लोग भी कसम खाने के लिए तैयार थे कि उन्होंने जब से होश सँभाला तब से परमहस बाबा को ऐसा ही देखा। यह भी कहा जाता था कि परमहम बाबा अपनी जन्मभूमि (पोखरा) नेपाल मे विद्या पढ़ने के लिए बनारस आये थे, वही पीछे विरक्त हो राजघाट के पास एक कुटिया मे रहने लगे। जब राजघाट मे रेल आई और उसकी गड़गडाहट से उनके ध्यान मे विघ्न पडने लगा, तो वह मुफ्त मे मुक्ति देनेवाली काशी को छोड़कर अपने एक भक्त के साथ पुजारी के आसपासवाले प्रदेश मे चले आये। पुजारी परमहसजी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। हर चौथे-पाँचवे दिन वह दर्शनार्थ वहाँ पहुँचते थे।

पुजारी के सुखमय जीवन की दिशा का अब अन्त हो रहा था। इतने समय मे उनकी आर्थिक अवस्था ही अच्छी नही हो गई थी, बल्कि उनके एक कन्या और चार पुत्र भी हो चुके थे। पिता की मृत्यु के बाद घर मे किसी की मृत्यु से उन्हे अपनी आँखे भिगोनी नही पड़ी थी। एक तरह वह भूल ही गये थे, कि संसार मे मृत्यु भी कोई चीज है। इसी समय पुजारी की धर्मपत्नी बीमार पड़ी। पुजारी के उस झारखड के गाँव मे वैद्य पहुँचते ही कहाँ थे ? ओझा-सयाने ही सुलभ थे, किन्तु पुजारी उन्हे फूटी आँख से भी देखना नही चाहते थे। उनकी माँ ने एक-आध बार चुपके से जाकर अपने देवर ओझा से पूछा और सदैव ओझा ने बताया कि सारा फिसाद घर के पास बाँसवाली चुडैल का है, किन्तु पुजारी के मारे उसकी शान्ति-पूजा हो तब न ! पुजारी इस समय स्वय 'रसराजमहोदधि' के पन्ने उलट रहे थे। उन्हे यह मालूम हो गया कि स्त्री को पाण्डु रोग है। कुछ अपनी और कुछ दूसरे यमराज-सहोदर वैद्यो की दवा भी की; और भी जो उपचार बन पड़ा, किया, किन्तु, कुछ महीनो की बीमारी के बाद स्त्री चल बसी। बाहर प्रकट न करने पर भी पुजारी को बड़ा दुःख हुआ।

इस समय पुजारी पूरे तीस वर्ष के भी न हो पाये थे। खाते-पीते व्यक्ति का ब्याह करने के लिए सभी लोग तैयार रहते है। स्त्री की बरखी भी न हो पाई थी, कि ब्याह करनेवाले मँडराने लगे। लेकिन पुजारी ने साफ कह दिया—मेरे पाँच बच्चे है। ब्याह का फल मुझे मिल चुका है। अब मुझे शादी नही करना है।

पुजारी के इस दुःख को कम करने मे सहायक कुछ और भी बातें थीं। सबसे पहिले तो उनके अपने मन की दृढ़ता थी। बच्चों का प्रेम भी मददगार था। उनका भाई बहुत ही आज्ञाकारी था—इतना आज्ञाकारी कि कभी-कभी इसके लिए उसे अपनी स्त्री का ताना सुनना पड़ता था। पुत्रों के सयाने होने पर पुजारी को और अच्छे दिनों की आशा थी।

पुजारी के धार्मिक विचारो मे उदारता, दया भी सम्मिलित थी।

एक समय की बात है। पुजारी उस समय 20-21 वर्ष से अधिक के न रहे होगे। वह एक जगह चुपचाप उदास बैठे थे। साधारण उदास नही, बहुत ही उदास। कारण यह था : पुजारी के पूर्वज कुछ पीढ़ी पहिले सरयूपार से आकर इधर बस गये थे। अब भी लोग कम से कम अपनी कन्याओ का सरयूपार (गोरखपुर जिले मे) ही ब्याहना पसन्द करते थे। वह अपनी दोनो छोटी बहनो के लिए वर ढूँढने सरयूपार गये। लोगो ने भुलावा देकर एक घर के दो लड़को का तिलक चढ़वा दिया। घर आने पर पता लगा कि बरवाला घर किन्ही कारणो से नीच समझा जाता है। उन्होंने तिलक लौटा देने की बात कही, जिस पर बरवाले तरह-तरह की धमकी देने लगे। पुजारी के भाई-बन्धु भी उन्हे समझाने लगे। किन्तु, पुजारी कब अपनी बहनो को कुजाति के घर ब्याहने लगे ? बहुत जोर देने पर वह फूट-फूटकर रोने लगे, और बोले—मै दोनो बहनो को गले से बाँधकर पानी मे डूब मरूँगा, पर उस घर मे शादी नही करूँगा।

आखिर पुजारी ने वहाँ शादी नहीं की।

और जगहों की भाँति पुजारी के गाँव में भी गरीब व्यक्ति बिना ब्याहे ही बूढ़े हो जाते थे। गाँव का एक ब्राह्मण तीस वर्ष से ऊपर का हो गया था, और अब तक उसका ब्याह नहीं हुआ था, न होने की आशा ही थी। दूसरे गाँव में उसकी रिश्तेदारी में एक तरुण-विधवा थी। दोनों का देवर-भाभी का नाता था। नित्य की आवाजाही से दोनों में प्रेम ही नहीं हो गया, बल्कि छिपकर रखने की अपेक्षा वह अपनी भावज को घर पर लाकर रखने लगा। पहिले तो मालूम हुआ, वह मेहमानी में आई है, किन्तु पीछे बात प्रकट हो गई। पुजारी को यह बात असह्य मालूम हुई और वह बलपूर्वक उस विधवा को गाँव से निकालने के लिए गये। बड़ी मुश्किल से लोग उन्हें मनाकर लाये। कहते थे–गाँव में यह बहुत ही बुरा उदाहरण होगा, इसे देखकर यह रोग औरों में भी फैलेगा।

इस घटना से पुजारी की सामाजिक अनुदारता सिद्ध होगी, तो भी यदि पुजारी को दुनिया के बारे में और अधिक सुनने-जानने का मौका मिला होता, तो वह अपने विचारों को जल्दी बदल भी देते, समझ में आ जाने पर वह किसी बात के लिए दुराग्रह नहीं करते थे।

पुजारी की तीन हर की खेती थी, जिसमें एक हलवाहा था चिनगी चमार। चिनगी किसी समय कलकत्ता में किसी साहब का साईस रह चुका था। उसके एक लड़का कलकतिया और तीन लड़कियाँ थी। ब्याह हो जाने पर लड़कियाँ अपने घर चली गईं, और कुछ समय बाद चिनगी का एकलौता बेटा मर गया। पुत्रस्नेह बहुत बड़ी चीज होती है, किन्तु इन मजदूर-जातियों के लिए बेटा तो बुढ़ापे का बीमा होता है। खुशी-नाराजी जैसे भी हो, उसे अपने बूढ़े माँ-बाप का बोझा उठाना ही पड़ता है। बूढ़े चिनगी के लिए पुजारी भारी अवलम्ब थे। वह उसके पुत्र-शोक और भूख को मिटाने का बहुत ध्यान रखते थे। इसके लिए पुजारी की माँ कभी-कभी बोल भी उठती थीं। कुछ दिन बीमार रहकर एक दिन माघ की बदली में चिनगी चल बसे। लोगों को बहुत अचरज हुआ, जब पुजारी ने कहा–चिनगी भगत की दाह-क्रिया गंगातट पर (जो वहाँ से प्रायः तीस मील पर था) होगी। शर्म-संकोच या दबाव से ही चिनगी के भाई-बन्धु उस बदली में लाश ले जाने के लिए तैयार हुए। पुजारी के साथ जाकर गंगातट पर चिनगी का दाह-कर्म कराया, क्रिया-कर्म भी हुआ। लोग कहते थे, पुजारी पर चिनगी का पहिले जन्म का कर्ज था।

पुजारी का एक बलिष्ठ बैल एक दिन लड़ते-लड़ते उनके अपने बनवाये कुएँ में गिर पड़ा। बहुत प्रयत्न से जीता तो निकल आया; किन्तु उसका पिछला एक पैर बेकार हो गया। लँगड़े बैल से कोई काम लेना मुश्किल था। कम खेतवाले कुछ लोगों ने कई बार कहा–बैल हमें बेच दीजिए। पुजारी का कहना था–बैल न बेंचा जा सकता है और न काम के लिए दिया जा सकता है। तन्दुरुस्त और मजबूत होते वक्त उसने हमें कमाकर खिलाया। क्या काम न कर सकने पर बूढ़े माँ-बाप बेंच दिये जाते हैं ?

थोड़ी-सी महाजनी के अलावा पुजारी का प्रधान पेशा था खेती। खेती के सम्बन्ध में किसान कट्टर सनातनी होते हैं। पुजारी का गाँव कनैला बाजार, स्टेशन, शहर, सड़क सभी से बहुत दूर था, इसलिए उनके गाँव में खेती-सम्बन्धी नई बातों का पहुँचना मुश्किल था। तो भी पुजारी लोगों के मजाक करते रहने पर भी घर के काम के लिए आलू, मूली, गाजर और गोभी बोने लगे थे। एक बार वह कहीं लाल रंगवाली बड़ी ऊख देख आये। उसे लाकर उन्होंने पाँच बिस्वा खेत में बो दिया। गाँव और घरवाले कहते ही रह गये–यह ऊख क्या कोल्हू में जाने पायेगी, इसे तो लोग दाँतों से ही साफ़ कर डालेंगे। ऊख की फ़सल अच्छी हुई, साथ ही लोगों की बात भी सच निकली, और नरम तथा मोटी ऊख पर छिप-छिपकर बहुतों ने दाँत साफ़ किये। किन्तु उससे यह फ़ायदा हुआ, कि दूसरे साल गाँव में कई आदमियों ने उसी गन्ने की खेती की। तीसरे साल तो पुजारी ने डेढ़-दो एकड़ बोया। ऊख इतनी जबर्दस्त हुई कि घरवाले चिन्ता करने लगे–यह ऊख तो सोंझेवाले पत्थर के कोल्हू में आषाढ़ तक भी खतम न होगी। पुजारी ने पहिले आसपास से पत्थर का कोल्हू खरीदना चाहा। न मिलने पर बनारस के पास तक की हवा खा आये। पुजारी किसी बात का फैसला तुरन्त नहीं कर सकते थे, इसीलिए उन्हें अनेक बार मीठी-कड़वी भी सुननी पड़ती थी। पाठकजी तो उन्हें 'जड़वारोग' (ठंडक का रोग)

कहा करते। दो-तीन बार खाली हाथ लौटने तथा काम के डेढ़-दो मास निकल जाने पर घरवाले और नाराज हुए। अन्त मे हफ्ते-भर गुम रहने के बाद एक दिन पुजारी बैल पर लोहे का कोल्हू लदवाये पहुँच गये। गाँव मे, और शायद उस देहात में भी, यही पहिला लोहे का कोल्हू था। लोग डर रहे थे—कल तो अक्सर बिगड़ जाया करती है; बिगड जाने पर कौन मरम्मत करेगा ? किन्तु पुजारी बेफ़िक्र थे। सयोग से कोल्हू बहुत अच्छा निकला। उसी साल उसका दाम सध गया। तीन-चार साल काम लेकर पौन दाम पर उन्होने उसे बेंच भी डाला।

पुजारी सादगी के पुजारी थे। वह एक नम्बरवाली मारकीन को बहुत पसन्द करते थे। कहा करते थे, यह कपडा बहुत मजबूत होता है, जाड़ा-गर्मी दोनो मे काम आ सकता है; इसको पहननेवाला न शौकीन ही कहा जाता है और न दरिद्र ही। खद्दर के युग से कुछ दिन पूर्व ही वह इस ससार से चल दिये, नही तो पुजारी उसके अनन्य भक्त होते।

पुजारी की भूरे बालोवाली गोरी-गोरी एकमात्र कन्या रामपियारी माँ की मृत्यु के एकाध ही वर्ष बाद मर गई। पुत्रो मे बडा ननिहाल में पढता था, बाकी तीन गाँव से तीन मील दूर के मदरसे मे पढ़ने के लिए बैठा दिये गये थे। पुजारी अभी भविष्य का सुख-स्वप्न देख रहे थे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने उस स्वप्न को चूर-चूर कर दिया। उनका बडा लड़का केदारनाथ अब पिता के गाँव मे अधिक आने-जाने लगा था। पिता और उनके मित्रो की देखा-देखी वह भी परमहस बाबा की कुटिया मे पहुँचने लगा, और परमहसजी के एक शिष्य उसके कान म वेदान्त और वैराग्य का मन्त्र फूँकने लगे। वैराग्यशतक और विचार सागर के साथ देश-देश के नदी-पर्वत, नगर-अरण्य के मनोरम चित्र उसके सामने खिंचने लगे। इसका असर पड़ना जरूरी था। आखिर पुत्र ने भी पिता की भाँति पूजा-पाठ शुरू किया, त्रिकाल सन्ध्या स्नान और एकाहार आरम्भ किया। पुजारी को तो इससे चिन्ता न हुई, किन्तु घर के सारे लोग सोलह वर्ष के लड़के के इस रग ढग को देखकर आशकित होने लगे।

एक दिन (1910 ई मे) अचानक लडका गायब हो गया। यद्यपि दो बार पहिले भी वह भागकर कुछ महीने कलकत्ता रह आया था; किन्तु तब वैराग्य का भूत सिर पर सवार न होने से उतना डर न था, इसीलिए उस समय इतनी चिन्ता न हुई थी। पुजारी की चिन्ता तब दूर हुई जब उन्होंने सुना, लडका घूम फिरकर बनारस लौट आया है और वहाँ सस्कृत पढ़ रहा है। पुजारी ने खुशी से सस्कृत पढ़ने की अनुमति दे दी, और उन्हें आशा हो चली कि अब वह हाथ से न जायगा।

दो वर्ष बीतते-बीतते उन्होंने सुना—लडका बनारस से कही चला गया। कुछ महीना बाद जब उन्हें मालूम हुआ कि वह दूसरे प्रान्त (बिहार) के एक मठ में साधु हो गया है, तो वह अपने बहनोई महादेव पडित को लेकर वहाँ पहुँचे। उन्होने लड़के की अनुपस्थिति में समझा बुझाकर मठ के महन्तजी को इस बात पर राजी कर लिया कि वह घरवालों का दर्शन देने के लिए एक बार अपने चेले को जाने दे। लौटाने का वादा तो झूठा था, तो भी भोले-भाले महन्तजी पडितजी की चिकनी-चुपड़ी बातों म आ गये। आने पर लड़के को यह बात अरुचिकर मालूम हुई, किन्तु दूसरा चारा न था। लडका घर पर लाया गया। अब एक ओर तो लड़के के लिए (पुजारी के स्वभाव के विरुद्ध) शौकीन कपडो तथा पान आदि का प्रबन्ध किया गया और दूसरी ओर उसके जाने-आने पर कड़ी निगाह रखी जाने लगी। लड़का एक बार भागा, लेकिन स्टेशन पर पुजारी ने जा पकडा। इस तरह काम न बनते देखकर लड़के ने विश्वास पैदा कराना चाहा, और तीन मास तक अवसर ढूँढ़ने के बाद वह अपने इस बन्दी-जीवन से मुक्त हुआ।

पुजारी को इसका कितना दुःख हुआ, यह इसी से मालूम होगा, कि चिन्ता के मारे दो वर्ष बीतते-बीतते उनके दिमाग मे एक प्रकार का उन्माद हो गया। लड़का उस समय आगरे में पढता था। एक मित्र ने सब हाल बताकर एक बार पिता को देखने के लिए कहा। इस पर लड़का घर आया। पुजारी को प्रसन्नता ही नही हुई, बल्कि जब उनके दिमाग की गर्मी दूर करने के लिए फस्त खोलनेवाला लाया गया तो उन्होंने कहा—क्या करोगे ? अब मेरी तबीअत अच्छी हो गई। एक हफ्ते के बाद लड़के को इच्छानुसार जाने भी दिया गया।

दो वर्ष और बीत गये। लड़के का कोई पता न था। एक दिन पता लगा, वह बनारस आया हुआ है। फिर जबर्दस्ती घर पर लाकर नजरबन्दी का वही अस्त्र काम में लाया गया। उसने अपने बन्धुओं से कह दिया—इस बार निकल जाने पर फिर तुम नहीं पकड़ सकोगे। आखिर आदमी का बच्चा कब तक बाँधकर रखा जा सकता है ? एक दिन वह निकल भागने में समर्थ हुआ। बनारस से वह विंध्यापर्वत की तलहटी में पहुँचा। किन्तु पुजारी को लड़के के एक मित्र ने बता दिया, और वह वहाँ जा पहुँचे।

पुजारी उन आदमियों में से थे, जो घोर से घोर वेदना को हृदय के भीतर इस तरह से छिपा सकते हैं कि उसकी छींट आँख तक भी नहीं पहुँचने पाये। तो भी एक बार उन्होंने पुत्र के सामने दिल खोलने का प्रयास किया। 'नहीं' कह के अभी हल्ला गुल्ला सुनने की हिम्मत न होने से पुत्र ने उन्हें वहीं कहीं रहकर प्रतीक्षा करने के लिए कह दिया। पुजारी यद्यपि पुत्र की मानसिक अवस्था को समझने लगे थे, और कभी कभी चाहते भी थे, कि उसे अपनी मर्जी पर रहने दिया जाय, किन्तु अन्त में पुत्र-स्नेह का पल्ला भारी हो जाता था।

उनकी वह अर्द्ध-विक्षिप्तावस्था जानकारों के हृदय में सहानुभूति पैदा किये बिना नहीं रहती थी। लड़का जिनका अतिथि था, उनकी माता पुजारी की अवैतनिक गुप्तचर थी। कुछ सप्ताहों बाद जब लड़का चुपचाप एक्के पर सवार होकर स्टेशन की ओर भाग चला, तब पुजारी को खबर मिलते देर न लगी; और एक्के के पहुँचने के कुछ ही देर बाद वह भी स्टेशन आ धमके। दस या बारह मील के रास्ते को उन्होंने दौड़कर ही काटा होगा। वह जानते ही थे कि एक बार रेल में बैठ जाने पर उसे पाना उनके लिए असम्भव हो जायगा। ट्रेन के आने में पन्द्रह-बीस ही मिनट की देर थी।

लड़के ने साथ छोड़ देने के लिए जब कुछ अधिक कहना चाहा, तो पुजारी बच्चों की भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। स्टेशन के यात्री इकट्ठे होकर उसको लानत मलामत करने लगे। जान बचाने के लिए उसे फिर बनारस आना पड़ा। बनारस में आकर उसने समझाकर कह दिया—आप पकड़कर मुझे नहीं रख सकते। मेरी इच्छा घर जाने की बिलकुल ही नहीं है। घर न जाने की मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। आपके हठ से अपने ध्येय को छोड़ने की अपेक्षा मुझे मरना प्रिय होगा।

पुजारी शायद पहिले से काफी सोच चुके थे। उन्होंने तुरन्त और बहुत संक्षेप में कहा—अच्छा, अब मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा, किन्तु मैं भी घर न जाऊँगा। यहीं काशी में रहकर जिन्दगी बिता दूँगा।

लड़के को इतनी आसानी से छुटकारा पाने की कभी आशा न थी। वह दूसरी ट्रेन से चला गया।

कितने ही महीनों के बाद घरवाले मनाकर पुजारी को घर ले गये। घर उन्हें काल सा लगता था। धीरे-धीरे फिर चिन्ता ने देह और दिमाग पर प्रभाव जमाया। इसी दुःखमय चिन्ताग्रस्त अवस्था में उन्होंने चार वर्ष और बिताये। 1920 ई. का जून का महीना था, जब कि सुदूर दक्षिण में बाल-मित्र यागेश का पत्र मिला—मामा का देहान्त हो गया। पुत्र की आँखों में आँसू नहीं आये। चिट्ठी की बात पूछने पर उसने जिस प्रकार अपने मित्रों को यह खबर सुनाई, उससे वे बोल उठे—तुम्हारा दिल पत्थर का है, पिता की मृत्यु को सुनकर भी तुम्हें रंज नहीं हुआ।

उन्हें पुत्र के हृदय के भीतर की वास्तविक दशा यदि मालूम होती, तो ऐसा न कहते।

5. चौंतीस साल बाद

चौंतीस साल क्या होता है, इसका साक्षात्कार मुझे अब से पहिले कभी नहीं हुआ था। गिनने को कई घटनाएँ थीं, जिन्हें चौंतीस क्या उससे भी अधिक सालों में मैं गिन लिया करता था; मगर चौंतीस साल का ठीक-ठीक रूप मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने अपने जन्मग्राम पन्दहा—जो मेरे नाना का भी ग्राम है—में उन चेहरों को

देखा, जिन्हें मैंने यौवन के वसंत में देखा था। और आज ? मेरी तीन मामियों में से एक सूरजबली मामा की बहू को ले लीजिये। 1909 ई. में उन्हें मैंने 20-22 साल की तरुण सुन्दरी के रूप में छोड़ा था और आज उनके चेहरे पर गंगा-यमुना के असंख्य नाले खिंचे हुए हैं। ऊपर से एक आँख भी जाती रही है। आज उस सुन्दर चेहरे का कहीं पता नहीं। पंदहा के आज के निवासियों में मेरे परिचित चेहरों की संख्या एक दर्जन से अधिक नहीं होगी, और उन सबकी हालत पके आम की-सी है।

सारे परिचित चेहरे यद्यपि अधिकतर सदा के लिए विलुप्त हो चुके हैं, तथापि उनकी जगह मैंने बहुत से तरुण चेहरे देखे और उनमें से कितनों से परिचय प्राप्त किया। इन नव-परिचित चेहरों का साक्षात् होने से जो आनंद हुआ, उसी ने इस बात की न्याय्यता को समझा दिया, कि नयों के आने के लिए पुरानों का स्थान खाली करना जरूरी है।

सत्ताईस साल हो गये, जब से मैं अपने आजमगढ़ जिले में नहीं गया था। पचास साल पूरे होने के साथ 9 अप्रेल 1943 के बाद, मैं आजमगढ़ जिले में जाने के लिए स्वतंत्र था। यद्यपि इस समय की प्रतीक्षा मेरे बन्धुओं की तरह मैं भी कर रहा था, किन्तु दूसरे कामों को देखते हुए मैं समझ रहा था कि शायद इस वर्ष जाने का मौका न मिल सकेगा। लेकिन समय मिल गया।

12 अप्रेल की रात को एक बजे सीवान (छपरा) से नागार्जुन और मैं रेल द्वारा आजमगढ़ को रवाना हुए। मऊ में एक बजे दिन की तपती भूमि पर भी पैर रखते वक्त एक तरह का आनंद मालूम होता था। मालूम हो रहा था, किसी नियामत से मैं अब तक वंचित था और आज मुझे वह मिल रही है। दूसरी ट्रेन के जिस डिब्बे में हम बैठे, उसमें कितने ही बलिष्ट ग्रामीण भद्रजन बैठे थे। उनके लम्बे-चौड़े स्वस्थ शरीर को देखकर मुझे अभिमान हो रहा था। वे उसी भाषा को बड़ी जिन्दादिली के साथ बोल रहे थे, जिसे मैंने भी माँ के दूध के साथ सीखा था। मुझे इसका अफसोस हो रहा था कि मैं उसे अब नहीं बोल सकता।

आजमगढ़ जिले के सात दिन के निवास में अपने बन्धु-मित्रों से उनकी भाषा में बोलने का प्रयास मैंने करके देखा, लेकिन मेरे मुँह से छपरा की बोली निकलती थी।

आजमगढ़ के तरुण साहित्यिक श्री परमेश्वरीलाल गुप्त स्टेशन पर मौजूद थे, इसलिए शहर में धर्मशाला ढूँढ़ने की जरूरत नहीं पड़ी। मैं इस यात्रा में एक तीर्थयात्री के तौर पर गया था और शैशव के स्मरणीय स्थानों के साथ फिर से परिचय तथा साक्षात्कार की लालसा रखता था; इसलिए मैं सार्वजनिक रूप से किसी समागम या अभिनन्दन में शामिल नहीं होना चाहता था। गुप्तजी ने मेरे भावों का खयाल किया, यह प्रसन्नता की बात है।

आजमगढ़ शहर से यद्यपि मेरा जन्मग्राम पन्दहा, सात मील से ज्यादा नहीं है, मगर मैं शहर में बहुत कम गया हूँ। वहाँ के तहसीली स्कूल को देखा था। अबकी गया तो देखा, वह दूसरी जगह चला गया है। मकान नया है, किन्तु पुराने मकान की श्रीहीनता कायम रखने की पूरी कोशिश की गई है। शिबली-मंजिल आजमगढ़ की एक खास चीज है। इस्लामिक संस्कृति के मर्मज्ञ, अरबी-फ़ारसी के महाविद्वान् अल्लामा शिबली एक महान प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी लेखनी तथा अध्ययन-अध्यापन द्वारा देश की भारी सांस्कृतिक सेवा की है। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि उनके काम को और भी विस्तृत रूप में जारी रखकर मौलाना सुलेमान नदवी ने अपने गुरु की जीवित यादगार कायम रखी है। शिबली-मंजिल में कितने ही विद्वान् बड़े त्याग और तन्मयता के साथ इस्लामिक अनुसंधान और ग्रंथ-प्रणयन में लगे रहते हैं। शिबली-मंजिल का दार्-उल-मुआरिफ उर्दू-साहित्य को बहुत समृद्ध कर रहा है।

13 अप्रेल को सबेरे आठ बजे हम दोनों एक्के से रानी की सराय के लिए रवाना हुए। शहर से बाहर निकलते-निकलते पुलिसवालों ने हमारे एक्केवाले की जो गत बनाई, वह एक नया अनुभव था—आज पुलिस सर्वशक्तिमान है।

बचपन में पाँच-छः साल की उम्र में जब मैंने पढ़ने के लिए रानी की सराय में कदम रखा था, उस समय मैं बहुत डर-डरकर पैरों को रख पाता था। पन्दहा गाँव के लड़कों के लिए रानी की सराय एक सम्भ्रान्त नगरी

थी। वहाँ की हर एक बात से रोब टपकता था। जब रानी की सराय के लड़के 'पकड़ना' कहते, तब मैं समझता कि धरना नहीं पकड़ना ही नागरिक शब्द है। जब रानी की सराय के पुरुषों को धोती का एक भाग आधी जाँघ तक सीमित रख, दूसरे को घुट्टी तक छोड़ते देखता, तब मुझे मालूम होता, यह है नागरिक वेश। आगे चलकर रानी की सराय की नागरिकता का वह रोब नहीं रहा तो भी रानी की सराय के मदरसे के छः सालों का मेरे निर्माण में भारी भाग है।

सड़क से एक बार मैं बस्ती के आरपार हो गया, लेकिन किसी चेहरे को पहचान न सका। एक व्यक्ति कुछ देर खड़े होकर मेरी ओर देख रहे थे। किन्तु रामनिरंजन पंडित रानी की सराय में होंगे, इसका मुझे खयाल नहीं था। हम दोनों स्टेशन की ओर मुड़े। मेरे सुपरिचित रानी-सागर के दक्खिनी भीटे पर हिन्दी मिडिल और प्राइमरी स्कूल मिले। छुट्टी थी, इसलिए वहाँ सुनसान था।

फिर हम तालाब के उत्तरी भीटे की ओर गये। महावीरजी का वही मंदिर अब भी वहाँ मौजूद था, और साथ ही महावीरजी की सेना बानरों की संख्या कम नहीं थी। वह कुआँ भी मौजूद था, और उसका जल आज भी उसी तरह बदबू कर रहा था, जैसा बालपन में वह हर साल एक महीने के लिए हो जाया करता था। वहाँ मौजूद दोनों साधुओं से कुछ पूछताछ शुरू की। गेरुआधारी फक्कड़ बाबा (बलदेवदास) मेरी ओर खास तौर से देखने लगे और दो-चार ही बातें कर पाया हूँगा, कि उन्होंने झट पूछ दिया—आप राहुलजी तो नहीं हैं। फक्कड़ बाबा भी उस वक्त रानी की सराय स्कूल में पढ़ते थे, जब मैं वहाँ दो दर्जा नीचे पढ़ रहा था। अब अपने परिचितों का पता पाना आसान था, लेकिन मेरे अधिकांश परिचित जीवन-शेष कर चुके थे। महावीरजी के मंदिर के पास बरगद की जड़ में एक खंडित मूर्त्ति रखी थी—गुप्तकालीन मूर्त्ति छिपी नहीं रह सकती।

फक्कड़ बाबा के साथ अब हम उस स्थान पर आये, जहाँ किसी वक्त हमारा पुराना मदरसा था। बीच में शाला (दालान), तीन तरफ बराण्डा, एक तरफ दो कोठरियाँ—मदरसे का वह नकशा अब भी मेरे स्मृति-पट पर अंकित है। हर जाड़े में होनेवाली सफेदी से उज्ज्वल उसकी भीतें अभी भी मुझे दिखलाई पड़ती हैं। चारों ओर की चहारदीवारी से घिरे हाते में लगे गेंदे के फूलों की सुगन्ध मानो अब भी मेरी नाक में आ रही थी। लेकिन अब मैंने उस स्थान को देखा तो चित्त खिन्न हो गया। अब वहाँ उस मदरसे का कोई चिह्न नहीं रह गया था। वहाँ थे अडूसे और कुछ दूसरे कटीले पौधे। लोग इस स्थान को खुले पाखाने के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। हाँ, हमारी परिचित इमलियों में एकाध अभी भी मौजूद थीं।

बाजार में द्वारिकाप्रसाद, रामनिरंजन पंडित तथा कुछ और मित्र मिले। उनका स्नेह-भरा स्वागत प्राप्त हुआ।

रानी की सराय से पन्दहा मील-भर से ज्यादा दूर नहीं है। धूप में हम जाना नहीं चाहते थे, किन्तु हमारे आने की खबर पन्दहा पहिले ही पहुँच चुकी थी। रामदीन मामा के पुत्र कैलाश प्रस्थान करने से पूर्व ही आ भी गये।

मदरसा आने के हमारे दो रास्ते थे, जिन्हें मैं बचपन की सुनी कहानी के छः महीने और बरस दिन के रास्ते से तुलना किया करता था; यद्यपि दोनों में कौन छः महीने और कौन बरस दिन का था, इसका निर्णय मैं कभी नहीं कर पाया। मेरे लिए दोनों कठिन रास्ते थे। एक पर एक ठूँठा पीपल था और ठुँठवा बाबा का प्रताप इतना जगा था, कि फल और तरकारी बेंचनेवाले स्त्री-पुरुष भी वहाँ बिना कुछ चढ़ाये आगे नहीं बढ़ते थे। दूसरे रास्ते पर, बस्ती से दूर नीम के पेड़ों से ढँका बालदत्त राय का पोखरा था; जिससे दोपहर के वक्त भी सही-सलामत पार हो जाना मुश्किल था। वहाँ एक नहीं, हजारों भूत जेठ की दुपहरी में नाचा करते थे। इन दोनों स्थानों के बाबों के चरणों में नानी को गिड़गिड़ाकर नाती के लिए दुआ माँगते देख मुझे विश्वास हो गया था, कि ये स्थान भारी खतरे से भरे हुए हैं। मैं उर्दू का विद्यार्थी था, मगर बाबों का डर इतना भारी था कि "भूत पिशाच निकट नहिं आवे। महावीर जब नाम सुनावे।।" की महिमा सुनकर सारा हनुमान-चालीसा याद कर डाला था।

हम बालदत्त के पोखरे के रास्ते से गये। पास की परती और जंगल अब खेत बन गये हैं। वर्षों से

भूतों ने पोखरे पर नृत्य-महोत्सव रचना बन्द कर दिया है। लोगो के दिल मे उनका डर जाता रहा है। ठुँठवा बाबा की हालत तो और भी खराब है। कच्ची सडक के किनारे एक पतली डाली और चद पत्तियोवाले उस लम्बे पीपल को दूर तक वृक्ष-वनस्पति-विहीन प्रान्तर में खडे देखकर रात को किसी भी अकेले बटोही के दिल मे भय का सचार होना लाजिमी था। लेकिन वर्षों हो गये, कच्ची सडक पक्की हो गई, उसके किनारे ऊँचे वृक्षो की पाँत खडी हो गई। पीपल उस वृक्ष पक्ति मे गुम हो गया, जिससे ठुँठवा बाबा के प्रभाव मे भारी धक्का लगा। और अब तो वह वृक्ष भी कट चुका है। ठुँठवा बाबा नई पीढ़ी के लिए अपने अस्तित्व को खो चुके हैं।

पन्दहा मे घुसने पर पहिले वृद्ध परिचित मिले लौहर नाना। अश्रु गद्‌गद कण्ठ से 'कलवन्ती के पुत्र—केदार' कहना और फिर गले से लिपट जाना मेरे धैर्य्य पर जबर्दस्त प्रहार करने के लिए काफी था।

नेत्रो को सूखा रखने और स्वर को ठीक करने के लिए भारी प्रयत्न करना पडा। मेरे सामने शैशव के प्रियजनो की मूर्त्तियाँ पार होने लगी। मेरे नाना तीन भाई थे। उनकी अपनी सतान एकमात्र मेरी माँ थी, किन्तु बाकी दो बडे-छोटे भाइयो के पाँच और दो लड़के थे। सातो मामो मे अब सिर्फ जवाहर मामा रह गये है। मेरे शैशव मे वे कलकत्ता मे पुलिस के सिपाही थे और जब एकाध महीने की छुट्टी पर आते, तो ताजी गिरीवाले नारियल लाते। अब वे पेंशन पाते हैं और नेत्रों से वचित है। उनका चेहरा अपने पिता के तीनो भाइयों जैसा है। विश्वामित्र, वशिष्ठ-जैसी सफेद दाढ़ी का नही, बल्कि नानो मे मिलनेवाले उस चेहरे और उनके रुद्ध-कण्ठस्वर ने मेरे नेत्रो को आखिर गीला करके ही छोड़ा। रानी की सराय में थोड़ी-सी खिन्नता आई थी और मैं धैर्य्य की परीक्षा पास कर गया था, किन्तु पन्दहा ने मुझे पराजित कर दिया। कुलवन्ती के पुत्र, रामशरण पाठक के नाती केदारनाथ को देखने के लिए गाँव के लोग आने लगे। मेरी तीनों मामियाँ—जो सभी विधवाएँ और पुत्र-पौत्रवाली हैं—अपने भाजे को देखने आईं। उस वक्त उनके अश्रु-प्रक्षालित मुखों को देखकर मुझे उस प्यारी मामी—रामदीन मामा की पहिली स्त्री—की याद बराबर आती थी। उनका स्नेह मेरे लिए शैशव की बहुमूल्य स्मृतियो मे से है।

पन्दहा के गली-कूचो, उसके ताल-तलैयों को तेरह बरस तक मै रात-दिन देखता रहा, और उसके बाद भी तीन बरस तक मैं उनके सम्पर्क मे रहा था। गाँव की पुरानी चीजों को देखने निकला। सबसे अचरज की बात मुझे यह मालूम हो रही थी, कि पुराने कुओं, गड़हियो, तलैयों के बीच के अन्तर घटकर सिर्फ एक तिहाई रह गये हैं। क्या धरती सचमुच ही छोटी हो गई है, अथवा उस दूरी के बड़ी होने का कारण बाल्य का छोटा शरीर था ? गाँव मे शायद ही कोई घर अपनी पुरानी दीवार पर है, दरवाजा की दिशा और आँगनों के विस्तार मे भी परिवर्तन है। मैं वह आँगन और उसके बगलवाले घर को देखने गया जिसमे मेरी माँ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को आज से पचास साल पहिले जन्म दिया था, मगर आज उस घर का कहीं पता नही। आँगन, कई घर, बाहर का द्वार, कुल्हाड तथा बैठके के घरों की जगह चहारदीवारी मे घिरा एक खुला सहन है। हाँ, उस ओसारे का थोडा-सा भाग अब भी नई खपडैल से ढँका है, जिसने मेरे प्रसूति-गृह का काम किया था। नाना का कुआँ अब भी मौजूद है, और यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि अब भी उसका पानी वैसा ही मीठा है।

बडी रात तक गाँव के वृद्ध और तरुण बाते पूछते रहे, और चौतीस बरस पर लौटे रामशरण पाठक के नाती अथवा हिन्दी के लेखक राहुल साकृत्यायन की खबर पाकर आसपास के गाँव के लोग भी आते रहे।

14 अप्रेल को मुझे पन्दहा के और स्मरणीय स्थानों और देवताओ को देखने का मौका मिला। मुँह-हाथ धोने के लिए हम गाँव से उत्तर की ओर गये। देखा, बनवारी माई के पास की झाडी साफ हो चुकी है और उस पर जवाहर मामा के लगाये महुए खड़े हैं। बनवारी माई के स्थान को देखने से मालूम होता था कि साल मे भूल-भटककर ही अब कोई पूजा-कड़ाही चढ़ाता है। वहाँ एक खडित मूर्त्ति रहा करती थी। लोगों ने बतलाया, कुछ समय पहिले माई अन्तर्धान हो गई। गाँवो के इन पुराने देव-स्थानो में कितनी ही बार खडित किन्तु कलापूर्ण प्राचीन मूर्त्तियाँ देखी जाती हैं, बनवारी माई की मूर्त्ति भी कोई इसी तरह की मूर्त्ति रही होगी और उसे किसी कला या पैसे के प्रेमी ने अन्तर्धान करा दिया होगा, इसमे सन्देह नहीं।

रात को रामनवमी थी, मगर बचपन मे 'रामनवमी' से ज्यादा उसका दूसरा नाम—बड़का बसियौड़ा—मुझे सुनने में आता था। आज शायद पन्दहा छोडने के बाद पहिली ही बार मुझे 'बसियौडा' नाम सुनने को मिला। मेरी मामी (कैलाश की माँ) खास तौर से जलपान बनाने जा रही थीं, लेकिन 'बसियौड़ा' का नाम सुनकर दूसरे भोजन को मैं क्यों पसन्द करने लगा ? साबित उड़द की दाल (बिना हल्दी की) तेल की बेड़हिन (दाल-भरा परौंठा), गुलगुला और लाल भात बालपन के परिचित खाद्य थे; आज भी उसे खाने मे बड़ा आनन्द आ रहा था। दिन-भर गाँव और आसपास के गाँवों के लोग आते रहे, जिसमे रानी की सराय के सहपाठी जगेसर (झिलमिट) और बाँकीपुर के बाबू सरयूसिंह भी थे। मैंने सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था मे देखा था। अब उनके केश सफेद हो चुके हैं, और कई पौत्रों के बाबा बाबू सरयूसिंह हैं।

शाम के वक्त गाँव और उसके टोलो की फिर खाक छानी। देवताओं का महत्त्व अवश्य इन चौंतीस वर्षों में कम हो गया है। जिस महामाई के स्थान पर नव-दम्पती का पूजा के लिए जाना अनिवार्य था, आज उसके आसपास तक पाखाने का क्षेत्र बन चुका है और वृक्ष की जड़ मे पाँच-सात सिन्दूर के दाग, मालूम होता था, सतयुग के लगे हुए हैं। पहिले ब्याह, पुत्र-जन्मादि समयों पर गिन-गिनकर ग्राम-देवताओं को छौने (सूअर के बच्चे) चढ़ाये जाते थे। हमारे ममेरे भाइयों—दीपचन्द और कैलाश—ने हिसाब लगाया, तो मालूम हुआ कि एक दर्जन से ऊपर छौने उनके घर के नाम बाकी पड़े हुए हैं। हनुमनवीर और अनारवीर से लोग वैसे ही ढीठ हो गये हैं, जैसे अपने आज के बड़े-बूढ़ों से। लेकिन जवाहर मामा कह रहे थे—मै अपनी जिन्दगी-भर निबाहे जा रहा हूँ। उन्होंने यह भी सुनाया कि कैसे अपने सेवकों की उपेक्षा से क्रुद्ध हो अनारवीर बाबा ने कुछ ही साल पहिले गाडी में जुते बैलों को पीछे से दबाकर टाँग दिया, बैलों को फाँसी-सी लगने लगी थी। खैर, किसी तरह रस्सी काटकर उनकी जान बचाई गई। आश्चर्य तो यह है कि यह सब देखकर भी नई पीढ़ी देवताओ का आदर-पूजन करने के लिए तैयार नही।

पन्दहा की सीमा पर बसई एक छोटी सी बस्ती है। बादशाही जमाने में यहाँ के सैयद लोगों का वैभव-सूर्य बहुत चढ़ा हुआ था। वे सीधे लखनऊ अपनी मालगुजारी भेजा करते थे। आज उनके घरों का पता नहीं। कई सैयद लड़के मेरे साथ रानी की सराय पढ़ने जाया करते थे। कितनी ही बार उनके साथ मै उनके घरो को गया था। ईंटों के घर गिरे-पड़े हुए थे, मगर तब भी उनमे से कितने खड़े थे। उनके आँगनो मे चारपाई पर बैठी वैभवशाली वंश की सतानें—सैयदानियाँ मेरा भी उसी तरह स्नेहपूर्वक स्वागत करती थीं: जिस तरह अपने लड़कों का। आज उनके वंश का कोई बसई मे बच नही रहा है। घरो की ईंट तक दिखलाई नही पड रही हैं। पिछवाड़े के उन अनारों और शरीफो का भी कोई पता नही, जो बचपन में मेरे लिए खास आकर्षण रखते थे। पुराने सैयदो की ईंट-चूने की कब्रों पर श्रद्धा की दृष्टि डालते हुए हम कोइरी लोगों के घर की ओर गये। अब साग-भाजी के न उतने खेत है, न उतने घर। मेरे बाल-सहपाठी हीरा के घर मे कोई नही रह गया। बसई मे कितने ही घर जुलाहों के है, लेकिन कपड़ा बुनने की जगह वे सन की सुतरी बट रहे थे—कितने ही कपडा बुनना भूल गये है।

लौटते वक्त मेरे बाल-सहपाठी राजदेव पाठक मिले। उनके सारे केश सन जैसे सफेद थे। उन्होंने बालकों के खेल—चिक्भी डाँडी—का निमन्त्रण दिया। एक बार मन मे आया—काश, हम फिर बारह-तेरह साल के हो जाते। लेकिन तब आगे की दोनो पीढ़ियाँ कहाँ होतीं सतमी के घर का भी कोई चिह्न नही है। सतमी के चार बच्चे किस तरह मलेरिया मे गल-गलकर दरिद्रता की भेंट चढ़े, यह मै अपनी एक कहानी मे लिख चुका हूँ। सतमी का सबसे छोटा लडका सन्तू अब भी कही जिन्दा है।

पन्दहा जाने से पहिले बहुत थोड़े ही नाम और सूरतें मुझे परिचित-सी मालूम होती थी, लेकिन वहाँ की नई-पुरानी मूर्तियों, भूमि और वातावरण मे घूमते, साँस लेते ही स्मृतियाँ फिर जागृत होने लगी, और सत्रह-अट्ठारह वर्ष से ऊपर की उम्र के जिन्हे मै देख चुका था, उन्हे पहचानने में दिक्कत नही हुई।

16 अप्रेल को हम निजामाबाद गये। यहीं के स्कूल मे मैने 1909 मे उर्दू मिडिल पास किया था। पुराने मिडिल-स्कूल की जगह क्या, उसी नीव पर उसी शकल की अपर प्राइमरी स्कूल की इमारत है। मिडिल-स्कूल

आजकल कस्बे से पश्चिम चला गया है। दोनों ही स्कूलों के अध्यापकों में मेरा कोई परिचित नहीं निकला। टौंस का घाट और उसके पास के छोटे शिवालय और नानकशाही संगत में कोई परिवर्तन नहीं मालूम हुआ। हाँ, घाट पर भी एक-दो पान की दूकानें नई चीज थीं। पता लग गया था कि मेरे पुराने अध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय अपने घर पर ही हैं। उनका घर कस्बे के भीतर की सगत के पास है। यह संगत भी पहली अवस्था में है। हाँ, एक यह फर्क जरूर मालूम पडता है कि बाहरी छत के भीतर भी कदम रखते ही लोगों का सिर जबर्दस्ती ढँकवाया जाता है। पडित सीताराम श्रोत्रिय 'हरिऔध'जी के शिष्य हैं, स्कूल और साहित्य दोनों में। मुझे देखकर वे प्रसन्न हुए। नागार्जुनजी ने अपनी कविता—जातिगौरव गंगदत्त—सुनाई, इसके बाद श्रोत्रियजी ने भी अपनी कुछ कविताएँ सुनाईं।

निजामाबाद मे हम उन कुम्हारो के घरो मे भी गये, जो खिलजी-शासन के जमाने मे देवगिरि से आकर यहाँ बस गये थे। उनके बनाये मिट्टी के बरतन दुनिया मे प्रसिद्ध हैं। और कुम्हारो से इनका नाता-रिश्ता है, मगर वे अपनी कला को दूसरे कुम्हार-कुल मे जाने नही देना चाहते; इसीलिए अपनी लडकियो तक को अपनी कला नहीं सिखलाते। लडाई से पहिले उनके बनाये लाखो रुपये के बरतन—चाय का सेट, गुलदस्ता आदि—देश-विदेश जाया करते थे, किन्तु आज अवस्था अच्छी नही है। अब इन झिनकारीवाले कुम्हार घरो की संख्या एक दर्जन से ज्यादा नही रह गई है।

लौटते वक्त पन्दहा के सीवाने पर के उन खेतो को भी हमने देखा, जहाँ चन्द साल पहिले घोडरोज (नीलगाय) के शिकार के लिए हिन्दू-मुसल्मानो मे देवासुर-सग्राम छिड गया था। सग्राम के बाद अब शान्ति है। हिन्दू हाय-हाय कर रहे थे—दस-पाँच साल पहिले जहाँ दो-ही चार घोडरोज देखे जाते थे, वहाँ आज उनकी सख्या पचासो तक पहुँच गई है और वह खेती को भारी नुकसान पहुँचाते हैं। मैंने कहा—घोडरोज बकरी और हिरन की जाति के होते हैं, इनके कान, आँख, पूँछ वैसे ही होते हैं, वैसे ही लेंडी करते है। उन्होने मुझे यह भी सूचित किया कि बकरियो की तरह वे एक से ज्यादा बच्चे देते है। इतना होने पर भी वे इन्हे गाय बनाकर इनके लिए धर्म-युद्ध करने के लिए तैयार है।

13 अप्रेल को ही जब कि मैं रानी की सराय पहुँचा था किसी ने मेरे पितृग्राम कनैला मे खबर दे दी। आजमगढ के लिए मेरे पास सिर्फ सात दिन थे और इतने कम समय मे कनैला को मैं अपने प्रोग्राम मे नही रखना चाहता था। मेरे ममेरे भाइयो—दीपचन्द और कैलाश—ने बार-बार कनैला सूचना देने का आग्रह किया, लेकिन मेरे अस्वीकार करने पर वे चुप रह गये। दूसरे दिन—14 अप्रेल—की दोपहर को देखा, मेरे छोटे भाई श्यामलाल साइकिल पर पन्दहा पहुँच गये। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ—किसने खबर दी ? जान पडता है चौतीस साल के बाद लौटे आदमी की खबर लोगो के लिए भारी आकर्षण रखती है; इसीलिए मेरे आने की खबर रानी की सराय के साधारण आदमियों मे फैल गई। रानी की सराय मे कनैला के चुडिहारे की रिश्तेदारी है। वही से कोई आदमी कनैला गया और उसी दिन मेरे आने की सूचना दस मील दूर पहुँच गई। भाई ने अपने घर और गाँव की ओर से चलने के लिए बहुत जोर दिया, मगर मैंने उसे अगली यात्रा के लिए रख छोडने की बात कहकर इनकार कर दिया। श्यामलाल उसी दिन लौट गए।

16 की शाम को दिन रहते ही कनैला के लोगो की टोलियाँ आने लगी। पाँच-छः करके वे दस बजे रात तक आते रहे। उनकी सख्या तीस से अधिक पहुँच गई, और उनमे कई जातियो के प्रतिनिधि थे। गाँव के बूढ़े चचा रघुनाथ और दादा (आजा) सुखदेव पाडे को भी दस-ग्यारह मील की मजिल मारकर आया देख मेरा निश्चय कुछ विचलित होने लगा। कनैला के सबसे ज्यादा आने मे असमर्थ रामदत्त चचा थे, मगर वे मुझे देखने के लिए कितने उत्सुक थे, इसकी खबर एकाध बार पहिले भी मिल चुकी थी। अपने बहुत-से वृद्धों के दर्शन से मैं वचित हो चुका था। मेरे सस्कृत के प्रथम गुरु तथा फूफा महादेव पडित (बछवल) ने कई बार देखने का सन्देश भेजा था, मगर मैं नहीं जा सका और दो तीन साल पहिले उनका देहान्त हो चुका। मेरे जन्म

के समय के सम्मिलित परिवार की दादी सिर्फ ग्यारह दिन पहिले मरी थी और उस दिन मेरे वंशज उनका श्राद्ध करके आए थे। मैं कुम्भ और वृद्धों के दर्शन से अपने को वंचित नहीं करना चाहता था, इसलिए हमारे गाँव के नाती तथा मेरे समवयस्क औघड बाबा रघुनाथ ने जब कनैला चलने को कहा तो मैंने स्वीकृति दे दी।

गर्मी के दोपहर की यात्रा में पड़ना सौभाग्य की बात नहीं, अतएव हमने भिनसारे ही चलना तय किया था। सबेरे हाथी के कसकर आने में कुछ देर होने लगी, हम पैदल ही चल पड़े। हाथी ने डेढ़ मील बढ़ जाने पर हमें पकड़ पाया। पहिले रघुनाथ बाबा के साथ में नागार्जुन भी हाथी पर बैठे, मगर हम दोनों ही ऐसे 'हल्के' शरीर के थे कि नागार्जुनजी को यह समझते देर नहीं लगी कि हाथी पर चलने की अपेक्षा पैदल चलना उनके लिए कहीं आराम का रहेगा। उस दिन दोपहर तक आकाश में मेघ छाये थे। रघुनाथ बाबा मेरे पुण्य-प्रताप की दुहाई दे रहे थे। कनैला से दो मील पहिले डीहा पहुँचने पर बूँदे ज्यादा पड़ने लगी, लेकिन वहाँ हमें मुँह-हाथ धोना और जल-पान करना भी था।

डीहा के अपर प्राइमरी स्कूल में आज (17 अप्रैल) छुट्टी थी, इसीलिए वहाँ के प्रधानाध्यापक मेरे सहपाठी पंडित श्यामनारायण पाण्डेय मौजूद न थे। पिछले सालों में शिक्षा का अधिक प्रचार हुआ है, यह जगह-जगह नये कायम हुए मिडिल तथा दूसरी तरह के स्कूलों से पता चलता था। रानी की सराय में जब मैं पढ़ने गया था, तब वहाँ एक छोटा सा लोअर प्राइमरी स्कूल था, लेकिन अब वहा मिडिल स्कूल है। डीहा में मदरसा पहिले भी था, मगर अब तीन अध्यापक पढ़ाते हैं। मैं तो बराबर नाना के साथ पन्दहा में रहता था, इसीलिए मेरी पढ़ाई लिखाई रानी की सराय और निजामाबाद में ही हुई। मगर कनैला के लड़कों को डीहा का स्कूल ही नजदीक पड़ता था। अब तो कनैला मे भी अपर प्राइमरी स्कूल हो गया है। कनैला से दो ही ढाई मील दूर पर धरवारा में मिडिल स्कूल है। तीस बत्तीस साल पहिले मिडिल पास लड़के विरले ही मिलते थे, किन्तु अब वे एक एक गाँव में और अधिक संख्या में मिलते है। पन्दहा में कुँवर नाना के लड़के को मैट्रिक तक पढ़कर खेती में जुटा देख मुझे कुछ सन्तोष जरूर हुआ, मगर खेती के काम में विद्या का उपयोग न हो तो सारी पढ़ाई व्यर्थ हो जाती है। और शिक्षित व्यक्ति साइन्स के किसी तरीके को खेतो में बरतते नहीं देखे जाते। गाँव मे शिक्षा के प्रचार का अगर कोई ज्यादा असर हुआ है, तो यही कि मुकदमेबाजी बढ़ गई है, जमीन-जायदाद के लिए जाल फरेब ज्यादा होने लगा है। इससे विद्या का यश उज्ज्वल नहीं हुआ है।

कनैला गाँव के पश्चिम की कुटी का–जहाँ प्राइमरी स्कूल है–पुराना मकान गिर चुका है और वहाँ कई घर तथा बड़े वृक्ष दीख पड़े। लम्बे वर्षों को वृक्षों के जरिए आसानी से नापा जा सकता है।

अभी गाँव के हम बाहर ही थे कि लड़कों की पलटन अपने जन्मजात नेताओं के साथ हमारा स्वागत करने के लिए पहुँच गई–इसे स्वागत करना और तमाशा देखना दोनों ही कह सकते है। उनमें पाँच से बारह बरस तक के लड़के मौजूद थे।

गाँव से नजदीक ऊसर के अकेले कुएँ के पास पहुँचकर हम हाथी से उतर पड़े। मेरे बचपन में भी यह कुआँ इस निर्जन ऊसर में मौजूद था, और गाँव के लोग ज्यादातर यहीं से पीने के लिए पानी ले जाते थे। इस दिक्कत को दूर करने का प्रथम प्रयास मेरे पिता ने अपने दरवाजे पर कुआ बनाकर किया। आज तो गाँव के भीतर कई कुएँ बन चुके है। इस ऊसरवाले कुएँ के आसपास एक दर्जन घर आबाद हो गये है, जिनमें चुड़िहार और दर्जी लोगों के घर ज्यादा है। मेरी ही उम्र के, किन्तु रिश्ते में चचा रजबली (रजबअली) की ठुड्डी पर लटकती दाढ़ी सफ़ेद हो चुकी है। मुझे यह देखकर बडी खुशी हुई, कि एक समय के मुमूर्ष चुड़िहार और दर्जी परिवार अब हरे-भरे है। कनैला में दो तीन घरो को छोड़कर सभी को मैं दरिद्र अवस्था में छोड़कर गया था, मगर अब सभी की हालत अच्छी है। उस समय गाँव का दो-तिहाई से अधिक भाग ऊसर था, अब उस ऊसर से लोगों ने काफी खेत बना लिया है। पहिले के खेतो मे भी लोग अब अधिक परिश्रम करते हैं। सिंचाई के लिए कई नये पक्के कुएँ बन गये हैं; अपेक्षाकृत कम मुकदमेबाजी होती है। यह है कारण कनैला की समृद्धि का। मेरी अनुपस्थिति में आकर मौजूद हो गई दो पीढ़ियों की समस्या को ऊसर ने हल कर दिया–जहाँ तक गाँव के ब्राह्मणों (जमींदारो) का सम्बन्ध है; और शायद एक पीढ़ी और भी ऊसर से नये खेत बना सके। गाँव

के घरो के स्थान और आकार दोनो मे परिवर्तन हुआ है। पहिले की अपेक्षा अब के घर अधिक सुन्दर, साफ और विस्तृत है; इसके लिए बहुत से परिवारो को गाँव के बिचले स्थानो को छोड पूरब की ओर बढ़ना पड़ा। सत्ताईस साल पहिले आखिरी बार मैं तीन-चार दिन के लिए कनैला गया था। उस वक्त के मकानो के नक्शे अब भी मेरे मस्तिष्क मे अंकित थे, लेकिन अब पूछकर ही मैं किसी घर को जान सकता था। गाँव मे पहुँचते पहुँचते सभी बाल-वृद्ध-नर-नारी अपने हाड-मास से बने शरीरवाले केदारनाथ के इर्द गिर्द आ खड़े हुए। मैंने चचा वंशी के सजल नेत्रों को देखा और मेरे हाथ उनके चरणो पर पहुँच गये। गाँव की वृद्धतम् स्त्री यमुना आजी (आर्या, दादी) की जबान अब भी उसी तरह तेज चल रही थी, मगर अब उनका शरीर बहुत निर्बल हो चुका है, आँखों की ज्योति भी मन्द पड़ गई है। गाँव के बीच मे पत्थर का पुराना कोल्हू अपनी जगह पर अब भी रखा है किन्तु हँसिया, खुरपे और गड़ासों को रगड़ रगड़कर लोगों ने उसकी आरी पर बहुत से गड्ढे कर दिये हैं। हमारे पुराणपंथी नेता कुछ भी कहे, किन्तु कनैला के ग्रामीणों का पूरा विश्वास है कि लोहे के कोल्हू को हटाकर पत्थरवाले कोल्हू के युग में लौटा नहीं जा सकता।

कनैला में हम ग्यारह बजे के करीब पहुँचे थे और वहाँ सिर्फ चार घंटे रहना था, इसलिए एक एक मिनट को अच्छी तौर से इस्तेमाल करना था। मेरे भाइयों में श्यामलाल और रामधारी घर पर ही थे। सबसे छोटा श्रीनाथ दिल्ली में लोगों को रसगुल्ला खिला रहा है। सत्ताईस साल पहिले जिनकी उमर चौदह पन्द्रह बरस की हो चुकी थी, उन्ही को मै पहचान सकता था और ऐसे चेहरे बहुत कम थे। मुझसे कुछ ही बरस छोटे दुखना भैया की भौंहें भी सफेद होने लगी है। रामदत्त कक्का के शरीर में हड्डी और चमड़े के अतिरिक्त यदि और कुछ दिखलाई पड़ता था, तो वह थी उन्हें बाँधकर इकट्ठा रखनेवाली धमनियाँ।

स्नान करने के लिए चलते वक्त मैंने मेरे जनम के बाद अलग हुए अपने बन्धुओं के घर देखे। रामा चचा और उनके भाई तथा मेरे समवयस्क किसुना (किन्ना) चचा का घर पुरानी जगह से बहुत दूर हटकर बना है। बाग के छोर पर अवस्थित जिस अकेले पीपल को लोग भूतों का गढ़ समझते थे, अब वह बस्ती में आ गया है। और भूत? आदमियो की भीड़ में बेचारे भूत कैसे बस रह सकते हैं? मैंने पूछा, लोग कहते थे कि आदमियों के बस जाने पर भूतों को बाल-बच्चे लेकर भागना जरूरी हो जाता है। किसी ने पूछा—क्यों?

"मनुष्यों के लड़के ढेला-डंडा फेंका करते हैं। भूत और उनके बच्चे तो दिखलाई नहीं पड़ते जिससे उनमें भी अंधों, कानों, लँगड़ों की संख्या बढ़ने लगती है; इसीलिए भूत-भुतनियों को जगह खाली करना पड़ता है।"

मेरे कुछ भाइयो की तरह कितने ही पाठकों को भी यह दलील पसन्द न आयेगी, किन्तु भूत चुड़ैल बस्ती में स्थान खाली कर चुके हैं, इससे वहाँ सभी सहमत थे।

पुराने कनैला की बस्ती में हरी पत्तियों के लिए आँखें तरसती रहती थीं, किन्तु अब किसी के द्वार पर पकड़ी का वृक्ष है, किसी के द्वार पर नीम का। गर्मी में वृक्ष की शीतल छाया कितनी सुखद और सुहावनी होती है। हाँ, यह देखकर खेद हुआ कि कनैला का बाग बहुत कुछ उजड़ चुका है और नये अमोला का लगाने का लोगों को शौक नहीं।

नहाने के बाद मैं गाँवों के घरों को देखने चला, साथ की परिषद् को रोका नहीं जा सकता था। चमार-टोली के बाद ब्राह्मणों, अहीरों, कहारों, चुड़िहारों, दर्जियों, गड़ेरियों के घरों को देखते, साहब सलामी करते करीब-करीब सारा गाँव फिर आया। पत्रहीन बरगद के नीचे बैठे बुद्ध को देखकर शाक्यों के खून के प्यासे कोसलराज विडूडभ ने पूछा था—"पास ही हमारी सीमा के भीतर घनी छायावाला यह बरगद है, भगवान इसके नीचे क्यो नहीं बैठते ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"बन्धुओं की छाया शीतल होती है, यह शाक्यों की भूमि का बरगद है।"

भोजन तैयार था। श्यामलाल हम दोनो को खाना खिलाने अपने घर में ले गये। सत्ताईस साल पहिलेवाले घर के सामने यह महल-सा लगता। उसके जैसे तीन आँगन इसके भीतरी आँगन में ही समा जाते। आँगन पूरब-पश्चिम लम्बा है, जिससे सूरज की धूप काफ़ी देर तक मिलती रहती है। नाबदान को दक्षिण तरफ़ खोलते देख गाँव के बड़े-बूढ़ों ने भय प्रकट किया था, किन्तु नाबदान लायक ज़मीन उसी ओर थी। श्यामलाल ने साहस

दिखलाया और नाबदान को उधर ही खोल दिया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरे सहोदर भी रूढ़ि पर प्रहार करने की कुछ हिम्मत रखते हैं।

भोजन समाप्त हुआ। हम उठना चाहते थे कि कपड़ों से ढँकी एक मूर्ति ने मेरे पैरों पर गिरकर रोना आरम्भ करना चाहा। मैं तुरन्त चलने को उठ खड़ा हुआ। खैर रोना वहीं रुक गया। रोनेवाली कौन थी, कह नहीं सकता, न मुझे बतलाया गया। मेरे नाम से शैशव में घरवालों ने जो ब्याह किया था, उसे तो घर के साथ ही तीन दशाब्दियों पहिले ही मैं छोड़ चुका था। आँगन में काफी स्त्रियाँ जमा थीं, जिनमें यमुना आजी को छोड़कर मैं किसी को भी पहिचानता न था।

आसपास के गाँवों में भी खबर पहुँच गई थी और तीन बजे तक कितने ही लोग वहाँ जमा हो गये। जमावड़े ने सभा का रूप लिया और मुझे कुछ बोलने के लिए कहा गया। मैंने गाँव की समृद्धि पर हर्ष प्रकट किया और आज की परिस्थिति में अन्न, वस्त्र तथा रक्षा का प्रबन्ध करने के लिए कहा।

आज रात को मुझे फूफा के घर बछवल रहना था। मेरे बालमित्र योगेशदत्त पण्डा पहुँचे थे। उनके आग्रह को ठुकरा नहीं सकता था। मेरे फूफा के दोनों टोलों को देखकर जब मैं आगे बढ़ा तो नागार्जुनजी ने डीह के स्थान को देखकर खबर दी कि वहाँ कुछ टूटी फूटी मूर्तियाँ हैं। बचपन में मैंने भी इन मूर्तियों को देखा होगा, मगर उस वक्त उनकी आपबीती सुनने के लिए मेरे पास कान नहीं थे। वहाँ जाकर देखा, तो तान्त्रिक बौद्ध धर्म (वज्रयान) के एक घोर देवता (वज्रभैरव) की छोटी सी किन्तु सुन्दर मूर्ति के दो खंड पड़े थे—आग की ज्वाला की तरह उठती केशराशि थी और गोल गोल आँखोंवाला मुण्ड एक ओर पड़ा था और कटि से नीचे दोनों पैर दूसरे खंड में। नव दस सौ वर्ष पहिले कनैला में भी उन देवताओं की पूजा होती थी, जिन्हें तिब्बत के अनेक मन्दिरों में मैंने देखा है। आज कनैलावालों—विशेषकर वहाँ के पुराने निवासियों राजभरों—को यह पता नहीं कि उनके पूर्वज हजार वर्ष पहिले इन देवताओं को पूजते थे, जो हिमालय के उस पार अब भी जीवित हैं। कनैला के पुराने टीलों के नीचे पुरानी आबादी के चिह्न दबे हुए हैं। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी की ईंटें वहाँ मिलती हैं। जान पड़ता है, गहड़वाल शासनकाल में यहाँ कोई राज्याधिकारी रहता था, जिसके कोट का एक भाग अब भी डीह बाबा के पास मौजूद है। शायद उसी समय ये देवता कतल किये गये थे।

सत्ताईस बरस पहिले भर लोग सुअर पाला करते थे, मगर अब सारे जिले में और आसपास के दूसरे जिलों में भी उन्होंने सुअर पालना बिलकुल छोड़ दिया है। इससे समाज में उनका स्थान पहिले से कुछ ऊँचा हुआ है, इसको तो मुझे पता नहीं, हाँ, जीविका के एक साधन से वे वंचित जरूर हो गये। सुअरी एक एक बार में बीस बीस बच्चे देती है और साल में तीन बार। पुष्ट भोजन और पैसे की आमदनी का यह एक अच्छा जरिया था। सबसे ज्यादा विपत्ति तो गाँव के देवताओं पर पड़ रही है। उन्होंने छौनों की एक फद्दी भी दाँत तले दबाने के लिए नहीं पाई है।

बछवल कनैला से दो ढाई मील से ज्यादा दूर नहीं है। बीच में मगई (मार्गवती) नाम की छोटी नदी पड़ती है। गर्मी में वह ज्यादातर सूख जाती है, इसीलिए लोग जगह जगह बाँध बाँधकर पानी को रोक लेते हैं। इससे तो उसका नाम पोखरई होना ज्यादा सार्थक था—मगई सौ गज में गिरती है। बरसात में उसमें इतना पानी रहता है कि छोटी मोटी नाव सिसवा (शिशपा) गाँव और उसके आगे भी चली जाती होगी। उस काल में नदियाँ ही अधिकतर व्यापार मार्ग का काम करती थीं।

हम लोग सिसवा में बँधे बाँध पर से मगई पार हुए। यहीं से कनैला की यात्रा खतम करके लौटे। नदी पार सिसवा या शिशपा गाँव का मीलों तक फैला ध्वंसावशेष है। हर जगह पाई जानेवाली ईंटें बतलाती हैं कि शिशपा ग्राम एक समृद्ध बस्ती रही होगी। शिशपा ग्राम नाम का कोई निगम काशी जनपद में था, ऐसा पुस्तकों में तो पता नहीं, लेकिन ईंटें और विस्तृत ध्वंसावशेषों के ख्याल से इनकार नहीं किया जा सकता। आजकल के ग्रामीण पंडित सिसवा को शिशुपाल की राजधानी बतलाते हैं। शिशुपाल चेदि (पूर्वी बुन्देलखण्ड) का राजा था, इस समस्या को हल करने की तकलीफ वे क्यों उठाने लगे, बल्कि उन्होंने सिसवा में जयद्रथ की भी एक जगह ढूँढ निकाली है। जयद्रथ के स्थान पर पाँच छः बड़ी बड़ी खण्डित मूर्तियाँ हैं, इसका पता

मुझे बाद में लगा और मैं उन्हें देख नही सका। हाँ, योगेश ने सिसवा मे मिले मुझे दो ताँबे के पैसे दिये। अक्षर घिस गये थे, लेकिन एक ओर की शक्ल किसी शक राजा की मालूम होती थी। दूसरे दिन आजमगढ़ पहुँचने पर मालूम हुआ कि दोनो सिक्के कुषाण राजा कनिष्क के है, जिनमे से एक की पीठ पर वायु देवता और दूसरे की पीठ पर मित्र देवता की मूर्त्तियाँ हैं। श्री परमेश्वरीलाल गुप्त को पुराने सिक्को को एकत्र करने और पहचानने का बहुत शौक है। उन्होने आजमगढ़ जिले मे मिले सेरो कुषाण सिक्के जमा किये हैं। दो हजार बरस पहिले कनिष्क का कोई उच्च राजकर्मचारी शिशपा ग्राम मे रहता था। उस वक्त सिसवा के आज के ऊजड टीलो पर व्यापारियो और शिल्पियो के कितने ही अच्छे-भले घर थे, देश-विदेश के पण्य द्रव्यो से सजी दूकानोंवाली वीथियाँ थी; जगह जगह ऐसे कितने ही देवालय थे, जिनके देवता अब विस्मृत हो चुके हैं। मगई का व्यापार-मार्ग यही जलीय राजमार्ग इस सारी समृद्धि का कारण था। उस मार्ग का स्थान नये मार्गों ने लिया और शिशपा ग्राम धीरे-धीरे सिसवा के निर्जन टीले मे बदल गया। सिसवा के गर्भ मे उसके इतिहास को बतानेवाली बहुत-सी सामग्री छिपी पडी है, जो किसी वक्त जरूर अपना मुँह खोलेगी। मैने चन्द मिनटो मे ध्वस को पार करते हुए जो कुछ भी समझ पाया, उसे यहाँ सक्षेप मे लिखा है।

हम शाम को बरुवल पहुँचे। योगेश वर्षो मेरे तरुणाई के अभियानो मे साथ रहे है। वे राष्ट्रीयकर्मी है। यद्यपि वे मेरी बुआ की देवरानी के लडके हैं, लेकिन बाल्य से ही बरुवल मे उन्ही के साथ मेरा सबसे अधिक प्रेम रहा। तीस साल पहिले एक बार हम दोनो ने कुरता पहिने रोटी खाई थी, जिसे देखकर उनकी माँ रोई थी। आज अपने पुत्र को मेरे और नागार्जुन जैसे 'सर्वभक्षी' के साथ बैठकर दाल भात खाते देखकर उनकी स्वर्गीय आत्मा कितनी तडफडा रही होगी। हाँ, उनको यह देखकर धैर्य जरूर होगा कि कनेला के सरपच श्यामलाल भी साथ ही बैठे खा रहे हैं।

दूसरे दिन कुछ रात रहते ही नागार्जुन और मैं हाथी पर रवाना हुए। चँड़सर मे इक्का ने दस बजे (18 अप्रेल) तक आजमगढ़ पहुँचा दिये। कानोकान सुनकर कितने ही लोग मिलने आये। आजमगढ़ के कवि 'शैदा' और 'चन्द्र' ने अपनी कई रचनाएँ सुनाई, 'यात्री' नागार्जुन ने भी अपनी कृतियो को सुनाकर गोष्ठी का मनोरजन किया। 19 अप्रेल को, ठीक सात दिन रहने के बाद, दस बजे सबेरे की ट्रेन पकडी और दो बजे तक हम आजमगढ़ जिले के बाहर चले आये।

■ ■ ■